Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Domain, Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Stock Verification-2024

Stock Verification-2024

131470

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहस्राब्दी अंक उन्नीस-बीस – 22

2005

(6)

आलोचना

त्रैमासिक

आलोचना का उत्तर-समय

131470

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वन्दे मातरम् !
सुजलाम्, सुफलाम्,
मलयज-शीतलाम्,
शस्यश्यामलाम्,
मातरम् !
शुभ्रज्योत्सना,
पुलकितयामिनीम्
फुल्लकुसुमित
द्रुमदल शोभिनीम्
सुहासिनीम्
सुमधुर भाषिणीम्
सुखदाम्,
वरदाम्,
मातरम् !
वन्दे मातरम् ।

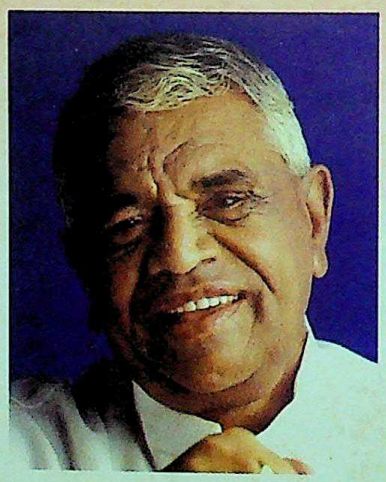

हमें अपने कार्यों को करते समय, कभी भी अपने राष्ट्र को विस्मृत नहीं करना चाहिए। हमारा हर काम राष्ट्र की समृद्धि और गौरव को बढ़ाने के लिए होता है। वन्दे मातरम् का गायन हमारे शासकीय कर्मियों और नयी पीढ़ी में राष्ट्र प्रेम और अनुशासन की भावना को मजबूत करेगा।

बाबूलाल गौर
मुख्यमंत्री, मध्यप्रदेश

राष्ट्रगीत के रचयिता : बंकिमचंद्र चटर्जी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना

त्रैमासिक

2005

सहस्राब्दी अंक उन्नीस-बीस

अक्टूबर-दिसम्बर 2004—जनवरी-मार्च 2005

प्रधान सम्पादक

नामवर सिंह

सम्पादक

परमानन्द श्रीवास्तव

सहसम्पादक

आर. चेतनक्रान्ति

कला सम्पादक

हरीश आनन्द

प्रबन्ध सम्पादक

अशोक महेश्वरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2005

सहस्राब्दी अंक *उन्नीस-बीस*

अक्टूबर-दिसम्बर 2004—जनवरी-मार्च 2005

यह अंक : 120 रुपए

व्यक्तिगत सदस्यों के लिए

वार्षिक सदस्यता : 200 रुपए

संस्थाओं के लिए

वार्षिक सदस्यता : 300 रुपए

(उपर्युक्त शुल्क डाक-व्यय सहित है।)

कृपया अपना शुल्क

राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली

के नाम से मनीऑर्डर/ड्राफ्ट द्वारा भिजवाएँ।

सर्वाधिकार सुरक्षित

***आलोचना* में प्रकाशित रचनाओं के साथ राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. या संपादकों की सहमति होना आवश्यक नहीं है।**

प्रकाशन के लिए सामग्री डबल स्पेस में साफ टाइप की हुई होनी चाहिए और निम्न पते पर ही भेजी जानी चाहिए :

संपादक

बी-70, आवास विकास कॉलोनी

सूरजकुण्ड, गोरखपुर-273 015 (उ.प्र.)

दूरभाष : 0551-2256001, 9415314500

AALOCHANA

A Quarterly Journal in Hindi

Published by Rajkamal Prakashan (P) Ltd.

1-B, Netaji Subhash Marg, New Delhi-110 002 (INDIA)

Phone : 23274463, 23288769 Fax : 23278144

website : www.rajkamalprakashan.com • e-mail : info@rajkamalprakashan.com

Subscriptions

In other countries

US $ 21/i 17 *(via air mail)*

US $ 12/i 10 *(via sea mail)*

आलोचना

त्रैमासिक

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110 002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

संपादकीय : आलोचना का उत्तर-समय 7

सृजन-परिदृश्य : एक

लम्बी कविता : हर इबारत में रहा बाक़ी : **देवीप्रसाद मिश्र** 9

जन्मशती पर विशेष

राष्ट्रीय काव्यधारा और सुभद्रा कुमारी चौहान : **नीलाभ** 26

आलोचना का उत्तर-समय : संवाद

कालजयी साहित्य के बारे में : कुछ नोट्स : **विजय कुमार** 33
छठा दशक : एक सिंहावलोकन : **फ्रेडरिक जेमसन** 38
आलोचना का स्वधर्म : **नंदकिशोर नवल** 60
उपनिवेशितों का काव्यशास्त्र : **विनोद शाही** 65
साहित्य में देशीयता : **भालचन्द्र नेमाड़े** 73
मार्क्सवादी साहित्यालोचन के कुछ प्रमुख बिन्दु : **टेरी ईगलटन** 82

***सृजन-परिदृश्य* : दो**

रवीन्द्र भारती की दो कविताएँ 98
टप्पा और पाकिस्तान : **यतीन्द्र मिश्र** 100

स्मरण : एक

अरुण कोलटकर की कविताएँ : टिप्पणी और अनुवाद : **निशिकान्त ठकार** 102

स्मरण : दो

चेस्लाव मीलोष की कविताएँ : टिप्पणी व अनुवाद : **हरिमोहन शर्मा** 106

अर्द्धशती : मैला आँचल

मेरी-मार्टिन, मैलेरिया और डागडर बाबू : **सकलदेव शर्मा** 111

002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना : परिदृश्य

साहित्य का अभिलेख के रूप में पाठ : **भगवान सिंह** 120
इतिहास में दलित महिला-विमर्श : **मोहनदास नैमिशराय** 133
कविता का सौन्दर्यशास्त्र और निराला का उत्तरकाव्य : **राजेन्द्र गौतम** 144
मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास : **रोहिणी अग्रवाल** 158
स्त्री-लेखन और समय के सरोकार : **हेमलता माहेश्वर** 175
हिन्दी आलोचना : काल-वस्तु या इतिहास-वस्तु : **रमेश दवे** 182
अनुवाद : सांस्कृतिक और भाषिक विविधता की अनुभूति : **परिमळा अम्बेकर** 189
श्रीकांत वर्मा का विचार-लोक : **जयप्रकाश** 194
अमूर्त कालजयता या कालजयी प्रासंगिकता : एक मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य : **पी.एन. सिंह** 198

मूल्यांकन-परिदृश्य

मकई का दाना : **अरुण कमल** 206
दुनिया भर की खाक-धूल समेटती कविता : **ओम निश्चल** 212
कहनी उपखान : एक पत्र : **अरविन्द जैन** 219
जातीय लोकमानस की संघर्षशीलता और प्रतिरोध-शक्ति का आख्यान : **शम्भु गुप्त** 228
विस्मृत कवियों की भूमिका और भारतेन्दु का काव्य-समय : **भवदेव पाण्डेय** 238
आज की हिन्दी कविता—तमाम विपर्ययों के बावजूद... : **अनिल त्रिपाठी** 243
कविता में स्त्री : स्त्री होने का संकट : **परमानन्द श्रीवास्तव** 252

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

संपादकीय : पुनर्वास 5

सृजन

विनोद कुमार शुक्ल की कविताएँ 7
रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति की कविताएँ 8

कालजयी कृति

गोदान और विचारधारा : **रघुवंश मणि** 12
विचार और व्यवहार : **कृष्णमोहन** 18
'स्वराज' और 'सोराज' के संघर्ष का जीवंत दस्तावेज़ : **श्रीराम त्रिपाठी** 22

स्मरण

फिल्म उद्योग में प्रेमचन्द : **सव्यसाची भट्टाचार्य** 27
प्रेमचन्द की आवाज़ : मूल स्वराघात : **नवलकिशोर** 35

जन्मशती

जैनेन्द्र का सच और 'मुक्तिबोध' : **प्रभाकर श्रोत्रिय** 41

साक्षात्कार

चार मुख का राक्षस और कविता :
वरिष्ठ कवि **चंद्रकांत देवताले** से **रमेश राऊत** की बातचीत 46

विमर्श

इक्कीसवीं सदी में मार्क्सवाद : **महेन्द्र मिश्र** 53
मार्क्स, फूको और गांधी : **विनोद शाही** 72
नोम चॉम्स्की की भारत-दृष्टि : **कनक तिवारी** 88

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन

छोड़ी असद न हमने गदाई में दिल्लगी : **संतोष दीक्षित** 97
अँधेरे का उजाला : **प्रभात रंजन** 100
रिश्तों के कब्रिस्तान में : **रजनी गुप्त** 104

साभार

दो पत्र : **जवाहरलाल नेहरू, कृष्ण कृपलानी** 109-110

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना का उत्तर-समय

क्या 'दमन' ही हमारे उत्तर-समय में लिखी जा रही आलोचना का आख्यान या सारतत्व है ! केवल साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा निष्कर्ष निकालना अतिरेक जान पड़ेगा। पर वैश्वीकरण, मुक्त बाजार, अमरीकी सत्ता के वर्चस्व, मूल्यों की ब्रांड में परिणति, स्वदेशी के अन्त पर विचार करेंगे और उपभोक्तावाद की क्रूरताओं का हिसाब-किताब करेंगे तो यह दमन स्त्री-उत्पीड़न या दलित-उत्पीड़न तक सीमित नहीं रहेगा, दमन एक बहुलार्थी शब्द या प्रतीक जान पड़ेगा। 1909 में 'हिन्द स्वराज' लिखनेवाले महात्मा गांधी उपनिवेशों के वर्चस्व को चुनौती दे सकते थे। आज उत्तरऔपनिवेशिकता की विस्तृत मीमांसा के दौर में मनुष्य की अधीनता को एक सर्वमान्य सच मान लिया गया है।

2005 में आलोचना के उत्तर-समय पर लिखते हुए मुझे मनुष्य की दासता या अधीनता दुखद जान पड़ती है। अभी 'अनामदास का पोथा' की नाट्य प्रस्तुति देखते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की आलोचना याद आ रही है जिसे नामवर सिंह ने 'दूसरी परम्परा की खोज' का मुख्य मुद्दा बनाया। देखते-देखते छह सौ साल बाद कबीर हमारे समकालीन दिखने लगे जिन्हें 'सब जग जलता देखिया अपनी-अपनी आगि' कहने में हिचक नहीं हुई। आलोचना के उत्तर-समय में अपसंस्कृति, मीडिया पर दिखती क्रूर हिंसा को लेकर आम सहमति है और कवि-कलाकार हस्तक्षेप से कन्नी काट रहे हैं। उत्तरआधुनिकता के सारे तामझाम में एक चीख-सी चुप्पी व्याप्त है। प्रतिवाद का दौर जैसे खत्म है और दूसरी गुलामी आसपास मँडरा रही है।

शास्त्र से लोक की ओर उन्मुख आलोचना विश्वमंडी या बाजारवाद के सामने सिर झुकाए खड़ी है और सत्ता प्रेरित नए ढंग का अघोषित फासीवाद चुनौती देने की स्थिति में है। सर्वहारा के अधिनायकवाद का दमनकारी दुष्चक्र में फँसना क्या अर्थ रखता है। चंचल पूँजी कहाँ तक जा पहुँची है। करोड़ों की लागत से बनी बाजारू फिल्में 'सुपरहिट' कही जा रही हैं और एक युवा फिल्म निर्माता निर्देशक की फिल्म 'सब कुछ है कुछ भी नहीं' जो प्रतिरोध की संस्कृति का सार सन्देश जान पड़ती है दूसरे ही दिन पर्दे से उतर जाती है। यह किस क्रूर विडम्बनापूर्ण समय का सन्देश है ? सब प्रश्नों के उत्तर नहीं होने पर कभी-कभी प्रश्नों में ही उत्तर निहित होते हैं। फूको ने जो सत्ता (Power) विमर्श के लिए जाने जाते हैं, यह बहुत पहले कहा था कि मुक्त पूँजी मनुष्य की आजादी या स्वायत्तता पर सीधा हमला है, जो मीडिया विशेषज्ञों को क्रीड़ा-विनोद जान पड़ता है।

अभी-अभी जून, 2005 के 'फ्रंट लाइन' में 'द अडाप्शन मार्केट' पर लम्बी रपट छपी है और बच्चों के गोद लिए जाने को देशव्यापी दुष्चक्र कहा है। बच्चे भी 'माल' में तब्दील हो चुके हैं, जैसे वनस्पतियों या कृषि के संसार में नीम, हल्दी, बासमती पहले ही पैकेजों में बन्द हैं। आदिवासी स्त्रियों को जो बच्चे जन्म से पहले गर्भ में मृत बताए जा रहे हैं वे 'जार' में सुरक्षित हैं। भ्रूण हत्या से चलकर हम बच्चों को जिलाने, खरीदने, बेचने पर आ गए हैं। पर्यावरण-प्रदूषण एक भयानक सच है और कहा जाने लगा है कि अगला युद्ध सीमाओं के निर्धारण के विवाद की जगह पानी के लिए लड़ा जाएगा। क्या 'पानी की आवाज' भी अनसुनी रह जाएगी। रघुवीर सहाय हर हिन्दुस्तानी की ओर से 'पानी' माँग रहे थे। उधर धर्म, ज्योतिष, योग के शिविर लगने लगे हैं और लाखों लोग सुबह-सवेरे सेहत के लिए सैर पर निकल रहे हैं। मानसिक सेहत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से किसी को लेना-देना नहीं है।

आलोचना में देशीवाद पर भालचन्द्र नेमाड़े लगातार लिख रहे हैं और अंग्रेजी बेस्ट सेलर के आगे हमारे यहाँ किताबों का संकट है—छपने का भी और बिकने का भी। याद करें आलोचना के उत्तर-समय में रवीन्द्रनाथ का उपन्यास 'गोरा' या 'भारतवर्ष में इतिहास की प्राणधारा'-जैसा निबन्ध। दोनों में 'हिन्द स्वराज' की गूँज सुनाई देगी। आज मार्क्स का समाजवाद मिथ या यूटोपिया या किंवदन्ती है और नववाम का 'लिबरल' जैसा मुहावरा अमरीकी वर्चस्व के आगे समर्पण है। कभी जर्मन आलोचक वाल्टर बेंजामिन जर्मन फासीवाद के विरुद्ध प्रतिवाद के लिए मुस्तैद था, आज आलोचना के उत्तर-समय में शब्द, मूल्य, विचार, विचारधारा सब कुछ आयातित है। लोकतन्त्र जैसे आखिरी दौर में है, आतंकवाद भूमंडलीकरण है, बाजार ईश्वर का पर्याय है। तकनीकी संस्थानों के प्रभुत्व के दौर में साहित्य का पाठ पिछड़ेपन का लक्षण मान लिया गया है। फिर भी हम नादेज़्दा मंदेल्श्ताम के मुहावरे में आलोचना के भविष्य के लिए उम्मीद के विरुद्ध उम्मीद की जिद न छोड़ेंगे।

यह अंक

आलोचना सहस्राब्दी उन्नीस-बीस की मुख्य थीम है—आलोचना का उत्तर-समय। संवाद-खंड में मुख्यतः विजय कुमार (कालजयी साहित्य के बारे में : कुछ नोट्स), फ्रेडरिक जेमसन (छठा दशक : एक सिंहावलोकन), नन्दकिशोर नवल (आलोचना का स्वधर्म), विनोद शाही (उपनिवेशितों का काव्यशास्त्र), टेरी ईगलटन (मार्क्सवादी साहित्यालोचन के प्रमुख बिन्दु) के निबन्ध हैं जो आलोचना के उत्तर-समय के परिदृश्य को लेकर सवाल उठाते हैं। भालचन्द्र नेमाड़े ने 'साहित्य में देशीयता' निबन्ध में अंग्रेजी के वर्चस्व को चुनौती दी है। संवाद-खंड से पहले 'जन्मशती पर विशेष' के अंतर्गत नीलाभ का निबन्ध है : 'राष्ट्रीय काव्यधारा और सुभद्राकुमारी चौहान'।

सृजन-परिदृश्य में देवीप्रसाद मिश्र की लम्बी कविता (हर इबारत में रहा बाक़ी), रवीन्द्र भारती की दो कविताएँ (गुजरात : एक / गुजरात : दो) और यतीन्द्र मिश्र की कविता 'टप्पा और पाकिस्तान' है। संगीत के बाहर जाकर भारत-पाक राजनीति को खोलती एक सार्थक और मार्मिक कविता।

आलोचना-परिदृश्य में 'साहित्य का अभिलेख के रूप में पाठ' (भगवान सिंह), 'इतिहास में दलित महिला विमर्श' (मोहनदास नैमिशराय), 'मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास' (रोहिणी अग्रवाल), 'स्त्री-लेखन और समय के सरोकार' (हेमलता माहेश्वर), 'श्रीकान्त वर्मा का विचारलोक' (जयप्रकाश), 'अनुवाद : सांस्कृतिक और भाषिक विविधता की अनुभूति' (परिमला अम्बेकर), 'हिन्दी आलोचना : कालवस्तु या इतिहासवस्तु' (रमेश दवे), और 'कविता का सौन्दर्यशास्त्र और निराला का उत्तर काव्य' (राजेन्द्र गौतम), जैसे निबन्ध हैं जिनकी विविधता साहित्य-समय से नया संवाद स्थापित करेगी।

स्मरण खंड में मराठी कवि *अरुण कोलटकर* की कविताओं पर निशिकान्त ठकार और पोलिश कवि *चेस्लाव मीलोष* की कविताओं पर हरिमोहन शर्मा की टिप्पणी है। *अर्द्धशती* स्तम्भ में सकलदेव शर्मा ने 'मैला आँचल' (फणीश्वरनाथ रेणु) के पचास वर्ष बाद के समय के बारे में टिप्पणी की है। *मूल्यांकन-परिदृश्य* में 'कहनी उपखान : एक पत्र' (अरविन्द जैन), 'विस्मृत कवियों की भूमिका और भारतेन्दु का काव्य समय' (भवदेव पांडेय), 'दुनिया भर की खाक-धूल समेटती कविता' (ओम निश्चल), 'जातीय लोकमानस की संघर्षशीलता और प्रतिरोध शक्ति का आख्यान' (शम्भु गुप्त), 'कविता में स्त्री : स्त्री होने का संकट' (परमानन्द श्रीवास्तव), 'आज की हिन्दी कविता—तमाम विपर्ययों के बावजूद...' (अनिल त्रिपाठी) जैसे समीक्षा लेख हैं जो प्रकारान्तर से आलोचना के उत्तर-समय का विमर्श बन सकते हैं।

अन्त में, हमें और आलोचना परिवार को खेद है कि भीष्म साहनी स्मृति अंक में कृष्णा सोबती का संस्मरण 'हशमत' के नाम से न छपकर कृष्णा सोबती के नाम से छप गया है। उसी अंक में ए.के. हंगल के साक्षात्कार में साक्षात्कारकर्ता जयेश साली का नाम छूट गया था। इस असावधानी के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं। अगला अंक सदी के विमर्श पर केन्द्रित होगा।

—सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृजन-परिदृश्य : एक

हर इबारत में रहा बाक़ी

देवीप्रसाद मिश्र

हेम ज्योतिका को;
और हमारे बेटे
उद्भव
के लिए

95/115, कूर्मांचल निकेतन, पटपड़गंज, दिल्ली-110092

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पता नहीं कौन दुख
कविता का पिता किस

जाओ कहकर मैं संतति को
पृथ्वी के किसी कोने में भेजनेवाले
पिता सरीखा उदास हो गया और
उस मेज़ की तरफ़ बढ़ा जो बेटे
की खुशी और अपना स्वप्न रखने
के लिए थी और अपना सिर और
बेटे की फुटबॉल टिका देने के लिए
जहाँ किसी बहस की शुरुआत और
एक चिट्ठी का अन्त होता था और
आधी खाई रोटी बीच में ही
छूट जाती थी

मैं दिखा खुद को
दिखी पानी में फ़िल्म

दुख कुछ रखे हुए हैं मेज़ पर
और पानी का गिलास एक चाय

मेज़ की तरफ़ मैं नाटक में पंक्तियाँ
भूल गए चरित्र की तरह बढ़ा जिस पर वह
अपनी दाढ़ी और उसके बाद भवें
और बची हुई स्मृति और खोया विश्वास
और सिरदर्द रखता और उस मग
जैसा अवसाद जिसकी पकड़ टूट
गई हो और खाने की थाली
जिसके रखे जाने की आवाज़ में
पता नहीं कितनी आवाज़ें शामिल होती थीं

फ़ेलिनी का जेस्टर
तारकोव्सकीय स्टॉकर
अपने स्कूटर का
टूटा हुआ शॉकर

बेटे ने कहा कि पिता मैं
फूल के लिए जा रहा हूँ तो
पिता ने कहा जाओ यह उपन्यास का
आख़िरी या कविता का एकमात्र
वाक्य था यह पिता की फँसी आत्मा
को तर्पण देने के साथ पुत्र द्वारा
बोला गया मन्त्र था यह मनुष्य को
उत्पन्न करने की अभिलाषा में विश्वास
का पठार था यह किसी के
साथ किया गया क़रार था यह
दुख की दरार में झाँकने का यत्न था
यह रसोई से उठता धुआँ था
ठंडे पानी का गहरा कुआँ था

मेरे ऊपर तारा था
भीतर हिलता पारा था

मैं ऐसा पिता था जो हिन्दी फ़िल्मों के अन्त
और हिन्दू मनुष्य की शुरुआत से डरा था
मैंने अपने बाद की पीढ़ी से कहा जाओ
फूल के लिए एक लम्बा रास्ता था लेकिन

सहने की जगह ही
कहने की जगह

मैं मुबारक़ खुद को मेरा हादसा
मैं था खुद से या खुदा से मात-सा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन से मेरा भी कोई वास्ता था

इस तरह शायद मैं हताशा को सूझ में बदलता
मैंने खुद को लगने दिया कि सन्तति
विकल्प के लिए जा रही है नयी तस्वीर
और पुरानी इच्छा के लिए या कि दुनिया
के अँधेरे के लिए सफ़ेदी की ख़ातिर
एक अर्थ और तीन निहितार्थों के लिए

कच्चे फल के रंग के लिए या
घुटनों के दर्द और समाज के
इलाज के लिए या कि कबीर के धागों
और तात्या टोपे की टोपी और
मंगल पांडे के उत्ताप के लिए या कि
लक्ष्मीबाई के शाप के लिए
आम्बेडकर के चश्मे और स्याह के लिए
अवध की स्त्री की आह के लिए

हम बहुत जले
कहाँ हो फुले

चाय के प्याले हुए
ठंडे मगर थी
तपिश उम्मीद
नाउम्मीद में

का हो रैदास,
हम बदहवास

मैं एक विफल पिता था
जिसकी बेटी पैबन्द वाला फ्रॉक
पहनती थी लेकिन मुझे मुझसे भी
विफल पिता खम्भे से टिका मिलता था
जिसे उससे भी विफल पिता आम
की डाल से झूलता मिल जाता था जिसे
उससे भी विफल पिता तालाब की सीढ़ी पर
पड़ा हुआ मिलता था जिसे उससे भी
विफल पिता रात के दो बजे घर ढूँढ़ने की
कोशिश करता मिलता था जो पटरियों
की बगल में खुद से भी अधिक विफल
पिता की मृत्यु को अँधेरे की वजह से
कम देख पाता था जिसकी बेटी किसी
राग में रोते हुए पूछती थी कि माँ
क्या गेंदे का फूल सूँघने के लिए पिता
एक बार और साँस लेने लगेंगे यह
पिताओं में और पुरुष में विश्वास का
विलाप होता था इस तरह एक लड़की
पौरुषेय पठार पर गेंदे के पीले के लिए
विपत्ति के नील के साथ भटकती थी
और कहती थी कि क्या एक बार और

प्रथम पुरुष
द्वितीय पुरुष
तृतीय पुरुष
महापुरुष
कापुरुष

हर घर में एक भूमिपति
इस तरह पिताओं का वितरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी उठने के बाद पिता परिवर्तन के
रोज़गार के लिए भटकेंगे भी या बेआस
दास बन जाएँगे नये जन्म में भी

पिता थे सीमित जनतंत्र
भरा पूरा लोकतंत्र माँएँ

तो यह थी स्त्रीवाचक स्त्रीविहीन
जा
ती
य
ता
ऽ
ऽ
ऽ
ऽ

मर्द काफ़ी शेर थे सहलाते थे
स्त्रियों को अपनी अयाल से

जहाँ नीली नदी नाले में बदलती थी
पतन यश में सत्ता पाप में पुरुष
आततायी में समूह आत्मरत आप में

यहाँ कुछ बदलता था तो नागरिक
दलित में मनुष्य मुसलमान में
विवेक पूँजी में

ये
किसकी
चीख़
गूँजी

फ़ोन पर षड्यन्त्र सारे
लोक से हटकर कहीं पर लोकतन्त्र

भारतीय उजाड़
हिस्से में माँड़

रोना आनेवाला था तो
फूटा दुख का गाना
जाल फटा था भूख लगी थी
मैला पानी छाना

रोया ज़ार-ज़ार
कहा बार-बार
टुकड़ों के टुकड़े
ख़ुद-सा गोदार

बन जाऊँ मैं दास दोगला
सत्ता डाले दाना
हाथ पकड़कर बेटा कहता
जाते हो तो आना

मैं कहाँ हूँ
बीच में हूँ
या किनारे
पाँव मेरे हैं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई और चलता है

हाथ में किसका क़लम है
लिख रहा किसकी इबारत
बन रही बेजान-से
इस हाथ से किसकी इमारत

देखता है कौन मेरी आँख से*

मैंने बेटे को देखा
लेकिन यह नहीं कहा कि
पिछले महीने तुम्हारे बाल न कटवाकर
मैंने पन्द्रह रुपये बचाए

उसने भी यह नहीं कहा कि
अपने असंख्य बालों से मैं तुम्हारे लिए
छाता बनाऊँगा इस तरह
तुम्हारे सिर के ऊपर मेरा सिर होगा
और बप्पा, ये भारतीय सूर्य
इसमें रौशनी कहाँ है लेकिन यह तुम्हें
कितना झुलसाता है

पौधे के हाथ से
पृथ्वी के प्रतिनिधि से फूल लेने जा रहा हूँ–
इसे मेरे बेटे ने एक दफ़ा और नहीं कहा
लेकिन एक और बार जो गूँजा वह
एक नए देश की तलाश का प्रस्ताव था
एक नया उपन्यास लिखने की अधीरता
नया जल देखने की विकलता नई
त्वचा पर हाथ रखने का उन्माद और
यह याद कि होती है आत्मा एक बार और
राजनीति का रंग जानने का यत्न यह
लकड़ी में प्राण टटोलने की प्रतिज्ञा थी मिथक में
मनुष्य ढूँढ़ने की उदग्रता और हवा में
ज्ञान पाने की प्रतिश्रुति यह समुद्र से
हठ करने का वितर्क था

किसी का मठ था

देख लीं आँखें तो
सपने भी दिखे
यह देखा कि
जीता न्याय
यह देखा कि
सबको जल
यह देखा कि
सबको बल
यह देखा कि

अपना दिल देखा किया
दिखे दाग़ ही दाग़
बहुत नींद में कान में
कोई कहता जाग

देश की इस तरह प्लानिंग
कि जिनके पास कम है उस तरफ़

*इस पंक्ति सहित ऊपर की लगभग सात पंक्तियाँ कवि श्री अजित कुमार की धर्मयुग में कभी पढ़ी कविता से प्रेरित हैं। कृतज्ञ हूँ। दे.प्र.मि.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा संकट था

जाओ, फूल के लिए—यह वाक्य
क्या सत्तात्मक तौर-तरीकों को
बरतना नहीं था स्नेह के नाम पर
घर तानाशाही की पहली पाठशाला थे
और घृणा निर्माण की पुरानी मशीन
मैं भी कहाँ जाता भाषा के लिए
अरी जरा
परम्परा !

बिना किसी ख़ास मुश्किल के
मिली थी भाषा अर्थ भी
जैसे मिली थी जाति और क़ैद
और कायरता खिड़की के साथ
मिले थे दृश्य मैं बौद्धिक था
तो पश्चात्ताप की धोखाधड़ी

कहो तो कर लूँ स्वीकार बार-बार
कि हरी सब्ज़ियाँ बेचनेवालों की
आतुरता के साथ मैं भी निरावेग
कहता रहता था स्वतन्त्रता
समानता
जनतन्त्र
न्याय

लेकिन मैं ही था हताशा
की मार से जन्मी आशा
मैं नीम के पत्तों पर सोती माँ था
मैं वर्ग में होने का दर्प और दुख था
बची हुई सत्ता और प्रतिकार की हलचल
का युद्धस्थल अपनी कमजोरी से
निकला हुआ बल मैं था अपनी जाँच
साँच अपनी ही आँच मैं था औसतपन
पतन तो अपना जतन मैं अपने
उत्तराधिकार को पुकारता था तो
बेटी आत्मा की तरह जागती थी और
हाँ कहकर फूल लेने जाती थी और मैं
आख़िरी कविताएँ लिखते आख़िरी कवियों की
आख़िरी सी आवाज़ में कहता था जाओ

क्या-क्या कह दूँ
क्या-क्या-क्या-क्या
मेरे पास नहीं है भाषा

मध्यवर्ग ने कह दिया
सरल वाक्य में सुख
कवि मुश्किल से कह सका
कठिन काव्य में दुख

हूँ यहाँ तो
यह समझ लो
मैं उजाड़ों की
प्रतिध्वनि हूँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी ही चोट और अपनी ही ओट मैं था
मुक्ति का अनिश्चित पैराग्राफ
लिखने का दर्प (पिघल री बर्फ!) जिसके लिए
फूल लाना आमूल परिवर्तन का
बुनियादी दृश्य था फ़िलहाल
हलकान करनेवाला भविष्य था

काल तुझसे होड़
मोड़ूँगा मोड़
क़स्द ज़रा ज़ेर
मैं हूँ शमशेर

यथार्थ दबंग था

यथार्थ दबंग है तो
कहना भी जंग है
कितने ही मोर्चे हैं
कितने ही संस्तर
कलह और झड़पों की
कितनी ज़बानें
और कितनी लड़ाइयाँ
कितने ही डर
और कितने समर

न्याय मुझको चाहिए हर रोज़
चाय जैसे रोज़ दो कप कम से कम

कैसे बहुत ठीक भाषा में
कहा जाए यह संदेहास्पद

किस तरह कह दूँ कि
कह दूँ कह सका

मैंने कहा कि जाओ
लेकिन मुझे लगा कि मुझे सुना नहीं गया

मैं विश्वसनीय नहीं हूँ : न गद्य में न पद्य में
इतना हूँ अपनी ही हद्द में
नागरिकता और कविता की
सीमित प्रविधियाँ सत्ता के पास जबकि
कितनी ही विधियाँ चोट की

मुक्तिबोध के बाद अब
मुक्तिबोध के द्वंद्व

अपना-सा कहने की
फ़िज़ाँ और है
बहुत नई राह की
सज़ा और है

अपने को सहता हूँ
एक और तरह से कहता हूँ जाओ

हिंदी की दख़्ल
उर्दू की शक्ल

यथार्थ दबंग है तो
कहना भी जंग है

अगर जोड़तोड़ है तो
तोड़फोड़ हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असर तो हो
ईश्वर का नहीं
पड़ोस के बिना
गुज़र नहीं हो

लगता है कुछ खो गया
नहीं निकलता तीर
मैं मैं कहता मैं फ़ना
ये कबीर वो मीर

ठीक से देखो
बाद के कवि में
पहले के कवि को
हिन्दी में जो लिखेगा
कैसे न कहेगा, अन्याय नहीं है

अरी री नयी अक़्ल
विनोद कुमार शुक्ल

पहले जो गया है
चिह्न छोड़ गया है
गुस्सा हम-सा
मनुष्य है तलवे से
काँटा निकालता-सा
भविष्य है

कहता हूँ बेलाग साफ़
दुख में हूँ
आती हुई सदी
और आशा में

विभक्त हुई भाषा में
अपनी-सी ज़बान में
धीमे से कान में

हर इबारत में रहा बाक़ी
मैं भी बाक़ी बहुत कहकर

मैं यहाँ तक आ गया हूँ ख़बर लेता
मैं यहाँ से और पीछे जाऊँगा ख़बर देने

हाशिए पर है तो
हाशिए पर आ
हाशिए पर हा
हाय हाय के लिए
आ
हाशिए पर गा
आ
हाशिए पर
जा

मैंने बेटी से कहा जाओ फूल के लिए
अपने कहे हुए की प्रतिध्वनि से लगा कि
यह वंचित के साथ वंचित के
संवाद का तनाव है बातचीत में यह
वस्तु का बदलाव है यह दूसरे को
पुकारने और अपने को जगाने
की व्याप्ति है यह अपनी मरम्मत
की टूट-फूट की गूँज है : जाओ

एक छोटी-सी लड़ाई
एक मामूली अहद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन जाने के पहले एक गिलास
पानी पी लो और ये बची आधी
रोटी खा लो और अपने बाल
सँवार लो और ये जूते पहन लो जिस पर
धूल के बाद पानी गिरने से
किसी अज्ञात देश या अनजाने भविष्य
का नक़्शा बना है—और ये कड़वा तेल लगा लो
और कान में डाल लो और
जान लो कि तुम पृथ्वी पर पाँच किलोमीटर
प्रति घंटा की चाल से चलोगे
जबकि तुम्हें रॉकेट पचास हज़ार किलोमीटर
प्रति घंटा की गति से उठता हुआ दिखेगा
लेकिन फूल लेने के लिए पैदल
ही जाना होता है और उसमें चलने का
हिसाब भी नहीं रखा जाता : चलना और
जानना और इस अन्तर्विरोध का विरोध
करना कि जिस पृथ्वी पर लोग
भूख से मरते हैं वहाँ कई खराब डॉलर
अमरता के शोध पर खर्च होते हैं जान लो
कि पृथ्वी के बीचोबीच एक चमकीली
विवस्त्रा के बारे में घोषणा की जाएगी
कि वही है दुनिया की सबसे सुन्दर स्त्री
इस झूठ को असंख्य स्त्रियों के चेहरों में
पहचानना और जानना कि ताक़तवर की
ताक़त हमारे अनिर्णय हैं

जाओ क़मीज़ पहन लो जिसे
किसी और दिन सिलूँगी मैं
प्रपीड़कों के विरुद्ध विद्रोहियों को
विदा करनेवाली माँ की तरह
अभी मैं कुछ और कहना चाहता था

मैं नहीं जानती थी कि बेटी
फूल ले आएगी तो क्या होगा
क्या यह पृथ्वी के ज़्यादा
तेज़ घूमने की शुरुआत होगी
या सरीसृप बच्चों के खिलौने बनकर लौटेंगे
या एक नदी तीसरे तल पर आएगी या
चौथे तल पर एक स्त्री की विजय होगी
और तहख़ाने में एक पतित न्यायाधीश

बहुत दिनों के बाद भी
नहीं आ रही नींद
बहुत दिनाँ की भूख है
कहीं महकती हींग

और सबका निजीकरण
हंगर का सेक्टर छोड़कर

ताक़तें ही ताक़तें
कमज़ोर समाज में हमारे

इतना तो नक्सली हर कोई है

मेरा इतिहास नहीं वही
मेरा रविवार उनसे अलग

प्रतीक्षा में
हिन्दी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्महत्या करेगा और एक आततायी
दारोगा के थाने की जगह में
एक विधवा पैर फैलाकर रोटियाँ बनाएगी
या कि पीले रंग की सुबह में
सलेटी रंग का बादल लाल रंग के
डंठल पर टिका होगा या कि
लौकी के छीलने की बू और नमी
कमरे में भर जाएगी या कि
खुशी के अवशेष का
निर्माल्य

मार देना चाहता है आततायी को

धुँधले में चटख़
इतना ऋत्विक घटक

मैंने फूल तोड़ने के लिए
जाते हुए बेटे के मुड़े
बेटी के चेहरे को आ
विष्कार के लिए जाते
हुए की पीठ को देख
ने का नवजागरण
महसूस किया

इसे फिर से कहाँ
से

बेटे को फूल लेने गए
एक घंटा बीत गया है
या एक युग : मैं इन्तज़ार कर रहा हूँ
बदलाव का या समय के बीत जाने का
मैं तटस्थ हूँ या शामिल और शामिल
तो किसमें : मैं एक समकालीन
फ़िल्म देख रहा हूँ या इतिहास
का एक अंश या कि पर्दा ही ख़ाली है

अधीनता-स्वाधीनता का
अजूबा कोलाज
बीता कहाँ बीता नहीं
बर्तानिया राज

राजनीति जाली है—यह इतिहास से
निकलकर आती आवाज़ है या कि
एक संथाली स्त्री का आख़िरी वाक्य
और ये लोग कौन हैं जो एक
जगह को छोड़कर दूसरी जगह जा
रहे हैं : बेघर और बदहवास
कदम वे उठाते हैं
और बुदबुदाते हैं :

नेशनल बिल्डिंग राजनीति की
राजनीति क्या है
अगर नब्बे प्रतिशत पर
दस की दया है

जिसके तट पर हम रहते थे
उसके ही पानी में सब कुछ
डूब गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर आँगन
खिड़की दरवाज़ा
अन्न पेड़
ढोलक और बाजा
बचा नहीं कुछ
बाँध बना था
कहते थे आएगी बिजली
बहुत अँधेरे निकले थे हम
शहर आ गए स्लम में रहने

गणतन्त्र है
षड्यन्त्र है

अभी ज़रा-सा दम मारा था
तोड़ दिया सब बुलडोज़र ने
बचा नहीं कुछ हांडी तक तो
फूट गई है पाँच सितारा
होटल की अब नींव खुदेगी
हममें से वो खोदेंगे कुछ
अपने हाथों अपनी क़ब्र
खोदने जैसा : हमको गोया
ठौर नहीं है होगा देश
हमारी पृथ्वी और नहीं है

इधर हार

उधर मल्हार

पौने सात हैं तो अभी दिन है
साढ़े सात हो जाएँगे तो रात हो जाएगी
बुद्ध ने कहा भी कि दुनिया
हर पल बदलती है कवि इस
बदलती दुनिया को और बदलना चाहता है
कवि लकड़ी को किताब में और
प्लास्टिक को अख़बार में बदलना चाहता था
गणित को कथा और थैले को
बादल में यात्रा को वो उम्मीद में
और चादर को पृथ्वी में बदलना चाहता था
कवि नदी को कपड़ा डालने वाली
नीली-सी रस्सी में बदलना चाहता था

कविता में पता लगा
हत्या और सत्ता का तुक

असहमति को कहने की बला
विष्णु जी, इसलिए इतना जला

कवि वाक्य को सन्देश में और काग़ज़ को
फ़िल्म में बदलना चाहता था वह हाशिए को
विमर्श में और कोने को विचार में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलना चाहता था कवि कवि को
मोची में बदलना चाहता था और जूते को
धर्म में इंजन को चित्रकला में और
तुलसीदास को रैदास में कवि इन्दिरा गांधी
को शिला में बदलना चाहता था और
मायावती को ईमान में कवि मच्छर को
संगीत में बदलना चाहता था
कवि मृत्यु को लाठी में बदलना चाहता था
कवि ईश्वर को चूरन में और आदिवासी
को अरावली में बदलना चाहता था कवि
पेड़ को पहरेदार में पहाड़ को पोस्टर में
और स्त्री को खिड़की में बदलना चाहता था

कवि चाय को रूपक में बदलना चाहता था
और अतीत को मंच में कवि बाज़ार को
मेमने में बदलना चाहता था और रात को बात में
और आततायी को पिल्ले में कवि मन्दिर को
घुड़साल में बदलना चाहता था चप्पल को
जहाज में कवि इच्छाओं को समुद्र में और समुद्र को
नागार्जुन में बदलना चाहता था आत्मा को फोन में
कवि शाम के सात को बदलाव के
काल में बदलना चाहता था

सात हो रहे हैं मैं बालकनी में खड़ा हूँ
जहाँ से मुझे एक युवती आधुनिकता की तरह
दिख रही है जो बीच-बीच में
परम्परा की तरह गायब हो जाया करती है
सुना है कि वह किसी और शहर से यहाँ आई है
नयी जगह में नये सुख को खोजने का
भ्रम और श्रम उसके चेहरे पर फैले धुएँ में
कम ही दिख रहा है बार-बार वह खिड़की पर
आती है जो दीवारों को लोकतान्त्रिक बनाने की
परम्परा का हिस्सा रही है

खिड़की के बाहर दूर पता नहीं क्या वो
देखती है शायद पतंग शायद परिन्दे
शायद सुरंग शायद रंग शायद पेड़ शायद
जंगल शायद ज़मीन शायद डर शायद शाम
शायद सूर्य शायद स्वप्न शायद गेंद
शायद रास्ता, वह पतली-सी लड़की की परछाई

समाज की जगह जाति बनायी
कितना मसरूफ़ रहे पुरखे हमारे

मंडी के बाहर
ठंडी में बंडी में
कवि

रात भर की नींद परम्परा
आधुनिकता पूरे दिन लोकतन्त्र

चल पड़ा है आपका मठ
है मगर अपना भी हठ

शहर को पार करने में नदी को
पार करने की ख़ुशी हरगिज़ न थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे मन में आँधी
अंधड़ में गुम गांधी

रात की तरह लम्बी और चरागाहों की तरह चौड़ी थी
जहाँ होने का जादू था और ख़त्म होने का
संशय वो एक लड़की का चेहरा था या
1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन वह लड़की
थी या मंगलग्रह का उजाड़, निर्जनता और
तमतमाया लाल !

फूल लेने गई बेटी को लौट आना चाहिए
मैं तो ये भी कहूँगा कि इस बीच इस दुनिया को
बदल जाना चाहिए : प्रतीक्षा और प्रार्थना से
जितना ही भरा हूँ
उतना ही डरा हूँ

ये मेरा हासिल कि मेरे
पास सुबहों की है याद

बहुत फीकी चाय-सी है शाम
और पत्ती भी ज़ियादा है

फूल और पीढ़ी और प्रेम की प्रतीक्षा और
सामने की खिड़की में दिखती लड़की के
बत्ती बुझाकर जाने और सुस्ताने का इन्तज़ार
इन सबके भीतर सामने मैदान में बैठी स्त्रियों की
फुसफुसाहट प्रवेश कर रही है—खिड़की में दिखती
युवती एक दिन मैदान में बैठी माँओं जैसी
माँ हो जाएगी—भारी स्तनों भारी कूल्हों
और हज़ारों पके बालों वाली लेकिन हो सकता है
तब तक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था हो कि
आशंका कम हो और छज्जे पर खड़ा मेरा बेटा
मेरे जितना डरा हुआ न हो

पृथ्वी के बीचोबीच
बैठी हुई माँएं

131470

मैं सड़क से वसन्त को जाते हुए देख रहा था
यह किसी भी ऋतु का अन्त था पेड़ों के
ज़्यादातर पत्ते गिर चुके थे और बहनों के
अधिकांश आँसू आततायियों के अधःपतन
और गिरने की छप और धप की आवाज़ें
आती रहती थीं एक आदमी ने
अपना सब कुछ खो दिया था और एक अमेरिकी
ने लगभग सब कुछ पा लिया था
आसमान से युद्ध के विमानों के गुज़रने
के बाद स्याह परिन्दे गिर रहे थे
सूर्य ओझल था घास पीली और
ख़रगोश की झक सफेदी आलोकधन्वा तक की
स्मृति में नहीं थी यह घास के मैदानों
से गुज़रने का अन्त था ये बेहतर दिन जैसे
लगते अच्छे दिन नहीं थे फिर भी निराशा

तंग था हालात से मैं
तंग मुझसे ताक़तें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हठ में बदल गई थी

फूल लेने गया बेटा
एनकाउंटर में
मारा गया या युद्ध में : कहाँ गया वह
कहाँ गई बेटी क़ैद की गई या
बलात्कार हुआ फुसला ली गई बाज़ार में

मैं पुकार रहा था : कहाँ थी बेटी
क्या उसकी भी
पैकेजिंग कर दी गई थी मैं बेटियों को
पॉलीथिन हटाकर ढूँढ़ रहा था मैं थका था
भूखा था लेकिन मामूली भूख के लिए मामूली खाना
बाज़ार में नहीं था

बार बार रोया बाज़ार में
बार बार खोया बाज़ार में
बार बार बीमार बाज़ार में
बार बार हार बाज़ार में
बार बार पुकार बाज़ार में
बार बार बुखार बाज़ार में

नगाड़ा ज़रा तेज़
बजाया जाए
नौटंकी शैली में
गाया जाए :
नहीं है ये बाज़ार
सबके लिए
किसके लिए, पिया
किसके लिए फिर
अगर नहीं बाज़ार
सबके लिए

मुफ़लिसी थी लापता
इस तरह अख़बार निकला

अख़बार में बेटी की कोई ख़बर नहीं थी
चैनलों पर वो दिख नहीं रही थी

किसी भी चैनल पर बेटी नहीं थी तो
किसी चैनल पर असहमति भी नहीं थी
एक आदमी के सात दिनों से न खाने का दृश्य नहीं था
एक स्त्री का यह कहना भी नहीं था कि
प्रधानमन्त्री, तेरा मुँह नोंच लूँगी किसी भी
चैनल पर पागल होकर स्टेशन पर घूमती
औरत नहीं थी नाले में नहाता बच्चा नहीं था
वो सेक्सवर्कर नहीं थी जिसकी छाती के
नीले दाग़ की वजह से ग्राहक ने उसे
मज़दूरी नहीं दी चैनलों पर हिन्दुस्तानी के
पानी और सम्मान माँगने की ज़िद नहीं थी
दाहिने हाथ की बम से उड़ी उँगलियों को
बाएँ हाथ की उँगलियों से राख़ से निकालता
बच्चा नहीं था ख़ाली बर्तनों के टकराने से पैदा

चैनल बदलो लेकिन दुनिया
नहीं बदलती इतनी आसानी से
शर्मा ऽऽ ऽऽऽ ऽऽऽ जी!

भूखे नंगे मुफ़लिस बेघर बेदम
चमकीले चैनल को कर देंगे ये मैला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बियाबान संगीत नहीं था चैनल पर न आदिवासी की
थकान थी न उसका रंग चैनलों पर
ईश्वर था और उसी जैसे सवर्ण जहाँ
नरसंहार एकता कपूर में बदल जाता था और
एक नदी को सूखते हुए
लाइव दिखाया जाता था

और सनसनी और सनसनी मैडमजी
बिना सनसनी कैसा चैनल मैडमजी
जो होता है वही दिखाते मैडमजी
जो दिखलाया बस उतना सच
मैडमजी

सच दिखाने की प्रतिश्रुतियों के कारण
चैनल को हत्याएँ दिखाई पड़ती थीं और बलात्कार
जिसकी वजह से चैनल को ज़्यादा देखा जाता था
यानी कि सच को ज़्यादा देखा जाता था : ज़्यादा
देखे जाते चैनल को ज़्यादा विज्ञापन मिलते थे
मतलब कि विज्ञापनों का नैतिक आधार विकसित
हो रहा था : चैनलों ने लत्ते पहनने वाले समाज से
मनवा लिया कि फ़ैशन सच था और
फ़ाइव स्टार होटल भी : फ़ाइव स्टार सच को
फ़ाइव स्टार हिंदी में कहा जाता था गोया
जनता की हिंदी अंग्रेज़ी के कपड़े पहनकर
अपनी जात छुपाती थी : तो सच दिखाने का
दावा करने वाले चैनलों का सच ये था
कि फूल लेने के लिए गई लड़की किसी भी
चैनल पर नहीं थी जहाँ एंकर चार हेडलाइनें
बताने के बाद पाँचवीं हेडलाइन नहीं बता पाती थी

पोतपात कर आएँ बैठें मैडमजी
दुख का नाटक कर तो लेंगी मैडमजी
मरने की ख़बरों में थोड़ा दिखें उदास

कि एंकर बनने के लिए मुझे रखैल बनना पड़ा :
आज़मगढ़ से आई लड़की को स्मृति से बेहतर
लगने लगा था एक रंगीन मोबाइल—पिछले दरवाज़े
से निकलकर वो सिगरेट पीती थी और लौटकर
अपनी रिकॉर्डेड तस्वीर देखती थी
और देखती थी सफ़ेद त्वचा के नीचे
फँसा अकेलापन जिसके लिए ख़बरों की मंडी में कोई कोना नहीं था
न्यूज़रूम में भागता हुआ आता था पुलकित एक्ज़ेकेटिव प्रोड्यूसर
और कहता था : खेलो, इस ख़बर से खेलो—
डेढ़ सौ लोगों के मर जाने की ख़बर से खेलो—
बेच लो इसे—ढंग से बेचो नौ साल की बच्ची
के दुख को—एक्सक्यूसिव माल है—माल
यानी ख़बर के नीचे लिखो एक्सक्लूसिव—
ख़ास—तो न्यूज़ चैनल शवों के कोल्ड स्टोरेज थे—
फूल लेने के लिए गई बेटी क्या शवों के
शीतालय में थी और क्या बैठने लगा था बेटा ईश्वर की दुकान पर

कशिश बनाये रखें लेकिन मैडमजी
हिंदू होने का भी मौक़ा आएगा
अभी तो चैनल टोटल सेक्युलर
मैडमजी

बिकता है दुख ख़ूब चैनल पर
स्क्रिप्ट ज़रा ज़ोरदार हो बस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत ईश्वर बहुत ईश्वर
एक भूखे को खिला पाता नहीं
बहुत ईश्वर बहुत ईश्वर
बेदख़ल को हक़ दिला पाता नहीं
बहुत ईश्वर बहुत ईश्वर
बेदवा मरते जिला पाता नहीं
बहुत ईश्वर बहुत ईश्वर

नाम बेहतर है अगर इंसान का हो
हाय रब्बा, नहीं सुनाई पड़ रही थी बेटी की आवाज़ :
कहाँ हो बप्पाऽऽऽऽ

यह प्रतीक्षा थी या दूर झिलमिलाती
रौशनी के धीरे-धीरे बुझने या
प्रगाढ़ होते जाने का अनिश्चय जहाँ आत्मा
भूकम्प में पृथ्वी सी थरथराती थी और
हारती थी जीतता था कोई

मैं पृथ्वी के आख़िरी मकान में था या
दुनिया के पहले घर में मैं उम्मीद की
तर्जनी था या नाउम्मीदी का छोर
प्रतीक्षा प्रतिरोध थी

सामने जो सड़क थी
ख़ाली थी
आती हुई बेटी नहीं आ रही थी

कोई नहीं था लेकिन
प्रतीक्षा थी
जैसे हिन्दी थी

कोई नहीं था लेकिन
पत्ते के भूरे होने की
प्रक्रिया थी जैसे
पत्ते के हरे होने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ न होने की निराशा थी
तो कुछ कुछ होते जाने की क्रिया थी

क्रिया थी
संतृप्त व्याकरण की
किताब तक में

फूल लेकर आती बेटी
नहीं आ रही है
लेकिन उसके होने की आहट है
जैसे हवा है और उसका
हिलना है
अर्थों के होने पर
भाषा के हिलने जैसा यह तो अरे
पृथ्वी और उस पर टिके
ढाँचों का हिलना है यह
आत्माओं का हिलना है और इस तरह
कहने की पद्धतियों और देखने की
शैलियों का हिलना है समीक्षाएँ
होने पर सभ्यताओं के हिलने जैसा और
असहमति के दख़ल से सत्ता के
हिलने जैसा : हिलती हुई खड़ी हूँ सोचती हूँ
सोचने में अपने से बड़ी हूँ

वो पहाड़ों के परे जाने की ज़िद
ये पहाड़ों के इधर होने के दाग़

चलो यहाँ से कहीं और
उम्र भर के लिए क्यों

बदलने की कविता में
कविता के बदलने के अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्मशती पर विशेष

राष्ट्रीय काव्यधारा और सुभद्रा कुमारी चौहान

नीलाभ

सुभद्रा कुमारी चौहान के कृतित्व के बारे में लिखना, उसका मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन करना, आसान नहीं है। समय ने कुछ अन्य कारकों के साथ मिलकर उनकी रचनाओं पर एक ऐसा झीना-सा पर्दा डाल दिया है कि उनके नख-शिख साफ-साफ नजर नहीं आते। इनमें से कुछ कारण तो ऐसे हैं, जो प्रकृति में भिन्न होते हुए भी आपस में रस्सी के रेशों की तरह बँटे हुए हैं। पहला तो है सुभद्रा जी की कविता 'झाँसी की रानी' को मिली अभूतपूर्व लोकप्रियता। बिरले ही सही, मगर ऐसे रचनाकार भी देखे गए हैं, जिनकी कुछ रचनाएँ इतनी चर्चित हो जाती हैं कि उनकी ओट में उनका शेष कृतित्व ओझल-सा हो जाता है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' अपनी सारी लोकप्रियता के बावजूद उनकी 'विनय पत्रिका' अथवा 'कवितावली' को दबा नहीं सका। इसी तरह 'कामायनी' की प्रसिद्धि 'आँसू,' 'झरना' और 'प्रेमपथिक' सरीखी प्रसाद की अन्य काव्य रचनाओं पर भारी नहीं पड़ी। मगर शुभद्रा जी की ख्याति आज केवल 'झाँसी की रानी' की कवयित्री के रूप में है, या फिर 'वीरो का कैसा हो वसन्त' की रचयिता के रूप में। आज हिन्दी के अधिकांश पाठकों की तो बात ही क्या, बहुतेरे कवि-कथाकार भी नहीं जानते कि शुभद्रा जी ने इन कविताओं के अलावा भी कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की थीं।

विडम्बना यह है, और उनके प्रति बरती गई उपेक्षा का एक उदाहरण भी, कि आज उनका सम्पूर्ण कृतित्व भी नहीं मिलता। सुभद्रा जी के तीन कविता संग्रह प्रकाशित हुए—'त्रिधारा,' 'मुकुल' और 'बंगीय साहित्य परिषद' द्वारा प्रकाशित 'बुन्देले हरबोलों के मुँह'—और दो कहानी संग्रह—'बिखरे मोती' और 'उन्मादिनी।' इनके अलावा 'प्रभा,' और 'कर्मवीर' सरीखे उस समय के पत्रों-पत्रिकाओं में सुभद्रा जी के लेख, निबन्ध और टिप्पणियाँ भी छपती रहीं। अब हंस प्रकाशन द्वारा जारी 'सुभद्रा समग्र' में कुल-जमा 88 कविताएँ हैं और 46 कहानियाँ। लेखों, निबन्धों, आदि का कुछ अता-पता नहीं है और यह भी सम्भव है कि कुछ कविताएँ और कहानियाँ भी छूट गई हों।

एक और कारण, जो इससे जुड़ा हुआ है, वह महज 44 वर्ष की आयु में उनका अकाल दिवंगत हो जाना है। 1948 में अपने देहावसान के वर्ष तक हिन्दी कविता के क्षेत्र में सुभद्रा जी की एक जीवन्त उपस्थिति बनी हुई थी। आज की तरह कवि सम्मेलन सिर्फ गीतकारों, हास्य-कवियों और लतीफाबाजों के अखाड़े नहीं बने थे, बल्कि उनमें प्रतिष्ठित कवि और प्रबुद्ध श्रोता भाग लेते थे। लेकिन अपने अकाल निधन के कारण सुभद्रा जी धीरे-धीरे कविता के

5, खुसरो बाग रोड, इलाहाबाद (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिदृश्य से बाहर होती चली गईं। उनके बारे में तीन लेख तो उनके निधन के वर्ष ही लिखे गए। माखनलाल चतुर्वेदी ने एक संक्षिप्त-सी टिप्पणी में उन्हें याद किया तो शमशेर बहादुर सिंह और मुक्तिबोध के लम्बे आलेखों में उनकी कविता की विशद चर्चा हुई। फिर सन् '60 के दशक में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने साहित्य कोश में सुभद्रा जी पर एक टिप्पणी लिखी और '90 के दशक के उपेन्द्रनाथ अश्क ने सुभद्रा जी की कहानियों का विस्तृत विवेचन किया। यहाँ मैं सुभद्राजी पर लिखे गए महादेवीजी के लेख का जिक्र जान-बूझकर छोड़ गया क्योंकि उसमें केवल साहित्यिक आशंसा और निजी स्मृतियों का उल्लेख ही नहीं है, बल्कि बचपन के सहेलपने का भी प्रच्छन्न पुट है।

ऐसी स्थिति में सवाल उठता है कि सुभद्रा जी के कृतित्व के समुचित मूल्यांकन के अभाव का क्या कारण है ? जिस कवयित्री को शमशेर बहादुर सिंह जैसे कवि ने 'राष्ट्रीय बसन्त की प्रथम कोकिला' कहा था और जिसकी कविता के अध्ययन की आशा मुक्तिबाध ने हिन्दी के लेखकों और आलोचकों से की थी, वह धीरे-धीरे चर्चा से बाहर, क्यों होती चली गई ? क्या इसका कारण मात्र हिन्दी समाज की वह कृतघ्नता और स्मृतिहीनता है, जिसका उल्लेख एकाधिक बार कवि-आलोचक आशोक वाजपेयी ने किया है ? या फिर साहित्य के क्षेत्र में सुभद्रा जी का योगदान ही इतना कम है कि उसकी चर्चा नहीं होती रही ?

यों स्मृतिहीनता की शिकार अकेली सुभद्रा कुमारी चौहान नहीं हैं ? उनके साथ की, और उनके कुछ बाद की भी, कवयित्रियों में, महादेवी वर्मा को छोड़कर, लगभग सभी इस विस्मृति का निशाना बनी हैं। चाहे तोरन देवी शुक्ल हों या तारा पांडे, रामेश्वरी देवी चकोरी हों या विद्यावती कोकिल, सुमित्रा कुमारी सिन्हा हों या चन्द्रमुखी ओझा सुधा। हिन्दी के लेखक, आलोचक और पाठक अपनी कवयित्रियों के प्रति विशेष रूप से कृपण रहे हैं। क्या कारण है कि इन कवयित्रियों के अनुभव और भाव संसार के प्रति पाठकों और आलोचकों में आकर्षण नहीं रहा ? सुभद्रा जी के सिलसिले में तो कांग्रेस के साथ उनका सक्रिय जुड़ाव इसका एक कारण हो सकता है, या फिर उनका राष्ट्रीय काव्य-धारा का अंग होना। क्योंकि इस काव्य-धारा के कवियों को 1947 के बाद धीरे-धीरे कांग्रेस के प्रति असन्तोष के चलते भी उपेक्षा का सामना करना पड़ा है। आज कितने लोग हैं, जो माखनलाल चतुर्वेदी या बालकृष्ण शर्मा नवीन की कविताओं को पढ़ते हैं ? लेकिन केवल राजनीतिक मतभेद या मोहभंग इसका कारण नहीं, क्योंकि अन्य कवयित्रियों के सन्दर्भ में वह लागू नहीं होता। निश्चय ही इसके कारण पिछली आधी सदी के दौरान हिन्दी के बदलते साहित्यिक-सामाजिक परिदृश्य में खोजने होंगे।

हिन्दी के उन्मेष काल में, यानी उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम चौथाई सदी और बीसवीं सदी के पहले के दो दशकों में हिन्दी कविता की वसुन्धरा अधिक व्यापक और समाजोन्मुखी थी और विविध रूपी अनुभवों और भावों से निर्मित हुई थी। वह अधिक मुखर और बहिर्मुखी थी। छायावाद ने इस दृश्यावली को बदलने में पहला हस्तक्षेप किया। कविता व्यक्ति-केन्द्रित हुई, जटिल अनुभवों और भावों को व्यक्त करने में सक्षम बनी, मगर इसी के साथ उसका दायरा पहले की अपेक्षा सीमित भी हुआ। यह ठीक है कि महादेवी वर्मा और प्रसाद भले ही छायावाद की सीमाओं में बँधे रहे—प्रसाद अगर 'कामायनी' में दर्शन की ओर गए, तो महादेवी ने अन्त तक अपनी पुरानी भाव-सम्पदा को ही सँजोए रखा—लेकिन 'ग्राम्या' तक आते-आते सुमित्रानन्दन पन्त और 'कुकुरमुत्ता' तक आते-आते निराला ने छायावाद की सीमाओं को पहचानकर उससे, और उससे जुड़े काव्य आभिजात्य से, मुक्त होने के प्रयास शुरू कर दिए थे। यही कारण है कि राष्ट्रीय काव्य-धारा के कवि, चाहे वे माखनलाल चतुर्वेदी हों या बालकृष्ण शर्मा नवीन या फिर सुभद्रा कुमारी चौहान, छायावाद के आरम्भिक प्रबल ज्वार को झेल ले गए और बाद के दौर में राजनीतिक-सामाजिक संघर्ष के स्वरूप में परिवर्तन होने पर भी वे कवियों के लिए प्रेरणा-स्रोत बने रहे। बच्चन और नरेन्द्र शर्मा ने अपने गीतों के लिए अगर पहले के दौर की व्यक्तिपरकता से प्रेरणा ली तो दिनकर और शैलेन्द्र ने पूर्ववर्ती राष्ट्रीय काव्य-धारा से।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिसे आज हम राष्ट्रीय काव्य-धारा कहते हैं, वह केवल उद्बोधनपरक नहीं थी, बल्कि उसकी सामाजिकता जीवन के दैनन्दिन प्रसंगों, घर-परिवार, मित्र-बन्धु, प्रेम और गार्हस्थ्य और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों—यानी जीवन को समग्रता में चित्रित करने के प्रयासों-प्रयत्नों में भी निहित थी। अकारण नहीं है कि छायावाद के सम्मोहित कर देनेवाले आकर्षण के बावजूद केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन, यहाँ तक कि अज्ञेय की आरम्भिक कविताओं में भी यह सामाजिकता और घरेलूपन नजर आता है। अपनी पत्नी का लेकर लिखी गई केदारनाथ अग्रवाल की कविताएँ हों या नागार्जुन की 'यह सिन्दूर तिलकित भाल' जैसी रचनाएँ—वे उन्हीं भावों की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो हमें सुभद्रा जी की कविताआं में प्रचुरता से मिलते हैं। यह ठीक है कि समय के साथ उनका रूप हू-ब-हू वैसा नहीं रहा। रह भी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता था और रहना चाहिए भी नहीं था, क्योंकि परवर्ती कवि केवल अनुकरण नहीं करते, बल्कि पुरानी भाव-सम्पदा को नया करते हुए उसे नए अर्थों और सन्दर्भों में ढालते हैं। लेकिन '50 के दशक के बाद से यह स्थिति तेजी से बदली। नई कविता और उसके बाद की काव्य-धारा में जटिलता बढ़ती चली गई, जो समाज में बढ़ती जटिलताओं का ही प्रतिफलन थी। नेहरू युग से मोहभंग ने 1947 से पहले की सारी उद्‌बोधनपरक कविताओं को भी सन्देह के दायरे में धकेल दिया। पुराने आदर्शों और मूल्यों के प्रति एक अनास्था नजर आने लगी और सामाजिक परिवर्तन का साथ निभाने का संकल्प लेनेवाले कवियों ने भी बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों की राष्ट्रीय काव्य-धारा से प्रेरणा लेने के बजाय उसे भुला देना ही श्रेयस्कर समझा और प्रेरणा के लिए विदेशी कवियों का सहारा लिया। कवि सम्मेलन, जो कवियों और कविता को जनता से जोड़े रखने का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन थे, केवल सस्ते मनोरंजन का साधन बन गए। निराला ने छन्दों के शासन से मुक्ति को कविता की मुक्ति बताया था। बाद के कवियों ने इस सूत्र को अधूरे रूप में लागू करके छन्दों से ही पीछा छुड़ा लिया और कविता की मुक्ति को कविता की उच्छृंखलता में प्रस्फुटित किया। कविता की वाचिक परम्परा को त्याग दिया गया। नतीजे के तौर पर कवियों की तादाद तो बढ़ी, लेकिन कविता की वसुन्धरा पहले से छोटी हो गई। जो कवि सामाजिक परिवर्तन की धारा से जुड़े थे, जैसे नागार्जुन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, गोरख पांडेय, आदि, उन्होंने राष्ट्रीय काव्य-धारा के उद्‌बोधनपरक स्वर को तो अपने-अपने ढंग से, और कुछ बदले हुए रूप में, बरकरार रखा, लेकिन दैनन्दिन जीवन-प्रसंगों को अभिव्यक्त करने के प्रयास मन्द-से-मन्दतर होते चले गए और पिछले लगभग तीस वर्ष की हिन्दी कविता में वे यदा-कदा ही झलक उठते हैं।

वैसे भी, हिन्दी साहित्य एक पुरुष प्रधान समाज का साहित्य है। अगर हम पिछले पचास-साठ वर्ष की हिन्दी कविता पर नजर डालें तो कवयित्रियों की कमी खटकन की हद तक महसूस होती है। कथा के क्षेत्र में तो महिलाओं ने अपनी सक्रिय उपस्थिति दर्ज कराई है और विपुल साहित्य भी रचा है, लेकिन कविता का क्षेत्र अब भी बहुत हद तक पुरुषों के अधीन है। निश्चय ही, सायास कवयित्रियाँ बनाना सम्भव नहीं है, मगर यह स्थिति हमें हिन्दी साहित्य के समाज-शास्त्र और आलोचना की पद्धति के कुछ पहलुओं पर विचार करने के लिए तो प्रेरित करती ही है।

अक्सर इस तथ्य को नजरअन्दाज कर दिया जाता है कि आलोचना सत्ता का विमर्श है। जो लोग 'निष्पक्ष आलोचना' की बात करते हैं, उन्हें न तो कला-कर्म—उसके प्रेरणा-स्रोतों, उसके उत्स और प्रकृति—की जानकारी होती है, न आलोचना के स्वभाव की। अगर किसी समाज में प्रचलित विचार, जैसा कि मार्क्स ने कहा है, शासक वर्ग के विचार होते हैं तो अनिवार्य रूप से उस समाज में प्रचलित, आलोचना पद्धतियाँ, उनकी कसौटियाँ और निष्कर्ष भी शासक वर्ग के नजरिए का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि आलोचना का एक प्रमुख परिणाम श्रेणी-निर्धारण और कैननाइजेशन होता है, प्रतिमानीकरण होता है। और यह भी सत्ता का ही विमर्श होता है। लेकिन यह कोई स्थिर, अटल या अपरिवर्तनीय निर्णय नहीं होता, जो आलोचना किसी कृति अथवा लेखक के सन्दर्भ में करती है। यही कारण है कि समय के साथ मानकों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। आचार्य शुक्ल के मानक में कबीर बड़ी मुश्किल से जगह पाते हैं, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मानक कबीर को शामिल किए बिना सम्भव ही नहीं है। यह तो हुई आलोचना की स्थिति। अगर जनता की दृष्टि से देखें तो कबीर सदा स्वीकृत रहे हैं। प्रकट ही, वर्गों में बँटे हुए समाज की रचनात्मकता ही नहीं, आलोचना भी वर्ग-विभाजन के तर्कों पर चलेगी।

इसी से मुख्य धारा और हाशिए का सवाल भी पैदा होता है। अक्सर यह कहा जाता है कि जिस अवधि में सुभद्रा जी ने अपनी अधिकतर कविताएँ लिखीं, उस समय की मुख्य धारा छायावाद है। वैसे तो यह मुख्य धारा और गौण अथवा हाशिए की धारा का सवाल ही कोई अर्थ नहीं रखता, लेकिन अगर इसे खाते में लिया जाए तो इस पर भी वही तर्क लागू होंगे, जिनका उल्लेख आलोचना के सन्दर्भ में ऊपर किया गया। यों, इस प्रश्न पर भी विवाद हो सकता है कि किसी सुदीर्घ काव्य-परम्परा में मुख्यधारा किसे कहा जाएगा। छायावाद से लेकर अकविता तक, जितने काव्यान्दोलन हुए—प्रयोगवाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद, नई कविता, आदि—उनका आयुष्य पाँच-पाँच, दस-दस वर्षों से अधिक का नहीं रहा। न उन्होंने कोई अलग परम्परा ही स्थापित की। इसके विपरीत, वे पहले से चली आ रही काव्य-परम्परा में समाहित कर लिए गए। वैसे ही, जैसे भारतीय विचार-परम्परा में समय-समय पर उभरनेवाले मत-मतान्तरों को समाहित कर लिया जाता रहा है।

इस सन्दर्भ में यह भी गौर करने की बात है कि दो-तीन वर्ष आगे-पीछे जन्म लेनेवालों पर भी समय क्या प्रभाव डालता है। सुभद्रा जी का जन्म 1904 में हुआ, महादेवी वर्मा और हरिवंश राय बच्चन का 1907 में। फिर यह कैसे हुआ कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुभद्रा जी उस राष्ट्रीय काव्य धारा का अंग बनीं, जो मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी से होकर उन तक आई थी, जबकि महादेवी छायावाद की ओर गईं और बच्चन ने सर्वथा एक अलग राह पकड़ी। इसलिए अगर मुख्यधारा और हाशिए की बात करनी ही हो तो सबसे पहले यह स्पष्ट करना होगा कि मुख्यधारा की पहचान क्या है ? क्या वह भी उसी कैननाइजेशन-प्रतिमानीकरण की प्रक्रिया से नहीं गुजरेगी, जो रचनाकारों के सिलसिले में लागू की जाती है ?

इसलिए शायद कवयित्रियों पर कभी सम्यक विचार नहीं हुआ। एक और कारण इस सिलसिले में यह भी हो सकता है कि हिन्दी कविता के संकलनों और उच्च अथवा उच्चतर पाठ्यक्रमों में हिन्दी की कवयित्रियों को उनका उचित स्थान नहीं मिला। अपवादस्वरूप अगर महादेवी वर्मा को छोड़ दें तो हिन्दी कवयित्रियों की एक लम्बी कतार है, जो इस कैननाइजेशन के चलते उपेक्षा का शिकार हुई है। इसलिए नहीं कि उनका साहित्यिक योगदान कमतर है।

इस विषयान्तर के बाद सुभद्रा जी की कविताओं की ओर लौटें तो विपुल न होते हुए भी उनके कृतित्व में एक उल्लेखनीय वैविध्य और अनोखी सहजता दिखाई देती है। प्रेम, परिवार, राजनीति, उद्‌बोधन—जिन विषयों को सुभद्रा जी ने अपनी कविताओं में उठाया, उन्हें उनकी विविधता में एक ऐसी सहजता से चित्रित किया, जो पहली नजर में तो आयासहीन प्रतीत होती हैं, मगर गहराई से परखने पर सुभद्राजी के अर्जित कलात्मक कौशल की पर्याप्त गवाही देती हैं। यह ठीक है कि उनमें छायावादी कवियों की-सी भाव-सघनता नहीं है। हो भी नहीं सकती थी क्योंकि वे न तो महादेवी की तरह 'नीर-भरी दुख की बदली थीं' न निराला की तरह 'बसन्त की अग्रदूत।' उनकी राह कुछ दूसरी ही थी, जैसा कि उन्होंने 'मेरी प्याली' शीर्षक से लिखी कविता में स्पष्ट भी किया—

अपने कविता कानन की मैं हूँ कोयल मतवाली
मुझ से मुखरित हो गाती उपवन की डाली-डाली

सूखे सुमनों के दल पर मैं मधु संचालन करती
मैं प्राणहीन का अपने प्राणों से पालन करती

इसी तरह उनकी एक और कविता 'मेरा जीवन' में उनकी कविताओं की भावभूमि और उसके आधार को समझने का एक और सूत्र उपलब्ध होता है—

मैंने हँसना सीखा है मैं नहीं जानती रोना।
बरसा करता पल-पल पर मेरे जीवन में सोना।

आशा आलोकित करती मेरे जीवन के प्रतिक्षण।
हैं स्वर्ण सूत्र से वलयित मेरी असफलता के घन।

सुख भरे सुनहले बादल रहते हैं मुझको घेरे।
विश्वास, प्रेम, साहस हैं जीवन के साथी मेरे।

कहना न होगा कि 'प्राणहीन का पालन अपने प्राणों से' करने का व्रत ही उस सामाजिकता का आधार है, जो सुभद्रा जी की कविताओं की अन्तर्धारा है। इस सामाजिकता के चलते उनका प्रेम भी मुखर ही हो सकता था, गोपन नहीं। उनका प्रिय 'निशीथी नीरवता में चुपचाप' आनेवाला प्रेमी नहीं, बल्कि जीवन-संघर्ष में साथ निभानेवाला प्रियतम है—

विषय-विकार-हीन दो हृदयों का यह पावन स्नेह विधान,
आत्मोन्नति के पथ पर चढ़ने का बन जाएगा सोपान॥

यों, सुभद्रा जी ने प्रेम की भी विभिन्न छवियाँ अंकित की हैं। इनमें मान-मनुहार भी है और एकान्तिक निष्ठा और समर्पण भी—

तुम मुझे पूछते हो 'जाऊँ ?' मैं क्या जवाब दूँ, तुम्हीं कहो
'जा...'' कहते रुकती है ज़बान किस मुँह से तुम से कहूँ रहो।

सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरसाना था
उन कृपा-कटाक्षों का बदला बलि होकर जहाँ चुकाना था

मैं सदा रूठती ही आई प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना
वह मान बाण-सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना।

इस मान-मनुहार का एक दूसरा पक्ष भी है, जहाँ सुभद्रा जी एक और ढंग से प्रेम का चित्रण करती हैं, भले ही उसमें भी एक समर्पण की-सी ध्वनि आए—

बहुत दिनों तक हुई परीक्षा, अब रूखा व्यवहार न हो।
अजी, बोल तो लिया करो तुम, चाहे मुझ पर प्यार न हो॥

जरा-जरा सी बातों पर, मत रूठो मेरे अभिमानी।
लो प्रसन्न हो जाओ, गलती मैंने अपनी सब मानी॥

मैं भूलों की भरी पिटारी, और दया के तुम आगार।
सदा दिखायी दो तुम हँसते, चाहे मुझ से करो न प्यार॥

अत्यन्त सीधी-सरल भाषा-शैली में सुभद्रा जी ने एक ऐसे प्रेम को चित्रित किया है जो पति-पत्नी के बीच भी हो सकता है। गृहस्थ जीवन में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं है। मगर सोचने की बात है कि कितने कवियों की नजर इस सामान्य-से अनुभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खंड पर जाती है।

लेकिन इस सारे समर्पण भाव और प्रेम के मुखर निवेदन में दीनता नहीं है। बल्कि नारी के अधिकारों के प्रति एक सजगता सदा झलकती है। 'मानिनि राधे' में वे कृष्ण के प्रति राधा के अनन्य भाव पर भी प्रश्न करते से नहीं हिचकतीं–

मुझे बता दो मानिनि राधे प्रीति-रीति वह न्यारी
क्योंकर थी उस मनमोहन पर अविचल भक्ति तुम्हारी।

तुम्हें छोड़ बन बेठे जो मथुरा-नगर निवासी
कर कितने ब्याह, हुए जो सुख-सौभाग्य-विलासी

ले आदर्श तुम्हारा, रह-रह मैं मन को समझाती हूँ
किन्तु बदलते भाव न मेरे शान्ति नहीं पाती हूँ।

स्त्री-पुरुष सम्बन्धें में जिस सामंजस्य को सुभद्रा जी ने अपनी कविताओं में आदर्श के रूप में चित्रित किया, यह उसी का तकाजा था कि वे राधा से दो-टूक शब्दों में कह सकीं–'श्यामा कहला कर, हो बैठीं बिना दाम की चेरी।' वे एक ओर तो बेहिचक अपने को अपने प्रियतम पर निछावर करने का साहस रखती हैं–

मैं उन्मत्त प्रेम की लोभी हृदय दिखाने आई हूँ
जो कुछ है, वह यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ

चरणों पर अर्पित है, इसको चाहो तो स्वीकार करो
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है ठुकरा दो या प्यार करो

दूसरी ओर यह उन्मत्त प्रेम भी उनके कर्तव्यबोध को विस्मृत करने की शक्ति नहीं रखता। उनकी चिन्ता यही है कि प्रेम कहीं पथ से विचलित होने का कारक न बन जाए–

लगे आने, हृदय धन से कहा मैंने कि मत आओ
कहीं हो प्रेम में पागल न पथ में ही मचल जाओ

कठिन है मार्ग, मुझको मंजिलें वे पार करनी हैं
उमंगों की तरंगें बढ़ पड़ें–शायद फिसल जाओ

तुम्हें कुछ चोट आ जाए कहीं लाचार लौटूँ मैं
हठीले प्यार से व्रत-भंग की घड़ियाँ निकट लाओ

इसीलिए सुभद्रा जी की कविताओं में जिस प्रेम के जिस रूप में दर्शन हमें होते हैं, वह एकान्तिक भक्ति और भाव-विह्वलता से आगे बढ़कर सेवा-भाव और जन-कष्ट निवारण को अपने दायरे में शामिल कर लेता है–

मधुर-मधुर मीठे शब्दों में मैंने गाना गाया एक
वे प्रसन्न हो उठे खुशी से शाबाशी दी मुझे अनेक

हुई प्रेम-विह्वल मैं उनके चरणों पर बलिहारी गई
बदले में प्रिय का चुम्बन पा जीत गई या हारी गई

घटने लगा किन्तु धीरे-धीरे यह पागलपन मेरा
एक नशा था, उतर गया, हो गया दुखी-सा मन मेरा

गाना एक और गाया, अब केवल मन बहलाने को
सेवा-भाव लिए निकली मैं अब जन कष्ट मिटाने को

मैं प्रसन्न थी, पर प्रसन्न्ता मेरी आज निराली थी
मैं न आज मैं थी यह कोई विश्व-प्रेम मतवाली थी

सुभद्रा जी के अन्दर की यह 'विश्व-प्रेम मतवाली' ही है, जो उन्हें न केवल व्यक्तिगत जीवन में एक परम्परागत परिवार की चहारदीवारी से बाहर निकलकर राजनीतिक कार्यकर्ता बनने और सक्रिय राजनीति में भाग लेने की ओर उन्मुख करती है, बल्कि अपनी कविता में उस क्षेत्र के अनुभवों का चित्रण करने के लिए भी प्रेरित करती है। राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेकानेक चित्र सुभद्रा जी की कविताओं में एक कोलाज की तरह सजे मिलते हैं–

मेरा बन्धु माँ की पुकारों को सुन करके तैयार हो
जेलखाने गया है,
छिनी हुई माँ की स्वाधीनता को वह जालिम के घर में
से लाने गया है

कृष्ण मन्दिर में प्यारे बन्धु पधारो निर्भयता के साथ
तुम्हारे मस्तक पर हो सदा कृष्ण का वह शुभचिन्तक
हाथ

गिरफ्तार होने वाले हैं आता है वारंट अभी
धक् सा हुआ हृदय, मैं सहमी हुए विकल आशंक सभी

गोली लाठी-चार्ज जेल की वे भीषण दीवारें
काल कोठरी दंड यातना वे कोड़ों की मारें
प्रभुता-मद से भरी शत्रु की व्यंग्य भरी बौछारें
साक्षी हैं साहस की, फिर हम जीतें अथवा हारें

प्रेम और संघर्ष के इन्हीं दो छोरों के बीच, या कहें कि उन्हें जोड़नेवाले धागे में सुभद्रा जी ने घर-परिवार, पास-पड़ोस, बन्धु-बान्धवों के संसार की छवियाँ मनकों की तरह पिरोईं। एक ओर वे अपनी नन्हीं-सी बेटी में अपने बचपन के अवतार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को देखती हैं–

मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी
नन्दन वन-सी फूल उठी यह छोटी-सी कुटिया मेरी

पाया मैंने बचपन फिर से बचपन बेटी बन आया
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर मुझ में नवजीवन छाया

दूसरी ओर 'पुत्र-वियोग' में एक दुखी माँ की विकलता को व्यक्त करती हैं–

थपकी दे दे जिसे सुलाया जिसके लिए लोरियाँ गाईं
जिसके मुख पर जरा मलिनता देख आँख में रात बिताई

जिसके लिए भूल अपनापन पत्थर को भी देव बनाया
कहीं नारियल, दूध, बताशे कहीं चढ़ा कर शीश नवाया

फिर भी कोई कुछ न कर सका छिन ही गया खिलौना मेरा
मैं असहाय विवश बैठी ही रही उठ गया छौना मेरा।

इन्हीं कविताओं की कड़ी में एक कविता है–'इसका रोना।' माँ के वात्सल्य के साथ दाम्पत्य के एक अत्यन्त सामान्य पक्ष का चित्रण, जिससे लगभग हर माता-पिता को दो-चार होना पड़ता है–

तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है
मैं कहती हूँ, इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है

कैसी करुणा-जनक दृष्टि है ! हृदय उमड़ कर आया है
आत्मीयता के यह सोते भाव जगाकर लाया है

हँसी बाहरी चहल-पहल को ही प्रायः दरसाती है
पर रोने में अन्तरतम तक की हलचल मच जाती है

इस तरह की कविताओं में जो सहजता है, वही उनका प्राण-तत्व है, जो जीवन के अत्यन्त सामान्य, साधारण और अनुछुए पहलुओं को चित्रित करने में सुभद्रा जी के कौशल और आग्रह का भी पता देता है।

इन कविताओं के अलावा सुभद्रा जी ने अपने ही बच्चों को केन्द्र में रखकर अनेक बाल-कविताएँ लिखी हैं, जिनमें इसी प्रकार के घरेलू चित्र बिखरे हुए हैं।

सुभद्रा जी ने अपनी प्रारम्भिक कविताओं की प्रेरणा मैथिलीशरण गुप्त और माखनलाल चतुर्वेदी जैसे कवियों और गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे सम्पादकों से प्राप्त की थी। उनकी पहली रचना 'नीम' ही को देखें तो उसकी अनेक पंक्तियों पर मैथिलीशरण गुप्त की शैली की स्पष्ट छाया है–

वे जन तिहारे ही शरण हे नीम ! आते हैं सदा
तेरी कृपा से सुख सहित आनन्द पाते सर्वदा
तू रोग मुक्त अनेक जन को सर्वदा करती रहै
इस भाँति से उपकार तू हर एक का करती रहै

नौ साल की उमर में इस आरम्भिक तुकबन्दी से शुरू करके सुभद्रा जी ने धीरे-धीरे अपने पूर्ववर्ती कवियों के प्रभावों से मुक्त होकर अपनी अलग राह बनाई। उनके समग्र काव्य को देखने पर एक और विशेषता नजर आती है। उनकी कविता में हिन्दी की अपनी भाषा-शैली अपने प्रांजल बोल-चालवाले रूप में मौजूद है, जिसमें हिन्दुस्तानी जुबान में लोकभाषा और बोलियों से लिए गए शब्दों का प्रयोग एक ऐसे समय किया गया, जब छायावाद की संस्कृत-बहुल शब्दावली का वर्चस्व था। इससे सायास किनारा करते हुए सुभद्रा जी ने हिन्दी की उस धारा का वरण किया, जो न तो आवृत्तिमूलक है, न इतिवृत्तात्मक, बल्कि आख्यानमूलक है। भले ही इसके लिए उन्हें छन्दों के गीति-तत्व को त्यागना पड़ा। उनकी छोटी-से-छोटी कविता में भी एक कथा-तत्व बना रहता है। एक कविता एक प्रसंग की झलक दिखाती है। गीतों में जिस तरह एक भाव या मनःस्थिति को आवृत्ति के द्वारा सघन-से-सघनतर बनाया जाता है, उसके विपरीत सुभद्रा जी वर्णनात्मकता से काम लेती हैं।

इसीलिए उनकी कहानियों के समग्र-संकलन का शीर्षक–'सीधे सादे चित्र'–उनकी कविताओं पर भी उपयुक्त ठहरता है। यही उनकी रचनात्मकता का सार है और उनकी कविताओं का मूल स्वर भी। उनकी कविताओं और उनके जीवन या राजनीतिक कर्म में या फिर उनकी कविताओं और उनकी कहानियों में कोई फाँक नहीं दिखाई देती। उनके बरक्स अगर हम महादेवी वर्मा के कृतित्व को उसकी समग्रता में देखें तो महादेवी जी की कविताओं की भावभूमि और 'शृंखला की कड़ियाँ' के लेखों या फिर 'अतीत के चलचित्र' अथवा 'मेरा परिवार' की गद्य रचनाओं में वैसी एकसूत्रता नहीं है। वे मानो ऐसी लेखिका की रचनाएँ हैं, जिसका रचनात्मक अन्तर अलग-अलग खानों में बँटा हुआ है।

सुभद्रा जी ने ठेठ हिन्दी के ठाठ को ही नहीं, बल्कि उसकी मूल प्रतिज्ञाओं को भी अपनाया था और उन पर अपनी रचनाओं की आधारशिला रखी थी। आज तो खैर, हिन्दी सत्तर-पचहत्तर साल के उस दौर से बहुत आगे चली आई है। कहा जाए कि सारा परिदृश्य ही बदल गया है और परिस्थितियों के दबाव और सत्ता के प्रलोभन ने हिन्दी का सारा समाजशास्त्र ही उलट दिया है। लेकिन उस दौर में, जिसमें सुभद्राजी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता विकसित होकर परवान चढ़ी, हिन्दी राजभाषा या राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आसीन होकर शासकों की भाषा नहीं बनी थी, बल्कि उसे वंचितों की वाणी और प्रतिरोध की भाषा होने पर गर्व था और अपनी बुनियादी प्रतिज्ञाओं से उसका सम्बन्ध क्षीण नहीं हुआ था। ये बुनियादी प्रतिज्ञाएँ थीं—विषमता और उत्पीड़न के खिलाफ मनुष्य के संघर्ष में सतत हिस्सेदारी; यथास्थिति से समझौता न करना; और, सत्ता तथा उसके प्रलोभनों का त्याग। इसीलिए अकारण नहीं है कि सुभद्रा जी की कविता में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं है। न उक्ति का, न भाव का। उनमें निराला की तरह बार-बार अपने ही उपलब्ध साँचों को तोड़कर नए साँचे गढ़ने की प्रयोगशीलता अथवा महादेवी वर्मा सरीखी भाव-सघनता और गीतात्मकता भी नहीं है। लेकिन उनकी समग्र कविताओं में हिन्दी की बुनियादी प्रतिज्ञाओं पर टिके रहने का आग्रह सर्वत्र परिलक्षित होता है और यह न केवल उनके जीवन और व्यक्तित्व की टेक है, बल्कि उस दौर के स्वाधीनता संग्राम का मूल स्वर भी।

बर्टोल्ट ब्रेश्ट ने अपनी एक कविता में कवियों के उत्तरदायित्व का जिक्र करते हुए लिखा है—

वे यह नहीं कहेंगे : वह अन्धकार का युग था
बल्कि वे पूछेंगे : कवि क्यों खामोश थे ?

कहना न होगा कि यह एक जरूरी प्रश्न ही नहीं एक प्रतिमान भी है। अगर इस कसौटी को लागू करें तो कविता के अन्य प्रतिमान भी बदल जाएँगे और तब हम पाएँगे कि सुभद्रा जी वही 'दीदा-ए-बीना-ए-कौम' हैं, जिसे इकबाल ने 'शायरे-रंगीं नवा' की पहली शर्त बताया था।

अन्त में, किसी कवि की सफलता का प्रमाण इस बात में भी है कि देश-काल के परिवर्तन के बावजूद उसमें कुछ ऐसा है कि नहीं, जो लोगों को प्रेरित कर सके। 'झाँसी की रानी' और 'वीरों का कैसा हो बसन्त' जैसी कविताओं की युनिवर्सल अपील की बात न भी की जाए तो हम उनकी कुछ कविताएँ ऐसी हैं, जिनमें आश्चर्यजनक रूप से आज की स्थितियों की झलक दिखाई देती है। ऐसी ही एक कविता है—'सेनानी का स्वागत।' जब आन्दोलन जोरों पर हो, तब आशावाद और उद्बोधनपरक रचनाएँ किसी विशेष उद्यम की अपेक्षा नहीं रखतीं, लेकिन निराशा के दौर में उद्बोधन के स्वर को कायम रखना ऐसे जीवट की माँग करता है, जो जीवन के उतार-चढ़ाव का सीधा सामना करने से ही हासिल होता है। 'सेनानी के स्वागत' में ऐसा ही जीवट परिलक्षित होता है—

अन्धकार छा रहा भ्रमित-सी आज हमारी मति है
जिधर उठाते दृष्टि दिखाई देती क्षति ही क्षति है

ऐसी घोर निराशा में तुम आशा बनकर आओ
स्वागत है शत बार विजय का आओ मार्ग दिखाओ

रण भेरी का नाद सदा को क्या अब रुक जाएगा?
जिसको ऊँचा किया वही क्या झंडा झुक जाएगा ?

गोली लाठी चार्ज जेल की वे भीषण दीवारें
काल-कोठरी दंड-यातना वे कोड़ों की मारें

हैं सन्तप्त तदपि आशा से स्वागत आज तुम्हारा
एक बार फिर कह दो झंडा ऊँचा रहे हमारा

कविता के ये अंश आज की स्थितियों पर किस हद तक लागू होते हैं, ये बताने की जरूरत नहीं है और जो आशा-आकांक्षा इसमें कवि ने व्यक्त की है, वह भी आज अनेक परिवर्तनकामी रचनाकारों और कार्यकर्ताओं के हृदय की बात है। सुभद्राजी की कविताओं का यह गुण अपने समय के जीवन में रच-बसकर, उससे सम्वेदित होकर, उसे अभिव्यक्त करने की अन्तःप्रेरणा से उपजा है। इसीलिए उनकी कविता सर्वगम्य ही नहीं है, सबको सम्वेदित करनेवाली भी है। कवि से प्रगतिशील कविता इससे अधिक और क्या उम्मीद रख सकती है ? आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालजयी साहित्य के बारे में : कुछ नोट्स

विजय कुमार

वे कृतियाँ सदा से हमारे साथ हैं। वे हमें पुकारती हैं। हमारे सुख-दुख, हमारे हर्ष-विषाद, हमारी सामूहिकता और नितान्त अकेलेपन, हमारे जागरण और निद्रा में, हमारे चेतन और अवचेतन में उनकी छायाएँ हैं। उनमें एक ठहरा हुआ स्फटिक समय है लेकिन पुस्तक खोलते ही यह जमा हुआ समय पिघलकर हमारे समय के साथ बहने लगता है। उनमें सिरजा हुआ अनुभव बन्द कभी भी नहीं था। वह हमारी यात्राओं में हमारे साथ चले जाता है। कालजयी कृतियों के बारे में यह एक मान्य धारणा है कि वे समय के धुँधलकों को चीरकर हम तक पहुँचती हैं। जिस समय में वे लिखी गई थीं, वह समय बीत गया। उनके रचयिता बीत गए। उस समय के बीतने को भी हम जानते हैं। पर उसमें ये संचित वे सरोकार हर बार हमारे साथ जुड़कर अपने अर्थ का विस्तार करते हैं। कई बार ये अर्थ बदल भी जाते हैं पर फिर भी ये पुस्तकें हमारा पीछा नहीं छोड़तीं। हम उनसे जुड़ने ही नहीं, उनसे पीछा छुड़ाने के लिए भी हर बार उनकी तरफ लौटते हैं। एक सजग पाठक की एक क्लासिक के साथ अक्सर यह एक मुठभेड़ होती है। हमें लगता है कि हमारा समय हमारे साथ है और हम इस अस्त्र को लेकर इन कृतियों से लड़ सकते हैं। पर यह लड़ना भी कैसा है। गाहे-बगाहे ये कृतियाँ जीवन के विभिन्न मोड़ों पर, मुख्तलिफ मनोदशाओं में हमारे पास आती हैं। उनके अर्थ कभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं होते। और हम इस बात के बारे में भी आश्वस्त नहीं होते कि हमने इन अर्थों को पूरी तरह समझ लिया है। व्याख्याओं और विमर्श के बादल उनके चारों ओर लिपटे रहते हैं। पर अचानक ये किसी नई दीप्ति से भरी हमसे मुलाकात करती हैं तो पहले की व्याख्याओं के सारे बादल सहसा छट जाते हैं। एक क्लासिक के साथ हमारा जो सर्वथा नया रिश्ता बनता है जरूरी नहीं कि वह पहले की किसी व्याख्या से मेल खाता हो। ऐसा कहा भी जाता है एक कालजयी कृति की कोई भी व्याख्या मूल पुस्तक से अधिक कुछ नहीं कह सकती।

हमारे समय के एक महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार इटालो केल्विनो ने 'Why we read Classics' में कालजयी कृतियों की 14 महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ गिनाई हैं–

1. वे कहते हैं कि कालजयी कृतियों के बारे में सजग पाठक हमेशा यही कहता है कि मैं उसे पढ़ रहा हूँ। क्योंकि ऐसी कृति का पढ़ा जाना कभी भी पूरा नहीं होता।
2. ये वे कृतियाँ हैं जिन्हें लोगों ने पढ़ा, उनसे प्रेम किया और एक कोश की तरह अपने जीवन में रखा।
3. क्लासिक वे कृतियाँ हैं जो एक खास तरह का प्रभाव छोड़ती

हिन्दी विभाग, आई.डी.वी.आई., कफ परेड, मुम्बई-400005 (महा.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। जब वे हमारे दिलो-दिमाग से हटने से इंकार करती हैं तब भी और जब वे हमारी स्मृतियों की तहों में छिप जाती हैं तब भी। वे हमारे वैयक्तिक या सामुदायिक अवचेतन में अपने रूप बदल-बदलकर प्रगट होती हैं।

4. क्लासिक कृति पहली बार पढ़ने पर जैसा आनन्द देती हैं वैसा ही आनन्द बाद में हर बार पढ़ने पर देती हैं। (यहाँ आप चाहें तो आनन्द की जगह उद्वेलन शब्द का इस्तेमाल भी कर सकते हैं)।
5. क्लासिक कृति का पाठ हर बार एक नया पाठ होता है।
6. एक क्लासिक कृति जिस बात को कहना चाहती है उसका यह कहना कभी भी समाप्त नहीं हो पाता।
7. क्लासिक कृतियाँ हम तक पहले के तमाम पाठों के चिन्हों को लिए हुए आती हैं। जिन संस्कृतियों से होकर वे गुजरीं उन पर उनके निशान छूटे हुए होते हैं।
8. ज़रूरी नहीं कि क्लासिक ऐसा कुछ नया बताए जो हम पहले से जानते न हों। एक क्लासिक में हम उस चीज़ का दोबारा संज्ञान प्राप्त करते हैं जिन्हें हमने पहले जाना होता है या हम ऐसा सोचते हैं कि हमने उन्हें जान लिया है। यह दोबारा का जानना एक अचरज की तरह होता है। हम एक मूल बात की खोज के आनन्द से भर जाते हैं क्योंकि यह एक सम्बन्ध को दर्शाती है।

   एक क्लासिक वह कृति है, जिसके बारे में हमने जितना सुना होता है उसे पढ़ने के बाद हम सुने हुए ज्यादा अप्रत्याशित, ज्यादा ताज़गी भरा, ज़्यादा अद्भुत का आविष्कार करते हैं।
10. क्लासिक शब्द एक सार्वभौमिकता की धारणा को रचता है। वह किसी प्राचीन ताबीज के स्तर पर पहुँचता है। मेलार्मे ने कहा कि कालजयी कृति सम्पूर्ण पुस्तक है।
11. एक कालजयी कृति के लेखक के प्रति आप उदासीन नहीं रह सकते क्योंकि उसके साथ सम्बन्धों के आधार पर आप स्वयं को पुनर्परिभाषित करते हैं। उससे लड़ते हुए भी आप स्वयं को पुनर्परिभाषित करते हैं।
12. एक कालजयी कृति वह है जो अनेक दूसरी कालजयी कृतियों के पहले आती है। उसे पढ़ते हुए आप तुरन्त उसका सम्बन्ध दूसरी कृतियों से बनाते हैं।
13. एक कालजयी कृति हमारे तमाम सामयिक सरोकारों को पृष्ठभूमि में व्याप्त शोर की तरह बना देती है। लेकिन पृष्ठभूमि का यह शोर कुछ ऐसी चीज है जिसके बिना हमारा काम भी नहीं चलता।
14. एक कालजयी कृति आपके सामाजिक सरोकारों में पृष्ठभूमि के शोर की तरह आपके साथ बनी रहती है।

केल्विनो ने एक कालजयी कृति की ये जो तमाम विशेषताएँ बताई हैं, उनमें सबसे ज़्यादा दिलचस्प विशेषता मुझे यह लगी कि एक कालजयी कृति तमाम तरह के विमर्शों के बादलों से घिरी रहती है, लेकिन जैसे ही हमारा उसके साथ रिश्ता बनता है, तमाम बादल सहसा छँट जाते हैं। हम अपने युग के अनुकूल इस कालजयी कृति के साथ एक नया रिश्ता बनाते हैं। यह नई तरह का रिश्ता ही इसके अर्थ को विस्तार देता है। या अर्थों के एक लम्बी शृंखला में हमारे होने के अर्थ को परिभाषित करता है। शायद यह प्रयास हर नई पीढ़ी को अपने स्वयं के द्वारा करना पड़ता है। हम अपने युग की मूलभावना के अनुरूप इसका अपने लिए आविष्कार करते हैं। रामायण में शम्बूक की व्यथा, उर्मिला का अकेलापन, दो महान योद्धाओं के संग्राम में वानरों और भालुओं के शामिल होने का औचित्य ये सब चीजें हमें अपने युग के प्रासंगिक सन्दर्भों में व्याख्याओं और विमर्शों के नये 'स्पेस' देती हैं। महाभारत से धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' तक या शिवाजी सावंत के उपन्यास 'मृत्युंजय' तक अर्थों का पुनर्परीक्षण और सरोकारों का विस्तार है। रामायण की कथा से निराला 'राम की शक्तिपूजा' के लिए स्पेस निर्मित करते हैं। हेमलेट के अन्तर्द्वन्द्व ने पचासों परवर्ती रचनाओं को पागलपन और विवेकशीलता के बीच के 'नो मैंस लैंड' पर विचरने के लिए प्रेरित किया है। हजारों वर्ष पहले रचे गए होमर के महाकाव्य 'ओडेसी' में यूलिसिस की पहचान का गायब हो जाना, यात्राओं की स्मृतियों में रहना या उस अपने घर लौटने की तड़प को हम अपने समय के एक असाधारण अश्वेत कवि डेरक वाल्कॉट के नाटक 'ओडेसी' में एक नया रूपान्तरण देखते हैं। एक विभक्त संस्कृति और औपनिवेशिक मानसिकता के समाज में यह अपने मनुष्य होने की मूल स्मृति को बचाए रखने का सन्दर्भ और अपनी वास्तविक पहचान पर पड़ी सारी धूल को हटाने का संघर्ष बन जाता है।

एक कालजयी कृति केवल एक पूजा या श्रद्धा की वस्तु नहीं है। उससे लगातार लड़ना होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी कृति स्वयं अपने रचे गए अर्थ का अतिक्रमण करना चाहती है। युग बदलते हैं और उसके अर्थों का विस्तार होता जाता है। कई बार उसकी समग्रता का, उसके सामर्थ्यपूर्ण तथा सौन्दर्यशाली केन्द्र का सम्पूर्ण उद्घाटन नहीं हो पाता।

यह भी हुआ है कि हमारे आधुनिक युग में हमें कोई सार्वभौमिक दर्शन नहीं मिला। कोई केन्द्रपरकता हमारे पास नहीं है। हम अपनी खंडित सच्चाइयों के अक्स कालजयी कृतियों में ढूँढ़ते हैं। अपने युग के सौन्दर्य की नई चेतना, गरिमा की किसी खोज, स्वतन्त्रता की किसी कामना, न्याय की किसी इच्छा का प्रमाण जुटाने हम क्लासिक्स की तरफ लौटते हैं।

दुर्गाभागवत ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'व्यास पर्व' में महाभारत के विभिन्न पात्रों को आधुनिक सन्दर्भों में व्याख्यायित किया है। वे कहती हैं कि "व्यास की धर्मावगुंठित कला की यही विशेषता है कि वह गुफा के शिल्प के समान है। पाठकों और श्रोताओं के सामने उनके अनुकूल एक आन्तरिक विश्व का उद्घाटन करती है। जिसमें जैसी पात्रता होगी, जो जैसा देखना चाहेगा, वह वैसा ही और उतना ही देखेगा। यदि व्यास की प्रतिभा क्रान्तिदर्शी है तो इस अर्थ में कि वे क्षुद्र, संकुचित, दोषपूर्ण, पापपूरित, कुरूप व्यक्तियों और घटनाओं को सीधे आत्मसात कर लेती है। ऐसा नहीं कह सकते कि उसे मात्र नैतिकता, सौन्दर्य और भव्यता ही प्रिय है। ऐसी समदर्शिता वही प्रतिभाशाली कलाकार पा सकते हैं जो अपनी रचना को अत्यन्त तटस्थ और अत्यन्त जागृत दृष्टि से देखते हैं।"

किसी भी कलाकृति के आस्वाद में हम इस बुनियादी बात को जान रहे होते हैं कि एक कलाकृति का समय इतिहास के समय से अलग होता है। लिखे हुए समय की सत्ता की जिए हुए समय की सत्ता से मुठभेड़ ही कृति को महत्त्वपूर्ण बनाती है। भले ही एक कृति की जड़ें लेखक के अपने अनुभवों में, सचेत विचारों और उसके अवचेतन की स्मृतियों में, उसकी देह और उसकी आत्मा की लय में बसी हों पर महत्त्वपूर्ण है कि उसने अपनी इस विषयवस्तु का कृति में कायान्तरण किस तरह किया है। यह कायान्तरण ही इतिहास के समय के समान्तर कृति के समय को रचता है।

इस बात को विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से कहा है कि जीवन के भौतिक सरल रैखिक समय के बरअक्स कृति का समय वर्तुल है, बहुविध है, शाखा-प्रशाखाओं में बँटा हुआ है। अनेक समानान्तर समय कृति के भीतर साथ-साथ चलते हैं।

कृति के समय की अपनी Organic Unity होती है। उसमें अनेक समानान्तर समय साथ-साथ चलते हैं और उनकी चरम परिणति एक केन्द्रीय समय में होती है। लेकिन एक कालजयी कृति में हमारी दिलचस्पी तुरन्त किसी केन्द्रीय समय तक पहुँचने में नहीं होती। हम शाखा-प्रशाखाओं में बँटे हुए समय से गुजरकर ही इस केन्द्रीय समय के महत्त्व को जान सकते हैं। कृति के भीतर यही अनन्तता की सम्भावना है। यही विकल्पों का खेल है। इन अर्थों में किसी भी असाधारण कृति का रचयिता एक प्रजापति की तरह है। वह भौतिक समय को अपदस्थ कर सकता है। वह अतीत से भविष्य और भविष्य से अतीत की ओर अपनी मर्जी से टहल सकता है। वहाँ मनुष्यों की नियति के खेल में कुछ भी अपरिहार्य और अटल नहीं है, सब कुछ संयोगिक है। और जो कुछ संयोगिक लगता है वह अपरिहार्य है। एक क्लासिक कृति इसी तरह समय की गतिशीलता में उलट-फेर करती है। यही ऐतिहासिक समय से बाहर निकलकर पाई गई कृति के समय की निर्वैयक्तिकता है। इन अर्थों में कोई भी महान कृति यथार्थ की प्रतिकृति नहीं है। 'ऑथेलो' नाटक में आथेलो डेस्डिमोना का गला घोंटकर आत्महत्या कर रहा है। लेकिन चरम परिणति से पहले एक अतिशय वाइबरेंट समय है। इसमें उसका अज्ञान, उसका मोहभंग, उसका आहत अहम्, उसकी छिपी हुई कुंठाएँ, उसका गर्व, उसका प्रेम, उसकी ईर्ष्या, उसका अकेलापन एक दूसरे का साथ खुलकर खेलते हैं। यह एक कृति के भीतर रचा गया समय है। यह कृतिकार का अपनी इच्छा से किया गया कालबोध का विस्तार है। सैकड़ों साल बाद भी हम इस कृति को इस कालबोध के विस्तार को जानने के लिए उठाते हैं। ऐसी कृति बताती है कि मनुष्य के पास विकल्प के अनेक द्वार खुले रहते हैं। हम कृति के इस अत्यन्त वेध्य समय में उन क्षणों में आथेलो के साथ भी हैं, और उससे बाहर आकर भी उसे देख रहे हैं।

टॉलस्टॉय की कालजयी कथा 'ईवान इलिच की मृत्यु' में कथानायक का करुण अन्त हमें छूता है। लेकिन उसकी इस परिणति से ज्यादा दिलचस्प उसका वह तटस्थ व्यक्तित्व है जो मृत्युशय्या पर उसे अनेक समयों को एक साथ जीने की स्थिति में ला छोड़ता है। एक समय-वृत्त में उसका परिवार है, उनकी आत्मकेन्द्रितता और स्वार्थ हैं, उनके आडम्बर और औपचारिकताएँ हैं, दुनियादारी है और दूसरे समय-वृत्त में उसकी मोहभंग के बाद निर्वेद मनःस्थिति। वह एक ही संपूरित समय में, वर्तमान से अतीत में, अतीत से वर्तमान में मुक्त भाव से विचर सकता है। इस कथानायक की मनःस्थिति के एक अछूते आयाम को पाने के लिए हम इस कथा की ओर बार-बार लौटते हैं।

'राम की शक्तिपूजा' में राम की अवधारणा धरती के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आम मनुष्य की तरह है। संकट से घिरे हुए एक व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व, उसके संकल्प, उसके संशय, उसकी अनिश्चितताएँ और अपने बिखराव को समेटने की उसकी जिजीविषा ही एक स्थूल घटना के भीतर कृति के समय की रचना करती है।

'त्यागपत्र' की नायिका मृणाल को हम शनैः-शनैः अपने करुण अन्त की ओर बढ़ते देख रहे हैं। एक ओर उसके भौतिक अस्तित्व का क्षरण है तो दूसरी ओर उसकी गरिमा और आत्मचेतना का निरन्तर होता हुआ विस्तार है।

हम अन्त तक निश्चित नहीं कर पाते कि यह उसका अन्त है या उसने अपनी आहुति देते हुए सामाजिक विधान के सारे पाखंडों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं।

'पूस की रात' कहानी का नायक ननकू ठंड से कड़कड़ाती जिस रात में बेसुध पड़ा है यह कृति के भीतर रची गई एक अनन्त रात्रि है। यहाँ सतह की स्थूल घटनाएँ नहीं, संघर्ष, पस्ती, हताशा, निरुपायता और नियति के स्वीकार्य के बीच उस कथानायक की निःसंगता उसके मनुष्य होने के मूल अर्थ की एक व्याख्या करती है। नींद में बीतता उसका समय बाहर के सारे समय को अर्थहीन बना देता है।

दास्ताव्स्की के उपन्यास 'ब्रदर्स क्रमाजोव' में बूढ़े पिता क्रमाजोव की हत्या सबसे छोटे बेटे समरद्याकोव ने की है लेकिन चारों ही बेटे मानते हैं कि पिता की हत्या में वे सब कहीं-न-कहीं शामिल हैं। सबसे बड़ा बेटा दमित्री हत्या का अभियोग अपने ऊपर ले लेता है। उसकी अन्तिम इच्छा अपने अपराध की स्वीकारोक्ति करने की है। इस तरह का 'कन्फेशन' करने से पहले उसकी शैतान के साथ एक लम्बी बहस होती है। इस बहस में कृति के अनुभव का समय है। 100 वर्ष बाद इस उपन्यास को उठाने पर यह बात फिर हमारे साथ हो लेती है कि मनुष्य की मुक्ति का मार्ग केवल यातनाओं और त्रासदियों से गुजरकर ही है।

इन सारी असाधारण कृतियों को पढ़ते हुए हमें यह एहसास होता है कि वास्तविक जीवन के समय में मनुष्य विभिन्न प्रकार के विकल्पों का सामना करता है तो किसी एक विकल्प को चुन लेता है। अन्य सारे विकल्प हमेशा के लिए बन्द हो जाते हैं। लेकिन कला के समय में ऐसा नहीं होता। कला मनुष्य की सारी दारुण स्थिति में भी उसके विनाश और उसकी उम्मीद को एक साथ लेकर चलती है। काफ्का के कालजयी उपन्यास 'ट्रायल' के नायक के. को बिना किसी कसूर के साथ गिरफ्तार कर लिया गया। उपन्यास का पूरा समय एक निरपराध व्यक्ति की मुक्ति की अदम्य आकांक्षा और उसकी बेपनाह यन्त्रणा का समय है। शायद ये दोनों चीजें एक-दूसरे से अभिन्न हैं। उपन्यास के अन्त में एक गहराती शाम में उपन्यास के नायक के. को शहर से बाहर एक सुनसान जगह पर वध के लिए ले जाया जाता है।

उन दोनों हत्यारों ने अपना चाकू के. के सीने में उतार दिया है तब मुँदती हुई आँखों के. देखता है कि अचानक दूर कहीं एक खिड़की खुली। उससे रोशनी की शहतीर आई। उस रोशनी में वहाँ एक मानव आकृति है जो इस सारे जघन्य कार्य की मूक गवाह है। उस मानव आकृति ने अपनी दोनों बाँहें आगे की ओर फैला दी हैं। कौन था यह गवाह ? उपन्यास के अन्त में के. के मुँह से आखिरी वाक्य निकलता है, "It was as if he meant the shame of if to outlive him." उसका वहाँ होने का अर्थ वह शर्म है जो मेरे बाद भी बची रहेगी।

हम इस वाक्य की मार्मिकता तक इस उपन्यास की यन्त्रणा से गुजरकर ही पहुँचते हैं। हर बार इस कथन की मार्मिकता को पाने के लिए इस उपन्यास के त्रास से गुजरना होता है।

इस तरह चरम अन्धकार में उपन्यास का यह समय इतिहास के समय का अतिक्रमण करता है। वह हमारी नींद के दरवाजों पर एक थपथपाहट है।

इटालो केल्विनो ने प्रसिद्ध कथाकार बोर्खेस के बारे में लिखते हुए एक दिलचस्प बात कही है। वे कहते हैं कि लिखे हुए शब्द की मुलाकात जिए हुए अनुभव से उसके उद्गम और उसके अन्त पर दोनों जगह होती है। अनुभव के उद्गम पर इसलिए कि शब्द को वास्तविक घटना का पर्याय बनना है। अनुभव के अन्त में इसलिए कि उसे एक सामूहिक अवचेतन में अपना असर छोड़ना है।

सारी असाधारण कृतियाँ इसी प्रकार एक समयातीत समय को रचती हैं। इन कृतियों में हमारी मुलाकात समय की वास्तविक घटनाओं से नहीं, उसके duration को, उनकी कालावधि से होती है। अनुभव की कालावधि अतीत, वर्तमान और भविष्य के वर्गीकरण नहीं करती। जो कल घटा था वह आज वर्तमान में मौजूद है, जो वर्तमान है वह कल के भविष्य को सँभाले हुए है।

टी.एस. इलियट की कविता 'फ़ोर क्वार्टेट्स' की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं।

वर्तमान समय और समय जो बीत गया
वे शायद दोनों शामिल हैं भविष्य के समय में
और जो भविष्य का समय है
वह अतीत के समय में था
यदि सारे समय चिरन्तन उपस्थित है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारे समय ऐसे जिन्हें दोबारा पाया नहीं जा सकता।
Time present and time past
are both perhaps present in time future
And time future
contained in time past
If all time is eternally present
All time is unredeemable

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छठा दशक : एक सिंहावलोकन

फ्रेडरिक जेमसन

किसी भी मध्यमार्गी के लिए छठे दशक का पुनरावलोकन करते समय नॉस्टेल्जिक होकर उस कालखंड की उपलब्धियों को बढ़ा-चढ़ाकर बताना या उक्त कालखंड की असफलताओं और चूके हुए अवसरों की दयनीय स्वीकारोक्ति करने लगना सहज संभाव्य है। इन दोनों चूकों से बचना सरल नहीं है। निम्न शब्दचित्र में यह मानकर चला गया है कि इतिहास एक अनिवार्यता है, कि सातवें दशक को होना ही था जैसा कि वह हुआ और कि इसकी असफलताएँ और इसके अवसर एक-दूसरे से बुरी तरह गुँथे हुए थे। इसके समक्ष कुछ वस्तुगत बाधाएँ भी थीं और निर्णयकारी ऐतिहासिक परिस्थितियाँ भी। इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में मैं इस कालखंड का एक आरम्भिक आकलन प्रस्तुत करने की कोशिश कर रहा हूँ।

लेकिन सातवें दशक की 'परिस्थिति' का उल्लेख करना आवश्यक तौर पर ऐतिहासिक कालखंड के प्ररूप को स्वीकार करना और इस दशक का कालखंडीकरण करने जैसा है, जोकि आजकल फैशन में नहीं है। और इस अस्तित्ववादी तथ्य को तो छोड़ ही दें कि इस दशक की पुरोधा जिन्होंने साल-दर-साल होते नाटकीय परिवर्तन देखे हैं, अपने पहले के लोगों की तुलना में अधिक ऐतिहासिक तरीके से सोचते हैं। इतिहास का पीढ़ियों में विभाजन हमारे लिए वैसे ही अर्थवान हो गया है जैसे उन्नीसवीं सदी के अन्त में रूसियों के लिए था जिन्होंने विभिन्न कालखंडों के अनुसार प्रतिनिधि चरित्र छाँट लिए थे। आज किसी भी युग के बुद्धिजीवी को अपनी वर्तमान स्थिति को इतिहास के सन्दर्भ में उचित ठहराना एकदम सहज लगता है। (मसलन ''तब अल्थूसेरियनिज़्म की सीमाएँ स्पष्ट होने लगी थीं...'' आदि) इतिहास लेखन में कालखंडीकरण के औचित्य निरूपण का यहाँ अवसर नहीं है, लेकिन जो लोग सोचते हैं कि सांस्कृतिक कालखंडीकरण किसी काल विशेष में एक व्यापक वैचारिक सहभागिता और समरसता या एक सामान्य पहचान के बग़ैर मुमकिन नहीं, उन्हें तत्काल बताया जा सकता है कि जो ऐतिहासिक रूप से हावी है या सत्तापोषित है उसी के परिप्रेक्ष्य में अपवाद की व्याख्या सम्भव है। जिसे कि रेमंड विलियम्स अपशिष्ट या इमर्जेंट कहता है। तथापि यहाँ 'कालखंड' को एक सर्वव्याप्त और अहर्निश सोचने-करने के तरीके के रूप में नहीं समझा जा रहा, बल्कि एक वस्तुगत परिस्थिति के मध्य होने के रूप में समझा जा रहा है जिसमें विविधतापूर्ण प्रतिक्रियाओं और रचनात्मक नवाचारों की पूरी शृंखला उपस्थित है—बेशक, उस वस्तुगत परिस्थिति की संरचनागत सीमाओं के भीतर।

लेकिन फिर भी इस तरह के ऐतिहासिक वृत्तान्त की रचना में

3/33, ग्रीन सिटी, ई-8, अरेरा कालोनी, भोपाल (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनाओं के चयन को लेकर हज़ार तरह की दुश्वारियाँ सामने आएँगी। कालखंडीकरण के आलोचक चयनित घटनाओं की ऐतिहासिकता पर सवाल उठा सकते हैं और ऐतिहासिक परिवर्तन के विभिन्न स्तरों को दर्शाने के लिए चयनित घटनाओं की समतुल्यता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया जा सकता है। वर्तमान आकलन में ऐसे केवल चार स्तरों को लेकर साठ के दशक के बारे में कुछ अर्थवान बातें कहने की कोशिश की गई है। ये चार स्तर हैं दर्शन का इतिहास, क्रान्तिकारी राजनीतिक सिद्धान्त और आचरण, सांस्कृतिक उत्पादन और आर्थिक चक्र (और यह भी केवल अमेरिका, फ्रांस और तीसरी दुनिया के सन्दर्भ में) यह चयन न सिर्फ आधार और अधिरचना को निस्संग भाग से समाजऐतिहासिक वज़न देता मालूम होता है, बल्कि उस सादृश्य को भी स्थापित करता मालूम होता है जिसमें वालेस स्टीवन्स की कविता को 'किसी तरह' चेग्वेवेरा के राजनीतिक क्रियाकलाप के समान ही बताया जाता है—जबकि उसे स्पेंगलर के समय से ही अपमानजनक माना जाता रहा है।

बेशक यह मानने का कोई कारण नहीं है कि काव्यरचना जैसा महीन और विशिष्ट कर्म अपने एकान्त और लगभग स्वायत्त रचनालोक में अपने समय की ऐतिहासिक प्रवृत्तियों और रुझानों का यथार्थपरक या और भी सघन उद्घाटन नहीं कर सकता। जो भी हो, वर्तमान आकलन और पुराने संगठित इतिहास में एक बुनियादी फर्क है। पुराने इतिहास में सामाजिक जीवन के अत्यन्त भिन्न स्तरों को भी समकालिकता और समतुल्यता के आधार पर मिलाकर एक मुकम्मिल तस्वीर पेश करने की कोशिश की जाती थी, जबकि यहाँ इन विभिन्न स्तरों के रूपों की पहचान और उनकी टूट और विकास की अनेकानेक तुलनीय समानताओं की चर्चा की जाएगी। इसलिए यहाँ साठ के दशक के सभी स्तरों में समानता स्थापित करने की कोई कोशिश या दावा नहीं है बल्कि बुनियादी परिस्थिति की लय और गतिकी की परिकल्पना प्रस्तावित करना है जिसमें वे सभी विभिन्न स्तर अपने आन्तरिक नियमों के तहत विकसित होते हैं।

इस बिन्दु पर इस ऐतिहासिक या विवरणात्मक प्रणाली की जो कमज़ोरी लग रही थी, वह अचानक उसकी शक्ति लगने लगती है, खास तौर पर विवरण के बिखरे हुए सूत्रों की पुष्टि के क्रम में। संस्कृति और सांस्कृतिक इतिहास की आलोचना के क्षेत्र में कभी-कभी लगता है जैसे इतिहास की असंख्य विवरणात्मक व्याख्याएँ सम्भव हैं और उनकी प्रामाणिकता मात्र व्याख्याकारों की सदाशयता पर निर्भर है जो इतिहास की नित नई व्याख्याएँ बाज़ार में लेकर आने का दावा करते हैं। तो किसी एक क्षेत्र में प्रस्तुत परिकल्पनागत नियमितता की (मसलन संज्ञानात्मक अथवा सौन्दर्यशास्त्रीय अथवा क्रान्तिकारी) किसी दूसरे सर्वथा असम्बद्ध क्षेत्र की परिकल्पनागत नियमितता द्वारा आश्चर्यजनक रूप से और नाटकीय तरीके से पुष्टि होना आश्वस्तिप्रद है। वर्तमान सन्दर्भ में यह क्षेत्र आर्थिक है।

जो भी हो, यह तो साफ ही है कि छठे दशक का कोई परम्परागत, विवरणात्मक इतिहास यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है। लेकिन यह भी सच है कि ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व भी आज उसी तरह ख़तरे में है जिस तरह उसका दूर के रिश्ते का भाई एकरेखीय उपन्यास। और दोनों के खतरे में होने का कारण एक ही है। इसका सबसे ज़्यादा समझदार 'समाधान' यह नहीं है कि ऐतिहासिकता को एक असम्भव लक्ष्य और एक कोरी सैद्धान्तिक श्रेणी मानकर सर्वथा त्याग दिया जाए, बल्कि यह है कि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के अनुसार एक भिन्न स्तर पर उसकी परम्परागत कार्यविधि को पुनर्संयोजित किया जाए। इस स्थिति में आल्थ्यूज़र का प्रस्ताव काफी समझदारी भरा लगता है जो कहता है कि जब पुराने तर्ज़ की ऐतिहासिकता या 'यथार्थवादिता' समस्याग्रस्त हो जाए तो इतिहासकार को अपना तरीका बदल देना चाहिए—इतिहास को यथातथ्यता या 'जैसा वास्तव में हुआ' के रूप में पेश करने की बजाय उसे इतिहास की **अवधारणा** को प्रस्तुत करना चाहिए।

कम-से-कम आगे के पृष्ठों में तो मैं भी यह जुआ खेलने जा रहा हूँ।

1. तीसरी दुनिया की शुरुआतें

यदि कहा जाए कि तीसरी दुनिया के छठे दशक की शुरुआत ब्रिटिश और फ्रांसीसी अफ्रीका में उपनिवेशवाद के विरुद्ध महान संघर्षों की सफलता के साथ हुई तो यह कुछ ख़ास विवादास्पद नहीं होगा। कहा जा सकता है कि पहली दुनिया में छठे दशक की सर्वाधिक उल्लेखनीय अभिव्यक्तियाँ इसके बाद की हैं, चाहे उन्हें नशे और रॉक जैसी प्रतिसांस्कृतिक चीज़ों से समझा जाए चाहे छात्रों के न्यूलेफ्ट और युद्धविरोधी आन्दोलन जैसी राजनीतिक चीज़ों से। बेशक राजनीतिक रूप से पहली दुनिया ने छठे दशक में तीसरी दुनिया से बहुत कुछ लिया जिसका प्रतीक माओवाद को माना जा सकता है। उसके युद्धविरोधी आन्दोलन ने भी तीसरी दुनिया में नई क्रान्तिकारी शक्तियों के उभार में मदद पहुँचाई। बेल्डन फील्ड्स ने कहा भी है कि पहली दुनिया के दो राष्ट्र—अमेरिका और फ्रांस—जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे जबर्दस्त छात्र आन्दोलन उभरे, अपने लिए विशेष राजनीतिक स्पेस बनाने में इसलिए कामयाब हुए क्योंकि यही दो देश साम्राज्यवादी युद्ध में शामिल थे, हालाँकि फ्रांस में न्यू लेफ्ट का उभार अल्जीरियाई संघर्ष की समाप्ति के बाद हुआ। इस सबका एक बड़ा अपवाद अमेरिका का नीग्रो आन्दोलन और नागरिक अधिकार संघर्ष है जिसे कई तरह से प्रथम विश्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक आन्दोलन कहा जा सकता है। इसकी शुरुआत 1954 के सर्वोच्च न्यायालय के फैसले से मानी जाती है लेकिन वास्तव में जिसकी शुरुआत फरवरी 1960 में नॉर्थ केरोलिना में ग्रीन्स बोरो के पहले धरनों से मानी जानी चाहिए। फिर भी कहा जा सकता है कि यह भी एक उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलन था, और वैसे भी इस अवधि में अमरीकी नीग्रो आन्दोलन का अफ्रीकी और केरेबियन संघर्षों से निरन्तर सम्पर्क और परस्पर आदान-प्रदान बना रहा।

घाना की स्वतन्त्रता (1957), कांगो की पीड़ा, (जनवरी 1961 में लुमुम्बा की हत्या कर दी गई थी), 1959 के डि गाल शासन के जनमतसंग्रह के बाद फ्रांस के आसहारा उपनिवेशों की स्वतन्त्रता और अन्त में अल्जीरिया की क्रान्ति (जिसका शिखर बिन्दु जनवरी-मार्च में हुए अल्जीयर्स के युद्ध को माना जा सकता है)—ये सब उसी के पीड़ादायक जन्म के संकेत हैं जिसे आगे चलकर छठा दशक कहा गया।

> बहुत पुरानी बात नहीं है जब धरती पर दो अरब लोग रहते थे। इनमें से पचास करोड़ आदमी थे और डेढ़ अरब नेटिव्स। आदमी धरती के मालिक थे, जबकि अन्य मात्र उसका उपयोग करते थे।

तो छठा दशक वह दशक था जिसमें ये सारे नेटिव्स मनुष्य बन गए। बाहरी तौर पर जो पहली दुनिया के लिए नेटिव्स थे और भीतरी तौर पर जिनमें अल्पसंख्यक, हाशिए के लोग और महिलाएँ थीं। इस प्रक्रिया को इतिहास के एक ख़ास विज़न और छठे दशक के एक विशेष अवलोकन का माध्यम बनाते हुए कई तरह से वर्णित किया जा सकता है और किया भी गया है। मनुष्य की स्वाधीनता के इतिहास के रूप में इतिहास की क्रोचे की अवधारणा के एक निर्णायक और वैश्विक अध्याय के रूप में इसे देखा जा सकता है। शास्त्रीय रूप में इसे हीगल द्वारा वर्णित प्रजा की आत्मचेतना प्राप्त करने की प्रक्रिया भी कहा जा सकता है। उत्तर लुकाच अथवा माटर्व्वेज़ के न्यूलेफ्ट मुहावरे में इसे एक वर्गविहीन 'इतिहास की प्रजा' का उभार (नीग्रो, छात्र, तीसरी दुनिया के लोग) भी कहा जा सकता है। या कुछ उत्तरसंरचनावादी चिन्तकों की फूकोवादी धारणा के तहत (जिसका पूर्वानुमान सार्त्र ने ऊपर दिए उद्धरण में कर लिया था) एक नई सामूहिक आवाज़ में बोलने की ख़ातिर अभिव्यक्ति के अधिकार के लिए एक ऐसा संघर्ष जैसा विश्वमंच पर पहले कभी नहीं देखा गया, और इस क्रम में सहगामी मध्यस्थों का निरस्तीकरण (उदारवादी, पहली दुनिया के बुद्धिजीवी) जो अब तक तुम्हारी आवाज़ उठाने का दावा करते थे—यह भी इसे देखने का एक तरीका है। और स्वनिर्णय या स्वतन्त्रता जैसे अधिक समीचीन राजनीतिक मुहावरे या नयी सामूहिक 'अस्मिता' जैसे सांस्कृतिक मुहावरे तो हैं ही।

तथापि यह महत्त्वपूर्ण है कि इन सामूहिक 'अस्मिताओं' या 'इतिहास की प्रजा' के उभार को उस ऐतिहासिक स्थिति में रखकर देखा जाए जिसमें इनका उभार सम्भव हुआ, ख़ासकर नई सामाजिक व राजनीतिक श्रेणियों जैसे उपनिवेशित, हाशिए पर, लिंग आदि के उभार का। इसे अब तक चली आती सामाजिक प्रतिरोध की वैश्विक श्रेणी—सामाजिक वर्ग की अवधारणा—के संकट के परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए, जिसमें हर प्रकार का सामाजिक प्रतिरोध अँट जाता था। तथापि इसे बौद्धिक स्तर पर नहीं, संस्थागत स्तर पर ग्रहण किया जाना चाहिए क्योंकि यह मानना तो थोड़ा आदर्शवादी हो जाएगा कि सामाजिक वर्ग की अमूर्त अवधारणा और ख़ासकर मेक्सिको की वर्गसंघर्ष की अवधारणा की न्यूनताओं के चलते इन तथाकथित वर्गविहीन शक्तियों का उदय हुआ। इसकी जगह इसे उन संस्थाओं के संकट का परिणाम मानना ज़्यादा उचित होगा जिनके माध्यम से वास्तविक वर्ग राजनीति—चाहे जैसे कच्चे-पक्के रूप में—अभिव्यक्ति पाती थी। इस सन्दर्भ में 1955 में हुए ए.एफ.एल. और सी.आइ.ओ. के विलय को छठे दशक की नई सामाजिक व राजनीतिक गतिकी के आरम्भ के लिए सम्भाव्यता पैदा करनेवाला बुनियादी कारक माना जा सकता है। यह विलय मेकार्थीवाद की विजय था और इसने अमेरिकी श्रम आन्दोलन से कम्यूनिस्टों के निष्कासन को सुनिश्चित किया। इसने अमेरिकी व्यापार जगत और अमेरिकी श्रम-संगठनों के बीच अराजनीतिक 'सामाजिक समझौते' को सुदृढ़ किया और एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जिसमें गोरी चमड़ीवाले पुरुष श्रमिकों की सुविधाएँ प्रमुख हो गईं और काले श्रमिकों, महिला श्रमिकों और अल्पसंख्यकों की माँगें गौण हो गईं। अतः काले श्रमिकों, महिला श्रमिकों और अल्पसंख्यकों के लिए परम्परागत श्रमिक वर्ग राजनीति की शास्त्रीय संस्थाओं में कोई स्थान नहीं बचा। इस तरह उन्हें 'सामाजिक वर्ग' से 'मुक्त' कर दिया गया। 'सामाजिक वर्ग' शब्द का प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सवाद में जिस त्वरा और द्वैधभाव से किया जाता है, उससे। उन्हें पुरानी संस्थाओं से अलग कर दिया गया और सामाजिक व राजनीतिक अभिव्यक्ति के नए तरीके खोजने के लिए 'आज़ाद' कर दिया गया।

अमेरिकी समाज में अमेरिकन कम्यूनिस्ट पार्टी एक छोटी लेकिन उल्लेखनीय राजनीतिक शक्ति थी। 1956 में इसका शब्दशः विलुप्त हो जाना परिस्थिति के एक दूसरे ही पहलू पर प्रकाश डालता है। अमेरिकन पार्टी का संकट मेकार्थीवाद के दमन और ख़ुश्चोव द्वारा शुरू किए गए स्तालिन विरोधी अभियान से सोवियत गुट में आरम्भ हुई 'क्रान्ति' की स्वाभाविक परिणति था कि जिसकी गूँज सुदूर यूरोप की कम्यूनिस्ट पार्टियों में भी सुनाई पड़ी। खासकर फ्रांस में जहाँ कम्यूनिस्ट 'मानववाद' के एक संक्षिप्त दौर के बाद—जिसे पूर्वी राष्ट्रों के दार्शनिकों द्वारा विकसित किया गया था—और खुद ख़ुश्चोव के पतन और उसके प्रयोगों की निर्णयात्मक असफलताओं के बाद एक अभूतपूर्व परिस्थिति पैदा हो गई। सन् 1919 की टोर्स कांग्रेस के बाद पहली बार फ्रांस के क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को फ्रांसीसी कम्यूनिस्ट पार्टी से बाहर और स्वतन्त्र रहकर क्रान्तिकारी कार्य करना सम्भव लगने लगा। ("हम इस बारे में सब कुछ जानते हैं", "हमें यह ज़्यादा पसन्द नहीं है, लेकिन कम्यूनिस्ट पार्टी के बिना राजनीतिक रूप से कुछ नहीं किया जा सकता" जैसे पुराने विचार खुद सार्त्र की राजनीतिक पत्रकारिता में बहुत शास्त्रीय तरीके से अभिव्यक्त हुए हैं, ख़ासकर 'लेस कम्यूनिस्ट्स एटल पेरिस' में) अब ट्रॉट्स्कीवाद को पुनर्जीवन मिला, प्रतिरोध के नए माओवादी रूप चलन में आए और हर रंगत की राजनीतिक विचारधारा वाले गैरसंसदीय गठजोड़ों की बाढ़-सी आ गई। इन्होंने एक नए प्रकार की राजनीति का सपना दिखाया जो और चीज़ों के अलावा परम्परागत वर्ग श्रेणी से भी 'मुक्त' होगी।

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, दो प्रमुख घटनाओं की तरफ ध्यान दिलाना ज़रूरी है।

वस्तुतः हममें से बहुतों के लिए 'नववर्ष-1' एक बेहद निर्णयात्मक विस्फोट था। इस दिन एक ऐसा स्पर्शगोचर प्रदर्शन हुआ था जिससे यह बोध हुआ कि क्रान्ति महज एक ऐतिहासिक अवधारणा या संग्रहालय की वस्तु नहीं वरन वास्तविक और प्राप्य है। इसका प्रमाण उन प्रदर्शनकारियों ने दिया जिनके औपनिवेशिक दमन ने उत्तरी अमेरिका के लोगों में सहानुभूति और भाईचारे की एक ऐसी भावना पैदा की जैसी तीसरी दुनिया के स्वाधीनता संघर्ष कभी न कर पाते—सिवा एक अमूर्त और बौद्धिक समर्थन भाव के। फिर भी एक जनवरी 1959 तक क्यूबा की क्रान्ति प्रतीक रूप में संदिग्ध ही बनी रही थी। इसे तीसरी दुनिया जैसी ही एक क्रान्ति के रूप में समझा जा रहा था जो शास्त्रीय लेनिनवाद से भी भिन्न थी और माओवादी अनुभव से भी। इसने अपनी एक नितान्त निजी रणनीति विकसित की थी। इसे 'फोको सिद्धान्त' कहते हैं, जिसकी चर्चा बाद में की जाएगी। इस महान घटना ने मानो घोषणा कर दी थी कि आगामी छठा दशक पुरानी सामाजिक और अवधारणात्मक योजनाओं की पुष्टि का नहीं अपितु अप्रत्याशित राजनीतिक नवाचारों का काल सिद्ध होनेवाला है।

इस बीच, जैसा कि अनेक व्यक्तिगत गवाहियों से स्पष्ट होता है, अनेक गोरे अमेरिकी विद्यार्थियों के लिए—ख़ासकर उनके लिए जो आगे चलकर न्यूलेफ़्ट में सक्रिय हुए—राष्ट्रपति कैनेडी की हत्या राज्य मात्र की वैधानिकता पर प्रश्नचिन्ह लगानेवाली और संसदीय व्यवस्था से विश्वास उठानेवाली साबित हुई कि जिसमें नई पीढ़ी को राजकाज सौंप देने की बातें बढ़ा-चढ़ाकर की जा रही थीं। इसमें सार्वजनिक जीवन और तथाकथित सभ्य समाज के आदर्शवाद की नाटकीय पराजय भी अन्तर्निहित थी। हालाँकि अब ऐसा लगता है कि कैनेडी की हत्या की ऐसी प्रतिक्रिया भ्रान्तिपूर्ण थी क्योंकि कैनेडी मूलतः एक रूढ़िवादी और कम्यूनिस्ट विरोधी थे, उन्होंने 'मिसाइल संकट' का गन्दा जुआ खेला था और वियतनाम में अमेरिकी संहार के लिए वे भी कम उत्तरदायी नहीं थे। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। ख़ास बात यह है कि जिस 'पीढ़ियों के अन्तर' के विचार का विस्फोट कैनेडी ने किया, वह उनके बाद भी बचा रहा, बल्कि बाद की नौजवान पीढ़ी का मुहावरा बन गया और इसी के माध्यम से छठे दशक के अमेरिकी विद्यार्थियों ने अपने राजनीतिक असन्तोष को अभिव्यक्ति दी।

यही वह पूर्वरंग या 'सम्भाव्यता की शर्तें' थीं जिनसे श्रमिक वर्ग की परम्परागत राजनीतिक संस्थाओं का संकट पैदा हुआ और राज्यसत्ता की वैधता को चुनौती मिली कि जिसके कारण छठे दशक की नई शक्तियों को उभरने का अवसर प्राप्त हुआ। और इन शक्तियों के बारे में पूरी बात करें तो छठे दशक की चेतना की समाप्ति भी हुई। अमेरिका और यूरोप द्वारा चील को गले लगाने के साथ ही 'तीसरी दुनिया' की अवधारणा पतली पड़ गई और लगभग इसी समय अफ्रीका के नवस्वतन्त्र राष्ट्रों से बढ़ते सांस्थनिक भ्रष्टाचार की खबरें आने लगीं। 1973 में चिली के तख़्तापलट के बाद लगभग सभी लेटिन अमेरिकी राजसत्ताओं का सैन्यीकरण हो गया और उसके बाद पुर्तगाल के भूतपूर्व उपनिवेशों में जो भी क्रान्तिकारी विजयें हुईं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे तीसरी दुनिया के सिद्धान्त को लेकर नहीं, मार्क्सवाद को लेकर हुई। इस बीच अमेरिकी फौजों की सम्पूर्ण और अन्तिम वापसी के बाद वियतनाम अमेरिकी चेतना से तेजी से विलुप्त हो गया और इसी तरह 1963 के एवियन अभियान के बाद अल्जीरिया फ्रांसीसी चेतना से पूरी तरह मिट गया।

छठे दशक के उत्तरार्द्ध में पहली दुनिया में आन्तरिक राजनीति ने फिर प्रमुखता पाई, जैसाकि 68 में फ्रांस और अमेरिका के युद्ध-विरोधी आन्दोलनों से पता चलता है। फिर भी अमेरिकी आन्दोलन जैविक रूप से वियतनाम युद्ध के कारण अपने तीसरी दुनिया सम्बन्धी 'अवसरों' से जुड़ा रहा, और एस डी एस से आए प्रगतिशील श्रमिक दलों की माओवादी प्रेरणा के कारण भी, कुछ इस तरह कि जैसे ही युद्ध ख़त्म होगा, इन आन्दोलनों की भी हवा निकल जाएगी। फ्रांस में वाम का 'साझा कार्यक्रम' (1972) जिससे वर्तमान समाजवादी सरकार की जड़ें जुड़ी हैं—ग्राम्शीवाद की तरफ झुकाव की शुरुआत बना। इससे एक 'यूरोकम्यूनिस्ट' चेतना भी पैदा हुई जिसका तीसरी दुनिया से कोई लेना-देना नहीं था। और अन्त में, लगभग इसी समय अमेरिका का नीग्रो आन्दोलन भी गतिरोध में फँस गया, क्योंकि उसकी सर्वाधिक प्रभावी विचारधारा—सांस्कृतिक राष्ट्रवाद—जो तीसरी दुनिया के प्रतिदर्श से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थी, चूक गई। महिला आन्दोलन भी जो बहुत कुछ तीसरी दुनिया से प्रेरणा लेते थे, 1972-74 तक आते-आते सर्वथा भिन्न सैद्धान्तिक आधार पकड़ने की ओर उद्यत हुए (बुर्जूआ, नारीमुक्ति, समलैंगिकता, समाजवादी नारीवाद आदि)

उक्त तथा कुछ अन्य कारणों से 1972-74 तक छठे दशक की चेतना की समाप्ति मानी जा सकती है। इस व्यापक टूट की चर्चा आलेख के अन्त में दोबारा की जाएगी। फिलहाल हम इस काल में तीसरी दुनिया की गतिकी के चरित्र को पूरी तरह समझ लें। ख़ास तौर पर यदि यह मान लिया जाए कि इससे पहली दुनिया के छठे दशक का भी कुछ सम्बन्ध रहा होगा या उसने इससे प्रभाव ग्रहण किए होंगे। (सीधे हस्तक्षेप द्वारा, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन द्वारा या प्रभावशाली राजनीतिक प्रतिदर्शों जैसे माओवाद द्वारा या वैश्विक कारकों के तहत जिनमें दोनों दुनियाओं की भागीदारी रहती है और जिस पर दोनों अपनी-अपनी तरह से प्रतिक्रिया करते हैं।)

यहाँ यह बात भी कही जानी चाहिए कि तीसरी दुनिया में नई शक्तियों की 'मुक्ति' या 'स्वाधीनता' की अवधारणा उतनी ही अमूर्त और अस्पष्ट है जितनी खुद 'मुक्ति' या 'स्वाधीनता', या जिन अर्थों में ये शब्द अक्सर प्रयुक्त किए जाते हैं। (मुक्ति पुरानी व्यवस्थाओं से) यदि इसे और साफ कहा जाए तो जो दिखाई दे रहा है उसे याद करना काफी होगा, कि ऐतिहासिक रूप से उपनिवेशवाद की समाप्ति और नवउपनिवेशवाद की स्थापना साथ-साथ ही सम्पन्न हुए। पुराने फैशन के साम्राज्यवाद का शालीनतापूर्ण, शत्रुतापूर्ण या हिंसापूर्ण अन्त निश्चित रूप से एक प्रकार की गुलामी से छुटकारा था लेकिन साथ ही यह एक नई प्रकार की गुलामी का आविष्कार और निर्माण भी था। प्रतीकात्मक रूप से कहें तो यह एक तरह से अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवाद का स्थान ले लेने जैसा था। प्रसंगवश, यही कारण है कि सत्ता और प्रभुत्व का आजकल का फैशनेबल मुहावरा अन्तिम विश्लेषण में असन्तोषप्रद सिद्ध होता है। (फूको इस मुहावरे के सर्वाधिक प्रभावी प्रवक्ता हैं लेकिन आर्थिक से राजनीतिक की ओर बुनियादी विस्थापन का विचार मेक्स वेबर पहले ही रख चुके थे) बेशक सत्ता और प्रभुत्व के विभिन्न रूपों का 'मुकाबला' करना राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है लेकिन सत्ता और प्रभुत्व को तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक आर्थिक शोषण के साथ उनके व्यवहारगत सम्बन्ध को स्पष्ट न समझा जाए, अर्थात् जब तक राजनीतिक को आर्थिक की ही उपज न माना जाए। दूसरी तरफ, ख़ासकर इस निबन्ध के ऐतिहासिकीकरण वाले परिप्रेक्ष्य में इसे एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और सामाजिक संकेत माना जाएगा कि छठे दशक के मध्य में लोग वर्तमान स्थिति की अपनी समझ और अपने प्रस्तावित आचरण को सत्ता, प्रभुत्व, प्राधिकार और प्राधिकार विरोध आदि की महीन राजनीतिक भाषा में अभिव्यक्त करना जरूरी समझ रहे थे। दूसरी तरफ तीसरी दुनिया से उभरती अवधारणाएँ जिनमें समाजवाद के अन्तर्गत 'राजनीतिक' को प्रमुखता दी जा रही थी, सारे मसले पर एक नई रोशनी डालती हैं। लगभग यही बात सामूहिक अस्मिता तथा इससे भी ज़्यादा वाचा की विजय के उत्तरसंरचनावादी मुहावरे के बारे में भी कही जा सकती है। अपनी भाषा में अपनी बात कहो। लेकिन अपनी भाषा में अपनी माँगों को उठाने का मतलब यह नहीं है कि अगला आपकी बात मान ही लेगा। (पर कम-से-कम अगले को आपके बारे में सोचना तो पड़ेगा ही, और आपसे निपटने के नए तरीके भी ईजाद करने पड़ेंगे) पीछे मुड़कर देखने पर लगता है कि छठे दशक के ऐसे प्रतिनिधि मुहावरों और आदर्शवादी दृष्टि का 'भौतिकवादी सार' सांस्कृतिक क्रान्ति की बुनियादी प्रकृति में भी पाया जा सकता है। (जोकि अब अपनी स्थानीय और ऐतिहासिक रूप से चीनी अभिव्यक्ति से स्वतन्त्र है)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिवेशवाद की समाप्ति और नवउपनिवेशवाद के आरम्भ के विरोधाभासी और द्वन्द्वात्मक जोड़ को एक और प्रक्रिया के आर्थिक दृष्टि से किए गए अवलोकन से सबसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसकी शुरुआत भी उस सामान्य शुरुआत के साथ ही होती है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। इस प्रक्रिया को तथाकथित तटस्थ, लेकिन बेशक विचारधारात्मक भाषा में कृषि में तकनीकी 'क्रान्ति' या 'हरित क्रान्ति' कहा जाता है। इस 'क्रान्ति' में भरपूर रासायनिक खादों का प्रयोग करके, कृषि में यन्त्रों का और यान्त्रिकी का प्रयोग बढ़ाकर तथा आश्चर्यजनक प्रगति और जादुई तकनीक इत्यादि का नियोजित गुणगान करके धरती को भूख से मुक्ति दिलाने की परिकल्पना की गई। (प्रसंगवश, हरित क्रान्ति का दूसरा अवतार ख्रुश्चोव के 'कुँवारी धरती' प्रयोग में हुआ जो बुरी तरह असफल रहा) लेकिन ये तटस्थ उपलब्धियाँ नहीं हैं, न ही इस सबका निर्यात कोई दयालु और परोपकारी गतिविधि जिसकी शुरुआत कैनेडी बन्धुओं ने की। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में तीसरी दुनिया में पूँजीपति शक्तियों के हस्तक्षेप का उद्देश्य वहाँ की परम्परागत उत्पादन प्रणाली को पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली में बदल लेना कदापि नहीं था। ज़्यादातर मामलों में परम्परागत उत्पादन प्रणाली यथावत बनी रही, 'मात्र' उनका शोषण अधिक सुसंगठित राजनीतिक और सैनिक तन्त्र द्वारा होने लगा। विदेशी अन्तःक्षेत्र होने की अपनी प्रकृति के कारण और इसमें अधिपति की हिंसा शामिल हो जाने से, और 'पैसे' की हिंसा शामिल हो जाने से उत्पादन की इस पुरानी पद्धति का साम्राज्यवादी एकाधिकार के साथ एक सहायक जैसा रिश्ता बना जो कि काफी लम्बे समय तक साम्राज्यवादी एकाधिकार के लिए लाभदायक बना रहा। हरित क्रान्ति इसी हस्तक्षेप और 'पूँजी के तर्क' के विस्तार को एक नया आयाम देती है।

प्राचीन ग्रामीण संरचना और प्राक्पूँजीवादी कृषि प्रणाली अब सुनियोजित रूप से नष्ट की जाने लगती है और इसके स्थान पर औद्योगिक कृषि को स्थापित किया जाता है जिसके परिणाम भयानक हैं और पूँजी के अभ्युदय के दौर में कृषि कर्म और कृषिकर्मियों के विधिवत सफाए की याद दिलानेवाले हैं, कि जिससे पहली दुनिया अस्तित्व में आई थी। ग्राम समाजों के आवयविक सामाजिक सम्बन्ध अब ध्वस्त हो जाते हैं, एक विशाल भूमिहीन सर्वहारा 'उत्पादित' किया जाता है जो शहरों की ओर पलायन कर जाता है (जिसकी गवाही मेक्सिको शहर का अकूत विस्तार दे सकता है) और पुराने सामूहिक या पारम्परिक कृषिकर्मियों का स्थान तनख्वाह लेनेवाले नए सर्वहारा खेत-मजदूर ले लेते हैं। ऐसी धुँआ-धुँआ मुक्ति या स्वाधीनता की उसी सूक्ष्म द्वन्द्वात्मकता के साथ पड़ताल ज़रूरी है जैसी मार्क्स और एंगेल्स ने 'घोषणापत्र' में पूँजी की गतिशीलता को समझाने के लिए या भारत में ब्रिटिश राज में हुए ऐतिहासिक विकास को दर्शाने के लिए दिखाई है।

साठ के दशक में सारी दुनिया में राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों की एक लहर उठी जिसने सदियों से चली आती साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद की ज़ंजीरों को उखाड़ फेंका—यही तीसरी दुनिया का विचार है—अगर ऐसा कहा जाएगा तो यह सरासर एक मिथकीय सरलीकरण होगा। प्राचीन साम्राज्यवादी ढाँचों के प्रति अन्तिम अधैर्य की तरह ही हरित क्रान्ति के रूप में साम्राज्यवाद का नया हस्तक्षेप भी छठे दशक के प्रतिरोध का एक सबल कारक है। तीसरी दुनिया की ही एक शक्ति है जापान जिसे द्वितीय विश्वयुद्ध में साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध ज़ोरदार आरम्भिक सफलताएँ प्राप्त हुई थीं। एरिक वुल्फ की अपरिहार्य पुस्तक **बीसवीं सदी के कृषक युद्ध** (1969) प्रतिरोध की सम्भावनाओं, एक क्रान्तिकारी भावभूमि के विकास और पूँजी के आत्यंतिक हताश कर डालनेवाले सामाजिक-आर्थिक तर्क के आपसी सम्बन्धों को रेखांकित करती है।

जिस अन्तिम उलझन के साथ हम इस विषय को यहीं छोड़ेंगे वह यह है कि छठे दशक को अक्सर एक ऐसी कालावधि के रूप में कल्पित किया जाता है जिसमें सारी दुनिया में पूँजी और पहली दुनिया की शक्तियाँ पीछे हटी हैं। लेकिन इतनी ही आसानी से इसे एक ऐसी अवधि के रूप में भी कल्पित किया जा सकता है जिसमें पूँजी पूरी तेज़ी और नयी त्वरा के साथ पसरी है—अपनी पीठ पर नई उत्पादन तकनीकों और नए 'उत्पादन के साधनों' का तरकस बाँधे। अब देखना है कि इस उलझन और कृषि विकास के तीसरी दुनिया में आए वास्तविक परिणामों का विकसित राष्ट्रों की गतिकी में छठे दशक के घटनाक्रम में कोई समतुल्य था या नहीं।

2. अन्यपन की राजनीति

यदि दर्शन के इतिहास को अनन्त में कुछ समयहीन लेकिन निश्चित स्थितियों के क्रम की तरह न समझा जाए अपितु निरन्तर द्वन्द्वात्मक रूप से बदलते ऐतिहासिक व सामाजिक वस्तुतत्व को समझने के प्रयासों का इतिहास समझा जाए तो छठे दशक की 'सच्ची' और 'ठोस' गहरी लय के लक्षणों के अब अत्यन्त विशेषज्ञ क्षेत्र बन चुके सीमित अर्थ में साफ-साफ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देख पाना बहुत दूर की कौड़ी लाना जैसा नहीं लगेगा।

जहाँ तक उक्त अवधि में दर्शन के इतिहास का सम्बन्ध है, इसकी कहानी का एक प्रभावशाली संस्करण इस प्रकार है— सार्त्र के अस्तित्ववाद का क्रमशः उत्तराधिकार (अपने अनिवार्य दृश्यप्रपंचवादी परिप्रेक्ष्य के साथ) जिसे आम तौर पर संरचनावाद कह दिया जाता है, वास्तव में अनेक नए सैद्धान्तिक प्रयासों का नाम है। ये भाषा की या प्रतीक की श्रेष्ठता की खोज के क्रम में कम-से-कम एक बुनियादी 'अनुभव' में भागीदारी करते हैं। इस मामले में दृश्यप्रपंचवाद और सार्त्र का अस्तित्ववाद दोनों अपेक्षया रूढ़िवादी या परम्परावादी ही बने रहते हैं। उच्च संरचनावाद की सर्वाधिक प्रभावी यादगारें तो प्रगटतः कहीं से भी दार्शनिक नहीं हैं, बल्कि भाषाविज्ञान की बगल में रखने योग्य हैं। जैसे कि क्लॉड लेवी स्ट्रॉस और जेकस लेकन द्वारा किया गया क्रमशः नृतत्वशास्त्र और मनोविश्लेषण का भाषिक रूपान्तर। तथापि यह अपनी बनावट में ही अस्थिर है और इसका कालान्तर में एक और बौद्धिक झख मानकर भुला दिया जाना निश्चित है। इसलिए देखा जा सकता है कि उच्चसंरचनावाद की टूटन से उत्पन्न उपोत्पाद एक ओर विज्ञानवाद तक घट जाते हैं और मात्र एक पद्धति और लक्षण विज्ञान बनकर रह जाते हैं और दूसरी तरफ संरचनावादी दृष्टि एक सक्रिय विचारधारा में विकसित हो जाती है जिसमें इसकी अब तक की ज्ञानमीमांसा से नैतिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक निष्कर्षों को आत्मसात किया जाता है। इसे सामान्यतया उत्तरसंरचनावाद कहा जाता है और इसके साथ फूको, डेलूज़, देरिदा आदि परिचित नाम जुड़े हुए हैं। यह प्रतिमान बेशक अपने सन्दर्भों में फ्रांसीसी है लेकिन जैसा कि स्पष्ट है केवल फ्रांस तक सीमित नहीं है। संचार की समस्याओं की मार्फत इसका एक किंचित परिवर्तित रूप हेबरमास के काम में पाया जाता है। या फिर रिचर्ड रोरटी के व्यवहारवाद के पूर्वप्रचलन में जिसमें अमेरिका की एक 'देसी' उत्तरसंरचनावादी सुगन्ध है। (आख़िरकार पीयर्स ने काफी हद तक सोसाँ को पीछे छोड़ दिया।)

व्यक्तिगत अहं या व्यक्तित्व जैसे विषयों की तथाकथित मृत्यु को दार्शनिक संस्थाओं के संकट और एक दार्शनिक की शास्त्रीय राजनीतिक भूमिका का क्रमशः क्षरण माना जा सकता है। हमारे समय में सार्त्र इसकी साक्षात प्रतिमूर्ति थे। लेकिन यही दशा चिन्तन की भी हुई है। सार्त्र को पारम्परिक दर्शन-शास्त्र का अन्तिम महान पद्धतिनिर्माता माना जा सकता है। (लेकिन फिर शास्त्रीय अस्तित्ववाद के कम-से-कम एक आयाम को भी विचारधारा या तत्वमीमांसा मानना पड़ेगा, और यह आयाम है अस्तित्ववादी चुनाव की नाटकीय करुणा और शून्य में स्वतन्त्रता। या फिर 'अमूर्त' जैसे कि ख़ासकर काम्यू में) हममें से कुछ सार्त्र के आरम्भिक कामों की द्वन्द्वात्मकता की मार्फत मार्क्सवाद की तरफ आए हैं। (स्वयं सार्त्र इसी ओर मुड़ रहे थे जैसा कि उनके 'द्वन्द्वात्मक तर्क की आलोचना' (1960) जैसे बाद के अधिक मार्क्सवादी कामों में दिखाई देता है) लेकिन कुल मिलाकर उनके जिस काम को दूसरों द्वारा और खुद उनके द्वारा सर्वाधिक समर्थन और व्यावहारिक परिणति मिली वह था उनका अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का सिद्धान्त, हीगल के मालिक-गुलाम अध्याय का उनके द्वारा किया गया अद्भुत पुनर्लेखन, उनका विचार कि रूप ही वह सबसे ठोस आधार है जिसके द्वारा मैं स्वयं को अन्य लोगों से जोड़ता हूँ और संघर्ष करता हूँ, उनका 'दूसरों-के-लिए-अस्तित्व' में अलगाव का आयाम जिसमें हममें से हर एक सामनेवाले की अलगाव पैदा करनेवाली नज़र को पलटकर अपनी अलगावपूर्ण नज़र का निशाना बनाने की असफल कोशिश करता है। 'क्रिटिक' में सार्त्र इस प्रकटतः अनुर्वर क्षेत्र में समूह द्वन्द्वात्मकता के एक अधिक सकारात्मक और राजनीतिक सिद्धान्त को खड़ा करने की कोशिश करते चले जाते हैं। दो व्यक्तियों का संघर्ष अब द्वन्द्वात्मक रूप से दो समूहों के संघर्ष में रूपान्तरित हो जाता है। 'क्रिटिक' एक भविष्यमुखी लेखन था जिसके होने का महत्त्व मई 68 तक नहीं समझा जा सका, और सच तो यह है कि उसके समृद्ध निष्कर्षों को पूरी तरह अब तक भी नहीं समझा जा सका है। वर्तमान सन्दर्भ में इतना कहना पर्याप्त है कि 'क्रिटिक' अपनी नियत परिणति तक नहीं पहुँच सका। अस्तित्ववादी अनुभव के व्यक्तिगत विषय से चलकर पूर्णतः निर्मित सामाजिक वर्गों का जो राजमार्ग उसने प्रस्तावित किया था, उसका निर्माण पूरा नहीं हो सका। यह प्रस्तावित राजमार्ग छोटे समूहों के निर्माण के बिन्दु पर टूट गया और अन्ततः सैद्धान्तिक रूप से छोटे-छोटे गुरिल्ला समूहों और लघु समूहों के उपयोग भर के लिए रह गया। (छठे दशक के अन्तिम आन्दोलनों में)

इस प्रक्षेप पथ का महत्त्व शीघ्र स्पष्ट हो जाएगा।

छठे दशक के उदयकाल में व्यक्तिगत विषयों के बीच रूप और अस्मिता के लिए संघर्ष का सार्त्र का प्रतिमान एक बिलकुल भिन्न किस्म के राजनीतिक संघर्ष के लिए नाटकीय तरीके से अपना लिया गया। फ्रांज़ फेनन के अत्यन्त प्रभावशाली विज़न (द रेचेड ऑफ द अर्थ, 1961) में, जिसमें उपनिवेशवादियों और उपनिवेशों में रहनेवाली जनता के बीच संघर्ष में, जिसमें रूप के वस्तुगत विपर्यय को बड़े रहस्योद्घाटक तरीके से मालिक के विरुद्ध गुलाम की मुक्तिकामी हिंसा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप में परिभाषित किया गया है। कहा गया है कि जब-जब मृत्यु के भय और चिन्ता, स्व और पर की श्रेणीबद्ध स्थिति तथा केन्द्र और हाशिए की स्थिति को बलात उलट दिया जाता है, तब-तब उपनिवेशित की आज्ञाकारी चेतना सामूहिक अस्मिता को प्राप्त कर लेती है और उपनिवेशवादी के विरुद्ध संघर्ष में स्वयं के प्रति ज्ञान पर उद्यत हो जाती है।

इसमें जो चीज़ सबसे पहले ध्यान खींचती है वह यह है कि कैसे जो एक तकनीकी दार्शनिक विषय था (अहंमात्रवाद की 'समस्या, व्यक्तिगत विषयों के अन्तर्सम्बन्धों की प्रकृति) वह अचानक व्यवहार की दुनिया में कूद पड़ा और एक विस्फोटक और सनसनीखेज राजनीतिक विचारधारा बन गया। उच्च अस्तित्ववाद जैसी पुराने फैशन की दार्शनिक पद्धति का एक अंश कैसे उससे टूटा और दर्शन के क्षेत्र से एकदम बाहर आचरण और आतंक की दुनिया में पहुँच गया। फेनन का महान मिथक उनके द्वारा भी जिन्हें उसने प्रोत्साहित किया और उनके द्वारा भी जिन्हें अपने विचारहीन हिंसा के आह्वान से डराया, समान रूप से समझा जा सकता है। पीछे मुड़कर देखने पर और फेनन के दूसरे साफ-सुथरे कामों को नजर में रखने पर इसे दमित जन या गैर क्रान्तिकारी श्रमिक वर्ग के सामूहिक पुनर्शिक्षण (बल्कि सामूहिक मनोविश्लेषण) के रूप में, और इस तरह सांस्कृतिक क्रान्ति के समूचे सिद्धान्त को एक उल्लेखनीय योगदान की तरह समझा जा सकता है। (फेनन एक मनोविश्लेषक था जो उपनिवेशवाद के शिकार लोगों तथा अल्जीरियाई युद्ध के आतंक और यातना पर काम कर रहा था) यदि इसी तरह इसे समझा जाए तो यह एक बेहतर समझ होगी। मनुष्य के लम्बे इतिहास में आज्ञाकारिता और हाशिए पर पड़े रहना—इन दो सनातन आदतों का मेहनतकश और शोषित वर्गों में इस कदर आभ्यंतरीकरण हो चुका है कि वे एक तरह से उनकी 'दूसरी प्रकृति' बन चुके हैं और सांस्कृतिक क्रान्ति इसे तोड़ने के लिए एक कारगर रणनीति हो सकती है—यही है वह व्यापक सोच जिस पर आज ग्राम्शी, विल्हेम रीश, फेनन और रुडोल्फ बाहरो काम कर रहे हैं और उनका योगदान अधिकारिक माओवादी आचरण से किसी भी तरह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

3. माओवाद में व्यतिक्रम

लेकिन इसे नए और भविष्यसूचक सन्दर्भ के साथ एक अटपटे लेकिन 'अटालनीय' निक्षिप्त व्यतिक्रम की भी चर्चा ज़रूरी है। माओवाद जो कि छठे दशक की सर्वाधिक समृद्ध नई विचारधाराओं में से एक है, एक केन्द्रवर्ती छाप के रूप में इस पूरे निबन्ध में बना रहेगा, लेकिन अपने बहुमुखी संयोजन के कारण हम इसके किसी भी बिन्दु पर संकेद्रण या गहराई से विचार नहीं कर सकेंगे। बेशक, कोई भी समझ सकता है कि जब चीन की करवट ने माओवाद को इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया तो वहाँ तथा अन्यत्र माओवादी रूढ़िवाद से त्रस्त और थके हुए वामपन्थी उग्रवादियों ने कैसे एक सम्मिलित चैन की साँस ली होगी। सिद्धान्त जब राजसत्ता के व्यावहारिक हितों के खिलाफ पड़ जाते हैं और भटक जाते हैं तो अक्सर वे अपनी ही शर्तों पर मुक्त होते हैं। इस बीच, जैसा कि मैंने ऊपर सुझाया, वर्तमान बहस का प्रतीकात्मक परिदृश्य उतना ही दक्षिणपन्थियों द्वारा चयनित और निर्देशित है जितना बचे-खुचे वामपन्थियों द्वारा। सारी दुनिया में चल रहे माओवाद के स्तालिनीकरण और सांस्कृतिक क्रान्ति को बदनाम करने के प्रचार अभियान का असली मकसद उसे पूर्व की एक और गुलाम-प्रथा के रूप में दर्शाना, और गहराई से देखें तो कुल मिलाकर छठे दशक को ही कचरे के ढेर में फेंकने की व्यापक चेष्टा का ही एक हिस्सा है। इसे समझने में हमें भूल नहीं करनी चाहिए। इस परिदृश्य को बग़ैर सोचे-समझे और जल्दबाजी में यथार्थ का 'दूसरा पहलू' मानकर छोड़ देना अक्लमन्दी की बात नहीं होगी।

जहाँ तक पश्चिम के तीसरी दुनियावाद के हास्यास्पद पहलू का सवाल है यह 1818 के मार्क्स के क्रान्तिकारियों का विदेशी या प्राच्य रूपान्तर है जो '1789 की महान क्रान्ति की आत्मा का उत्सुकतापूर्वक आह्वान करते रहते हैं ताकि उन्हें अपनी सेवा में लगा सकें। उन्हीं से वे अपने नाम, युद्ध की ललकारें और जिरहबख्तर उधार लेते हैं।'—इन्हें अब ज़्यादातर मानवद्वेषी रोशनी में देखा जाता है। जैसा कि रेजिस देब्रे कहता है फ्रांस में राजनीतिक आधुनिकता के कोलम्बसों ने सोचा कि गोडार्ड के **ल चाइनीज** का अनुसरण करते हुए उन्होंने पेरिस में चीन की खोज कर ली, जबकि हक़ीक़त में वे केलिफोर्निया पहुँच गए।

लेकिन सबसे ज़्यादा विरोधाभासपूर्ण और दिलचस्प तो सोवियत-चीन विग्रह का अप्रत्याशित और अकल्पनीय दूसरा भाग खुद है—यह है चीन का नया नारा कि सोवियत नौकरशाही को बुर्जूआ और संशोधनवादी कहना इन नारों के वर्गीय तत्व को समाप्त कर देने का विचित्र प्रभाव पैदा करेगा। इसमें एक अनिवार्य परिभाषागत फिसलन और विस्थापन है। इसके हिसाब से 'बुर्जूआ' का नया विलोम 'सर्वहारा' नहीं बल्कि 'क्रान्तिकारी' है और इस प्रकार के राजनैतिक निर्णय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने की नई अर्हता अब वर्ग या राजनीतिक दल से सम्बद्धता नहीं, आपका निजी जीवन है—विशेष सुविधाओं तक आपकी पहुँच, मध्यवर्गीय शान-शौकत और प्रबन्धकीय वेतन तथा अन्य भत्ते। खुद माओ त्से तुंग का मासिक 'वेतन' हमें बताया गया है करीब सौ अमेरिकी डॉलर के आसपास था। कम्यूनिज़्म विरोध के अन्य रूपों की ही तरह इस शब्दाडम्बर का उपयोग भी कम्यूनिस्ट विरोधी शक्तियाँ उसे नौकरशाही बताने या सामाजिक वर्ग और विचारधारा का अन्त घोषित करने आदि के लिए कर सकती हैं, लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पश्चिम के उग्रवादियों पर इसका क्या प्रभाव पड़ा। शुरू-शुरू में जो रणनीति का या नारेबाज़ी का अन्तर था वह बाद में एक बिलकुल भिन्न राजनीतिक स्पेस बन गया। एक ऐसा स्पेस जिसकी अभिव्यक्ति 'व्यक्तिगत ही राजनीतिक है' के नारे से होगी और जिसमें एक सर्वाधिक अप्रत्याशित और चौंकानेवाले ऐतिहासिक मोड़ की तरह—दशक के अन्त में नारी आन्दोलन भी धड़धड़ाता हुआ घुस जाएगा और उसमें एक नई तरह का 'थ्यानमन' बना लेगा जिसे समझना आज तक भी सम्भव नहीं हो पाएगा।

4. दर्शन का कुम्हला जाना

उपनिवेशीय स्थिति की आपेक्षिक सरलता संघर्ष के कठोर फेननवादी मॉडल की शक्ति भी थी और सीमा भी। इसे दो तरह से दिखाया जा सकता है। पहले तो 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संघर्ष' के दूसरे भाग के रूप में कि जिसमें गुलामों ने अपने (अब भूतपूर्व) मालिकों पर प्रतीकात्मक और वास्तविक विजय हासिल की और इसी के साथ 'अन्यपन की राजनीति' की सीमा आ गई। सामूहिक अस्मिता की विजय का शब्दाडम्बर चूँकि इसके आगे कहीं नहीं जा सकता था इसलिए वह विभाजनवादी प्रवृत्तियों की ओर मुड़ गया। इसके दो नाटकीय उदाहरण हैं। एक अश्वेतों का सांस्कृतिक राष्ट्रवाद और दूसरा (बाद में) महिला समलैंगिकों का विभाजनवाद। (क्यूबेक सूबे में सांस्कृतिक और भाषायी स्वतन्त्रता का द्वन्द्व इसका एक और उदाहरण हो सकता है)। लेकिन यह निष्कर्ष भी विरोधाभासपूर्ण है, क्योंकि किसी नवगठित गुट को भी एक गुट के रूप में बने रहने के लिए किसी-न-किसी बाहरी शत्रु की आवश्यकता होती है, ताकि गुट में निरन्तर एकजुटता और सामूहिकता की भावना बनी रहे। (यहाँ हम सार्त्र के 'क्रिटीक' में आए वर्णन को याद कर सकते हैं) आखिरकार पुराने उपनिवेशवादी दौर की स्पष्ट मानीवादी परिस्थिति की अनुपस्थिति में प्रथम संघर्ष में कठिनाई से प्राप्त की गई स्वपरिभाषा छोटी-छोटी और अधिक सुविधापूर्ण इकाइयों में टूट गई और आमने-सामनेवाले लघु गुट बन गए। (अधिकारिक राजनीतिक गुट जिसका मात्र एक उदाहरण हैं।)

फेननवादी मॉडल के क्रमशः क्षरण को उस परिप्रेक्ष्य में भी वर्णित किया जा सकता है जिसे शीघ्र ही 'संरचनावादी' आलोचना कहा जाने लगा। इस तरह देखें तो यह अभी भी एक ऐसा मॉडल है जो व्यक्तिगत विषय की धारणा पर आधारित है। हालाँकि ये विषय सामूहिक और मिथकीय हैं। इस तरह ये पारदर्शी भी हैं और मानवतारोपी भी, उस अर्थ में जिसमें महान सामूहिक प्रतिपक्षियों यथा गुलाम और मालिक या उपनिवेशवादी और उपनिवेशित के बीच कुछ नहीं बदलता। लेकिन फिर भी हीगल तक के अनुसार इन दो के अलावा हमेशा एक तीसरा तत्व भी होता है। और वह होता है स्वयं पदार्थ, वह कच्चा माल जिसके आधार पर गुलाम श्रम करने पर मजबूर किया जाता है और शेष इतिहास में अपनी मुक्ति के लिए एक लम्बा और अनाम मार्ग तैयार करने पर विवश होता है। लेकिन छठे दशक का 'तीसरा तत्व' इससे कुछ भिन्न है। मानो दशक के पूर्वार्द्ध के प्रदीर्घ अनुभव भागीदारों के दिमाग़ में धीरे-धीरे एक सबक़ के रूप में तब्दील होने लगे हों। अमेरिका में यह वियतनाम के असमाप्त युद्ध का खुद का अनुभव था, फ्रांस में यह चमत्कारी और प्रकटतः अपराजेय तकनीकी गतिकता थी तथा फ्रांसीसी कम्यूनिस्ट पार्टी के विस्तालिनीकरण के प्रति लगभग अविचल प्रतिरोध था तथा अन्यत्र यह मीडिया का असीम विस्तार और उपभोक्तावाद था। इस सबक को अब तक के परस्परद्वेषवादी और 'पारदर्शी' राजनीतिक आचरण के भीतर एक प्रकार से संस्था की खुद की अपारदर्शिता की खोज जैसा माना जा सकता है। उसे अपने खुद की आन्तरिक गतिकी व नियमों के कारण मूलभूत रूप से पराव्यक्तिवादी माना जाता था, लेकिन वह व्यक्तिगत मानवीय व्यवहार और अभिप्रायों से मेल नहीं खाती थीं। कुछ-कुछ वही जिसे सार्त्र ने 'क्रिटीक' में 'आचरणशून्यता' कहा है और 'संरचना' के 'संरचनावाद' या 'वर्णनात्मक व्यवस्था' का मुकाबला करने के लिए निश्चित आकार ग्रहण करेगी। यह ग़ैर-व्यक्तिगत तर्क का एक क्षेत्र है जिसकी धारणा के अनुसार मनुष्य की चेतना 'संरचना के प्रभाव' से कुछ ही अधिक है।

इस विश्लेषण के उपरान्त इसे नए दार्शनिक मोड़ को किसी नए वैज्ञानिक सत्य (प्रतीकात्मक) की खोज के सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य में कम और एक अनिवार्य रूप से आदिराजनीतिक और सामाजिक अनुभव के रूप में ज़्यादा देखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाएगा। इसे एक नए, कठोर, अनावधारित प्रतिरोधक तत्व के रूप में देखा जाएगा जिसे पुरानी अवधारणात्मकता परिशोधित नहीं कर पाती और अतः जिसने एक सर्वथा नई समस्यात्मकता को उत्पन्न कर दिया है। इस नई समस्यामूलकता के भाषाशास्त्रीय संकेतन या सूचना सिद्धान्त में अवधारणीकरण का श्रेय सूचना संक्रान्ति में सूचनाओं के अप्रत्याशित विस्फोट और तमाम तरह के सन्देशों के फूट पड़ने को दिया जा सकता है। आगे के अध्याय में इसकी विस्तार से चर्चा की जाएगी। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि यह भी इतिहास का एक व्यंग्य है कि पश्चिम में तीसरी प्रौद्योगिक क्रान्ति (इलेक्ट्रॉनिक, परमाणु ऊर्जा—जोकि दूसरे शब्दों में प्रकृति पर मनुष्य की विजय का एक सर्वथा नया चरण है) की अवधारणात्मक अभिव्यक्ति और दार्शनिक स्वागत एक ऐसे विचार द्वारा हुआ है जिसे अधिकारिक भाषा में 'मनुष्यता विरोधी' और मनुष्य की चेतना द्वारा अगाह्य माना जाता था। इसी तरह उन्नीसवीं शताब्दी की दूसरी प्रौद्योगिक क्रान्ति भी जो कि प्रकृति पर मनुष्य की शक्ति की अतुलनीय छलाँग थी, सर्वनकारवाद की तरह-तरह की अभिव्यक्तियों के साथ जुड़ी हुई थी। ये सब 'आधुनिकता' या संस्कृति में उच्चआधुनिकतावाद से सम्बद्ध थीं।

वर्तमान सन्दर्भ में छठे दशक के मध्य से अन्त तक चला अल्थूसेरियन प्रयोग विभिन्न प्रकार के 'संरचनावादों' को सर्वाधिक सटीक ढंग से उद्घाटित और व्यंजित करता है। क्योंकि यही एक था जो पूरी तरह राजनीतिक था और यूरोप तथा लेटिन अमेरिका में जिसके काफी व्यापक और बहुस्तरीय राजनीतिक प्रभाव पड़े। अल्थूसेरियनवाद की कहानी की सिर्फ रूपरेखा यहाँ बताई जा सकती है। इसकी आरम्भिक मार दोहरी थी। एक प्रतिष्ठा खोने से पहले के स्तालिनवाद के विरुद्ध (अल्थूसर के खुद के कामों में रणनीतिगत चातुर्य के तहत जिसे 'हीगल' और 'अभिव्यक्तिपरक दुर्घटना' के कूट रूप में अभिव्यंजित किया गया है।) इसकी दूसरी मार मार्क्स की आरम्भिक पांडुलिपियों में व्यक्त 'अलगाव के सिद्धान्त' के आधार पर एक नए मार्क्सवादी मानववाद के पुनर्आविष्कार के षड्यन्त्रकारी पूर्वी प्रयत्न के खिलाफ थी। अल्थूसरवाद आवश्यक तौर पर 'सांस्थानिकता' और 'व्यावहारिक निश्चेष्टा' की अपारदर्शिता पर किया गया चिन्तन है। इसे स्वयं अल्थूसर द्वारा छठे दशक के दौरान दिए तीन क्रमिक सूत्रों से जाँचा जा सकता है। इनमें पहला है 'प्रभुत्व में संचरना' (**फॉर मार्क्स** में) दूसरा है 'संरचनात्मक दुर्घटना' (**रीडिंग केपिटल** में) और तीसरा है 'विचारधारात्मक राज्यतन्त्र' (इसी नाम के निबन्ध में)। **फॉर मार्क्स** के पुनर्पाठ में जो चीज़ सबसे ज़्यादा साफ दिखाई देती है, लेकिन जिसे बहुत कम याद रखा जाता है वह यह है कि इस समस्यामूलकता की जड़ खुद माओवाद में है, और ख़ासकर माओ त्से तुंग के निबन्ध 'विरोधाभास पर' में, जिसमें विभिन्न प्रकार के परस्परविरोधी तथा गैरपरस्परविरोधी विरोधाभासों की अटकलों की संश्लिष्ट, पूर्वप्रदत्त, पूर्वसंकल्पित धारणाओं का मानचित्रीकरण किया गया है।

अल्थूसर की 'सैद्धान्तिक उत्पादन की प्रक्रिया' में माओवादी 'कच्चे माल' पर काम किया गया है। इससे जिस परिष्कार का प्रस्ताव उभरकर आता है उसे सामाजिक जीवन के विभिन्न स्तरों को 'अर्द्ध स्वायत्तता' देने के नारे और तत्सम्बन्धी समस्याओं के जरिए सम्प्रेषित किया जा सकता है। (इस समस्या की चर्चा हमने आरम्भ में ही की थी) यह फार्मूला दो स्तरों पर संघर्ष को जन्म देगा : एक तरफ सत्ता के अद्वैतवाद या स्तालिनवाद की 'अभिव्यक्तिगत दुर्घटना' के विरुद्ध, जिसमें 'स्तरों' की शिनाख्त की जाती है, उनका अन्तर्मिश्रण किया जाता है और उन्हें निर्ममतापूर्वक एक-दूसरे में ठूँस दिया जाता है। (आर्थिक उत्पादन में परिवर्तन राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन 'के बराबर' ही होगा) और दूसरी तरफ बुर्जूआ अवाँ गार्द दर्शन के विरुद्ध जिन्हें समग्रता की आवयविक अवधारणा का ऐसा प्रत्याख्यान अत्यन्त अनुकूल लगता है लेकिन जो इससे नीत्शेवादी विषमता के मार्क्सवाद विरोधी या उत्तरमार्क्सवादी निष्कर्ष निकालते हैं। विभिन्न स्तरों की अर्द्धस्वायत्तता के उदाहरण या राज्यसत्ता की गतिकी के राजनीतिक उदाहरण भयंकर गूँज पैदा करेंगे (निकोस पाउनलेजाम के काम में सर्वाधिक) क्योंकि इससे युद्ध के बाद नौकरशाही की अन्धाधुन्ध वृद्धि का बोध होता है और इसके सैद्धान्तीकरण की कोशिश दिखाई देती है। इससे राजतन्त्र को बड़े व्यापारिक घरानों की चाकरी में लगे रहने के लिए किसी भी शास्त्रीय या बन्धनकारी कार्यशैली से 'आपेक्षिक स्वायत्तता' मिलती दिखाई देती है, साथ ही इससे सरकारी कर्मचारियों या सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों द्वारा पेश बेहद सक्रिय नए राजनीतिक संघर्ष की भी झलक मिलती है। इस सिद्धान्त का उपयोग सांस्कृतिक क्षेत्र में भी अर्द्धस्वायत्तता दिए जाने की अपील के रूप में हो सकता है, ख़ासकर सांस्कृतिक राजनीति को छूट दिए जाने के लिए जिसकी सीमा मई 68 के 'फेस्टीवल' में गोदार की फिल्मों 'सिचुएशनिस्मे' से लेकर वहाँ हुए हिप्पी आन्दोलन तक जाती है। (शायद आतंकवाद के वे नए रूप भी इसमें आ जाएँ जिनका उद्देश्य राज्यसत्ता पर कब्जा करना नहीं बल्कि एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षाप्रद और सूचनाप्रद प्रदर्शन-भर करना होता है, मसलन "राज्य को अपनी बुनियादी फासिस्ट प्रकृति को उजागर करने पर बाध्य करना")

लेकिन फिर भी एक तरफ छोटे स्तरों पर अर्द्धस्वायत्तता प्रदान करने की और दूसरी तरफ किसी 'संरचनागत सम्पूर्णता' की ख़ातिर उनमें एकता बनाए रखने की कोशिश करना (जो कि अब भी आर्थिक कारकों के निर्धारक होने का शास्त्रीय मार्क्सवादी दृष्टिकोण है) अपने ही संवेग की चपेट में आ जाना है, क्योंकि सम्पूर्णता की केन्द्रापसारी आलोचना भी इसने खुद पैदा की है, और यह स्वविनाश तक जा सकता है। (हिन्हेस और हिर्स्ट के मामले में सर्वाधिक नाटकीय रूप में) इससे जो उभरकर आएगा वह मात्र स्तरों की विषमता नहीं होगा बल्कि आगे चलकर अर्द्धस्वायत्तता पूर्णस्वायत्तता में बदल जाएगी और सोचा जा सकता है कि वृद्ध पूँजीवाद की शीजोफर्निक दुनिया में यह भी हो सकता है कि एक स्तर का दूसरे से किसी तरह का कोई सम्बन्ध ही न रहे। इससे भी ज़्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसा विचार भी उभरकर आ सकता है कि इनमें से हर स्तर का संघर्ष अलग-अलग है और उनका परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होना कतई आवश्यक नहीं है। (शुद्ध राजनीतिक संघर्ष, शुद्ध आर्थिक संघर्ष, शुद्ध सांस्कृतिक संघर्ष, शुद्ध सैद्धान्तिक संघर्ष ! !) अल्थूसियन उपकरण के इस तरह पूरी तरह पिघल जाने से हम (आजकल) लघु दलों और माइक्रो संघर्षों के दौर में पहुँच गए हैं। इसे कई तरह से स्थानीय या आणविक राजनीति के रूप में सिद्धान्तीकृत करने की कोशिश की जाती है लेकिन इन सैद्धान्तीकरणों में जो भी अन्तर हो, हम अच्छी तरह पहचान सकते हैं कि यह पुराने फैशन की समग्रतावादी वर्गीय या दलीय राजनीति का परित्याग है। इसका स्पष्ट सारांश महिला आन्दोलन प्रस्तुत करता है जिसकी अनूठी नई रणनीतियाँ और चिन्ताएँ अनेक पुरानी और शास्त्रीय 'सार्वजनिक' या 'आधिकारिक' राजनीतिक कार्रवाई को, जिनमें चुनाव की राजनीति भी शामिल है, उलाँघ जाती हैं। कुछ मामलों में तो यह पुरानी पद्धतियों को अपर्याप्त और बेकार भी बताती हैं। फ्रांसीसी जारीवाद में 'सिद्धान्त' के परित्याग को 'जान से सत्ता' के नाम पर एक मरदाना कार्रवाई माना जाता है। (ख़ासतौर पर लूस इरिगेरी का काम देखें) इसे 'दर्शन के विलुप्त हो जाने' का अन्तिम और निर्णायक क्षण माना जा सकता है।

लेकिन अल्थूसरवाद के घनत्व को मापने का एक और भी तरीका है। यह छठे दशक में सांस्कृतिक क्षेत्र में रूपान्तर की हमारी चर्चा से भी जुड़ जाएगा। यह इस सम्पूर्ण अवधि में 'दर्शन' के स्थान पर 'सिद्धान्त' के नारे के महत्त्व से भी जुड़ा होगा। प्रतीकात्मकता की 'खोज', इसकी सैद्धान्तिकी के भाषाविज्ञानपरक विकास (उदाहरण के लिए यह विचार कि समझ अनिवार्य रूप से एक विवरणात्मक प्रक्रिया है जो अपेक्षया अनैतिहासिक 'संरचनाओं' के निर्माण को प्रोत्साहित करती है। यह एक बार अल्थूसर ने भी कहा था) को प्रतीकात्मकता के व्यवहार में अन्तर से जोड़कर देखना होगा, 'संरचनावादी' पसन्द के हिसाब से खुद भाषा के साथ भी, जिसमें इसे किसी ख़ास पारम्परिक अनुशासन में किए गए काम की बजाय 'सिद्धान्त' कहा जा रहा है। इस विकास या परिवर्तन के दो पहलुओं पर जोर देना जरूरी है। पहला दार्शनिक ग्रन्थों के शास्त्रीय प्रतिष्ठा खंड के संकट या विलोप का परिणाम है जो दर्शन के एक अनुशासन या संस्था के रूप में चुनौती देने से पैदा होता है। आगे से 'दार्शनिक' लेखन विषय पर दर्शन की परम्परा में गहन चिन्तन और विचार-मन्थन या वाद-विवाद के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाएगा। इसका अर्थ यह है कि इसका बुनियादी 'अन्तर्पाठीय' सन्दर्भ यादृच्छिक हो जाएगा, एक तदर्थ शास्त्रसमूह जो हर नए पाठ के साथ बनता अथवा मिट जाता है। नया पाठ अनिवार्य रूप से अन्य पाठों की टीका होना चाहिए (बेशक और कुछ नहीं तो अन्य पाठों की व्याख्या, पुनर्लेखन और नए तरीकों से अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने की विवशता तो इससे बढ़ेगी ही) फिर भी वे पाठ जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न अनुशासनों से लिए जाएँगे (जैसे नृतत्वशास्त्र, मनोरोगविज्ञान, साहित्य, विज्ञान का इतिहास आदि) उनका चुनाव मनमाने ढंग से किया जाएगा। एंटोनिन आरनोल्ड की बगल में ममफोर्ड, कांट की बगल में साद, सुकरातपूर्व दर्शन, राष्ट्रपति श्रेवर, मेरिसब्लेन्को का कोई उपन्यास, मंगोलिया के बारे में ओवनलेटीमोर और अठारहवीं सदी के ढेर सारे दुर्बोध लेटिन चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थ ! किसी समय जिसे 'दर्शन' कहा जाता था उसकी इसी तरह पुनर्रचना की गई है और उसे विस्थापित कर दिया गया है, क्योंकि अब दार्शनिक समस्याओं की कोई परम्परा नहीं है जिसके अनुसार नई अवस्थिति या वक्तव्य को प्रस्तावित किया जा सके। ऐसे कार्यों का झुकाव अब जिस ओर है उसे अधिदर्शन कहा जा सकता है। यह एक बहुत भिन्न कार्य है। यह पूर्वप्रदत्त, पहले से बनी श्रेणियों या पद्धतियों की शृंखला का मात्र समन्वयन है। यह पूर्वनिर्मिततदर्थ सन्दर्भकार्यों के पुंज से बने विमर्शों से इसी फैशन के नए विमर्श बनाना है। इस तरह दर्शन सर्वथा प्रसंगाश्रयी हो जाता है, इसे 'इस्तेमाल करो और फेंको' कहने की इच्छा होगी। यह एक अधिपुस्तक का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पादन है जिसकी जगह अगले मौसम में दूसरी ऐसी ही अधिपुस्तक ले लेगी। इसमें किसी महान 'सत्य' से संयुक्त प्रभाव, अवस्थिति या प्रणाली को अभिव्यक्त करने की अभिलाषा नहीं है। (इसका प्रत्यक्ष सादृश्य आजकल आ रहे साहित्यिक और सांस्कृतिक अध्ययनों में पाया जा सकता है, जिसमें अपनी ही महान परम्परा से विच्छेद का संकट साफ देखा जा सकता है—इसमें से अन्तिम को कभी के उच्च आधुनिकता के अक्खड़ मास्टरपीसेज़ को शामिल कर संवर्द्धित किया गया है—इसकी हम अगले अध्याय में विस्तार से चर्चा करेंगे।

इस सबको एक और तरीके से भी समझा जा सकता है। और वह तरीका है समकालीन सिद्धान्त के एक और महत्त्वपूर्ण पहलू—प्रतिनिधित्व की आलोचना—के प्रभावों का अध्ययन। पारम्परिक दर्शन को भी अब उसी के अनुसार प्रतिनिधित्व के अभ्यास के रूप में समझना होगा जिसमें कोई दार्शनिक पाठ या पद्धति (गुमराह होकर) अपने सिवा किसी और चीज़ का प्रतिनिधित्व करने की कोशिश करती है। और यह कोई और चीज़ है सत्य या अर्थ (जो कि अब पद्धति के अभिव्यंजक के लिए 'अभिव्यंजित' बन जाता है) लेकिन फिर भी यदि प्रतिनिधित्व का पूरा सौन्दर्यशास्त्र आधिभौतिक और विचारधारात्मक है तो दार्शनिक विमर्श इस अनुशासन में अँट नहीं सकता और अन्ततः यह पाठों की अनन्त शृंखला में एक और पाठ की तरह जुड़ भर जाएगा। (जरूरी नहीं कि सारे पाठ मौलिक या शाब्दिक ही हों। दैनिक जीवन भी एक पाठ है, वेशभूषा भी एक पाठ है, राज्यसत्ता भी एक पाठ है। पूरा बाह्यजगत जिसके 'अर्थ' या 'सत्य' को जानने का कभी दावा किया जाता था और जिसे अब तिरस्कारपूर्वक सन्दर्भ का विभ्रम बताया जाता है, वह दरअसल हर प्रकार के पाठ की अनिर्धारित सर्वोच्च स्थानिकता है) और जहाँ से दर्शन और सिद्धान्त के क्षेत्र में इस्तेमाल किए जानेवाले आजकल के फैशनेबल मुहावरे 'भौतिकवाद' का महत्त्व स्थापित होता है। यहाँ भौतिकवाद का मतलब विचार या धारणा के रूप में ग्रहण किए गए 'अर्थ' या 'अभिव्यंजना' पर सम्पूर्ण अविश्वास है। क्योंकि ये अपनी भाषिक अभिव्यक्ति से भिन्न अर्थ में ग्रहण किए गए हैं। इस मामले में 'भौतिकवादी' दर्शन चाहे जितना विरोधाभासपूर्ण हो, 'भाषा का भौतिकवादी सिद्धान्त' स्पष्टतः 'सिद्धान्त' के प्रकार्य और प्रचलन तक को रूपांतरित कर देगा, क्योंकि यह एक ऐसी गतिकी आरम्भ कर रहा है जिसमें विचार नहीं अपितु पाठों, भौतिक पाठों का आपसी द्वन्द्व होगा। इस तरह परिभाषित सिद्धान्त (और यह तो अब तक स्पष्ट हो ही गया होगा कि जिसे कभी दर्शन और उसका विशिष्ट कथ्य कहा जाता था उसका स्थान इस 'सिद्धान्त' ने ले लिया है) सत्य की खोज और भ्रमों के निवारण को अपना काम नहीं मानता। यह अपना काम मानता है शुद्ध भाषिक सूत्रीकरणों सम्बन्धी संघर्ष को, ऐसी शाब्दिक प्रतिज्ञप्ति (भौतिक भाषा) बनाने की कोशिश करना जिससे अवांछित या विचारधारागत परिणाम न निकाले जा सकें। क्योंकि ज़ाहिर है ऐसे प्रयत्नों की सफलता असम्भव है, जो कुछ इस सिद्धान्त की अनुपालना या अनुगमन से निकलता है वह है शास्त्रीय स्थापनाओं के भौतिक टीकाकारों में एक अनवरत गुरिल्ला युद्ध। और इस युद्ध की शक्ल में विचारधारा की आलोचना पर हिंसक और आविष्ट वापसी। यह 1967-68 के दौरान स्वयं अल्थूसरवाद में ही अत्यन्त नाटकीय ढंग से स्पष्ट हो गया था। दर्शन के भौतिक व्यवहार में रूपान्तरण को इस अवधि में संस्कृति के सर्वव्यापी उत्परिवर्तन के सन्दर्भ में ही पूरी तरह समझा जा सकता है। यह एक ऐसा सन्दर्भ है जिसमें 'सिद्धान्त' को सामान्यतया उत्तरआधुनिकतावाद का एक विशिष्ट (या अर्द्धस्वायत्त) रूप माना जाने लगा था।

5. संकेत के उत्पात

छठे दशक में संस्कृति के साथ जो हुआ उसे समझने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण संघार है लेकिन इस अत्यन्त विवादास्पद अवधारणा पर विस्तृत चर्चा यहाँ सम्भव नहीं है। ऐसी चर्चा के लिए उत्तरसंरचनावाद के कथ्य, विषय की 'मृत्यु' (रचनात्मक विषय या जीनियस सहित), **संस्कृति की प्रतिकृति** की प्रकृति और प्रकार्य (प्लेटो से प्रेरित होकर डिल्यूज़ और बॉद्रिला द्वारा विकसित एक विचार) जिसमें वस्तुजगत की पुनर्उत्पादिता की विशिष्टता सम्प्रेषित करने की कोशिश की गई है। और इसका 'चमत्कारों के समाज' (डेबोर्ड) में मीडिया संस्कृति के साथ सम्बन्ध दिखाने की भी। ये सम्बन्ध दो प्रकार के हैं। पहला छवि, 'माल' या जिसे और ठीक से कहें तो 'वास्तविक' का नया असाधारण दर्जा : सूचक : वह मालपन या वास्तविकता जिसमें से माध्यम की पुरानी इन्द्रियगम्य समृद्धि निकाल दी गई हो (वैसे ही जैसे द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध के दूसरी तरफ, विषय की पुरानी वैयक्तिकता और उसके ब्रशस्ट्रोक्स भी मिटा दिए गए हों)। और दूसरा काम की समृद्धि में पाठालोचन के सौन्दर्यशास्त्र का उभरना—जिसे अक्सर शीज़ोफ्रीनिक समय कहा जाता है : जो कि हर प्रकार की गहराई, विशेषकर ऐतिहासिकता पर ग्रहण है और जिसमें से धीरे-धीरे एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खिचड़ी और नॉस्टेल्जिक कला उभरकर आती है, साथ ही दर्शन के सहवर्ती तलस्पर्शी मॉडलों का प्रतिस्थापन (विभिन्न प्रकार के भाष्यविज्ञान, साथ ही प्रगट व अप्रगट स्तरों के दमन की फ्रायडीय अवधारणा)

इस प्रकार के चरित्रचित्रण के विरुद्ध सामान्यतया यह आपत्ति होती है कि ये सारे तत्व तो इस या उस प्रकार के उच्चआधुनिकतावाद में हर कहीं देखे जा सकते हैं। बेशक उत्तरआधुनिकता को चिन्हित करने में एक दिक्कत यह भी आती है कि उसमें एक का दूसरे के साथ प्रतीकात्मक या उपजीवी जैसा सम्बन्ध होता है। इसका परिणाम यह होता है कि जो उत्तरआधुनिकतावाद अब तक सनसनीखेज, कुरूप, नैतिक चेतना से शून्य, समाजविरोधी और बोहेमियन था और जो मध्यवर्गों के लिए आक्रामक था, शास्त्र बनते ही उच्च संस्कृति के रूप में पदोन्नत हो गया। इससे भी महत्त्वपूर्ण यह कि शिक्षण संस्थाओं में प्रतिष्ठित होते ही उत्तरआधुनिकतावाद उन कलाकारों के लिए रचनात्मक स्पेस पैदा करने का तरीका बन गया जो अब तक व्यंग्य, संश्लिष्टता, अस्पष्टता, सघन अल्पकालिकता और ख़ासकर सौन्दर्यशास्त्रीय और स्वप्नजीवी चिरस्थायित्व जैसी प्रमुख आधुनिकतावादी श्रेणियों से पीड़ित थे। समतुल्यता की दृष्टि से कहा जा सकता है कि उच्च-आधुनिकतावाद ने भी इसी तरह अपने पूर्ववर्ती यथार्थवाद से स्वायत्तता प्राप्त की थी। (प्रतीकात्मक भाषा, शास्त्रीय अथवा बाज़ारी पूँजीवाद के प्रतिनिधित्व की पद्धति)। लेकिन दोनों में एक अन्तर है। यथार्थवाद खुद कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों से गुजरा : यह प्रकृतवाद बना और इसने एकदम मास कल्चर के प्रातिनिधिक रूप पैदा कर दिए। (आख्यान का समकालीन उपकरण बेस्ट सेलर प्रकृतवाद का ही आविष्कार है और यह फ्रांस के सांस्कृतिक निर्यात का आश्चर्यजनक रूप से सर्वाधिक सफल हिस्सा है) उच्चआधुनिकता और मास कल्चर द्वन्द्वात्मक विरोध और अन्तर्सम्बन्धित स्वरूप में विकसित होते हैं। इन दोनों के विरोध का विलोप और उच्चआधुनिकता तथा मास कल्चर के रूपों का नया सम्मिश्रण ही उत्तरआधुनिकता की पहचान बनाता है।

अतः उत्तरआधुनिकता की ऐतिहासिक विशिष्टता संस्कृति की स्वयं की सामाजिक प्रकार्यता के सन्दर्भ में ही समझी जा सकती है। जैसा कि ऊपर कहा गया, उच्चआधुनिकता—उसका प्रगट राजनीतिक कथ्य चाहे जो हो—मध्यवर्गीय विक्टोरियन या विषयासक्त या मुलम्माचढ़ी संस्कृति के मध्य विरोध में या हाशिए पर ही थीं। हालाँकि उत्तरआधुनिकता भी इन सभी मामलों में समान रूप से आक्रामक है (पंक रॉक या पोर्नोग्राफ़ी को याद करें) लेकिन यह उस अर्थ में 'विरोध' में खड़ी चीज़ हर्गिज़ नहीं है। वास्तव में तो यह उपभोक्ता समाज का प्रभुत्वपूर्ण और प्रमुख सौन्दर्यबोध है और ख़ास बात यह है कि यह उपभोक्ता समाज के वस्तु उत्पादन में नए रूपों और फैशनों की वास्तविक प्रयोगशाला का काम देता है।

उत्तरआधुनिकता को एक कालावधिकारक श्रेणी के रूप में देखा जाना चाहिए। इस तर्क का आधार यह धारणा है कि यदि ऊपर गिनाए सभी लक्षण पुरानी उच्चआधुनिकता में होते तो भी जैसे ही वह सांस्कृतिक रूप से प्रभुत्वशाली बनती और उसका एक समाजार्थिक प्रकार्य निश्चित हो जाता, लक्षणों का महत्त्व बदल जाता। इस बिन्दु पर अपने विवरण की शब्दावली या 'संकेत' को बदलकर प्रकटतः अधिक पारम्परिक सांस्कृतिक 'क्षेत्र' वाली शब्दावली में आ जाना ठीक रहेगा। सांस्कृतिक क्षेत्र की अवधारणा हर्बर्ट मारकूस ने अपने महान निबन्ध 'संस्कृति का सकारात्मक चरित्र' (1937) में विकसित की थी जो मेरी दृष्टि में उनका सबसे महत्त्वपूर्ण काम है। (यहाँ यह जोड़ना ज़रूरी है कि 'जन क्षेत्र' (पब्लिक स्फीयर) की अवधारणा जर्मनी में एकदम समकालीन अवधारणा है जिसे हेबरमास तथा नेट व क्लूग के कामों में देखा जा सकता है, जहाँ श्रेणियों की ऐसी प्रणाली फ्रांस के उत्तरसंरचनावाद में आए 'स्तर' और 'उदाहरण' जैसे कूट संकेतों के रोचक विरोध में खड़ी दिखाई देती है)। इसमें मारकूस शास्त्रीय (जर्मन) सौन्दर्यशास्त्र के विरोधाभासपूर्ण द्वन्द्व को दोहराता है जिसे एक नाटक और 'निरुद्देश्य उद्देश्यपूर्णता' के रूप में पेश किया जाता है। यह धन और व्यापार की गतिविधियों वाले अनुभवसिद्ध नीच संसार के परे सौन्दर्य और संस्कृति का एक कल्पनालोक है। अपनी भर्त्सना-क्षमता के कारण, अपने होने मात्र के कारण और जो है उसमें किसी भी प्रकार के सामाजिक या राजनीतिक हस्तक्षेप के लिए नाकारा हो जाने के कारण और समाज तथा इतिहास से संगठनात्मक विलगाव या स्वायत्तता के कारण इसने बड़ी सख़्त आलोचना और नकारात्मक मूल्यवत्ता अर्जित की।

इसलिए प्रतीक भाषा में कहें तो खाता पिछले अध्याय में वर्णित स्वायत्तता या अर्द्धस्वायत्तता की समस्यामूलकता के साथ खुलता है। लेकिन मारकूस के द्वन्द्व का इतिहासीकरण करने के लिए हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि हमारे समय में सांस्कृतिक क्षेत्र (या स्तर) की स्वायत्तता की सम्भावना भी संशोधन की प्रक्रिया में हो सकती है। और इसके लिए हमें वे साधन भी विकसित करने होंगे जिनके अन्तर्गत हम इन सम्भावित संशोधनों की प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत कर सकें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इससे भी पहले हमें उस पिछली प्रक्रिया का भी विवरण देना होगा जिसके तहत संस्कृति 'स्वायत्त' या 'अर्द्धस्वायत्त' हुई थी।

इसके लिए हमें एक और (असम्बद्ध) विश्लेषक कूट संकेत की शरण लेना पड़ेगी। इससे आज हम सामान्यतया परिचित हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध अब शास्त्रीय बन चुकी संरचनात्मक अवधारणा 'चिन्ह' से है, और इसके दो भाग हैं—विश्लेषक (वाहक वस्तु या छवि-ध्वनि या मुद्रित शब्द) और विश्लेषित (मानसिक प्रतिच्छवि, अर्थ या 'अवधारणात्मक' वस्तु) और तीसरा भाग है—चिन्ह का बाह्य विषय, इसका सन्दर्भ या 'सन्दर्भित'—जिसे आगे के लिए इकाई से बाहर निकाल दिया गया है लेकिन फिर भी जिसके परिणाम भूत की तरह इसका पीछा कर रहे हैं (विभ्रम या विचारधारा !) चिन्ह की इस अवधारणा का वैज्ञानिक मूल्य एक विशेष सन्दर्भ में ही हम यहाँ विश्लेषित करेंगे क्योंकि हमारा उद्देश्य एक तरफ इसका इतिहासीकरण करना है, इस अवधि में विकास की अवधारणात्मक लक्षणा के रूप में प्रतिपादित करना है, और दूसरी तरफ इसे 'गति देना' है ताकि देखा जा सके कि इसके भीतरी ढाँचे में हुए परिवर्तनों से सामान्यतया इस अवधि में सांस्कृतिक क्षेत्र में हुए परिवर्तनों का कोई सूक्ष्म संकेत, कोई इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम मिल सकता है या नहीं !

चिन्ह की नई संरचनात्मक अवधारणा में 'सम्भाव्यता की शर्तें' के अन्तर्गत विश्लेषित की नियति के माध्यम से ऐसे परिवर्तनों की सम्भावना पहले ही व्यक्त की जा चुकी है। (लेकिन यहाँ एक महत्त्वपूर्ण द्वैध पर ध्यान देना जरूरी है। चिन्ह के सिद्धान्तकार पहले तो 'वास्तविक' विषय को विश्लेषक और विश्लेषित के एकक से बाहर बताते हैं और फिर शरारतपूर्ण तरीके से एक ऐसी स्थिति में जा खड़े होते हैं जिसमें स्वयं विश्लेषित या अर्थ या विचार या वस्तु की अवधारणा किसी-न-किसी तरह सन्दर्भित से एकाकार हो जाती है और उसके साथ स्वयं भी कलंकित हो जाती है। आगे हम इस पर और विचार करेंगे।)

लक्षण वैज्ञानिक क्रान्ति के उदयकाल में सोसाँ विश्लेषक और विश्लेषित के सम्बन्ध को एक काल की दो पुश्तों—आगे और पीछे—की तरह बयान करना पसन्द करता था। इसके तार्किक विकास के रूप में बोर्जेस 'प्रतिनिधित्व' को खींचकर इस सीमा तक ले गया कि मानो यह एक नक्शा हो, इतना सूक्ष्मतापूर्ण और निर्देशात्मक कि वह अपने विषय से एकाकार हो जाए। तो अब संरचनावाद के श्रेष्ठ प्रतीक मोबियस स्ट्रिप के लिए ज़मीन तैयार है जिसने स्वयं को विश्लेषित से पूरी तरह मुक्त कर पाने में सफलता प्राप्त की और इस तरह शून्य में मुक्तभाव से तैरता एक समापन बन गया, एक प्रकार की चरम आत्मसन्दर्भिता और स्वपरिक्रमण जिसमें से हर प्रकार के बचे-खुचे सन्दर्भ या बाह्यता को बलात बाहर निकाल दिया गया हो।

थोड़ा अधिक उदारतापूर्वक विचार करें तो मेरा ख़्याल है कि यह प्रक्रिया जो चिन्ह की आन्तरिक प्रक्रिया दिखाई दे रही है, इसे समझने के लिए एक पूरक व्याख्यापरक कूट संकेत की आवश्यकता है। और यह है पूँजी के खुद के तर्क के साथ मूर्तिकरण और विखंडन की सार्वभौम प्रक्रिया। लेकिन जो भी हो, उसी की शर्तों पर देखें तो चिन्ह का आन्तरिक आलोड़न सामान्यतया संस्कृति के रूपान्तर की प्रक्रिया का उपयोगी आरम्भिक संकेत है जो कि किसी प्रथम क्षण में (मारकूस द्वारा वर्णित) 'सन्दर्भित' यानी वर्तमान सामाजिक और ऐतिहासिक विश्व से अलग होकर छठे दशक के बादवाले दौर में वह हो गया होगा जिसे यहाँ उत्तरआधुनिकतावाद कहा जा रहा है, और बाद में किसी नए और उच्च मुक्त संचरणकामी स्वसन्दर्भित 'स्वायत्तता' के रूप में विकसित हो गया होगा।

अब समस्या फिर इसी 'स्वायत्तता' की तरफ मुड़ती है। स्वायत्तता के साथ उसकी विरोधाभासपूर्ण अल्थूसरवादी संशोधित धारणा 'अर्द्धस्वायत्तता' भी जुड़ी हुई है। विरोधाभास यह है कि एक 'स्वायत्त' इकाई के रूप में चिन्ह 'सन्दर्भित' से मुक्त क्षेत्र में रहते हुए अपनी आरम्भिक स्वायत्तता और उससे अपेक्षित एकात्मता और सुसंगति तभी बनाए रख सकता है जब वह सन्दर्भ का एक भूत ज़िन्दा रखे जो उसे अपने खुद से बाहर की या बाह्य जगत की याद दिलाता रहे, क्योंकि इसी से उसका संकुचन, आत्मपरिभाषा और एक अनिवार्य सीमारेखा बनी रह सकती है। स्वयं मारकूस की उत्पीड़ित द्वन्द्वात्मकता इसे बड़े नाटकीय तरीके से एक अजीब से दोलन के रूप में अभिव्यक्त करती है जिसमें सौन्दर्य और संस्कृति का उसका स्वायत्त संसार 'वास्तविक संसार' में लौटता है, उसका मूल्यांकन और निषेध करने, और ठीक इसी समय वह वास्तविक संसार से अपने आपको पूरी तरह विलग भी करता है ताकि मात्र कल्पनालोक, मात्र विभ्रमस्थली, नपुंसक 'आदर्श', असीम इत्यादि बन जाए।

सर्वाधिक विशिष्ट सांस्कृतिक उत्पादनों में भी चिन्ह के खेल के प्रथम क्षण इतने उलझाव भरे हैं कि उनसे किसी ठोस या सुनियोजित निदर्शन की अपेक्षा नहीं की जा सकती। शायद फ्रांसीसी Noijveau Roman में इसे साफ देखा जा सकता है। (ख़ासकर रोब्बे ग्रिले के खुद के उपन्यासों में) जिसने छठे दशक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शुरुआत में आख्यानात्मक अंशों के रूपान्तरों के माध्यम से प्रतिनिधित्व का महत्त्व घटाकर और फिर भी उसके लिए प्यास जगाकर उसकी पुष्टि की थी और इस तरह अपनी एक नई भाषा स्थापित कर ली थी।

फिर भी चूँकि कोई अमेरिकी उदाहरण ज़्यादा समीचीन लगता है, इससे लगभग मिलती-जुलती चीज़ अमेरिकी कविता की उच्चआधुनिकता के अन्तिम और शास्त्रीय रूप में देखी जा सकती है। यह है वालेस स्टीवन्स की कविता। वालेस स्टीवन्स की मृत्यु 1956 में हो गई थी। इसके अगले ही वर्ष उसे किसी इलियट या किसी पाउंड के अशुद्ध (पढ़िए—विचारधारात्मक और राजनीतिक) काम के स्थान पर विश्वविद्यालय में काव्य-भाषा की सर्वश्रेष्ठ और शुद्धतर उपलब्धि के रूप में संस्थापित कर दिया गया। इसे छठे दशक के शुरुआत की सांस्कृतिक 'घटना' माना जा सकता है। जैसा कि अपनी पुस्तक 'आफ्टर द न्यू क्रिटिसिज़्म' में फ्रेंक लेंट्रीशिया ने दिखाया है, इस प्रमुख और नियामक भूमिका के लिए स्टीवन्स के काव्यात्मक उत्पादन की सेवाक्षमता बहुत हद तक उसकी कविता में काव्यसिद्धान्त और काव्याभ्यास के बढ़ते सम्मिश्रण पर निर्भर करती है।

यह कभी ख़त्म न होनेवाले विस्तार की कविता
कविता के सिद्धान्त की परिचायक है
जैसे कि कविता का जीवन...

इसलिए स्टीवन्स की कविता सौन्दर्यबोध और सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धान्त का सम्पूर्ति बिन्दु है और इस सिद्धान्त का अनुकरणीय उदाहरण भी। यह सिद्धान्त ऊपर चर्चित सांस्कृतिक क्षेत्र की स्वायत्तता से पूरी तरह मेल खाता है। यह कविकल्पना की सर्वोच्च सत्ता को अपने द्वारा निर्मित 'यथार्थ' से भी ज़्यादा मूल्यवान मानता है। इसलिए स्टीवन्स का काम एक असाधारण प्रयोगशालात्मक परिस्थिति उपलब्ध कराता है जिसमें प्रक्रिया के रूप में संस्कृति के स्वायत्तीकरण का सूक्ष्म अवलोकन किया जा सकता है। स्टीवन्स के विकास की गहन परीक्षा (यहाँ हमारे पास इसके लिए स्थान नहीं है) से पता चलेगा कि किस तरह आरम्भिक 'की ओर प्रवृत्त' या 'को ध्यान में रखते हुए', कवि का प्रस्थान बिन्दु, उसके महान पूर्वचेतन स्टीरियोटाइप की हलचल एक विराट भीतरी दुनिया के द्वार खोल देती है जिसमें धीरे-धीरे वस्तुओं की छवियाँ और उनसे सम्बद्ध विचार वास्तविक वस्तुओं का स्थान ले लेते हैं। फिर भी जो चीज़ स्टीवन्स को दूसरों से अलग करती है वह है उसका सुव्यवस्थित होना, उसमें कॉस्मिक विरोधों की एक सम्पूर्ण शृंखला की हलचल, जो इतनी संश्लिष्ट है कि उसे 'संरचनावादी' दोहरे विरोधों की योजना में नहीं अंटाया जा सकता। फिर भी जिसकी आत्मा उन्हीं के समान है और किसी तरह मस्तिष्क के पूर्वप्रदत्त प्रतीकात्मक स्वरूप के अनुरूप है और जिसकी खोज केवल 'कवि कल्पना' की धैर्यपूर्ण तलाश द्वारा ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में 'वस्तुगत आत्म' या 'वस्तुगत संस्कृति' के क्षेत्र में मुक्त मिलन की किसी उच्च शक्ति द्वारा ही इसका संधान सम्भव है। और गहरी परीक्षा से इस प्रक्रिया की रणनीतिगत सीमाएँ स्पष्ट होंगी। वस्तुओं के नामों के स्थान पर उनकी छवि या विचार को रखने की, और अन्त में जगहों के नाम जैसी चीजों की, जिन्हें न्यूनीकृत नहीं किया जा सकता, और इनमें भी विदेशी नामों का एक विशिष्ट प्रकार्य है (की वेस्ट, ओक्लाहोमा, युकातेन, जावा)...यहाँ काव्यात्मक 'समग्रता' स्वयं साम्राज्यवादी विश्वव्यवस्था की 'समग्रता' का अनुकरण करने लगती है या उसमें भुतहा सादृश्य खोजने लगती है। इसमें तीसरी दुनिया हालाँकि हाशिए पर है, पर रणनीति की दृष्टि से उसका रहना ज़रूरी भी है। (ठीक वैसे ही जैसे अडोर्नो ने बताया कि कैसे थूनबर्ग के बारह टन के सिस्टम ने अनजाने में पूँजी की 'समग्रव्यवस्था' का औपचारिक प्रतिरूप निर्मित किया) मस्तिष्क में विश्वव्यवस्था की 'वास्तविक' समग्रता की अचेतन पुनर्निमिति ही संस्कृति को एक बन्द और स्वतःसम्पूर्ण 'व्यवस्था' के रूप में पृथक हो जाने की छूट देती है। पुनरावृत्ति और इसी के साथ-साथ यथार्थ से ऊपर उठकर तैरना। यह एक ऐसा आवेग है जिसे उच्चआधुनिकता के अधिकांश महानों में पाया जा सकता है। इसे वास्तुशिल्पीय आधुनिकता की ताज़ा आलोचना में, ख़ासकर अन्तर्राष्ट्रीय शैली की आलोचना में जिसके महान स्मारक वे स्वयं हैं, स्पष्ट दिखाया गया है। इसे अपने चारों तरफ के एक उजाड़ शहर के मुकाबले रूपान्तरण की एक यूटोपीयन और आदिराजनीतिक भावना को बचाकर रखने के माध्यम से दर्शाया गया है, जैसा कि वेंचुरी में दिखाई देता है, लेकिन जो हमेशा अपने ही बारे में बोलने में और आत्मप्रदर्शन में सिमटकर रह जाता है। स्टीवन्स के पद्य का कोई भी गम्भीर पाठक उसमें भाषिक समृद्धि और प्रयोगात्मक खोखलेपन या दरिद्रता के अद्भुत सम्मिश्रण को देखकर हैरान हो जाएगा। (इस दरिद्रता का दोष स्टीवन्स में काव्यात्मक कल्पना की व्यक्तित्वहीनता और उसकी कविता में आए स्थैतिक पदार्थों पर उसके मननशील और ज्ञानमीमांसीय दृष्टिपात को भी दिया जा सकता है)

लेकिन यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उच्चआधुनिक आवेग को भी अपना औचित्य सिद्ध करने के लिए विचारधारा की ज़रूरत पड़ती है। वे इसके लिए उस विचारधारात्मक पूरक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सहारा लेते हैं जिसे सामान्यतया 'अस्तित्ववाद' कहा जा सकता है। (चरम आख्यान, अनिश्चित बाह्य जगत की निरर्थकता जो कल्पनाशीलता से मुक्त नहीं है, आदि) यह स्टीवन्स की कविता का सबसे उबाऊ और दयनीय पहलू है। फिर भी यह अन्य अस्तित्ववादों की तरह (मसलन नॉशिया में सार्त्र के पेड़ की जड़) बाह्य संसार की अनिश्चितता के साथ मारक संधि रेखा या जोड़ बनाने में असफल रहता है ताकि उसकी निरर्थकता स्थापित की जा सके, और मात्र नाटकीय भाषा से यह सम्भव नहीं हो पाता। स्टीवन्स से ज़्यादा यह कहीं स्पष्ट नहीं हो सकता कि एक कस्तूरा या एक देवदूत या स्वयं सूर्य की नजर में सन्दर्भ का अन्तिम अवशिष्ट बिन्दु, चाहे वह क्षितिज पर खड़े एक बौने के समान ही क्यों न हो, तब तक पूरी तरह गायब नहीं हो सकता जब तक काव्यरचना और कविकल्पना के पूरे कारोबार पर ही सवालिया निशान न लगा दिया जाए। इस तरह स्टीवन्स की कविता सांस्कृतिक क्षेत्र की 'स्वायत्तता' की अवधारणा के बुनियादी अन्तर्विरोध का एक उदाहरण बनकर सामने आती है। अन्तर्विरोध यह है कि चिन्ह केवल तभी स्वायत्त हो सकता है जब वह अर्द्धस्वायत्त रहे और सांस्कृतिक क्षेत्र वास्तविक संसार के विरुद्ध अपना चरमतत्व सिर्फ तभी प्राप्त कर सकता है जब उस बाह्य जगत से अपना सूक्ष्म सम्बन्ध बनाए रखे जिसकी वह प्रतिच्छाया है।

जब दूसरे ही क्षण हम इस तार्किक परिणति पर पहुँचते हैं कि सन्दर्भित का वास्तव में कोई अस्तित्व नहीं है, वह सिर्फ मिथ है तो इसकी पुनर्पुष्टि हो जाती है। इस दूसरे क्षण को अब तक उत्तरयथार्थवाद कहा जाता रहा है। इसका विस्तार Noijveau Roman से सॉलर्स या ख़ासकर शीज़ियोफ्रेनिक लेखन तक की यात्रा में या स्टीवन्स से लेकर जॉन एशबरी की प्रमुखता में देखा जा सकता है। यह नया क्षण एक मूलभूत विच्छेद है (इसे 1967 के आसपास स्थिर किया जा सकता है। इसका कारण बाद में बताया जाएगा) लेकिन समझना ज़रूरी है कि यह एक द्वन्द्वात्मक विच्छेद है, अर्थात् यह मात्रात्मक से गुणात्मक की ओर एक यात्रा है जिसमें वही बल एक ख़ास अक्ष की दहलीज़ पर पहुँचकर गुणात्मक रूप से सर्वथा भिन्न प्रभाव पैदा करने लगता है और ऐसा लगता है मानो वह एक सर्वथा नई प्रणाली विकसित कर रहा हो।

इस बल को मूर्तिकरण के रूप में वर्णित किया गया है लेकिन अब हम पहले इस्तेमाल की गई एक और अंकीय भाषा से इसका सम्बन्ध जोड़कर देख सकते हैं। एक पहले क्षण में 'मूर्तिकरण' ने चिन्ह को उसके सन्दर्भित से 'मुक्त' कर दिया, लेकिन यहीं इस बल को दंडित करके छोड़ा नहीं जा सकता। अब एक दूसरे क्षण में इसने अपना विघटनकारी कृत्य जारी रखा और स्वयं चिन्ह के भीतर पैठकर अभिव्यंजना को अभिव्यंजित से या अर्थ मात्र से मुक्त कर दिया। यह नाटक, जो अब मात्र संकेतों या चिन्हों का नाटक नहीं रहा है और जो अभिव्यंजना को अभिव्यंजित से या उसके भूतपूर्व अर्थ से उच्छेदित कर रहा है, अब सभी कलाओं में एक मूलपाठीयता पैदा करता है (और जैसा कि हमने ऊपर देखा, दर्शन में भी) और फिर यह किसी नई चरमभाषा की मरीचिका प्रस्तुत करने लगता है जिसमें मात्र शुद्ध अभिव्यंजना और अक्सर उससे जुड़े शीज़ियोफ्रेनिक विमर्श ही बचते हैं। (लेकेनियन सिद्धान्त के अनुसार शीज़ोफ्रेनिया एक भाषिक व्यतिक्रम है जिसमें व्याकरणसम्मत समय टूट जाता है और अपने पीछे खाली अभिव्यंजनाओं का एक सिलसिला, चिरस्थायी वर्तमान का एक चरम क्षण छोड़ जाता है। यह उत्तरआधुनिक मूलपाठवादी अभ्यास की एक प्रभावशाली व्याख्या और बेहतर औचित्य निरूपण है।)

उक्त विवरण को आज की सभी कलाओं में उत्तर-आधुनिकतावादी अनुभव के ठोस विश्लेषण द्वारा विस्तार से दर्शाना और पुष्ट करना होगा। लेकिन फिलहाल अपनी बात को इस दूसरे क्षण से प्रसूत निष्कर्षों की चर्चा के साथ समाप्त किया जा सकता है। प्रतिकृति या अभिव्यंजना की असंस्कृति स्वायत्तता की सारी समस्यामूलकता की जड़ में है। क्योंकि स्वायत्तता स्वयं उस जटिल प्रक्रिया से अछूती नहीं जिसके द्वारा शास्त्रीय चिन्ह का विलोपन हुआ है। यदि स्वायत्तता एक विडम्बनात्मक रूप में अर्द्धस्वायत्तता बने रहने पर निर्भर रहती है (अल्थूसर वाले अर्थ में) और बाह्य जगत से अपना सूक्ष्म सम्बन्ध बनाए रखना (या अल्थूसर की भाषा में विधिवत 'संरचित समग्रता' के साथ चरम एकात्मकता बनाए रखना) उसके लिए ज़रूरी बना रहता है, तो ज़ाहिर है कि इस नए सांस्कृतिक क्षण में संस्कृति की स्वायत्तता समाप्त हो जाती है और जब चरम सन्दर्भित का मानसिक गुब्बारा अन्तिम तौर पर फट जाता है तो चिन्हों का स्वायत्त खेल असम्भव हो जाता है। बीच हवा में चिन्ह का इस तरह क्षत हो जाना इस पूरे प्रपंच को एक अराजक और खंड-खंड सामाजिक यथार्थ के लोक में पहुँचा देता है : भाषा के टूटे हुए टुकड़े (शुद्ध अभिव्यंजना) फिर से विश्व में आ गिरते हैं जैसे कि इस टूटे हुए उपकरण का शेष कूड़ा-कचरा और उत्तरआधुनिकतावादी वृद्ध पूँजीवाद का 'कॉलेजसिटी' या 'उन्मत्त न्यूयॉर्क' संकट में पड़ जाता है।

लेकिन मारकूस की शब्दावली पर लौटें तो इस सबको एक और तरीके से भी बयान किया जा सकता है। कहा जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है कि एक स्वायत्त क्षेत्र या स्पेस के रूप में संस्कृति पर ग्रहण लगते ही संस्कृति फिर से दुनिया में उतरती है और इसका परिणाम संस्कृति का विलोप नहीं बल्कि उसका अपूर्व विस्तार होता है, और इस हद तक होता है कि संस्कृति सामाजिक जीवन के साथ एकाकार हो जाती है। अब सभी स्तर उत्संस्करित हो जाते हैं और प्रदर्शन, प्रतिबिम्ब या प्रतिकृति की दुनिया में अधिरचना से लगाकर अवसंरचना तक हर चीज़ सांस्कृतिक हो जाती है। यदि यह विकास आज की नई सांस्कृतिक राजनीति के नवग्राम्शीवादी प्रश्न को प्रमुखता से अपने एजेंडा पर रखता है—एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था में जिसमें संस्कृति और राजनीति, दोनों का दर्जा संरचना, प्रकार्य और व्यवहार रूप में भी बड़ी हद तक बदल चुका है—तो यह एक नई समस्यामूलकता प्रस्तुत करता है और जिसे वास्तव में 'संस्कृति' कहा जाता था और जिसके उपादान हमारे दैनिक जीवन का एक हिस्सा बन चुके हैं, उस पर भी और ज़्यादा गम्भीरता से विचार करने की माँग करता है।

6. सिएरा मेइस्त्रा में

आगामी खंड एक बहुत विशेषीकृत (या 'एलीट') क्षेत्र में एक सुदीर्घ यायावरी से ज़रा ही अधिक माना जाएगा, जब तक कि यह दिखा न दिया जाए कि उसमें अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मकता, लगभग प्रयोगशालानुमा स्थितियों की नकली सरलता में सामाजिक आचरण के बेहद भिन्न और दूरस्थ क्षेत्रों से अद्भुत साम्य या सादृश्य रखती है। 'जेनेटिक कोड' या सामान्य द्विवर्णी लय की यही वह प्रतिकृति है जिसे हम छठे दशक के दौरान तीसरी दुनिया के क्रान्तिकारी सिद्धान्त और आचरण की बेहद भिन्न वास्तविकताओं में नहीं देख पाएँगे।

शुरुआत से ही क्यूबा के अनुभव ने साबित कर दिया था कि वह अपनी तरह का एक अलग और अनूठा अनुभव है। क्रान्ति का एक नया प्रतिदर्श है। क्रान्ति के पारम्परिक रूपों से नितान्त भिन्न और नवीन। फोको सिद्धान्त चेग्वेवारा से जुड़ा हुआ था और इसका सैद्धान्तीकरण रेजिस देब्रे की प्रभावशाली पुस्तिका 'क्रान्ति में क्रान्ति' (1967) में हुआ था। इस बात पर जोर दिया गया था (जैसा कि पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है) कि यह पार्टी व्यवहार की पारम्परिक लेनिनवादी अवधारणा से अलग है और सत्ताप्राप्ति की दिशा में चीनी क्रान्ति के प्रथम चरण से भी अलग है। चीनी क्रान्ति का यह चरण आगे चलकर 'माओवाद' या चीन की एकदम अनूठी 'क्रान्ति में क्रान्ति' या महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति कहलाया और यह बाहरी विश्व को तब तक नहीं दिखाई दिया जब तक क्यूबाई रणनीति का भाग्य सुनिश्चित नहीं हो गया।

रेजिस देब्रे की पुस्तिका पढ़ने से पता चलता है कि क्रान्तिकारी दस्तोंवाली छापामार लड़ाई या गुरिल्ला युद्ध—जिसे अब तीसरी संज्ञा कहा जा सकता है, पहली परम्परा के वर्गसंघर्ष (बुर्जूआ या शासक वर्ग के विरुद्ध अनिवार्यतः शहरी सर्वहारा का संघर्ष) और दूसरी परम्परा के सामूहिक किसान आन्दोलन वाले चीनी अनुभव, जो अनिवार्यतः ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पन्न हुआ, दोनों से भिन्न और विशिष्ट था। (इसमें और उपनिवेशित तथा उपनिवेशक के बीच संघर्ष की फेननवादी अवधारणा के बीच भी बहुत कम समानता थी) फोको या गुरिल्ला कार्रवाई को न तो शहर की या शहर में माना जाता है न गाँव की या गाँव में। भौगोलिक रूप से बेशक इसका कार्यक्षेत्र देहात है लेकिन वह 'येनान क्षेत्र' की तरह कोई स्थायी रूप से 'मुक्त क्षेत्र' नहीं है जो कि जापानी घुसपैठियों या च्यांग काइशेक की शत्रु सेनाओं की पहुँच से परे हो। यह किसानों के उपजाऊ खेतों या जोते-बोए गए क्षेत्र में भी हर्गिज स्थित नहीं है, बल्कि यह सिएरा माइस्त्रा के तीसरे ही उजाड़ प्रदेश में है जिसे न शहर कहा जा सकता है न गाँव; वह कोई अलग ही चीज़ है जिसमें गुरिल्ला दस्ते बिखरे रहते हैं और गतिमान रहते हैं।

इस विलक्षणता के कारण क्यूबाई रणनीति की अलग स्थानीय पहचान बनती है और इसका क्रान्तिकारी आन्दोलनों में वर्गों की भूमिका के सैद्धान्तीकरण पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जैसे न शहर न गाँव, उसी तरह का एक विरोधाभास यह भी कि जो गुरिल्ला थे वे खुद भी न मजदूर थे न किसान (और बुद्धिजीवी तो और भी कम) बल्कि वे कुछ और ही थे, कुछ ऐसे जिनके लिए क्रान्तिपूर्व समाज में कोई निश्चित श्रेणी नहीं थी। यह एक नई क्रान्तिकारी प्रजा थी जिसमें किसानों, शहरी कामगारों, बुद्धिजीवी तबके आदि से लोग आए थे और किसी तरह गुरिल्ला युद्ध में शामिल हो गए थे, लेकिन फिर भी जिन्होंने अपनी सामाजिक श्रेणियों को पार कर लिया था। (ठीक उसी तरह जिस तरह क्यूबाई सिद्धान्त के इस क्षण ने वर्गसंघर्ष पर आधारित पुरानी क्रान्तिकारी विचारधाराओं को पार कर लिया था—फिर चाहे वह ट्रॉट्स्की का कामगारवाद हो, माओ का लोकप्रियतावाद और किसान चेतनावाद या लेनिन का हिरावल बुद्धिजीवितावाद।

देब्रे के पाठ से जो बात स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि गुरिल्ला फोको—इतनी चलायमान कि स्थैतिक अर्थ में भूगोल की परिधि से बाहर—आनेवाले रूपान्तरित क्रान्तिकारी समाज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए अपने आपमें एक **रूपाकार** है। इसके क्रान्तिकारी उग्रवादी मात्र 'सैनिक' नहीं हैं, कि जिनकी विशेष भूमिका और प्रकार्य क्रान्तिकारी कार्यविभाजन में अलग से बताने पड़ें, मसलन राजनीतिक कमिसार या राजनीतिक हिरावल दस्ता आदि। ऐसी चीज़ें यहाँ एकदम ठुकरा दी गईं। बल्कि उनमें तमाम पूर्व क्रान्तिकारी विभाजनों और श्रेणियों को परे सरका दिया गया। इस नवोदित क्रान्तिवारी 'स्पेस' की अवधारणा—जो गाँव और शहर के वास्तविक राजनीतिक व सामाजिक और भौगोलिक संसार से बाहर है, और ऐतिहासिक सामाजिक वर्गों से भी, उस वास्तविक संसार के रूपान्तरण का एक रूपाकार, एक नन्हीं कल्पनामूर्ति भी है। इसे तो सच पूछा जाए तो एक यूटोपियन स्पेस माना जा सकता है। जैसे हीगल का 'औंधा संसार'...जैसे एक स्वायत्त क्रान्तिकारी क्षेत्र...

लेकिन जो वास्तव में हुआ वह यह कि 1967 में बोलीविया में चे की दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु से पहले ही पेरू और वेनेजुएला में गुरिल्ला आन्दोलन की विफलता के साथ ही यह शक्तिशाली मॉडल चुक गया। और यह मात्र संयोग नहीं है कि इस विफलता के साथ ही प्रथम विश्व के वामपन्थियों में क्रान्तिकारी दर्प और रुझान का एक तरह का विनिवेश तथा (कुछ नवमाओवाद के साथ) अमेरिकी युद्धविरोधी आन्दोलन और मई 68 की अपनी वर्तमान स्थिति पर लौटना भी जुड़ गया। हालाँकि लेटिन अमेरिका में तथाकथित शहरी गुरिल्ला आन्दोलन की क्रान्तिकारी रणनीति जारी रही और उसने सफलतापूर्वक फोको सिद्धान्त का स्थान ले लिया। इसकी शुरुआत उरुग्वे में तुपामारोस ने की। इससे साफ़ हो गया कि पुराने गुरिल्ला फोको के यूटोपियन स्पेस से यह उच्छेद एक नितान्त भिन्न तरीके से राजनीतिक आचरण का फिर से अपनी दुनिया में लौट आना है। और यह तरीका है राज्यसत्ता के लक्षणों का नाटकीकरण करने की चेष्टा करना न कि उससे अन्तिम और निर्णायक लड़ाई लड़ना, जैसा कि पारम्परिक क्रान्तिकारी आन्दोलन में होता था। जैसा कि ऊपर बताया गया चिन्ह के अन्तिम दौर के संरचनात्मक समतुल्य के रूप में ही यहाँ इसकी व्याख्या की जाएगी।

लेकिन इसमें कई शर्तें लगानी पड़ेंगी। पहली बात तो यह है कि यह साफ है कि राजनीतिक आचरण के इस नए रूप का सामना फिलिस्तीनी मुक्तिसंघर्ष के दुखद दबाव से भी होगा ही जोकि 1967 में इज़्राइल द्वारा पश्चिमी किनारे और गाजापट्टी पर अवैध कब्ज़े के कारण अपने वर्तमान स्वरूप में पहुँचा है और जो सातवें दशक के उत्तरार्द्ध में सारी दुनिया में क्रान्तिकारी संघर्ष का प्रभावी प्रतीक बन गया। लेकिन साथ ही यह भी उतना ही साफ है कि इन हताश और सताए हुए लोगों के संघर्ष को दुनिया के दूसरे भागों में इस प्रकार की रणनीति की ज़्यादतियों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता जिनके सार्वभौमिक परिणाम (चाहे वह लैटिन अमेरिका हो या संयुक्त राज्य का कॉइनटेलप्रो हो या बाद में पश्चिम जर्मनी और इटली हो) राज्यसत्ता के दमनकारी तन्त्र के तीव्र होने को वैधता प्रदान करते थे।

वामपन्थी उग्रवादियों की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के इस विभ्रान्त मूल्यांकन (ज़्यादातर मामलों में छात्र और बुद्धिजीवी जो अपनी स्वैच्छिक गतिविधियों से क्रान्ति की प्रक्रिया को तेज़ करना चाहते हैं) और राज्यसत्ता द्वारा ऐसे उकसावों का बखुशी फ़ायदा उठाना—इन दोनों चीज़ों का वस्तुनिष्ठ संयोग यह सिखाता है कि जिसे चलताऊ भाषा में 'आतंकवाद' कह दिया जाता है उसे एक संश्लिष्ट और व्यवस्थित द्वन्द्वात्मक विश्लेषण का विषय होना चाहिए। एक जिम्मेदार वाम अपने आपको चाहे जितना इस रणनीति से असम्बद्ध रखने की कोशिश करे (और मार्क्सवाद द्वारा आतंकवाद का विरोध उन्नीसवीं सदी से ही इसकी परम्परा में है) यह याद रखना महत्त्वपूर्ण है कि एक 'अवधारणा' के रूप में आतंकवाद दक्षिणपन्थ का दर्शन है और इसी रूप में उसे अस्वीकार किया जाना चाहिए। छठे दशक के उत्तरार्द्ध और सातवें दशक के पूर्वार्द्ध की महाविपदा सम्बन्धी फिल्मों के साथ ही मास कल्चर स्वयं यह साफ़ कर देता है कि 'आतंकवाद'-'आतंकवादी' की छवि एक विशिष्ट व्यक्ति की छवि है जिसमें एक इतिहासविहीन समाज दिखाया जाता है जो मूलभूत सामाजिक परिवर्तन की कल्पना करता है : इसी दौर के आधुनिक थ्रिलर या एडवेंचर कथाओं के कथ्य को ध्यान से देखा जाए तो हम पाएँगे कि इनके कथानकों में आतंक के लिए एक 'प्राकृतिक' किस्म की अभिप्रेरणा है जो कि इस नकली अवधारणा की सैद्धान्तिक प्रकृति का एक और सूचक है। इस तरह समझा जाए तो 'आतंकवाद' एक तरह की सामूहिक आविष्टता है। यह अमेरिकी राजनीतिक अचेतन की एक लाक्षणिक फेंटेसी है जिसका अर्थान्वय और विश्लेषण अनिवार्य है।

जहाँ तक अपनी मूल बात का सवाल है तो 1973 के चिली के तख्तापलट और लगभग सभी लैटिन अमेरिकी देशों में किसी-न-किसी प्रकार की सैनिक तानाशाही आ जाने के साथ ही यह रणनीति व्यवहारतः समाप्त हो गई। बाद में पश्चिम जर्मनी और इटली में इस तरह की राजनीतिक गतिविधि के पुनर्उभार का कुछ श्रेय तो निश्चित ही इन देशों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के फासीवादी अतीत को, युद्ध के बाद उनके द्वारा अपने अतीत का परिशोधन न कर पाने को और सातवें दशक में जवान हुए अनेक युवाओं और बुद्धिजीवियों में इसके प्रति एक हिंसक और नैतिक घृणा को दिया जा सकता है।

7. 'अन्ततः निर्णायक घटना' की वापसी

पिछले भाग में दो विच्छेद उभरकर आए हैं। एक 1967 के आसपास सामान्य क्षेत्र में, और दूसरा 1973 के बिल्कुल पड़ौस में। लेकिन सामान्यतया सातवें दशक के कालखंडीकरण की सामान्य रूपरेखा बनाने में ये दोनों विच्छेद काम नहीं आएँगे। दूसरे विच्छेद से शुरू करें तो हम देखेंगे कि 1972-74 के दौरान यह सामान्य क्षेत्र की प्रकटतः असम्बद्ध घटनाओं की एक पूरी शृंखला थी जो कि न केवल तीसरी दुनिया और लेटिन अमेरिका की उग्रवादी राजनीति के विशेषीकृत क्षेत्र के लिए निर्णायक रही अपितु एक वैश्विक अर्थ में सातवें दशक के निर्णायक अन्त की सूचक भी बनी। उदाहरण के लिए पहली दुनिया में प्रारूप की समाप्ति और (1973 में) वियतनाम से अमेरिकी सैनिकों की वापसी युद्धविरोधी आन्दोलन की जनराजनीति का अन्त साबित हुई। (स्वयं न्यूलेफ़्ट का संकट—जिसे कि मोटे तौर पर 1969 में एस.डी.एस. की टूट से जोड़ा जा सकता है—दूसरे विच्छेद से सम्बन्धित मालूम होता है। इस पर हम फिर लौटेंगे) जबकि फ्रांस में कम्यूनिस्ट पार्टी और न्यू सोशलिस्ट पार्टी के बीच साझा कार्यक्रम पर हस्ताक्षर (साथ ही इस दौर में 'यूरोकम्यूनिज़्म' सम्बन्धी व्यापक नारेबाज़ी) उन राजनीतिक गतिविधियों से एक रणनीतिक विलगाव जैसा लगता है जो मई 68 और उसके परवर्तियों से जुड़ी रही थी। यही वह समय है जब योम किप्पुर (Yom Kippur) के परिणामस्वरूप तेल एक शक्तिशाली हथियार के रूप में उभरा था और जिसने विकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं, राजनीतिक रणनीतियों और दैनिक जीवन की आदतों को एक नए प्रकार का झटका दिया था। इसी की सहगामिता में सामान्य सांस्कृतिक और सैद्धान्तिक स्तर पर यह हुआ कि व्यवस्था से सम्बद्ध बुद्धिजीवियों ने (ख़ासकर अमेरिका में) अपने उस भय और रक्षात्मक रवैये से उबरना शुरू कर दिया जो इस पूरे दशक में उन्हें दबोचे रहा था और सातवें दशक की संस्कृति तथा सातवें दशक की राजनीति पर एक के बाद एक हमले करने लगे। और जैसा कि शुरू में बताया गया था, यह आज तक भी ख़त्म नहीं हुआ है। इनमें से एक अधिक प्रभावी दस्तावेज़ था लिओनेल ट्रिलिंग का 'ईमानदारी और विश्वसनीयता' (1972)। यह सातवें दशक के प्रतिसांस्कृतिक 'बर्बरतावाद' को पलट देने का अर्नोल्डवादी आह्वान था। (और बेशक इसके पीछे-पीछे सातवें दशक में 'ईमानदारी' की अवधारणा पर एक समान रूप से प्रभावी विश्लेषण और आ गया जिसका शीर्षक था 'नार्सिसिज़्म की संस्कृति')। इस बीच जुलाई 1973 में कुछ भिन्न किस्म के बुद्धिजीवियों ने जो राजनीतिक व आर्थिक सत्ता के विभिन्न ठोस रूपों का प्रतिनिधित्व करते थे, एक त्रिपक्षीय कमीशन गठित कर वियतनाम में अमेरिका की असफलता पर वैश्विक रणनीति और अमेरिकी तथा पहली दुनिया के हितों की दृष्टि से पुनर्विचार आरम्भ किया। इससे जिसे 'शासक वर्ग' कहते हैं, कम-से-कम उसके फिर गति पकड़ने के उल्लेखनीय सूचक का काम तो किया ही। लगभग इसी समय एक नया पद 'बहुराष्ट्रीय निगम' प्रचलन में आया और तत्काल स्वीकृति पा गया। जैसा कि 'ग्लोबल रिसर्च' के लेखकों ने बताया है, यह एक और लक्षण है जो बताता है कि जब निजी व्यापार जनता के बीच 'इतिहास के एक विषय' के रूप में और विश्वमंच पर एक नुमाँया किरदार के बतौर उपस्थित होने की चाहत पालने लगता है—चिली में आई.टी.टी. की भूमिका ध्यान में आ जाती है, वियतनाम में बुरी तरह हाथ जला लेने के बाद जहाँ अमेरिका आगे ऐसा कोई जोखिम नहीं उठाना चाहता था।

इन्हीं सब कारणों से 1972-74 के सामान्य क्षेत्र में सातवें दशक की निर्णायक समाप्ति को चिन्हित करना समीचीन लगता है। लेकिन अभी तक हम कालखंडीकरण के किसी भी तर्क के लिए ज़रूरी एक चीज़ की अनदेखी करते रहे हैं, और यह एक नए प्रकार की चीज़ है जो हमारा ध्यान उस 'स्तर' या 'घटना' की तरफ ले जाएगी जो अब तक हमारी बहस से नुमाँया तौर पर गायब रही है। और वह है अर्थनीति। क्योंकि 1973-74 ही वह समय है जब विश्वव्यापी आर्थिक संकट का दौर आरम्भ हुआ था, जिसकी गतिकी आज भी हमारे साथ है और जो सामान्यतया युद्धोत्तर काल की और खासकर सातवें दशक की आर्थिक विस्तार और समृद्धि वाली अवधि पर एक निर्णायक पूर्णविराम लगाता है। जब हम इसमें एक और महत्त्वपूर्ण आर्थिक संकेतक—1966 में पश्चिम जर्मनी तथा अन्य विकसित राष्ट्रों में और सालेक भर बाद अमेरिका में भी आर्थिक मन्दी—को भी जोड़ दें तो हम 1967-68 में आए उस द्वितीयक विच्छेद को बेहतर समझने की स्थिति में होंगे जिसने दार्शनिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्तर पर भी दिखाई देना शुरू कर दिया—कि जिसका विश्लेषण या 'विवरण' हमने ऊपर दिया।

कालखंडीकरण का छठे दशक के सामाजिक जीवन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिदर्शों के अलावा आर्थिक 'स्तर' से भी इस प्रकार का पुष्टिकरण हमें उन दो सैद्धान्तिक प्रश्नों के ठीक उत्तर खोजने के लिए बेहतर स्थिति में ले आता है जिनकी चर्चा इस निबन्ध के आरम्भ में की गई थी। पहला प्रश्न इस अवधि में मार्क्सवादी विश्लेषण के औचित्य के बारे में था जिसकी सक्रिय राजनीतिक श्रेणियाँ सामाजिक वर्गों जैसी नहीं दिखाई देती थीं, और जिनमें एक सामान्य अर्थ में पारम्परिक मार्क्सवादी सिद्धान्त और आचरण एक 'संकट' में आ गया दिखाई देता है। दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध एक 'समेकित क्षेत्रीय सिद्धान्त' से था जिसके अन्तर्गत तीसरी दुनिया के किसान आन्दोलन और पहली दुनिया के मास कल्चर (या कुछ अमूर्त रूप में दर्शन और संस्कृति जैसे बौद्धिक या अधिरचना के स्तर तथा जनप्रतिरोध व राजनीतिक आचरण के स्वरूप) जैसी दूरस्थ चीज़ों को भी अवधारणा के स्तर पर व्यवस्थित रूप से एक-दूसरे से जोड़ा जा सके।

अर्नेस्ट मंडेल की अन्वेषक पुस्तक 'लेट केपिटलिज़्म' इन दोनों प्रश्नों का एक परिकल्पनात्मक उत्तर एक साथ सुझाती है। अन्य चीज़ों के अलावा पुस्तक पूँजीवाद के अन्तर्गत व्यापारिक चक्रों की एक प्रणाली विस्तार से प्रस्तुत करती है, जिसकी सबसे परिचित बात—हर सात से दस साल बाद उछाल, अति उत्पादन, मन्दी, आर्थिक उबार—सातवें दशक के बीच में आए विच्छेद का लगभग सन्तोषप्रद समाधान पेश करती है।

लेकिन 1974 में आए विश्वव्यापी आर्थिक संकट का मंडेल द्वारा बताया गया कारण तीस से चालीस साल की अवधि के ऐसे ही चक्रों की अधिक विवादास्पद अवधारणा पर आधारित है। इसकी अनुभव के आधार पर या 'घटना क्रिया विज्ञान' के आधार पर पुष्टि और भी मुश्किल है क्योंकि ये लयात्मकता एक मनुष्य की जीवशास्त्रीय सीमा से बाहर निकल जाती है। ये 'कान्द्रातीव लहरें' (यह नामकरण उस सोवियत अर्थशास्त्री के नाम पर जिसने पहलेपहल इसकी परिकल्पना की) मंडेल के अनुसार अट्ठारहवीं शताब्दी से अब तक चार बार आ चुकी हैं और इनका पता उत्पादन की प्रविधि में आई लम्बी छलाँगों से चलता है, जिसके कारण मुनाफे में भारी वृद्धि होती है, और यह तब तक जारी रहता है जब तक उस प्रविधि की सम्भावनाओं का भरपूर दोहन नहीं कर लिया जाता और फिर यह चक्र अपने अन्त पर पहुँच जाता है। इन कांद्रातीव लहरों में सबसे ताज़ा लहर कम्प्यूटर प्रविधि, आणविक ऊर्जा और कृषि के यन्त्रीकरण (ख़ासकर खाद्यान्न और बुनियादी मालों में) की है। मंडेल इसकी शुरुआत उत्तरी अमेरिका में 1940 और अन्य साम्राज्यवादी देशों में युद्धोत्तर काल बताता है। वर्तमान सन्दर्भ में जो निर्णायक है वह है उसकी यह धारणा कि 1973-74 की विश्वव्यापी मन्दी के साथ ही इस ताज़ा 'लम्बी लहर' की गतिकी खत्म हो चुकी है।

यह परिकल्पना आकर्षक है, न केवल इसलिए कि यह कालखंडीकरण की हमारी योजना की पुष्टि के लिए उपयोगी सिद्ध होती है बल्कि इसलिए भी कि यह पूँजीवादी विस्तार की ताज़ा लहर का वास्तविक विश्लेषण करती है और उन तमाम विकासों का मार्क्सवादी भाष्य प्रस्तुत करती है जिन्हें सामान्यतया 'शास्त्रीय' पूँजीवाद के अन्त का सूचक समझा जाता था, जैसा कि मार्क्स ने बताया था और जिसकी व्याख्या के लिए सामाजिक उत्परिवर्तन की इस या उस उत्तरमार्क्सवादी दृष्टि का सहारा लेना पड़ता था। (मसलन उपभोक्ता समाज, उत्तर-औद्योगिक समाज आदि-आदि)

नवउपनिवेशवाद की पहचान नई क्रान्तिकारी प्रविधि से जोड़कर कैसे की गई, यह हम पहले ही बता चुके हैं (कृषि में तथाकथित हरित क्रान्ति : नई मशीनें, खेती के नए तरीके, नई रासायनिक खादें और संकर पौध के जैविक प्रयोग आदि) इस सबके समानान्तर पूँजीवाद उपनिवेशों के साथ अपने सम्बन्धों को रूपान्तरित करता है। अब ये सम्बन्ध पुराने फैशन के साम्राज्यवादी नियन्त्रण के स्थान पर बाज़ार में हस्तक्षेप, पुराने ग्रामीण समुदायों के खात्मे, खेत मजदूरों की एक बड़ी फौज और लुम्पेन सर्वहारा के निर्माण के सम्बन्ध हो जाते हैं। नई सामाजिक शक्तियों का लड़ाकूपन एक तरफ पुराने आत्मनिर्भर ग्राम समुदायों से किसानों की 'मुक्ति' का परिणाम होता है और दूसरी तरफ आत्मरक्षा का आन्दोलन जो अक्सर तीसरी दुनिया के अपेक्षाकृत स्थिर लेकिन कटे हुए क्षेत्रों में पैदा होता है। ठीक ही सोचा गया है कि यह लड़ाकूपन पुरानी उपनिवेशवादी फौजों से भी अधिक गहरी और अधिक भीतर तक मार करने वाली नवउपनिवेशवादी शक्तियों के खिलाफ होता है।

'यन्त्रीकरण' की इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत मंडेल ने सातवें दशक में तीसरी दुनिया के नवउपनिवेशवादी रूपान्तरण और पहली दुनिया की प्रकटतः एकदम भिन्न चीज़, मसलन उपभोक्ता समाज, उत्तरऔद्योगिक समाज, मीडिया समाज आदि के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की है :

> *उत्तरऔद्योगिक समाज का प्रतिनिधित्व करना तो दूर की बात है, वृद्ध पूँजीवाद तो...इतिहास में पहली बार* ***सामान्यीकृत, सार्वभौमिक, औद्योगीकरण*** *को अंजाम दे रहा है। यन्त्रीकरण, मानकीकरण, अतिविशेषीकरण*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और श्रम का संविभाजन, जो कि कभी वास्तविक उद्योगों में मात्र वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्र तक सीमित था, अब सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया है। वृद्ध पूँजीवाद की यही विशेषता है कि इसमें कृषि का भी धीरे-धीरे औद्योगीकरण होता जा रहा है, वितरण का क्षेत्र उत्पादन के क्षेत्र के बराबर महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है (क्रेडिट कार्ड आदि) और मनोरंजन का महत्त्व बढ़कर कार्य संगठन के बराबर हो गया है। (पृ. 387)

यहाँ मंडेल ने वही बात कही है जिसे अन्यत्र उसने अधिरचना का यन्त्रीकरण कहा है। दूसरे शब्दों में जैसा कि फ्रेंकफर्ट स्कूल कहता है, संस्कृति उद्योग ने खुद संस्कृति में सेंध लगा ली है और मीडिया का विकास उसका सिर्फ एक हिस्सा है। तो अब हम मंडेल के विवरण को इस तरह सूत्रबद्ध कर सकते हैं—वृद्ध पूँजीवाद सामान्यतया (और सातवें दशक में ख़ास तौर पर) एक ऐसी प्रक्रिया का निर्माण करता है जिसमें प्राक्पूँजीवाद के अन्तिम बचे-खुचे आन्तरिक और बाह्य क्षेत्र जो विकसित विश्व के भीतर और आसपास का पारम्परिक या वस्तुकरण से बचा हुआ एकमात्र स्पेस है—अब आखिर भेद दिया जाता है और उसका भी उपनिवेशीकरण कर लिया जाता है। अतः वृद्ध पूँजीवाद को वह क्षण कहा जा सकता है जिसमें शास्त्रीय पूँजीवाद से किसी तरह बच गए प्रकृति के अवशेषों का भी अन्तिम तौर पर विलोपन हो गया। और ये अवशेष थे अचेतन मन और तीसरी दुनिया। सातवाँ दशक ही वह समय था जिसमें इस सुनियोजित पुनर्संरचना द्वारा सम्पूर्ण विश्व का रूपान्तरण सम्भव हुआ।

अब इस विवरण के प्रकाश में सातवें दशक के अपने फील्ड सिद्धान्त को इस तरह रखा जा सकता है—पहली और तीसरी दुनिया में एक साथ कार्यरत एक प्रक्रिया की खोज जो वैश्विक अर्थनीति में और चेतना तथा संस्कृति में काम करती हो और बाक़ायदा एक **द्वन्द्वात्मक** प्रक्रिया हो। अब हम समग्रतः इस अवधि की विशेषता दर्शाने का भी प्रयास कर सकते हैं।

सबसे सरल और फिर भी सार्वभौमिक और व्यापक तौर पर स्वीकृत सूत्रीकरण तो यही है कि सातवाँ दशक एक ऐसा समय था जब सब कुछ सम्भव था। दूसरे शब्दों में यह सार्वभौमिक मुक्ति का क्षण था, ऊर्जाओं की वैश्विक निर्बन्धता का समय। माओ त्से तुंग इस प्रक्रिया के सर्वश्रेष्ठ उद्घाटक थे। उन्होंने कहा था, 'हमारा देश एक परमाणु के समान है...जब इस परमाणु के नाभिक को तोड़ दिया जाएगा तो इससे जो ऊर्जा प्रसूत होगी उसमें अद्भुत शक्ति होगी।' इस छवि से एक वास्तविक जनवादी लोकतन्त्र के अभ्युदय का बोध होता है जो सांस्कृतिक क्रान्तियों के माध्यम से प्राचीन सामन्ती और ग्राम्य संरचना को फाड़कर निकला है। और जो सांस्कृतिक क्रान्तियों के माध्यम से प्राचीन संरचनाओं में बन चुकी आदतों के स्वास्थवर्धक विलयन और परित्याग से प्रकाश में आया है। फिर भी, विखंडन का प्रभाव, परमाणविक ऊर्जा का विस्फोट और 'भौतिक संकेतकों' की स्वच्छन्दता एक भयानक दृश्य भी पैदा कर सकती है, और अब हम जानते हैं कि सांस्कृतिक क्रान्ति के सर्वोच्च उत्कर्ष काल में, जब शंघाई कम्यून की स्थापना हुई, खुद माओ त्से तुंग उस प्रक्रिया की अन्तिम परिणति से पीछे हट गए जिसे उन्होंने स्वयं शुरू किया था। उन्होंने पार्टी संगठनों के विलय पर रोक लगाने का आह्वान किया और इस समूचे सामुदायिक अनुभव की पूरी दिशा एकदम उलट दी। (जिसके परिणाम आज सबके सामने हैं)। पश्चिम में भी सातवें दशक के महान विस्फोटों ने विश्वव्यापी आर्थिक संकट को जन्म देने के उपरान्त सामाजिक संस्तरों की जोरदार पुनर्स्थापना की और सरकारी तन्त्रों की दमनकारी शक्ति का पुनर्नवीकरण किया।

लेकिन अब जिन शक्तियों का उन्हें सामना करना है वे नई शक्तियाँ हैं जिन्हें पुराने तरीकों से नियन्त्रित नहीं किया जा सकेगा। सातवें दशक को हमने जिस तरह वर्णित किया है उसमें एक तरफ पूँजीवाद का विश्वव्यापी प्रसार है तो साथ ही सामाजिक शक्तियों की एक अभूतपूर्व मुक्ति और निर्बन्धता भी है, ग़ैरसैद्धान्तीकृत नई शक्तियों का अभ्युदय है तो तीसरी दुनिया, अल्पसंख्यकों या कालों का देशज शक्तिपात भी है, क्षेत्रीयतावाद है तो छात्रों, नारीमुक्ति तथा अन्य अनेक आन्दोलनों में 'अतिरिक्त चेतना' के उग्रवादी हरावल दस्ते भी हैं। ऐसी नवजाग्रत शक्तियाँ न सिर्फ शास्त्रीय मार्क्सवाद के पारम्परिक वर्गसंघर्ष के सिद्धान्त में नहीं अँटतीं बल्कि वे आर्थिक अधिरचना की सीमाओं के पार जाकर सम्भावनाओं के एक स्वतन्त्र और स्वैच्छिक क्षेत्र की प्रस्तावना भी करती मालूम होती हैं। फिर भी स्वतन्त्रता और सम्भाव्यता की इस भावना को—जो सातवें दशक के लिए एक वस्तुगत यथार्थ थी और (नवें दशक में पुनरावलोकन की दृष्टि से) एक ऐतिहासिक विभ्रम भी—एक अधिरचनात्मक आन्दोलन ही माना जा सकता है। एक खेल जो पूँजीवाद के एक अधिरचनात्मक या व्यवस्थागत मंज़िल से दूसरी में सन्तरण के कारण सम्भव हुआ। इस दृष्टि से सातवाँ दशक अधिरचनात्मक ऋण व्यापार के आत्यन्तिक अवमूल्यनपरक प्रसार, मानक के रूप में स्वर्ण के वैश्विक परित्याग और अधिक अवमूल्यित मुद्रा की भारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छपाई का काल था। सातवें दशक की समाप्ति के साथ, वैश्विक आर्थिक संकट के साथ ही सारे पुराने अधिरचनात्मक कार्य भुगतान के लिए हाज़िर हो गए और नवें दशक में उन सभी निर्बन्ध शक्तियों के श्रमजीवीकरण का वैश्विक स्तर पर प्रयास किया गया जिन्होंने सातवें दशक में वर्गसंघर्ष की सीमाओं को विस्तीर्ण कर दुनिया के कोने-कोने में और स्थानीय संस्थाओं के लघुत्तम प्रकोष्ठ (यथा विश्वविद्यालय) तक एक अपूर्व ऊर्जा का संचार किया था। इनको जोड़नेवाला बल अब भावी वैश्विक पूँजीवाद है जो असमान, बिखरे हुए या स्थानीय प्रतिरोधों को भी इस प्रक्रिया में शामिल कर लेगा। और अन्ततः मार्क्सवाद के तथाकथित संकट और सातवें दशक में सामने आई नई सामाजिक वास्तविकताओं में इसके वर्ग-विश्लेषण के तरीकों के लागू न हो पाने की बहुप्रचारित समस्या का भी यही समाधान है। 'पारम्परिक' मार्क्सवाद यदि इतिहास की नई प्रजा के अभ्युदय के इस काल के लिए 'असत्य' है तो जब शोषण, अतिरिक्त मूल्य के दोहन, श्रमजीवीकरण और वर्गसंघर्ष के रूप में इसका प्रतिरोध आदि की उदास वास्तविकताएँ एक नए विस्तार में वैश्विक स्तर पर सामने आएँगी, जैसा कि दिखाई देने लगा है, तो यह फिर से 'सत्य' हो जाएगा। आ

अनुवादक : **स्वयंप्रकाश**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना का स्वधर्म

नंदकिशोर नवल

प्रेम करना एक बात है और प्रेम पर लेख लिखना बिलकुल दूसरी बात। देखने में तो प्रायः यही आता है कि जिनके रोम-रोम में प्रेमानुभूति भिंदी होती है, वे प्रेम का विश्लेषण नहीं कर सकते। यह काम कुशलतापूर्वक करने में वे ज्यादा समर्थ होते हैं, जो प्रेम को नहीं जानते, लेकिन उसके मनोविज्ञान और शास्त्र के जानकार होते हैं। यहाँ मुझे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से सम्बन्धित एक प्रसंग याद आ रहा है। एक बार एक सज्जन ने उनसे पूछा कि आप किस उद्देश्य से प्रेरित होकर साहित्य-रचना करते रहे हैं ? उन्होंने उत्तर दिया—'मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता।' कल्पना कीजिए कि साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में साहित्य के किसी अध्यापक से प्रश्न किया गया होता, तो क्या वह चुप रहता ? निश्चय ही वह उस पर एक अच्छी-खासी तकरीर दे डालता। मैं आलोचना में जो शटर-पटर करता रहा हूँ, उसी ने मुझे इस स्थिति में डाल दिया है कि अभी मैं उसके सम्बन्ध में कोई गम्भीर बात बतलाने में अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। कंठावरोध की अवस्था तक नहीं पहुँचा हूँ, इसलिए अपने अनुभव के आधार पर ही कुछ बातें निवेदन कर रहा हूँ, जो पांडित्यशून्य होंगी।

मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि आलोचना साहित्य के लिए कोई खास उपयोगी वस्तु नहीं है। संस्कृत में आज-जैसी आलोचना नहीं थी, तो उसका क्या नुकसान हुआ ? कालिदास, भवभूति और बाणभट्ट के स्थान-निरूपण में संस्कृत साहित्य के प्रेमियों को कोई कठिनाई नहीं हुई, न ही उनके महत्त्व को समझने में। संस्कृत में टीका या भाष्य का प्रचलन था, जिसे आज अच्छी निगाह से नहीं देखा जाता। उसे निम्न कोटि की आलोचना का दर्जा भी हासिल नहीं। विद्वान् एक स्वर से उसे साहित्यालोचन से बाहर रखते हैं, जबकि सच्चाई यह है कि वह आलोचना की तुलना में अधिक उपयोगी वस्तु थी। निस्सन्देह देश-विदेश के आलोचकों ने कालिदास पर जो आलोचना प्रस्तुत की है, उससे अधिक मूल्य उनकी कृतियों की मल्लिनाथ द्वारा की गई टीकाओं का है। ये टीकाएँ कालिदास की रचना का मर्म खोलने में उनकी किसी भी आलोचना से अधिक समर्थ हैं। ताज्जुब नहीं कि हिन्दी में आलोचना का जो अच्छा-खासा साहित्य रचा गया है, उसे देखना हिन्दी का सामान्य पाठक-वर्ग आवश्यक नहीं समझता। मेरा तो अनुभव है कि हिन्दी के रचनाकार भी आलोचना नहीं पढ़ते और कभी पढ़ते हैं, तो वही आलोचना, जो उनके या उनके शत्रु-रचनाकार के पक्ष-विपक्ष में लिखी गई होती है। आखिर आलोचना कौन पढ़ता है ? हिन्दी की ऊँची कक्षाओं के छात्रों, किस्मत के मारे हुए कुछ शोधकर्ताओं और जरूरतमन्द

घाघा घाट रोड, महेन्द्रू, पटना-800 006

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यापकों को छोड़ दें, तो जैसा कि अभी-अभी कहा गया है, सामान्य पाठक-वर्ग उसकी तरफ उलटकर भी नहीं देखता। इसका श्रेय बहुत-कुछ हिन्दी आलोचकों को भी है, जिन्होंने अपने लिए ऐसी आडम्बरपूर्ण और पेचदार भाषा तैयार कर ली है कि उसे साधारण साहित्यिक समझ ही नहीं पाते। स्वभावतः वे आलोचना में रुचि लेने की जगह उससे आतंकित होकर सरल चित्त से आलोचकों की महानता को स्वीकार कर आगे बढ़ जाते हैं। आलोचक जब आतंक खड़ा कर उनसे स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर उन्हें क्या चाहिए ? वे अपने रास्ते पर और दृढ़ता से कदम बढ़ाते हैं। उनके बीच से यदि कोई ऐसा आलोचक निकलता दिखलाई पड़ता है, जिसकी भाषा सरल और समझ में आने लायक होती है, तो वे उसे 'सतही' कहने में भी संकोच नहीं करते। यह अच्छा है कि अब छात्र, शोधकर्ता और अध्यापक भी आलोचना पढ़ने की जहमत से एकदम बचते हैं और बाजारू पुस्तकों से अपना काम चला रहे हैं। दूसरी तरफ आलोचकों की भी अपने कर्म में निष्ठा घटती जा रही है, इसलिए वे अपना किंचित् कठिन मार्ग छोड़कर आलोचना की आसान पगडंडियों पर चलने लगे हैं, जैसे पुस्तक-समीक्षाएँ, अखबारी कालम आदि। कहा जा सकता है कि इस तरह आलोचना अब हर तरह से अपने स्वराज्य की स्वामिनी है, भले बचे-खुचे स्वराज्य की ही।

यह सुपरिचित तथ्य है कि पर्यावरण स्वयं अपने को सन्तुलित करता रहता है। यही बात साहित्य में भी है। साहित्य के अपने नियम हैं, जिनसे वह भी अपनी उदात्तता और सुन्दरता की रक्षा करता रहता है। पहले कालिदास, भवभूति और बाणभट्ट का जिक्र किया गया है। मैं यहाँ गीतगोविन्दकार जयदेव का जिक्र कर रहा हूँ। कालिदास और जयदेव दोनों ही संस्कृत में कविरूप में अत्यन्त समादृत हैं, जबकि कालिदास उदात्त कवि हैं और जयदेव सुन्दर। यह विवेक और दोनों कवियों का अलग-अलग महत्त्व-स्थापन साहित्य के अपने नियमों से हुआ है, आलोचकों के द्वारा नहीं। आलोचक तो अनेक बार उक्त विवेक को कुंठित कर परिदृश्य को धुँधलाने का काम करते हैं। थोड़ी देर के लिए परिदृश्य इस तरह धुँधला हो जाता है कि साहित्य में अच्छे और बुरे का फर्क पता नहीं चलता, लेकिन थोड़े दिनों के बाद ही धुन्ध स्वयं छँट जाती है और श्रेष्ठ साहित्य जहाँ उभरकर सामने आ जाता है, वहाँ घटिया साहित्य, जिसको उछालने के लिए आलोचकों ने सारी ताकत लगा दी थी, पता नहीं कहाँ चला जाता है। साहित्य ही नहीं, भाषा भी अपने को सन्तुलित करती रहती है। इसका प्रमाण यह है कि कई बार कई लेखक कुछ शब्द चला देते हैं, लगता है कि वे स्वीकृत भी हो गए, लेकिन कुछ दिनों के बाद वे शब्द स्वयं पीछे छूट जाते हैं और भाषा अपने रास्ते पर आगे बढ़ जाती है। शब्दों के पीछे छूटने का कारण यह होता है कि वे भाषा की प्रकृति के मेल में नहीं होते या फिर उसके अपने नियमों के विरुद्ध होते हैं। मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ कि इसका हिसाब लगाया जाना चाहिए कि आलोचना ने साहित्य का कितना हित किया है और कितना अहित। टी.एस. इलियट महान् कवि होने के साथ-साथ महान आलोचक भी थे। उन्होंने भी यह स्वीकार किया है कि आलोचक से गलतियाँ होती हैं। लेकिन उनका कहना है कि एक आलोचक की गलती दूसरा आलोचक सुधारता है और इस तरह किसी भाषा में आलोचकों की जितनी लम्बी परम्परा होती है, उसमें साहित्य के सही मूल्यांकन की सम्भावना उतनी ही अधिक होती है।

इलियट ने साहित्य में आलोचकों के लिए जो गुंजाइश निकाली है, यदि उसे छोड़ दें, तो यह बड़ा प्रश्न है कि क्या साहित्य में आलोचना की वाकई कोई उपयोगिता नहीं है ? आचार्य द्विवेदी के शब्द लेकर कहें, तो इतने बड़े जंजाल को नाहीं करने का साहस क्या किया जा सकता है ? मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि आलोचना तभी उपयोगी हो सकती है, जबकि वह साहित्य की प्रकृति और उसके अपने नियमों के मेल में हो। बीज के अंकुरित होने, विकसित होने और अनाज के पौधे के रूप में फल देने के कुछ प्राकृतिक नियम हैं। उन नियमों को समझकर ही यानी उनके मेल में चलते हुए ही हम खेती कर सकते हैं या उसे बढ़ा सकते हैं। मार्क्सवाद के अनुसार कहें, तो उन नियमों की जानकारी ही हमारी स्वतन्त्रता में वृद्धि कर सकता है, उनका अतिक्रमण नहीं। तब खेती क्या, कुछ भी नहीं हो सकेगा। इस कारण आलोचना को सार्थक बनाने का एक ही उपाय है कि आलोचक यदि अपनी स्वतन्त्रता में वृद्धि करना चाहता है, तो वह साहित्य की प्रकृति और उसके नियमों का बारीकी से अध्ययन करे। इसके विपरीत यदि उसने साहित्य के क्षेत्र में अपने नियम बनाए और उस पर उन्हीं को लागू करना चाहा, तो उसका श्रम और प्रतिभा व्यर्थ जाएँगे। पर्यावरण अपने को सन्तुलित करता रहता है, बावजूद इसके कि हम उसे अनेक प्रकार से नष्ट करते रहते हैं। साहित्य में भी यही होता है, लेकिन जैसे पर्यावरण के नियमों को समझकर उसे सुधारने में हम मददगार हो सकते हैं, वैसे ही साहित्य के नियमों के अनुसार चलकर हम अपनी आलोचना से उसका भला कर सकते हैं। इस तरह आलोचक का काम किसी छोटे लेखक को बड़ा और किसी बड़े लेखक को छोटा बनाना नहीं है। सारी ताकत लगाकर भी वह यह काम नहीं कर सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके हाथ में सिर्फ इतना है कि वह तथ्य और युक्ति के साथ यह बतलाए कि छोटा लेखक छोटा और बड़ा लेखक बड़ा क्यों है। यह हो सकता है कि कोई बड़ा लेखक अनेक कारणों से अन्धकार में पड़ा हो, या परिदृश्य को धुँधला दिए जाने के कारण उसका बड़ापन आँखों से ओझल हो गया हो। इस स्थिति में आलोचक यदि पाठकों को अपनी आलोचना से उसका असली रूप दिखला देता है, तो मानना चाहिए कि उसने आलोचना के स्वधर्म का पालन किया है। यहाँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का एक उदाहरण मौजूँ होगा। हिन्दी कवियों की बृहत्त्रयी कबीर, सूर, और तुलसी को लेकर बनती है। यह हिन्दीभाषी जनता की मान्यता है, जो साहित्य की प्रकृति और उसके अपने नियमों के मेल में है। आचार्य शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली की भूमिका में जायसी के काव्य पर बहुत विस्तार और गहराई से विचार कर हिन्दी कवियों की बृहत्त्रयी तुलसी, सूर और जायसी को लेकर बनाई। थोड़ी देर के लिए लगा कि उनकी मान्यता सही है, लेकिन अन्ततः वह हिन्दीभाषी जनता के द्वारा अस्वीकृत हो गई, क्योंकि उसमें उन्होंने साहित्य के अपने नियम पर आलोचक की मान्यता को स्थापित करने की कोशिश की थी। आकस्मिक नहीं कि आज हिन्दी कवियों की बृहत्त्रयी में कबीर, सूर और तुलसी ही स्वीकृत हैं, तुलसी, सूर और जायसी नहीं। यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि साहित्य स्वयं अपने नियमों का अतिक्रमण करे तो करे, एक नियम के ठीक विरोध में दूसरे नियम को खड़ा कर दे, लेकिन आलोचक वैसा नहीं कर सकता। वह अधिक-से-अधिक वैसे नियम का निकट से अध्ययन कर सकता है।

साहित्य के नियमों पर आलोचक अपने नियमों को चलाने की कोशिश तब करता है, जब वह कृति को प्रमुखता न देकर अपने पूर्वाग्रहों को प्रमुखता देता है। कुछ आलोचक कृति का अर्थ उसके रचनाकार में ढूँढ़ते हैं, कुछ उसके सामाजिक परिवेश में और कुछ उसकी विचारधारा में। ज्ञातव्य है कि आलोचक अपनी मान्यता के अनुसार इनमें से किसी एक को अधिक महत्त्व देते हैं और अपनी आलोचना में सामान्य प्रतिमान के रूप में उसका इस्तेमाल करते हैं। स्थिति की विचित्रता तब सामने आती है, जब किसी प्रतिमान पर ऐसी कृति की परीक्षा की जाती है, जो उसके लिए बिलकुल अनुपयुक्त होता है। आप कल्पना करें कि यदि अपने जीवन से प्रेरित होकर काफी समय तक रचना करनेवाले बच्चन के प्रतिमान पर दिनकर को चढ़ाया जाए, सामाजिक यथार्थ का चित्रण करनेवाले प्रेमचन्द के प्रतिमान पर उपन्यासकार अज्ञेय को, या फिर विचारधारा का दृढ़ आधार लेकर चलनेवाले मुक्तिबोध के प्रतिमान पर रघुवीर सहाय को, तो आलोचनात्मक निष्कर्ष कितने गलत होंगे। मैं यह नहीं कहता कि रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन, उसके सामाजिक परिवेश या उसकी विचारधारा की जाँच-पड़ताल न की जाए। वैसा किया जा सकता है, बल्कि अनेक बार वह करना अपेक्षित होता है, बशर्ते कि इस समझ का परिचय दिया जाए कि किस कृति के लिए किस प्रकार के सन्दर्भ में जाना जरूरी है, और दूसरे, यह समझकर चला जाए कि ये सारे सन्दर्भ कृति को सम्भव बनानेवाले कारक हैं, कभी सरल रूप में और कभी अत्यन्त जटिल रूप में, वे स्वयं कृति नहीं हैं। इस कारण उन सन्दर्भों का अध्ययन कृति का हेतुगत अध्ययन (causal study) है, जबकि आलोचना का लक्ष्य उनसे सम्भव होनेवाली कृति का अध्ययन है, जिसे हम उनका परिणाम कह सकते हैं। यही अध्ययन साहित्यिक अध्ययन होगा, जिसे विद्वानों ने उसका भीतरी अध्ययन (Intrinsic study) कहा है। इसका रास्ता यही है कि हेतुगत अध्ययन को आवश्यकता से अधिक महत्त्व न देकर कृति का सीधा साक्षात्कार किया जाए और देखा जाए कि उसका अपना स्वरूप क्या है तथा वह साहित्य के अपने नियमों के अनुसार किस स्तर पर स्थित है। हिन्दी आलोचना में ढेर सारी गड़बड़ी हेतुगत अध्ययन और भीतरी अध्ययन को आपस में उलझा देने के कारण हुई है। अनेक बार कृति का भीतरी अध्ययन पीछे छूट गया है और हेतुगत अध्ययन ही निर्णायक हो गया है।

आज यदि हिन्दी आलोचना को पटरी पर लाना है, तो कृति से साक्षात्कार को महत्त्व देना होगा। ढेर सारे विद्वान् यह समझते हैं कि यह आलोचना को पाठ-केन्द्रित बनाना है, जो टीका या भाष्य के आस-पास की चीज होगी। हमने आलोचना से कमोबेश सरोकार रखनेवाले छात्रों का दिमाग भी इस कदर बिगाड़ डाला है कि वे भी अब कृति को नहीं, कृति के बारे में जानना चाहते हैं। पाठाधारित विश्लेषण को वे निचले दर्जे की चीज समझते हैं और कृति के बारे में ऐसी बातें सुनना चाहते हैं, जो चमक-दमक से भरी हों, भले उनका कृति की कलात्मक या सर्जनात्मक अस्मिता से दूर का सम्बन्ध हो। अभी देरिदा का देहान्त हुआ है। उनके विखंडन-सिद्धान्त का बड़ा जोर है। उसके अनुसार भाषा एक बहुत ही अस्थिर और फिसलनभरी चीज है, इसलिए वह कोई निश्चित अर्थ देने में असमर्थ है। इस मान्यता ने इस सम्भावना का द्वार खोल दिया कि किसी भी रचना की असंख्य व्याख्याएँ हो सकती हैं। तात्पर्य यह कि रचनाकार रचना पर अपना कोई अभिप्राय नहीं लाद सकता। विखंडन-सिद्धान्त के विरोधियों ने उचित ही उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जान-बूझकर खड़ी की गई धुंध की संज्ञा दी। निश्चय ही कोई भी रचना अपने पाठ तक सीमित नहीं रहती और उसमें अर्थ के उसी प्रकार दूर-दूर तक जानेवाले वृत्त बनते हैं, एक वृत्त के धक्के से बने दूसरे वृत्त के क्रम से, जैसे पानी में कंकड़ फेंकने पर वृत्त पर वृत्त बनते चले जाते हैं। यह आलोचकीय कर्म में शामिल है कि आलोचक रचना के पाठ के ऊपरी धरातल पर ही टिका न रहे, बल्कि वहाँ तक उसके अर्थ-वृत्तों का पीछा करे, जहाँ तक वे जाते हैं। इसका यह मतलब कतई नहीं है कि किसी भी रचना की पाठक द्वारा कोई भी व्याख्या हो सकती है, यानी ऐसी व्याख्या भी, जिसका रचना के पाठ से कोई सम्बन्ध न हो। इस तरह कृति से साक्षात्कार का मतलब उसके अभिधेयार्थ यानी पद और पदार्थ के सीधे सम्बन्ध तक ही पहुँचना नहीं है, बल्कि पाठ से शुरू करके वहाँ तक जाना है, जहाँ तक उसका रणन और अनुरणन हमें ले जाता है।

जब कृति हमारे सामने आती है, तो वस्तुतः हमारा पूर्वार्जित सम्पूर्ण आलोचनात्मक ज्ञान विस्मृत हो जाता है और हम उसके सामने निहत्थे खड़े होते हैं। पूर्वार्जित सम्पूर्ण ज्ञान का विस्मरण हमें उस युवती की याद दिलाता है, जिसने अपनी सखी से कहा था—तुम भाग्यशाली हो कि तुम्हें अपने प्रिय का सम्पूर्ण प्रेम-व्यवहार याद है। मेरे तो नीवीबन्ध पर जहाँ वह हाथ रखता है कि मैं सबकुछ भूल जाती हूँ, जो उसके बाद क्या होता है, मैं कुछ नहीं कह सकती। रचना में रस लेनेवाले आलोचक की यही स्थिति होती है। उसे कुछ भी याद नहीं रह जाता कि उसने साहित्यालोचन के कौन-कौन-से तरीके सीखे हैं और यहाँ उनमें से कौन कारगर हो सकता है। इस अवस्था में सिर्फ उसका अपना साहित्य-विवेक उसकी सहायता करता है। उपर्युक्त युवती की तुलना में उसका काम एक तरह से कठिन है, क्योंकि उसे कृति का रस-बोध ही नहीं करना है, एक दूसरे स्तर पर उसे उसके बारे में बतलाना भी है। जो ज्ञान उसके अपने साहित्य-विवेक को सम्बन्धित करे, उसी को साहित्य वा आलोचना का सही ज्ञान समझना चाहिए।

हिन्दी में यह स्थिति है कि जब कभी आलोचना को कृति-केन्द्रित बनाने की बात कही जाती है, क्रान्तिकारी लेखकों के कान खड़े हो जाते हैं और वे कहने लगते हैं कि यह आलोचना को रूपवादी बनाने का कुचक्र है। इस सम्बन्ध में मुझे दो बातें कहनी हैं। एक तो यह कि जो इस तरह रूपवाद का शोर उठाते हैं, वे निश्चित रूप से साहित्य में अन्तर्वस्तु और रूप का फर्क करके चलते हैं। सच्चाई यह है कि किसी भी कृति में ये दोनों न केवल एक-दूसरे से अलग नहीं होते, बल्कि रूप के चलते ही अन्तर्वस्तु को कृति-त्व प्राप्त होता है। रचना की कच्ची सामग्री रचना की कलात्मक प्रक्रिया से गुजरकर जब तक कलात्मक रूप नहीं प्राप्त करती, उसे *कृति* नहीं कह सकते। निस्सन्देह अन्तर्वस्तु और रूप एक-दूसरे से अभिन्न हैं, क्योंकि रूप के निर्माण में अन्तर्वस्तु का भी योगदान होता है और अन्तर्वस्तु की प्रभावोत्पादकता रूप के बिना असम्भव है। आम तौर पर लोग समझते हैं कि रूप वस्तु-निरपेक्ष होता है, लेकिन ज्ञातव्य है कि घड़े का रूप मिट्टी के बिना असम्भव है। इस तरह 'घड़ापन' वस्तु और रूप दोनों की निर्मिति का फल है, उनमें से किसी से निरपेक्ष नहीं। फिर रूपवाद का शोर यह आरोप लगाते हुए उठाने का क्या मतलब है कि उसमें केवल रचना के रूप पर विचार किया जाता है, जो कि उसकी अन्तर्वस्तु से कोई मतलब नहीं रखता है ? सोचने की बात है कि 'गोदान', 'शेखर : एक जीवनी' और 'मैला आँचल' के औपन्यासिक रूप में जो फर्क है, वह क्या इन तीनों उपन्यासों की सामग्री की भिन्नता के अभाव में सम्भव था ? जाहिर है कि कृति-केन्द्रित आलोचना में कृति विचारणीय होती है, न केवल अन्तर्वस्तु और न केवल रूप। उसमें दृष्टि इन दोनों के अद्वैत या एकत्व पर टिकाई जाती है, जो कि आलोचना के लिए कठिन काम है। ऐसी स्थिति में यदि आलोचक रूप को छोड़कर केवल अन्तर्वस्तु की तरफ, या अन्तर्वस्तु को छोड़कर केवल रूप की तरफ चले जाते हैं, तो वह स्वाभाविक है, क्योंकि वह रास्ता आसान है। इन दोनों में सन्तुलन अथवा असन्तुलन बतलाकर चल देना भी कम आसान नहीं है। कठिन यह है कि रूप के निर्माण में अन्तर्वस्तु ने और अन्तर्वस्तु की प्रभाव-वृद्धि में रूप ने जो भूमिका निभाई है, उसे देखा और दिखाया जाए।

दूसरी बात रचना के मूल्यांकन से सम्बन्धित है। जब कृति-केन्द्रित आलोचना का प्रस्ताव किया जाता है, तो उसे रूपवाद कहकर इसलिए भी उसका विरोध किया जाता है कि समझा जाता है कि उससे कृति की केवल व्याख्या होगी, जबकि आवश्यकता उसके मूल्यांकन की भी है। यह समस्या नई नहीं, बल्कि बहुत पुरानी है। इलियट भी कुछ ऐसा ही समझते थे, वरना वे यह न सुझाते कि कृति की कलात्मकता की परीक्षा साहित्यिक प्रतिमानों पर की जाए और उसकी श्रेष्ठता की परीक्षा साहित्येतर प्रतिमानों पर। स्पष्टतः ऐसा उन्होंने इसलिए सुझाया था कि कहीं उनके मन में भी यह बात थी कि कोई साहित्यिक कृति सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से हेय भी हो सकती है। निश्चय ही श्रेष्ठता की कोटियाँ होती हैं, लेकिन यदि इसके पीछे यह धारणा स्थित है कि कोई साहित्यिक कृति मानव-विरोधी भी हो सकती है, तो वह गलत है। साहित्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ बुनियादी मूल्य होते हैं, जिनकी उपेक्षा करके वह नहीं चल सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि वे मूल्य मूलतः मानववादी होते हैं। आधुनिक काल में कथित आधुनिकतावादी साहित्य को मानव-विरोधी तक कहा गया है। जहाँ तक मुझे याद है, सम्भवतः सार्त्र ने यह चुनौती दी थी कि कोई उन्हें एक भी ऐसी कविता दिखलाए, जो मानव-विरोधी हो। किसी को कोई कृति ऐसी प्रतीत होती है, तो उसे अपनी दृष्टि-सीमा का विस्तार करना चाहिए और साहित्य की पेचोखम से भरी हुई कलात्मक प्रविधियों के भीतर झाँककर देखने का अभ्यास करना चाहिए। वहाँ उसे सतह पर तैरता हुआ मानव-प्रेम नहीं, बल्कि बहुत गहरे रूप में मौजूद मानव-प्रेम देखने को मिलेगा। ऐसी स्थिति में किसी भी साहित्यिक कृति के अलग से मूल्यांकन का प्रश्न नहीं उठना चाहिए। यदि वह साहित्य के रूप में सफल है, तो मानववाद की भी निधि है। यहाँ यह जरूर याद रखना चाहिए कि मनुष्य की व्याप्ति बहुत ज्यादा है और वह एक-दो सीमित प्रतीकों में निःशेष नहीं हो जाता।

उपर्युक्त मानव या मनुष्य की जब बात की जाती है, तो कुछ लेखक कहते हैं कि यह एक 'अमूर्त मानव' की बात है। उनका कहना इस दृष्टि से सही है कि साहित्य में चित्रित मानवीय चरित्र तभी प्रभावशाली होता है, जबकि वह सामान्य न होकर विशिष्ट होता है, जैसे कोई किसान, कोई मजदूर, कोई किरानी या कोई राजनेता या अफसर हो। यहाँ यह स्मरणीय है कि यह 'विशिष्ट' जब साहित्य में पुनः सामान्य या साधारण बनता है, तभी उसका साहित्यिक मूल्य होता है। विशिष्ट से साधारण बनने की यह प्रक्रिया मूर्तिकरण से अमूर्तिकरण तक की ही प्रक्रिया है। आचार्य शुक्ल ने जायसीकृत नागमती के विरह-वर्णन के प्रभावोत्पादक होने का एक कारण यह बतलाया है कि विरह में नागमती अपना रानीपन भूलकर साधारण स्त्री हो जाती है। रामचरितमानस से उदाहरण लें, तो उसमें दशरथ के राजपरिवार की जो कहानी है, उसकी लोकप्रियता इसी बात में निहित है कि वह राजपरिवार की कहानी न रहकर अन्ततः 'साधारण' कहानी बन जाती है। आज भी दशरथ की मृत्यु हमें शोकदग्ध कर देती है। क्यों ? इसीलिए तो कि वह मात्र एक राजा की मृत्यु न रहकर एक 'साधारण' मनुष्य की त्रासदी बन जाती है। यदि 'गोदान' में होरी की त्रासदी सिर्फ उसी की त्रासदी बनी रहती है और 'साधारण' मानवीय त्रासदी का रूप नहीं लेती, तो मानना पड़ेगा कि उसकी श्रेष्ठता में एक बड़ी कमी है। इस अवस्था में 'अमूर्त मानव' की परिकल्पना से घबराने की जरूरत नहीं है, यदि वह मूर्त से अमूर्त में संक्रमित या विसर्जित होने के बाद सम्भव हुआ हो।

हिन्दी आलोचना के वर्तमान और भविष्य दोनों का ही इन बातों से सम्बन्ध है। आ

[भारतीय हिन्दी परिषद् के पैंतीसवें (धारवाड़) अधिवेशन में आलोचना-गोष्ठी के अध्यक्ष-पद से हिन्दी आलोचना के वर्तमान और भविष्य पर दिए गए व्याख्यान का लिखित रूप।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिवेशितों का काव्यशास्त्र

विनोद शाही

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, जब दुनिया का वर्चस्वी चिन्तन और संस्कृतिकर्म—समाज राजनैतिक आधारभूमि के छायानट की तरह—दो ध्रुवों में विभाजित होने का अभिनय कर रहा था; संरचनावाद की ओर से की गई यह उद्घोषणा सभी का ध्यान अपनी ओर खींचने में सफल हो रही थी कि उसने एक वैश्विक काव्यशास्त्र के जन्म की भूमिका तैयार कर दी है। रोमन याकोब्सन रूसी रूपवाद के भाषिक चिन्तन की भूमि से संरचनावाद में छलाँग-सी लेते हुए काव्यशास्त्र का संरचनावादी वैश्विक-मॉडल लेकर सामने आ खड़े हुए थे। यह मॉडल काव्यशास्त्र की दुनिया को क्लासिकी और रोमैंटिक धाराओं में मुख्यतः विभाजित पाकर यह प्रस्तावित कर रहा था कि सभी क्लासिकी काव्यशास्त्र संरचनावाद के कालक्रमिक आरेख पर तथा रोमैंटिक काव्यशास्त्र समसमय के आरेख पर उसमें समाहित हो जाते हैं। संस्कृति वाला समयक्रम में खुलनेवाला विराट आयाम क्लासिकी काव्यशास्त्र के लिए माकूल जमीन है, तो समसमय में वक्ता से जुड़ा, वैयक्तिक धरातल रोमैंटिक काव्यशास्त्र के लिए। इन्हीं के आगे अन्तर्विकास की तरह क्लासिकी काव्यशास्त्र के भीतर से बहुपाठीयता या अन्तर्पाठीयता की सम्भावना वाले एवं रोमैंटिक काव्यशास्त्र के भीतर से—वक्ता से श्रोता या पाठक तक आते हुए—प्रभाववाद से लेकर पाठकवाद तक के नये काव्यशास्त्रीय मॉडल निकल आते हैं।

संरचनावाद के आधार पर प्रस्तुत वैश्विक काव्यशास्त्र का यह मॉडल इस दुनिया से महाशक्तियों के ध्रुवीकरण के दौर के विदा होते ही, अपने ही दावों के खोखलेपन के रूबरू आकर खड़ा हो जाता है। इसके गर्भ से प्रकट होनेवाला उत्तरसंरचनावादी काव्यशास्त्रीय विमर्श—संरचनावादी वस्तुनिष्ठता, व्यवस्था, वर्चस्वी अर्थच्छवियों पर आधारित बहुअर्थापन और 'भीतरी' एवं 'बाहरी' के विविधरूपा संयोजन-समीकरणों की विश्वसनीयता को—सन्देह की नजरों से देखता हुआ इन्हें 'विखंडित' करके 'सत्य' के 'नवनिर्माण' एवं 'नवउत्पादन' की राह पकड़ लेता है। वह संरचनावाद की 'वस्तुनिष्ठता' में छिपी 'वैयक्तिकता' को और 'वर्चस्वी अर्थों' के अधिनायकवाद एवं पूर्वाग्रहों को बेनकाब करने लगता है। इस तरह उत्तरसंरचनावादी विमर्श उन सभी 'समग्रतामूलक', 'सर्वग्राही' या 'वैश्विकता' वाले दावों, मिथकों या महाआख्यानों का विखंडन करने लगता है जो काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में हमें एक 'वैश्विक काव्यशास्त्र' के जन्म एवं निर्माण की उम्मीदों की ओर ले जा रहे थे।

ठीक से देखा जाए तो उत्तरसंरचनावाद संरचनावाद के गर्भ से पैदा हुई वह आत्मविरुद्धता है, जो ध्रुवीकृत दुनिया के खात्मे के बाद

818/7, हाऊसिंग बोर्ड कालोनी, जी.टी.बी. नगर, जालन्धर शहर-144 003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभरे यूरोअमरीकी वर्चस्ववाद का मुख्य अन्तर्विरोध है।

काव्यशास्त्र के धरातल पर इस वस्तुस्थिति को समझने का प्रयास करें, तो कह सकते हैं कि उत्तरसंरचनावादी साहित्य विमर्श, काव्यशास्त्र को निर्मित करने और विकसित करनेवाले 'सिद्धान्त' को ही, विखंडित करता है और इस तरह वह वैश्विक काव्यशास्त्र की ही किसी भी सम्भावना ही को खारिज नहीं करता; अपितु 'काव्यशास्त्र' की ही ज़मीन को उसके नीचे से खिसकाने का प्रयास कर रहा है। यह काव्यशास्त्र की उत्तरसंरचनावादी आत्मविरुद्धता का एक प्रमाण है, जिसे देखते हुए अब अनेक चिन्तक-आलोचक (मसलन टेरी ईगल्टन) हमारे सामने प्रकट होनेवाली काव्यशास्त्र के इतिहास की अब तक की सबसे बड़ी अराजकता को भाँपकर, हमें पुनः मार्क्सवाद की नई सम्भावनाओं को तलाशने की सलाह दे रहे हैं।

इस पूरे परिदृश्य को अपने सामने रखते हुए मुझे यहाँ जो बात कहने लायक लगती है, वह यह है कि आज जबकि हम अब तक के वर्चस्वी (या वर्चस्ववादी कोटि के) काव्यशास्त्र के अन्त के साक्षी हो रहे हैं, हमारे सामने उपनिवेशितों के एक नए काव्यशास्त्र के जन्म लेने की सम्भावनाएँ बढ़ती जाती हैं। 'उपनिवेशित' शब्द का इस्तेमाल यहाँ मैंने मौजूदा एवं तात्कालिक सन्दर्भों के मद्देनज़र ही किया है, जो फिलहाल उपेक्षित, दलित, शोषित एवं दमित जैसे शब्दों के मुकाबले में अधिक मौजूँ ही नहीं, अधिक ठोस एवं ऐतिहासिक ज़मीन वाला भी है। और अगर हम वाकई मार्क्सवाद की नई काव्यशास्त्रीय अन्तर्विकास की सम्भावनाओं की तलाश को लेकर संजीदा हैं, तो हमें यही राह पकड़नी होगी; बनिस्बत इसके कि हम पहले की तरह शोषित, दमित, दलित जैसे 'व्यापक'—और इसीलिए एक अर्थ में अमूर्त्त—शब्दों की 'सीमित' अवधारणाएँ बनाकर अपने प्रयोजनों को ठोस व्यावहारिक शक्ल देने के चक्कर में पुनः ठुस्स होता हुआ देखें। इसे आगे चलकर और विस्तार में समझने का प्रयास किया जाएगा।

काव्यशास्त्र के इतिहास पर एक निगाह दौड़ाएँ, तो हमें यह देखने में खास दिक्कत नहीं होती कि अतीत के क्लासिकी एवं नवक्लासिकी काव्यशास्त्रों के बाद आधुनिक काल में ही काव्यशास्त्र के बुनियादी ढाँचे में उल्लेखनीय गुणात्मक तब्दीली प्रकट होती है। इस लिहाज से उन्नीसवीं शती का आरम्भ काल युगान्तरकारी प्रतीत होता है। आधुनिक जीवन-पद्धति और समाज-व्यवस्था सांस्कृतिक एवं राजनैतिक धरातल पर हमें गुणात्मक परिवर्तन की ओर ले गए। 1789 की फ्रांसीसी जनतान्त्रिक क्रान्ति के एक दशक के भीतर-भीतर 1798 में वड्र्सवर्थ अपने 'लिरिकल बैलेड्ज़' की भूमिका और काव्य के साथ सामने आते हैं और फिर वड्र्सवर्थ एवं कोलरिज के साझे प्रयासों के आधार पर एक नये तरह के काव्यशास्त्र की भूमिका बनती है—जिसका आधार 'विरुद्धों के सामंजस्य' में देखा जा सकता है।

यह चिन्तन की द्वन्द्वात्मक पद्धति के अचानक केन्द्रीय विमर्श बन जाने का परिणाम है। हीगेल और मार्क्स के दर्शनों के द्वारा व्यवस्थित होती हुई यह नई चिन्तन-पद्धति काव्यशास्त्र के अब तक के सर्वस्वीकृत हो चुके क्लासिकी मॉडल के लिए गम्भीर चुनौती प्रस्तुत करती है। क्लासिकी अथवा शास्त्रीय काव्यशास्त्र मूलतः नायक, परम्परा, मर्यादा और कुलीन भाषा-केन्द्रित शास्त्र था, जिसका प्रयोजन था साहित्य के ज़रिए विविध तनावों, विरोधों, विडम्बनाओं और संघर्षभूमियों को 'उदात्त', 'विराट', 'भव्य', 'चमत्कारिक' अथवा 'आनन्दमूलक' या 'रसात्मक' अनुभव में ले जाकर 'समंजित', 'नियन्त्रित', 'विगलित' या 'खारिज करना'। इस तरह काव्यशास्त्र के शास्त्रीय रूप को जरा-सा द्वन्द्वात्मक तरीके से छीलते-उघाड़ते ही हम उसके उस सारतत्त्व तक पहुँच जाते हैं, जो प्रकारान्तर से मध्ययुग की भी बुनियादी चिन्ता, प्रवृत्ति और प्रयोजन है। सारतात्त्विक दृष्टि से शास्त्रीय काव्यशास्त्र के दो मुख्य रूप प्रकट होते हैं। शुरुआती विकासोन्मुख दौर में वह मूलतः नायककेन्द्रित इतिहासचेतना की पैरवी करता है और उत्तरार्द्ध वाले पतनोन्मुख काल में नायक को आदर्शीकृत करके उसके पारलौकिक पुनर्गठन का प्रयास करता है। हमारे यहाँ रामायण, महाभारत पूर्वार्द्ध के तथा भक्तिकालीन काव्य उत्तरार्द्ध के दौर के काव्य हैं। काव्यशास्त्र के धरातल पर भरतमुनि से लेकर विविध सम्प्रदायों के आचार्यों का विवेचन पूर्वार्द्ध की हलचलों की ओर इशारा करता है; जबकि अभिनवगुप्त के वेदान्तवादी काव्यशास्त्रीय चिन्तन के बाद से उसका उत्तरकाल आरम्भ हो जाता है। यूरोप में इस उत्तरकाल की परिणति नवक्लासिकी काव्य-चिन्तन के रूप में होती है, जहाँ नायक का क्षरण काव्य के 'कौमिक-एपिक' रूपों में और काव्यशास्त्र इन महाकाव्यों की व्यंग्योक्तियों में अपने अवसान की पूर्वसूचना देने लगता है। पोप और ड्रायडन का अध्ययन 'शास्त्रीय काव्यशास्त्र के अवसान' की व्यंग्यमय अभिव्यक्ति करने के दृष्टिकोण से किया जाए, तो हमें उसमें नये द्वन्द्वात्मक काव्यशास्त्र के प्रकट होने के पूर्वरूपों का संकेत भी मिलता दिखाई दे सकता है। हिन्दी में रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय चिन्तन इसी अवसान की एक 'अन्य', और किंचित 'भिन्न' तरीके की अभिव्यक्ति करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। हमारे यहाँ 'नायक' इस काव्यशास्त्र में जिस प्रकार अन्तहीन 'नायक और नायिका-भेदों' में खोकर विखंडित होता है, वह व्यंग्य से अधिक हास्य और विडम्बना की सारभूमि रचता है। आप उन 'छैल-छबीलों' पर जितना हँस सकते हैं, उससे अधिक तरस खाकर झींकते हैं। इस हास्य और विडम्बना से युक्त विवेचनों को महावीरप्रसाद द्विवेदी से लेकर रामचन्द्र शुक्ल तक अमूमन आवृत्त होते सहज ही रेखांकित किया जा सकता है। (और यह काव्यशास्त्रीय पद्धति एक बार जब उखड़ती है तो पूरी परवर्त्ती आधुनिक आलोचना में सिवाय धर्मवीर भारती के और कोई अन्य रचनाकार-चिन्तक उसके पुनरुत्थान के लिए कोई गम्भीर प्रयास करता दिखाई नहीं देता।)

यहाँ शास्त्रीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में उसके बार-बार पुनरुत्थान का जो मिथक रोमैंटिक दौर की आमद के बाद गढ़ा गया, उसकी सारहीनता को समझना भी जरूरी लगता है। रोमैंटिक और उत्तररोमैंटिक आलोचना के काल में अनेक रचनाकार-चिन्तक यह विचार व्यक्त करते रहे हैं कि शास्त्रीय और रोमैंटिक काव्यशास्त्र एक के बाद एक पुनः-पुनः आकर स्वयं को दोहराते रहते हैं और इसी क्रमिक आवृत्ति से काव्यशास्त्र का विकास होता है। यह विचार मुख्यतः टी.एस. इलियट द्वारा प्रचारित-प्रसारित किया गया था। उसने अपनी बात को पुष्ट-प्रमाणित करने के लिए आधुनिकता-पूर्व कालों के दो बड़े रचनाकारों—शेक्सपियर और डन. की पुनर्व्याख्याएँ इसी आधार पर की थीं और उनमें रोमैंटिक एवं शास्त्रीय तत्त्वों का ऐसा समन्वय दिखाया था, जिसके आधार पर वे 'आधुनिकता' के पूर्ववाहक या हरावल दस्ते के रूप में पुनर्स्थापित कर दिए गए। यानी यह कहने का और प्रमाणित करने का प्रयास किया गया कि आधुनिक काव्यशास्त्र जिस रूप में हृदय और बुद्धि के नवसंयोजनों को 'विरुद्धों के समन्वय' की एक नई पद्धति की तरह उपलब्ध करता है, उसके पूर्वरूपों की पुष्टि और मौजूदगी इन रचनाकारों के साहित्य में है। इस तरह इलियट उत्तररोमैंटिक काल में शास्त्रीयता के नवोत्थान की चर्चा के लिए जगह बनाने का प्रयास कर रहा था जबकि इसके उलट वस्तुस्थिति यह थी कि उसका साहित्य-चिन्तन और रचनाकर्म दोनों रोमैंटिकता के प्रभाव से विखंडित एवं विरूपित (डीर्जेनरेट) हो गई शास्त्रीयता के भग्न खँडहरों की बिखरी हुई कहानी-भर कहने में समर्थ होते हैं। इस धरातल पर 'वेस्टलैंड' के समानान्तर 'परम्परा' का वह 'नवसृजन' है, जो 'व्यक्ति प्रतिभा' के 'जातीय अनुभवों' पर आधारित होता है और जिसका 'इतिहास' वास्तविक न होकर 'रक्त में बहनेवाली अनुभूति' की तरह चेतना को 'अमूर्त्त' और 'छितराए हुए रूपों' में ही उपलब्ध होता है। यह 'असामंजस्य' (डिस्कॉर्डेंट) का 'अनुभव' है, जिसे व्यक्त करने के लिए 'दूरागत बिम्बों' को नजदीक लानेवाले 'वस्तुनिष्ठ समीकरण' गढ़े जाते हैं। इस तरह थोड़ा ध्यान से देखते ही हम यह रेखांकित करने में सफल हो जाते हैं कि जिसे कोलरिज आदि रोमैंटिक काव्यशास्त्री 'कल्पना' के द्वारा किया गया 'विरुद्धों का सामंजस्य' कहते हैं; वही शक्ल बदलकर आई.ए. रिचर्ड्स और टी.एस. इलियट में विश्लेषणगम्य भाषिक आधार वाला अथवा रूपपरक 'विरुद्धों का सामंजस्य' हो जाता है। रिचर्ड्स और इलियट तथा इनके पीछे आनेवाले रूपवादी भले ही कितने जोर-शोर से गैर-रोमैंटिक होने का दावा क्यों न करें, वे वस्तुतः कोलरिज और वर्ड्सवर्थ के 'कल्पना-कर्म' की अमूर्त रचना-प्रक्रियात्मक धारणाओं को ही एक भाषिक जमीन देने का प्रयास करते हैं—न कि उसे रद्द या खारिज करते हुए उसके विरोध में खड़े होकर कोई नई ज़मीन खोजते हैं। इतना भर होता है कि कल्पना को भाषा-रूपों की जो ज़मीन मिल जाती है, उससे वह अनुशासित, व्यवस्थित और अपेक्षाकृत ठोस या वस्तुपरक प्रतीत होने लगती है और उसका 'विरुद्धों का सामंजस्य' चेतनामूलक वस्तु ही न रहकर भाषा-निबद्ध और भाषा-संचालित वस्तु में बदल जाता है।

इसे समझने के लिए हमें रोमैंटिक आलोचना की कुछ प्रमुख अवधारणाओं का भाषा-विखंडन करना होगा। रोमैंटिक आलोचना को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने का प्रयास करते हुए रोमैंटिक आलोचक ब्रेडले अरस्तू के 'अनुकरण' की रोमैंटिक पुनर्व्याख्या उसे 'कल्पनात्मक पुनरुत्पादन' कहते हुए करते हैं। भाषा के तल पर 'पुनरुत्पादन' शब्द पूँजीवादी औद्योगिक परिवेश में हमारे चिन्तन का 'बीजशब्द' बनकर नुमायाँ होने लगता है। वह यान्त्रिक पुनरुत्पादन का विकल्प खोजने का प्रयास है, जो जैविक, सामाजिक या सांस्कृतिक जैसी किसी भी अर्थ-छवि से युक्त हो सकता है। परन्तु 'यथार्थ का कल्पनात्मक पुनरुत्पादन' अन्ततः एक 'भाषिक पुनरुत्पादन' वाले मुहावरे को पाकर ही अपने वास्तविक अर्थ को प्रकट या ध्वनित करने में एक हद तक सफल हो पाता है। अगर हमारा यह विश्लेषण सही दिशा की तलाश में हमारी थोड़ी भी मदद करता है, तो हम रोमैंटिक काल से शुरू हुए एक नए गैर-शास्त्रीय काव्यशास्त्र के निर्माण और विकास के विविध चरणों के रूप में ही काव्यशास्त्र के विकास के इतिहास को पढ़ सकते हैं। यह नया काव्यशास्त्र द्वन्द्वात्मक चिन्तन-पद्धति के द्वारा ही आधुनिक समाज की व्याख्या सम्भव होने की प्रक्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उत्तरोत्तर निर्मित-विकसित होनेवाला काव्यशास्त्र बनकर उभरता है। इस नये या आधुनिक काव्यशास्त्र ने 'विरुद्धों का सामंजस्य' अभी तक वर्चस्वी-पक्षों की दिशा ग्रहण करते हुए किया है, जबकि आगे उभरनेवाले उत्तरोत्तर नये रूपों में यह सामंजस्य और गैर-वर्चस्वी पक्षों की दिशा ग्रहण करते हुए ही सम्भव हो पाएगा और तभी यह पुनः एक और गुणात्मक या क्रान्तिकारी अन्तःरूपान्तर को उपलब्ध हो पाएगा।

शास्त्रीय काव्यशास्त्र जिन विरोधों को नायक की सर्वातिक्रमी अति-वर्चस्वी भूमिका के पक्ष में समंजित करते हुए उसे या तो खारिज कर देता था या रूपान्तरित करके 'रस' या 'उदात्त' की अनुभूति में ढाल लेता था जबकि मध्यकाल के विदा होने पर जो जनतान्त्रिक और समाजवादी समाज-व्यवस्थाएँ प्रकट हुईं, उन्होंने नायक को विदा करके उसकी जगह 'वर्ग', 'समूह', 'समाज', 'संस्था', 'राजनीति' या 'संस्कृति' जैसी व्यापक-सामूहिक अवधारणाओं को लाकर बिठा दिया। इससे विरोधों का समंजन उन्हें सर्वथा खारिज करने या उदात्त या रस में रूपान्तरित करने में सर्वथा असमर्थ हो गया। और इसीलिए वह समंजन या तो अधूरा अथवा असमाप्त या अन्तहीन प्रश्नाकुल मुक्तावस्था वाला समंजन होने लगा, अथवा समंजन के लिए कोई नई व्यापक-सामूहिक लगनेवाली जमीन खोजने लगा। यह नई जमीन कभी 'भाषा' के रूप में खोजी गई, कभी 'रूप' या 'संरचना' के रूप में और अथवा कृति की भीतरी दुनिया अथवा समाज के बाहर की दुनिया से द्वन्द्वात्मक रिश्तों की किसी परिकल्पना में; और अथवा कृति के पाठ या विमर्श के पाठकों-आलोचकों के द्वारा उपलब्ध किए गए विविध पाठों और विमर्शों के रूप में।

हम देख सकते हैं कि नायक की वर्चस्वी भूमिका के विदा होने और किसी सामूहिक सत्ता या अस्तित्व या वर्ग के उसकी जगह ले लेने के परिणामस्वरूप काव्यशास्त्र की पूरी व्यवस्था ही किस तरह बिखरकर पुनस्संयोजित होने का प्रयास कर रही है। परन्तु अभी तक चूँकि हम संक्रमण की सुदीर्घ ज़द से पूरी तरह बाहर नहीं आए हैं, अतः शास्त्रीय काव्यशास्त्र का 'वर्चस्ववाद' एक नई शक्ल में अभी तक हमारे काव्यशास्त्र को निर्देशित-संचालित कर रहा है। और अगर यह 'वर्चस्व' भी बिखरता है, तो उससे 'सामंजस्य' का अर्थ तक झूठा पड़ने का संकट खड़ा हो जाएगा। यानी तब हम गैर-वर्चस्वी केन्द्र के नज़रिए से एक नये प्रति-सामंजस्य की प्रक्रिया की ओर उन्मुख हो जाएँगे। इससे पहली दफा 'विरोध' या 'विरुद्धताएँ' ही हमारे नये नायकों की तरह केन्द्र में आकर बैठ जाएँगी तथा सामंजस्य के स्थान पर हम 'सह-अस्तित्व' जैसी किसी नई संगति की ओर मुड़ जाएँगे। पाठकवाद, बहुअर्थी विमर्श-बहुलता एवं अन्तर्पाठीयता जैसी अवधारणाएँ इसी ओर संकेत कर रही हैं, परन्तु ये सारतः वर्चस्ववाद को बचाने-उबारने का आखिरी प्रयास है क्योंकि इनकी नकेल अभी तक उन्हीं के हाथों में है। इस नई सम्भावना के मुहाने पर आकर अब हम 'उपनिवेशितों के काव्यशास्त्र' की सम्भावनाओं पर विचार कर सकते हैं।

शास्त्रीय काव्यशास्त्र मध्यकालीन राजशाही के समान्तर नायक-वर्चस्वी काव्यशास्त्र है। वहाँ साहित्य 'ऊँचे रंगमंच' से 'जन' का 'दर्शकों' में बदलता हुआ—यानी उच्च सिंहासनों से 'भूमिस्थों' को मुखातिब होता हुआ—मुख्यतः नाटकों और महाकाव्यों की सृष्टि के लिए द्वार खोलता हुआ, अपने शास्त्रीय अनुशासन का निर्माण करता है। भरतमुनि के रस-सिद्धान्त में विभाव आश्रय या नायक पर अवलम्बित 'शेष' को नायक के अनुभावों के रूप में मूर्त्त करता हुआ—यानी नायक की चेष्टाओं और भंगिमाओं को ही भाव और रस के जन्म की वास्तविक भूमि मानता हुआ हमारे सामने आता है। वह विशेष को 'साधारणीकृत' करने की व्यवस्था है—जो दर्शकों-पाठकों को उनके 'वासनाजन्य दोषों' से उबारता है, उनके 'तमस' और 'रजस' के बन्धनों का उपचार करके उन्हें 'सात्त्विक' व्यवस्था के अनुकूल-अनुरूप बनाता है। ऐसे शास्त्रीय अनुशासन की यथार्थभूमि क्या राजशाही के अलावा किसी अन्य यथार्थ में खोज समीचीन होगी ? और भरत की ही तरह प्लेटो और अरस्तू भी उसी राजशाही से उद्भूत काव्यशास्त्र द्वारा साहित्य पर 'शासन' करने के सिद्धान्त ही रचते हैं। नायक की मार्फत 'यथार्थ' यानी 'मानव व्यवहारों' का या 'मानव प्रकृति' का 'अनुकरण' करते-करवाते हुए वे नायक-वर्चस्वी मनोभूमि और कार्य-व्यापारों द्वारा ऐसे पूर्णवृत्त और 'अन्त' के विधान की चर्चा उठाते हैं, जो सामान्य जन के भय और करुणाभावों को विरेचित करके उन्हें 'शासित-अनुशासित' होने लायक वस्तु में बदलती है।

और पूरी मानवजाति के पास तब से लेकर अब तक बहुत सारे काव्यशास्त्र नहीं हैं। शास्त्रीय काव्यशास्त्र के बाद अब हम प्रजातान्त्रिक या समाजवादी काव्यशास्त्र के निर्माण की प्रक्रिया के संक्रान्तिकाल से होकर गुजर रहे हैं। यह शास्त्रीय काव्यशास्त्र के बाद दूसरा काव्यशास्त्र होगा—एक वैकल्पिक काव्यशास्त्र, जिसके निर्माण की प्रक्रिया का आरम्भ रोमैंटिक काल में हो चुका है और जिसका दार्शनिक आधार है—द्वन्द्वात्मक दर्शन। शास्त्रीय काव्यशास्त्र इस द्वन्द्वात्मकता को या तो खारिज करता था, या फिर उसे उदात्तीकृत या रहस्यीकृत करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'नायक' को, अथवा प्रकारान्तर से राजशाही को, बचा लेता था। अब जो नया जनकेन्द्रित काव्यशास्त्र निर्मित होने जा रहा है, उसमें विरोधों या विरुद्धों की अहमियत को पहचानने के कारण खारिज करना या उदात्तीकृत करना सम्भव नहीं रह गया है। लेकिन हम अभी तक 'सामंजस्य' की तलाश में जरूर हैं। सामंजस्य रस, विरेचन, उदात्त जैसे शास्त्रीय कारकों का ही आधुनिक तर्कनिष्ठ रूपान्तर है। परन्तु सामंजस्य की मूल समस्या यह है कि वह एक समग्र सामाजिक रूपान्तर के अभाव में केवल इस या उस पक्ष की ओर झुककर ही सीमित रूप में सम्भव होता है। यह झुकाव ही आज पक्षधरता के बुनियादी काव्यशास्त्रीय मुद्दे को जन्म देता है। तो दो तरह के काव्यशास्त्र नज़र आते हैं। एक वे जो पक्षधरता की दुहाई देते हैं और सामंजस्य को जनपक्ष का हिस्सा बनाना चाहते हैं। दूसरे वे काव्यशास्त्रीय प्रयास हैं जो सामंजस्य को कृति के आन्तरिक, भाषिक, विमर्शात्मक अथवा पाठकवादी निर्णयों या दिशाबोधों का निष्कर्ष मात्र मानकर छोड़ना बेहतर समझते हैं और उसे एक वास्तविक या ठोस वस्तु की तरह ग्रहण करने की बजाय 'व्यंजना' में या 'व्याख्या' अथवा 'चेतना' में अनुगुंजित होता हुआ ही रहने देना बेहतर समझते हैं। 'पक्ष की व्यंजना' वाले काव्यशास्त्र 'पक्षधरता' को आरोपण या प्रचार-वस्तु के रूप में देखते हैं। वजह स्पष्ट है। जब तक हमारी समाज-व्यवस्था वस्तुतः जनतान्त्रिक या सारतः समाजवादी नहीं हो जाती, पक्षधरता के प्रकार्य या तो सामंजस्य को खंडित करते हुए प्रतीत होते हैं, अथवा किसी विद्रोही या सम्भावित (यूटोपियाई) स्थिति में अपनी जमीन खोजने का प्रयास करते हैं। इन वजहों से पक्षधरतामूलक काव्यशास्त्र भविष्य की वस्तु और पक्षव्यंजक काव्यशास्त्र अनिश्चयात्मक, अन्तविहीन, एवं आत्मविरुद्ध (सामंजस्य की अन्तःविरुद्धता को उभारनेवाले) साबित होते हैं।

अब यहाँ यह सवाल उठाना और पूछना वाजिब अथवा वैध होगा कि आखिर क्या वजह है कि दो सदियों के इस लम्बे अन्तराल के बावजूद—जनतान्त्रिक और समाजवादी क्रान्तियों के द्वारा लाए गए बुनियादी और गुणात्मक समाज-रूपान्तरों के बावजूद—हम अभी तक एक नए जनतान्त्रिक-समाजवादी काव्यशास्त्र के निर्माण से क्यों चूकते जा रहे हैं ?

इसकी वजह अब कहीं जाकर थोड़ी खुलनी आरम्भ हुई है—देरिदा के विखंडन की भूमि का सही इस्तेमाल करते हुए एडवर्ड सईद ने हमें यह दिखलाने का प्रयास किया है कि इन दो सदियों में निर्मित होनेवाला काव्यशास्त्र 'गहरे में साम्राज्यवादी सरोकारों' से ग्रस्त रहा है। नोम चॉम्स्की के विवेचन भी इस 'गहरी संचरना' को बेनकाब करने में हमारी मदद कर रहे हैं। और अगर विवेचन की यह दिशा सही है तो इससे यह निष्कर्ष निकालना सम्भव और आसान हो जाता है कि इससे पहले कि वह जनतान्त्रिक-समाजवादी काव्यशास्त्र प्रकट हो, पहले हमें काव्यशास्त्र की ज़मीन पर स्थापित 'साम्राज्यवादी' निर्मितियों को हटाना और निरस्त करना होगा। और यह काम सिवाय 'उपनिवेशितों के संघर्षशील काव्यशास्त्र' के और कौन कर सकता है ?

कौडवेल और लूकाच ऐसे उल्लेखनीय आलोचकों की एक लम्बी सूची में अन्यतम प्रतीत होते हैं, जिन्होंने शास्त्रीय काव्यशास्त्र की अपर्याप्तता को गहराई से अनुभव करते हुए एक नए 'बुर्जूआ काव्यशास्त्र' को उसका स्थान लेने का प्रयास करते हुए स्पष्टतः रेखांकित किया। वे अपनी इस पहचान के लिए वजह तो एक नए जनवादी काव्यशास्त्र की ओर बढ़ने की अपनी मंशाओं में ही पा रहे थे, परन्तु जो उन्हें दिखाई दे रहा था, वह था उभरता, नुमायाँ होता और विकास करता एक बुर्जूआ काव्यशास्त्र का चेहरा—जो सारतः 'पतनशील' और 'मरणोन्मुख संस्कृति' को बचाने के प्रयासों से जुड़ा था। वे यह देख पा रहे थे कि महानायकों में केन्द्रित कुलीन-वर्चस्वी काव्यशास्त्र की जगह जनवादी काव्यशास्त्र नहीं, मध्यवर्ग-केन्द्रित ऐसा काव्यशास्त्र आ रहा था, जो 'आत्मविभाजित' था। इसे हम उनकी 'टाईप' और 'इनडिविजुअल' सम्बन्धी चर्चाओं में साफ देख सकते हैं। नया नायक या केन्द्रीय पात्र अब 'प्रतिनिधि' अथवा 'निजी' की कोटियों में अन्तर्विभाजित होकर हमारे सामने आ रहा था। इस तरह व्यक्ति की जगह सामूहिकता को लाने-रखने के प्रयास में जो 'प्रतिनिधि' पात्र हमारी नई कथा-संरचनाओं का मेरुदंड बन रहे थे, वे अपनी इसी 'सामूहिकता' के दबाव और वर्चस्व के कारण अपने 'निजीपन' को बहिष्कृत और निर्वासित स्थिति में पाते हुए अन्तर्विभाजित हो रहे थे।

यहाँ एक काव्यशास्त्रीय महाभ्रान्ति का निदान करना, आगे बढ़ने से पूर्व, ज़रूरी लगता है। आधुनिक दौर की शुरुआत होते ही वह जो नया काव्यशास्त्र निर्मित होने का प्रयास कर रहा था, उसे वैश्विक धरातल पर ध्रुवायित चिन्तन ने दो हिस्सों में बाँटकर आधा-आधा अपने लिए सुरक्षित करने का प्रयास किया। जनवादी काव्यशास्त्र के हिमायती 'टाईप' को यथार्थ के, या कहें कि नए सामूहिक सामाजिक यथार्थ के अधिक करीब पाते हुए अपने 'खेमे' की वस्तु मानकर उसे 'निजी' कोटि के पात्रों के 'विरोध' में ग्रहण करने लग पड़े। इसी प्रकार तथाकथित बुर्जूआ काव्यशास्त्र ने व्यक्ति को बचाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अपने प्रयासों के मद्देनजर 'टाईप' को उस पर आरोपित होनेवाले सरलीकरण का नाम देकर खारिज करने का प्रयास किया। यह वाकई बड़े आश्चर्य का विषय है कि हम यह बात एक अर्से तक क्यों ठीक से देख-समझ नहीं पाए कि ये दोनों दरअसल एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह 'युग के अन्तर्विभाजन' के प्रतीक की तरह प्रकट हुए थे। यह मध्यवर्गीय यथार्थ था, जो जनवादी-अभिमुखता के कारण 'टाईप' के रूप में व्यवहार करता था और कुलीन-सत्तावर्चस्वी यथार्थ के खंडित हो जाने के कारण उसी में अपनी जड़ों को और सार को निहित मानता हुआ उसे नितान्त अपनी निजी भूमियों पर, अपनी चेतना के गहरे स्तरों पर नए रूपों में जीने का प्रयास भी कर रहा था। उसके इस निजीपन में केवल एक असुरक्षा, जड़विहीनता या विरासतहीनता से बचने का प्रयास ही नहीं था, यह उसके द्वारा अपनी नई जमीन की तलाश का संकट भी था, जो उसके 'टाईप्ड' रूप के सत्ता के नए रूपों द्वारा अधिकृत हो जाने की वजह से उसे अपने 'निजी' धरातल में ही मिलनी सम्भव थी।

व्यक्ति के 'सार्वजनिक' और 'निजी' रूपों में अन्तर्विभाजन ने ही एक नए जनवादी काव्यशास्त्र के जन्म की सम्भावनाओं को रोक रखा है। आज हम, अपने इस उत्तरआधुनिक विश्व में, संचार-तन्त्र के द्वारा, आधुनिक मनुष्य के सार्वजनिक रूप को, सत्तावर्चस्वी शक्तियों के हक में, हथिया लिए जाने की महान विभीषिका के साक्षी हो रहे हैं। जैसे-जैसे हमारी समझ गहरी हो रही है, हम यह समझने में कामयाब होते जाते हैं कि सत्तावर्चस्वी शक्तितन्त्र द्वारा मनुष्य के सार्वजनिक रूप को तो हथिया ही लिया है, उसका हस्तक्षेप उसके निजी-रूप में निरन्तर बढ़ रहा है।

बुर्जूआ काव्यशास्त्र द्वारा मनुष्य की स्वतन्त्रता का विधान उसके निजी-रूप की बुनियाद पर ही किया जा रहा था। उसे सार्वजनिक रूप में हथियाने के लिए यह एक कारगर तरकीब थी, कि उसे उसके निजी-रूप या धरातल पर सापेक्ष स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाए। परन्तु यह स्वतन्त्रता भी एक दुराशा और एक खोखले आश्वासन का छल बनकर ही रह गई है। इस सन्दर्भ में—बुर्जूआ काव्यशास्त्र के इस अन्तर्विरोध को समझने में—फूको के अध्ययन हमारी मदद करते हैं।

फूको हमें यह बताता-दिखाता है कि किस प्रकार हमारा पूँजीवादी प्रजातान्त्रिक समाज, विज्ञान की तरक्की के परिणामस्वरूप, हमें तकनीकी विशेषज्ञों की सलाहों का और ज्ञान का मोहताज बना रहा है। इन विशेषज्ञों के निर्देशन-संचालन में बनाए गए हमारे शिक्षा-संस्थान, हमारे अस्पताल और हमारी जेलों जैसी संस्थाएँ हमारे देह-व्यवहारों तक को नियन्त्रित करती हुई उन्हें पूँजीवादी तन्त्र की ज़रूरतों के मुताबिक ढालकर अनुशासित कर रही हैं। इस तरह यह पूरा समाज हमारे लिए एक विशाल कारागार का रूप ले रहा है। हमारे देह-व्यवहारों का और हमारे सर्वाधिक निजी क्षेत्र—यौन व्यवहारों तक का—विशेषज्ञों और सूचनातन्त्र के द्वारा निर्देशन-संचालन एक तरह से हमारे समग्र निजीपन को ही शक्तितन्त्र के वशीभूत कर रहा है।

फूको और फोकाल्ट जैसे चिन्तकों के द्वारा किए गए बुर्जूआ शक्तितन्त्र के इन विश्लेषणों के सहारे हम अब अपने इन निष्कर्षों को पुष्ट होता हुआ देख सकते हैं कि पूँजीवाद का पिछली दो सदियों में उभरा साम्राज्यवादी चेहरा अब भौगोलिक रूप में शिनाख्त में आ सकनेवाला साम्राज्यवादी चेहरा नहीं रह गया है, अपितु व्यापक और सूक्ष्म होकर अब हमारे 'सार्वजनिक' जीवन को हथियाने के बाद, निजी जीवन तक विस्तारित हो गया है।

यानी बुर्जूआ काव्यशास्त्र की जिस बुनियादी धारणा के तहत हम पात्रों (मनुष्य समाज) का अन्तर्विभाजन सार्वजनिक और निजी में होता देख रहे थे, उसकी आधारभूमि खिसकनी आरम्भ हो गई है। इन कोटियों के बीच की सीमारेखाएँ गिर रही हैं और इसलिए 'विरोधों के सामंजस्य' के लिए अब हमारे पास न तो कोई विशुद्ध सार्वजनिक (टाइपिफाइड) सम्भावना बची है और न निजी एवं वैयक्तिक। इस प्रकार हमारी निजी दुनिया जैसे-जैसे और जितनी सार्वजनिक होती हुई शक्तितन्त्र के हस्तक्षेप के लिए अपने द्वार खोलती जाएगी, उसी अनुपात में निजी स्वतन्त्रता की सम्भावनाएँ भी सीमित और खारिज होने लगेंगी। इससे बुर्जूआ काव्यशास्त्र की बुनियाद ही खिसक जाएगी। यह इस काव्यशास्त्र के लिए एक तरह की आत्मविरुद्धता की स्थिति होगी—जो अपनी परिणति में आत्मघाती साबित होगी।

निज की स्वतन्त्रता का आधार बुर्जूआ काव्यशास्त्र में 'विरोधों के सामंजस्य' के लिए 'अन्त के बन्धन' से स्वतन्त्रता लाता है। वह निश्चित अन्त की बजाय खुले अन्त का विधान करता है, ताकि 'सामंजस्य' को लाया न जाए, केवल 'ध्वनित' या 'व्यंजित' किया जा सके। इस तरह हम 'अर्थबोध या अर्थतन्त्र की अनिश्चितता एवं बहुअर्थी अनन्तता' वाली संरचनाओं की ओर अग्रसर होते हैं। निश्चित अन्त कृतियों के ठोस सामाजिक व्यवस्था वाली परिणतियों की ओर धकेलते हैं, जिससे मिली आजादी हमारी निजताओं को प्रेरित और उत्साहित करती है। ऐसी ही कृतियाँ आज 'पाठकवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्यशास्त्र' के विकास की स्वर्गभूमियाँ बन गई हैं। खुले अन्त वाली बहुअर्थी भाषिक संरचनाएँ पात्रों के सार्वजनिक 'टाईप्ड' रूप को भी क्षरित और तरल बनाने का कार्य करती हैं। यही वजह है कि यथार्थवादी और विशेषतः सामाजिक यथार्थवाद की कृतियाँ, निजी या वैयक्तिक यथार्थ या अतियथार्थ या उत्तरयथार्थ वाली कृतियों के मुकाबले में, इतनी जटिल, अनिश्चयात्मक और बहुअर्थी प्रतीत नहीं होतीं। उल्टे उन पर तो आरोप ही यह लगता है कि वे इकहरी, सरलीकृत और आत्मारोपी होती हैं। परन्तु यहाँ हम बुर्जूआ काव्यशास्त्र की उस अन्तर्विभाजनमूलक ज़मीन के ही खिसक जाने पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहेंगे, बनिस्बत इसके कि बुजुर्ग और जनवादी काव्यशास्त्रों की तुलना करके एक की बजाय दूसरे की ओर रुख करें। यह तुलना अब बेमानी हो गई है, क्योंकि अगर बुर्जूआ काव्यशास्त्र को खड़ा करनेवाला, पात्रों का सार्वजनिक और निजी की कोटियों वाला, अन्तर्विभाजन ही आज निरस्त हो रहा है, तो इसका अर्थ है—बुर्जूआ काव्यशास्त्र का निरस्त होने की कगार पर पहुँच जाना। और इसका यह भी अर्थ है कि अगर आज निजी भी सार्वजनिक होता हुआ शक्तितन्त्र की गिरफ्त में आता जा रहा है, तो सार्वजनिक को आधार बनाकर खड़ा हुआ टाइप-केंद्रित जनवादी काव्यशास्त्र भी अपने इस तथाकथित जनवाद के आधार को खोकर स्वतः ही अर्थहीन हो जाता है। वह 'टाईप' के सामूहिक सामाजिक जनोन्मुख रूपों के अन्तर्विकास का पर्याय कभी नहीं बन पाया है, अपितु इस सम्भावना की आड़ में केवल शक्तितन्त्र की गिरफ्त में चले गए हमारे सार्वजनिक सांस्थानिक रूपों के यथार्थ को छिपाने का काम ही करता रहा है।

देरिदा का भाषा-विखंडन प्रकारान्तर से बुर्जूआ काव्यशास्त्र का विखंडन भी बन जाता है। अब हम यह देख पाने में समर्थ हो रहे हैं कि भाषा का मुख्यार्थ वहाँ हमारे वर्चस्वी विमर्शों से आता है, जो अपने 'होने' के लिए अर्थों की एक पूरी शृंखला की 'गैर-मौजूदगी' पर निर्भर करता है। भाषा में बहुत सारे अर्थ सतह के नीचे दबे-छिपे हुए, एक तरह से दमित और उपेक्षित रूप में, इस तरह पड़े रहते हैं, जैसे कि वे वहाँ हों ही नहीं। परन्तु वे ही ऐसे अर्थ होते हैं, जिन पर मुख्यार्थ का होना निर्भर या सम्भव होता है। ये अभावात्मक अर्थ मुख्य अर्थ के पीछे पाठ की व्यंजनाओं की तरह हमें खोजते ही उपलब्ध हो जाते हैं। ये व्यंजनार्थ प्रकट होते ही वर्चस्वी मुख्यार्थ का भाव, तात्पर्य और प्रयोजन आदि सभी कुछ बदल डालते हैं।

इस तरह देरिदा के भाषा-चिन्तन का थोड़ा-सा अन्तःविस्तार या अन्तर्विकास करते ही हम बुर्जूआ काव्यशास्त्र की व्यंजनागर्भी संरचनाओं पर आधारित कलात्मकता और सौन्दर्यचेतना के सन्दर्भ में इस मौजूँ सवाल को उठाने में समर्थ हो जाते हैं कि कहीं यह सारी व्यंजनागर्भी कलाचेष्टा और सामंजस्यमूलक सौन्दर्यचेतना—मूलतः दमन की संरचनाओं के वहाँ पीछे छिपाकर रखने के प्रयासों का परिणाम तो नहीं ? कृतिपाठ अब पात्रों की बहुस्तरीयता (सामूहिकता और सार्वजनिकता से उद्भूत) का समाधान निजी स्वतन्त्रता के धरातल पर सामंजस्य की तलाश के रूप में खोजता है—जिसकी बहु-अर्थमूलक व्याख्याएँ सम्भव हो जाती हैं। ऐसा इसलिए हो पाता है क्योंकि हमारे सार्वजनिक रूप शक्तितन्त्र के कब्जे में चले गए हैं और निजी स्वतन्त्रता उसकी मेहरबानी का नतीजा हो गई है, जो हमें तभी मिलती है, जब हम शक्तियों द्वारा दमित 'अन्य' के साथ अपनी साँझ को महसूस करते हुए भी उसे दमित, उपेक्षित और हेय बनाए रखने में सहयोग करते हैं और केवल चेतना के तल पर उसकी बहुअर्थी व्यंजनाओं को, सामाजिक स्तर की बजाय, सांस्कृतिक तल पर ही अभिव्यक्ति दिया करते हैं।

काव्यशास्त्र में व्यंज़ना का विधान अपने आपमें गहरे विवेचन की वस्तु है। हमारे यहाँ भी ध्वनिवादियों के साथ जब शब्द शक्तियों के तहत, व्यंजना की चर्चा आरम्भ हुई, तो उसके कारण भी हमारे समाज-राजनैतिक तन्त्र में ही मौजूद थे। यह सारा काव्यशास्त्रीय विकास हमारे यहाँ वेदान्त के दर्शन के उभार के साथ-साथ सातवीं-आठवीं सदी के आसपास दिखाई देता है। सामन्तीय व्यवस्था के बिखराव को रोकने का यह आखिरी वर्चस्ववादी प्रयास था। यों भी हर्षवर्द्धन के बाद यह बिखराव रोके नहीं रुका। परन्तु सांस्कृतिक तल पर आदि शंकराचार्य एक वर्चस्वी व्यवस्था का निर्माण करते हुए, भारत को चार पीठों के द्वारा समंजित करते दिखाई देते हैं। वर्चस्ववादी सामंजस्य—जो अद्वैतवाद के रूप में उदित पहले द्वन्द्वात्मक दर्शन की आधारभूमि है—सारे बिखराव को, अराजकता और बहुभेदी जनपक्ष को दमित करके—वहाँ पीछे व्यंजनाओं की दुनिया में उनके सांकेतिक अस्तित्व के लिए जगह बनाने लगता है। इतनी व्यंजनागर्भिता वर्चस्वी मुख्यार्थ को नाटकीय रूप में चमत्कारिक बनाती है, ध्रुवायन का सामंजस्यमूलक समाधान खोजती-पाती हुई लगने के कारण बड़ी गहरी सौन्दर्यानुभूति से युक्त होती है और एक तरह से काव्यशास्त्रीय विकास का शिखर रचती-उठाती है। बुर्जूआ काव्यशास्त्र आधुनिक काल में इसीलिए अपने रूपवादी-संरचनावादी विधानों के रूप में काव्यशास्त्र का एक अन्य शिखर खड़ा करता प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु अगर बुर्जूआ काव्यशास्त्र की यह व्यंजनागर्भिता एक तरह की 'दमन व्यवस्था' है, जिसे एडवर्ड सईद ने पश्चिमी वर्चस्ववादी मानसिकता द्वारा पूर्व के दमन के रूप में देखा है, तो हम यह भी कह सकते हैं कि यह बुर्जूआ काव्यशास्त्र दरअसल एक साम्राज्यवादी अन्तस्संरचना वाला काव्यशास्त्र है, जिसके द्वारा निर्मित की गई व्यंजनाओं की इतनी बड़ी दुनिया उसका औपनिवेशिक अन्तर-आयाम है। देरिदा और सईद के सहारे अब हम इस औपनिवेशिकता के रहस्यीकृत, अराजक, बर्बर, असभ्य, बहुविध और अंन्तर्विरोधीग्रस्त संसार में प्रवेश करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्यशास्त्रीय चिन्तन यहाँ इसलिए बेहद अर्थगर्भ और विवेचनीय हो जाता है क्योंकि वह दुनिया के सबसे बड़े पूर्व-उपनिवेश की सर्वाधिक पददलित 'हिन्दी पट्टी' से जन्मा-उभरा है। यहाँ हम 'उपनिवेशितों के काव्यशास्त्र' की एक ऐसी सम्भावना को देखते हैं, जो साम्राज्यवादी बुर्जूआ काव्यशास्त्र को निरस्त करता हुआ हमें एक नए जनवादी काव्यशास्त्र को रचने की दिशा में प्रेरित करता है।

शुक्लजी के लिए साहित्य 'हृदय की मुक्तावस्था' का हेतु है। वह विज्ञानवादी-वैचित्र्यवादी बोधकेन्द्रित कल्पना-आधारित और विविध किस्म के अर्थवैचित्र्यों के विधानों को निरस्त कर, उनका विकल्प बनने का प्रयास करते हुए ही हमें उपलब्ध होती है। इस प्रकार उनका हृदयवाद पश्चिम वर्चस्वी बोधवादी काव्यशास्त्र के विरोध में खड़ा, लोकमंगल के विधान खोजता है। परन्तु इसके लिए 'बोध की दुनिया के इतने विकास-विस्तार' के अनुरूप 'हृदय के विकास-विस्तार' की जरूरत है। यहाँ हृदय एक तरह की दलित वस्तु है, जिसे प्रतिवर्चस्व की ओर बढ़ना है। भूल से शुक्लजी के इस चिन्तन को हमारे अनेक आलोचकों ने हृदय और बुद्धि के सामंजस्य वाले पश्चिम के रोमैंटिक काव्यशास्त्र की अनुगूँज मान लिया है। वहाँ बोधपक्ष या ज्ञान-विज्ञानवाद का भाव से तालमेल बिठाने का प्रयास हुआ जो वड्र्सवर्थ के 'बुक्स इन ब्रुक्स' की तलाश में दिखाई देता है। परन्तु शुक्लजी का हृदयबोध के समान्तर एक वैकल्पिक विकास का आयोजन है, जो तत्त्वतः भिन्न वस्तु है। यह एक तरह से बुर्जूआ काव्यशास्त्र के समान्तर एक वैकल्पिक जनवादी तलाश है, जो औपनिवेशिकता के साथ संघर्षशील सम्बन्ध बनाती हुई 'साधनावस्था की ओजस्विता' की ओर अग्रसर होती है। यहाँ व्यंजना का अर्थ बदल जाता है। वह कोई बहुअर्थी विविध-विमर्शी वस्तु न होकर 'मर्म' में प्रवेश करने की कारुणिक या ओजस्वी व्यवस्था है। वह अपनी पीड़ा के स्रोतों को खोजने और प्रतिरोध करने का विधान है। हमें इस दिशा में आगे बढ़ने की जरूरत है।

बुर्जूआ काव्यशास्त्र आज अपने दमित (औपनिवेशिक) अर्थों के बेनकाब हो जाने से एक तरह की आत्मविरुद्धता की हालत में आ गया है। ऐसे में एक दमित उपनिवेशित पीड़ा से उपजा काव्यशास्त्र हमें एक नवविकास की सम्भावना तो देता ही है। क्या शक्तितन्त्र की जद के पार हमारे पास हमारे हृदय का कोई दमित उपेक्षित कोना अभी भी गहरी संवेदना के साथ धड़कता हुआ बचा रह गया है ?—हमें इसी सवाल से मुखातिब होने की जरूरत होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में देशीयता

भालचन्द्र नेमाड़े

किसी भी साहित्य से यह अपेक्षा की जाती है कि उसके द्वारा देशी अस्मिता की स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्ति हो। लेकिन यूरोपीय चालाक लोगों की दासता के तहत बीसवीं सदी के मध्य में संसार के विविध प्रदेशों के उपनिवेश में एक विशेष अन्तरराष्ट्रीयता पनप गई। इसी कारण स्वातन्त्र्योत्तर पाँचवें और छठे दशक में कई मराठी विद्वान और साहित्यकार बेहोश होकर दिशाहीन दौड़ में शामिल हुए। तत्कालीन नेहरू युग के खोखले अन्तरराष्ट्रीयत्व के चलते ऐसी वृत्ति को अनुकूल सामाजिक-राजकीय परिवेश भी प्राप्त हुआ। पीने के लिए पानी न मिल जाए तो हर्ज नहीं लेकिन रंगीन टी.वी. पर संसार के नजारे दिखाई देने चाहिए; दूर-दराज़ में रहनेवाले उत्तम खिलाड़ी बनने की काबिलियत रखनेवाले युवाओं को रोजाना दूध न मिले तो हर्ज नहीं लेकिन दिल्ली में एशियाड का बढ़िया आयोजन होना चाहिए; ऐसी बातें जिस काल में प्रतिष्ठित हुईं उस काल में बेचारी संकुचित स्थानीय अस्मिता पर विचार करना यानी पुनरुज्जीवनवादी या राष्ट्रवादी बनना अपरिहार्य बन गया। ऐसा व्यापक अन्तरराष्ट्रीयत्व बनाए रखने के लिए अनायास ही यह स्वीकार किया जाता है कि बच्चों को मातृभाषा क्यों न आए लेकिन उन्हें अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा देनी होगी। हमारे विद्वान ज्ञानदेव-तुकाराम का अध्ययन न करें तो कोई आपत्ति नहीं लेकिन दोयम स्तर के अंग्रेजी-अमरीकी लेखकों का गहराई से अध्ययन करना होगा ऐसी आदतें इसके चलते बढ़ जाती हैं क्योंकि इसके बिना आप अन्तरराष्ट्रीय व्यापक अनुभूतियों के एहसास का पालन कैसे कर पाओगे ?

संयोग से इसी वक्त यूरोप में आधुनिकता का तूफान मच गया। इन आधुनिकतावादी साहित्यकार-विद्वानों पर शुद्ध सौन्दर्यवादी भूमिका सजाकर सुन्दर कलाकृतियाँ प्रस्तुत करने का पागलपन सवार हुआ। रूपवाद, संरचनावाद, सौन्दर्यशास्त्र, तत्त्वज्ञान के अनेक बेफिक्र सम्प्रदाय, फ्राइड-मार्क्स आदि की समग्र मानवी नक्शे को लेकर सोचने की प्रणाली, औद्योगिक-तन्त्रविद्यापरक-शास्त्रीय शैली को पूरे संसार में मिली लोकप्रियता की चकाचौंध में यूरोपीय साहित्यकार-विद्वान यह भूल गए कि हर मानव समूह की अपनी निजी संस्कृति होती है। पृथ्वी पर जीवनयापन करनेवाला हर समाज यूरोपीय ही हो, यह सम्भव नहीं। कुछ यूरोपीय साहित्यकार अपने शोषक औपनिवेशिक समाज में देशीयता के प्रति सजग थे, वे भी 'स्वयं' और 'अन्य' में होनेवाला अन्तर नहीं जान पाए। उनकी देशजता तक तत्कालीन साम्राज्यवादी-औपनिवेशिक यन्त्रणा में अनायास ही अन्तरराष्ट्रीय साबित होने लगी। सारांश, बीसवीं सदी

बी-401, निलेश अपार्टमेंट्स, नमकसार रोड, कंदारपाडा, दहिसर (प.), मुम्बई-400 068

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मध्य तक ऐसी परिस्थिति रही कि संसार के छोटे-मोटे गरीब भूप्रदेशों में प्रचलित देशीयता पर किसी को भी गौर करने की आवश्यकता नहीं लगी क्योंकि उसे संकुचित, सीमित भावविश्व करार कर दिया। इस पर भी यदि किसी ने हाथ-पाँव मारकर अंग्रेजी, फ्रेंच, अमरीकी आदि के साथ बराबरी की तो टैगोर, अचीबे, सोयिंका जैसों का केवल नामोल्लेख किया गया। अन्यथा देशजता अस्तित्व में ही न हो ऐसी परिस्थिति रही।

ऐसी ऊर्ध्वरचना के आदी लोगों को अब यह जताने का समय आ गया है कि अरे भाई, मनुष्य या साहित्य अपनी भूमि पर ही दिमाग़ से खड़ा हो सकता है। वाकई उसे विदेशी या अन्तरराष्ट्रीय आयाम की आवश्यकता नहीं होती। किसी भी ग्रन्थ का, साहित्यिक आन्दोलन का, साहित्यकारों का महत्त्व अन्तरराष्ट्रीय मूल्यों से तय नहीं होता अपितु वह अपने समाज की आध्यात्मिक उन्नति से लेकर भाषिक प्रयोगक्षमता तक कितनी भूमिकाएँ अदा करता है इस पर निर्भर करता है। कोई भी महान साहित्यकार प्रायः अपने समूह और समय के लिए साहित्य सृजन करता है। अन्तरराष्ट्रीय कीर्ति की घटनाएँ संयोग या दोयम स्थान पर ही महत्त्वपूर्ण होती हैं। जिन्हें संसार में ख्याति मिली वे शेक्सपियर, दाँते तक मूलतः पूर्णरूपेण देशीय साहित्यकार थे। उन्हें वैश्विक स्तर पर महत्त्वपूर्ण बनाने में उनके समाज के ताक़तवर साम्राज्य कारक रहें अन्यथा किसी भी महान साहित्यकार में सुप्त रूप में वैश्विक स्तर की सामर्थ्य होती है। कोई भी साहित्यकृति, पुतला, चित्र, संगीत अपने परिवेश से और स्थल-काल से अटूट रिश्ता रखता है। उसका शैली तत्व, रूपचिह्न, प्रारूप उसे जन्म देनेवाले स्थल-काल के चिह्न लेकर ही अवतरित होता है।

दुर्भाग्य से हमारे यहाँ देशजता को अस्तित्व न मिल पाए ऐसे अमूर्त कलावादी सिद्धान्त स्थापित किए गए। प्रस्तुत लेख के पूर्वार्द्ध में देशजता इस संकल्पना की व्याप्ति और सीमाएँ स्पष्ट कर साहित्य में देशजता के स्थान पर विमर्श करेंगे और उत्तरार्ध में यह देखेंगे कि साहित्य के लिए देशजता किस प्रकार बुनियादी हो सकती है।

1

आंचलिकता की संकल्पना में प्रधानतः अंचल विशेष के लक्षणों का विचार होने से उसमें उपविभाग-उपसंस्कृतिप्रधान दृष्टिकोण प्रबल होता है और देशीयता में उसका एक अंग के रूप में विचार किया जा सकता है।

'देशी' शब्द का अर्थ प्रायः उस भूमि से जुड़ा हुआ होता है। यदि हर वस्तु देशी हो तो 'देशजता' पर अलग से चर्चा करने की जरूरत ही क्यों ? लेकिन जब विदेशी, पराए, बाहरी मूल्य, भाषा तथा संस्कृति का देशी मूल्य, भाषा एवं संस्कृति पर आक्रमण होता है तब स्वयं के अस्तित्व हेतु मानवी समूहों को देशीवादी बनना पड़ता है। वस्तुतः देशजता प्रकृति की तरह अत्यधिक आत्मनिर्भर, सहनशील तथा अपने स्थान पर बनी रहनेवाली संकल्पना है। लेकिन जब सांस्कृतिक कसौटी की स्थिति उत्पन्न होती है तब उसे भी आक्रामक बनना पड़ता है। अर्थात् ऐसी स्थिति में नम्रता का पुतला होनेवाले ज्ञानेश्वर तक को कहना पड़ता है—'दाऊ वेल्हाळ देशी नवी' (देशी भाषा में जो वैभव और अर्थवत्ता है वह मैं बताना चाहता हूँ)। अथवा भटोबा[1] जैसे प्रगाढ़ पंडित को भी 'संकुचित' या दुराग्रही बनकर कहना पड़ता है—"तुमचा अस्मात कस्मात मी नेणे गाः मज श्रीचक्रधरे निरुपिली मन्हाटीः तियचि पुसाः" (अर्थात् मुझे आपकी पांडित्यपूर्ण अनाप-शनाप बातों से कोई लेना-देना नहीं है। श्रीचक्रधर ने मुझे मराठी की महत्ता बताई है। अतः उसे ही महत्त्व दीजिए।) 'देशजता' की संकल्पना में 'स्थितिशीलता कायम रखनेवाली स्वाभाविक अवस्था' यह अर्थ अभिप्रेत होता है। 'देशीवाद' में उसी गुण की लड़ाकू प्रवृत्ति, अपनी अस्मिता का हक जतानेवाली आग्रही वृत्ति प्रकट होती है। अर्थात् 'देशीवाद' यह 'देशजता' की तत्कालीन अवस्था होती है। हम 'देशीयता' की दोनों अवस्थाओं को सम्मिलित करनेवाली संकल्पना के रूप में प्रयुक्त करेंगे।

विभिन्न समाज में 'देशजता' की संकल्पना में अलग-अलग मूल्य अन्तर्भूत पाए जाते हैं। 'दि आक्सफर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' (संस्करण, 1971) में 'देशी' या 'नेटिव' शब्द का अर्थ वंशवादी पाया जाता है : 'नेटिव—किसी राष्ट्र का मूल या नियमित निवास करनेवाला, जो परकीय या विदेशी लोगों से अलग माना जाता है, आजकल विशेषतः बिनयूरोपीय और कमसंस्कृत अथवा असंस्कृत गँवार वंश का, काला-सा (कलडी) या काला मनुष्य।'

स्पष्ट है कि ऐसी व्याख्या करनेवाले लोग अमेरिका में जाकर वहाँ की देशी संस्कृति को तहस-नहस करेंगे। ऐसे लोग इंग्लैंड में दबाकर तहस-नहस हुए देशी समूह यदि कोई आन्दोलन खड़े करेंगे तो उन्हें 'नेटिव' न कहकर 'वेल्श राष्ट्रवाद', 'स्कॉटिश राष्ट्रवाद', 'गेलिक पुनरुज्जीवनवाद' जैसे सतही देशीयता के नाम देते हैं यानी ऐसी देशीय प्रवृत्तियों के आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद से अन्तरराष्ट्रीय व्यापक प्रवृत्ति की तुलना में क्षुद्र, दकियानूसी, विरोधी होते हैं।

ऑस्ट्रेलिया तथा अधिकांश श्वेतवर्णीय अफ्रीकी उपनिवेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में तो देशजता की एक बहुस्तरीय व्यवस्था पाई जाती है, जो इस प्रकार है—

1. प्राचीन काल से आदिवासी या कृष्णवर्णीय देशी।
2. परकीय अपितु कई पीढ़ियों से नागरिक बने गौरवर्णीय देशी।
3. स्थानान्तर कर आए बगैर गौरवर्णीय देशी।

अमेरिका में तो अब देशीवाद को बाहर से अर्थात् प्रायः यूरोप से आए गोरे लोगों द्वारा अमेरिका की मूल संस्कृति को मटियामेट कर देने से उसे 'मूल निवासियों' के पक्ष का और बाहर से आए लोगों के विरुद्ध होनेवाला पूर्वग्रह, मूल लोगों का संरक्षण करनेवाला रवैया और आचरण माना जाता है।' (ऑ. इं. डि.)

हिन्दुस्तान के प्राचीन काल में इतिहास-पुराण में कत्लेआम के चिह्न पाए जाते हैं। इससे भी भयावह यह कि विकल्प के रूप में एकाध वंश के लोगों को जन्मतः गुलाम करार कर या अस्पृश्यता के अदृश्य जेलखाने में डालकर उन्हें गुलामी में जीने को विवश कर दिया। बावजूद प्राचीन काल से इस विस्तृत उपखंड में निरन्तर अनेक वंश के लोग बड़ी संख्या में आते रहे और विभिन्न भूप्रदेशों में फैलते गए। इन सभी को उनके निजी रस्म-रिवाजों के साथ देवी-देवता, वेशभूषा, खान-पान की बहुविध प्रणालियों के साथ अन्तर्भूत करनेवाली दो महत्त्वपूर्ण बृहत् व्यवस्थाएँ अनायास स्थापित हुईं। इसमें पहली जाति-व्यवस्था और दूसरी देश-व्यवस्था। हिन्दुस्तान के इतिहास और भूगोल में किसी भी व्यक्ति को वांशिक और आंचलिक इन दो अक्षों पर स्थान मिलने पर वह सम्मान के साथ अपना अस्तित्व बनाए रखता है। किसी मनुष्य का कौन-सी जाति में जन्म हुआ और वह कौन-से प्रदेश का है इन दो बातों के बिना किसी भी भारतीय मनुष्य की पहचान नहीं बन सकती। हिन्दुस्तान में इन दो व्यवस्थाओं के परस्पर अधिक सूक्ष्मतर छेद तथा उपव्यवस्थाओं के बहुरंगी व्यापक पट पाए जाते हैं। लेकिन इस उपखंड में किसी को भी जाति और देश इन दो स्थूल आयामों के बिना स्थिर अस्तित्व प्राप्त नहीं हो पाता। या कहें कि इन बृहत् व्यवस्थाओं का विरोध करनेवाले समूहों तक को इन्हीं व्यवस्थाओं के जरिए पहचाना जाता है। उदाहरण के तौर पर जंगल में छिपे हुए आदिवासी या अन्तरप्रान्तीय, अन्तरजातीय सम्बन्धों से निर्मित उपसमूह।

भारतीय समाज के पतन काल में इसी ऊर्ध्वगामी व्यवस्था के कारण जाति-व्यवस्था को श्रेष्ठ-कनिष्ठ भँड़ोली के स्तरीकरण का मूल्य प्राप्त हुआ। वस्तुतः किसी का जन्म कहाँ और कौन-सी जाति में हुआ यह मूल्य निर्णय की कसौटी हो ही नहीं सकता। यह मात्र वास्तव है कि इन दो बृहत् व्यवस्थाओं के चलते किसी भी व्यक्ति को इस उपखंड में कहीं भी आवास करने का स्वातन्त्र्य होने से वह जहाँ आवास करें उसी प्रदेश को उसे स्वीकारना पड़ता है। इस प्रकार अपने राष्ट्र में देशीकरण की प्रक्रिया अबाध गति से व्यवहृत रही और एक छोटे-से प्रदेश में भी लघुतर समूहों ने पूरे समाज की बुनावट का गठन किया। इसी कारण पारसी लोग भारतीय हैं, जो मूलतः इराणी हैं। मराठी मुसलमान, महाराष्ट्र के मारवाड़ी, दक्षिण के मराठा आदि सहस्रों जमातियों ने अपने अस्तित्व के साथ अपनी मूल देशजता को सहेजकर भाषा, धर्म, खान-पान, रहन-सहन और रस्म-रिवाज बनाए रखे हैं। इसी कारण भारतीय परम्परा में देशजता के अचल भौगोलिक तत्त्वों की संकल्पना अक्सर परस्परविरोधी धागों से पक्की बुनी गई। इसी कारण हिन्दुस्तान केवल एककेन्द्री राष्ट्र न होकर धीरे-धीरे परिवर्तित होनेवाला बहुकेन्द्री, बहुअक्षीय भूमिसातत्य है।

इस भूमिसातत्य का आज तक का इतिहास अनेक युगों की अद्भुत भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं से निर्माण हुआ है। यहाँ पुरातन काल से अन्तरवर्ती घटनाओं का स्पष्टीकरण एकाध छोटी-सी पुराणकथा या लोककथा तक में तब्दील हो चुका है। भारतीय मानस में पुरानी-नई घटनाओं का सत्त्व देशकाल द्वारा निश्चित ऐसी ही भूमिप्रधान परम्पराओं से तैयार होता है। इससे इस उपखंड में अपना परिसर और पुरातन काल से सहेज रखे सांस्कृतिक स्वातन्त्र्य का समृद्ध आविष्कार पाया जाता है। इस आविष्कार के बहुवर्ती चिह्न अर्थात् भिन्न-भिन्न परिसर के अपने दृश्य व्यवहार वेशभूषा शैली में मिलते हैं। वायव्य के पठानों की वेशभूषा यह जैसा उस भूमि का सांस्कृतिक आविष्कार है उसी प्रकार दक्खिन की अल्पवस्त्र शैली वहाँ का देशी आविष्कार है। उदाहरण के तौर पर यह एक नमूना है। इसी प्रकार उस परिसर की वस्तुएँ, प्राणी, पेड़, आचार-विचार यह सब अभिन्न रूप में उसी प्रदेश के होते हैं। इन अन्तरंग और बहिरंग आविष्कार में आत्मनिर्भरता और विकेन्द्रीकरण इन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की मुक्त वृद्धि पाई जाती है। सारांश, विविधता में एकता का अर्थ देशीयता के इन अनन्त आविष्कारों के मूल में होनेवाली परस्पर निर्भरता का भूमितत्त्व है। संसार की हर संस्कृति ने स्थान-महत्ता को स्वीकार किया है। राष्ट्रीयत्व यह उसका एक स्थूल रूप है। स्थानबद्ध करना, कारावास, कालापानी जैसी सजाएँ उस व्यक्ति को अपने भूमितत्त्व से दरकिनार करनेवाले क्रूर साधन हैं।

अब हम इस पर विचार करेंगे कि साहित्य की रचना-प्रक्रिया में देशजता किस सीमा तक प्रस्थापित की जा सकती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। क्या लेखक, साहित्यकृति, पाठक और परम्परा इन साहित्य के चार महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों को परखा जाए तो इन सभी को अन्तर्भूत करनेवाला देशजता का तत्त्व यह शैली की तरह व्यापकधर्मी (सभी सन्दर्भों में) तत्त्व है ? या वह साहित्य के आशय की तरह सेन्द्रीय घटक है ? या वह साहित्य का बाहरी लेकिन विकल्प के रूप में उसे सहायक माध्यम-सा बहिरंग घटक है ?

साहित्यकृति की वैश्विकता को लेकर अक्सर चर्चा होती है और अशिष्ट साहित्याभ्यासक अन्तरराष्ट्रीयत्व को ही वैश्विकता मान बैठते हैं। वैसे देखा जाए तो वैश्विकता यह संकल्पना देशीयता की विरोधी नहीं है। वैश्विकता की अनुभूति अर्थात् विभिन्न स्थानों की देशी शैलियों का अलग-अलग स्थितियों में आस्वाद लेना है। इन विभिन्न प्रदेशों की रचनाओं में एकरूपता नहीं होती। ऐसी एकरूपता उन पर आरोपित करना वैश्विकता नहीं है। वैश्विकता की संकल्पना में प्राप्त स्थितियों में उन सभी की अनुभूति लेना ऐसा उदार रसास्वाद अपेक्षित होता है। 'जैसा हो वैसा' यह उसका लक्षण होता है।

'वसुधैवकुटुंबकम्' की वृत्ति को इसके विरुद्ध मानना होगा। इसमें भिन्न-भिन्न स्थानों के क्रिया-कलापों में एकरूपता देखना और एकजातीयता ढूँढ़ना अपेक्षित होता है। 'वैश्विकता' और 'वसुधैवकुटुंबकम्' इनमें अनुभूति करनेवाली की वृत्ति में अन्तर दिखाई देता है। 'देशीयता' में उस स्थान के क्रिया-कलापों का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। इसके विरुद्ध 'वैश्विकता' या 'वसुधैवकुटुंबकम्' इन संकल्पनाओं में तुलनात्मक परिणाम अपेक्षित होता है। विदेशी, बाधा डालनेवाली, साम्राज्यवादी, भोगवादी या पूँजीवादी मधुकर वृत्ति तथा उसी प्रकार दूसरी ओर से या बाहर से आरोपित ऊर्ध्वव्यवस्था देशीयता के लिए हानिकारक मानी जाती है। इसके साथ ही संकुचित देशजता में अन्तरजनन की तरह हानिकारक घटक निर्माण होते हैं और उसका सत्त्व ही धोखादायक बन सकता है।

एकाध साहित्यकृति मूलतः देशी होने के बावजूद वैश्विक हो सकती है, फिर वह वैश्विकता एकाध अज्ञात कवि की वैश्विकता की तरह हो या शेक्सपियर जैसों की वैश्विकता की तरह चकाचौंध से स्थापित की हो। किसी भी साहित्यकृति का देशी होना यह प्राथमिक आवश्यकता है। सभी कलाओं को मिलनेवाला वैश्विक प्रतिसाद यह मानवजाति की बुनियादी देशजता का प्रमाण माना जाता है।

तौलनिक साहित्य-विमर्श द्वारा भी यही सिद्ध किया जाता है कि कलाकृतियाँ कतई असाधारण नहीं होतीं। किसी-न-किसी समान तत्त्व के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जा सकता है। संविधानक, रूपचिह्न, संरचना, प्रतीक, पात्र, आशयसूत्र, कथनतन्त्र, रूपतत्त्व, शैली प्रकार, मूल्य आदि घटक संसार की समग्र साहित्यकृतियों में सार्वत्रिक पाए जाते हैं। अर्थात् यह साम्य उन देशी विशेषताओं के बिना रूपायित हो ही नहीं सकता। इन देशी विशेषताओं का विचार किए बिना दो पृथक् संस्कृति या भाषा की साहित्य-रचनाओं की तुलना हो ही नहीं सकती।

'देशीयता' पर यह आरोप किया जाता है कि 'मूलतः मानव एक है' और ऐसा होते हुए साहित्य का भेद करना क्षुद्रता है। 'हितोपदेश' का चालाक सियार गरीब हिरन को फँसाने हेतु 'उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुंबकम्' कहता है। 'देशीयता' पर दूसरा आरोप यह लगाया जाता है कि आक्रामक सनातनी राष्ट्रवादी लोग देशीयता का दुरुपयोग कर सकते हैं। यदि ऐसे भोले आरोप मान्य करें तो भी देशीयता का महत्त्व कम नहीं होता। महान संस्कृतियाँ और राष्ट्रों की स्थापना एवं उनका संवर्धन विदेश से तितर-बितर हुए बाहरी लोगों ने ही किया है। इसके विरुद्ध देशी भूमिपुत्रों ने ही बेहिचक स्वयं की संस्कृति एवं राष्ट्र का विनाश किया है। ऐसे उदाहरण संसार के और महाराष्ट्र के इतिहास में बड़े पैमाने पर पाए जाते हैं। इसके साथ कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि कुछ लोग स्वदेश की अपेक्षा अपरिचित, दूरस्थ प्रदेश के प्रति आकर्षित होते हैं। दूसरी ओर तुकाराम-काफ्फा जैसी असन्तुष्ट आत्माओं को अपनी भूमि में ही उपेक्षा सहनी पड़ती है। इसी प्रकार स्वातन्त्र्य, क्षमता, बन्धुता, न्याय, करुणा, अहिंसा जैसे मूल्य, तत्त्व या संकल्पनाएँ एकाध समाज में जन्म लेती हैं और उनके बीज दूर तक फैलकर, देशान्तर कर दूसरे समाज में प्रबलता से विकसित होते हैं। आजकल राक्षसी मीडिया द्वारा जान-बूझकर अन्तरराष्ट्रीय सहकार की इतनी सराहना की जाती है कि रोजाना समाचार-पत्र पढ़नेवाले और टी.वी. देखनेवालों को देशीयता की संकल्पना संकुचित लग सकती है। वर्तमान शास्त्रीय युगकल्पना, बढ़ता संस्कृति-संकर और अवकाश युग के स्पर्श से मानवजाति को पृथ्वी नामक ग्रह पर डाँवाडोल, पूर्णतः भूमिहीनता की अनुभूति कर दी है।

गतिशील, आक्रामक यूरोपीय संस्कृति द्वारा गरीब, स्थितिशील अफ्रो-एशियाई समाज को पूर्णतः प्रभावित कर अपना श्रेष्ठत्व इन दबाए लोगों के मुँह से मान्य कराने से देशीयता को घटिया साबित करनेवाली घटनाएँ घटित हुईं। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप 'तीसरी दुनिया' के लोगों की स्वयं की भूमि पर होनेवाली श्रद्धा खत्म हुई। 'तीसरी दुनिया' में यहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक सन्देह निर्माण हुए—देशीयता पिछड़े, दकियानूसी मूल्यों का तो तत्त्वज्ञान नहीं ? यूरोप के कुत्ते तक हमारे यहाँ के मनुष्य की तुलना में मेधावी होते हैं। अर्थात् अमेरिका के पंचमहाभूतों की पूजा करनेवाले रेड इंडियन को महत्त्व दे या अपनी समृद्ध शास्त्रीय प्रगति से उन पंचमहाभूतों को काबू में करनेवाले यूरोपीय गोरे लोगों का कौतुक करें ? या पूरे संसार पर साम्राज्य प्रस्थापित करनेवालों की गाथा का आलाप न कर अपने परिसर में आनन्द से जीवनयापन करते हुए अनायास बुढ़ापा प्राप्त करनेवाली गरीब ग्राम-संस्कृति की महत्ता का गान करें ? कहाँ पूरे परिवेश को थर्रानेवाली विस्तृत, आक्रामक, विराट सिंफनी और कहाँ अपने जंगल के बाँस की बाँसुरी तन्मयता से बजानेवाला फटेहाल चरवाहा !

ब्राँझ युग से क्रूर कत्लों को ही निर्णय का मूल्य माननेवाली पृथ्वी पर की मानवी संस्कृति में उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर आसानी से मिल सकते हैं।

संस्कृति परस्पर सहयोग करनेवाली कई व्यवस्थाओं का जाल होती है। हर जीवन्त, प्रबल संस्कृति में बाहरी प्रभावों को इन व्यवस्थाओं में रूपान्तरित कर उन्हें आत्मसात करने की मूलभूत शक्ति होती है। बाहरी प्रभावों को आत्मसात करनेवाली इस शक्ति को देशीकरण कहा जा सकता है। यह देशीकरण की प्रक्रिया जितनी सक्षम होगी उतनी ही वह देशी संस्कृति को पूरक साबित होती है। बाहर से हमला करनेवाले विविध मूर्त और अमूर्त सन्दर्भों का देशीकरण करने से किसी भी प्रबल संस्कृति का गठन मजबूत होता है। इस प्रक्रिया के चलते संस्कृति मानवबाह्य विश्व की घटनाएँ, सचेतन और अचेतन वस्तुएँ, प्राणी और पेड़ आदि को अपने में समा लेती है। इसी प्रक्रिया से मानवी अस्तित्व का उस प्रदेश से; वहाँ के पहाड़, नदी, प्राणी, इतिहास व भूगोल से जन्मजात अटूट रिश्ता स्थापित होता है।

साहित्य की परम्परा में यह देशीकरण की प्रक्रिया अव्यहत जारी रहती है। हर नए साहित्यकार को अपनी जड़ें इन परिसराभिमुख परम्परा में गहराई से जुड़ी होने की अनायास प्रतीति होती है। परसंस्कृति के सम्पर्क में आए लोगों का भावविश्व परसंस्कृति के नए मूल्य, तत्त्व इतना ही नहीं तो महान सांस्कृतिक व्यवस्थाओं तक को आत्मसात करता है। हिन्दुस्तान में आर्य, हूण, शक, मोगल आदि का इसी प्रकार देशीकरण हुआ। आदान-प्रदान के समय परकीय समाज का कितना ही तीव्र सांस्कृतिक व राजनीतिक दबाव हो; सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ कौन-सा परकीय मूल्य या तत्त्व आत्मसात करें इसका सावधानी से चुनाव करती हैं। इसी कारण जो बातें समाज की मूल संरचना में वृद्धि हेतु आवश्यक होती हैं ऐसी ही परकीय बातों को अन्ततः देशी व्यवस्था अपनाती है। संस्कृति सम्पर्क के कागारोल में यदि पहली पीढ़ी से भूल होती है तो नई पीढ़ियाँ उसमें संशोधन कर सन्तुलन बनाए रखती हैं।

सारांश अपनी देशी व्यवस्था को विभाजित कर दूसरी ओर की अन्तरदशीय महाव्यवस्था में जानेवाली उलटी प्रक्रिया साहित्य की मूलभूत आवश्यकता नहीं है। पंचतन्त्र, अरबी भाषा की कथाएँ या शेक्सपियर जैसों की देशी साहित्यकृतियाँ अन्य संस्कृतियों ने देशीकरण की प्रक्रिया में अपनी जरूरत के तौर पर आत्मसात की है। बावजूद उन साहित्यकृतियों का मूल अस्तित्व देशी ही रहता है। कुछ महान ग्रन्थों को सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो चुका है। प्रचार और कम-ज्यादा लोकप्रियता की बात छोड़ दें तो होमर, सोफोक्लीस या व्यास, वाल्मीकि आदि हर भाषा के नए-पुराने महान ग्रन्थकार हर किसी को स्वीकार करने होंगे इतने सशक्त हैं। भोले मराठी लोग मात्र यहाँ तक मानते हैं कि विश्व-साहित्य की एक कोठी है और उसकी कुंजियाँ पाश्चात्य भाषा के प्रबल लोगों के पास हैं। पिछले सौ साल की मराठी समीक्षा का सर्वेक्षण करें तो टेनिसन-ब्राउनिंग से इलियट-बेकट तक दोयम स्तर के साहित्यकारों की महानता स्वीकारनेवाले भोले मराठी विद्वान डरते हुए ही तुकाराम को विश्व-साहित्य में सम्मिलित करते हुए मिलेंगे। पंचतन्त्र, उपनिषद, भर्तृहरि, कालिदास, शूद्रक, विशाखादत्त, दंडिन्, बाण और उसके पश्चात् आधुनिक भाषा के म्हाइंभट, नामदेव, ज्ञानदेव, जनाबाई इनकी बराबरी के (जिनसे हम अपरिचित हैं) कितने ही साहित्यकार हमारी साहित्यचर्चा में कम ही दिखाई देते हैं। यह देशजता के एहसास का ह्रास होने के अज्ञानमूलक लक्षण हैं।

उपर्युक्त मराठी भोलापन नजरअन्दाज कर यह कहा जा सकता है कि यूरोपीय व अमरीकन साहित्य के महान ग्रन्थ सही मायने में देशी हैं। उन्हें पूरे संसार में पढ़ा जाता है, यह घटना एक देशी संस्कृति का अन्य देशी संस्कृतियों ने किया हुआ सम्मान है। विश्व-साहित्य के अक्षरग्रन्थ अपनी देशीयता का ही हक प्रस्थापित करते हैं। किसी भी सशक्त देशी साहित्यकृति की जड़ें अपनी भूमि में गहराई से पैठी होती हैं। स्थल-काल की सीमाएँ पार करने के लिए उन्हें अलग से कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती। स्थल-काल को ही उन तक पहुँचना पड़ता है। इस सन्दर्भ में अमरीकन पुस्तकों के यूसिस द्वारा कराए घटिया किस्म के मराठी अनुवाद देखे जा सकते हैं।

विभिन्न काल में किसी-किसी प्रदेश का साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व-साहित्य के केन्द्र में पाया जाता है। उस विशिष्ट ऐतिहासिक युग में ऐसा वाङ्मयीन परिवेश निर्माण होता है कि उस विशिष्ट प्रदेश के समूह की संवेदनाएँ संसार के समग्र मानवी समाज का प्रतिनिधित्व करती हैं। ऐसे समाज में यह एहसास निर्माण होता है कि 'हम इतिहास का निर्माण कर रहे हैं।' इससे उस प्रदेश के संवेदनशील प्रतिभाओं की साहित्यकृतियाँ अनायास ही उस युग की मानवीय संवेदनाओं की सर्वसाधारणतः केन्द्रीय बन जाती हैं। विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति का कारण ऐसी साहित्यकृतियाँ उस युग के जनता की संवेदना का संकेतकोश बन जाती हैं। उदाहरणार्थ, पन्द्रहवीं सदी में इटालियन, उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में अंग्रेजी और उसी सदी के उत्तरार्ध में रशियन व फ्रेंच साहित्य। इस साहित्य में अभिव्यक्त युगीन संवेदनाओं को अन्य समाज सन्दर्भ-संकेत के रूप में अपना सकता है। पश्चात् के युग में भी उनकी केन्द्रीयता कायम रही। इसी से विश्व-साहित्य में स्थलकालातीत संकल्पना का उदय हुआ। इसी काल में अन्य देश में कई ख्यातलब्ध साहित्यकार सृजनरत रहने के बावजूद ऐतिहासिक परिस्थिति में निर्माण होनेवाली संवेदनाएँ युगीन समाज के लिए केन्द्रीय सन्दर्भ-संकेत नहीं बन पाईं। भारतीय साहित्य में भी ऐसे सुवर्ण युग आए लेकिन बाद में वक्त के साथ मानवी संवेदनाओं का केन्द्र अन्य साहित्य के प्रति आकर्षित हुआ। ऐसा होते हुए भी पूर्वकालीन ऐसे साहित्य का कम-से-कम ऐतिहासिक महत्त्व रहता ही है।

अर्थात् यह आलेख स्थूल रूप में प्रस्तुत किया है। प्रत्यक्षतः विश्व के उन प्रदेशों में फिर ऐसे छोटे-बड़े मध्यवर्ती केन्द्र बने रहते हैं। उदाहरणार्थ, भारतवर्ष में बीसवीं सदी के आरम्भ में बंगाली साहित्य की संवेदनाएँ मध्यवर्ती रहीं। विश्व की समग्र मानवी संवेदनाओं की परिधि में अर्थात् केन्द्रीय रूप में वह स्थापित हो यह सम्भव नहीं था। उन्नीसवीं सदी के रशियन उपन्यासकार उस काल में मध्यवर्ती नहीं रहे लेकिन तत्पश्चात् वे केन्द्र में आ गए। विश्व-साहित्य की संकल्पना में ऐसी अनेक प्रक्रियाएँ घटित होती रहती हैं। विश्व-साहित्य के अन्तरंग का निरीक्षण करें तो यही पाया जाता है कि हर प्रक्रिया में देशजता का सन्दर्भ प्रधान होता है।

देशी सन्दर्भ न होनेवाला मूलतः 'अन्तरराष्ट्रीय साहित्य' स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व में नहीं होता। तौलनिक साहित्य-विमर्श तक में ऐसा अन्तरराष्ट्रीयत्व स्वीकार नहीं किया जाता। वहाँ तुलना की जो विशिष्ट पद्धति होती है उसके आधार पर एक देशी शैली की, आन्दोलन की या प्रवृत्ति की अन्य देशी शैली, आन्दोलन या प्रवृत्ति के साथ तुलना की जाती है। यदि इस अनुशासन का पालन न किया जाए अर्थात् उन साहित्यकृतियों की देशीयता को नजरअन्दाज कर की हुई तुलना घटिया स्तर के अध्ययन से ऊपर नहीं उठ सकती। तौलनिक साहित्य के विद्वान अक्सर बताते हैं कि वैश्विक वाङ्मयीन व्यवस्था नहीं होती है। सैद्धान्तिक तौर पर भी देशीयता की नींव के अभाव में अन्तरराष्ट्रीय संकल्पना असम्भव साबित होगी। देशजता बहुकेन्द्री, वर्णनपरक और प्रत्यक्ष संकल्पना है तो अन्तरराष्ट्रीयता कृत्रिम और परजीवी। देशजता गुणात्मक संकल्पना न होकर एक सामान्य और अपरिहार्य तत्व माननी होगी। देशजता का तत्त्व विशिष्ट संस्कृति द्वारा निर्मित भली-बुरी, छोटी-बड़ी सभी तरह की कृतियों द्वारा प्रकट होता है।

2

देशजता का साहित्य में बड़े पैमाने पर चित्रण हुआ है लेकिन समीक्षा-जगत् में उस पर पर्याप्त विचार नहीं हो पाया है। इसका कारण यह कि इस पर विचार यूरोप में आरम्भ होना चाहिए था और वहाँ न होने के कारण इधर भी असम्भव बन गया। संसार के हर साहित्य में ऐसे कालखंड प्राप्त होते हैं जिसमें देशजता साहित्य की केन्द्रीय संकल्पना रही है। और ऐसे काल में उस देश का साहित्य प्रबलता के साथ अभिव्यक्त हुआ है। उदाहरण के तौर पर, मराठी में तेरहवीं सदी का यादव काल, शिवकाल या अंग्रेजी में एलिजाबेथ युग का रोमांटिक युग। ऐसे काल में देशजता की अनिवार्यता में पर्याप्त वृद्धि होती है और देशीकरण की प्रक्रिया में तत्कालीन सभी लेखकों की सृजनशक्ति कार्यरत पाई जाती है।

भाषाशास्त्रज्ञ, शैलीशास्त्रज्ञ, पुरातत्त्ववेत्ता, मानवशास्त्रज्ञ, और कला-इतिहासकार स्पष्ट रूप में प्रतिपादन करते हैं कि हर काल में और हर प्रदेश में स्पष्टतः अलग ऐसी देशी शैली कला, साहित्य और समग्रतः पूरे मानव व्यवहार में दृष्टिगोचर होती है। देशीयता के तत्त्व से यह स्पष्ट अन्दाज लगाया जा सकता है कि कोई कलाकृति किस प्रदेश में और किस काल में निर्मित हुई। अपने देश में तो प्रदेश विशेष का संगीत, चीज, धुन और गायकी तो गीत सुनते ही कौन-से प्रदेश की है यह बताया जा सकता है। भाषा तो अपने सूक्ष्म रूप में इतनी देशकाल विशेष होती है कि उसके द्वारा साहित्यकृति का काल और स्थल स्पष्टतः प्रकट होता है। साहित्यकृतियाँ केवल भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं; उस रूप में भाषा का ऐतिहासिक, भौगोलिक और सामाजिक सन्दर्भ साहित्यकृति के भाषिक शैली गुणों पर अदृश्य रूप में हावी होता है। शैलीगत विशेषताएँ तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यकृति किस खदान से उत्पन्न हुई यह तक स्पष्ट रूप में बताने की सामर्थ्य रखती है। यहाँ साहित्यकृति का अपने सांस्कृतिक आवरण के साथ होनेवाला जन्यजनक रिश्ता जान-बूझकर स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं होती। 'महाभारत' की निर्मिति प्राचीन हिन्दुस्तान में क्यों हुई और 'इलिअड' का निर्माण प्राचीन ग्रीस में ही क्यों हुआ यह देशजता के आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है। अर्थात् यह प्रणाली विभिन्न जंगली प्राणियों के अपने प्राकृतिक परिवेश से युग्म तय करने इतनी आसान है।

दुर्भाग्य से इतना सीधा विचार साहित्य के दुर्बोधत्व के आदी हमारे लोगों को घबरा देता है। उस पर हमारे अभ्यासकों का विश्व-साहित्य से परिचय एकमात्र अंग्रेजी भाषा के माध्यम से होने के कारण भोले मराठी अभ्यासकों की यहाँ तक गलतफहमी हो सकती है कि संसार का महान साहित्य एक स्वतन्त्र अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में ही वैश्विक हो सकता है। यह गलतफहमी शहरी लड़कों द्वारा जिराफ, हाथी, मोर, शुतुरमुर्ग को अपने महानगर के अजायबघर से जोड़ने या एस्किमो, बदाऊनी, आदिवासी लोगों को टी.वी. के पर्दे से जोड़ने जैसी है। अन्तरदेशीयता के सम्बन्ध में प्रचलित यह गलतफहमियाँ देशीयता के यथार्थ ज्ञान के सिवा दूर नहीं हो सकतीं।

कुछ लोग यह प्रश्न भी उठाएँगे कि साहित्यकृति के देशी सन्दर्भ निश्चित कराने हेतु देश की सीमा कितनी व्यापक होनी चाहिए ? देशीय संवेदना हेतु देशीयता का परिसर कितना छोटा या व्यापक हो ? भाऊ पाध्ये की मुम्बई इतनी देशीयता चलेगी या माडगूलकर का मानदेश अधिक अच्छा है ? फिर सम्पूर्ण महाराष्ट्र क्यों नहीं ? पूरा पश्चिम भारत या दक्षिण भारत होने से क्यों आपत्ति ? फिर यह सीमा बढ़ाते-बढ़ाते भारत से बाहर जाए तो क्या हर्ज है ? फिर यदि कोई युगपुरुष 'विश्व ही मेरा घर' माने तो इसमें हमारा स्थान कहाँ होगा ? देशीयता के एहसास की ऐसी सीमाएँ तय करना असम्भव लगता है। इसका अर्थ यह भी नहीं कि साहित्यकृति की देशीयता की आंचलिक सीमाएँ ही न हों। सीमा का यह प्रश्न उस लेखक की रोजमर्रा की जिन्दगी की संवेदनाओं के आलेख पर निश्चित होगा। इसी कारण भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में उठाया भौगोलिक और सांस्कृतिक सातत्य का प्रश्न किसी भी लेखक को अक्सर आह्वान करता रहेगा। देशजता के अभाव में आनेवाली रिक्तता कल्पनाशक्ति, लालित्य या आधुनिकतावादी आशयसूत्र द्वारा पूरी नहीं की जा सकती। अन्ततः देशी होना यानी समग्र भूमितत्व का वहाँ की सभी जातियाँ, वंश, समूह, सम्प्रदाय, धर्म, परम्परा, स्थलकाल के परस्पर विरोधी छेदों द्वारा आनेवाली समानता का एहसास मानना होगा।

दुर्दैव ही कहना पड़ेगा कि संसार में अपवाद से मिलेगा इतना प्रदीर्घ सदियों का सांस्कृतिक दबाव, औपनिवेशिक दासता, स्वातन्त्र्योत्तर परसंस्कृति पूजा, नए रूप में निर्माण संस्थात्मक केन्द्रीकरण, नवस्थापित भाषायी प्रान्त रचना के तहत लोगों में उत्पन्न अनुचित एकभाषिक उन्माद, अल्पसंख्यक समूहों को नई लोकशाही में मिला कम महत्त्व इन सभी के कारण तमिलनाडु के सिन्ध-आसाम तक की धीरे-धीरे परिवर्तित होनेवाली भाषा की और एक संस्कृति के भेदों की संलग्न शृंखला हमारी संवेदना से तिरोहित हो रही है। विशेषतः अपनी बुनियादी जड़ें खो बैठे आंग्लशिक्षित उच्चवर्णीयों का पूरे समाज पर का दबाव एक प्रकार की कृत्रिम अन्तरराष्ट्रीयता आदर्श के तौर पर सामने रखता है। इससे हमारे राष्ट्रीय जीवन में कहीं भी देशी घटकों पर विचार नहीं किया जाता। साहित्य-विमर्श में भी इसी कारण देशी घटकों पर चर्चा नहीं होती।

मानववंशशास्त्रीय अध्ययन में देशजता को किसी भी जीवन्त समाज के अस्तित्व के प्रमाण रूप में स्वीकार किया जाता है। किसी भी अध्येता को उस समाज की देशजता की पवित्रता समझना अनिवार्य है। इससे दो संस्कृतियों में ऊँच-नीचता का भेद नहीं किया जा सकता।

राल्फ लिंटन इस मानववंशशास्त्रज्ञ के मतानुसार देशीवाद यह संस्कृति सम्पर्क के परिणामस्वरूप उद्भूत होता है। उसने यह सिद्ध किया है कि जब किसी-किसी संस्कृति का अस्तित्व दूसरी प्रबल संस्कृति के दबाव के तहत बाधित होता है तब दबाए गए समाज में देशीय अस्मिता विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। उन्नीसवीं सदी में भारतीयों की यही दशा रही जिसके परिणामस्वरूप लगातार देशीवादी आन्दोलन निर्माण होते रहे। सन् 1857 का आन्दोलन, देश में विभिन्न स्थानों पर उभरे विद्रोह, किसान आन्दोलन, इसके साथ ही जमशेदजी टाटा, ज्योतिबा फुले आदि अनेक देशीवादी नेताओं द्वारा राजनीति से लेकर भाषा शुद्धि तक जो देशीवादी आन्दोलन चलाए, उन सभी के मूल में देशी संरचना का एहसास व्यक्त करने का ही सूत्र दिखाई देता है। महात्मा गांधीजी का अहिंसावादी स्वातन्त्र्य संग्राम इस स्वर्णयुग की चरमसीमा मानना होगा। सारांश, देशीवाद को केवल एक समूह तक विभक्त रूप में नहीं देखा जा सकता क्योंकि एक सांस्कृतिक घटना घटित होने के लिए देशीवाद को अपने प्रदेश के बाहरी अन्य संस्कृतियों के अस्तित्व का एहसास होना आवश्यक है। देशीवाद यह देशजता की आत्मनिर्भरता का बाह्यवर्ती रूप है क्योंकि देशीवाद को ऐसे दबाव लानेवाली परसंस्कृति के सन्दर्भ लागू होते हैं। देशजता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मात्र अपने सन्दर्भ होते हैं।

हमने अन्तरजनन के सम्बन्ध में यह देखा कि देशीयता का अतिरेक भी एकाध समाज को आत्मकेन्द्रित बनाकर उसका ह्रास कर सकता है। इससे अनायास ही संसार के अन्य समाज से अलग रहने की प्रवृत्ति को बल मिलता है। ऐसे समाज में एक तरह का वंशाभिमान और आत्मसन्तुष्ट जीवन व्यवहार बढ़ता है। ऐसी संस्कृतियाँ स्वाभाविकतः विदेशी आक्रमण से खत्म होने का डर रहता है। अल् बिरूणी ने ईस्वी सन् दसवीं शती के पूर्व अस्तित्व में ब्राह्मणकेन्द्रीय हिन्दू समाज में ऐसी देशीयता के अतिरेक का अत्यधिक स्पष्ट रूप में वर्णन किया है। हिन्दुस्तान को अपना देश माननेवाला मुसलमान वर्ग और महानुभाव-वारकरी सम्प्रदाय द्वारा पूरे देश में चलाए आत्मशुद्धिपरक देशीवादी आन्दोलन ने हिन्दुस्तानी समाज की नई नींव डाल दी और उसे तहस-नहस होने से बचाया। तिस पर भी यह समाज दुबारा अठारहवीं सदी तक देशजता के अतिरेक से दकियानूसी बन गया और ज्ञानाधिष्ठित पाश्चात्य संस्कृति के सामने टिक न पाया। उन्नीसवीं सदी में परसंस्कृति के सम्पर्क में रहकर नया ज्ञान देशी संस्कृति में मिलाने की क्रिया फिर आरम्भ हुई जो आज भी कम-अधिक मात्रा में जारी है।

देशजता विशेष भूप्रदेश के साहचर्य से विकसित ऐसी भावनाएँ, एहसास, विचार, सजगता, स्मृति इनके पुंज को आह्वान करती है। इसी कारण देशजता के एहसास में भावनाप्रधान काव्यात्मकता अधिक होती है, तुलना में विवेकशीलता कम पाई जाती है। उसमें परम्पराभिमुखता अधिक और आधुनिकता कम होती है। वह भविष्य की अपेक्षा अतीत की ओर अधिक उन्मुख होती है। देशजता पिछले व अगले सम्पूर्ण समूह का प्रतिसाद होती है। वह सम्पूर्ण समूह के वंश की जीवनशैली होती है। इसके द्वारा सामूहिक चिन्तनशक्ति और भावशक्ति प्रकट होती है। स्थूल रूप में देशजता का तत्त्व गतिशील नहीं तो स्थितिशीलता के नजदीक पाया जाता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह कि देशीयता का रुख सनातनी प्रतिगामी प्रवृत्तियों से साठ-गाँठ करने की ओर होता है। यह जितना सच है उतना ही यह भी सच है कि सक्षम देशी व्यवस्था का ह्रास करनेवाली परकीय प्रवृत्तियों का सफलता से मुकाबला करने का देशीयता यह एकमात्र हथियार दबाए गए समाज के पास होता है। हिन्दुस्तान के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि प्रदीर्घ और समृद्ध इतिहास होनेवाले अतीत से अक्सर प्रभावी शक्ति प्राप्त होने की सम्भावना होती है। महात्मा गांधी की आध्यात्मिकता या अम्बेडकर या बौद्ध धर्म का पुरुज्जीवन जैसे देशीयता के प्रतिभासम्पन्न उपयोग के उदाहरण किसी भी तथाकथित पुरोगामी अन्तरराष्ट्रीय तत्त्व के इतने ही आधुनिक भारतीय संस्कृति को लाभदायी साबित हुए हैं।

परम्परा और आधुनिकता में निरन्तर द्वन्द्व जारी रखना यह समाज की जीवन्तता का लक्षण होता है। ऐसा संघर्ष परिणाम के रूप में देशीयता से सम्बन्ध रखता है। आधुनिक भारतीय समाज को परम्परा और आधुनिकता, देशजता और अन्तरराष्ट्रीयता, धर्म और विज्ञान, लौकिक और अलौकिक ऐसे अनेक द्वि-ध्रुवात्मक सन्दर्भों का समन्वय समझ में नहीं आया है। पीछे स्पष्ट किया उस प्रकार अंग्रेजी साम्राज्यप्रणीत अन्तरराष्ट्रीयता हमारे ऊपर आजादी के साथ आरोपित की जाने से यह समन्वय स्थापित करना अधिक कठिन हुआ है। इससे हमारी जीवनशैली प्रकट रूप में बिगड़ चुकी है। उदाहरणार्थ, हमारी देशी वेशभूषा शैली की पगड़ी, मुँड़ासा, साफा, टोपी आदि सबसे महत्त्वपूर्ण, उपयुक्त और सौन्दर्यशील ऊर्ध्वभाग केवल अशिक्षित पारम्परिक और देशी संस्कृति का पालन करनेवाले लोगों ने ही बनाए रखा है। पाश्चात्य वेशभूषा का अनुकरण करनेवाले, पुरोगामी अन्तरराष्ट्रीय जीवनशैली का अनुसरण करनेवाले शिक्षितों ने मात्र यह सबसे सौन्दर्यशील विन्यास (Syntagm) परसंस्कृति के दबाव से लज्जास्पद करार कर दिया। अपनी काली-श्याम बादामी हिन्दू त्वचा की तुलना में परकीय श्वेत त्वचा को सुन्दर मान लिया। इस आर्येतर वर्णवर्चस्व को श्वेत ब्रिटिश राजनेताओं के कारण बीसवीं सदी में पुनश्चः बल मिला। अपनी महान पारम्परिक कला, विशेषतः लोककला, नृत्य, संगीत, शिल्प, चित्र, स्थापत्य और वैसे देखा जाए तो सभी हस्तकौशल ग्रामीण शूद्रों से या नीची जातियों से जोड़ दिए गए। विदेश से इन अनार्यों के देश में आए महान आर्यगोत्रों को शुद्ध बीज कहलवाने की आकांक्षा इस सीमा तक पहुँची कि महाराष्ट्रीय लोगों का वांशिक मूल द्रविड़ी है यह तक हमारे विद्वान भूल गए। आर्य यह इस देश में किसी भी समूह का शुद्ध वांशिक घटक नहीं हो सकते, यह भी अधिकांश उच्चवर्णीयों को स्वीकार नहीं होगा।

हर भूमि की स्वयं की चिह्नव्यवस्था (हेमिंग्वे के शब्दों में 'कोड ऑफ द लैंड') होती है, लय होती है। यदि हमारे बुद्धि व्यवहार से इसका प्रकटीकरण नहीं होगा तो हमारे साहित्यिक क्रिया-कलापों का कोई अर्थ नहीं। हमारी निर्णय बुद्धि तक पर विदेशी (प्रायः पाश्चात्य) विचारों का अधिकार चलता हुआ दिखाई देता है। इसी कारण 'पाथेर पांचाली' को प्रथम विदेश में महत्त्व मिलता है और उसके पश्चात् वह इधर चर्चित होती है ! वैसे तो यहाँ के सुबद्ध लोगों को वह पहले ही पसन्द आई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है लेकिन उसका चर्चित बनना विदेशी कसौटी के कारण शक्य होता है ! इसी कारण हिन्दुस्तानी लोग विदेशी पदवी लेने हेतु छटपटाते हैं। प्र. के. अन्ने, एम.ए., बी.टी., टी.डी. (लन्दन) से लेकर आज तक यह परम्परा जारी है। हमारे राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में अंग्रेजी का ऊबकाई लानेवाला प्रयोग इतना होता है कि जिस पर स्वतन्त्र लेख हो सकता है। हमारे विद्वान अंग्रेजी में कविता तक कर सकते हैं। इससे भी हास्यास्पद प्रकार यह कि कुछ लेखक अपनी पुस्तकें अंग्रेजी में प्रकाशित करने की दौड़धूप कर राष्ट्रीय या अन्तरराष्ट्रीय होने की आशा रखते हैं। जल्द से साहित्यिक प्रसिद्धि प्राप्ति की यह एक सन्देहास्पद राह हो चुकी है। अब हमें यह स्वीकारना आवश्यक बन गया है कि हमारे अपने भाषासमूह के बाहर हम जो भाषिक वर्तन करते हैं उसे सामान्य स्तर के सिवा कोई महत्त्व नहीं होता। अपनी पुस्तकों पर अंग्रेजी लेखकों के सिफारिश पत्र छपवाकर 'अन्तरराष्ट्रीय' हुए इंडो-अंग्लिअन लेखकों पर भी स्वतन्त्र लेख हो सकता है। (देखिए, टीकास्वयंवर, पृ. 66-84, भारतीयों का अंग्रेजी लेखन) जी.व्ही. देसानी के 'ऑल अबाउट एच. हॅटर' उपन्यास में दिल्ली के रामलीला मैदान पर डेरा डालकर बैठे साधु दिखाए हैं, जिन्होंने अपने डेरे पर 'ऑल इंडिया साधू', 'इंटरनेशनल साधू' जैसे नामपट्ट लगा दिए हैं। इन साधुओं में और अपनी भाषा के बाहर प्रसिद्ध होने की इच्छा रखनेवाले लेखक-विद्वानों में कोई अन्तर नहीं है।

चेअरमन माओ त्से तुंग ने सन् 1955 में कहा था, "जवाहरलाल नेहरू यह समझ नहीं पा रहे हैं कि हिन्दुस्तान एशिया का हिस्सा है, यूरोप का नहीं।" यह विधान दास्यता से मुक्त हुई एशियाई राष्ट्रों की ओर से की हुई देशीयता की सर्वसाधारण परिभाषा ही मानना होगा। हम नेहरू युग से ही ऐसी अन्तरराष्ट्रीयता को सहेज रहे हैं जिससे पश्चिमी राष्ट्रों को आवश्यक शावक बाहर पड़ रहे हैं। उधर की सुविधा के अनुसार हमारा एहसास विस्तृत या संकुचित यह तय होता है। यह इंटरनेशनलिज्म किसिंजर, वालेसा या गोल्डिंग का पाश्चात्य श्रेष्ठत्व नोबेल पुरस्कार द्वारा हम स्वीकार करें इसलिए हैं। यह व्यापक अन्तरराष्ट्रीयता हमें यह भी सिखाती है कि हमारे गांधी, प्रेमचन्द या शिवराम कारन्थ को मात्र नोबेल पुरस्कार के लिए काबिल न माना जाए। इसी कारण हमारी समीक्षा में अजन्ता के बुद्ध के हाथ का पद्म कम महत्त्वपूर्ण करार किया जाता है और व्हॅन गॉख का सूर्यफूल उल्लेखनीय माना जाता है।

देशीबता का तत्व यह बताता है कि हमारे द्वारा निर्मित मानक छोड़कर अन्य के मानकों को स्वीकार नहीं करना चाहिए। बाहर से चाहे जितनी आयात करें उससे देशजता को मजबूती ही मिलती है। लेकिन जिन मानकों को लेकर उधारी का व्यवहार चलेगा वह हमारे अपने होने चाहिए। यदि विशिष्ट तरह की अन्तरराष्ट्रीयता हमारे लिए अनुपयुक्त हो सकती है तो उसे फेंक देना चाहिए। देशजता का महत्त्व स्वीकार करने पर पहली जिम्मेदारी यह कि बेसिर-पैर की बकवास न फैलाकर प्रथम अपने घर के पास की बस्ती, अपना गाँव, प्रदेश, भाषा, प्रान्त इस पर लक्ष्य केन्द्रित करना होगा। स्वातन्त्र्योत्तर काल में हमारे देश में ऐसे पाखंडी विचार, राजनीतिक दल और पन्थ महत्त्वपूर्ण बने जिन्होंने राष्ट्रीय एकात्मकता, भारत जोड़ो, अन्तरभारती, पूरा विश्व और विश्वमानव के लोकमंगल की केवल बातें ही कीं। प्रबल सत्तासीन वर्ग झूठी सुखद एकता का और भव्य व्यापकता का प्रयोग राजनीतिक चालाकी के रूप में अक्सर जनता पर करता है।

मुझे ऐसा लगता है कि संसार की सबसे प्राचीन जीवन्त मानवी संस्कृति का घटक होने के नाते तो देशीयता मानवी अस्तित्व के लिए एक आवश्यक और मौलिक तत्व है और पृथ्वी पर उसे प्रस्थापित कराने हेतु हिन्दुस्तानी लोग सबसे अधिक काबिल हैं। आ

अनुवाद : गिरीश काशिद

संदर्भ

1. श्री चक्रधरस्वामी के शिष्य, महानुभावपंथीय गुरु भटोबास उर्फ नागदेवाचार्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सवादी साहित्यालोचन के कुछ प्रमुख बिन्दु

टेरी ईगलटन

अगर कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगल्स साहित्यिक लेखन की अपेक्षा अपने राजनीतिक और आर्थिक लेखन के कारण अधिक जाने जाते हैं तो इसका मतलब यह बिल्कुल नहीं है कि वे साहित्य को महत्त्व ही नहीं देते थे। जैसा कि लिअन त्रात्स्की ने लिखा है, यह सच है कि दुनिया में ऐसे बहुत लोग हैं जिनकी सोच तो क्रान्तिकारियों जैसी होती है लेकिन जिनका भावबोध भोथरा अथवा विषयासक्त होता है लेकिन मार्क्स और ऐंगल्स इस श्रेणी में नहीं आते। कार्ल मार्क्स स्वयं युवकोचित गीतों, एक अधूरे काव्य-नाटक और लारेन्स स्टर्न से प्रभावित एक अधूरे हँसोड़ उपन्यास के लेखक थे, और उनका राजनीतिक लेखन साहित्यिक अवधारणाओं और उद्धरणों से भरा हुआ है। कला और धर्म पर उन्होंने एक भारी-भरकम लेकिन अप्रकाशित पुस्तक लिखी थी और उनकी भावी योजनाओं में नाट्यालोचन पर एक जर्नल निकालना तथा बाल्ज़ाक के उपन्यासों और सौन्दर्यशास्त्र पर ग्रंथ लिखना शामिल थे। अपने समाज की क्लासिकी परम्परा के अनुरूप एक अत्यधिक सुसंस्कृत जर्मन बुद्धिजीवी के रूप में मार्क्स ऐसी फिज़ा में साँस ले रहे थे जिसमें कला और साहित्य रच-बसे हुए थे। सोफोक्लीज़ के नाटकों से लेकर स्पेनी उपन्यासों तक तथा ल्यूक्रेशियस से लेकर अपने समय के बाजारू उपन्यासों तक के साहित्य से उनका परिचय अपने विस्तार में काफी विशाल था। जर्मन कामगारों की जिस संस्था की उन्होंने ब्रुसेल्स में स्थापना की थी उसकी बैठक में सप्ताह का एक दिन कला-चर्चा के लिए निश्चित किया गया था। स्वयं मार्क्स रंगमंच तथा नाटकों के शौकीन, मशहूर काव्य-वाचक तथा अठारहवीं सदी के गद्य से लेकर औद्योगिक बस्तियों में गाए जानेवाले गीतों तक के रसिया थे। ऐंगल्स को लिखे एक पत्र में उन्होंने अपने लेखन को एक 'कलात्मक पूर्णत्व' का निर्माण करनेवाला कहा है; साहित्यिक शैली के सवालों पर वे बहुत सावधान और संवेदनशील रहते थे और इनमें उनकी अपनी शैली भी शामिल थी। अपने प्रारंभिक पत्रकारिता लेखन में वे बार-बार कलात्मक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर बल देते हुए पाए जाते हैं। यही नहीं, बल्कि प्रौढ़काल के उनके लेखन में आर्थिक विचारों के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्गों के पीछे सौंदर्यात्मक अवधारणाओं का असर आसानी से देखा जा सकता है।

इस सबके बावजूद यह सच है कि मार्क्स और ऐंगल्स के सामने एक सर्वांगसम्पूर्ण सौन्दर्यशास्त्रीय सैद्धान्तिकी प्रस्तुत करने की अपेक्षा किंचित् अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यभार प्रस्तुत था। कला और साहित्य पर उनकी टिप्पणियाँ आधी-अधूरी और बिखरी हुई हैं जिनमें संकेतों का पता तो चलता है लेकिन पूर्ण विकसित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवस्थितियों का अनुमान नहीं हो पाता। यही कारण है कि मार्क्सवादी आलोचना में मार्क्सवाद के संस्थापकों द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्तों की पुनरावृत्ति से कहीं अधिक दाव पर लगा होता है। पश्चिम में जिसे 'साहित्य का समाजशास्त्र' कहा जाता है, मार्क्सवादी आलोचना इसके अतिरिक्त और बहुत कुछ होती है। साहित्य के समाजशास्त्र का सम्बन्ध मुख्य रूप से साहित्यिक उत्पाद, वितरण और किसी समाज में विनिमय के साधनों से होता है—पुस्तकों का प्रकाशन कैसे होता है, उनके लेखकों और पाठकों की सामाजिक हैसियत क्या है, साक्षरता का स्तर क्या है, 'रुचि' के सामाजिक नियायक क्या हैं जैसे सवाल इसमें मुख्य होते हैं। फिर यह साहित्यिक 'पाठों' की परीक्षा उनकी समाजशास्त्रीय प्रासंगिकता के लिए करता है और इसके लिए यह साहित्यिक कृतियों पर छापा इसलिए मारता है ताकि सामाजिक इतिहासकारों की रुचि की विषय-वस्तुओं को यह उन कृतियों से अलग छाँट सके। इस क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य किए गए हैं और वह मार्क्सवादी आलोचना का अंग है लेकिन अपने आपमें यह न तो विशिष्ट रूप से मार्क्सवादी है और न ही विशिष्ट रूप से आलोचनात्मक। वास्तव में यह पश्चिम के उपयोग के अनुकूल मार्क्सवादी समीक्षा का होशियारी से नियोजित, अग्नि-वाष्पहीन संस्करण मात्र है।

मार्क्सवादी आलोचना साहित्य का समाजशास्त्र भर ही नहीं जिसका उद्देश्य यह जानना होता है कि उपन्यास कैसे प्रकाशित होते हैं अथवा उन उपन्यासों में श्रमिक वर्गों का कैसा चित्रण किया गया है। इसका उद्देश्य साहित्यिक कृति को अधिक पूर्णता से 'व्याख्यायित' करना होता है; और व्याख्यायित करने का मतलब होता है कृति के रूपों, शैलियों और अर्थों के प्रति एक किंचित् अधिक संवेदी दृष्टि। लेकिन साथ ही इसका मतलब इन रूपों, शैलियों और अर्थों को किसी विशिष्ट इतिहास के उत्पादों के रूप में देखना भी होता है। प्रसिद्ध चित्रकार हेनरी मातिसे ने कभी कहा था कि सभी कलाएँ अपने ऐतिहासिक युग को प्रतिबिम्बित करती हैं, लेकिन महान कला वह होती है जिसमें यह प्रतिबिम्बन अत्यधिक स्पष्ट होता है। साहित्य के अधिकांश विद्यार्थियों को इसका ठीक उल्टा पढ़ाया जाता है : महान कला वह होती है जो कालातीत रूप से अपनी ऐतिहासिक दशाओं का अतिक्रमण कर जाती है। इस सवाल पर मार्क्सवादी आलोचना के पास कहने को बहुत कुछ है लेकिन साहित्य का 'ऐतिहासिक' विश्लेषण मार्क्सवाद के साथ ही नहीं शुरू हुआ था। मार्क्स के पहले कई चिन्तक ऐसे हुए हैं जिन्होंने साहित्यिक कृतियों को उनके इतिहास से जोड़कर विश्लेषित किया है और ऐसे ही चिन्तकों में एक हैं जर्मनी के आदर्शवादी दार्शनिक जी. डब्ल्यू. एफ. हीगेल जिन्होंने मार्क्स के कला और साहित्य चिन्तन को गहरे प्रभावित किया है। इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचना की मौलिकता इस बात में निहित नहीं है कि इसने साहित्य को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखने की पहल की अपितु यह निहित है स्वयं इतिहास के इसके क्रान्तिकारी बोध में।

आधार और अधिरचना

इस क्रान्तिकारी बोध का बीज मौजूद है मार्क्स और ऐंगल्स की पुस्तक *द जर्मन आइडियोलॉजी* (1845-6) के इस सुविख्यात अंश में :

> *विचारों, अवधारणाओं और चेतना का उत्पादन प्रथमतः प्रत्यक्ष रूप से अन्तर्ग्रन्थित है मनुष्य के भौतिक संसर्ग, यथार्थ जीवन की भाषा में। अवधारणा शक्ति, चिन्तन शक्ति, मनुष्यों का आध्यात्मिक संसर्ग यहाँ मनुष्य के भौतिक व्यवहार के प्रत्यक्ष वहिःस्रवण के रूप में प्रकट होते हैं।....भौतिक मनुष्य तक पहुँचने के लिए हम इस बिन्दु से प्रारम्भ नहीं करते कि मनुष्य क्या कहते हैं, क्या कल्पना करते हैं, क्या अवधारणा करते हैं अथवा मनुष्यों को कैसे वर्णित किया गया है, उनके बारे में कैसे सोचा गया है, उन्हें कैसे कल्पित और अवधारित किया गया है अपितु हम प्रारम्भ करते हैं यथार्थ सक्रिय मनुष्य से। चेतना जीवन को नियामित नहीं करती, जीवन चेतना को नियामित करता है।*

इस अंश के निहितार्थ का किंचित् विस्तृत विवरण *अ कन्ट्रीब्यूशन टु द क्रिटिक आफ पॉलिटिकल इकॉनौमी* (1859) में खोजा जा सकता है :

> *अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्धों में प्रवेश करते हैं जो अनिवार्य होते हैं और उनकी इच्छा से मुक्त होते हैं (अर्थात्) **उत्पादन के सम्बन्ध** जो उनकी भौतिक उत्पादी **शक्तियों** के विकास के एक निश्चित बिन्दु के तदनुरूप होते हैं। इन उत्पादी सम्बन्धों का जमा-तोड़ समाज की आर्थिक संरचना की, यथार्थ आधार की रचना करता है जिस पर एक विधिक और राजनीतिक अधिरचना खड़ी होती है और जिसके तदनुरूप होता है सामाजिक चेतना का एक*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित रूप। भौतिक जीवन की उत्पादन विधियाँ सामान्य रूप से सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन-प्रक्रिया को अनुकूलित करती हैं। यह मनुष्यों की चेतना नहीं है जो उनके अस्तित्व को नियामित करती है अपितु इसके ठीक उल्टा यह उनका सामाजिक अस्तित्व है जो उनकी चेतना को नियामित करता है।

दूसरे शब्दों में मनुष्यों के बीच के सामाजिक सम्बन्ध उस विधि से बँधे होते हैं जिसके द्वारा वे (मनुष्य) अपना भौतिक जीवन उत्पादित करते हैं। कुछ 'उत्पादी शक्तियाँ,' जैसे मध्ययुग के श्रमिक संगठन, स्वामी और सेवक के सम्बन्धों जैसी होती हैं जिसे हम सामन्तवाद कहते हैं। बाद में उत्पादी संगठन के नए रूपों का विकास सामाजिक सम्बन्धों के बदले हुए अनुक्रम पर आधारित होता है—अर्थात् उत्पादन के साधनों के स्वामी पूँजीपतियों और उस सर्वहारा वर्ग के बीच होता है जिसकी श्रमशक्ति को मुनाफे के लिए पूँजीपति खरीद लेता है। उत्पादन की 'शक्तियाँ' और उत्पादन के 'सम्बन्ध' एक साथ मिलकर जिसे मार्क्स 'समाज की आर्थिक संरचना' कहते हैं अथवा जिसे मार्क्सवाद में सामान्य रूप से आर्थिक 'आधार' अथवा ढाँचा कहा जाता है उसका निर्माण करते हैं। इसी आर्थिक आधार पर सभी कालों में एक अधिरचना का जन्म होता है—अर्थात् विधि और राजनीति के कुछ रूप, एक प्रकार का 'राज्य' जिसका मूल कार्य होता है उस सामाजिक वर्ग की शक्ति का वैधानीकरण करना जो आर्थिक उत्पादन के साधनों का स्वामी होता है। लेकिन अधिरचना में इससे कुछ अधिक होता है; इसमें 'सामाजिक चेतना के कुछ निश्चित रूप' (राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक, सौन्दर्यमूलक आदि) भी सम्मिलित होते हैं जिसे मार्क्सवाद में 'विचारधारा' की संज्ञा दी जाती है। 'विचारधारा' का प्रकार्य समाज के शासकवर्ग का वैधानीकरण करना होता है; अन्तिम विश्लेषण में समाज के प्रभुत्वशाली विचार इसके शासक वर्ग के विचार होते हैं।

इस प्रकार मार्क्सवाद के लिए 'कला' समाज की अधिरचना का अंग होती है। यह समाज की विचारधारा का अंग होती है (हम आगे इसकी कुछ सीमाओं का जिक्र करेंगे)—सामाजिक दृष्टि की उस संश्लिष्ट संरचना का एक ऐसा तत्त्व जो ऐसी स्थिति को निश्चित करता है जिसमें समाज का एक वर्ग दूसरे वर्गों पर प्रभुत्व रखता है और जिसे समाज के अधिकांश सदस्य या तो 'स्वाभाविक' मान लेते हैं अथवा यह उन्हें दिखाई ही नहीं देता है। साहित्य को समझने का अर्थ होता है उस सामाजिक प्रक्रिया को समझना जिसका यह एक अंग होता है। जैसा कि रूसी मार्क्सवादी आलोचक प्लेखानोव कहते हैं : 'किसी युग की सामाजिक मानसिकता उस युग के सामाजिक सम्बन्धों द्वारा अनुकूलित होती है। और यह सर्वाधिक परिलक्षित होता है कला और साहित्य के इतिहास में।' साहित्यिक कृतियाँ किसी रहस्यमयी प्रेरणा का प्रतिफल नहीं होती हैं और न ही उनकी व्याख्या लेखक के अपने मनोविज्ञान के पदों में की जा सकती है। वे प्रत्यक्षबोध के रूप होती हैं, संसार को देखने की विशिष्ट विधियों का प्रतिफल होती हैं और इस प्रकार उनका सम्बन्ध संसार को देखने की उस प्रभुत्वशाली विधि से होता है जो किसी युग की 'सामाजिक' मानसिकता अथवा विचारधारा होती है। फिर यह विचारधारा ऐसे मूर्त सामाजिक सम्बन्धों का उत्पाद होती है जिनमें किसी विशेष स्थान अथवा विशेष काल में मनुष्य प्रवेश करते हैं, यह वह विधि होती है जिसके अनुसार वर्ग-सम्बन्धों को अनुभूत और वैधानीकृत किया जाता है तथा उन्हें बनाए रखा जाता है। यही नहीं कि मनुष्य अपने सामाजिक सम्बन्धों को चुनने के लिए स्वतन्त्र नहीं होते अपितु भौतिक आवश्यकताओं के चलते उन्हें चुनने के लिए बाध्य किया जाता है—और यहाँ कारक तत्त्व होता है आर्थिक उत्पादन की विधि के विकास की प्रकृति और अवस्था।

शेक्सपियर के नाटक *किंग लियर* अथवा जेम्स ज्वाइस के उपन्यास *यूलिसेज* को समझने के लिए केवल इन कृतियों के प्रतीकों की व्याख्या करना, उनके साहित्यिक इतिहास का अध्ययन करना अथवा इनमें संयोग से आ गए समाजशास्त्रीय तथ्यों को पादटिप्पणियों द्वारा संकेतित करना ही पर्याप्त नहीं होगा। इसके लिए प्रथमतः इन कृतियों और इनके मूल में विद्यमान विचारधारात्मक संसारों के बीच के जटिल, परोक्ष सम्बन्धों को समझना पड़ेगा—वे सम्बन्ध जो केवल इनकी विषय-वस्तुओं अथवा इनकी चिन्ताओं में से ही नहीं उभरते अपितु इनकी शैलियों, लय-योजनाओं, बिम्बों, गुणवत्ता और (जैसा कि हम आगे देखेंगे) इनके रूपविधान में से भी उभरते हैं। लेकिन हम विचारधारा को तब तक नहीं समझ सकते जब तक हम पूरे समाज में इसकी भूमिका को नहीं समझते अर्थात् किस प्रकार इसमें प्रत्यक्षबोध की एक निश्चित, इतिहास-सापेक्ष संरचना निहित होती है जो किसी विशेष सामाजिक वर्ग की शक्ति के भीतर संग्रथित होती है। यह आसान काम नहीं होता है क्योंकि विचारधारा कभी भी शासक वर्ग के विचार का सपाट प्रतिबिम्ब नहीं होती है; वास्तव में इसके ठीक उल्टा, यह एक जटिल परिघटना होती है जिसमें संसार के विषय में असंयोज्य, यहाँ तक कि विरोधी दृष्टियाँ शामिल हो सकती हैं। किसी विचारधारा को समझने के लिए समाज के विभिन्न वर्गों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीच के सटीक सम्बन्धों को विश्लेषित करना होता है और ऐसा करने का अर्थ होता है उस बिन्दु को परखना जहाँ ये सारे वर्ग उत्पादन-प्रणाली के साथ जुड़े हुए खड़े होते हैं।

साहित्य के उस विद्यार्थी के लिए यह एक महत् कार्य-योजना लग सकती है जिसने यह सोचा था कि उससे केवल कथानक और चरित्र-चित्रण पर ही विचार-विमर्श करने की अपेक्षा की गई थी। इससे यह भी आशंका हो सकती है कि साहित्य-समीक्षा को राजनीति और अर्थशास्त्र जैसे अनुशासनों से गड्डमड्ड किया जा रहा है जबकि इन्हें अलग-अलग रखा जाना चाहिए था। लेकिन, जैसे भी हो, किसी साहित्यिक कृति की पूर्णतम व्याख्या के लिए ऐसा किया जाना अनिवार्य होता है। उदाहरण के लिए कॉनरेड के प्रसिद्ध उपन्यास *नॉस्ट्रोमों* के प्लेसिडो खाड़ी का महान दृश्य ले सकते हैं। जहाज धीरे-धीरे डूब रहा है और अंधेरे में डिकाउड और नॉस्ट्रोमों अलग-अलग कर दिए गए हैं। इस दृश्य के सम्पूर्ण कलात्मक प्रभाव का मूल्यांकन करते समय हम इस दृश्य को पूरे उपन्यास की काल्पनिक दृष्टि के केन्द्र में रखने के लिए विवश हो जाते हैं। इस दृष्टि में गहरी बसी हुई निराशा (इसे पूरी तरह से ग्रहण करने के लिए हमें इस दृश्य को कॉनरेड के समस्त उपन्यास-लेखन के केन्द्र में रखना पड़ेगा) की पूरी व्याख्या कॉनरेड के अपने मनोविज्ञान के पदों के भीतर नहीं की जा सकती है; व्यक्तिगत मनोविज्ञान भी एक सामाजिक उत्पाद होता है। कॉनरेड की विश्व-दृष्टि की गहरी निराशा उस युग की विचारधारात्मक निराशा का एक प्रकार का कलात्मक रूपान्तरण है—इतिहास का अर्थहीन, वृत्तात्मक बोध, असमाधेय अकेलेपन से ग्रस्त व्यक्तियों का बोध, सापेक्षतावादी और विवेकहीन मानव-मूल्यों का बोध, जो उस पश्चिमी बुर्जुआ वर्ग में एक गंभीर संकट के रूप में मौजूद था जिसके कॉनरेड अंग थे। इस विचारधारात्मक संकट के पर्याप्त कारण थे और ये कारण उस पूरे कालखंड के साम्राज्यवादी पूँजीवाद में मौजूद थे। यह सच है कि कॉनरेड ने अनाम ढंग से उस इतिहास को अपने कथा-साहित्य में महज प्रतिबिम्बित ही नहीं किया; प्रत्येक लेखक व्यक्तिगत रूप से इतिहास में स्थित होता है; अपनी विशिष्ट अवस्थिति से उस इतिहास के प्रति संवेदी होता है; अपने स्वयं के मूर्त पदों में वह उस इतिहास को जानने का प्रयास करता है। लेकिन यह देखना कठिन नहीं है कि कॉनरेड की अपनी अवस्थिति, अर्थात एक ऐसे 'कुलीन' पोलिश प्रवासी की अवस्थिति जो ब्रितानी अनुदारवाद से गहरे प्रतिबद्ध है, अंग्रेज बुर्जुआ विचारधारा के संकट को उनके लिए और गहन बना देती है।

इन पदों में यह भी देखना आसान है कि आखिर प्लासिडो खाड़ी का वह दृश्य क्यों इतना मोहक बन पड़ा है। अच्छा लिखना 'शैली' के मामले में कुछ अधिक होता है, इसका मतलब यह भी होता है कि लेखक के पास एक ऐसा विचारधारात्मक परिप्रेक्ष्य भी है जो किसी स्थिति विशेष में मानवीय अनुभव की तह में गहरे उतर सकता है और प्लासिडो दृश्य में ठीक यही होता है। और ऐसा संभव हो पाता है इसलिए नहीं क्योंकि लेखक के पास एक श्रेष्ठ गद्य शैली है अपितु इसलिए कि उसकी ऐतिहासिक स्थिति इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि तक पहुँचना उसके लिए संभव बना देती है। सवाल यह नहीं है कि ये अन्तर्दृष्टियाँ राजनीतिक भाषा में प्रगतिशील हैं अथवा प्रतिक्रियावादी (और कॉनरेड के विषय में प्रतिक्रियावादी ज्यादा समीचीन होगा) ठीक वैसे ही जैसा बीसवीं सदी के अन्य प्रमुख लेखक—येट्स, इलियट, पाउंड, लारेंस—राजनीतिक रूप से अनुदारवादी हैं और इनमें सभी का किसी न किसी प्रकार फासीवाद से जुड़ाव रहा है। मार्क्सवादी समीक्षा इसके लिए क्षमायाचना करने के स्थान पर इसकी व्याख्या करती है, वह यह लक्षित करती है कि प्रामाणिक क्रान्तिकारी कला के अभाव में एक क्रान्तिकारी अनुदावाद ही, जो मार्क्सवाद की तरह, उदार बुर्जुआ समाज के तार-तार हो चुके मूल्यों पर तीखा प्रहार कर रहा था, महान साहित्य को जन्म दे सकता था।

साहित्य और अधिरचना

यह समझना भूल होगी कि मार्क्सवाद पाठ से विचारधारा, विचारधारा से सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक सम्बन्धों से उत्पादी शक्तियों की ओर यान्त्रिक रूप से चलता जाता है। वास्तव में यह समाज के इन 'स्तरों' की एकता में रुचि रखता है। साहित्य अधिरचना का अंश हो सकता है लेकिन इसे आर्थिक आधार का निष्क्रिय प्रतिबिम्बन नहीं माना जा सकता। 1890 में जोजेफ ब्लाख को लिखे एक पत्र में ऐंगल्स ने इसे स्पष्ट कर दिया है :

इतिहास की भौतिकवादी अवधारणा के अनुसार इतिहास में नियामक तत्त्व *अन्ततः* यथार्थ जीवन में उत्पादन और पुनर्उत्पादन होता है। इससे अधिक न तो मैंने और न ही मार्क्स ने कभी दावा किया है। इसीलिए यदि कोई इसे तोड़-मोड़कर यह वक्तव्य बनाना चाहता है कि आर्थिक तत्त्व *एकमात्र* नियामक तत्त्व होता है, तो वह इसे एक निरर्थक, अमूर्त और व्यर्थ शब्दपुंज में रूपान्तरित करता है। आर्थिक स्थिति आधार होती है लेकिन अधिरचना के विभिन्न तत्त्व—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग संघर्ष के राजनीतिक स्वरूप और इसका परिणाम, एक सफल संघर्ष के बाद विजेता वर्ग द्वारा स्थापित संविधान, इत्यादि—कानून के रूप—और फिर युद्धरत लोगों के मस्तिष्कों में वास्तविक संघर्षों की प्रतिच्छायाएँ : राजनीतिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक या धार्मिक विचार और आगे चलकर रूढ़ सिद्धान्तों के रूप में उनका विकास—यह सारा कुछ ऐतिहासिक संघर्षों की दिशा को प्रभावित करता है और अधिकांश मामलों में उनके रूप के निर्धारण में प्रबल होता है।

ऐंगल्स यह नकारना चाहते हैं कि आधार और अधिरचना के बीच कोई यान्त्रिक अथवा चूल-दर-चूल सम्बन्ध होता है; अधिरचना के तत्त्व लगातार आर्थिक बुनियाद पर उलटकर प्रतिक्रियाशील होते हैं और उसे प्रभावित करते हैं। इतिहास का भौतिकवादी सिद्धान्त इस बात से इन्कार करता है कि कला अपने आपमें इतिहास की दिशा को बदल सकती है लेकिन यह इस बात पर बल देता है कि कला इस बदलाव में एक सक्रिय तत्त्व बन सकती है। वास्तव में, आधार और अधिरचना के सम्बन्धों पर विचार करते समय मार्क्स ने इस सम्बन्ध की संश्लिष्टता और अपरोक्षता के उदाहरण के लिए कला को ही चुना :

कलाओं के सम्बन्ध में यह सर्वविदित है कि उनके पल्लवन के कुछ काल समाज के सामान्य विकास, इसके भौतिक आधार, अथवा जिसे कंकाली संरचना कह सकते हैं उसके अनुपात में कहीं अधिक आगे होता है। उदाहरण के लिए आधुनिक लेखकों, यहाँ तक कि शेक्सपियर की भी तुलना में प्राचीन ग्रीक (साहित्य)। यह भी माना जाता है कि कला के कुछ विशेष रूप जैसे महाकाव्य, अपने युगांतकारी, क्लासिकी ऊँचाई के साथ, उसी समय नहीं पैदा हो सकते जिस समय कला का उत्पादन प्रारम्भ होता है अर्थात् कला के संसार के भीतर कुछ महत्त्वपूर्ण रूप कलात्मक विकास के अविकसित काल में ही संभव हो सकते हैं। यदि कला-संसार के भीतर कला के विभिन्न प्रकारों के बीच सम्बन्ध की यह स्थिति है तब इस बात से कम परेशानी होनी चाहिए कि समाज के सामान्य विकास से पूरे कला-संसार के सम्बन्ध के विषय में भी यही स्थिति होती है। कठिनाई होती है केवल इन अन्तर्विरोधों के सामान्य सूत्रीकरण में। ज्यों ही हम उन्हें चिह्नित कर लेते हैं त्यों ही उनका स्पष्टीकरण हो जाता है।

मार्क्स के विचार का मुद्दा यहाँ है 'कलात्मक उत्पादन और भौतिक उत्पादन के विकास के बीच असमान सम्बन्ध।' इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि महानतम् कलात्मक उपलब्धियाँ उत्पादी शक्तियों के उच्चतम विकास पर निर्भर नहीं होती हैं जैसा कि ग्रीकों के उदाहरण से स्पष्ट है जिन्होंने आर्थिक रूप से अविकसित समाज में महान कला को जन्म दिया था। महाकाव्य जैसे कुछ बड़े कला रूप अविकसित समाज में ही संभव होते हैं। मार्क्स यह सवाल उठाते हैं कि फिर ऐसा क्यों होता है कि अपनी ऐतिहासिक दूरी के बावजूद हम ऐसे कला-रूपों की ओर आकर्षित होते हैं?

कठिनाई यह समझने में नहीं निहित है कि ग्रीक कला और महाकाव्य सामाजिक विकास के कुछ विशिष्ट रूपों से आबद्ध है। कठिनाई यह है कि वे आज भी हमें कलात्मक सुख देते हैं और यह कि एक प्रकार से उन्हें ऐसे प्रतिमान का दर्जा मिला हुआ है जो पहुँच से बाहर माना जाता है। ग्रीक कला आज भी हमें कलात्मक सुख क्यों देती है? इस सवाल का जो जवाब मार्क्स ने दिया है उसे असहिष्णु टिप्पणीकारों ने लुंज-पुंज और कमजोर कहकर उसकी चारों ओर भर्त्सना की है :

> *कोई आदमी दुबारा बच्चा नहीं बन सकता अन्यथा वह बचकाना हो जाता है। लेकिन क्या वह बच्चों की ऊलजलूल हरकतों से आनंदित नहीं होता और क्या एक उच्चतर स्थिति में इसके सत्य को पुनर्उत्पादित करने का प्रयास उसे नहीं करना चाहिए ? क्या प्रत्येक युग का वास्तविक चरित्र इसके बच्चों के स्वभाव में जीवित नहीं हो उठता है? फिर मानवता का ऐतिहासिक बाल्यकाल, इसका सर्वाधिक सुन्दर प्रस्फुटन, जो एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ लौटा नहीं जा सकता, कालातीत आकर्षण नहीं पैदा कर सकता? शैतान बच्चे भी होते हैं और असाधारण रूप से प्रतिभावान बच्चे भी। ग्रीक लोग सामान्य बच्चे थे। हमारे लिए उनकी कला की मोहकता का समाज की उस अविकसित अवस्था से कोई अन्तरविरोध नहीं है जिस अवस्था में इसका विकास हुआ था। वस्तुतः यह कला उस सामाजिक अवस्था का परिणाम है और इस तथ्य से पूरी तरह जुड़ी हुई है कि वे अपक्व सामाजिक दशाएँ जिसमें यह पैदा हुई और केवल जिसमें ही यह पैदा हो सकती थी, कभी भी वापस नहीं आ सकती।*

इस प्रकार ग्रीक कला के प्रति हमारा आकर्षण बचपन के प्रति अत्यधिक मोहग्रस्त प्रत्यागमन है—एक प्रकार की अभौतिक भावुकता जिस पर असहिष्णु आलोचकों ने बड़ी खुशी से हमले किए हैं। लेकिन मार्क्स के इस लेखांश की आलोचना तभी हो सकती है जबकि इसे इसके सन्दर्भ से पूरी तरह से काट लिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाए—अर्थात *1857* की मसौदा हस्तलिपि से जिसे वर्तमान में *ग्रुण्डरिस्से* के नाम से जाना जाता है। एक बार सन्दर्भ से जोड़ देने पर इसका अर्थ तत्काल स्पष्ट हो जाता है। मार्क्स वहाँ तर्क दे रहे हैं कि ग्रीक अपने समाज के अविकसित स्वरूप के बावजूद नहीं अपितु उसके कारण महान कलाकृतियों को जन्म दे सके। प्राचीन समाजों में, जहाँ पूँजीवाद का चिरपरिचित बिखरनेवाला श्रम विभाजन अभी नहीं घटित हुआ था, जहाँ वस्तु-उत्पादन और उत्पादी शक्तियों के अनवरुद्ध, अविराम विकास के परिणामस्वरूप 'परिमाण' ने 'गुणवत्ता' को पराजित नहीं किया था, वहाँ मनुष्य और प्रकृति के बीच सामंजस्य की एक निश्चित मात्रा उपलब्ध की जा सकती थी—एक ऐसा सामंजस्य जो ग्रीक समाज की 'सीमित' प्रकृति पर टिका हुआ था। ग्रीकों का 'बालसुलभ' संसार आकर्षक लगता है क्योंकि यह कुछ निश्चित, नपी-तुली मात्रा में सीमाओं के भीतर विकसित हो रहा था—वह मात्रा और सीमाएँ जो बुर्जुआ समाज में उत्पादन और उपभोग की सीमाहीन माँग के कारण निर्दयतापूर्वक कुचल दी जाती हैं। ऐतिहासिक रूप से यह आवश्यक है कि जैसे-जैसे उत्पादी शक्तियाँ इस समाज की सीमाओं को अतिक्रमित करती हुई फैलें वैसे-वैसे यह संकुचित समाज टूटता जाए लेकिन जब मार्क्स 'एक उच्चतर अवस्था में इसके सत्य को पुनर्उत्पादित करने के प्रयास' की बात कर रहे होते हैं तब वे स्पष्टतः भविष्य के साम्यवादी समाज की बात कर रहे होते हैं जहाँ असीमित संसाधन सीमाहीन विकास में संलग्न मनुष्य के सहायक होंगे।

मार्क्स की इस स्थापना से दो सवाल निकलते हैं : पहला सवाल आधार और अधिरचना के बीच के सम्बन्ध को लेकर है और दूसरे सवाल का सम्बन्ध अतीत की कला से वर्तमान में हमारे सम्बन्ध को लेकर है। दूसरे प्रश्न की चर्चा पहले : यह कैसे हो सकता है कि हम आधुनिक लोग अतीत के उन सांस्कृतिक उत्पादों से, जो हमारे समाजों से अत्यधिक भिन्न समाजों में उत्पादित किए गए थे, इतना कलात्मक सुख कैसे पा लेते हैं? एक अर्थ में जो उत्तर मार्क्स देते हैं वह इस प्रश्न के उत्तर से अलग नहीं है : ऐसा कैसे हो सकता है कि हम आधुनिक लोग स्पार्टाकस की बहादुरी के प्रति आकर्षित होते हैं? हम ग्रीक कला अथवा स्पार्टाकस की ओर इसलिए आकर्षित होते है क्योंकि हमारा अपना इतिहास हमें उन प्राचीन समाजों से जोड़ता है; हम उन समाजों में उन शक्तियों की अविकसित अवस्था से दो-चार होते हैं जो हमें आज घेरे हुई हैं। हम उन प्राचीन समाजों में मनुष्य और प्रकृति के बीच सम्बन्ध की 'मात्रा' का वह आदिकालीन बिम्ब देखते हैं जिसे पूँजीवादी समाज अनिवार्यतः नष्ट करता है और जिसे समाजवादी समाज एक अतुलनीय उच्चतर अवस्था में पुनर्उत्पादित कर सकता है। दूसरे शब्दों में, हमें अपने समकालीन इतिहास की तुलना में इतिहास के विषय में वृहत्तर पदों में सोचना चाहिए। यह पूछना कि डिकेन्स इतिहास से अपने को कैसे जोड़ते हैं यह पूछना नहीं होता है कि डिकेन्स विक्टोरियायी युग के इंग्लैंड से अपने को कैसे जोड़ते हैं, क्योंकि स्वयं विक्टोरियायी समाज एक ऐसे लंबे इतिहास का उत्पाद था जिसमें शेक्सपियर और मिल्टन भी शामिल हैं। केवल 'समकालीन क्षण' के रूप में इतिहास को परिभाषित करना एक प्रकार का विचित्र संकुचन होगा और सब कुछ को 'सार्वभौमिक' के हवाले कर देना होगा। अतीत और वर्तमान से जुड़े हुए सवाल का एक संभावित उत्तर बर्तोल्त ब्रेख्त ने सुझाया है जिनका कहना है कि 'हमें इतिहासबोध को...एक यथार्थ ऐन्द्रिक बोध के रूप में विकसित करना चाहिए। जब हमारे रंगमंचों पर दूसरे युगों के नाटकों का मंचन होता है तब उनका उद्देश्य दूरी को समाप्त करना, रिक्त स्थान को भरना, भिन्नताओं को अनदेखा करना होता है। फिर तुलना, दूरी, भिन्नताओं से मिलने वाली हमारी सुखानुभूति से क्या निकलता है—जो एक ही समय हमसे निकट और हमारे लिए उचित होने की सुखानुभूति होती है?'

मार्क्स की हस्तलिपि में उठाई गई दूसरी समस्या है आधार और अधिरचना का सम्बन्ध। मार्क्स के सामने यह बात साफ है कि समाज के ये दोनों पहलू इतिहास के पूरे दौर में एक जैसे, सममित सम्बन्ध में नहीं होते। समाज की अधिरचना का प्रत्येक तत्त्व—कला, विधिव्यवस्था, राजनीति, धर्म—अपनी गति से विकसित होता है, इसकी विकास-प्रक्रिया अपनी होती है जो महज वर्ग-संघर्ष अथवा आर्थिक स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र नहीं होती है। जैसा त्रात्स्की ने कहा है, कला 'बहुत अधिक परिमाण में स्वायत्त होती है'; उत्पादन प्रणाली से इसका कोई सीधा यान्त्रिक सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी मार्क्सवाद यह दावा करता है कि अन्तिम विश्लेषण में कला उत्पादन-प्रणाली से नियामित होती है। आखिर इस ज़ाहिरी अन्तर्विरोध का समाधान कैसे किया जाए?

आइए अब हम एक मूर्त साहित्यिक उदाहरण लेते हैं। टी.एस. इलियट की विख्यात कविता *द वेस्ट लैण्ड* के बारे में 'जड़' मार्क्सवादी स्थिति यह हो सकती है कि यह प्रत्यक्षतः विचारधारात्मक और आर्थिक कारकों द्वारा आध्यात्मिक रिक्तता और उस बुर्जुआ विचारधारा की थकान द्वारा नियामित है जो प्रथम विश्वयुद्ध के रूप में साम्राज्यवादी पूँजीवाद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकट के कारण घटित हुई थी। ऐसा करना यह मानना होगा कि इलियट की कविता उन स्थितियों का तात्कालिक प्रतिबिम्बन है; लेकिन इस दृष्टि में उन 'स्तरों' के पूरे अनुक्रम के छूट जाने की असफलता निहित है जो स्वयं पाठ और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के बीच 'मध्यस्थता' का काम करते हैं। उदाहरण के लिए यह इलियट की सामाजिक अवस्थिति—अंग्रेजी समाज के साथ उनका अस्पष्ट सम्बन्ध, एक 'उच्चवर्गीय' अमरीकी प्रवासी जो एक महिमामंडित शहरी क्लर्क हो जाने के बावजूद अंग्रेजी विचारधारा के बुर्जुआ—व्यापारिक तत्वों से जुड़ने के बजाय अपने को अनुदारवादी-परम्परागत तत्त्वों से गहरे में जोड़े रहा—के बारे में कुछ भी नहीं कहती। साथ ही यह विचारधारा के अधिक सामान्य रूपों अर्थात इसकी संरचना, इसकी अन्तर्वस्तु, इसकी आंतरिक जटिलता और किस प्रकार यह सारा कुछ तत्कालीन अंग्रेजी समाज के अत्यधिक जटिल वर्ग-सम्बन्धों से उपजे थे इनके बारे में भी मौन रहती है। यह कविता के रूप और भाषा के बारे में भी मौन रहती है; यह इस बारे में भी मौन रहती है कि अपने आत्यंतिक राजनीतिक अनुदारवाद के बावजूद इलियट किस प्रकार एक ऐसे हारावल कवि हो गए जिसने उपलब्ध साहित्य रूपों के इतिहास में से कुछ 'प्रगतिशील' प्रयोगधर्मी तकनीकों को चुना और किस विचारधारात्मक आधार पर उन्होंने इन्हें चुना। इस दृष्टि से हमें उन सामाजिक दशाओं के बारे में भी कोई जानकारी नहीं मिलती जिन्होंने उस समय 'आध्यात्मिकता' के कुछ ऐसे रूपों को जन्म दिया जो अंशतः ईसाई और अंशतः बौद्ध धर्म की ओर झुकते थे और जिनका इस्तेमाल कविता में किया गया है। यह उस बुर्जुआ नृतत्वशास्त्र (फ्रेजर) और बुर्जुआ दर्शनशास्त्र (एफ.एच. ब्रेडली का प्रत्ययवाद) के विषय में भी मौन रहती है जिसका कविता में प्रयोग किया गया है और न ही इसमें इस बात पर कोई रोशनी डाली जाती है कि उस समय के विचारधारा निर्माण में बुर्जुआ नृतत्वशास्त्र और बुर्जुआ दर्शनशास्त्र ने क्या भूमिका निभाई थी। अपनी विशिष्ट प्रकाशन विधियों (छोटा प्रेस और छोटी पत्रिकाओं) से युक्त आत्म-चेती रूप से वैदुष्य-प्रेमी, प्रयोगधर्मी भद्रलोक से एक कलाकार के रूप में जुड़े हुए इलियट की सामाजिक स्थिति के बारे में यह हमें कुछ भी नहीं बताती और न ही इससे यह संकेत मिलता है कि इस प्रकार की प्रकाशन विधियों द्वारा लक्षित पाठक समुदाय कैसा था और कविता की शैलियों और युक्तियों पर इसका कैसा प्रभाव पड़ा था। कविता और इससे जुड़े हुए कला-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अर्थात उस समय की विचारधारा में सौन्दर्यशास्त्र की क्या भूमिका थी और किस प्रकार से यह सम्बन्ध कविता की निर्मिति को रूप प्रदान कर रहा था, इनके बारे में भी हमें इस आलोचना-दृष्टि से कोई जानकारी नहीं मिलती।

द वेस्ट लैण्ड को पूरी तरह समझने के लिए इन सारी चीजों और इनसे जुड़ी हुई अन्य जानकारियों को ध्यान में रखना होगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कविता को समकालीन पूँजीवाद की स्थिति के हिसाब से तोड़-मरोड़ लिया जाए लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं होता कि कविता की व्याख्या करते समय ऐसी न्यायसंगत जटिलताओं को सामने ला दिया जाए जिससे पूँजीवाद जैसी किसी रूढ़ चीज को पूरी तरह भुला ही दिया जाए। इसके विपरीत मेरे द्वारा उल्लिखित सारे तत्त्व (लेखक का वर्गीय मूल, विचारधारात्मक रूप और साहित्य रूपों से उनका सम्बन्ध, 'आध्यात्मिकता' और दर्शन, साहित्यिक उत्पादन की तकनीकें, कला-सिद्धान्त) आधार/अधिरचना प्रतिमान के लिए संगत है। मार्क्सवादी आलोचना जिसे लक्षित करना चाहती है वह है इन सारे तत्त्वों का एक ऐसा अनोखा सहसंयोजन जिसे हम *द वेस्ट लैंड* के रूप में पहचानते हैं। इनमें से कोई भी एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में घुल-मिल सकता है; प्रत्येक की अपनी सापेक्ष स्वायत्तता है। *द वेस्ट लैंड* की व्याख्या ऐसी कविता के रूप में की जा सकती है जो बुर्जुआ विचारधारा के संकट से उपजी है लेकिन उस संकट से अथवा उस संकट की जड़ में मौजूद आर्थिक, राजनीतिक दशाओं से जिसका सीधा, सरल सम्बन्ध नहीं है। एक कविता के रूप में यह किसी विशेष विचारधारात्मक संकट के उत्पाद के रूप में अपने को नहीं जानती क्योंकि यदि यह इसे जानती तो इसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता। इसके लिए अपरिहार्य है कि यह उस संकट को सार्वभौमिक पदों में अनूदित करे—अर्थात् उस संकट को यह एक अनवरत चलनेवाली मानवीय दशा के रूप में ग्रहण करे जो प्राचीन मिस्रवासियों से लेकर आधुनिक मनुष्य के लिए समान रूप से सत्य है। अपने समय के इतिहास से इस कविता का सम्बन्ध इस प्रकार अत्यधिक *मध्यस्थतापूर्ण* है और इस विधि से यह अन्य कला-कृतियों जैसी है।

साहित्य और विचारधारा

लुडविग फायेरबाख़ एण्ड दि एन्ड ऑफ क्लासिकल जर्मन फिलॉसफी (1888) में फ्रेडरिक ऐंगल्स ने लिखा है कि राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों की तुलना में कला कहीं अधिक समृद्ध और 'अपारदर्शी' होती है क्योंकि उनकी तुलना में यह कम विचारधारात्मक होती है। मार्क्सवाद में 'विचारधारा'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सटीक पहचान इस बिन्दु पर जरूरी है। प्रथमतः विचारधारा सिद्धान्तों अथवा वादों का कोई पुंज अथवा समूह नहीं होती; यह संकेत करती है कि वर्गीय समाज में मनुष्य अपनी भूमिकाओं को किस प्रकार जीते हैं; यह उन मूल्यों, विचारों और बिम्बों की ओर संकेत करती है जो मनुष्यों को उनके सामाजिक प्रकार्यों से बाँधते हैं और इस प्रकार पूरे समाज के बारे में यथार्थ ज्ञान से उन्हें वंचित करते हैं। इस अर्थ में *द वेस्ट लैण्ड* विचारधारायुक्त है : यह एक ऐसे आदमी को हमारे सामने लाती है जो अपने अनुभवों को ऐसे रास्ते से पहचानना चाहता है जो उसके समाज के सही बोध को प्रतिरोधित करते है और परिणामतः ये सारे रास्ते छलावा होते हैं। सभी कलाओं का मूल संसार के विचारधारात्मक बोध में होता है; जैसा कि प्लेखानोव ने कहा है, विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु से पूरी तरह रहित कोई कलाकृति होती ही नहीं। लेकिन एंगेल्स का कथन यह संकेत देता है कि विचारधारा से कला का सम्बन्ध कानून और राजनीतिक सिद्धान्त की तुलना में कहीं अधिक जटिल होता है क्योंकि कानून और राजनीतिक सिद्धान्त शासक वर्गों के हितों को अपेक्षाकृत अधिक पारदर्शी रूप में व्यक्त करते हैं। ऐसे में सवाल उठता है कि विचारधारा से कला का सम्बन्ध क्या और कैसे होता है।

इस सवाल का उत्तर देना आसान नहीं है। इस सम्बन्ध में दो आत्यंतिक स्थितियाँ संभव हैं। एक तो यह कि साहित्य विचारधारा का ही कोई न कोई कलात्मक रूप होता है—कि साहित्यिक कृतियाँ अपने समय की विचारधारा की अभिव्यक्ति मात्र ही होती हैं। ये कृतियाँ 'झूठी चेतना' की बंदी होती हैं, जो सत्य तक पहुँचने के लिए इस झूठी चेतना की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। यह अवस्थिति अधिकांश 'जड़' मार्क्सवाद में मिलती है जो साहित्यिक कृतियों को प्रभुत्वशाली विचारधाराओं की अभिव्यक्तियाँ मात्र मानता है। इस रूप में यह इस बात की व्याख्या करने में असफ़ल रहता है कि काफी कुछ साहित्य अपने समय की विचारधारात्मक मान्यताओं को यथार्थतः *चुनौती* क्यों देता है। दूसरी स्थिति चुनौती देने की इसी धारणा को पकड़ लेती है और इसे ही वह साहित्यिक कला की परिभाषा का अंग मान लेती है। जैसा अर्न्स्ट फिशर ने कहा है (*आर्ट अगेन्स्ट आइडियोलॉजी, 1969*); प्रामाणिक कला अपने समय की विचारधारात्मक सीमाओं को सदैव लाँघ जाती है और इस प्रकार यथार्थों की ऐसी अन्तर्दृष्टियाँ हमें दे जाती है जिन्हें विचारधारा कभी सामने आने ही नहीं देती।

मार्क्सवादी साहित्यालोचन की ये दोनों स्थितियाँ मुझे बहुत सरल और सपाट लगती हैं। साहित्य और विचारधारा के बीच के सम्बन्ध की एक अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म (यद्यपि अभी भी अधूरी) व्याख्या फ्रेंच मार्क्सवादी चिन्तक लुई अल्थ्यूजे द्वारा प्रस्तुत की गई है। अल्थ्यूजे का तर्क है कि कला को विचारधारा में न्यूनीकृत नहीं किया जा सकता, इसका विचारधारा से सम्बन्ध एक खास तरह का होता है। विचारधारा उन काल्पनिक तरीकों का संकेत देती है जिनसे मनुष्य यथार्थ संसार का अनुभव करते हैं, जैसा अनुभव हमें साहित्य भी देता है अर्थात किन्हीं विशेष परिस्थितियों में जीना कैसे महसूस होता है, न कि उन परिस्थितियों का अवधारणात्मक विश्लेषण। लेकिन कला उस अनुभव के निष्क्रिय प्रतिबिम्बन से कुछ अधिक होती है। यह विचारधारा के भीतर कैद होती है लेकिन अपने को इससे दूर उस बिन्दु तक ले जाने में भी सफल होती है जहाँ यह हमें उस विचारधारा को महसूस करने और उसका प्रत्यक्षबोध करने की भी आज्ञा देती है जिससे यह पैदा होती है। ऐसा करने के द्वारा कला हमें उस सत्य को *जानने* में सक्षम नहीं बना देती है जिसे विचारधारा छिपाए हुए है क्योंकि अल्थ्यूजे के लिए अपने परिशुद्ध अर्थ में 'ज्ञान' का अर्थ होता है *वैज्ञानिक* ज्ञान, उदाहरण के लिए पूँजीवाद का ज्ञान जो हमें मार्क्स की पुस्तक *पूँजी* से तो प्राप्त हो सकता है लेकिन डिकेंस के उपन्यास *हार्ड टाइम्स* से नहीं। कला और विज्ञान में अन्तर यह नहीं है कि वे अलग-अलग वस्तुओं की व्याख्या अलग-अलग विधियों से करते हैं। विज्ञान हमें किसी स्थिति का अवधारणात्मक ज्ञान देता है जबकि कला उस स्थिति का अनुभव प्रदान करती है जो विचारधारा का समरूप होता है। लेकिन ऐसा करके यह कला हमें विचारधारा की प्रकृति को 'देखने' की अनुमति दे देती है और इस प्रकार विचारधारा को पूरी तरह से समझने की दिशा में हमें अग्रसर कर देती है और यही वैज्ञानिक ज्ञान होता है।

साहित्य यह कार्य कैसे सम्पन्न करता है, इसकी किंचित् विस्तृत और विकसित व्याख्या पियरे माशेरे ने की है। माशेरे ने ''भ्रम'' (इल्यूज़न) जिसका अर्थ तत्त्वतः विचारधारा है और 'अयथार्थ' (फिक्शन) में भेद किया है। 'भ्रम' अर्थात् मनुष्यों का साधारण विचारधारात्मक अनुभव वह सामग्री है जो साहित्यकार उपयोग में लाता है लेकिन इस पर कार्य करते समय वह इसे किसी और चीज में रूपान्तरित कर देता है; इसे एक रूप और एक संरचना प्रदान कर देता है। विचारधारा को एक नियामक रूप देने, इसे कुछ अयथार्थ सीमाओं में स्थिर कर देने के द्वारा कला अपने को इससे (विचारधारा से) दूर कर लेती है और इस प्रकार हमारे सामने विचारधारा की सीमाएँ जाहिर कर देती है। माशेरे के अनुसार इस तरह कला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचारधारात्मक भ्रम से हमारी मुक्ति में योगदान देती है।

मेरे हिसाब से अल्थ्यूजे और माशेरे की टिप्पणियाँ कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर अस्पष्ट और भ्रामक लगती हैं; लेकिन साहित्य और विचारधारा के बीच जिस प्रकार का सम्बन्ध वे प्रस्तावित करते हैं वह निश्चित रूप से बहुत अर्थवान लगता है। दोनों आलोचकों के लिए विचारधारा मुक्त प्रवाही बिम्बों और विचारों के अमूर्त समूहों से इतर कुछ और होती है; किसी भी समाज में यह एक प्रकार की संरचनात्मक सुसंगति से युक्त होती है और क्योंकि यह एक सापेक्ष्य सुसंगति होती है इसलिए इसकी वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है; और क्योंकि साहित्यिक पाठ विचारधारा से जुड़े होते हैं अतः उनका भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है। वैज्ञानिक आलोचना साहित्य की व्याख्या उस विचारधारात्मक पद में करती है जिसका यह कृति अंग होता है लेकिन जिसे यह अपनी कला के भीतर रूपान्तरित कर लेता है; वैज्ञानिक आलोचना उस सिद्धान्त को तलाशती है जो कृति को विचारधारा से जोड़ता और साथ ही इसे उससे दूर भी ले जाता है। सर्वोत्तम मार्क्सवादी आलोचना ने ठीक यही किया है। माशेरे का प्रारम्भ बिन्दु है लेनिन द्वारा किया गया ताल्स्ताय का प्रखर विश्लेषण। ऐसा करने का मतलब लेकिन होता है साहित्यिक कृति को *रूपधर्मी* संरचना के रूप में देखना और अब हम इसी सवाल पर आगे विचार करेंगे।

रूप और विषय-वस्तु

अपने एक प्रारम्भिक निबन्ध *दि इवोल्यूशन ऑफ मॉडर्न ड्रामा* (आधुनिक नाटक का विकास) में हंगेरियाई मार्क्सवादी आलोचक ग्योर्ग लूकाच लिखते हैं कि 'साहित्य में सचमुच का सामाजिक तत्त्व होता है रूप।' यह ऐसी टिप्पणी है जिसकी अपेक्षा सामान्यतया किसी मार्क्सवादी आलोचक से नहीं की जाती है क्योंकि मार्क्सवादी आलोचना परम्परा सभी प्रकार के साहित्यिक रूपवाद का विरोध करती आई है। इसने शुद्ध तकनीकी गुणों पर आदतन ध्यान देने की आलोचना की है क्योंकि इसकी मान्यता है कि आलोचना की यह विधि साहित्य को ऐतिहासिक अर्थवत्ता से महरूम कर इसे एक कलात्मक क्रीड़ा में बदल देती है। इसने इस प्रकार की आलोचनात्मक टेक्नोक्रेसी और विकसित पूँजीवादी समाजों के व्यवहार के बीच के सम्बन्ध को लक्षित किया है। दूसरा करण यह है कि मार्क्सवादी आलोचना के अधिकांश ने अपने व्यवहार में कलात्मक रूप पर ध्यान लगभग नहीं दिया है और राजनीतिक विषय-वस्तु की एकांतिक तलाश में ऐसे सवालों को दरकिनार कर दिया है। स्वयं मार्क्स का यह विश्वास था कि साहित्य में रूप और विषय-वस्तु की एकरूपता व्यक्त होनी चाहिए और उन्होंने प्रारम्भिक वर्षों में लिखे गए अपने उच्छ्वासपूर्ण गीतों को इस कारण जला डाला क्योंकि उनमें अनुभूतियाँ खतरनाक हद तक असंयमित रूप से व्यक्त हुई थीं। लेकिन साथ ही वे अत्यधिक रूपवादी लेखन को भी शंका की निगाह से देखते थे। बुनकरों के गीतों पर लिखे गए एक शुरुआती अखबारी लेख में उन्होंने यह दावा किया था कि केवल शैलीगत मशक्कत विकृत विषय-वस्तु में परिणत हो जाती है जो अंततः साहित्यिक रूप को 'भौंडा' बना देती है। दूसरे शब्दों में वे रूप और विषय-वस्तु के बीच *द्वन्दात्मक* सम्बन्ध की बात करते हैं; रूप विषय-वस्तु का उत्पाद होता है लेकिन यह विषय-वस्तु पर पलटकर दुहरी-धार के साथ प्रतिक्रियाशील होता है। *राइनिश्ह जीइतंग* में अत्यधिक बोझिल रूपवादी नियम के बारे में मार्क्स का प्रारम्भिक कथन कि 'रूप का कोई मूल्य नहीं होता यदि यह विषयवस्तु का रूप न हो' उनके सौन्दर्यशास्त्रीय विचारों पर भी लागू किया जा सकता है।

रूप और विषय-वस्तु की एकरूपता पर विमर्श करते हुए मार्क्स उस हीगलीय परम्परा मे अपना विश्वास घोषित कर रहे थे जो उन्हें विरासत में मिली थी। *फिलॉसफी ऑफ फाइन आर्ट* (ललित कला का दर्शन, 1835) में हीगल ने कहा था कि 'प्रत्येक सुनिश्चित विषय-वस्तु अपने अनुकूल रूप निर्धारित कर लेती है।' उनकी मान्यता थी कि 'त्रुटियुक्त रूप त्रुटियुक्त विषय-वस्तु के कारण पैदा होता है।' वास्तव में हीगल के अनुसार कला का इतिहास विषय-वस्तु और रूप के बदलते हुए रिश्ते के इतिहास के रूप में लिखा जा सकता है। जिसे हीगल 'विश्व-आत्मा,' 'प्रत्यय' अथवा 'पूर्णत्व' कहते हैं कला उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करती है। यह कला की विषय-वस्तु ही है, जो लगातार अपने को अनुकूल कलात्मक रूप में व्यक्त करने के प्रयास में रहती है। ऐतिहासिक विकास के एक प्रारम्भिक चरण में 'विश्व-आत्मा' अपने अनुकूल कलात्मक अभिव्यक्ति नहीं पाती है : उदाहरण के लिए प्राचीन मूर्तिकला से यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार ऐन्द्रिक पदार्थ का आधिक्य विश्व-आत्मा को बाधित करता है क्योंकि इस पदार्थ को यह अपने उद्देश्यों के अनुसार नहीं ढाल पाती है। दूसरी ओर क्लासिकी ग्रीक कला में रूप और विषय-वस्तु समस्वरी एकरूपता उपलब्ध कर लेते हैं जिसमें आध्यात्मिक और भौतिक एक-दूसरे में ढल जाते हैं : यहाँ एक छोटी ऐतिहासिक कालावधि में विषय-वस्तु को समुचित सम्पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिव्यक्ति मिल जाती है। लेकिन आधुनिक विश्व में और सर्वाधिक रूप से रोमांटिसिज़्म में आध्यात्मिक ऐन्द्रिक को समाहित कर लेता है, विषय-वस्तु रूप को तहस-नहस कर देती है। आत्मा के उच्चतम भौतिक रूप हथियार डाल देते हैं। मार्क्स की उत्पादी शक्तियों के समान ये भौतिक रूप उन सीमित क्लासिकी उपादानों से आगे निकल गए हैं जो इन्हें पहले अपने में रोके हुए थे।

ऐसा सोचना भूल होगी कि मार्क्स ने हीगल के सौन्दर्यशास्त्र को पूरा का पूरा मान लिया था। हीगल का कला-चिन्तन आदर्शवादी है, अत्यधिक अतिसरलीकृत है और बहुत ही सीमित अर्थ में द्वन्द्वात्मक है, और मार्क्स अनेक प्रत्यक्ष सौन्दर्यशास्त्रीय प्रश्नों पर हीगल से असहमत हैं। लेकिन दोनों चिन्तक इस विश्वास को स्वीकार करते हैं कि कलात्मक रूप-विधान किसी कलाकार का आवेग मात्र नहीं होता। ऐतिहासिक रूप से 'विषय-वस्तु' के जिस विशेष प्रकार को अभिव्यक्त करना होता है उसी के द्वारा रूपों का नियामन होता है। वे बदले जाते हैं, रूपान्तरित किए जाते हैं, खंडित किए जाते हैं, अतिक्रान्त होते हैं और यह सारा कुछ विषय-वस्तु में आए परिवर्तनों के कारण होता है। इस अर्थ में विषय-वस्तु रूप की तुलना में पहले आता है जैसे कि मार्क्सवाद के लिए समाज की भौतिक 'विषय-वस्तु' में आए बदलाव इसकी उत्पादन प्रणाली, इसकी अधिरचना के 'रूपों' को नियामित करते हैं। *मार्क्सिज़्म एण्ड फार्म* (1971) में फ्रेडरिक जेमसन ने लिखा है कि 'स्वयं रूप अधिरचना के क्षेत्र में विषयवस्तु का क्रियान्वयन ही है।' वे लोग जो चिढ़कर जवाब देते हैं कि रूप और विषय-वस्तु वैसे भी अलग नहीं किए जा सकते—कि इनके बीच का भेद नकली है—उनसे यह कहना उचित होगा कि *अभ्यास में* यह सचमुच सच होता है। हीगल स्वयं स्वीकार करते हैं : रूप के विषय-वस्तु में रूपान्तरण के अतिरिक्त विषय-वस्तु कुछ नहीं है और विषय-वस्तु के रूप में रूपांतरण के अतिरिक्त रूप कुछ नहीं है। लेकिन अभ्यास में यदि रूप और विषय-वस्तु अलग नहीं किए जा सकते तो भी सिद्धान्ततः वे एक दूसरे से अलग होते हैं। इसीलिए हम दोनों के बीच बदलते हुए सम्बन्धों की बात कर सकते हैं।

फिर भी वे सम्बन्ध आसानी से समझ में नहीं आते। मार्क्सवादी आलोचना रूप और विषय-वस्तु के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध देखती है लेकिन फिर भी यह दावा करना चाहती है कि रूप के नियामन में विषय-वस्तु की भूमिका प्राथमिक होती है। इस बिन्दु को राल्फ फॉक्स ने कुछ घुमाकर सटीक ढंग से अपनी पुस्तक *द नावेल एंड द पीपुल (1937)* में इस प्रकार प्रस्तुत किया है : रूप विषय-वस्तु द्वारा रचा जाता है, यह विषय-वस्तु के सदृश्य और उसके साथ एक होता है और यद्यपि प्राथमिकता तो विषय-वस्तु के पक्ष में है, रूप विषय-वस्तु पर प्रतिक्रियाशील होता है और कभी भी निष्क्रिय नहीं बना रह सकता है।' रूप—विषय-वस्तु के सम्बन्ध की यह द्वन्द्वात्मक अवधारणा दो अन्य अवधारणाओं के विरोध में खड़ी होती है। एक ओर तो यह रूपवादी सम्प्रदाय (1920 के दशक में सक्रिय रूसी रूपवादियों का सम्प्रदाय) पर हमला करती है जिसके लिए विषय-वस्तु रूप का महज एक प्रकार्य है और जो यह मानते हैं कि किसी कविता की विषय-वस्तु का चुनाव इसलिए किया जाता है ताकि कविता में प्रयुक्त तकनीकी युक्तियों को मजबूती मिल सके। इसके अतिरिक्त विषय-वस्तु और रूप के सम्बन्धों की द्वन्द्वात्मक अवधारणा उस 'जड़' मार्क्सवादी मान्यता को भी खारिज करती है जिसके अनुसार कलात्मक रूप महज एक युक्ति भर होता है, जिसे इतिहास की विक्षोभी विषय-वस्तु पर आरोपित कर दिया जाता है। इसका उदाहरण हमें क्रिस्टोफर कॉडवेल की *स्टडीज़ इन द डाइंग कल्चर (1938)* में मिलता है जहाँ कॉडवेल 'सामाजिक सत्ता' (सोशल बीइंग) अर्थात् मानवीय अनुभव का प्राणयुक्त नैसर्गिक तत्त्व और समाज की चेतना के रूपों के बीच भेद करते हैं। क्रान्ति तक घटित होती है जब वे रूप, निर्जीव और अनुपयोगी हो जाने पर, स्वयं 'सामाजिक सत्ता' के गतिशील, निर्बन्ध वेग द्वारा तहस-नहस कर दिए जाते हैं। दूसरे शब्दों में, कॉडवेल 'सामाजिक सत्ता' (विषय-वस्तु) को मूलतः रूपहीन मानते हैं और रूपों को मूलतः अवरोधी। उनके पास विषय-वस्तु और रूप की द्वन्द्वात्मक समझ का अभाव है। जो वे नहीं देख पाते हैं वह यह कि 'रूप' विषय-वस्तु के कच्चे माल को केवल सुयोजित ही नहीं करता क्योंकि मार्क्सवाद के हिसाब से वह विषय-वस्तु (चाहे वह सामाजिक हो अथवा साहित्यिक) पहले से ही *रूपयुक्त* होती है, इसकी एक सार्थक संरचना होती है। कॉडवेल की मान्यता उस बुर्जुआ आलोचना की एक अतिपरिचित मान्यता का शब्दांतरण मात्र है जिसमें यह माना जाता है कि कला 'यथार्थ के बिखराव को संगठित करती है।' (यथार्थ को बिखरा हुआ मानने का विचारधारात्मक महत्त्व क्या होता है?) इसके ठीक विपरीत फ्रेडरिक जेमसन 'विषय-वस्तु की आन्तरिक तर्कयोजना' की बात करते हैं जिसके रूपांतरकारी उत्पाद होते हैं सामाजिक अथवा साहित्यिक रूप।

रूप और विषय-वस्तु के सम्बन्ध की इस संकुचित धारणा को देखते हुए यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि *1930* के दशक के अंग्रेज मार्क्सवादी समीक्षक प्रायः उस रूढ़ मार्क्सवाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गलती दुहराते हुए साहित्यिक कृतियों पर उनकी विचारधारात्मक विषय-वस्तु की तलाश के लिए छापा मारते हैं और इसे प्रत्यक्ष रूप से वर्गसंघर्ष अथवा अर्थव्यवस्था से जोड़ देते हैं। लूकाच की टिप्पणी इसी खतरे के प्रति आगाह करती है : कला में विचारधारा के सच्चे संवाहक रूप ही होते हैं न कि पृथक कर ली जाने वाली विषय-वस्तु। साहित्यिक कृति में हम इतिहास की छाप ठीक साहित्यिक रूप में देखते हैं न कि सामाजिक आलेखीकरण के किसी श्रेष्ठ रूप में।

रूप और विचारधारा

यह कहने का क्या अर्थ होता है कि साहित्यिक रूप विचारधारात्मक होता है? *लिट्लेचर एंड रिवोल्यूसन* में एक सारगर्भित कथन में त्रात्स्की यह मानते हैं कि 'रूप और विषय-वस्तु के बीच का सम्बन्ध इस तथ्य द्वारा नियामित होता है कि नया रूप किसी आन्तरिक आवश्यकता, किसी सामूहिक मनोवैज्ञानिक दबाव के कारण आविष्कृत, उद्घोषित और विकसित किया जाता है, जिसकी अन्य सभी चीजों की तरह अपनी सामाजिक जड़ें होती हैं।' साहित्यिक रूप के भीतर और महत्त्वपूर्ण विकास विचारधारा में आए महत्त्वपूर्ण बदलावों का परिणाम होते हैं। ये विकास सामाजिक यथार्थ के बोध के नए तरीके, लेखक और पाठक के बीच नए सम्बन्धों को छिपाए रहते हैं। यह उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हम *18* वीं सदी में अंग्रेजी उपन्यास के विकास जैसे सुविचारित उदाहरणों पर दृष्टि डालते हैं। जैसाकि इयान वाट का तर्क है, अपने *रूप* में ही उपन्यास विचारधारात्मक हितों के बदले हुए स्वरूप को व्यक्त करता है। इस काल के किसी उपन्यास की विषय-वस्तु चाहे जो हो, यह ऐसी अन्य कृतियों के साथ कुछ रूपात्मक संरचनाओं का सहभागी होता है : अलौकिक और रोमांटिक विषयों से हटकर व्यक्तिगत मनोविज्ञान और सामान्य 'दिनचर्या' के अनुभव में रुचि, जीवन-सदृश्य और सारयुक्त 'चरित्र' की अवधारणा, एक अनिश्चित रूप से विकसित हो रहे रेखीय आख्यान में विचरण कर रहे कथा-नायक की भौतिक उपलब्धियों पर जोर, इत्यादि। वाट दावा करते हैं कि यह बदला हुआ रूप उस अत्यधिक विश्वासयुक्त बुर्जुआवर्ग का उत्पाद है जिसकी चेतना पुराने अभिजातवर्गीय साहित्यिक रूढ़ियों की सीमाओं को तोड़ चुकी है। इसी तरह प्लेखानोव का भी कहना है कि फ्रांस में क्लासिकी ट्रेजिडी से भावुकतापूर्ण कॉमेडी की ओर झुकाव अभिजातवर्ग से बुर्जुआवर्ग की ओर बदलाव का संकेत देता है। या फिर हम योरोपीय नाटकों में पिछली शताब्दी (19वीं शताब्दी) के अन्तिम वर्षों में 'प्रकृतिवाद' से 'अभिव्यक्तिवाद' की ओर बदलाव को ले सकते हैं। जैसाकि रेमंड विलियम्स ने संकेत किया है, यह कुछ ऐसी नाट्य-रूढ़ियों के टूटने का संकेत देता है जो अपने क्रम में कुछ विशिष्ट 'अनुभूति की संरचनाओं', यथार्थ के बोध और उसके प्रति प्रतिक्रियाशील होने की परपंरा-प्राप्त प्रणालियों को अपने में लिए रहती है।' अभिव्यक्तिवाद प्रकृतिवादी रंगमंच की सीमाओं का अतिक्रमण करना चाहता है क्योंकि प्रकृतिवादी रंगमंच साधारण बुर्जुआ जीवन को ठोस मानकर चलता है। अभिव्यक्तिवाद इस धोखे का भंडाफोड़ कर इसके सामाजिक सम्बन्धों को निरस्त करता है और प्रतीक-योजना और फंतासी के माध्यम से उन पृथकृत और आत्मविभाजित मनोदशाओं की तह तक पहुँचना चाहता है जिसे 'सामान्यता' छिपाए रहती है। किसी रंगमंचीय युक्ति का रूपान्तरण इस प्रकार बुर्जुआ विचारधारा के किसी गहनतर रूपान्तरण का संकेत देता है। 19वीं सदी के अंतिम वर्षों में मध्य-विक्टोरियाई दौर की स्वबोध और सम्बन्धों में विश्व पूँजीवादी के गहराते हुए संकट के चलते टूटन और बिखराव प्रारम्भ हो गया था।

कहने की आवश्यकता नहीं कि साहित्यिक रूप में आए परिवर्तन और विचारधारा में आए परिवर्तनों के बीच सीधा, सरल सम्बन्ध नहीं होता। जैसाकि त्रात्स्की हमें याद दिलाते हैं, साहित्यिक रूप काफी सीमा तक स्वायत्त होते हैं; अंशतः रूप अपने ही आन्तरिक दबावों के चलते विकसित होता है और विचारधारात्मक हवा के झोंके के साथ नहीं बदल जाता है।

जिस प्रकार मार्क्सवादी आर्थिक सैद्धान्तिकी के लिए प्रत्येक आर्थिक विरचना के भीतर पुरानी, अतिक्रमित की गई उत्पादन प्रणाली के अंश विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार पुराने साहित्यिक रूपों के अवशेष नए साहित्यिक रूपों में जीवित रहते हैं। मैं यह कहना चाहूँगा कि रूप सदैव ही कम से कम तीन तत्त्वों का एक जटिल संघटन होता है। अंशतः यह रूपों के अपेक्षाकृत स्वायत्त साहित्यिक इतिहास द्वारा आकार ग्रहण करता है; फिर जैसा कि हमने उपन्यासों के सन्दर्भ में देखा है, यह कुछ प्रभुत्वशाली विचारधारात्मक संरचनाओं से बनता है; और जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह लेखक और पाठक के बीच सम्बन्ध के एक निश्चित अनुक्रम को अपने में समोये रहता है। यह इन तत्वों की द्वन्द्वात्मक एकता होती है जिसे मार्क्सवादी आलोचना विश्लेषित करती है। किसी रूप का चयन करते समय लेखक यह जान जाता है कि उसका चयन पहले से ही विचारधारात्मक रूप से परिसीमित हो चुका है। वह किसी साहित्य परम्परा से प्राप्त रूपों को मिश्रित और रूपान्तरित कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है लेकिन ये रूप स्वयं और साथ ही लेखक द्वारा किया गया रूपों का क्रम-परिवर्तन विचारधारात्मक रूप से अर्थपूर्ण होते हैं। लेखक को उपलब्ध भाषाएँ और युक्तियाँ पहले से ही प्रत्यक्षण की कुछ विचारधारात्मक विधियों, यथार्थ की व्याख्या के लिए संहिताबद्ध तरीकों से परिपूर्ण रहती है और इन भाषाओं को बदलने और पुनर्निर्मित करने की उसकी क्षमता उसकी प्रतिभा से इतर कुछ और चीजों पर निर्भर करती है। यह इस बात पर निर्भर करती है कि क्या इतिहास में उस बिन्दु पर विचारधारा ऐसी है कि उसे बदलना आवश्यक है अथवा बदला जा सकता है।

लूकाच और साहित्यिक रूप

साहित्यिक रूप के प्रश्न पर सर्वाधिक विस्तृत विचार ग्योर्ग लूकाच के लेखन में प्राप्त होता है। अपने प्रारम्भिक, मार्क्सवादी बनने के पहले की पुस्तक *द थ्योरी ऑफ द नावेल* (1920) में हीगल का अनुकरण करते हुए लूकाच उपन्यास को 'बुर्जुआ महाकाव्य' के रूप में देखते हैं लेकिन ऐसा महाकाव्य जो क्लासिकी महाकाव्यों के विपरीत आधुनिक मनुष्य के बेघर होने और उसके अलगाव-बोध को व्यक्त करता है। ग्रीस के क्लासिकी समाज में मनुष्य इस ब्रह्मांड में अपने घर में होना महसूस करते हुए अपनी आत्मा की माँगों के अनुकूल सर्वत्र विद्यमान अर्थ वाले सुगठित, पूर्ण विश्व में विचरण करता है; उपन्यास का जन्म तब होता है जब मनुष्य और उसके संसार के बीच यह एकीकृत समस्वरी सम्बन्ध विखंडित हो चुका होता है; उपन्यास का नायक एक साकल्यता की तलाश में रहता है, एक ऐसे संसार से विच्छिन्न जो या तो बहुत बड़ा होता है अथवा इतना छोटा होता है कि उसकी इच्छाओं को स्वरूप नहीं प्रदान कर सकता। अनुभवाश्रित यथार्थ और एक गायब हो चुके पूर्णत्व की असंयोज्यता से बाधित, उपन्यास का रूप ठीक उसी प्रकार विडम्बनात्मक होता है; यह एक ऐसे संसार का महाकाव्य है जिसे ईश्वर ने त्याग दिया है।

मार्क्सवाद में दीक्षित होने के बाद लूकाच ने इस अवसाद से अपने को मुक्त कर लिया लेकिन उपन्यास विधा पर उनके अधिकांश परवर्ती लेखन में हीगल के बलाघात मौजूद रहे। *स्टडीज़ इन यूरोपियन रियलिज़्म* और *द हिस्टारिकल नावेल* के मार्क्सवादी लूकाच के लिए महानतम कलाकार वे हैं जो मानव जीवन की समस्वरी साकल्यता को पुनर्प्राप्त और पुनर्सृजित कर सकें। एक ऐसे समाज में जहाँ पूँजीवाद के 'अलगाव' के कारण सामान्य और विशेष, अवधारणात्मक और ऐन्द्रिक, सामाजिक और वैयक्तिक एक दूसरे से अधिकाधिक अलगाए जाते हैं, महान लेखक इन सबको द्वन्द्वात्मक विधि से एक संश्लिष्ट साकल्यता में इकट्ठा करता है। इस प्रकार उसका कथा साहित्य एक छोटे स्तर पर समाज के संश्लिष्ट यथार्थ को प्रतिबिम्बित करता है। ऐसा करते समय महान कला पूँजीवादी समाज के अलगावबोध और विखंडीकरण से टक्कर लेती है और मानवीय पूर्णता का एक समृद्ध, बहुआयामी बिम्ब प्रस्तुत करती है। इस कला को लूकाच 'यथार्थवाद' की संज्ञा देते हैं और इसके भीतर वे ग्रीक लेखकों, शेक्सपियर, बाल्ज़ाक और ताल्स्ताय को सम्मिलित करते हैं; लूकाच के अनुसार ऐतिहासिक यथार्थवाद के तीन युग हैं : प्राचीन ग्रीस, पुनर्जागरण तथा 19वीं सदी के प्रारम्भ में फ्रांस। एक यथार्थवादी रचना में प्रकृति, इतिहास और मनुष्य के बीच के सम्बन्धों का एक समृद्ध, संश्लिष्ट और सर्वसम्मिलित अनुक्रम मौजूद होता है; और इन्हीं सम्बन्धों में निहित होता है वह जो मार्क्सवाद के लिए इतिहास के किसी विशेष चरण के विषय में सर्वाधिक 'अभिलक्षक' होता है। 'अभिलक्षक' पद से लूकाच किसी समाज में उन सुसुप्त शक्तियों का संकेत करते हैं जो मार्क्सवादी दृष्टि से सर्वाधिक ऐतिहासिक रूप से सार्थक और प्रगतिशील होती हैं तथा जो समाज की आंतरिक संरचना और गत्यात्मकता को सामने ला देती हैं। यथार्थवादी लेखक का कार्यभार होता है इन अभिलक्षक प्रवृत्तियों और शक्तियों को ऐन्द्रिक रूप से अनुभवसिद्ध व्यक्तियों और कार्यों में चित्रित करना; ऐसा करते समय वह व्यक्ति को सामाजिक पूर्णत्व के साथ जोड़ देता है और सामाजिक जीवन की प्रत्येक मूर्त विशिष्टता को 'विश्व-ऐतिहासिक'—अर्थात् स्वयं इतिहास की सार्थक गतियों—से आपूरित कर देता है।

लूकाच की प्रमुख आलोचनात्मक अवधारणाएँ—साकल्यता, अभिलाक्षणिकता, विश्व-ऐतिहासिक—प्रत्यक्षतः मार्क्सवादी न होकर मूलतः हीगलीय हैं, हालाँकि मार्क्स और ऐंगल्स ने अपनी साहित्य-आलोचना में "अभिलाक्षणिकता" का प्रयोग किया है। ऐंगल्स ने लसाले को लिखे पत्र में कहा है कि वास्तविक चरित्र में अभिलाक्षणिकता और वैयक्तिकता का मिश्रण होना चाहिए। ऐंगल्स और मार्क्स दोनों का यह मानना था कि इस प्रकार का मिश्रण शेक्सपियर और बाल्ज़ाक की प्रमुख उपलब्धि है। एक 'अभिलाक्षणिक' अथवा 'प्रतिनिधिक' चरित्र ऐतिहासिक शक्तियों का अवतार होता है हालाँकि इसके बावजूद वह अपनी वैयक्तिकता नहीं खोता है और उन ऐतिहासिक शक्तियों के नाट्यांकन के लिए किसी लेखक को अपनी कला में प्रगतिशील होना चाहिए। सभी महान कला इस अर्थ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक रूप से प्रगतिशील होती है कि लेखक की अपनी सचेतन राजनीतिक मान्यता जो भी हो (और स्कॉट तथा बाल्ज़ाक निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी हैं), उसकी कला किसी युग की प्राणयुक्त 'विश्व-ऐतिहासिक' शक्तियों को, जो परिवर्तन और विकास का कारण होती हैं, अपने भीतर सिद्ध कर लेती हैं और उनकी प्रस्फुटित होती संभावना को पूरी संश्लिष्टता के साथ प्रकट करती हैं। इस प्रकार यथार्थवादी लेखक सामाजिक जीवन की संयोगात्मक परिघटनाओं को चीरता हुआ किसी स्थिति के सार-तत्त्व अथवा मूल-तत्त्व को उद्घाटित करता है, एक समग्र रूप में उनका चुनाव और मिश्रण करता है और उसे मूर्त अनुभव में रूपान्तरित कर देता है।

लेखक ऐसा करने में अक्षम अथवा सक्षम अपने व्यक्तिगत कौशल के कारण न होकर इतिहास के भीतर अपनी अवस्थिति के कारण होता है। महान यथार्थवादी लेखक ऐसे इतिहास से उपजते हैं जो बनता हुआ दिखाई देता है; एक विधा के रूप में ऐतिहासिक उपन्यास 19वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों की क्रान्तिकारी उथल-पुथल के ऐसे बिन्दु पर सामने आता है जब लेखकों के लिए स्वयं अपने वर्तमान को इतिहास-पूर्व के रूप में देखना संभव था। शेक्सपियर, स्कॉट, बाल्ज़ाक और ताल्स्ताय महान कलाकृतियों को जन्म दे सके क्योंकि वे ऐतिहासिक युग के उथल-पुथल भरे जन्म के समय मौजूद थे और इसीलिए अपने समाजों के जीवन्त रूप से दृश्यमान अभिलक्षक द्वन्द्वों और गत्यात्मकताओं के साथ नाटकीय रूप से अपने को जोड़ सके थे। इस प्रकार की ऐतिहासिक 'विषय-वस्तु' की उनकी 'रूपात्मक' उपलब्धियों की आधारशिला है; लूकाच के शब्दों में, सृजित चरित्रों की 'समृद्धता और गाम्भीर्य समग्र सामाजिक प्रक्रिया की समृद्धता और गाम्भीर्य पर निर्भर होती है।' यथार्थवादियों के उत्तराधिकारियों के लिए—जैसे बाल्ज़ाक के बाद आने वाले फ्लाबेयर के लिए—इतिहास पहले से ही एक निष्प्राण वस्तु हो चुका होता है अर्थात् एक ऐसा बाह्य प्रदत्त तथ्य जिसे मनुष्यों के गत्यात्मक उत्पाद के रूप में अब कल्पित ही नहीं किया जा सकता था। लूकाच के लिए महत्त्वपूर्ण संतरण-बिन्दु है 1848 की यूरोपीय क्रान्तियों की असफलता, वह असफलता जो सर्वहारा के पराजय का संकेत देती है, बुर्जुआ शक्ति के प्रगतिशील, नायकोचित युग के अन्त पर मुहर लगाती है, वर्ग संघर्ष को अवरोधित कर देती है और बुर्जुआ वर्ग को पूजीवाद को सुदृढ़ करने के इसके उचित और घिनौने रूप में अनायकोचित कार्यभार के प्रति सचेत कर देती है। बुर्जुआ विचारधारा अपने पहले के क्रान्तिकारी आदर्शों को विस्मृत कर देती है, यथार्थ का विइतिहासीकरण कर देती है और एक नैसर्गिक तथ्य के रूप में समाज को स्वीकार कर लेती है। बाल्ज़ाक मनुष्य के पूँजीवादी पतन के विरुद्ध अन्तिम महान संघर्ष का आख्यान प्रस्तुत करते हैं जबकि उनके उत्तराधिकारी निष्क्रिय रूप से उस पूँजीवादी विश्व को आलेखित करते हैं जो पहले से ही पतित हो चुका है। इतिहास के अर्थ और दिशा का यह पलायन कला में 'प्रकृतिवाद' के रूप में प्रतिफलित होता है। 'प्रकृतिवाद' से लूकाच का तात्पर्य है ज़ोला की कृतियों में प्रतिफलित यथार्थवाद की विकृति जो समाज के सतह की परिघटना को ज्यों का त्यों चित्रित कर देती है लेकिन उनके तह में मौजूद महत्त्वपूर्ण तत्वों तक नहीं पहुँच पाती है। सूक्ष्मरूप से निरीक्षित ब्यौरा 'अभिलक्षी' गुणों के चित्रांकन का स्थान ले लेता है; मनुष्यों और उनके विश्व के बीच के द्वान्द्वात्मक सम्बन्ध के स्थान पर चरित्रों से विच्छिन्न मृतप्राय, आकस्मिक वस्तुओं का चित्रांकन होता है; वास्तविक प्रतिनिधिक चरित्र का स्थान 'औसत का सम्प्रदाय' ले लेता है; मनोविज्ञान अथवा शरीरविज्ञान वैयक्तिक कर्म के नियामक के रूप में इतिहास को परे ढकेल देते हैं। यह यथार्थ का एक अलगावबोधी कल्पना-चित्र होता है और लेखक इतिहास में एक सक्रिय सहभागी की भूमिका में न रहकर एक सूक्ष्म निरीक्षक मात्र बन जाता है। "अभिलक्षक" बोध के अभाव में प्रकृतिवाद अपने कच्चे माल से किसी अर्थवान साकल्यता का सृजन नहीं कर सकता; यथार्थवाद द्वारा प्रारम्भ किए एकत्वकारी महाकाव्यात्मक अथवा नाट्य कर्म शुद्ध रूप से निजी हितों के एक अनुक्रम में पर्यवसित हो जाते हैं।

'रूपवाद' की प्रतिक्रिया उल्टी दिशा में होती है लेकिन उसमें भी ऐतिहासिक अर्थ के उसी अभाव की अभिव्यक्ति होती है। काफ्का, मुसिल, ज्वाइस, बेकट, कैमू की रचनाओं में मनुष्य अपने इतिहास से विच्छिन्न और अपने स्व के अतिरिक्त किसी अन्य यथार्थ से रहित के रूप में चित्रित किया जाता है; चरित्र को मानसिक अवस्थाओं में पिघला दिया जाता है और वस्तुनिष्ठ यथार्थ अबोधगम्य अस्तव्यस्तता में न्यूनीकृत कर दिया जाता है। "प्रकृतिवाद" की ही तरह "रूपवाद" में भी आन्तरिक और बाह्य जगतों के द्वान्द्वात्मक एकत्व को नष्ट कर दिया जाता है और परिणामतः व्यक्ति और समाज दोनों अर्थ से रिक्त कर दिए जाते हैं। व्यक्ति निराशा और व्याकुलता में जकड़ जाते हैं, सामाजिक सम्बन्धों से विच्छिन्न कर दिए जाते हैं और परिणामतः प्रामाणिक स्व से भी रहित हो जाते हैं; इतिहास अर्थशून्य अथवा आवर्ती बनकर महज कालावधि बन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है; वस्तुओं की सार्थकता समाप्त हो जाती है और वे महज संयोगिक होकर रह जाती है, और इस प्रकार प्रतीकवाद का स्थान रूपक-कला ले लेती है जो सर्वव्यापी अर्थ को निरस्त कर देती है। अगर प्रकृतिवाद एक प्रकार की अमूर्त वस्तुनिष्ठता है तो रूपवाद एक प्रकार की अमूर्त व्यक्तिनिष्ठता; दोनों उस प्रामाणिक द्वन्द्वात्मक कला-रूप (यथार्थवाद) से विमुख हो जाते हैं जिसका रूप मूर्त और सामान्य, सारतत्व और अस्तित्व, प्रजाति और व्यक्ति के बीच मध्यस्थता करता है।

गोल्डमान और जैविक संरचनावाद

जिसे मार्क्सवादी आलोचना का 'नव-हीगलवादी' स्कूल कहा जाता है उसमें ग्योर्ग लूकाच के प्रमुख अनुयायी हैं रूमानियायी आलोचक लूसियन गोल्डमान। गोल्डमान की विशेष रुचि किसी साहित्यिक पाठ की परीक्षा द्वारा यह देखने में है कि किस सीमा तक यह उस सामाजिक वर्ग अथवा समूह की विचार-संरचना (अथवा 'विश्व-दृष्टि') को व्यक्त करता है जिससे इसका लेखक जुड़ा हुआ होता है। कलाकृति के रूप में इसकी वैधता उसी अनुपात में होती है जिस अनुपात में यह उस सामाजिक वर्ग की 'विश्व दृष्टि' को एक पूर्ण, सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति दे पाता है। गोल्डमान के विचार में साहित्यिक कृतियों को व्यक्तियों की रचनाओं के रूप में न देखकर किसी सामाजिक समूह "व्यक्ति–अतिक्रमी मानसिक संरचनाओं" के रूप में देखा जाना है–इस प्रकार की संरचनाओं से उनका तात्पर्य उस समूह की साझी महत्त्वाकांक्षाओं, मूल्यों और विचारों से है। महान लेखक ऐसे अनुपम, असाधारण व्यक्ति होते हैं जो अपने सामाजिक वर्ग अथवा समूह की विश्व दृष्टि को कला में एक खास किस्म के एकीकृत और पारभाषी (हालाँकि आवश्यक नहीं कि सचेत) विधि से पक्षान्तरित करने में सफल हो जाते हैं।

गोल्डमान अपनी आलोचना प्रणाली को "जैविक संरचनावाद" का नाम देते हैं और इस नाम के दोनों पदों को समझना महत्त्वपूर्ण होगा। "संरचना" शब्द इसलिए क्योंकि किसी विशेष विश्व दृष्टि की विषय-वस्तु में उनकी उतनी रुचि नहीं है जितनी कि इसके द्वारा प्रकाश में लाए गए प्रवर्गों की संरचनाओं में। इस प्रकार से दो बिल्कुल अलग-अलग किस्म के लेखक एक ही प्रकार की सामूहिक मानसिक संरचना से जुड़े हो सकते हैं। "जैविक" इसलिए क्योंकि गोल्डमान की रुचि इस बात में है कि कैसे इस प्रकार की संरचनाएँ ऐतिहासिक रूप से उत्पादित होती हैं अर्थात् उनकी रुचि विश्व-दृष्टि और इस प्रकार की विश्व-दृष्टि उत्पादित करने वाली ऐतिहासिक दशाओं के बीच सम्बन्ध में है।

रेसीन (17वीं सदी के फ्रेंच नाटककार) पर गोल्डमान की पुस्तक *द हिडेन गॉड* संभवतः उनकी आलोचना प्रणाली का सर्वाधिक सशक्त उदाहरण है। वे रेसीन के नाटकों में प्रवर्गों की एक लगातार सामने आने वाली संरचना देखते हैं–ईश्वर, जगत, मनुष्य–जो अपनी विषय-वस्तु को प्रत्येक नाटक में बदलते रहती है लेकिन इससे एक विश्व-दृष्टि का पता चलता है। यह ऐसे मनुष्यों की विश्व-दृष्टि है जो एक मूल्यहीन विश्व में खोए हुए हैं, इस संसार को एकमात्र संसार मानकर स्वीकार कर लेते हैं (क्योंकि ईश्वर अनुपस्थित है) लेकिन फिर भी इसका प्रतिरोध करते रहते हैं–और ऐसा करते हैं किसी ऐसे सर्वपूर्ण मूल्य के नाम पर जो आँख से हमेशा ओझल रहता है। गोल्डमान इस विश्व-दृष्टि का आधार पाते हैं जेनसेनिज़्म नामक फ्रेंच धार्मिक आन्दोलन में और जेनसेनिज़्म की व्याख्या वे सत्रहवीं सदी के एक विशेष विस्थापित समूह के उत्पाद के रूप में करते हैं–दरबारी अधिकारियों का वह समूह जो आर्थिक रूप से राजतंत्र पर निर्भर था लेकिन फिर भी राजतंत्र की बढ़ती हुई निरंकुशता के सामने अधिकाधिक शक्तिहीन हो रहा था। इस समूह की अन्तर्विरोधी स्थिति–राजा की आवश्यकता भी लेकिन साथ ही उसका राजनीतिक विरोध भी–व्यक्त होती है जेनसेनिज़्म द्वारा विश्व को अस्वीकारने और साथ ही इसे ऐतिहासिक रूप से बदलने की किसी इच्छा को अस्वीकारने में। इस सारे कुछ में 'विश्व-ऐतिहासिक' अर्थवत्ता है। दरबारी जो बुर्जुआ वर्ग से ही भर्ती किये गये थे, राजतंत्र की निरंकुशता को तोड़ने और पूँजीवादी विकास की दशाओं को स्थापित करने में बुर्जुआ वर्ग की असफलता के प्रतिनिधि हैं।

गोल्डमान जिस चीज़ की तलाश कर रहे हैं वह है पाठ, विश्वदृष्टि और स्वयं इतिहास के बीच संरचनात्मक सम्बन्धों की एक पूरी शृंखला। वे यह दिखाना चाहते हैं कि किसी सामाजिक वर्ग अथवा समूह की ऐतिहासिक स्थिति किस प्रकार इसकी विश्वदृष्टि द्वारा साहित्यिक कृति की संरचना में पक्षान्तरित हो जाती है। ऐसा करने के लिए यही नहीं पर्याप्त है कि पाठ और कृति से प्रारम्भ होकर बाहर इतिहास की ओर जाया जाए अथवा इसका उल्टा किया जाय; आवश्यकता होती है आलोचना की द्वन्द्वात्मक प्रणाली की जो पाठ, विश्वदृष्टि और इतिहास के बीच अनवरत घूमते हुए एक को दूसरे के साथ समायोजित करती रहती है।

देखने में ठीकठाक लगने के बावजूद गोल्डमान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचनात्मक अभियान कुछ बड़ी कमजोरियों से बच नहीं पाता लगता है। उदाहरण के लिए सामाजिक चेतना की उनकी अवधारणा मार्क्सवादी न होकर हीगलीय है। वे इसे एक सामाजिक वर्ग की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति मानते हैं ठीक वैसे ही जैसे कि साहित्यिक कृति इस चेतना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दों में उनका पूरा मॉडल इतना अधिक कटा-छँटा और सुडौल है कि इसमें अत्यधिक सममित है साहित्य और समाज के सम्बन्धों में मौजूद द्वन्द्वात्मक विरोध और जटिलताओं, विच्छिन्नता और विषमता का समाहार करने की क्षमता ही नहीं है। उनके बाद के लेखन में यह आलोचना-दृष्टि आधार-अधिरचना की यान्त्रिक प्रस्तुति में परिणत हो जाती है।

पियरे माशेरे और 'विकेन्द्रित' रूप

हीगल से उत्तराधिकारी के रूप में लूकाच और गोल्डमान ने यह विश्वास प्राप्त किया था कि साहित्यिक कृति को एक एकीकृत साकल्यता प्राप्त करनी चाहिए और इस सन्दर्भ में ये दोनों ही पारम्परिक गैर-मार्क्सवादी आलोचनात्मक अवस्थिति के बहुत निकट हैं। लूकाच कृति को एक "निर्मित" साकल्यता के रूप में देखते हैं न कि किसी नैसर्गिक अवयवी के रूप में लेकिन इसके बावजूद उनकी अधिकांश साहित्य-आलोचना में कला के प्रति 'अवयविक' धारणा की एक धारा अवश्य मौजूद है। यह उन तमाम निन्दात्मक प्रपत्तियों में से एक है जिसे पियरे माशेरे बुर्जुआ और नव-हीगलवादी आलोचना के मत्थे मढ़ देते हैं और 'अवयविकता' में विश्वास निरस्त कर देते हैं। माशेरे के लिए कृति जो कहती है उससे कहीं अधिक जो नहीं कहती है उसके कारण विचारधारा से बँधी होती है। पाठ के अर्थभरे *मौन* में, इसकी रिक्तियों और इसकी अनुपस्थितियों में विचारधारा की उपस्थिति सर्वाधिक सकारात्मक ढंग से महसूस की जा सकती है। आलोचक इन्हीं 'चुप्पियों' को बोलने के लिए बाध्य करता है। पाठ को एक प्रकार से विचारधारा के कारण कुछ कहने से मना कर दिया जाता है। अपने तरीके से सत्य को कहने के लिए लेखक उस विचारधारा की सीमाओं को उजागर करने के लिए अपने को विवश पाता है जिसके तहत वह लिखता है। वह विचारधारा की रिक्तियों और चुप्पियों को उजागर करने के लिए विवश हो जाता है और साथ ही विचारधारा जो व्यक्त करने में असमर्थ होती है उसे भी वह प्रकट कर देता है। चूँकि पाठ में रिक्तियाँ और चुप्पियाँ होती हैं अतः वह [पाठ] सदैव अपूर्ण रहता है। कोई पाठ हमेशा परिपूर्ण सुसंगत पूर्णता को एक परिसमाप्त, सुसंगत पूर्णता में संरचित करने से बहुत दू अर्थों की पारस्परिक प्रतिकूलता और अन्तर्विराधों को व्य करता है, और पाठ का महत्त्व अर्थों के बीच एकरूपता बजाय इनके पारस्परिक वैभिन्न्य में निहित होता है। एक जहाँ गोल्डमान जैसा आलोचक कृति में एक केन्द्रीय संरच की बात करता है वहीं दूसरी ओर माशेरे के लिए कृ 'विकेन्द्रित' होती है; द्वन्द्व और प्रतिकूलता ही इसके लक्षण हैं। 'छितराए हुए,' 'बिखरे हुए; 'अलग-थलग, 'अनियमि जैसे शब्द माशेरे के कृति के बोध को व्यक्त करते हैं।

जब माशेरे यह तर्क देते हैं कि कृति 'अधूरी' होती है त उनका यह मतलब नहीं होता कि इसमें कोई एक टुकड़ा गाय होता है जिसे आलोचक को खोजना होता है। इसके विपरी अधूरा होना कृति के स्वभाव में निहित होता है क्योंकि यह ए ऐसी विचारधारा से गुँथी होती है जो इसे कुछ बिन्दुओं पर म कर देती है। आप कह सकते हैं कि यह अपने अधूरेपन में पूर्ण होती है। आलोचक का कार्य रिक्तियों को भरना नहीं है है, उसका कार्य होता है अर्थों के द्वन्द्वों के पीछे के सिद्धा की खोज और यह दिखाना कि किस प्रकार यह द्व विचारधारा से कृति के सम्बन्ध के कारण पैदा होता है।

उदाहरण के लिए अपने उपन्यास *डॉम्बी एंड सन* डिकेन्स घटनाओं का चित्रण करने के लिए ऐसी भाषा इस्तेमाल करते हैं—यथार्थवादी, अतिनाटकीय, ग्राम्यवा रूपक-कथा की भाषा आदि—जो एक दूसरे से मेल नहीं खाती इस प्रकार का भाषिक द्वन्द्व प्रसिद्ध रेलवे के प्रसंग में सा आ जाता है जब रेलवे के प्रति अन्तर्विरोधी प्रतिक्रियाओं (भ विरोध, स्वीकृति, उल्लास आदि) के बीच उपन्यास फँस जा है जो बेमेल शैलियों और प्रतीकों के प्रयोग में जाहिर हो जा है। इस प्रकार की अनेकार्थता का विचारधारात्मक आधार है कि उपन्यास औद्योगिक विकास की पारंपरिक बुर्जुआ प्रश और निश्चित रूप से पैदा होने वाले इसके विघटनकारी प्रभा को लेकर निम्न-बुर्जुआ भय के बीच बँट जाता है। उपन्या उन तबाह अप्रमुख चरित्रों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करता जिनका नए विश्व ने काम छीन लिया है और साथ ही औद्योगिक पूँजीवाद की प्रगतिशील धारा का उत्सव भी मना है जिसने इन लोगों को पुराना बना दिया है। कृति के अ के द्वन्द्व के पीछे विद्यमान सिद्धान्त की खोज करते हुए ह विक्टोरियायी विचारधारा से उपन्यास के जटिल सम्बन्धों भी विश्लेषण कर रहे होते हैं।

लेकिन ध्यान में रखने की बात यह है कि अर्थ में द्व और रूप में द्वन्द्व अलग-अलग होते हैं। माशेरे मुख्य रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ में मौजूद द्वन्द्वों पर ध्यान देते हैं और ये असंगतियाँ साहित्यिक रूप के फलस्वरूप बिखर ही जाएँ यह आवश्यक नहीं हालाँकि इस बिखराव से इनका बहुत ही निकट का सम्बन्ध होता है। वाल्टर बेन्यामिन और बर्तोल्ट ब्रेख्त के लेखन में रूप-विषयक मार्क्सवादी तर्क उस बिन्दु तक पहुँच जाता है जहाँ 'बंद' रूपों की अपेक्षा 'खुले' रूपों, समाधान की अपेक्षा द्वन्द्व के लिए एक सुविचारित इच्छा स्वयं राजनीतिक प्रतिबद्धता का रूप ले लेती है। आ

अनुवाद : **रामकीर्ति शुक्ल**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृजन-परिदृश्य : दो

रवीन्द्र भारती की दो कविताएँ

गुजरात-1

रबाब के भीतर से सोई धुनें उठीं
और किताब से कथा
दोनों फिर चली गईं सभास्थल की तरफ सूत्रधार के साथ।

निर्जन रात असंख्य तारों के साथ मौजूद है वहाँ
जुगनू झुंड-के-झुंड मैदान में काट रहे हैं चक्कर
कोई फुसफुसाया—जुगनू वनस्पतियों की सन्तान हैं
तभी सभास्थल के चबूतरे पर एक आदमी आया और बैठ गया
चुपचाप
कोई फुसफुसाया—यह आवाजवाला आदमी है।
चबूतरे के सामने दो पाँति लग गईं
पाँति बढ़ने लगी उस बैठे आदमी की ओर, देने को कुछ-न-कुछ
कोई फुसफुसाया—वह जो बैठा है आदमी, वही है गांधी।
कमरुद्दीन ने कहा—हाँ, वही...अकेला आदमी
वह दुनिया के किसी कोने में बोलता है कि—
सबसे पहले हमारी बस्ती में पड़ती है सुनाई।
इस पर यकीन है सबको, है यह भरोसे का आदमी
उसकी स्वदेशी झोली में मेरा भी कुछ डालने का करता है मन
मगर जेब में तो...क्या करें !
क्या करें ! मन उसे छूने को कहता है बार-बार
क्या करें... !
उपाय नहीं देख कोई कमरुद्दीन हो गया उदास
उदास मन से उसने गांधी की ओर देखा
कि अचानक उसमें स्फूर्ति जग गई
वह लग गया पाँति में बाँधे छूछी मुट्ठी
पाँति ज्यों-ज्यों बढ़ने लगी कि बढ़ने लगी उसकी धड़कन।
उसने धड़कते कलेजे के साथ अपनी छूछी मुट्ठी
गांधी की मुट्ठी में दी
गांधी ने मुट्ठी को स्वदेशी झोली में डालकर हिला दिया
कि बँध गईं सैकड़ों मुट्ठियाँ।
कमरुद्दीन चिल्लाकर बोला—
गांधीजी जिन्दाबाद...जिन्दाबाद...
कोई फुसफुसाया कुछ, कि अचानक—
बाहर से कुछ आकर सूत्रधार के सिर से टकराया।
थिरकते कुछ लड़के आए कि छँट गई भीड़

द्वारा श्री गजेन्द्रप्रसाद (एडवोकेट), नं. 3, न्यू एरिया, कदम कुआँ, पटना-03

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ने कहा—चोट लग गई सॉरी।
यह आपका ही है फिलिम प्रोजेक्टर ?
दूसरा बोला—आपको यह पता ही होगा कि
कमरुद्दीन की इस जमीन पर मेरा कब्जा है
अब सनीमा-फनीमा सब बन्द।
हाँ, यदि जुड़ना होगा हमारे नए प्रोडेक्ट्स से
फिनाइल, इत्र, पाउडर, वाशिंग पाउडर, टूथपेस्ट जैसे हैं आइटम
जो हैं सभी हैं मेड इन अमेरिका,
बेचो प्रोडेक्ट्स, बनाओ सदस्य
फिर घर बैठे जीवन भर करते रहो मौज।
यह सुनकर सूत्रधार हँसा..
हँसता रहा देर तक...
आगे क्या हुआ पता नहीं चला
सिर्फ इतना मालूम हुआ कि सूत्रधार ने जैसे कहा—
ग से गांधी
व से वलदैन
कि गोली चल गई...

गुजरात-2

हम मनई हैं लेकिन हैं चिरई की जाति
बच्चे से लग गए रोटी की जुगाड़ में
फुर्र से यहाँ, फुर्र से वहाँ
डेरा बाँधते-छोड़ते पुरखों की तरह रहे डोलते
का बताएँ साहेब, कहाँ है ठौर-ठिकाना !
हिंया, अहमदाबाद में कमाए आए रहे कि शान्ति है—
मार-पीट, चोरी-चमारी कम है, डाह नहीं है आपस में...
कहत जिऊ भरि आवत है...एई, बड़ी-बड़ी—
तलवार भाँजत झुंड-के-झुंड आए सब...
सोवत-जागत लोग भहराए लागे तर ऊपर.
काट डारे गटई, आग लगा दिए, गोलियो दागे—
इहैं, इहैं...हमें तो मुरदा जान के छोड़े
खोद डाले मुरदघट्टी, मसान, कब्रिस्तान...
का कहे साहेब कोई माई-बाप नहीं रहा।

सरकार डेरावत रही, धमकावत रही
सनकावत, ललकारत रही
सरकार तो, सरकारे रही साहेब।

इतना ही सुन पाए कि ऊँघ गए साहेब जी
भीड़ में किसी ने किसी से कहा—
जो ऊँघ गया, वह तो हैं सेक्यूलरजी
पूरी रात विदेसिया धुन पर थिरक रहे हैं सेक्यूलरजी
दल-बल के साथ पधारे कुछ दिन पहले सेक्यूलरजी
आलाकमान के साथी हैं, बहुत पुराने सेक्यूलरजी
कहते हैं कि उनकी लाज बचाने आए भये हैं सेक्यूलरजी।
कहते हैं कि एक खास जाति का वोट—
मुट्ठी में रखते हैं सेक्यूलरजी
कहते हैं कि मसखरी में लल्लू के भी नाना हैं सेक्यूलरजी।
नहीं, नहीं, कहा किसी ने, वह नहीं हैं यह—
वह उधर बैठा है पत्रकार वार्ता में
यह जो ऊँघ रहा है—
आया है अपने ग्रुप के साथ
किसी संस्था ने भेजा है
फी आदमी हजार रुपए मिलेंगे रोज
पन्द्रह दिनों तक गान गवनई करेंगे—
सब कमा के जाएँगे मोटी रकम
यह बस्ती जिलेवाला सुलेमान किसको सुना रहा है दुखड़ा !

सुलेमान साहेब को ऊँघता देख बड़बड़ाया
यह लीजिए, साहेबो सो गए...
गिद्ध कितना मँडरा रहे हैं...
यह भी ससुरे हैं चिरई की जाति... आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टप्पा और पाकिस्तान

यतीन्द्र मिश्र

उस तरह तो नहीं थिरकता अब रेगिस्तान का आँगन
उस तरह कबीलों में घूमते नहीं ऊँटहार अपने ऊँटों के साथ
और वह अब तक की जानी-पहचानी लोकधुन
नहीं पिरोती पंजाब और सिन्ध का चमन

ये टप्पा गाने वाले
ये ऊँट चराने वाले
ये रेगिस्तान से गुजरकर उधर
पाकिस्तान तक जाने वाले
ढूँढ़ने पर मुश्किल से मिलते हैं अब
और यही हाल उधर का भी हो गया है
रावलपिण्डी से लेकर पेशावर लाहौर तक फैली
पंजाबी बोली और सुनहरी रेत को एक रंग करती
टप्पा गायकी खोने के कगार पर है

वैसे खोने के मामले में पूरा इतिहास ही बना डाला है हमने
जैसे पंजाब सिन्ध का यह सलोना संगीत
कहीं गहरे से याद दिलाता है कि खोने को तो
हम सरहदों में बँटी रिश्तों की लोनाई
खो आए अट्ठावन साल पहले
कि छोड़ आए दूर महाराष्ट्र के सांगली मिरज़ में
देश भर के लिए तानपूरा बनाने की कारीगरी
और यह पुश्तैनी धंधा बिसराकर
मिरज़ कुछ नया ही गढ़ता है इन दिनों

ऐसे में टप्पा एक सभ्यता को गाता
एक सभ्यता के लोप का प्रतीक बन गया है
ऐसे में शोरी मियाँ का शुरू किया यह गंगा जमुनी जहूरा
रेत में कहीं दम तोड़ने लगा है

शोरी मियाँ भी कहाँ जानते थे
जिस सहरा की भयावह रातों को
खुशनुमा ढंग से काटने के लिए वे
चाँद-सितारों से सजा टप्पा बनाकर लाए थे
वह रातें तवारीख़ में बिखरी सियासतों ने
खींचकर लम्बी कर दी हैं

सराय, अयोध्या राजभवन, फैजाबाद-224123 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये टप्पा गाने वाले
ये ऊँट चराने वाले
सतरंगी पगड़ियाँ पहने वे
नेहरा लगाने वाली गोरियों को बुलाने वाले
पता नहीं कहाँ चले गए

पंजाब के घर-घर में मिलने वाले
छाछ और सरसों के साग की तरह
इन बोल-बन्दिशों पर वहाँ की सोहनियाँ
कैसे भूल गईं फुलकारी करना
भैरवी मुल्तानी बरवा और काफी की पुकार
कहाँ जाकर डूबी पता नहीं लगता
सहरा में कि चिनाब में
अमृतसर में कि लाहौर के अनारकली बाज़ार में
अपने दम को साधे साँईं के वे सच्चे बन्दे
आजकल कहाँ गाते हैं मियाँ नज़रें नेईं आन्दा वे

छोटे-छोटे बादलों के समूह जैसे आपस में गुँथे हुए
हज़ारों छोटे-बड़े झरने एक ही मेरुखंड की धरती पर गिरते हुए
अपने में व्यस्त तत्परता से आगे
निकलती हुईं जैसे ढेरों तितलियाँ
वैसे ढेरों फुदकते लफ्ज़ों की चाल में ढला टप्पा
महाराष्ट्र के नाट्यसंगीत से मिलकर
बंगाल और आगरा तक आया
इसने हमारे विरह और प्रेम को भी
संयम से बरतना सिखाया

इधर जयपुर अतरौली की गलियों में इसे
साधते रहे जीवन भर मंझी खाँ
दूर लाहौर में अन्तिम दिनों तक
गाती रहीं रोशनआरा बेगम यही टप्पा
इधर भी संगीत और पंजाब की बोली-बानी
उधर भी यही हाल हर गायक फनकार का
इधर भी पाकिस्तान की सरगम भरी दुनिया
उधर भी गाने वाले अपनी मिट्टी की सोंधी गमक में महफूज़
यह एक ऐसा समय था
जब षड्ज से निषाद तक की आवाजाही में
दिन में कई बार आपस में खुलते थे
दो घरानों के किवाड़
कई तरह से भरी जाती थी सरगम
तानों की घूमर जैसी तेज़ गोलाई में
कई-कई दिन तक अबूझ रह जाता था
गाए जा चुके बंदिश का मिसरा

आज यह टप्पा गुम हो गया है
दौड़-भाग से भरी ज़िन्दगी
और उसी तरह भागते हुए बिना अर्थ के
शोर वाले संगीत में
फिर भी अनारकली बाज़ार से गुज़रते हुए
रोशनआरा बेगम की तान जब-तब कानों में पड़ती है
तब याद आते हैं बरबस उस उक्त
जयपुर घराने के आकाश तले
मंझी खाँ अपने हवेली संगीत से
टप्पा का अंग निकालते हुए
उस समय शोरी मियाँ यकीनन यही कहते मिलेंगे
ओ मियाँ वे जाने वाले तानूँ अल्ला दी कसम, फेर आ

ये टप्पा गाने वाले
ये सहरा के आर-पार घर बसाने वाले
ये उर्दू पंजाबी हिन्दवी को दोस्त बनाने वाले
अपने ऊँटों पर बैठकर
न जाने किधर निकल गए ? आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मरण : एक

अरुण कोलटकर की कविताएँ टिप्पणी और अनुवाद

निशिकान्त ठकार

''इस कापी को सूखने मत देना
मेरी कापी भीगे
स्याही फैल जाए
ये अक्षर गल जाएँ
मेरी कविताओं की लुगदी बन जाए
नदी किनारे घास चरनेवाली
इन भैंसों के दूध में
मेरी कविता का अंश मिल जाए।''

अरुण कोलटकर ने अपनी मृत्यु से पूर्व कुछ मास पहले प्रकाशित करीब चार सौ पृष्ठों वाले सभी अर्थों में बड़े कविता संकलन *'भिजकी वही'* के प्रारम्भ में भूमिका के तौर पर इन पंक्तियों को प्रस्तुत किया था। अतियथार्थवादी संश्लिष्ट बिम्बों से प्रस्थापित काव्याभिरुचि को ध्वस्त करनेवाले कवि की यात्रा सहज, स्वाभाविक बोली भाषा से और लोकतत्व से ऊर्जा प्राप्त करती हुई एक ऐसे मुकाम की ओर बढ़ रही है जो देश और भाषा से परे जाकर विश्वात्मक आयाम प्राप्त करने की स्पेस थी। आम आदमी तक, उसके घर के भीतर अपनी कविता के पहुँच जाने की बात कभी अरुण कोलटकर ने की थी। *'चिरीमिरी'* नाम की काव्य-पुस्तक में उन्होंने बलवना बुआ का जो चरित्र पेश किया है, उसे पढ़ते हुए उनका यह दावा अज़ीब-सा नहीं लगता। अरुण कोलटकर की कविता को आधुनिकतावादी, प्रयोगवादी, बीटानिक, आदि माननेवालों को उसे आम आदमी के साथ जोड़ने की बात शायद विचित्र लगे लेकिन यही सच है।

साठोत्तर पीढ़ी के अग्रणी कवि अरुण कोलटकर का 25 सितम्बर 2004 को कैंसर की बीमारी से निधन हुआ जिसका दर्द उन्होंने दूसरों से छिपाने का भरसक प्रयास किया। पिछले करीब पचास वर्षों से अरुण कविता लिख रहे थे। प्रस्थापित पत्रिकाओं में शुरू की कुछ कविताएँ प्रकाशित हुईं लेकिन जब साठोत्तर कालखंड में लघुपत्रिकाओं का आन्दोलन शुरू हुआ तब उनकी अधिकतर कविताएँ लघु-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुईं। व्यवस्था के विरोध में और साहित्यिक राजनीति के खिलाफ इस आन्दोलन का मराठी में सूत्रपात करनेवालों में अरुण का योगदान महत्त्वपूर्ण था। विकलता से कविता लिखनेवाले अरुण का पहला कविता संकलन 1977 में आया जिसका शीर्षक अन्य किसी समुचित शीर्षक के अभाव में था 'अरुण कोलटकरच्चा कविता'। इसी वर्ष अंग्रेजी में *'Jejuri'* (जेजुरी) प्रकाशित हुआ और फिर उसे कॉमनवेल्थ कविता पुरस्कार मिलने पर

'सूरसंगत', राघवेन्द्र नगर, सोलापुर-413 001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरुण का सर्वत्र बोलबाला हो गया। लेकिन तब तक अरुण की काव्यनिष्ठा, पुरस्कारों के प्रति उदासीनता, साहित्यिक संस्कृति से अलगाव और कलाकार-व्यक्तित्व की विशेषताओं ने उनके व्यक्तित्व को गूढ़ता प्रदान की थी। अस्सी-नब्बे के बाद की प्रयोगशील कवियों की पीढ़ी अब उन्हें अपना मसीहा मानने लगी है।

1932 में कोल्हापुर में जन्मे अरुण कोलटकर ने जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स से डिप्लोमा प्राप्त किया और अफ्राईड आर्ट अर्थात् विज्ञापन क्षेत्र में अपना झंडा गाड़ दिया। कमर्शियल आर्टिस्ट गिल्ड के कई पुरस्कारों से सम्मानित हुए और 'हास ऑफ फेम' में स्थान प्राप्त कर लिया। हालाँकि उन्होंने कहा है कि विज्ञापन का काम उनकी रोजी-रोटी का काम था लेकिन वह एक हुनरमन्द ग्राफिक कलाकार थे और इस बात का सृजनशील प्रभाव उनकी रचनाओं में देखा जा सकता है। विज्ञापन के विश्व में पाश्चात्य अवधारणाओं और कल्पनाओं की नकल से आज भी हम मुक्त नहीं हुए हैं जबकि अरुण ने देशी सामग्री का आधुनिक और व्यंजनापूर्ण प्रयोग करते हुए लोकजीवन के अनुभवों को विज्ञापनों में उतारा। पुरस्कारों को उन्होंने 'आकुपेशनल हजार्ड' के रूप में स्वीकारा और जहाँ बात नहीं बनी वहाँ बिना समझौता किए उसे छोड़ दिया। ग्राफिक प्रभाव के बारे में उनका कहना था कि जब आपको पता हो कि कवि ग्राफिक कलाकार है, आप कविता को उसी नज़र से देखने लगते हैं। ऐसा होता ही होगा लेकिन उनकी कविता पर चलचित्र की आधुनिक शैलियों का भी प्रभाव दिखाई देता है। कविता को वस्तुनिष्ठ और यथार्थ बना देने के लिए अरुण ने इस कला का बखूबी प्रयोग किया है जिससे वह भावुक रोमांटिकता को तोड़ देते हैं और अनुभव के यथार्थ को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से अंकित करते हैं जो कभी तिर्यक् डाकुमेंटरी, मिनिएचर, स्थिर चित्रण, आदि शैलियों में होने से अनन्य बन जाता है।

संगीत को भी उन्होंने अपनी कविता में इस तरह ढाला है कि वे गीत तो नहीं बनती लेकिन लय को भी नहीं छोड़ती और उनका सही अनुभव उन्हें मौखिक रूप से उच्चारित करने पर ही मिल जाता है। उन्होंने संगीत की कुछ साधना की भी। पाश्चात्य गिटार बजाना सीखा था और भारतीय पखावज बजाना भी अर्जुन शेजवल से सीखा था। उनकी रुचि गीतों में थी। बीटल और बॉब डिलन के प्रभाव में उन्होंने कुछ अंग्रेजी गीत भी लिखे। उन्हें लगा कि मात्र शब्दों के लिखने से काम नहीं बनता। आदमी की आवाज भी जरूरी है। यही कारण है कि अरुण की कविताओं में शब्दों की ध्वनियाँ, नाद, शब्दमैत्री, तुक और मुक्तलय के कई सार्थक प्रयोग दिखाई देते हैं जिसे उन्होंने अन्य काव्य और लोकसंगीत से प्राप्त किया है। उन्होंने इनका इस्तेमाल नहीं किया है बल्कि अपने अनुभव ग्रहण में ही पाया है। आधुनिकताबोध को बहुमाध्यमों से प्राप्त युक्तियों और परम्परा से प्राप्त लयसंस्कारों से व्यक्त करनेवाले वह एकमात्र मराठी कवि हैं।

लेकिन अरुण मात्र मराठी के कवि नहीं हैं। अंग्रेजी में भी उन्होंने रचनाएँ की हैं और 'जेजुरी' ने उन्हें एक ऐसी ऊँचाई पर पहुँचा दिया है जहाँ सम्भवतः दूसरा आधुनिक भारतीय कवि नहीं पहुँचा है। 'जेजुरी' के बारे में अनुकूल-प्रतिकूल ढेर सारी आलोचना अंग्रेजी में प्रकाशित हुई है और देशी भाषा की एकात्म अवधारणा को अहमियत देनेवाले उनके द्विभाषिक कवि होने पर उँगली भी उठाते हैं, फिर भी बकौल अरविन्द कृष्ण मेहरोत्रा के 'गीतांजलि' के बाद 'जेजुरी' ही अंग्रेजी में ख्याति प्राप्त कर चुकी है। 'जेजुरी' मराठी में क्यों नहीं लिखी, पूछने पर अरुण ने कवि-सुलभ जवाब दिया था कि मुझे पता नहीं, बस लिखना शुरू किया तो अंग्रेजी में लिख दिया। 'जेजुरी' पर तो उन्होंने एक फिल्म बनानी थी। 'जेजुरी' से लौट आए तो लगा कि एक 'टेरिफिक फिल्म' बन सकती है लेकिन बहिर्मुखी व्यक्तित्व न होने के कारण तथा फिल्म के लिए पैसा जुटाने का कौशल न होने के कारण उन्होंने सोच-समझकर 'जेजुरी' लिखी तो वह करीब-करीब पटकथा ही बन गई। अरुण कई बार सिनेमाई भाषा में सोचते हैं जिसका अहसास 'जेजुरी' पढ़ते हुए मिल जाता है। 'बोट राइड' नाम की उनकी अंग्रेजी कविता भी पटकथा-सी है। मात्र अंग्रेजी समझनेवालों के लिए उन्होंने 'जो देखा' वह लिख दिया।

भारतीय अंग्रेजी लेखन एक बहस का विषय है लेकिन उसे देशीवादी या राष्ट्रवादी दुराग्रह के तहत उपेक्षा या लांछना का विषय बना देना हानिकारक होगा। अरुण ने बहुत पहले तुकाराम जैसे कवि की महानता और समकालीनता को पहचानकर उनके अभंगों के अनुवाद किए थे क्योंकि वह चाहते थे कि उन लोगों को भी तुकाराम का पता चले जो उन्हें नहीं जानते। तुकाराम अनुवाद के लिए मुश्किल कवि हैं और अरुण ने जब यह अनुवाद आज की भाषा में, आज की बोलचाल की भाषा में किया तो कुछ मित्र उधेड़बुन में पड़ गए।

अरुण कोलटकर की बंबैया हिन्दी में लिखी दो कविताएँ 'मैं मैनेजर को बोला...' और 'न्यू येर डे' मशहूर हैं। उनके पहले मराठी कविता संकलन में इनका समावेश किया गया है। उनके हिन्दी होने को अलग से अधोरेखित नहीं किया गया है। उनके आगे-पीछे मराठी कविताएँ हैं। जाहिर है कि अरुण उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा की अपेक्षा अभिव्यक्ति की विशिष्ट नाट्यपूर्णता या कि कहिए वृत्तचित्रात्मकता को ही अहमियत देते हैं और बोलचाल की भाषा की जीवन्तता के साथ आम आदमी की ज़िन्दगी की त्रासदी को व्यक्त करते हैं। अरुण ने इन कविताओं का अमरीकी बोली में जो अनुवाद किया है वह बहुत ही मार्मिक बन पड़ा है। अपनी कुछ मराठी कविताओं का अनुवाद भी अरुण ने अंग्रेजी में किया है। उनकी तुलना मूल कविताओं के साथ करने पर पता चल जाता है कि अंग्रेजी दूसरी भाषा होने से कवि उसमें अधिक तटस्थ बनकर यथार्थ को वस्तुनिष्ठता का एक अलग ही आयाम देने में कामयाब हो जाता है। भाषा का माध्यम अनुभव की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में अपनी हिस्सेदारी अवश्य निभाता है। कवि का या अनुवादक का संयम वहाँ काम आता है कि माध्यम से वह अपेक्षित स्वाधीनता तो प्राप्त कर लेता है किन्तु उसे खाली नहीं होने देता।

ग्राफिक कलाकार होने के कारण अरुण कोलटकर ने अपनी कविताओं के वास्तुशिल्प पर बारीकी से ध्यान दिया है और विराम चिह्नों, टाइपों, शब्दों की आवृत्तियों, पंक्तियों के बीच के अवकाशों, शीर्षकों आदि को लेकर विलक्षण प्रयोग किए हैं किन्तु अनुभव को दृश्य रूप में भी पहुँचाने के लिए ही किए हैं। अरुण अपनी कविता की रचना इस प्रकार करते हैं कि पंक्तियों के बीच पढ़ने का अवसर पाठक को मिल जाए।

भाषा को लेकर कोई परहेज अरुण की कविता में नहीं मिलता। उनकी मराठी कविता में हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत सन्तों की बोली, और जीवन के विविध क्षेत्रों से शब्द अनायास और सही जगह पर आ जाते हैं। मिथकीय कविताओं में भी इनका अनायास समावेश हो जाता है। कथित अश्लील शब्दों का बिन्दास प्रयोग सन्तों की सहजता से कर जाता है। बोलचाल की भाषा में सहजता का काव्य-चमत्कार अरुण की कविताओं में मिलता है उसे सपाटबयानी तो कतई नहीं कहा जा सकता लेकिन मुद्रा सपाटबयानी की होती है। श्रीकान्त वर्मा के 'मगध' के साथ 'भिजकी वही' के विविध मिथकों की भाषा की तुलना करने का मोह हो जाता है। श्रीकान्त जी ने सत्ता की राजनीति की जटिलता को सरल भाषा में कैद किया है तो अरुण ने स्त्री के आँसुओं का इतिहास बेदर्दी से रचने में सरलता को भारी बना दिया है।

अरुण कोलटकर का आधुनिकताबोध यथार्थ को लक्ष्य बनाकर ही प्राप्त होता है। जीवन की द्वन्द्वात्मक अनुभूति की गहरी पकड़ उनकी कविता की बुनियाद है। जीवन और मृत्यु के द्वन्द्व में कई बार लगता है कि अरुण अस्तित्ववादी सरोकारों को परोसते हैं लेकिन वास्तव में वे अपने सीमित व्यक्तिकेन्द्र से बाहर आकर आम आदमी के दुख-दर्द के साथ जुड़ जाते हैं। इस प्रक्रिया में वह किसी सिद्धान्त या विचारधारा के मोहताज नहीं होते। न ही भावुक बनकर छायावादी आँसू बहाते हैं। संवेदनशीलता और भावुकता में अन्तर करते हुए वह अपने व्यक्तित्व का विलोपन कर देते हैं। इसलिए उनकी रचनाओं में 'मैं' का साक्षात्कार बहुत कम हो पाता है। अरुण कोलटकर हमें मिलते हैं दूसरे ही पात्रों में। यथार्थबोध की उनकी इस प्रक्रिया में वह अपने आपको मिटा देते हैं। उनकी आरम्भिक कविता को महानगरी संवेदना की कविता माना गया। अरुण ग्रामीण और शहरी द्वन्द्व को अनुभव के स्तर पर संप्रेषित करते हैं। वर्गविहीन समाज में इस प्रकार के भेद के लिए कोई गुंजाइश नहीं होती। उनका कहना था कि देहात जाने के लिए नगर को छोड़ देने की आवश्यकता नहीं है न नगर जाने के लिए देहात छोड़ना जरूरी है। अरुण कोलटकर की कविता सोचने के लिए विवश कर देती है क्योंकि उसका एक स्रोत चिन्तन भी है।

अपनी इधर की कविता में अरुण विश्वसंस्कृति की व्यापकता में मानव जीवन की अवस्था और आस्था खोजते हुए नजर आते हैं। 'द्रोण' कविता में उन्होंने वानरों की दृष्टि से उत्तर-रामायण की पुनर्रचना करते हुए उपनिवेशवाद का आयाम खोल दिया है जो भूमंडलीकरण के इस जमाने में व्यंग्य और हास्य की गम्भीरता के साथ बेहद अर्थपूर्ण बन जाता है। 'भिजकी वही' में बगैर नारीवाद के सिद्धान्त को अपनाए विश्व की स्त्री प्रतिमाओं से जुड़कर अरुण कोलटकर नारी की आँसुओं की जो वकालत करते हैं वह उन्हें विश्व कवि का दर्जा देने के लिए पर्याप्त है।

अरुण कोलटकर की कविताएँ

चीख़

बिलकुल अभी-अभी तक जहाँ
हिरोशिमा था

उस दिशा से आनेवाले

व मियुकी पुल से बहनेवाले
परछाइयों के रेले में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखा है क्या किसी ने

एक स्कूली लड़की को
खून का किमोनो पहनी हुई
दग्धकेशा

गाल पर लटक रही है नीचे
उसकी दाहिनी आँख
खाँचे से बाहर फेंकी गई

उसके मुँह से उग आया है एक पेड़
चीख़ों का
किसी को भी न सुनाई देनेवाली

उसका स्कूल डूब गया है हमेशा के लिए
आग के दरिया में
उसके घर-बार समेत, गाँव समेत

वह दिखाई दी है क्या किसी को
या किसी के कैमरे को
और क्या हुआ आगे फिर उसका

अन्तिम अश्रु

सारी गन्दगी निकल जाने दे
अपनी आँखों से

सारी गौलक्षियाँ, नालियाँ गधे
गन्धर्वनगरियाँ गीध
देवता, दानव, हिन्दू औ' मुसलमान
सुन्ता हुए और बेसुन्ते लौड़े व
जन्नते दोजखे मसीहा चूहे
वारांगनाएँ तारांगन सारे
सवा लाख भुनगे
डेढ़ लाख भड़ुए औ' नौ लाख भड़भूँजे
खानाजंगी बन्धुकलह महाभारत क्रूसेड जिहाद सगरे
कसमसाते शहर
हनुमानचालीसा एकी सन्तेचालीसा
यहाँ के बारह लौड़ोंवाले सर्वपल्ली बम व ब्रह्मास्त्र
खोपड़ियों के टीले रचनेवाले चैंगीज़खान तैमूरलंग नादिरशाह
अपनी तिरसठ बीवियों की बिज़न करनेवाले अफ़जलखान
यहाँ के यातनाशिविर मासग्रेव लाश ढेर गैस चेम्बर
यहाँ के वंशच्छेद सर्पसत्र फायनल सोल्यूशन एश्निक क्लेंज़िंग
रायटें, कत्लें

इक्कीस बार पृथ्वी को निःक्षत्रिय बना याकि
निर्ज्यू निष्कनानी निर्हुत्तु निर्तुत्सी निर्बुद्ध निर्मूर्तिपूजक
निरिंका निरैज़टैक निरेडइंडियन निर्हिन्दु निर्मुसलमान बना
विशुद्ध द्वेष के कुंड में हाथ धोकर मुक्त होनेवाले परशुराम
यहाँ के धर्म यहाँ की जातियाँ व उपजातियाँ
युगोयुगों तक रिसते रहनेवाले मानसिक जख्म और अस्मिताएँ
गैंग्रीनग्रस्त
यहाँ के पंडे मुल्ला पुजारी पाद्री शंकराचार्य रब्बी लामा पोप
खलीफा
यक्ष किन्नर गन्धर्व राक्षस देव दैत्य असुर ब्रह्मराक्षस बरुवे
बैताल

पलम्बर व इलैक्ट्रीशियन
ग्यारह रुद्र चौदह मनु अट्ठाईस व्यास
अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता
छत्तीस हजार तीन सौ तैंतीस देवता चन्द्रपान करनेवाले
यहाँ की गुंडाशाहियाँ भीड़शाहियाँ दमनशाहियाँ मारपीटशाहियाँ
यहाँ के सीज़र यहाँ के चक्रवर्ती यहाँ के फ्यूरर यहाँ के
अश्वत्थामा व ऐखमन

डगमगानेवाले इन्द्र यहाँ के
हजार हाथों से रिश्वत लेनेवाले सहस्रार्जुन
ग्यारह सिरोंवाले वितंडावादी अवलोकितेश्वर
और दाहिनी सूँडवाले कवि

यह सारी गन्दगी बह जाएगी
तेरी आँखों से
तब विशुद्ध अश्रु
मात्र एक ही
बचा रह जाएगा अन्त में
उसे बस सँभालकर रखना आँख में

वही काम आएगा
फिर नये सिरे से सृष्टि का
निर्माण करने

अरी
विश्वात्मके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मरण : दो

चेस्लाव मीलोष की कविताएँ टिप्पणी व अनुवाद

हरिमोहन शर्मा

1980 में साहित्य के लिए नोबल पुरस्कार-प्राप्त पोलिश कवि निबन्धकार, अनुवादक चेस्लाव मीलोष (मृत्यु 16 अगस्त 2004) पोलैंड की अन्तरात्मा के कवि माने गए हैं। इनकी कविता यूरोपीय जीवन विशेषतः पोलैंड के राष्ट्रीय जीवन में घट रही यातनापूर्ण स्थितियों और उसके प्रति संघर्ष को अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली कविता है। इनकी कविताएँ और इनके निबन्ध प्रायः आत्मकथात्मक और प्रतीकात्मक हो गए हैं। कथनीय है कि इनकी कविताओं में आत्म-निर्वासन की स्मृतियों, धार्मिक विश्वास, नाज़ी और साम्यवादी शासन की क्रूरताएँ, देशकाल-इतिहास के बीच फँसे मनुष्य की नियति का अहसास बहुत गहरे पैठा हुआ है। कुछ लोग इनकी नैतिक दृष्टि को देखकर इन्हें कैथोलिक कवि कहते हैं तथा इनकी कविता में सर्वेश्वरवादी प्रवृत्ति के दर्शन करते हैं। किन्तु मीलोष के चिन्तन-सृजन का स्थायीभाव साहस, दृढ़ताभरी सादगी और विनम्रता का है। साथ ही, आम आदमी की यातना और त्रास इनकी समूची काव्ययात्रा का केन्द्रीय भाव बना रहा है।

मीलोष (1911) का जन्म पोलैंड के लिथुआनिया के शेतइनी कस्बे में हुआ जो उस समय पोलैंड का हिस्सा था। यहीं से इन्होंने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान इनका परिवार लिथुआनिया की राजधानी विलन्यूस में आ बसा। यहीं इन्होंने कैथोलिक धर्म की विधिवत् शिक्षा ली। यहीं ये हिब्रू पढ़ने लगे जिससे कि 'ओल्ड टैस्टामेंट' का पोलिश में अनुवाद किया जा सके। इन्हीं दिनों एक वर्ष की छात्रवृत्ति मिली और ये अध्ययन के लिए पेरिस चले गए। 1934 में इन्होंने विलनो विश्वविद्यालय से कानून की पढ़ाई पूरी की। कविता-लेखन की ओर झुकाव इनका पहले से ही था तथा इनकी दो कविताएँ 1930 में प्रकाशित हो चुकी थीं। यहीं विलनो विश्वविद्यालय के अन्य साथियों के साथ मिलकर इन्होंने उग्रपन्थियों का एक समूह बनाया तथा यहीं से एक 'ज़ागारिया' नामक पत्रिका प्रारम्भ की। ये तथा इनके अन्य साथी उस समय 'प्रलयवादी' पीढ़ी के कवि-साहित्यकार कहलाए।

1936 में मीलोष विलनो रेडियो स्टेशन पर काम करने लगे। परन्तु अपनी उग्र कम्युनिस्ट विचारधारा के कारण वहाँ से निकाल दिए गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के आसपास ये वार्सा आ गए और यहाँ के 'प्रलयवादी' समूह के प्रमुख सदस्य बन गए जिन्होंने यूरोपीय सभ्यता-संस्कृति के पतन की प्रमुखता से चर्चा की। इनके प्रथम दो काव्य-संग्रहों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। 'पाला लगे समय में कविता' तथा 'तीन शरद' में संग्रहीत कविताओं का मुख्य भाव भी यही है कि वर्तमान विश्व खतरनाक स्थितियों में पहुँच गया है।

184, कादम्बरी अपार्टमेंट, सैक्टर 9, रोहिणी, दिल्ली-110 085

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ हर चीज छीज रही है, सभ्यता मूल्य-विहीन होती जा रही है। ऐसे समय की इनकी वे कविताएँ भय और चेतावनी को अधिक उजागर करती हैं।

उधर यूरोप और समूचे विश्व में ऐतिहासिक स्थितियाँ बड़ी तेज़ी से बदल रही थीं। 1 सितम्बर, 1939 को हिटलर ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया और वार्सा-निवासियों ने एक महीने तक प्राण-पण से आत्मरक्षण किया। इससे वार्सा शहर खँडहरों में तब्दील हो गया। उधर पूर्व से सोवियत संघ की सेना 17 सितम्बर, 1939 को पोलैंड में घुस आई। इस प्रकार दोनों शक्तिशाली पड़ोसियों ने पूर्वनिर्धारित तरीके से पोलैंड के टुकड़े कर उसे अपने-अपने कब्जे में कर लिया। हिटलर ने पोल ही नहीं जिप्सी, यहूदी, सर्ब, रूसी आदि को अनार्य मान उन्हें गैस-चैम्बर्स में धकेल दिया। कुछ लोग युद्ध, बीमारी और भूख से मर गए। यहाँ की शिक्षा-संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। शायद इसीलिए मीलोष की यह धारणा बनी कि जिसके पास ताकत आ जाती है, वह भाषा को नियन्त्रित करना चाहता है तथा शब्दों के अर्थों को बदल देना चाहता है। उनके साथ यही सलूक जर्मन और रूसी दोनों पड़ोसियों ने किया। मीलोष ने उस समय यह सब अपनी आँखों से देखा और भोगा था तथा अपने देशवासियों के साथ मिल अपनी जान पर खेलकर भूमिगत शैक्षिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ चलाईं। चोरी-छिपे नाज़ी-विरोधी काव्य-संकलन प्रकाशित किए। उनका वितरण किया। और दमन के खिलाफ अपनी 'गरीब लोगों की आवाजें' जैसी रचनाएँ लिखीं। इस प्रकार इन्होंने अपने लोगों में सांस्कृतिक अस्मिता और कलात्मक अभिव्यक्ति की आवश्यकता को बचाए रखा।

युद्ध के बाद उभरनेवाली पोल कवियों की पीढ़ी में चेस्लाव मीलोष, तदेऊष रूज़ेविच, ज्विग्न्येव हर्बर्त आदि प्रमुख हैं। मीलोष का पहला संग्रह 'पाला लगे समय में कविता' (1933) बाईस वर्ष की उम्र में ही प्रकाशित हो गया था तथा नाज़ी आक्रमण के बाद जनतान्त्रिक पोलैंड में इनका युद्ध विरोधी काव्य-संग्रह 'मुक्ति' (1945) प्रकाशित हुआ। इन दोनों संग्रहों की कविताओं में कठिन संघर्षों से भरी ज़िन्दगी तथा इसमें जीवित सामान्य आदमी की स्थिति को चित्रित किया गया है। इनकी नाज़ी विरोधी गतिविधियों तथा भाव-भंगिमाओं से प्रभावित होकर तत्कालीन कम्युनिस्ट शासन ने इन्हें 'निर्दलीय बुद्धिजीवी' के रूप में वाशिंगटन-पेरिस जैसे स्थानों पर अपने दूतावासों में सांस्कृतिक-सचिव नियुक्त किया। किन्तु शासन से मतभेद बढ़ते जाने के कारण 1951 में इन्होंने पेरिस में राजनीतिक शरण ले ली। यहीं इन्होंने स्तालिन के काल में बुद्धिजीवियों की स्थिति के संकेत अपनी पुस्तक 'कैदीमानस' में दिए हैं। 1951 से 1960 तक ये पेरिस में रहे और स्वतन्त्र-लेखन करते रहे। अपनी भाषा में कविता लिखते रहे क्योंकि ये मानते थे कि कविता उस मानव-समुदाय के लिए जरूरी है जो मानव-समुदाय के रूप में जिन्दा रहना चाहता है। उस समय इनकी कविताओं का प्रकाशन पोलैंड में प्रतिबन्धित कर दिया गया था।

1960 में ये कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में स्लाव भाषा और साहित्य के प्रोफेसर नियुक्त हो अमेरिका आ गए। 1978 तक इन्होंने यहाँ स्लाव भाषा और साहित्य का अध्यापन किया तथा 1970 में यहाँ के नागरिक हो गए। अध्यापन के साथ-साथ इन्होंने यहाँ अपनी भाषा में कविताएँ लिखीं तथा कुछ कवियों के अंग्रेजी में अनुवाद किए। इस समय की इनकी कविताओं में आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति अधिक झलकती है। अपने आत्मकथात्मक निबन्धों के समान इस समय की इनकी कविता में भी मनुष्य की अन्तरात्मा की खोज तथा आधुनिक इतिहास के पीड़ायुक्त पृष्ठों पर विवश आदमी की छटपटाहट प्रमुख काव्यवस्तु बनती है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में जनजीवन में आता बदलाव तथा मनुष्य के अन्तर्बाह्य जीवन की उथल-पुथल, जटिलताएँ, विकृतियाँ मूल्यहीनता की जो स्थितियाँ उभर रही थीं—उनके विरोध का वातावरण इनकी कविताओं से निर्मित होता है। युद्ध और त्रास से पीड़ित समाज की अनुगूँजें, अदम्य पारदर्शिता किसी-न-किसी रूप में इनकी कविता में आखिर तक विद्यमान रही। फिर, कवि बार-बार अपने प्रदेश, प्रकृति की रम्यता में बसे गाँव, अपने घर की स्मृतियों में आता-जाता रहा है। वहाँ की सादगी और सरलता को अपनी कविता में मूल्य की तरह सँजोता रहा है। ये स्मृतियाँ इन्हें वर्तमान से जोड़ती हैं और बदलाव भरी ज़िन्दगी को देखने के लिए प्रेरित करती हैं।

अपनी काव्य-परम्परा से जुड़कर इन्होंने अठारहवीं सदी में लिखी गई 'स्वाँग', 'प्रबन्ध कविताएँ' और 'हास्य-स्तुतिपरक काव्य' से लेकर 'स्वप्न रचनाएँ' आदि सभी प्रकार की रचनाएँ लिखीं। अपने समय की विद्रूपताएँ, व्यंग्य-विडम्बनाएँ, विकृतियाँ इनकी कविताओं में प्रमुखता से उभरी हैं। इनकी प्रारम्भिक कविता में आवेग अधिक था। परवर्ती कविता में आवेग की अपेक्षा स्थैर्य आता चला गया। अपनी इस समय की कविता में मीलोष मानव-स्थिति और उसकी नियति पर धैर्य के साथ चिन्तन-मनन करते दिखाई देते हैं। इसलिए इनकी कविता में विद्रोह, क्रान्ति, नकार और क्रोध की प्रवृत्ति का अपेक्षाकृत अभाव है। बल्कि इनकी वे कविताएँ सबसे अच्छी लगती हैं जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुओं-दृश्यों का भोला-भाला आकलन प्रस्तुत करती हैं या प्रकृति की वे कविताएँ जो जीवन का लक्ष्य भौतिक वस्तुओं के सुख में नहीं वरन् जीवन की सादगी में अपनी खुशी ढूँढ़ लेती हैं—वह भी आज के वस्तु-बहुल समाज में; जहाँ सभी प्रकार के विचार, मूल्य, निष्ठाएँ अर्थहीन बना दी गई हों। अपने जीवन के अन्तिम प्रहर में कविता लिखते हुए मीलोष कहते हैं :

क्या समृद्धि !
क्या गरीबी !
क्या मानवीयता !
क्या अमानवीयता !
आपसी अच्छाई !
वैयक्तिक अकेलापन !
आदर्श के प्रति निष्ठा !
क्या ढोंग !
अन्तरात्मा की जीत !
क्या दुष्टता !

यानी आज के समाज में सब ऐसा गड्डमड्ड कर दिया गया है कि सारा वातावरण भ्रमपूर्ण होता चला जा रहा है। पर मीलोष विपरीत परिस्थितियों में भी निराश नहीं होते। वे मानव-जीवन में आशा-आस्था बचाए-बनाए रखते हैं। शायद इसलिए कि उन्हें अभी मनुष्य और उसकी जिजीविषा पर विश्वास है। यही कारण है कि इनकी कविता को पोलैंड में ही नहीं, विश्व भर के कवि-समुदाय में गम्भीरता से लिया जाता है। उसे अँधेरे में टिमटिमानेवाले दीपक के रूप में देखा जाता है जो प्रत्येक स्थिति में रौशनी देता है।

तैयारी

अभी एक साल है तैयारी के लिए
जल्द ही काम करना शुरू करूँगा अपनी एक महत्त्वपूर्ण
पुस्तक पर
जिसमें हमारी शताब्दी उजागर होगी—जैसी कि वह थी
सूरज अच्छे और बुरे आदमी पर उगेगा
बसन्त और पतझड़ बिना चूके आएँगे
दलदली झुरमुट में चिड़ियाँ बनाएँगी घोंसला मिट्टी से
और लोमड़ियाँ सीखेंगी अपना कपटी स्वभाव।

यह होगी विषय-वस्तु और परिशिष्ट—इसी तरह सेनाएँ
बर्फ़ीले मैदानों के आर-पार दौड़ेंगी, शाप देती चिल्लातीं
तरह-तरह की आवाजों वाले कोरस में; टैंक की तोप सड़क
किनारे बढ़ें
झुटपुटे में चलती, चली जातीं निगरानी बुर्ज और
नुकीली तारों वाले सैनिक कैम्प में।

नहीं यह कल नहीं होगा—पाँच या दस सालों में !
अब माँओं के बारे में ज्यादा सोचता हूँ मैं
और पूछता हूँ औरत से पैदा होनेवाला आदमी क्या है ?
वह संकुचित होता खुद बचाता अपना सिर
जब उसे भारी-भरकम जूतों से मारी जाती है ठोकर
गोली के निशाने पर रखा जाता है, दौड़ाया जाता है
वह जलता है चमकती लौ में
एक बुलडोज़र उसे फेंक देता है खाई में
उसका बच्चा अपना टैडी बीयर लिपटाए हर्षोल्लास में मग्न
मैंने अभी तक नहीं सीखा कि कैसे बोलना चाहिए मुझे—
शान्ति से

विश्व के अन्त का गीत

जिस दिन खत्म होती है दुनिया
मधुमक्खी मँडराती है तिपतिया फूल पर
मछुआरा बाँधता है चमकते जाल को
समुद्र में उछलती हैं खुश-खुश डॉल्फिनें
गौरेया फुदकतीं रिमझिम फुहार में
और साँप की दिखती केंचुल सुनहरी
जैसी कि होनी ही चाहिए।

जिस दिन खत्म होती है दुनिया
औरतें गुजरती हैं खेतों के बीच से
छाते उठाए हुए
पियक्कड़ निंदासा चरागाह के किनारे
कुँजड़े लगाते हैं आवाज़ गलियों में
और पीले पालवाली एक नाव आती है टापू के पास
हवा में लरजती है वायलिन की धुन
और गूँजती जाती तारों भरी रात में।

और जिन्हें था इन्तज़ार
बिजली के गरजने-तरजने का
वे हो जाते हैं निराश !

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जिन्हें था इन्तज़ार
शकुनों का या देवदूतों की तुरही का
उन्हें नहीं आता विश्वास
कि यह हो रहा है अभी, बिलकुल अभी।

जब तक निकलते रहते चाँद और सूरज
जब तक मँडराता है भौंरा गुलाब पर
जब तक पैदा होते रहते गुलाबी शिशु
कोई नहीं करता विश्वास—कि यह हो रहा है अभी।

सिर्फ सफेद बालोंवाला एक बूढ़ा
जो शायद हुआ होता पैगम्बर
किन्तु है नहीं वह पैगम्बर क्योंकि
उसे दूसरे ढेर से काम हैं
कहता है टमाटर बटोरता :
कोई और अन्त नहीं होगा इस विश्व का
कोई और अन्त नहीं होगा इस विश्व का।

खिड़की से

मैदान के पार एक जंगल, दूर दूसरा मैदान
पानी का विस्तार जैसे हो दर्पण चमकदार
ऊँची-नीची धरती सुनहरी
समुद्र में नहाती हुई, जैसे अधडूबा ट्यूलिप का हो फूल

पिता बताते हैं कि यह यूरोप है
धूप से खिले दिन में इसे साफ-साफ देख सकते हैं
बाढ़-दर-बाढ़ के बाद अब उठता है धुआँ
लोगों, कुत्तों, बिल्लियों और घोड़ों के लिए घर

शहरों की खूबसूरत मीनारें चमकती हैं
नदियाँ बुनती हैं चाँदी के जाल
और पहाड़ों-चन्द्रमाओं के धब्बे दिखाई देते हैं यहाँ
कुछ ऐसे जैसे कि हंस के पंख फैल गए हों जमीन पर।

जंगल की सैर

इतने घने हैं पेड़ कि नहीं दिखतीं उनकी फुनगियाँ
पड़ती है उन पर डूबते सूरज की गुलाबी-गुलाबी ज्वाल
हर पेड़ जैसे कि हो एक मोमबत्ती

अपना सिर उठाएँ, हाथ से हाथ पकड़ें
जिससे कि घनी घास के बीच रास्ता न खो जाए
उधर फूलों को मुहरबन्द करना शुरू कर दिया है रात ने
तरह-तरह के रंग उड़ते जाते हैं आसमान में

और ऊपर हो रहा है एक सुनहरा महोत्सव
जैसे कि डाली जा रही हो लाल शराब ताँबई बरतन में
एक हवाई कोचवान लाता है उपहार
अदृश्यमान राजाओं और भालुओं के लिए।

एक घंटा

पत्तियाँ नहा रही हैं सूरज की रौशनी में, उत्साही भौंरों की गुंजार
दूर कहीं नदी के उस पार से आती विलंबित अनुगूँजें
धीरे-धीरे आती घन की आवाज़ें, देती हैं खुशी न केवल मुझे
पाँचों इन्द्रियों के सजग होने या किसी चीज के शुरू होने से पहले
उन्होंने इन्तज़ार किया, तैयारी की उन लोगों के लिए जो खुद को मनुष्य कहते हैं
जिससे कि कर सकें—जैसा कि मैं भी करता हूँ प्रशंसा
कि ज़िन्दगी के मायने होते हैं—खुशी।

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

उपहार

एक खुशनुमा दिन था
खत्म हो गया था कोहरा जल्द ही
मैंने बगीचे में काम किया
मधुमक्खी मधुभरे फूलों पर बैठ रही थी
पृथ्वी पर ऐसा और कुछ नहीं था जो मैं पाना चाहता था
मैं नहीं जानता था कि कोई मुझ पर रश्क करेगा
जो बुरा मैंने भोगा—उसे मैं भूल चुका था
यह सोचकर कि कभी मेरे साथ बुरा हुआ था
इससे भी मैं अपमानित नहीं
मेरे शरीर में कोई भी दर्द नहीं था
सीधे होते हुए, मैंने देखा नीला समुद्र और तैरती नावें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदम और ईव

अदम और ईव पढ़ रहे थे स्नानघर में एक बन्दर के बारे में
जो अपनी मालकिन की नकल में कूद पड़ा था बाथटब में
खोल दिया नल और चिल्लाया—अईऽऽ खौलता गरम पानी
गाउन जैसा कपड़ा डाल मालकिन दौड़ी आई
उसके सफेद नीली नसों वाले बड़े-बड़े स्तन चमक रहे थे
उसने बचाया बन्दर को और बैठ गई अपनी शृंगार मेज पर
नौकरानी को बुलाया—कहा चर्च जाने का समय हो गया है।

सिर्फ इसी के बारे में नहीं पढ़ रहे थे अदम और ईव
अपने नंगे घुटनों पर किताबें रखे
वे प्रासाद ! वे महल ! वे बड़े-बड़े शहर !
आकाशगंगा और पगोड़ा के बीच
उन्होंने एक दूसरे को देखा और मुस्कराए
हालाँकि अनिश्चयपूर्वक (तुम होओगे, तुम जानोगे)
और ईव का हाथ सेब पर पहुँच गया।

यह विश्व

ऐसा लगता है कि यह एक गलतफहमी है
जो केवल अभ्यास था उसे ले लिया गम्भीरता से
नदियाँ अपने स्रोतों की ओर लौट आएँगी
हवा वापिस होते हुए हो जाएगी बन्द
पेड़ फलने-फूलने की बजाय जड़ों की ओर लौट जाएँगे
बूढ़े गेंद का पीछा करेंगे, शीशे में देखेंगे
वे भी बच्चे हो गए हैं
मृत जी उठेंगे, कुछ भी न समझते हुए
जो चीजें घट गई थीं, अब अघटित होंगी
कितना सुकून है ! साँस ले पा रहे हो आराम से
—तुम जो बहुत दुख पा चुके हो।

एक निश्चित उम्र पर

पापों को स्वीकार करना चाहते थे हम, पर कोई सुननेवाला न
सफेद बादलों ने अस्वीकारा, और हवा
एक सागर से दूसरे सागर तक जाने में व्यस्त रही
जानवरों में भी रुचि पैदा नहीं कर पाए हम
निराश किया कुत्तों ने भी, चाहते थे आदेश
हमेशा की अनैतिक बिल्ली सोती थी गहरी नींद में
आत्मीय से लगते एक आदमी ने भी
पुरानी बातें सुनने की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया
वोदका या कॉफी पीते दोस्तों के साथ भी
पहली बोरियत के बाद बातचीत न हो सकी आगे
घंटे के हिसाब से सुनाना अपमानजनक है
सुनने के लिए पाए डिप्लोमा वालों के लिए भी
गिरजाघर, शायद वहीं आत्मस्वीकार किया जा सके, पर क्या
पर वहाँ हम अपने को सुन्दर और कुलीन दिखाते आए हैं
अन्ततः अपनी जगह भद्दे मेंढक से हम
अधखुली मोटी पलकों वाले
देख सकता है कोई भी स्पष्ट : "वह हम हैं।"

घास का मैदान

नदी किनारे घास का मैदान, हरा-भरा फसल कटने से पहले
जून का धूप भरा एक निर्मल दिन
खोज लिया इसे मैंने, पाया, पहचाना
बढ़ रहे थे घास और फूल, जैसे होते थे मेरे बचपन में
आधी मुँदी आँखों से उस हरियाली को पिया-जिया
वहाँ की खुशबू ने घेर लिया मुझे, बना दिया संज्ञाशून्य
अचानक मैंने महसूस किया, उसी में बिला रहा
और रोता रहा खुशी से। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्द्धशती : मैला आँचल

मेरी-मार्टिन, मैलेरिया और डागडर बाबू

सकलदेव शर्मा

हिन्दी आंचलिक उपन्यासों के अद्वितीय ऐंद्रजालिक, कथाशिल्पी फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने पूर्णिया को मैलेरिया और कालाआजार की 'क्रीड़ाभूमि' की संज्ञा दी है। वहाँ "कौओं को भी मैलेरिया होता है।" भीगी हुई धरती पर लेटा न्यूमोनिया का रोगी वहाँ मरता नहीं, जी जाता है। डी.डी.टी. और मसहरी की बात तो दूर, देह में सरसों विलास/कड़वा तेल लगाना भी वहाँ कभी स्वर्गीय भोगविलास में परिगणित होता था। अतः यह अकारण नहीं है कि "मैला आँचल"[1] के अति पिछड़े जन-जीवन में हर्षोल्लास और प्राणों में नई ऊर्जा का संचार कर देनेवाली पहली महत्त्वपूर्ण सूचना मेरीगंज में मैलेरिया सेंटर बनने की है—"यहाँ पर एक मैलेरिया सेंटर बनेगा। ऊपर से हुकुम आया है। यही बागान का जमीन में।"[2]

"मेरीगंज" पूर्णिया जिला का एक गाँव है जो रौतहट स्टेशन से सात कोस पूरब है। प्रथम विश्वयुद्ध से भी पहले जिस दिन अंग्रेज साहब डब्ल्यू. जी. मार्टिन ने इस गाँव में अपनी कोठी की नींव डाली थी, उसी दिन आसपास के गाँवों में ढोल बजवाकर ऐलान करवा दिया था कि आज से इस गाँव का नाम मेरीगंज हुआ। एक बार एक किसान के मुँह से जब मेरीगंज गाँव का पुराना नाम निकल गया तो मार्टिन साहब ने तत्काल उसे गिन-गिनकर पचास कोड़े लगवाए। फिर तो पुराना नाम गाँव में कभी किसी की जुबान पर चढ़ा ही नहीं। 'मेरी' उनकी सद्यःपरिणीता पत्नी थी जो "इन्द्रासन की परी की तरह" सुन्दर थी और कलकत्ता में रहती थी। गाँव का नाम बदलकर, रौतहट स्टेशन से मेरीगंज तक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सड़क बनवाकर और गाँव में पोस्ट आफिस खुलवाकर मार्टिन साहब मेरी को लाने कलकत्ता चले जाते हैं।

मेरीगंज पहुँचने के ठीक एक सप्ताह बाद ही जब मेरी को मैलेरिया हो जाता है तो मार्टिन साहब महसूस करते हैं कि पोस्ट आफिस के पहले यहाँ एक डिस्पेंसरी खुलवाना चाहिए था। कुनैन की टिकिया से जब तीसरे दिन भी मेरी का बुखार नहीं उतरता है तब वे अपने घोड़े को रौतहट की ओर दौड़ा देते हैं। वहाँ स्टेशन पहुँचने पर मालूम होता है कि पूर्णिया जानेवाली गाड़ी दस मिनट पहले ही जा चुकी है। फिर क्या था, बगैर कुछ सोचे वे अपने पैखराज घोड़े को रौतहट से बारह कोस दूर पूर्णिया की ओर मोड़ देते हैं। वे जिस समय पूर्णिया सिविल सर्जन के बंगले पर पहुँचते हैं उस समय तक गाड़ी "पूरैनिया टीशन" पर पहुँच भी नहीं पाई थी। सिविल सर्जन को "हवा गाड़ी" पर साथ लेकर मार्टिन साहब जब मेरीगंज पहुँचते हैं उनकी प्रियतमा पत्नी मेरी का मैलेरिया से निधन हो चुका होता है—"नल के पास गढ़े में घुसकर घुँघराले रेशमी

31/204, बेलवागंज, लहेरिया सराय, दरभंगा-846001 (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालोंवाले अपने सिर पर कीचड़ थोपते-थोपते वह मर जाती है।"[3]

मेरी की लाश दफनाने के बाद मार्टिन साहब पुनः पूर्णिया जाते हैं। सिविल सर्जन, डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन और हेल्थ आफिसर से मिलकर एक छोटी-सी डिस्पेंसरी की मंजूरी के लिए वे जमीन-आसमान एक कर देते हैं। डिस्पेंसरी के लिए वे अपनी जमीन तक रजिस्ट्री कर देते हैं। अधिकारियों से उन्हें अगले वर्ष तक डिस्पेंसरी खुल जाने का आश्वासन मिलता है। नीलयुग की सहसा समाप्ति हो जाने के कारण ठीक उसी समय मार्टिन साहब विक्षिप्त हो जाते हैं। बगल में रद्दी कागजों का पुलिन्दा दबाए "पगला मार्टिन" दिन भर पूर्णिया कचहरी में चक्कर लगाते रहते हैं। मिलनेवालों से कहा करते हैं—"गवर्मेंट ने एक डिस्पेंसरी का हुक्म दे दिया है। अगले साल खुल जाएगा।" कथानुसार पटना-दिल्ली की दौड़धूप के बाद एक बार वह बहुत उदास होकर मेरीगंज लौटते हैं और मेरी की कब्र पर लेटकर सारा दिन रोते रहते हैं—"डार्लिंग, डाक्टर नहीं आएगा।"[4] इसके पश्चात् पागलपन अधिक बढ़ जाने के कारण अधिकारियों द्वारा वे काँके भेज दिए जाते हैं। वहीं काँके के पागलखाने में उनकी मौत हो जाती है।

मेरीगंज एक बड़ा गाँव है जिसमें "बारहो बरन" के लोग रहते हैं। कायस्थ, राजपूत और यादव गाँव के तीन प्रमुख दल हैं। ब्राह्मणों की संख्या कम होने के कारण वे हमेशा तीसरी शक्ति का काम करते हैं। राजपूतों और कायस्थों में पुश्तैनी मनमुटाव और झगड़े होते रहते हैं। ठाकुर रामकिरपाल सिंघ राजपूत टोली के और खेलावन यादव यादवों के मुखिया हैं। गाँव के एकमात्र मालिक और एकछत्र जमींदार तहसीलदार बाबू विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक हैं। गाँव की मुख्य पैदावार धान, पाट और खेसारी है। कभी-कभी रब्बी की फसल भी अच्छी हो जाती है।

"मैला आँचल" के तृतीय परिच्छेद में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मिस्त्री लोग डिस्पेंसरी के सिलसिले में आते हैं। स्वराजी बालदेव के उत्साह का कोई ठिकाना नहीं है। गाँव के प्रत्येक टोल में घूम-घूमकर वे कहते हैं—"कल से काम शुरू हो जाना चाहिए। मलेरिया बोखार मच्छड़ काटने से होता है, मगर कुनैन खाने से जितना भी मच्छड़ काटे, कुछ नहीं होगा।"[5] प्रायः प्रत्येक टोली के लोग बालदेव को वचन देते हैं—"सात दिनों तक कोई काम नहीं करेंगे। मालिक लोगों से कहिए—हल पगल कोड़ कमान बन्द रखें। करना ही क्या है ? एक इसपिताल का घर, एक डागडर बाबू का घर, एक भनसाघर और एक घर फालतू। सात दिनों में ही सब काम रैट हो जाएगा।"[6]

ब्राह्मण टोली के लोगों ने जिस दिन से अस्पताल के विषय में सुना है, दिन-रात डाक्टर और अंग्रेजी दवा के खिलाफ विषवमन करते चल रहे हैं। जोतखीजी का विश्वास है कि डाक्टर लोग ही रोग फैलाते हैं। सूई भोंककर देह में जहर दे देते हैं। ठाकुर रामकिरपाल सिंह के दरवाजे पर शिवशंकर सिंह का बेटा हरगौरी बालदेव को खरी-खोटी सुनाकर अपमानित करता है। बालदेव के इस अपमान से गुअर टोली के बूढ़े-बच्चे खौलने लगते हैं। वहाँ किसी ने कह दिया है कि हरगौरी ने बालदेव को जूते से मारा है। अतः कुकुरू का बेटा कलचरना 'काली किरिया' खाता है—"हरगौरी का खून पीएँगे।" मेरीगंज के महन्थ सेवादास को सतगुरु सपना देते हैं—"तुम्हारे गाँव में परमारथ का कारज हो रहा है और तुमको मालूम नहीं ? तुम सारे गाँव को एक भंडारा दे दो।"[7]

अस्पताल के सभी घर बनकर तैयार हो जाते हैं। सिर्फ मिट्टी साटना बाकी रह गया है। बिरसा माँझी ने कहा है संथाल टोली की सभी औरतें आज आकर मिट्टी लगा देंगी। अगले शनिवार को डागडर बाबू आनेवाले हैं। बालदेव जी डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से सभी सामान ले आए हैं। तहसीलदार के यहाँ कुरसी, ब्रेंच, बड़े-बड़े बक्से में दवा, बाल्टी, कठौता, लोटा आदि सब कुछ रखा हुआ है। पानी का नल लगाया जाएगा और शनिवार को ही महन्थ साहब का भंडारा होगा। सारे गाँव के औरत-मर्द, बूढ़े-बच्चे और अमीर-गरीब को महन्थ साहब पूड़ी-जिलेबी का भोज खिलाएँगे।

वयोवृद्ध जोतखी जी के अनुसार लक्षण अच्छे नहीं हैं। गाँव का ग्रह बिगड़ा हुआ है। किसी दिन इस गाँव में खून होगा और गिद्ध-कौवा उड़ेगा। और यह अस्पताल ? अभी तो नहीं मालूम होगा। जब कुएँ में दवा डालकर गाँव में हैजा फैलावेगा तब समझना।

मेरीगंज में डाक्टर आने के पहले उनका नौकर प्यारू आता है। रौतहट स्टेशन पर जो "हेमापोथी डागडर साहब" थे, प्यारू उनके यहाँ पाँच साल नौकरी कर चुका है। उसने सुना है मेरीगंज में डागडर बाबू आ रहे हैं। अतः प्यारू डागडर बाबू के पास नौकरी करने आ गया है। 'भुरुकुवा' उगने के पहले ही तहसीलदार बैलगाड़ियों को विदा कर चुके हैं। पछियारी टोला के पास अब पाँचों बैलगाड़ियाँ आ रही हैं। अगमू चौकीदार गाड़ियों के आगे-आगे दौड़ता हुआ आ रहा है। उसके कन्धे पर 'रेडी' का बक्सा है—अब सुनिएगा रोज बम्बे, कलकत्ता का गाना। महतमा जी का खबर, पटुआ का भाव सब आएगा इसमें। तार में ठेस लगते ही गुस्सा कर बोलेगा—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बेकूफ'।...'जुलुम बात !'[8] इस तरह 'मैला आँचल' में पूरे राजसी ठाठ-बाट के साथ डागडर बाबू का पदार्पण होता है। वे नवीनता और आधुनिकता के जीवन्त प्रतीक हैं। अपने माथे पर वे 'टोपा' पहने हुए हैं। अपनी अगुवानी में पूरे गाँव को हाथ जोड़े खड़ा देखकर वे भी हँसते हुए हाथ जोड़ देते हैं। उनके चेहरे का रंग एकदम लाल है। "मोंछ नहीं है क्या ?" नहीं मोंछ सफाचट कटाए हुए हैं।

बालदेव जी डाक्टर को सूचना देते हुए कहते हैं कि इस गाँव के महन्थ साहेब ने 'इसपिताल' होने की खुशी में आज गाँववालों को भंडारा दिया है। उनसे भी भोजन करने का आग्रह किया जाता है। वे कहते हैं—"हम अभी नहीं खाएँगे। सबों को खिलाइए !" सचमुच प्यारू पुराना नौकर है क्योंकि डागडर बाबू सबसे पहले साबुन से हाथ धोते हैं। लछमी दासिन टकटकी लगाकर उन्हें देख रही है—"कितना सुन्दर पुरुष है। बेचारे का इस देहात में मन नहीं लग रहा है।..." बाद में अस्पताल खुलने की सूचना रौतहट हाट में शोभन मोची द्वारा ढोल बजाकर दी जाती है।

"मैला आँचल" के नवम परिच्छेद में पृष्ठ 55 पर 'रेणु' अपने पाठकों को डागडर बाबू का पूरा नाम बतलाते हैं—डाक्टर प्रशान्त कुमार। पर केवल नाम पूछने या जानने से ही काम चलनेवाला नहीं है। नाम पूछने के बाद ही आज भी पूर्णिया में लोग पूछते हैं—"जाति ?" जीवन में बहुत कम लोगों ने प्रशान्त से जाति के विषय में पूछा है, लेकिन यहाँ तो हर आदमी जात पूछता है। प्रशान्त हँसकर कहता है—"जाति ? डाक्टर !"

डाक्टर ? जाति डाक्टर !...बंगाली हैं या बिहारी ? "हिन्दुस्तानी !"—दुबारे हँसकर डाक्टर जवाब देता है।

कहना नहीं होगा कि "मैला आँचल" में 'रेणु' ने इस डाक्टर के चरित्र और व्यक्तित्व का अत्यन्त आकर्षक, विश्वसनीय और कलात्मक चित्रण किया है। मेरी दृष्टि में डाक्टर प्रशान्त और मैलेरिया सेंटर का "मैला आँचल" में वही स्थान है जो "गोदान" में होरी और उसकी गाय का है। होरी की तरह उपन्यास का नायक न होते हुए भी वह उपन्यास और पाठकों के आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु तो है ही। अज्ञात कुलशील वाले इस डाक्टर का भले ही कोई "ताल पता" न लगे लेकिन उपन्यास के उस बीहड़ प्रदेश में जहाँ 'रेणु' के शब्दों में "फूल भी है, शूल भी; धूल भी, गुलाल भी; कीचड़ भी, चन्दन भी; सुन्दरता भी, कुरूपता भी" उसका नाम और "जस" तो है ही। "विशुद्ध मिथिला की सुन्दरता" निरमला बाईस कोस दूर से डागडर बाबू को अपनी आँखें दिखलाने के लिए आती है जो एक बूँद आई ड्रॉप के बगैर सदा के लिए ज्योतिहीन हो गई हैं और अब इलाज से परे हैं।

सचमुच इस डाक्टर की मुस्कुराहट बड़ी जानलेवा है। तहसीलदार बाबू विश्वनाथ प्रसाद मल्लिक की इकलौती कुँवारी बेटी कमला तभी तो "प्राणनाथ" के सम्बोधन से उसे पत्र लिखा करती है और बाद में उसके बच्चे कुमार नीलोत्पल की बिनब्याही माँ बनती है। डाक्टर आदमी नहीं, देवता है देवता। गाँव में हैजा फैलने पर वह एक पैसा भी फीस नहीं लेता है और मुफ्त में रात-रात भर जागकर लोगों का इलाज करता है। रेसमलाल कोयरी के इकलौते बेटे को वह 'जम' के मुँह से छुड़ा लेता है। रेसम खुशी-खुशी एक गाय डाक्टर को 'बक्सीस' में देता है, लेकिन डाक्टर उससे कहता है—"अपने लड़के को इस गाय का दूध पिलाओ।...यही हमारा बक्सीस है।"[9]

डाक्टर के कारण कायस्थ टोली, सन्थाल टोली और यादव टोली में एक भी आदमी बीमार नहीं होता है। राजपूत टोली में पाँच-सात आदमी हैजाग्रस्त होते हैं लेकिन डाक्टर सबों को बचा लेता है। प्यारू ठीक ही कहता है—"डाक्टर साहब दुनिया भर को आराम कर रहे हैं लेकिन खुद बीमार होते जा रहे हैं। खाना-पीना तो एकदम कम हो गया है।"[10] आश्चर्य नहीं कि गाँव के लोग डाक्टर को "हैजा डाक्टर" कहने लगते हैं। इसी हैजा के कारण डाक्टर आसपास के पन्द्रह गाँवों का परिचय प्राप्त करता है। बीमार, निराश लोगों की आँखों की भाषा समझने की चेष्टा करता है। झोंपड़ियों में रोगियों को देखकर उठते समय छींके पर टँगी हुई खाली मिट्टी की हाँडियों से उसका सिर टकराता है। सात महीने के बच्चे को बथुआ और पाट के साग पर पलते देखता है। गरीबी, गन्दगी और जेहालत से भरी हुई दुनिया में भी उसने कमला नदी के गड्ढों में खिले हुए कमल के फूलों की तरह सुन्दरता को जन्म लेते हुए देखा है। जिन्दगी के भोर में जो लुभावने, मनोहर और सुन्दर दीखते हैं और सूरज की गर्मी तेज होते ही कुम्हला जाते हैं। शाम होने से पहले की पपड़ियाँ झड़ जाती हैं। डाक्टर के अनुसार कश्मीर के कमल और पूर्णिया के कमल में शायद यही अन्तर है। चैत महीने की एक शाम को कमला के साथ डाक्टर को अस्पताल जाते देखकर पनघट पर स्त्रियों की भीड़ आँखें फाड़कर दोनों को देखती है। झगड़े बन्द हो जाते हैं। पानी भरना रुक जाता है। नजर से ओझल होने के बाद ही फिर सबों के मुँह खुलते हैं—"...कमली अब आराम हो गई। डाक्टर साहब ने इसको बचा लिया।...दोनों की जोड़ी कैसी अच्छी है।...डाक्टर भी कायस्त है क्या ? कौन जात है ? क्या जाने बाबा, इलाज करते-करते कहीं...।"[11]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डाक्टर प्रशान्त की जन्मकथा 'रेणु' ''मैला आँचल'' के नवम परिच्छेद में हमें विस्तारपूर्वक बतलाते हैं। उसकी जन्मदात्री माँ ने मिट्टी की एक हाँडी में डालकर बाढ़ से उमड़ती कोशी मैया की गोद में उसे डाल दिया था। नेपाल-निष्कासित उपाध्याय परिवार ने उन दिनों सहरसा में ''आदर्श आश्रम'' की स्थापना की थी। डाक्टर अजिल कुमार बनर्जी की परित्यक्ता पत्नी स्नेहमयी उसी आश्रम में रहती थी। हाँडी में मिले बच्चे को लाकर जब उपाध्याय दम्पति उसकी गोद में डाल देते हैं तो वह आनन्दविभोर होकर चीख उठती है—''प्रशान्त ?...आमार प्रशान्त !'' उसी दिन से प्रशान्त उसका इकलौता बेटा हो जाता है। निष्कासन समाप्ति के बाद अपनी माँ के साथ प्रशान्त भी उपाध्याय परिवार का ही सदस्य बन जाता है। 1942 के देशव्यापी आन्दोलन में, हाउस सर्जन प्रशान्त को भी बाँकीपुर जेल, पटना में नजरबन्द कर दिया जाता है। 1946 में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल के गठित होने पर वह मन्त्री के बंगले पर जाकर पूर्णिया के किसी गाँव में मैलेरिया कालाआजार पर अनुसंधान करने की स्वीकृति लेकर ही रहता है। पूर्णिया के उस 'बज्र देहात' मेरीगंज पहुँचने के साथ ही वह अनुसंधान शुरू कर देता है। सुबह सात बजे से ही रोगियों की भीड़ लग जाती है। फिर तो पूर्णिया की मिट्टी का मोह उस पर ऐसा सवार होता है कि वह वहीं का होकर रह जाता है। अन्ततः अखिल भारतीय मेडिकल गजट में उसके रिसर्च की रिपोर्ट प्रकाशित होते ही सर्वत्र उसके नाम की धूम मच जाती है। पटना मेडिकल कालेज को इस बात पर असीम गर्व है कि बिहार का एकमात्र मैलेरियोलैजिस्ट उसकी देन है। मेरीगंज का 'बेतार का खबर' लुच्चा सुमरितदास भी उसे सर्टीफिकेट देता हुआ कहता है—''आदमी काबिल है यह डागडर।''

इस तरह डाक्टर प्रशान्त ''मैला आँचल'' का सर्वाधिक सुयोग्य, सजीव, संवेदनशील, विश्वसनीय, परदुखकातर और अतिमहत्त्वपूर्ण पात्र है। हिन्दी उपन्यासालोचन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर डाक्टर गोपाल रायजी के अनुसार वह रेणु की सम्पूर्ण ''संवेदना का वाहक'' प्रतिनिधि, प्रवक्ता, ''सपनों और आदर्श का प्रतीक''[12] है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण सवाल अनायास हमारे समक्ष खड़ा हो जाता है। डॉ. प्रशान्त के चरित्र को इतना जीवन्त, आकर्षक और विश्वसनीय बनाने में आखिर 'रेणु' को इतनी सफलता मिली कैसे ? क्या ''मैला आँचल'' के इस कल्पित पात्र के पीछे हाड़मांस का कोई जीवित व्यक्ति नहीं रहा होगा जिसे रेणु ने अपने जीवन में शायद अत्यन्त निकट से देखा हो ? आपको जानकर आश्चर्य होगा, इस दिशा में खोज करते ही हमें अत्यन्त सुखकर, विस्मयजनक परिणाम मिले। 'रेणु' के घर के बिलकुल पास डाक्टर प्रशान्त के अप्रतिम जीवित प्रतिरूप डाक्टर अलख निरंजन पिछले इकहत्तर वर्षों से अपनी धूनी रमाए बैठे थे। अलमस्त किसी जोगी की तरह अपनी साधना में निमग्न, हिमालय की तरह दिव्योज्ज्वल महामौन को धारण किए हुए। हम उन तक पहुँच पाते इसके पहले ही काल ने उन्हें हमसे छीन लिया। सोमवार, 7 जून 2004 की रात्रि में उनका निधन हो गया।

अलख बाबू अपने जीवन काल में ही मिथक, जीवित किंवदन्ती बन चुके थे। उनका जन्म गुरुवार 24 नवम्बर 190[illegible] को अपनी ननिहाल, ग्राम सिहीन, जिला गया, में हुआ था। नाना का दिया हुआ उनका नाम 'श्री' था। स्वभाव से अतिशय शान्त और गम्भीर होने के कारण बाद में पिता ने उन्हें 'अलख निरंजन' नाम दिया। उनके पिता सत्गुरु प्रसाद भागलपुर के उत्पाद विभाग, एक्साइज, में 'बड़ा बाबू' थे। स्वर्गीय गंगा प्रसाद उनके पितामह थे। उनका मूल पैतृक गाँव 'नन्दलाल बीघा' है जो थाना हसुआ, जिला गया, सम्प्रति जिला नवादा के अन्तर्गत आता है। उनकी माता का नाम श्रीमती विन्ध्येश्वरी देवी था, जिन्हें उनके स्वजन विन्ध्यवासिनी देवी भी कहा करते थे। अलख बाबू अपने भाइयों में सबसे बड़े थे। रेवतीरमण, जगदीशशरण, नारायण प्रसाद और सबसे छोटे भुवनेश्वर प्रसाद सिन्हा उनके भाइयों के नाम थे जिन्हें उन्होंने एक-एक कर अपने जीवनकाल में ही असमय मृत्यु को प्राप्त होते देखा। अपने सभी भाइयों और उनके सभी बच्चों को अलख बाबू ने हमेशा बेटे-जैसा स्नेह दिया और उनके सुख-दुख में वे आजीवन सहभागी बने रहे। 1922 ई. में जिला स्कूल भागलपुर से मैट्रिक और 1925 ई. में टी.एन.जे., सम्प्रति टी. एन.बी. कालेज, भागलपुर से उन्होंने आई.एस.सी. की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। पढ़ने में मेधावी होने के कारण प्राप्तांक के आधार पर उनका चयन मेडिकल और इंजीनियरिंग, दोनों में हो गया था। मेडिकल को प्राथमिकता देकर प्रिंस ऑफ वेल्स मेडिकल कालेज, सम्प्रति पी.एम.सी.एच. पटना के एम.बी.बी. एस. प्रथम बैंच के वे छात्र बने। उस समय स्त्री रोग विज्ञान, गायनिकॉलेजि की पढ़ाई पटना में नहीं होती थी। अतः प्रथम वर्ष गायनिकॉलेजि की पढ़ाई के लिए कालेज की ओर से उन्हें बेंगलोर भेजा गया था। सन् 1931 में उन्हें एम.बी.बी.एस. की डिग्री मिली थी। चिकित्सक बनने की भीष्म प्रतिज्ञा उन्होंने बहुत पहले कर ली थी। टी.एन.जे. कालेज के छात्र काल में उनकी एक बहन बीमार हो गई थी। अर्थाभाव में किसी डाक्टर ने उसकी चिकित्सा नहीं की और वह मर गई। बहन की असामयिक मृत्यु से उनके दिल को गहरी चोट लगी। मन ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन उसी दिन उन्होंने संकल्प लिया कि "मैं डाक्टर बनूँगा और धनाभाव में किसी को मरने नहीं दूँगा।" अपने इस संकल्प को आजीवन उन्होंने न केवल स्मरण रखा वरन् पूरी निष्ठा के साथ उसका परिपालन भी किया।

अलख बाबू के सबसे छोटे अनुज भुवनेश्वर प्रसाद सिन्हा जिस समय मात्र नौ वर्ष के थे, उसी समय उनके माता-पिता का निधन हो गया। अलख बाबू अपने सभी भाइयों के साथ फारबिसगंज में थे। आवागमनादि की दुर्गमता के कारण वे माता-पिता को मुखाग्नि देने से भी वंचित रह गए। यह पुनीत कार्य भागलपुर निवासी कामेश्वर सहाय उर्फ पत्तो बाबू ने किया। उनके इस शानदार सामाजिक कृत्य से उपकृत और अभिभूत अलख बाबू ने उनकी एक पुत्री को अपनी पुत्रवधू बनाने का वचन दिया। कालान्तर में पत्तो बाबू की पुत्री सरोज की शादी अपने चौथे पुत्र श्यामनिरंजन के साथ सम्पन्न करवाकर उन्होंने उसे अपनी पुत्रवधू बनाया। बाद में श्याम निरंजन की असामयिक मृत्यु हो जाने पर उन्होंने सरोज को न केवल पढ़ाया-लिखाया और अपने पैरों पर खड़ा किया वरन् उसके सभी बच्चों की शिक्षा-दीक्षा और शादी-विवाह का भी यथोचित प्रबन्ध किया। सरोज आज भी महिला कालेज, अररिया में प्राध्यापिका हैं।[13] स्व. श्यामनिरंजन अररिया में अधिवक्ता थे।

अलख बाबू की शादी 1921 ई. में हुई थी। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सीता देवी सेवा, त्याग, ममता, वात्सल्य और कर्मठता की देवी थीं। अपने चारों देवरों, देवरानियों और उनके बच्चों को उन्होंने हमेशा अपना स्नेह दिया। पति से उनके सम्बन्ध आजीवन मधुर बने रहे। वे जैसे एक-दूसरे के लिए ही बने हुए थे। दोनों के दोनों धर्मपरायण, दानशील और उदारमना थे। ईश्वरानुकम्पा में अडिग विश्वास के कारण उन्होंने न कभी अपनी चिन्ता की न अनागत भविष्यत् की। दुर्दिन और वृद्धावस्था के लिए भी उन्होंने कभी कोई कोष जमा नहीं किया। दूसरों की सुख-सुविधा का सदा ख्याल रखा और गृहागत अतिथियों के स्वागत-सत्कार में कुछ भी उठा नहीं रखा। सुदीर्घ दाम्पत्य जीवन में सीता देवी हमेशा अपने पति परमेश्वर की 'मनोरमा मनोवृत्तानुसारणीम्' सखि, सचिव, गृहिणी बनी रहीं। 'दूधों नहाओ पूतों फलो' के प्राचीन भारतीय आशीर्वचनानुसार निरंजन दम्पति को नौ पुत्र और तीन पुत्रियाँ हुईं। जन्म क्रमानुसार उन सबों के नाम इस प्रकार हैं—

1. अवध निरंजन, 2. डाक्टर देव निरंजन, 3. लीला, 4. डाक्टर शिव निरंजन, 5. श्याम निरंजन, 6. डाक्टर गोपाल निरंजन, 7. प्रमिला, 8. इंजीनियर ललित निरंजन, 9. डाक्टर अजीत निरंजन, 10. डाक्टर अशोक निरंजन, 11. डाक्टर रीता निरंजन, 12. नवीन निरंजन। इनमें अवध निरंजन और श्याम निरंजन असमय भगवान को प्यारे हो गए। अपने पति परमेश्वर और बृहत्तर परिवार के सम्पूर्ण दायित्वों का अतिखूबसूरती के साथ निर्वहन करते हुए विगत वर्ष मंगलवार, 14 जनवरी 2003 को पावन मकर संक्रान्ति के पर्व दिन सीता देवी सुहागिन स्वर्ग सिधार गईं।

अलख बाबू शान्त, सात्विक प्रवृत्ति के साँवले छरहरे मितभाषी पुरुष थे। सरलता, सादगी और निष्कपटता उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे हमेशा प्रसन्नचित्त रहा करते थे। अवसाद, असन्तोष या झुँझलाहट की कोई रेखा कभी उनके आनन को म्लान नहीं कर सकी। ईश्वर में अटूट आस्था के बावजूद वे काम को ही पूजा और पीड़ित मानवता की सेवा को ही सच्ची ईश्वर सेवा समझते थे। उनका कहना था—"पूजा मन की चीज़ है। मैं मन से दुखी मनुष्यों की सेवा करता हूँ और मैं सुखी सन्तुष्ट हूँ।"[14] अपने तन-मन के स्वास्थ्य और घर-गृहस्थी को उन्होंने वित्तात्मानुशासन से सँभाल-संजोकर रखा था। वे अल्पहारी थे पर सुरुचिपूर्ण, सुस्वादु भोजन के प्रेमी और प्रशंसक थे। सोमवार 4.10.04 को उनके पंचम पुत्र डाक्टर गोपाल निरंजन, जन्मतिथि 15.4.1940, ने मुझे बताया कि "अलख बाबू सालों भर लगभग एक ही खाना खाते थे। दिन में चावल-दाल, सब्जी, रात में चार रोटियाँ और दूध। मांस-मछली बहुत कम। कभी-कभार !" कबीर की तरह वे भी जस की तस चदरिया धर देनेवाले मस्तमौला सन्त गृहस्थ और फकीर थे। वृद्धावस्था के अतिरिक्त उन्हें कभी कोई बीमारी नहीं हुई। जीवन के अन्तिम दिनों तक वे रुग्ण मानवता की सेवा करते रहे। परिचितों, पत्रकारों ने जब भी उनसे उनके सुन्दर स्वास्थ्य का राज पूछा, हमेशा उन्होंने एक ही जवाब दिया—"कम भोजन और ज्यादा काम; लेस फूड एंड मोर वर्क।" वे सुबह-शाम दिन में केवल दो बार चाय लिया करते थे।

'कैपस्टन' सिगरेट अलख बाबू की एकमात्र सबसे बड़ी दुर्बलता थी। बीस लम्बे वर्षों तक वे "चेन स्मोकर" बने रहे। बुझती सिगरेट से वे हमेशा दूसरी सिगरेट सुलगा लिया करते थे। एक बार जब उन्हें अपने एक सिगरेट-प्रेमी मरीज में कैंसर के लक्षण दृष्टिगोचर हुए तो उन्होंने तत्काल सिगरेट छोड़ दी। डाक्टर सत्येन्द्र कुमार सिन्हा 'निगम' के अनुसार स्वयं अलख बाबू के गले में दर्द हुआ था और तब उन्होंने कैंसर के भय से सिगरेट छोड़ दी थी।[15] खैर, जो भी हो, दृढ़ संकल्पी होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण उन्होंने फिर कभी दुबारा सिगरेट का सेवन नहीं किया।

आदमी तो आदमी, अलख बाबू को जानवरों से भी बेहद प्यार था। उनके पास पालतू पशु-पक्षियों की कोई कमी नहीं थी। हाथी-घोड़ा, गाय-कुत्ता, बतख-मुर्गियाँ और न जाने क्या-क्या उन्होंने फारबिसगंज में पाल रखे थे। पहले वे घोड़ा या घोड़ागाड़ी पर मरीजों को देखने निकला करते थे। घोड़ा चोरी चले जाने के बाद उन्होंने रिक्शा से यह काम लेना प्रारम्भ कर दिया था। बमभोला भग और तीरपति भग उनकी गाड़ी के चालक थे। योगेश्वर पासवान तथा लखन राय रिक्शाचालक और अभी पासवान कोचवान थे। बद्री कामत, बुच्चूराय, बिन्देश्वरी यादव निजी सेवक सहायक, दैनी चौबे और जगन भग पाक प्रबन्धक/खानसामा और इनके अतिरिक्त ढेरों कम्पाउंडर, टेकनीशियन, ड्रेसर, नर्सें और स्वीपर थे। कुर्बान अली, मोहिउद्दीन, मकसूद कालीपद घोष, हरि बाबू और वृजमोहन प्रसाद वर्मा आदि उनके 'प्यारू' जैसे प्यारे कम्पाउंडर थे।[16]

अलख बाबू कवि-साहित्यकार, 'वर्तिका' त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका के प्रधान सम्पादक और पूर्णिया के सुख्यात चिकित्सक डाक्टर सत्येन्द्र कुमार सिन्हा 'निगम' के आदरणीय फूफा थे। अपने फूफा के पहनावे/परिधान के सम्बन्ध में जानकारी देते हुए डाक्टर निगम कहते हैं—"डाक्टर साहब प्रायः धोती और लम्बा बुशर्ट धारण किए रहते और धोती के ऊपर चमड़े का एक बेल्ट लगा रहता।" हाफ पैंट पहनकर भी वे अपने मरीजों को प्रायः देखने जाया करते थे। उनमें सच्चे सुपरमैन, महामानव के सभी गुण विद्यमान थे। उदारमना होने के साथ ही वे निरभिमानी और निर्भीकमना भी थे। 1972 के विधानसभा चुनाव में प्रत्याशी बनकर 'रेणु' फारबिसगंज पहुँचे। पूर्व विधायक सरयू मिश्र का शहर में खूब दबदबा था। उनके विरोध में खुलकर 'रेणु' की मदद के लिए वहाँ न कोई तैयार हुआ, न चुनाव कार्यालय खोलने के लिए ही कहीं जगह मिली। वे अलख बाबू के पास आए। अलख बाबू ने उनकी हरसम्भव मदद की और चुनाव कार्यालय खोलने के लिए अपना गोदाम, परिसर भी दे दिया। सरयू बाबू को यह सब अच्छा नहीं लगा, पर वे अलख बाबू का करते क्या ? सरयू बाबू के लिए बाद में वोट माँगने जब उनके मित्र नाजो मिश्र पहुँचे तो अलख बाबू ने उनसे स्पष्ट कहा—"मैं आपको वचन देता हूँ कि अपनी पत्नी के साथ सरयू बाबू को ही वोट दूँगा परन्तु मैं परिवार के अन्य सदस्यों को इसके लिए बाध्य नहीं करूँगा।"[17]

फारबिसगंज में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के आतिथ्य और वाहन प्रबन्धन का सौभाग्य अलख बाबू को सहज सुलभ हो गया था। स्वतन्त्रता संग्राम हेतु डाक्टर दम्पति ने 1936 में महात्मा जी को मुक्तहस्त होकर धनराशि दी थी। राष्ट्रपति बनने के पूर्व और पश्चात् डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और बाबू जगजीवनराम प्रभृति राष्ट्रीय राजनेता जब भी फारबिसगंज जाते, अलख बाबू के यहाँ ही उनके रहने और खाने-पीने की व्यवस्था होती थी। स्व. ललितनारायण मिश्र छात्र जीवन से ही उनके अनन्य मित्र थे। नेपाल के बी.पी. कोइराला, एम.पी. कोइराला उनके मित्र और मरीज दोनों थे। सुप्रसिद्ध लेखक 'द्विजदेनी' जी, रेणु जी और अमरचन्द दास से उनके अन्तरंग आत्मीय सम्बन्ध थे। पैसे को कभी कोई महत्त्व न देकर उन्होंने सदैव मनुष्य और उसकी गरिमा को सर्वोच्च सम्मान और स्थान दिया। उनकी उच्चाशयता को देखते हुए अपने सारे पुरातन मतभेदों को भुलाकर सरस्वती और लक्ष्मी ने 'निरंजन परिवार' को अपना शाश्वत निवास बना लिया है। सामाजिक शैक्षिक उत्थान की दिशा में भी अपनी व्यस्तता के बावजूद उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। फारबिसगंज के एकमात्र उच्च विद्यालय 'ली एकेडमी' के वे वर्षों व्यवस्थापक सचिव रहे। उच्च शिक्षा, तकनीकी शिक्षा और स्त्री शिक्षा के भी वे पुरोधा, पंडित और अग्रदूत थे।

पटना विश्वविद्यालय से सन् 1931 में एम.बी.बी.एस. की डिग्री प्राप्त करने के बाद वे दो वर्षों तक गया में निजी प्रैक्टिस करते रहे। प्रभारी चिकित्सक के रूप में चयनित होकर सन् 1933 ई. में उन्होंने फारबिसगंज अस्पताल में अपना योगदान दिया। नगरपालिका और पूर्णिया जिला परिषद् द्वारा समवेत रूप से संचालित वह छोटा-सा अस्पताल टीनू निर्मित एक कच्चा मकान में अवस्थित था जिसे उन्होंने बाद में विस्तारित कर एक बड़े सरकारी अस्पताल में परिणत कर दिया था। 1933 में पूर्णिया मैलेरिया, कालाआजार जैसी भयावह बीमारियों का क्रीडांगण बना हुआ था। 'काला पानी' के रूप में कुख्यात पूर्णिया के लिए लोकोक्ति ही बन गई थी—

"जहर खाय नै माहुर खाय
मेरे के हुए ते पुरैनिया जाय।"

पटना-गया से पूर्णिया-फारबिसगंज जाना उस समय स्वेच्छया यमपुरी जाने जैसा था। मार्ग भी अत्यन्त दुष्कर और चुनौतीपूर्ण था। महेन्द्रू घाट से उफनती गंगा नदी को जहाज से और कुरसैला में कोशी नदी को नाव से पार करना पड़ता था। अपने प्राणों की बिना कोई परवाह किए किसी देवदूत की तरह अलख बाबू वहाँ पहुँच जाते हैं। मैलेरिया-फलेरिया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैजा-घेघा-कालाआजार, डायरिया, पेचिश एवं जलजनित नाना बीमारियों से त्राहिमान करती मानवता के असली त्राता और प्राणदाता बन जाते हैं। उस समय न वहाँ कोई दवा की दुकान थी, न कहीं कोई पेटेंट दवा ही मिलती थी। जंगली जड़ी-बूटियों, झाड़-फूँक, ओझा-गुणी, डायन-जोगिन और टोना-टोटका पर ही चिकित्सा का सारा दारोमदार था। सम्पूर्ण कोशी इलाके में वे अकेले एम.बी.बी.एस. थे। नाड़ी-परीक्षण और रोग-निदान में उनका न कोई विकल्प था, न जवाब। मात्र एक कम्पाउंडर और स्वीपर की सहायता से लोगों की सेवा में वे समर्पित निष्ठा के साथ जुट जाते हैं। स्वयं मिक्सचर बनाकर अस्पताल में रोगियों को देते हैं। इलाज, मरहम-पट्टी, सूई देने का काम सुबह-शाम अविराम करते रहते हैं। "डागडर बाबू की सूई में जादू है"—ऐसा उनके मरीजों का कहना था। अस्पताल आने में असमर्थ रोगियों तक चाहे जैसे भी हो तमाम व्यवधानों को पारकर वे पहुँच ही जाया करते थे। हाथ में कैप्स्टन सिगरेट, गले में आला लटकाए अपने मेडिकल बॉक्स के साथ हाथी, घोड़ा, टमटम, रिक्शा, सायकिल या फिर पाँव-पैदल वे सर्वत्र किसी-न-किसी तरह पहुँच जाया करते थे। हाफ पैंट में भी, कीचड़-पानी की परवाह किए बिना। अपने घर पर या चिकित्सार्थ मरीजों के घर जाने पर उन्होंने अपने जीवन में कभी किसी से फीस की माँग नहीं की। आदर, श्रद्धा, सामर्थ्य या हर्षातिरेक में मरीज जब जहाँ जो कुछ उनके हाथ में रख देते थे, उसे बिना देखे, सुने, गिने वे चुपचाप अपनी जेब में रख लिया करते थे—जिसने दिया उसका भी भला और जिसने न दिया उसका और भी भला। उन्होंने निर्धन से निर्धन मरीजों की न केवल सहर्ष सेवा की वरन् दवा, भोजन और रुपयों से भी उनकी हमेशा सहायता की। डाक्टर निगम के साक्ष्य के अनुसार वे दूसरे डाक्टरों को भी इसके लिए प्रेरित किया करते थे। पूर्णिया जाने पर डाक्टर निगम से भी वे बराबर कहा करते थे—"कुछ गरीबों का मुफ्त इलाज अवश्य करना।"[18] अररिया, जोगबनी, फारबिसगंज, पूर्णिया, सहरसा की कौन कहे, सीमांचल पर अवस्थित होने के कारण पड़ोसी देश नेपाल से भी बड़ी संख्या में राजा और रंक हमेशा उनके पास आते रहते थे। 'रेणु' समेत नेपाल के पूर्व प्रधानमन्त्रियों बी.पी. कोइराला और एम.पी. कोइराला की चिकित्सा उन्होंने की थी। तत्कालीन जिलाधिकारी, प्रमंडलाधिकारी, स्थानीय जीवन बीमा निगम, भारतीय स्टेट बैंक के अतिरिक्त नेपाल नरेश महाराज महेन्द्र बीर विक्रम सिंह देव और महाराज वीरेन्द्र बीर विक्रम सिंह देव आदि के भी वे चिकित्सक और चिकित्सा सलाहकार रह चुके थे। आवश्यकता होने पर नेपाल नरेश के लिए जरूरत की दवाएँ भी अलख बाबू फारबिसगंज से भेजा करते थे। डाक्टर वसीम बरेलवी की तरह वे भी खुदा से कहते रहते थे—

"खुदा हमको ऐसी खुदाई न दे
कि अपने सिवा कुछ दिखाई न दे !"

रोगियों के लिए उनके घर के दरवाजे हमेशा खुले रहते थे। निस्तब्ध रात्रि में भी हल्की-से-हल्की आवाज या फिर द्वार पर दस्तक होते ही वे बिना किसी विलम्ब, अनुनय आलस्य के उपचार हेतु सहज समुपलब्ध और प्रस्तुत हो जाया करते थे। लोगों की उनमें इतनी अडिग आस्था थी कि मरता हुआ आदमी भी उनके यहाँ से हँसता हुआ जाता था। अस्वस्थ, आर्तजनों के अधरों पर खिली यही मुस्कान अलख बाबू की असली कमाई और पहचान थी। सर्पदंश से पीड़ित एक निर्धन व्यक्ति एक बार उनके आवास पर आया। कम्पाउंडर ने कहा—"सूई नहीं है ?" विश्वास से भरे उस व्यक्ति ने उलटकर तत्काल कहा—"तो क्या ? डागडर बाबू हैं ना ! सब ठीक हो जाएगा।" डाक्टर साहब ने उसका उपचार किया और वह ठीक होकर ही गया। वस्तुतः वे पीड़ितों के भगवान और गरीबों के मसीहा थे। उनके रिक्शाचालक योगेश्वर पासवान के समक्ष सबसे बड़ा यक्ष प्रश्न यही था कि—"बाबू के आँख मुँदने के बाद गरीबों को कौन देखेगा ?" कुढ़ैली के लक्ष्मी पंडित जैसे लोगों का कहना था कि "हम लोगों की दुआ ही डागडर बाबू को मरने नहीं देती।"[19]

अलख बाबू सन् 1964 ई. में सरकारी सेवा से मुक्त हो जाते हैं। उनकी सेवा-निवृत्ति के कुछ दिनों के बाद ही पूर्णिया से डाक्टर निगम अपने फूफा से मिलने फारबिसगंज जाते हैं। पूर्वाह्न में 'निरंजन निकेतन' पहुँचकर उन्होंने देखा अपने गृह परिसर में काठ की एक साधारण कुर्सी पर विराजमान डाक्टर साहब चालीस-पचास मरीजों से घिरे उन्हें देखने में व्यस्त हैं। सामने मेज पर सिरिंज और दवाएँ रखी हुई हैं। रोग परीक्षणोपरान्त आवश्यकता होने पर वे स्वयं रोगियों को सूई भी लगा दिया करते हैं। परीक्षण समापन के बाद उन्होंने दिन का भोजन डाक्टर निगम के साथ लिया फिर बिछावन पर लेटकर उनसे बात करने लगे। इस बीच रोगी और उनके परिजन सलाह के लिए बेरोकटोक आते-जाते रहे। डागडर बाबू ने घर के भीतर तक आने-जाने का जैसे उन्हें जन्मसिद्ध अधिकार दे रखा था। उनके परिसर में पहुँचते ही आश्वस्त रोगी की आधी से ज्यादा बीमारी स्वतः भाग जाया करती थी। संध्या समय बाजार में घूम रहे डाक्टर निगम ने सहसा रिक्शा पर सवार अपने डाक्टर फूफा को देखा। किसी पुराने रोगी को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखकर रिक्शा बीच बाजार में रुकता है। मेडिकल बॉक्स से सिरिंज निकालकर वे वहीं रिक्शा पर बैठे-बैठे उसे सूई दे देते हैं और फिर रिक्शा आगे बढ़ जाता है। डाक्टर निगम अपने संस्मरण में लिखते हैं—"मुझे ऐसी डाक्टरी पर आश्चर्य हुआ किन्तु किसी डाक्टर की ऐसी सेवा पर मन्त्रमुग्ध हुए बिना नहीं रह सका। डाक्टर साहब का हर क्षण रोगियों की सेवा में समर्पित था। न पैसों का झमेला न अन्य कोई झंझट, न समय की प्रतीक्षा न ही अवसर का संकोच।"[20]

अलख बाबू आजीवन अविवादित अजातशत्रु धन्वन्तरि बने रहे। चौदह रत्नों में वे सबसे दिव्य और विलक्षण थे। स्वाधीनता का राष्ट्रीय संग्राम हो, पीड़ित मानवता को परित्राण देने का प्रश्न हो या अपने वृहत्तर संयुक्त परिवार के संचालन, सम्पोषण, शिक्षण का महत्तर दायित्व हो, वे बोलते कम और काम ज्यादा करते थे। आदिकवि वाल्मीकि के वचन "न कथनात् सत्पुरुष भवन्ति" अर्थात् सिर्फ बात बनाने से कोई सत्पुरुष नहीं बन सकता, को उन्होंने अपने जीवन का मूल मन्त्र बना रखा था। "वसुधैव" को "कुटुम्ब" मानकर आजीवन उन्होंने मानवता की सेवा की। अपना-पराया, छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच की भावना से बहुत ऊपर उठकर वे समदर्शी सन्त पुरुष थे। सबों की सहायता के लिए वे सदैव तत्पर रहा करते थे। उनके पंचम पुत्र डाक्टर गोपाल निरंजन ने मंगलवार 28.9.2004 को मुझे बताया कि बाबूजी ने कदम-कदम पर 'रेणु' जी की सहायता की थी। अध्ययन-लेखन में भी, रुग्णावस्था में भी और 1972 के फारबिसगंज विधानसभा चुनाव में भी।

'जीवेम शरदः शतम्' के प्राचीन भारतीय आशीर्वचन को अक्षरशः चरितार्थ करनेवाले अलख बाबू कभी अपना जन्मदिन नहीं मनाया करते थे। विगत वर्ष सोमवार, 24 नवम्बर 2003 को उनके सौवें वसन्त पर उनके स्वजनों, परिजन-पुरजनों ने एक अविस्मरणीय समारोह का आयोजन किया था। जन्मोत्सव के इस पावन अवसर पर 'निरंजन परिवार' ने उनकी स्मृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए 44 पृष्ठों की एक छोटी-सी अतिमोहक सचित्र पुष्पांजलि पुस्तिका का फारबिसगंज में लोकार्पण किया था। डाक्टर गोपाल निरंजन के स्नेह-सौजन्य से मुझे इसकी एक प्रति शुक्रवार 1.10.2004 को मिल गई है। हमें हार्दिक दुख है कि जन्मशताब्दी वर्ष के आयोजन के पूर्व ही अलख बाबू इस संसार से विदा हो गए।

"मैला आँचल" के पृष्ठ आठ पर मेरी की कब्र पर लेटा पगला मार्टिन रो-रोकर बारम्बार कहता है—"डार्लिंग, डाक्टर नहीं आएगा।" मेरी और मार्टिन की दर्दनाक त्रासद मौत के बाद ही सही "मैला आँचल" के पृष्ठ पैंतालीस पर डाक्टर प्रशान्त का शुभागमन होता है। सोमवार, 7 जून 2004 की अर्द्धरात्रि के ठीक बाद, एक-डेढ़ बजे, डाक्टर प्रशान्त के जीवित प्रतिरूप डाक्टर अलख निरंजन का देहावसान हो जाने के बाद अब कभी "मैला आँचल" के अप्रतिम "डागडर बाबू" को हम इस दुनिया में नहीं देख पाएँगे। सुदूर ग्रामीण अंचल की महिलाएँ बेतकल्लुफ होकर अब शायद कभी किसी से नहीं कह पाएँगी—"डागडर बाबू हो, बच्चा के डागडरनी से देखलाय लेलियै। माथा पर हाथ राखि दोहों जे से बच्चा ठीक होय जाए।"[21]

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की मृत्यु पर विश्वविख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने कहा था कि "आनेवाली पीढ़ियाँ इस बात पर विश्वास नहीं कर पाएँगी कि हाड़मांस का यह पुतला कभी धरती पर चलता होगा।" अलख बाबू के सम्बन्ध में भी मुझे आइंस्टीन की यह उक्ति शत-प्रतिशत सही और सटीक लगती है। अलख बाबू इंसान नहीं, इंसान के रूप में चलते-फिरते स्वयं शंकर भगवान थे—अवढरदानी, अलख निरंजन, भगवान भूतभावन। पूर्णिया, अररिया, फारबिसगंज की स्मृति और साहित्य संस्कृति की दुनिया में वे चिरकाल तक अमर अनश्वर बने रहेंगे। उनकी यशःकाया जरा-मरण के भय से परे है। सच में ऐसी प्राणवन्त विभूतियाँ सहस्राब्दियों के बाद पैदा होती हैं—

"हजारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा !!"

चमन के इस अनमोल रतन, अब अदृश्य अगोचर नभचारी अलख निरंजन को हमारा शत-शत नमन ! वन्दन-अभिनन्दन, पुष्पांजलि अर्पण।

हाँ, अन्त में निवेदन है कि समय शेष है अब भी। अतः माननीय महामहिम राष्ट्रपति जी डॉ. एपीजे अब्दुल कलाम साहब को इस महामानव डॉ. अलख निरंजन को "मरणोपरान्त भारत रत्न" का अलंकरण देकर गम्भीर राष्ट्रीय अपराध का त्वरित परिमार्जन कर लेना चाहिए।

"मैला आँचल" का एक विलक्षण वैशिष्ट्य यह भी है कि उसने डाक्टर प्रशान्त, डाक्टर अलख निरंजन और इन दोनों के कल्पक-अन्वेषक उपन्यासकार 'रेणु' तीनों को शाश्वत अमरता प्रदान कर दी है। 'राजतरंगिणी' में महाकवि कल्हण ने ठीक ही लिखा है कि अमृत पीने से केवल पीनेवाला ही अमर बन सकता है, लेकिन कवि की वाणी दोनों के शरीर को अमर बना देती है। ओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदर्भ

1. फणीश्वरनाथ 'रेणु', मैला आँचल, एक आंचलिक उपन्यास, समता प्रकाशन, पटना-4, प्रथम संस्करण, 1954, सवा चार रुपए, मुद्रक यूनियन प्रेस, पटना-4, सजिल्द, पृष्ठ 409, प्राप्ति स्थान—सकलदेव शर्मा का व्यक्तिगत पुस्तकालय, दरभंगा-846001
2. उपरिवत्, पृ. 3
3. उपरिवत्, पृ. 7
4. उपरिवत्, पृ. 8
5. उपरिवत्, पृ. 12
6. उपरिवत्, पृ. 13
7. उपरिवत्, पृ. 22
8. उपरिवत्, पृ. 45
9. उपरिवत्, पृ. 183
10. उपरिवत्, पृ. 184
11. उपरिवत्, पृ. 186
12. उपन्यास की पहचान, मैला आँचल, गोपाल राय, अनुपम प्रकाशन, पटना-4, प्रथम सं. 2000, मूल्य 40.00, अजिल्द, द्रष्टव्य पृष्ठ-III
13. सरोज निरंजन का संस्मरण, पुष्पांजलि, पृ. 13-14
14. डॉ. अलख निरंजन, "ए लाइफ डेडीकेटेड टू सर्विस", प्रो. एम.एल. शर्मा, पुष्पांजलि, पृ. 42
15. पुष्पांजलि, पृ. 23
16. डॉ. गोपाल निरंजन, पुष्पांजलि, पृ. 9-10
17. डॉ. अजीत निरंजन, पुष्पांजलि, पृ. 26
18. डॉ. सत्येन्द्र कुमार निगम, पुष्पांजलि, पृ. 23
19. पुष्पांजलि, पृ. 33
20. पुष्पांजलि, पृ. 23
21. पुष्पांजलि, पृ. 24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य का अभिलेख के रूप में पाठ

संदर्भ—हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन

भगवान सिंह

यूँ तो भारतविदों की दुनिया एक नक्षत्रलोक है, परन्तु इनके बीच भी वासुदेवशरण अग्रवाल इतने तेजस्वी दिखाई देते हैं कि उनका मूल्यांकन करते समय सन्तुलित रह पाना कठिन हो जाता है। उन्हें कुछ ऐसे सुयोग मिले थे जिनमें से किसी एक या कई से दूसरे भारतविद और इतिहासकार वंचित रहे हैं। इनमें जो चार महत्त्वपूर्ण घटक हैं, वे हैं, संस्कृत का उनका आधिकारिक ज्ञान और स्रोत सामग्री तक सीधी पहुँच; क्यूरेटर के रूप में लम्बे समय का अनुभव जिससे वह कलावस्तुओं से बारम्बार गुजरने और एक-एक की बारीकी को समझने का अवसर पा सके; भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में मध्येशियाई दीर्घा में अधीक्षक के पद पर उनका अनुभव,[1] और अन्ततः देश के एक शीर्ष विश्वविद्यालय में इतिहास और पुरातत्व विभाग में अध्यापन का अवसर।

अग्रवालजी के लेखन में सबसे ऊँचा स्थान उनके उन अध्ययनों का है जो उन्होंने किन्हीं ग्रन्थों को केन्द्र में रखकर किए हैं। इनकी संख्या भी कम नहीं है। अष्टाध्यायी, महाभारत, हर्षचरित, कादम्बरी, पद्मावत सभी के विवेचन ऐसे हैं जैसे उनसे पहले या बाद में देखने में नहीं आते। इसी कोटि में हम ऋग्वेद के कुछ अंशों की व्याख्याओं और उनकी समीक्षा को भी रख सकते हैं। उनकी प्रखरता, गहनता, व्याप्ति और मौलिकता को समझने के लिए उनके समग्र लेखन पर विचार करने की अपेक्षा, उनकी किसी एक-दो कृतियों को केन्द्र में रखकर विचार करना अधिक उपयोगी हो सकता है। इसलिए हमारा इरादा *हर्षचरित* और *कादम्बरी* पर, जो 'कहियत भिन्न न भिन्न' की कोटि में आते हैं, उनके सांस्कृतिक अध्ययनों तक अपने को सीमित रखने का था। फिर यह ध्यान आया कि अग्रवालजी ने स्वयं इन दोनों का एक साथ अध्ययन करने का विचार कुछ सोचकर छोड़ दिया था :

> *मेरा पहले यह विचार था कि ऊपर अंक छः में निर्दिष्ट कादम्बरी और हर्षचरित की पूरी सांस्कृतिक सामग्री का ऐतिहासिक विवेचन करूँगा। किन्तु शीघ्र ही मुझे प्रतीत हुआ कि इस प्रकार के पुष्कल कार्य के लिए पहले दोनों ग्रन्थों का पृथक्-पृथक् अध्ययन आवश्यक है।*[2]

अतः हमने भी अपने निबन्ध को हर्षचरित तक ही सीमित रखा।[3] यह स्वीकार करना होगा कि इस पुस्तक में ही उपलब्ध विपुल सामग्री के साथ पूरा न्याय किसी एक लेख में सम्भव नहीं है। अग्रवालजी क्षीण-से-क्षीण सूचना की इतनी बारीकी में उतरकर जाँच करते हैं कि उसका फलक बहुत व्यापक हो जाता है। आरम्भ में

बी-194, महाराणा प्रताप एन्क्लेव, रानी बाग, दिल्ली-110034

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी शैली भाष्यकारों के अधिक निकट थी। आगे चलकर इसमें पुरातत्व की उत्खननविधि का भी समावेश हो गया और इसमें ऐसी समृद्धि आ गई। उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास की इतनी गुत्थियाँ सुलझाई हैं कि हम कह सकते हैं कि वासुदेवशरण अग्रवाल के लेखन से अपरिचित व्यक्ति भारतीय इतिहास को नहीं जानता। अधिकारी माने जानेवाले विद्वानों को हम आज भी ऐसे प्रश्नों पर भी अँधेरे में तीर मारते पाते हैं जिनका बहुत सन्तोषजनक समाधान अग्रवालजी की कृतियों में सुलभ है।

अभी हाल के दिनों में एक विवाद प्रो. इर्फान हबीब और सुवीरा जायसवाल ने अपनी उस रपट में खड़ा कर दिया था जिसमें, दूसरी अनेक हास्यास्पद बातों के साथ, उन्होंने सुझाया था कि रेशम भारत में मुसलमानों के साथ तेरहवीं शती में आया था। वे डॉ. मक्खनलाल की पुस्तक में दी गई इस सूचना का खंडन कर रहे थे कि भारत को रेशम उत्पादन की जानकारी चीन से प्राप्त हुई थी। ये सभी पेशेवर और अनुभवी इतिहासकार हैं। इनकी मूल्यवान जानकारियों को हम *हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन* के कुछ अंशों की रोशनी में रखकर देखें :

> *बाण ने छः प्रकार के वस्त्र कहे हैं—क्षौम, बादर, लालातन्तुज, अंशुक और नेत्र। इनमें से बादर का अर्थ कार्पास या सूती कपड़ा है। शेष चारों के निश्चित अर्थ के बारे में मतभेद है।...क्षौम अवश्य ही आसाम में बननेवाला एक कपड़ा था, क्योंकि आसाम के कुमार भास्कर वर्मा ने हर्ष के लिए जो उपहार भेजे थे उसमें क्षौमवस्त्र भी शामिल थे।*[4]
>
> *...अंशुक दो प्रकार का था, एक भारतीय और दूसरा चीन देश से लाया हुआ जो चीनांशुक कहलाता था।...अंशुक वस्त्र को कुछ विद्वान मलमल समझते हैं।...यह प्रश्न मौलिक है कि अंशुक सूती वस्त्र था या रेशमी। बाण ने अंशुक वस्त्र को अत्यन्त ही झीना और स्वच्छ वस्त्र माना है। इस विषय में जैन आगम के अनुयोगद्वार सूत्र की साक्षी का प्रमाण उल्लेखनीय है। इसमें कीटज वस्त्र पाँच प्रकार के कहे गए हैं—पट्ट, मलय, अंसुग, चीनांसुय और किमिराग।...किमिराग सुनहरी रंग का मूँगा रेशम ज्ञात होता है।*

वासुदेवशरण अग्रवाल हर्षचरित में प्रयुक्त लालातंतुज की व्याख्या करते हुए लिखते हैं :

> *लालातंतुज का अर्थ शंकर ने कौशेय अर्थात् रेशम किया है। सम्भवतः यह पत्रोर्ण या पटोर रेशम था जिसे क्षीरस्वामी ने कीड़ों की लार से उत्पन्न कहा है (लकुचवटादिपत्रेषु कृमिलालोर्णाकृतं पत्रोर्णम्)। गुप्तकाल में पत्रोर्ण धुला हुआ रेशमी बहुमूल्य कपड़ा समझा जाता था। यदि लालातंतुज और पत्रोर्ण दोनों पर्याय हों तो यह वस्त्र भी अत्यन्त प्राचीन था।*[5]

भारत में पहले से रेशम उत्पादन की लम्बी परम्परा थी। इसमें एक ही नया तत्व जुड़ा था। वह था गुप्तकाल में चीनी रेशम का आयात। न तो भारत में रेशम उत्पादन मुसलमानों[6] के साथ आया, न ही इसका परिचय भारत को चीनियों से मिला।[7]

केवल वस्त्र-उत्पादन ही नहीं, पक्के रंगों का प्रयोग और इनके विविध उपयोग भी भारत में बहुत पहले से हो रहे थे और इस मामले में इसकी अग्रता दूसरे देशों को चकित करती थी।

> *रंगों की दृष्टि से नीलांशुक की जाली मुँह पर डाली जाती थी (32), नीलांशुक चादर (प्रच्छद-पट) पलंग पर ढकने के काम आती थी (का. 186), पाटल पट्टांशुक अनुमरण करनेवाली सती का मंगल-चिह्न माना जाता था (165), मन्दाकिनी के प्रवाह की भाँति सितांशुक व्रत पालनेवाली स्त्रियों का वेष (वेश) था (60), इन्द्रायुधजालवर्णांशुक (सतरंगी इन्द्रधनुष की छटा वाला वस्त्र) उस समय (का. 176) श्रेष्ठ माना जाता था जो बहुधा अजन्ता के चित्रों में मिलता है जिसमें कई रंगों की पट्टियाँ डालकर रँगाई की जाती थी, रक्तांशुक जिसका शिरोवगुंठन मालती और चांडाल-कन्या के वेष (श) में कहा गया है, वर्णांशुक के उदाहरण हैं। और कुचांशुक (117), मुक्तांशुक (मोतियों का बना हुआ अंशुक; 242), बि (व) षतंतुमय अंशुक (10), सूक्ष्म-विमल-अंशुक (9), मग्नांशुक शरीर से सटकर 'डूबा हुआ' सूक्ष्म रेशमी अंशुक, सुकुमार चीनांशुक (36), तरंगित उत्तरीयांशुक (163), आदि विविध प्रकार के अंशुकों का अध्ययन उत्तर-गुप्त-कालीन संस्कृति का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करता है।*[8]
>
> *फूल-पत्तियों के काम की छपाई आड़ी लहरिया के रूप में छापी जाती थी। सफेद या रंगीन जमीन पर फूल-पत्ती की आकृतियों वाले ठप्पों की आड़े या टेढ़े ढंग से छेद कर छपाई की जाती थी।...इसके लिए बाण ने 'कुटिलक्रमरूपक्रियमाणपल्लवपरभाग' इस पद का प्रयोग किया है।...गुप्तकाल और उसके बाद की*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिल्पकला एवं चित्रकारी में फूल-पत्तियों के भाँति-भाँति के कटाव की प्रथा उन्नति की पराकाष्ठा को पहुँच गई थी।...एक रंग की पृष्ठभूमि पर दूसरे रंग में छपाई, कढ़ाई, चित्रकारी या रंगोली आदि बनाकर जो सौन्दर्य उत्पन्न किया जाता है, उसे परभाग-कल्पना अर्थात् पहले पृष्ठभूमि के रंग पर दूसरे रंग की रचना कहा जाता है।[9]

रेशम की भाँति ही मलमल के उत्पादन का इतिहास भी बहुत लम्बा है।

वस्त्रों के गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें साँप की केंचुली की तरह महीन (निर्मोकनिभ), छोटे केले के भीतर के गाभे की तरह मुलायम (अकठोररंभागर्भकोमल), फूँक से उड़ जाने योग्य हल्के (निःस्वासहार्य), और कुछ को ऐसे पारदर्शी कहा है कि वे केवल स्पर्श से ही जाने जाते थे (स्पर्शानुमेय)। ऐसे ही पारदर्शी वस्त्रों के लिए मुगलकाल में 'बाफ्त हवा' (बुनी हुई हवा के जाले) विशेषण बना होगा।[10]

महीन कपड़ों को माड़ी देने, इस्त्री करने, चुन्नट डालने आदि के विषय में भी प्राप्त जानकारी महत्त्वपूर्ण है।

उद्भुजभुजिष्यभज्यमानभंगुरोत्तरीयैः—सेवक लोग उठे हुए हाथों से चुटकी दबाकर उत्तरीय या उपरने की तरह प्रयुक्त वस्त्रों में चुन्नट डालकर उन्हें मरोड़ी देकर रख रहे थे। चुन्नट डालने के लिए अभी तक भाजना शब्द प्रयुक्त होता है। भाजे हुए उपरने को अन्य वस्त्रों की तरह मोड़कर नहीं तहाया जाता, किन्तु उमेठकर कुंडलित करके रख दिया जाता है। उसी के लिए यहाँ 'भंगुर' शब्द है। सौभाग्य से अहिच्छत्रा से प्राप्त एक मिट्टी की मूर्ति (सं. 302) के गले में भंगुर उत्तरीय का स्पष्ट नमूना अंकित पाया गया है जिसकी सहायता से उस वस्तु को समझा जा सकता है।[11]

हम यहाँ यह भी जोड़ दें कि उत्तरीय में चुन्नट डालने का यह चलन बहुत व्यापक था, यद्यपि सामान्य जन इसका उपयोग बहुत विरल अवसरों पर ही करते थे। चुनरी शब्द इसी तरह चुन्नट डालकर तैयार की गई बहुत बारीक सूती या रेशमी चादर के लिए प्रयोग में आता था, जिसका नाम बचा रह गया है, चुन्नट गायब है।

एक विवाद हर्ष को शिव का उपासक बताने पर खड़ा कर दिया गया था। हर्ष को लेखक ने शैव बताया था। त्रुटि गिनाते हुए उनको शैव के स्थान पर बौद्ध बताया गया था और शैव बताने को इतिहास का भगवाकरण सिद्ध कर दिया गया था। अग्रवालजी लिखते हैं, बाँसखेड़ा-ताम्रपत्र-लेख में राज्यवर्धन प्रथम, उनके पुत्र आदित्यवर्धन और उनके पुत्र प्रभाकरवर्धन को परमादित्य भक्त कहा गया है, एवं प्रभाकरवर्धन के दोनों पुत्रों में से राज्यवर्धन को परमसौगत (*परमसौगतस्सुगत इव परहितैकरतः*, बाँसखेड़ा ताम्रपट्ट, पंक्ति 5) और हर्ष को परममाहेश्वर कहा गया है। राज्यवर्धन के विषय में ताम्रपत्र के इस उल्लेख का विचित्र समर्थन हर्षचरित से होता है।[12] सामरिक अभियान पर चलने से पहले हर्ष ने विधिपूर्वक चाँदी और सोने के कलसों से स्नान करके भक्तिपूर्वक शिव की पूजा की और अग्निहोत्र किया।[13]....

हर्षचरित आकार या कथाविस्तार की दृष्टि से कोई बड़ी कृति नहीं है। इसमें हर्ष के समूचे जीवनकाल को समेटा भी नहीं गया है। हर्षचरित की कथा राज्यश्री की खोज के साथ ही समाप्त हो जाती है। इतनी-सी छोटी कहानी के भीतर हर्षकालीन भारत और इसके गौरव और विद्रूप को इतने समृद्ध रूप में प्रतिबिम्बित किया गया है कि वह पूरा युग हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। हम इसके कुछ पक्षों का ही उल्लेख कर सकते हैं। इस काल में जैसी वैचारिक और साम्प्रदायिक छूट मिली थी उसी का परिणाम था कि एक साथ विविध सिद्धान्त फलफूल रहे थे। उनका अध्ययन केवल अपने ही सम्प्रदाय या मत तक सीमित न था। वे दूसरे दर्शनों और मतों का अध्ययन करते और उनके अधिकारी विद्वानों से विचार-विमर्श करते थे:

बाण ने तत्कालीन ज्ञानसाधना की दो विशेषताओं की ओर यहाँ भी इशारा किया है। अपने दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी जो शंकाएँ उठाई जाती थीं उनका समाधान भी वे जानते थे (शमितसमस्त-शाखान्तरसंशीति, 39)। गुप्तकाल से बाण के समय तक के युग में बौद्ध, ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिक अनेक दृष्टिकोणों से तत्वचिन्तन करते रहे थे। उस समय के दार्शनिक मन्थन की यह शैली थी कि वे विद्वान एक-दूसरे से उद्भावित नई-नई युक्तियों और कोटियों से अपने-आपको परिचित रखते और अपने ग्रन्थों में उनका विचार और समाधान करते थे। प्रमुख आचार्य अन्य मतों में प्रवृद्ध रुचि रखते थे, उपेक्षा का भाव न था। इस प्रकार की जागरूकता के वातावरण में ही वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, सिद्धसेन, दिवाकर, उद्योतकर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुमारिल और शंकर जैसे अनेक प्रचंड मस्तिष्कों ने एक-दूसरे से टकरा-टकराकर दार्शनिक क्षेत्र में अभूतपूर्व तेज उत्पन्न किया।...दूसरी बात यह कही गई है कि वे विद्वान समग्र ग्रन्थों में जो अर्थ की ग्रन्थियाँ थीं उनको उद्‌घाटित करते थे (उद्‌घाटितसमग्रग्रन्थार्थग्रन्थयः, 39)।...समग्र ग्रन्थों से तात्पर्य भिन्न-भिन्न दर्शनों, जैसे न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग, वेदान्त, मीमांसा, पाशुपत, बौद्ध, आर्हत आदि ग्रन्थों से है।...इसी प्रणाली के कारण नालन्दा के बौद्ध-विश्वविद्यालय में वेद-शास्त्र आदि ब्राह्मणों के ग्रन्थों का पठन-पाठन भी खूब चलता था, जैसा कि श्युआन चुआंड. ने लिखा है।[14]

दिवाकर मित्र के पास हर्ष विंध्याटवी में राज्यश्री की खोज करते हुए पहुँचे थे। उनके आश्रम में निम्नलिखित सिद्धान्ती लोग उपस्थित थे :

1. आर्हत, 2. मस्करी, 3. श्वेतपट, 4. पांडुरिभिक्षु, 5. भागवत, 6. वर्णी, 7. केशलुंचन, 8. कापिल, 9. जैन, 10. लोकायतिक, 11. काणाद, 12. औपनिषद्, 13. ऐश्वरकारणिक, 14. कारन्धमी, 15. धर्मशास्त्री, 16. पौराणिक, 17. साप्ततन्तव, 18. शाब्द, 19. पांचरात्रिक, और अन्य (236)।[15]

परन्तु मतस्वातन्त्र्य और विचारस्वातन्त्र्य का एक अँधेरा पक्ष यह था कि राज्य की ओर से किसी प्रकार की रोक न होने के कारण कुछ अमानवीय तान्त्रिक क्रियाएँ और अनुष्ठान भी प्रचलित थे। इनका कुछ आभास प्रभाकरवर्धन की मृत्युशैया पर पड़ जाने के बाद उनके स्वास्थ्यलाभ के लिए होनेवाले अनुष्ठानों से मिलता है। हर्ष सन्देशवाहक से पिता की अस्वस्थता का समाचार मिलने पर जब लौटते हैं तो जो दृश्य देखते हैं उसका परिचय देते हुए अग्रवालजी लिखते हैं :

वहाँ तरह-तरह के पूजा-पाठ और भूतोपचार हो रहे हैं।...एक ओर कोटि होम की आहुतियों का धुँआ यमराज के भैंसे के टेढ़े सींग की तरह उठ रहा था। स्नेही स्वजन उपासे रहकर हर को प्रसन्न करने में लगे थे। राजघरानों के कुलपुत्र दियाली जलाकर सप्तमातृकाओं (मातृमंडल) को प्रसन्न कर रहे थे। कहीं पाशुपतमतानुयायी द्रविड़ मुंडोपहार चढ़ाकर वेताल (आमर्दक) को प्रसन्न करने की तैयारी में था। कहीं आन्ध्रदेश का पुजारी अपनी भुजा उठाकर चंडिका के लिए मनौती मान रहा था। एक ओर नये भर्ती हुए नौकरों (नवसेवक) के सिर पर गुग्गुल जलाकर महाकाल को प्रसन्न किया जा रहा था और इस पीड़ा से वे छटपटा रहे थे।...एक ओर आप्त श्रेणी के लोग अनिष्टबाधा निवृत्ति के लिए तेज छुरी से स्वयं अपना मांस काट-काटकर होम कर रहे थे। यह क्रिया शैवों में कापालिक लोगों की थी जो अपने आपको महाव्रती भी कहते थे। वे एक हाथ में खट्वांग लिए रहते थे। महामांस का विक्रय वेतालों के लिए किया जाता था। छठे उच्छास में भी महाकाल मेले में प्रद्योत के राजकुमार द्वारा महामांस विक्रय का उल्लेख है।[16]

नेहरू, शास्त्री, इन्दिरा, राजीव आदि की मृत्यु के बाद शोक प्रकाशन की जिस तरह की धार्मिक प्रतियोगिता होती रही है, उसी का एक पुरातन अध्याय हमें बाण में मिलता है, या कहें बाणकालीन परम्परा कुछ बदले रूप में आज तक जीवित है।

आज भी नरबलि, शवसाधना, शिशुवध, सती आदि की घटनाएँ जब-तब सुनने में आ जाती हैं। भारतीय समाज में जो कुछ भी विकृत है उसके लिए ब्राह्मणवाद को दोष दिया जाता है, क्योंकि विरल अपवादों को छोड़कर लगातार उसी का वर्चस्व रहा है। पर ब्राह्मणवाद का विरोध करते हुए भी यह नहीं भुलाया जा सकता कि ब्राह्मणवाद का एक मोर्चा अमानवीय, चमत्कारी और अनर्गल विश्वासों और विचारों का—कृत्या, अभिचार, यातु (जादू) और स्वैराचार (शिश्नदेवत्व)—लगातार विरोध किया है। ये आदिम अवस्थाओं के अवशेष थे, और इतने सुधार-आन्दोलनों, वैज्ञानिक शिक्षा और आधुनिक संचारप्रणाली तथा पुलिस प्रशासन के बाद भी इनसे मुक्ति नहीं पाई जा सकी है।

इन विपर्ययों को छोड़ दें तो जैसा कि हर्षचरित से पता चलता है, प्राचीन भारत सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समृद्ध था। गाँवों और नगरों के बीच का सांस्कृतिक अन्तर बाद के कालों जैसा नहीं था। इसका कुछ अनुमान स्वयं बाण के अपने गाँव को और बाण की अपनी ग्रामीण मित्रमंडली को सामने रखकर किया जा सकता है :

बाण का मित्रमंडल काफी बड़ा था। चवालीस व्यक्तियों के नाम उसने गिनाए हैं। उसमें सुहृद् और सहाय दो प्रकार के लोग थे (वयसा समानाः सुहृदः सहायाश्च)। इस मंडली में चार स्त्रियाँ भी थीं। बाण के मित्रों की यह सूची उस समय के एक सुसंस्कृत नागरिक की बहुमुखी रुचि और सांस्कृतिक साधनों का परिचय देती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। उसके कुछ मित्रों का सम्बन्ध कविता और विद्या से था, कुछ का संगीत और नृत्य से, कुछ मनोरंजन में सहाय मात्र थे। साथ ही कुछ प्रतिष्ठित परिचारकों के रूप में थे।

अग्रवालजी ने पृ. 28-30 पर इनका नामोल्लेख के साथ परिचय दिया है। इनमें वर्णकवि वेणीभारत, प्राकृत में रचना करनेवाले कुलपुत्र वायुविकार, अनंगबाण और सूचीबाण नाम के दो बन्दीजन, वारबाण और वासबाण नाम के दो दार्शनिक, आदि हैं। बाण स्वयं भी महाराज से मिलने के लिए अपने गाँव से ही गए थे और मिलने के बाद अपने गाँव ही लौटे थे और वहाँ पर ही मित्रों के अनुरोध पर उन्होंने हर्षचरित की रचना की थी। उन्होंने अपने ही परिवार के जिन विद्वानों से शिक्षा पाई थी वे भी अपने क्षेत्र के निष्णात व्यक्ति थे। 'व्याकरण, न्याय, मीमांसा, काव्य, कर्मकांड और वेदपाठ, इतने विषयों की पढ़ाई तो नियमित प्रीतिकूट गाँव में ही होती थी।'[17] बाण को यदि अपने गाँव से बाहर जाना पड़ा था तो देश-देशान्तर देखने की अदम्य उत्सुकता के कारण ही न कि शिक्षा या जीविका के लिए।

यह प्रकारान्तर से गाँवों की सम्पन्नता को भी प्रकट करता है। यद्यपि शिक्षा के लिए लोग दूर-दूर के स्थानों को भी जाते थे, पर शिक्षा पूरी होने पर वे अपने गाँवों को ही लौटते थे, जहाँ जीविका के साधन नगरों की अपेक्षा अधिक सुकर थे। शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र भी नगर में नहीं, अपितु उससे कुछ हटकर हुआ करते थे। आजीवन अध्ययन और ज्ञानार्जन की प्रेरक वे वादगोष्ठियाँ हुआ करती थीं जिनमें मल्लयोद्धाओं की तरह विद्वानों और कलाकारों को दूसरों की तुलना में अपनी श्रेष्ठता की धाक जमाने का अवसर मिलता था। ये गोष्ठियाँ नगरों और ग्रामांचलों में सर्वत्र होती थीं। अन्तर केवल यह था कि ग्रामांचलों में इनके अवसर कम और विशेष अवसरों पर ही आते थे, जिनमें से विवाहादि के अवसर पर वर के नकली राजदरबार में होनेवाले चारणगानों, प्रदर्शनों, शास्त्रार्थों का चलन तो हाल तक रहा है। बाणकालीन गोष्ठियों का परिचय देते हुए अग्रवालजी लिखते हैं :

> *गोष्ठियाँ कई प्रकार की होती थीं, जैसे पदगोष्ठी, काव्यगोष्ठी, गीतगोष्ठी, नृत्यगोष्ठी, वाद्यगोष्ठी, वीणागोष्ठी आदि (जिनसेनकृत महापुराण, नवींशती, 14)।...बाण ने जिन गोष्ठियों का विशेष उल्लेख किया है (निरवद्या विद्यागोष्ठीः भावयन्) इनमें से पदगोष्ठी, काव्यगोष्ठी, और जल्पगोष्ठी विद्यागोष्ठी के ही भेद जान पड़ते हैं।*

परन्तु सभी गोष्ठियाँ अनवद्य न थीं। कुछ जुआरियों और अपराधियों की भी गोष्ठियाँ (लोकद्विष्टा परहिंसात्मिका गोष्ठी) होती थीं, क्योंकि सभा की तरह गोष्ठी का भी अर्थ था समान रुचि, ज्ञान, प्रकृति, वय और हैसियत के लोगों का कालयापन या मनोरंजन के लिए एकत्र होना—(समानवद्यावित्तशील-बुद्धिवयसामनुरूपैरालापैरेकवासबन्धो गोष्ठी)।

वासुदेवशरण अग्रवाल किसी विकास की जड़ों को इतनी गहराई तक उतरकर जाँचने का प्रयत्न करते हैं कि उनमें कामचलाऊ समायोजनों के लिए अवकाश ही नहीं रहता। जिन सांस्कृतिक घटकों के लिए भारत दूसरे देशों का ऋणी है, उनकी खोज भी वह उसी अकादमिक गहनता और निष्पक्षता से करते हैं जैसे एतद्देशीय विकासों का :

> *कंचुक एक प्रकार का बाँहदार घुटनों तक लटकता हुआ कोट-जैसा पहनावा था। राजाओं की वेशभूषा का वर्णन करते हुए बाण ने कंचुक, वारबाण, चीनचोलक और कूर्पासक इन चार प्रकार के ऊपरी वस्त्रों का वर्णन आगे किया है।*
>
> *शंकर ने स्तवरक को एक प्रकार का वस्त्र माना है। यह वस्त्र ईरान में बनता था। पहलवी भाषा में इसका नाम स्तव्रक था। उसी से संस्कृत स्तवरक बना और उसी से फारसी इस्तव्रक शब्द निकला। अरबी में इसका रूप इस्तब्रक् हुआ जिसका अर्थ है भारी रेशमी किमखाब। इस शब्द का प्रयोग कुरआन में स्वर्ग की हूरों की वेशभूषा के वर्णन में आया है।...वस्तुतः इस्तब्रक् सासानीयुग में ईरान में तैयार होनेवाला किमखाब का रेशमी कपड़ा था।*[18]
>
> *शंकर के अनुसार नेत्र नामक वस्त्र का पर्याय पृंग था। यह शब्द मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखों में पाया गया है। वहाँ इसका रूप 'प्रिध' है। बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थ 'महाव्युत्पत्ति' में पृंग शब्द आया है, जहाँ उसके पाठान्तर प्रंगा और पृंगु मिलते हैं। पृंगु का उल्लेख बौद्ध शब्दों के संस्कृत चीनी कोश फान्-यु-चिएन-त्सु-वेन में भी हुआ है। पहलवी और फारसी में भी ध्वनि-परिवर्तन के साथ इसका रूप परन्द मिलता है। उसी से पंजाबी शब्द परान्दा बना है जिसका अर्थ इस समय बाल या जूड़े में डाला जानेवाला रेशमी फीता है। मध्येशिया के लेखों में कपोत, श्वेत (कबूतरी और सफेद) रंगों के पृंग का वर्णन है। सुग्धी भाषा में लिखी मानी धर्म की पुस्तकों में जो तुन्हुआंग से प्राप्त हुईं, कपोत रंग की पृंग (कप्वथ् प्रयूंक) का उल्लेख है। हेनिंग के मतानुसार पृंग*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अर्थ चित्र-शोभित इकरंगी रेशमी वस्त्र था। यह वस्त्र मध्येशिया से आता था अथवा यहाँ भी बनता था—इसका निश्चित प्रमाण इस समय उपलब्ध नहीं, क्योंकि अपने देश में इतने प्राचीन वस्त्रों के वास्तविक नमूने उपलब्ध नहीं हुए।[19]

राजाओं की वेशभूषा में तीन प्रकार के पाजामों—स्वस्थान, पिंगा, सतुला—और चार प्रकार के कोटों—कंचुक, चीनचोलक, वारवाण, कूर्पासक—का वर्णन है। पाजामों का आम रिवाज शकों के समय में प्रथमशती ई.पू. से इस देश में आरम्भ हुआ।[20]

हर्षचरित के इस अध्ययन से अनेक शब्दों की व्युत्पत्तियों और परवर्ती विकासों को भी समझने में मदद मिलती है। ऐसा ही एक विकास शीशमहल है :

वासगृह में भित्तियों पर गोल दर्पण लगे थे। उनमें बधू-मुख के अनेक प्रतिबिम्ब पड़ रहे थे। ज्ञात होता है कि वासगृह की दीवारों का रूप कुछ-कुछ आदर्शभवन (बाद के सीसमहल) की तरह था। गोल शीशों में पड़े मुख-प्रतिबिम्ब ऐसे लगते थे, मानो गवाक्षों में से कौतुक देखने के लिए झाँकते हुए गृहदेवताओं की स्त्रियों के मुख हों। गवाक्षों में से झाँकते हुए स्त्रीमुख गुप्तकाल की विशेषता थी। डा. कुमारस्वामी ने भारतीय रोशनदानों या खिड़कियों (प्राचीन वातायन, पाली वातपान) के विकास का अध्ययन करते हुए बताया है कि शुंगकाल और कुषाणकाल में वातायन तीन प्रकार के थे—वेदिका-वातपान, लाल-वातपान, शलाका-वातपान, किन्तु गुप्तयुग की वास्तुकला में तोरणों के मध्य में बने हुए वातायन गोल हो गए हैं। तभी उनका गवाक्ष (बैल की आँख की तरह गोल) नाम पड़ा।[21]

राजा के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण सामान्य जनजीवन के उल्लेख की छूट बहुत कम है। इसके बाद भी यदि हर्षचरित आदि में इतनी विपुल सामग्री देखने में आती है तो उसका कारण है :

दंडी ने महाकाव्य के लक्षण देते हुए जो यह कहा है कि उसमें नगर, पर्वत, समुद्र, ऋतुशोभा, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान-क्रीड़ा, सलिल-क्रीड़ा, विवाह, पुत्रजन्म, मन्त्रणा, सेना-प्रयाण, आदि का वर्णन होना चाहिए, वह परम्परा बाण को भी विदित थी और ज्ञात होता है कि कालिदास के समय में पूरी तरह विकसित हो चुकी थी।[22]

यथार्थचित्रण की अवधारणा समय-समय पर बदलती भले रही हो, पर इसका ध्यान बहुत प्राचीन काल से रखा जाता रहा है।

अग्रवालजी अपने विवेचनों में दूसरे अधिकारी विद्वानों के मतों का भी हवाला देते हैं, साथ ही उन कुपाठों को भी इंगित करते चलते हैं जो उनसे हुए हैं। एक ही वाक्य के श्लिष्ट होने के कारण उसके कितने आशय हो सकते हैं और वे सभी उस स्थल पर कैसे सार्थक हैं, इसका विवेचन भी बहुत आधिकारिक मिलता है। सांस्कृतिक सूचना से बोझिल ऐसी एक-एक पंक्ति की व्याख्या वह कई पन्नों में करते हैं। इनमें से ही एक प्रसंग में वह लिखते हैं :

ऊपर जिस वाक्य का अर्थ लिखा गया है वह हर्षचरित के अतिक्लिष्ट और अर्थ की दृष्टि से अस्पष्ट वाक्यों में है। टीकाकार ने कई कूट कल्पनाएँ की हैं पर वे बाण के अर्थ को नहीं छू सकीं। पूरा वाक्य इस प्रकार है—सेकसुकुमारयवांकुरदन्तुरैः पंचास्यैः कलशैः कोमलवर्णिकाविचित्रैः अमित्रमुखैश्च उद्भासित पर्यताम् (147)।[23]

इसमें पंचास्यैः का कावेल ने पाँच मुँहवाले (घड़े) और काणे ने सिंहमुखी अर्थ किया है।...(यहाँ) पंचास्य का अर्थ चौड़े मुँहवाला है।...

इस वाक्य में दूसरी गाँठ 'अमित्रमुख' विशेषण है। कावेल, काणे और शंकर तीनों ने ही अमित्र का अर्थ शत्रु किया है।...जवारे अँधेरे में उगाए जाते हैं, यही अमित्रमुख का तात्पर्य है। जिन्होंने मित्र या सूर्य का मुख नहीं देखा था, जिनके मुख में सूर्यप्रकाश नहीं गया था, अथवा जो सूर्याभिमुख नहीं हुए थे, ऐसे यवांकुरों से शोभित वेदिकलश थे।[24]

प्रसंग विवाह का है, ऐसे में दूसरे विद्वानों का पाठ कितना असंगत है, यह अलग से बताने की आवश्यकता नहीं : ऐसा ही एक अनर्थ सत्तू का है :

...कहीं-कहीं भारतीय प्रथाओं का ठीक-ठीक परिचय न होने से अर्थ की उलझन उत्पन्न होती रही है, जैसे—'लाज-सक्तु' का अर्थ भुजिया के सत्तू जो प्रचलित आहार है, न समझकर कावेल ने 'दही मिला आटा' और काणे ने 'जौ का आटा' अर्थ किया।...[25]

राजभवनों के समारोहों के अवसर पर वैभव और उल्लास के पक्ष पर कवियों का ध्यान अधिक रहता है। परन्तु बाण हर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के जन्म के समय मनाए जा रहे उल्लास के विवरण में अनुशासन में आई ढील के कारण नगरवासियों द्वारा बनियों की दुकानें लूट लेने की घटना का भी उल्लेख करना नहीं भूलते।

इसी तरह सामरिक अभियान के समय मार्ग में पड़नेवाले गाँवों, किसानों की दुर्दशा और उनकी खेती के रौंदे जाने के विवरण देना नहीं भूलते :

> *सेना के प्रयाण से नौकर-चाकर, जनता, किसान, देहात के लोगों आदि पर जो बीतती थी, उनके दुःख-सुख की मिली-जुली झाँकी बाण ने प्रस्तुत की हैं।*[26]

अभियान के मार्ग में पड़नेवाले तबाह होनेवाले किसानों की प्रतिक्रिया भी कम रोचक नहीं है :

> *...कुछ लोग ऐसे थे जिनकी पकी खेती सेना के लिए उजाड़ दी गई थी। वे उसके शोक में अपनी गृहस्थी के साथ निकलकर प्राणों को हथेली पर रक्खे निडर होकर कह रहे थे—कहाँ है राजा ? किसका राजा ? कैसा राजा ? इस प्रकार राजा को बोली मार रहे थे।...*
>
> *कहीं सब लोग दलदल को पाटने के लिए घास-फूस के पूले काटने में जुटे थे। कहीं उजड्ड ब्राह्मण डर से भागकर पेड़ के ऊपर चढ़े हुए गाली-गलौच कर रहे थे और नीचे खड़े दंडधर बेंत से उन्हें धमका रहे थे।...*[27]

सेना में योद्धाओं के अतिरिक्त कैसे-कैसे लोग होते थे यह जानना भी उपयोगी है :

> *वंठ—कुँआरे जवान पट्ठे, वठर—अहमक या उजड्ड, लम्बन—गर्दभदास या लद्दू नौकर जिनसे गधे की तरह सब काम लिया जा सके, लेशिक—घसियारे, घोड़ों के टहलुए, लुंठक—लूटपाट करनेवाले, चेट—छोटे नौकर-चाकर, शाट—धूर्त या शठ, चंडाल—अश्वपाल या घोड़ों को तोबड़ों में खाना खिलानेवाले और सफाई करनेवाले नौकर,...इस श्रेणी के लोग तो कटक जीवन से खुश थे; पर बेचारे बुड्ढे कुलपुत्र सेना की नौकरी से दुखी थे। किसी तरह गाँवों से मिले हुए मरियल बैलों पर सामान लादकर बिना नौकरचाकर के वे घिसट रहे थे और स्वयं ऊपर सामान लादकर चलने के कष्ट और चिन्ता से सेना को कोस रहे थे—'बस, यह यात्रा किसी तरह पूरी हो जाए, फिर तो तृष्णा का मुँह काला; धन का सत्यानाश; नौकरी से भगवान बचाए। सब दुखों की जड़ अब इस कटक को हाथ जोड़ता हूँ।'*

जाहिर है कि हर्षकालीन सेना आकार में जितनी भी विशाल रही हो, अनुशासन, प्रशिक्षण आदि के मामले में वह एक अल्पनियन्त्रित भीड़ में बदल जाती थी और खतरा उठाकर इसमें धूर्त और लुटेरे भी घुस सकते थे।

हर्षचरित में कुछ ऐसी सूचनाएँ हैं जिनसे परिचित होना किसी इतिहासकार के लिए उपयोगी हो सकता है :

- गद्यकाव्य की रचना करनेवाले बाण सर्वप्रथम कवि नहीं थे। उनके पहले से गद्यकृतियाँ लिखी जा रही थीं। उन्होंने स्वयं भट्टार हरिश्चन्द्र के मनोहर गद्य-ग्रन्थ का उल्लेख किया है।
- यद्यपि कुछ लेखकों ने सुझाया है कि बाण के जन्मस्थान के विषय में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं, परन्तु "बाण के अनुसार सोन के उस पार एक गव्यूति या दो कोस दूर हटकर कहीं च्यवनाश्रम था।...यहीं दधीच और सरस्वती के पुत्र सारस्वत ने अपने चचेरे भाई वत्स के लिए प्रीतिकूट नाम का गाँव च्यवनाश्रम की सीमा में बसाया (39)। ब्राह्मणों की बस्ती प्रधान होने के कारण इसे ब्राह्मणाधिवास भी कहा है। यही प्रीतिकूट बाण का जन्मस्थान था।"[28]
- नए राजा के सिंहासन पर बैठने के समय तथा पुत्रजन्म आदि दूसरे उल्लास के पर्वों पर बन्दियों को मुक्त कर दिया जाता था।
- राजा की मृत्यु के बाद उनके खास हाथी गजराज को जंगल में छोड़ दिया जाता था।
- राजा लोग शत्रु देश में आतंक पैदा करने के लिए समस्त जलाशयों को बन्द कर देने की डौंड़ी फिरवा देते थे (सकलसलिलोच्छोषधर्मघोषणापटहैरिव त्रिभुवनविभीषिका-मुद्भावयन्तः)।
- राजा और सामन्त युद्ध पर प्रयाण के समय अपने रनिवास को भी साथ रखते थे। यह चलन ईरान के सासानी शासकों में भी था।
- हाथियों का अभियान के समय मालवहन के लिए भी उपयोग किया जाता था।
- सामरिक गतिविधियों के कारण घोड़ों का व्यापार बहुत फल-फूल रहा था। देशदेशान्तर के घोड़े अपने विशिष्ट गुणों के कारण खरीदे जाते थे। "हर्ष की मन्दुरा में राजवल्लभतुरंग अनेक देशों से लाए गए थे। वनायु (वनावटी, वजीरिस्तान), आरट्ट (वाही या पंजाब), कम्बोज (मध्य एशिया में वंक्षु नदी का पामीरप्रदेश), भारद्वाज (उत्तरी गढ़वाल जहाँ के टाँघन घोड़े प्रसिद्ध हैं),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिन्धुदेश (सिन्धसागर या थल दोआब) और पारसीक (सासानी ईरान) से उस काल में बढ़िया घोड़ों का आयात होता था। रंगों के हिसाब से राजकीय घुड़साल में शोण (लाल कुम्मैत), श्याम (मुश्की), श्वेत (सब्जा), पिंजर (समन्द), हरित (नीलासब्जा), और तित्तिर कल्माष (तीतरपंखी), इन घोड़ों का उल्लेख आया है।"[29]

- रसद जुटानेवाले वणिक किसी पड़ाव पर सेना के पहुँचने से पहले ही उसके खान-पान का प्रबन्ध करने के लिए पहुँचे रहते थे। यही व्यवस्था मुगलकाल तक जारी रही।[30]
- पराजित राजाओं की दशा यह थी कि "युद्धस्थल में एक बार हार जाने पर प्राणभिक्षा के लिए...कुछ लोग स्वामी के कोप का प्रशमन करने के लिए कंठ में कृपाण बाँध लेते थे (कंठकृपाणपट्टैः), कुछ दाढ़ी, मूँछ और बाल बढ़ाए रहते थे, कुछ सिर पर से मुकुट उतारे हुए थे, कुछ सेवा में उपस्थित हो चंवर डुलाते थे (सेवाचामराणीवा-र्पयद्भिः)। अनन्यशरणभाव से वे लोग सम्राट के दर्शनों की आशा में दिन बिताते और भीतर से बाहर आनेवाले अभ्यन्तरप्रतीहारों के अनुयायी पुरुषों से बार-बार पूछते रहते थे—भाई, क्या सजाए जाते हुए भुक्तास्थानमंडप में सम्राट आज दर्शन देंगे, या वे बाह्यास्थानमंडप में निकलकर आएँगे।"[31]
- जैसा कि उपरलिखित से तथा अन्यत्र कुछ विवरणों से प्रकट है, दरबारे खास और दरबारे आम की परम्परा बहुत पुरानी है।
- अल्बरूनी ने अपनी प्रसिद्ध कृति में यह टिप्पणी की है कि भारतीय घोड़े की नंगी पीठ पर सवारी करते थे। परन्तु बाणभट्ट ने जीन (पर्याण) का उल्लेख किया है जो इससे मेल नहीं खाता।[32]
- पर्दे (तिरस्करिणी) का चलन मध्यकाल से पहले से था और विशेष प्रसंगों में तिहरे पर्दे (त्रिगुणतिरस्करणीतिरोहित-सुवीथिपथे, 155) लगे होने का उल्लेख भी है। "अजन्ता के चित्रों को देखने से वीथियों और पर्दों का क्रम कुछ समझ में आता है।"[33]
- गुरु गोविन्द सिंह ने खालसा का गठन करते हुए जिस बाने का विधान किया था, उसका कोई ऐतिहासिक सन्दर्भ भी है, इसका हमें पता नहीं चलता। इस दृष्टि से इस अंश पर ध्यान दिया जाना चाहिए, "बाण के समय लम्बे बाल रखने का रिवाज था; लेकिन फौजी जवान लम्बे घुँघराले बालों को इकट्ठा करके माथे पर जूड़ा बाँधते थे।...बाएँ हाथ की कलाई में सोने का कड़ा पड़ा हुआ था।...यह कड़ा कुछ निकला हुआ या ढीला होता था, जो छैलपन की निशानी थी। कमर में कपड़े की दोहरी पेटी की मजबूत गाँठ लगी थी और उसी में छुरी खोंसी हुई थी। छुरी के लिए प्रायः असिधेनु या असिपुत्रिका शब्द चलते थे।"[34]
- मार्गस्थ ग्रामों की ओर से (सम्भवतः लूटपाट से बचने के लिए) अपनी ओर से ही दही, दूध, मछली, आखेट आदि पेश किया जाता था।
- विवाहादि के अवसर पर निर्माण कार्य के लिए बुलाए गए राजमिस्त्रियों का कार्यारम्भ से पहले सफेद फूल, चन्दनादि विलेपन तथा वस्त्रादि से सत्कार किया जाता था (सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृतैः सूत्रधारैरादीयमानविवाह-वेदीसूत्रपातम्)।
- बालूमिले मसाले का पलस्तर के लिए उपयोग होता था (उत्थापिताभिनवभित्ति पात्यमानबहलबालुकाकंठकालेप-कलालेपकलोकम्)।
- पानदान (तांबूल-करंक), पीकदान (पतद्ग्रह), नहाने की द्रोणी (अवग्रह) का प्रयोग होता था।[35]
- पानी के अध्यक्ष (तोयकर्मान्तिक) का एक पद था, जो सम्भवतः राजा के लिए सुरक्षित और अनुकूल जल की व्यवस्था करता रहा होगा।
- जाड़े के दिनों में बरफ का ग्रीष्मकालीन उपयोग के लिए संचय किया जाता था। "बरफ के प्रयोग के सम्बन्ध में बाण का यह उल्लेख सबसे प्राचीन है। जाड़े में हिमालय से लाकर बरफ का संचय भूमि के नीचे गड्ढे खोदकर उसमें यत्नपूर्वक रखा जाता था।"[36]
- मुखशोधन के लिए गन्धद्रव्यों के उपयोग का हवाला पाया जाता है। यह "मुख में विशेष प्रकार का सुगन्धित मसाला था जो सहकार, कर्पूर, कक्कोल, लवंग और पारिजात इन पाँच सुगन्धित द्रव्यों से बना था।"[37]
- गाथा सप्तशती या ऐसी दूसरी कृतियाँ किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं हैं। ये एक साहित्यानुरागी के चयन मात्र हैं। "बाण ने सातवाहन-विरचित किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ का उल्लेख किया है जिसमें सुभाषितों का संग्रह था। हर्षचरित में सातवाहन के इस ग्रन्थ को कोश कहा गया है। सातवाहन-विरचित यह सुभाषित-कोश हाल-कृत गाथासप्तशती का ही वास्तविक नाम था। हाल सातवाहनवंशी सम्राट थे।...लगभग नवीं शताब्दी तक यह ग्रन्थ कोश या गाथा-कोश ही कहलाता था। मध्यकाल में जब कोश शब्द अभिधान-ग्रन्थों के लिए अधिक प्रयुक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने लगा उसके बाद से हाल का ग्रन्थ गाथासप्तशती नाम से प्रसिद्ध हुआ।"[38]

- पहले पुस्तक के पन्ने धागों से पिरोकर रखे जाते थे। अतः उनके लिए ग्रन्थ शब्द का प्रयोग होता था। पुस्तक, अर्थात् एक जिल्द में पन्नों को रखकर, बाँधकर रखने का आविष्कार पारसियों ने किया। "समस्त वैदिक साहित्य में कहीं पुस्तक शब्द नहीं है। पाणिनि की अष्टाध्यायी एवं पतंजलि के महाभाष्य में भी पुस्तक शब्द नहीं है। सम्भावना यह है कि बाण के युग के आसपास ही पहली बार किताब के लिए पुस्तक शब्द का प्रयोग होने लगा। मृच्छकटिक में चारुदत्त के घर में और वसन्तसेना के घर में अन्य सामग्री के वर्णन में पुस्तक (प्रा. पोत्थअ–पोथा) का उल्लेख भी आया है जो सम्भवतः इस शब्द का प्रथम साहित्यिक प्रयोग है। असम के कुमार भास्कर वर्मा के उपायनों में अगरु के पेड़ की छाल पर लिखी पुस्तकों का उल्लेख आया है। असम की तरफ ताड़पत्र का प्रचार न था।...किन्तु बाण के समय तालपत्र पर काली और लाल स्याही से पुस्तिकाएँ लिखने की प्रथा चल चुकी थी।...हरे पत्तों के रस में कोयला घोटकर घटिया किस्म की स्याही बनती थी। लगभग पाँचवीं शती के मध्य में पुस्तक शब्द ईरान से अपनी भाषा में लिया गया, ऐसी सम्भावना है। पहलवी भाषा में 'पुस्त' का अर्थ खाल है। ईरान में चमड़े (पार्चमेंट) पर ग्रन्थ लिखे जाते थे, इसी कारण पुस्तक का अर्थ ग्रन्थ हुआ।
- ...पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने जो पोथी हाथ में ली उस पर डोरी का वेष्टन बँधा हुआ था जिसे उसने खोला (तत्कालापनीतसूत्रवेष्टनं पुस्तकं, 85)। सम्भवतः पोथी के ऊपर-नीचे लकड़ी की पटलियाँ रहती थीं, पर बाण ने उनका उल्लेख नहीं किया। पटलियों के बीच में पत्रों को रखकर उन पर डोरी लपेट दी जाती थी।[39]
- "आरम्भिक गुप्तकाल में जो मन्दिर साँची, भूमरा, तिगोवा, दरा आदि स्थानों में मिले हैं, वे बिना शिखर के हैं, और उनकी छत का पटाव सपाट पत्थर रखकर किया जाता था।"[40] अतः कुछ इतिहासकारों का यह दावा सही नहीं माना जा सकता कि मन्दिरों का निर्माण बारहवीं शती के बाद आरम्भ हुआ।
- "बौद्धों के लिए उस समय अधिकतर जैन शब्द चलता था। बाण ने स्वयं शाक्यमुनि शासन में निरत बौद्ध भिक्षुओं के समूह के लिए जैनी सज्जनता (224) का प्रयोग किया है। बुद्ध के लिए उस समय जिननाथ विशेषण प्रयुक्त होता था। बौद्ध धर्म के लुप्त हो जाने के बाद से जैन पद केवल जैनों के लिए प्रयुक्त होने लगा (181)।"[41]
- बर्मा के मसार (अश्मसार) या यशब और हर्कारा (गल्वर्क) के पात्रों का उपयोग भारतीय सीमा से बाहर के देशों से व्यापारिक सम्पर्क की सूचना देता है।
- "असह्य दुख से त्राण पाने के लिए भृगुपत्तन, काशी-करवट, करीषाग्नि-दहन और समुद्र में आत्मविलय–इन चार प्रकारों से जीवन का अन्त करने का चलन था। इनमें भी कुछ लोगों की समझ से भृगुपत्तन भृगुकच्छ से भिन्न, केदारनाथ के समीप था जहाँ मोक्षार्थी पर्वत के नीचे कूदकर शरीरान्त कर लेते थे।"
- "बाण ने अपने समकालीन समाज के विषय में कुछ फब्तियाँ कसी हैं–'जिसमें अभिमान न हो ऐसा अधिकारी, जिसमें एषणा न हो ऐसा द्विजाति, जिसमें रोष न हो ऐसा मुनि, जिसमें मत्सर न हो ऐसा कवि, जो बेईमानी न करे ऐसा बणिक्, जो खल न हो ऐसा धनी, जो ब्राह्मणद्वेषी न हो ऐसा पाराशरी भिक्षु, जो भीख न माँगता हो ऐसा परिव्राट् (पाशुपत साधु), जो सत्यवादी हो ऐसा अमात्य, जो दुर्विनीत न हो ऐसा राजकुमार संसार में दुर्लभ हैं (181)।"[42] यह टिप्पणी तत्कालीन सामाजिक सम्बन्धों का बहुत जीवन्त चित्र प्रस्तुत करती है।
- "प्राचीन अभिलेखों–ताम्रपत्रों आदि–को सामान्यतः साहित्य से अधिक विश्वसनीय माना जाता है। परन्तु धूर्त नकली ताम्रपत्र बनाकर भूमि हथियाने का भी प्रयत्न करते थे। 'अस्मिंश्च राजनि यतीनां योगपट्टकाः' इस उल्लेख में योगपट्ट का दूसरा अर्थ जाली बनाए हुए ताम्रपत्रों से है। इस प्रकार के कई जाली ताम्रपत्र मिले भी हैं, जैसे समुद्रगुप्त का गया से प्राप्त ताम्रपत्र।"[43]
- अपराधियों को दंड देने में कभी-कभी बहुत क्रूरता से काम लिया जाता था। 'वृत्तीनां पादच्छेदाः' उल्लेख से ज्ञात होता है कि पैर काट देना उस समय के दंडविधान का अंग था।...'अष्टपदानां चतुरंगकल्पनाः' में चतुरंगकल्पना शब्द से अपराधी के दोनों हाथ और दोनों पैर काटने के दंडविधान का उल्लेख है (48)।[44]

यदि हम यह जानना चाहें कि क्या बाण ऐसे लेखकों को (द्विवेदीजी, अग्रवालजी और दूसरे अनेक) चुम्बकीय आकर्षण से अपनी ओर खींचते रहे हैं जो मस्तमौला स्वभाव के रहे हैं, तो उत्तर होगा बाण का स्वाभिमान और सत्ता के प्रति उनका उपेक्षाभाव। वह दरबारी नहीं बनना चाहते थे। दरबारी दर्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके लेखकीय स्वाभिमान को सह्य नहीं था। अपने निष्कर्ष पर वह अपने अनुभवों के बाद पहुँचे थे, और यद्यपि इसका इस रूप में हवाला किसी ने नहीं दिया है, न ही ऐसी व्याख्या दी है, परन्तु हर्ष का उन्हें महाभुजंग कहना और बाण का तत्काल उसका प्रतिवाद करना और अपना परिचय देते हुए, पूरी विनम्रता से ही सही, यह कहना कि महाराज मुझे महाभुजंग कैसे कह सकते हैं, उन परिणामों को देखते हुए इतना साहसिक है जो महाराज के कथन का प्रतिवाद करने पर मिल सकता था।

यह रहस्य कभी सुलझ नहीं सकता कि बाण की ख्याति या कुख्याति किस तरह हर्ष तक पहुँची थी और वह उनसे इतने रुष्ट क्यों थे ? क्योंकि उनके राज्य में बुरे लोगों की भी कोई कमी तो रही न होगी। क्या बाण अपनी तरुणाई की भ्रमण यात्राओं में जिनमें उन्होंने विविध प्रकार के अनुभव किए थे, कभी थानेसर भी पहुँचे थे और उनका किसी रूप में सम्पर्क राजकुल से भी हुआ था ?

> *उन्होंने घाट-घाट का पानी पिया था, अनेक लोगों से मिले थे और सब तरह की दुनिया देखी थी। देशान्तर देखने की उत्कंठा से भरकर मैं घर से निकल पड़ा (देशान्तरालोकनकौतुकाक्षिप्तहृदयः गृहान्निरगात्, 42)। बड़े-बड़े राजकुलों के उत्तम व्यवहार और शिष्टाचार देखे, गुरुकुलों और विद्यापीठों में रहकर वहाँ का जीवन भी देखा कि किस प्रकार वहाँ निरवद्य विद्या अर्थात् उत्तम ज्ञान की साधना की जाती है। और मैं उन गोष्ठियों में भी शामिल हुआ जिनमें अनमोल बातों का समाँ बँधता था और जो गम्भीर गुणों की खान थीं। सूझ-बूझवाले विद्वज्जनों की मंडलियों में भीतर घुसकर (गाहमानः) उनकी थाह ली और उनमें खो नहीं गया।*[45]

राजपरिवार के ही एक प्रभावशाली व्यक्ति कृष्ण का उनके प्रति इतना उदार होना और महाराज के उनके प्रति कोप को लेकर चिन्तित होना, महाराज से मिलने की व्यवस्था कराना और बिना किसी बाधा के उनका महाराज से मिल पाना, इसी की ओर संकेत करता है। उसी दशा में उनके किसी आचरण को लेकर उनके मन में खिन्नता रही हो सकती है ? सम्भव है यह बाण का स्वाभिमान रहा हो जिसे चाटुकारों ने दम्भ के रूप में प्रस्तुत किया हो। इतना तो बहुत स्पष्ट है कि यह जानने के बाद कि महाराज का कान कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने उनके विरुद्ध भर दिया है, अतः उन्हें उनसे मिलकर उनके भ्रम का निराकरण करना चाहिए, बाण खासे ऊहापोह के बाद ही उनसे मिलने गए थे।

> *मेरे अकारण स्नेही बन्धु कृष्ण ने सन्देश भेजा है। पर सेवा कष्टप्रद है। हाजिरी बजाना और भी टेढ़ा है। राजदरबार में बड़े खतरे हैं। मेरे पुरखों को उस तरफ कभी रुचि नहीं हुई और न मेरा दरबार से पुश्तैनी सम्बन्ध रहा है। न पहले राजकुल के द्वारा हुए उपकार का स्मरण मुझे आता है, न बचपन में राजकुल में ऐसी मदद मिली जिसका स्नेह मानकर चला जाए; न अपने कुल का ही ऐसा गौरव-मान रहा है कि हाजिरी जरूरी हो; न पहली मुलाकात की ही अनुकूलता है; न यह प्रलोभन है कि बुद्धि सम्बन्धी विषयों में वहाँ से कुछ आदान-प्रदान किया जाए; न यह चाह है कि जान-पहचान बढ़ाऊँ; न सुन्दर रूप से मिलनेवाले आदर की इच्छा है; न सेवकों-जैसी चापलूसी मुझे आती है; न मुझमें वैसी विलक्षण चतुराई है कि विद्वानों की गोष्ठियों में भाग लूँ; न पैसा खर्च करके दूसरों को मुट्ठी में करने की आदत है; न दरबार जिन्हें चाहते हों उनके साथ ही साँठ-गाँठ है।*[46]

राजदर्शन के लिए जाते हुए भी उनके स्वभाव की यह ऐंठ एक रोचक हवाले में लक्ष्य की जा सकती है :

> *छावनी में जब वे हर्ष से मिलने गए, तो महाप्रतीहारों के प्रधान दौवारिक पारियात्र के साथ सम्राट के समीप जाते हुए उन्हें मार्ग के बाईं ओर एक बाड़ा दिखाई पड़ा और उन्होंने पूछा कि यह क्या है ? और यह जानकर कि वह हर्ष की गजशाला थी जहाँ उनका मुख्य हाथी दर्पशात रहता था, बाण ने कहा—'हाँ, मैंने दर्पशात का नाम सुना है, उत्कंठा से मैं परवश हूँ; यदि आपत्ति न हो तो पहले उसी को देख लूँ।'*[47]

दरबारी परिवेश और वैभवप्रदर्शन के प्रति बाण में एक तीखा विकर्षण देखने में आता है :

> *बाण ने राजसेवा स्वीकार करनेवाले व्यक्तियों को, उनके दुख-सुख की भाँति-भाँति की मनोवृत्तियों के, उनके द्वारा किए जानेवाले कुत्सित कर्म, काट-कपट, उखाड़-पछाड़, खुशामद और चापलूसी के विषय में विचित्र उद्गार प्रकट किए हैं।...वे तो राजसेवकों को मनुष्य मानने तक को तैयार नहीं—बिचारे राजसेवक को भी यदि मनुष्यों में गिना जाए, तो राजिल को भी सर्प*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानना पड़ेगा, पयाल की भी धान में गिनती करनी होगी। मानधनी के लिए क्षणभर भी मानवता के गौरव के साथ जीना अच्छा, किन्तु मनस्वी व्यक्ति के लिए त्रिलोकी के राज्य का उपभोग भी अच्छा नहीं यदि उसके लिए सिर झुकाना पड़े। (वराकः सेवकोऽपि मर्त्यमध्ये, राजिलोऽपि वा भोगी, पुलाकोऽपि वा कलमः। वरं क्षणमपि कृता मानवता मानवता, न मतो नमस्त्रैलोक्याधिराज्योंपभोगोऽपि मनस्विनः। 225)।

'बहुत दिनों की दरिद्रता बुड्ढी माँ की तरह पुरुष को नौकरी की ओर ढकेलती है। तृष्णा असन्तुष्ट स्त्री की भाँति उसे जोर लगाती है। अनेक वस्तुओं की चाहना करनेवाले यौवन में उत्पन्न मनहूस विचार उसे नौकरी के लिए सताते हैं। दूसरों की याचना से मिलनेवाले बड़े पद की लालच इस ओर खींचती है। उसकी कुंडली में पड़े हुए बुरे ग्रह उसे इस परेशानी में डालते हैं। पूर्वजन्म के खोटे कर्म पीछे लगकर उसे इधर ढकेलते हैं। अवश्य ही वह दुष्कृती है जो राजकुल में प्रवेश करने का विचार मन में लाता है। वह उस व्यक्ति की तरह है जिसकी इन्द्रियों की शक्ति ठप हो गई हो, किन्तु भाँति-भाँति के सुख भोगने की झूठी साध मन में भरी हो (223)।'[48]

चाकरी को, भले वह राजकीय ही क्यों न हो, कृषक मूल्यप्रणाली में हेय, और कृषिकर्म को सर्वोत्कृष्ट माना जाता रहा है।[49] यह मूल्यप्रणाली वैदिक काल से ही चली आ रही थी और बीसवीं शती तक कृषक समाज में जारी थी।[50] यही कारण था कि उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी, यदि किसी शिक्षणसंस्था में ही अध्यापन कार्य न मिल गया तो विद्वान अपने गाँव को ही लौट आया करते थे और इसने पूरे देश को सांस्कृतिक दृष्टि से समाज की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पन्न बना रखा था।

हम दो ऐसे शब्दों की ओर ध्यान दिलाना चाहेंगे जिनसे हम अपनी समझ से सुपरिचित हैं। अग्रवालजी की व्याख्या के बाद हम अपने आपसे पूछ सकते हैं कि क्या हम इनसे सचमुच अच्छी तरह परिचित थे। इनमें एक है 'शालभंजिका' :

शालभंजिका शब्द का इतिहास बहुत पुराना है। आरम्भ में यह स्त्रियों की एक क्रीड़ा थी। खिले हुए साल के नीचे एक हाथ से उसकी डाल झुकाकर फूल चुनकर स्त्रियाँ परस्पर खेल खेलती थीं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्राचां क्रीडायां (6.7.74), नित्यं क्रीडाजीविकयोः (3.3.27) और संज्ञायां (3.3.109) सूत्रों के उदाहरणों में शालभंजिका, उद्दालपुष्पभंजिका आदि कई क्रीड़ाओं के नाम आए हैं। वात्स्यायन की जयमंगला टीका में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। बुद्ध की माता मायादेवी लुम्बिनी उद्यान में इसी प्रकार की शालभंजिका मुद्रा में खड़ी थीं जब बुद्ध का जन्म हुआ। धीरे-धीरे इस मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री के लिए शालभंजिका शब्द रूढ़ हो गया।[51]

दूसरा है 'आरभटी वृत्ति'। वृत्तियों के विषय में अग्रवाल जी की यह टिप्पणी इनके एक नए पक्ष का उद्घाटन करती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी ये नृत्य की चार वृत्तियाँ या शैलियाँ थीं। इन नामों का आधार भौगोलिक ज्ञात होता है। भारती भरत जनपद या कुरुक्षेत्र की, सात्वती गुजरात और काठियावाड़ के सात्वतों (यादवों) की, कैशिकी विदर्भदेश या बरार की जो क्रथकैशिक कहलाता था। इससे ज्ञात होता है कि आरभटी का सम्बन्ध देश-विशेष से था।...यूनानी भूगोल-लेखकों ने सिन्धु के पश्चिम में बलोचिस्तान के दक्षिणी भाग में 'आरबिटाई' (Arbitae) या 'आर्बिटी' (Arbiti) नामक जाति का उल्लेख किया है जो सोनमियानी के पश्चिम में थी।[52]

आरभटी नृत्य था। इसका वर्णन तो और भी रोचक है।

आरभटी शैली से नाचनेवाले नट मंडलाकार रूप में रेचक अर्थात् कमर, हाथ, ग्रीवा, आँख मटकाते हुए रासनृत्य करते थे। यहाँ इस नृत्य की पाँच विशेषताएँ कही गई हैं, 1. मंडलीनृत्य (शंकर ने इसे हलीमक कहा है जिसमें एक पुरुष नेत के रूप में स्त्रीमंडल के बीच में नाचता है। इसे ही भोज के सरस्वतीकंठाभरण में हल्लीसक कहा गया है, हल्लीसक का उद्गम यूनानी इलीशियन नृत्यों, इलीशियन मिस्ट्री डांस से ईस्वी सन के आसपास हुआ जान पड़ता है), 2. रेचक, 3. रासरस (आठ, सोलह या बत्तीस व्यक्ति मंडल बनाकर जब नृत्य करें तब यह रासनृत्य कहलाता है), 4. रभसारब्ध नर्तन, और 5. चटुलशिखानर्तन।...इस प्रकार इन चारों के एकत्र समवाय से जो शैली बनती थी उसका नाम आरभटी था, अर्थात् हाथ-कमर-ग्रीवा को विभिन्न भाव-भंगियों में उद्दाम वेग से चलाते हुए गोल चक्कर में सम्पन्न होनेवाला नृत्य आरभटी कहलाता था।[53]

यदि हम वासुदेवशरण अग्रवाल और हजारीप्रसाद द्विवेदी के हर्षचरित के 'पाठ' को मिलाकर देखें तो पाएँगे कि द्विवेदीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को हर्षचरित एक इतिहास के स्रोत के रूप में नहीं, काव्यकृति के रूप में ही आकर्षित करता है। ऐतिहासिक पक्ष को लेकर तो उनमें अनेक असावधानियाँ देखी जा सकती हैं। दूसरी ओर अग्रवालजी के अध्ययन में साहित्यिक पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है या कहीं-कहीं चर्चा है तो वह भी शास्त्रीय पक्ष की जो भी इतिहास से ही सम्बन्धित है। अतः उसी या उन्हीं कृतियों से दोनों तरह की निधियाँ तलाश कर हमारे समक्ष उपस्थित करते हैं। कहें, एक ही पाठ्य सामग्री या अभिव्यक्ति का एकाधिक रूपों में अध्ययन सम्भव है। हम कभी किसी कृति का सभी दृष्टियों से अध्ययन नहीं करते। कर ही नहीं सकते। हम किसी दृश्य वस्तु को एक ही समय में सभी कोणों से नहीं देख सकते। अपनी रुचि और जरूरत के अनुसार हमें एक 'सही' या 'उपयुक्त' कोण का चुनाव करना होता है। उस 'सही' या 'उपयुक्त' स्थान और कोण से जो कुछ देख रहे हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं देख सकते। यह एक बाध्यता है। परन्तु ऐसी कोई बाध्यता नहीं कि हम उसी वस्तु को भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न कोणों से न देखें, यद्यपि विरल अपवादों को छोड़कर हम किसी भी वस्तु, दृश्य अथवा अभिव्यक्ति के एक पक्ष को देख या जानकर ही यह भ्रम पाल लेते हैं कि हमने उसे देख या जान लिया। वस्तुतः हम उसे देखकर भी देख नहीं पाते, या अक्सर जिस रूप में देखते हैं, उसमें वह वस्तु जो कुछ है उससे भिन्न दीखती है। इसका अच्छा उदाहरण छायानाट्य (शैडो प्ले) है। एक खास दूरी, एक खास कोण से आते प्रकाश, और एक खास दिशा में हमारे बैठे होने के कारण एक ही पदार्थ अनेकानेक रूपों में दिखाई दे सकता है, परन्तु वह सचमुच जो है, उस रूप में भी दिखाई दे यह जरूरी नहीं।

हम जिस तथ्य पर बल देना चाहते हैं वह यह कि हमारा वस्तुसाक्षात्कार, विचारदृष्टि, चिन्तन और ग्रहण सभी अधूरे होते हैं। इनके अधूरेपन का हमें ध्यान तक नहीं होता और हम ग्रहीत अंश को ही उसकी पूर्णता मान लेते हैं। हमें यह तक ध्यान नहीं रहता कि पाठक भेद से एक ही पाठ के इतने पाठ हो सकते हैं कि पाठ कुछ समय के लिए व्यर्थ लगने लगे और पाठक केन्द्र में आ जाए। कहें अधूरे पाठ में पाठ्यसामग्री केन्द्र से बाहर हो जाती है और पाठक केन्द्र में आ जाता है और आत्मगत को पाठ्यसामग्री पर आरोपित करके उसका मनचाहा उपयोग करता है। समग्रपाठ या विविध कोणों से किए गए पाठ में भी बहुत कुछ छूट जाने की सम्भावना बनी रहती है। इसीलिए एक ही रचना को शताब्दियों तक समझदार लोग पढ़ते और उनमें से कुछ नया तलाश करते रहते हैं, और फिर भी उसमें कुछ छूटा रह जाता है। इसी अर्थ में वस्तुगत यथार्थ की तरह उसकी रचनात्मक प्रस्तुति भी अपरिसमापी होती है।

आलोचकों का सम्बन्ध साहित्य से होता है, अतः वे रचना के सौन्दर्यपक्ष पर ही विशेष रूप से ध्यान देते हैं। परन्तु उसी रचना को जब हम अभिलेख मानकर पढ़ते हैं, तो सौन्दर्य के झिलमिल आलोक के पीछे एक अधिक जटिल वस्तुव्यापार दिखाई देता है। अभिलेखीय पाठ के विषय में ही यह दावा सही माना जा सकता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है, या कोई भी अभिव्यक्ति वक्ता के मन का दर्पण होती है। एक सच्चाई की ओर हम प्रायः ध्यान नहीं देते या देना नहीं चाहते कि जब हम किन्हीं वैचारिक आग्रहों के चलते रचना का मूल्यांकन करने चलते हैं, तो प्रायः उसके अभिलेखकीय पक्ष को प्रधान और साहित्यिक पक्ष को गौण मानकर उसका पाठ करते हैं। यथार्थ और कलावाद के बीच का तनाव भी साहित्यिक पाठ और अभिलेखीय पाठ के बीच का तनाव ही है। आ

संदर्भ

1. अपने एक लेख (तद्भव, 11) में मैंने भ्रान्तिवश उन्हें भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण के महानिदेशक पद तक पहुँचने का उल्लेख कर दिया था। परन्तु इस विषय में कुछ सन्देह होने पर जाँच किया तो पता चला कि वह महानिदेशक के पद पर नहीं पहुँचे थे। उन दिनों महानिदेशक के अधीन अधीक्षक के पद पर ही थे। ह्वीलर के साथ उन्होंने काम अवश्य किया था और उनसे उनका कुछ विवाद भी हो गया था जिस पर उन्होंने सम्भवतः भूख हड़ताल तक किया था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उनके जाने की बाध्यता का कारण भी सम्भवतः ह्वीलर से उनकी पटरी न बैठ पाना था।
2. *हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन*, भूमिका।
3. परन्तु इसका एक इतर कारण यह भी था कि मेरे प्रयत्न करने के बाद भी *कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन* मुझे सुलभ नहीं हो पाया। अतः यह एक तरह का आत्मतोष भी था। लिखने के क्रम में ही यह पता चला कि यदि कादम्बरी को भी एक ही लेख में समेटने का प्रयत्न किया होता तो खतरा वही होता जिसका अनुमान वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया था।
4. *हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन*, पृ. 78
5. वही, पृ. 77-78

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. इस शब्द का प्रयोग इर्फान हबीब ने किया है इसलिए हमने इसे इसी रूप में रहने दिया है।
7. हमने अपने एक अध्ययन 'भारत में वस्त्रनिर्माण' (टेक्सटाइल इन इंडिया) में दिखाया है कि ऊर्णा, जिसका कोमल और चमकीले वस्त्र के रूप में ऋग्वेद में बार-बार हवाला आता है, वह ऊर्णवाभ या रेशम के कीड़े से उत्पादित वस्त्र था, न कि ऊनी वस्त्र। यह कुछ रोचक लगता है कि क्षीरस्वामी ने भी रेशम के लिए उसी ऊर्णा या ऊर्ण का प्रयोग किया है जो ऋग्वेद में बार-बार देखने में आता है। पत्रोर्ण में भी रेशम के लिए ऊर्ण ही है।
8. वही, भूमिका।
9. वही, पृ. 75
10. वही, पृ. 79
11. वही, पृ. 76
12. वही, पृ. 113-14
13. वही, पृ. 136
14. वही, पृ. 25
15. वही, 105
16. वही, पृ. 89
17. वही, पृ. 26
18. वही, पृ. 87
19. वही, पृ. 81-82
20. वही, पृ. 148
21. वही, पृ. 86
22. वही, पृ. 9
23. वही, पृ. 83
24. वही, पृ. 83-84
25. वही, भूमिका।
26. वही, पृ. 160
27. वही, पृ. 162-63
28. वही, पृ. 18
29. वही, पृ. 42
30. वही, पृ. 145
31. वही, पृ. 44
32. वही, पृ. 88
33. वही, पृ. 91
34. वही, पृ. 20
35. वही, पृ. 161
36. वही, पृ. 93
37. वही, पृ. 21
38. वही, पृ. 6
39. वही, पृ. 52
40. वही, पृ. 7
41. वही, पृ. 181
42. वही, पृ. 117-18
43. वही, पृ. 48
44. वही, पृ. 48
45. वही, पृ. 1-2
46. वही, पृ. 35-36
47. वही, पृ. 1-2
48. वही, पृ. 175-76
49. ऋग्वेद के कितव सूक्त का भरतवाक्य है—खेती करो (कृर्षि कृषस्व), वह न हो सके तो व्यापार करो (वित्ते रमस्व), पर जुए के चक्कर में न पड़ो।
50. उत्तम खेती मध्यम बान अथम चाकरी भीख निदान।
51. पूर्व, पृ. 61
52. वही, पृ. 34
53. वही, पृ. 33-34

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास में दलित महिला-विमर्श

मोहनदास नैमिशराय

भारत में युग बदलने से परिवर्तन की हवा हमेशा से चलती आई है। वह बात अलग है कि परम्पराओं/रूढ़ियों/प्रथाओं के साथ परिवर्तन के भी खिलाफ आन्दोलन कितना सशक्त रहा या फिर आन्दोलन के सूत्रधारों ने अपने बाद की पीढ़ी को सामाजिक न्याय के आन्दोलन की वह विरासत किस रूप में सौंपी। यहाँ सवाल यह भी उठता है कि नई पीढ़ी ने कितनी प्रतिबद्धता से सकारात्मक सोच की मानसिकता वाले समाजशास्त्रियों तथा बुद्धिजीवियों से अपने रिश्ते बनाए। इतिहास मनु को भी याद करता है और भगवान बुद्ध को भी। आगे के दौर में चलें तो कबीर, रैदास, मीराबाई, फुले, अम्बेडकर को भी इतिहास सर आँखों पर लेता है। इतिहास में जाने-अनजाने दलित नायकों को भी याद किया जाता है, पर दलित महिलाएँ अन्तिम पंक्ति में अपनी बाट जोह रही होती हैं। इसलिए कि वे महिलाएँ भी हैं और दलित भी। हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के दो तरह के अभिशाप से मुक्ति हेतु तड़पती हुई समाज को उद्वेलित करने के लिए प्रयासरत है।

बकौल डॉ. रामदयाल मुंडा जब भी किसी विजयी जाति ने इतिहास लिखने की कोशिश की है, उसने विजित जाति के प्रति अपना रोब जमाने की कोशिश भी की है।[1] दलित और आदिवासी समाज के इतिहास के सम्बन्ध में यह बात अपने आपमें सटीक मानी जाती है। बहुत-सी बातें मनमाने तरीके से और अपने-आपको गौरवान्वित करने के उद्देश्य से इतिहास में दर्ज कर दी गईं। इस विषय को इतिहासकारों से लेकर समाजशास्त्रियों ने भी नजरअन्दाज किया। उनके अपने चिन्तन पर नस्लीय और जातीय प्रभाव रहा। मनु की मानसिकता उनके भीतर भी कहीं-न-कहीं मौजूद रही। तिरूमाय के विचार में आर्यों की वर्ण-व्यवस्था का प्रभाव इतना जबरदस्त हुआ कि महिला इंसान की श्रेणी में भी नहीं मानी जाने लगी। पुरुषप्रधान समाज-रचना में महिला को दासी से कोई भी ऊपर का दर्जा प्राप्त नहीं हुआ।[2]

एस.एल. सागर लिखते हैं कि अछूत, आदिवासी और द्रविड़ ये तीनों नाम एक ही नस्ल तथा जाति के हैं जो समय और परिस्थितियों के बीच बदलते रहे।[3] उनका मानना है कि भारत में सभी क्षेत्रों में आदिवासियों की जनसंख्या है। उत्तरभारत में वे अछूत के रूप में रहे और दक्षिण भारत में द्रविड़ कहलाए।[4]

भारत का जो भी प्राचीनतम लेखबद्ध इतिहास हमें मिलता है, उनका आरम्भ वेदों से होता है। वेदों तथा आर्य संस्कृति के अन्य ग्रन्थों में हम आर्यों और अनार्यों का संघर्ष पाते हैं। बकौल एस.एल. सागर आर्य बाहर से आए, और अनार्य यानी दलित, द्रविड़ या

बी.जी.एस.-ए/30-बी., पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदिवासी मूलवासी थे।[5]

विश्व में सिन्धु घाटी की सभ्यता का इतिहास जातिरहित समाज के विकास की कथाओं का दस्तावेज है। वैसी सभ्यता के सृजनकर्त्ता द्रविड़ रहे हैं।[6] उन्हीं की संस्कृति में महिलाओं का समाज में पूर्ण रूप से सम्मान रहा।[7] पर बाद के दौर में महिलाओं का इतिहास ही बदलने लगा।

आदिवासी महिलाओं ने तो कई छोटे-बड़े राज्यों का कुशलता और बुद्धिमत्ता से शासन-प्रशासन करने का गौरव प्राप्त किया। प्रथम महिला सेनापति—शूर्पणखा, ताड़का, त्रिजटा अतिरिक्त राजा चन्द्रचूड़ा की रानी वृन्दा और राजा जलन्दर की रानी तुलसी थी। सुमति राजा संग्राम शाह की पत्नी, रानी तिलका (लाँजी), रानी देवकुँवर (हरियागढ़), गढ़ामंडला की रानी दुर्गावती, रानी फूलकुँवर, रानी नंगला, रानी सत्यवती, रानी हीरातानी (चाँदागढ़), रानी कमाल हीरो (रय्या सिंघोला), रानी हिरई, रानी चमेली (बस्तर चक्रकोट), सम्मका-सारक्या (वारंगल), उत्कल राजकुमारी (भवानी पटना), झलकारीबाई (झाँसी), सिनगि दई (बिहार), रानी गाईडिलू आदि तो चर्चित और ख्यातिप्राप्त महिलाएँ हैं किन्तु सैकड़ों गुमनाम महिलाओं ने भी समाज व देश के लिए अपनी आहुति दी है। आदिवासी महिलाओं ने समूह का नेतृत्व ही नहीं किया बल्कि आन्दोलन भी खड़े किए और अनेक युद्ध जीतकर दुश्मन के दाँत खट्टे किए।[8]

बकौल रमणिका गुप्ता भारत पर विदेशी हमले हुए, अंग्रेजों का राज आया पर आदिवासी एक ऐसी जमात थी, जिसने कभी समर्पण नहीं किया, भले ही लड़ते-लड़ते वे मारे गए। आदिवासी औरतें भी संघर्ष में कभी पीछे नहीं रहीं।

झारखंड की युवा पत्रकार वासवी[9] लिखती हैं कि अंग्रेजों से लोहा लेने और कई इलाकों में तो उन्हें घुटने टेकने के लिए मजबूर करने में सशस्त्र स्त्रियों के दल ने भूमिका निभाई। इस मायने में भारत के मध्यक्षेत्र के आदिवासी इलाकों में हुए ऐतिहासिक संघर्ष बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। समय-समय पर आजादी के संग्राम में भाग लेने और तिरंगा फहराने के लिए पुलिस की गोलियाँ खानेवाली स्त्रियों के नाम यदा-कदा उजागर होते रहे हैं। लेकिन आदिवासी क्षेत्रों में हुए विद्रोहों में तीर-धनुष और परम्परागत हथियारों से जूझनेवाली स्त्री-योद्धाओं को एकदम से विस्मृत किया जाता रहा है। लैंगिक पूर्वाग्रह से लिखे गए इतिहास में उनकी हल्की चर्चा से पूरे समाज के मूल्यों पर रोशनी नहीं पड़ती।

भारत के मध्य आदिवासी क्षेत्रों में हुए विद्रोहों का सन्दर्भ और स्त्री की भूमिका पर विशेष तौर पर उल्लेख करना इस लेख का मूल मकसद है। 1760 से लेकर 1947 के भारत की आजादी तक साउथ ईस्ट फ्रांटियर में जो संघर्ष हुए, स्त्री भागीदारी के बिना वे पूर्ण नहीं हुए। आदिवासी अस्मिता का प्रश्न हो या जंगल-जमीन पर परम्परागत हक, सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की रक्षा का सवाल या फिर साम्राज्यवाद विरोध की अगुवाई का मुद्दा, आदिवासी स्त्रियों ने उलगुलान (विद्रोह) में बराबर की भूमिका निभाई। देश को अंग्रेजों से मुक्त कराने को हाथ में तिरंगा उठाया और जन गोलबन्दी की अगुवाई की। कभी अनाज की कमी के खिलाफ तो कभी देश के भूखे बच्चों के लिए दूध जुटाने के लिए, तो कभी गरीबी से तन ढँकने को कपड़ा जमा करने का सामाजिक अभियान संग्रामी स्त्रियों ने चलाया। वहीं परम्परागत आदिवासी समाज पर हुए बाहरी लोगों के हमले के विरुद्ध हथियार औरतों ने भी उठाए।

1760 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मीरकासिम से बर्दमान और चटगाँव के मेदिनीपुर जिले पर भी अपना कब्जा जमाया। मेदिनीपुर वृहद् झारखंड सांस्कृतिक क्षेत्र है और यहाँ आदिवासी किसानों ने लम्बा संघर्ष कर अंग्रेजों को अपना राज कायम करना असम्भव बना दिया था। आदिवासी किसानों की स्त्रियों ने इस संघर्ष में साथ दिया। अंग्रेजों के पाँव फिर यहीं नहीं रुके। 1766-67 में लेफ्टिनेंट जान फर्गुसन की अगुवाई में घाटशिला पर चढ़ाई की गई।

यह बहस का मुद्दा है कि आदिवासी समाज पर लिखनेवाले लेखकों व इतिहासकारों ने आदिवासी विद्रोहों की शृंखलाओं में लड़ाकू औरतों को सिद्धो कान्हू या बिरसा मुंडा या धरती आबा की तरह स्थापित क्यों नहीं किया? इतिहासकारों की इस नाइंसाफी के बावजूद विद्रोही औरतों का वजूद बना रहा तो सिर्फ इसलिए कि आदिवासी समाज की ऐतिहासिक धरोहर आज भी लोकगीतों और श्रुति-कथाओं में जीवित है।

झारखंड की उराँव आदिवासी औरतें 'सिनगी दई' और 'कइली दई' को जब याद करती हैं तो इस समाज की औरतों का शौर्यपूर्ण इतिहास चमक उठता है। सामूहिक जीवन-पद्धति, जंगल-जमीन, संस्कृति की धरोहर की रक्षा के लिए आदिवासी औरतों ने लगभग चार सौ साल पहले रोहतासगढ़ के दुर्ग पर तुर्क सेना के दाँत खट्टे कर दिए थे। सरहुल पर्व के मौके पर तुर्क सेना के रोहतासगढ़ किले में आक्रमण का मुकाबला सैनिक वेश में स्त्रियों ने किया। कहा जाता है कि पुरुष जंगल गए हुए थे। रोहतासगढ़ किले पर फतह करने के लिए तीन बार तुर्क सेना का हमला हुआ। तीनों बार औरतों ने सैनिक वेश धारण किए और तुर्क सेना को परास्त किया। इस विजय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की खुशी में आज भी आदिवासी औरतें बराबरी का सपना बाँटती 'जनी शिकार' करती हैं और ऐतिहासिक विजय की याद दिलाती हैं। विजय स्मृति स्वरूप उराँव आदिवासी औरतें माथे पर गोदना के तीन निशान भी लगाया करती हैं। 12 साल में एक बार जनी शिकार का पर्व झारखंड में मनाया जाता है। प्रतीकस्वरूप उस दिन उराँव स्त्रियाँ दुश्मन के रूप में पशुओं सुअर, बकरी, मुर्गा, बत्तख आदि का शिकार करती हैं। अब तो दूसरे आदिवासी समूह भी यह पर्व मनाने लगे हैं।

भारत में पाँव पसारने के बाद अंग्रेजों ने आदिवासी इलाकों में घुसपैठ की तो आदिवासी इलाका आन्दोलित हो उठा। पहाड़-जंगल, नदी, गाँव में बसा जीवन जब बाहरी लोगों के हस्तक्षेप से अशान्त होने लगा तब विद्रोहों की शुरुआत हुई। अंग्रेज कमिश्नर ई.टी. डालटन ने लिखा है कि आदिवासी इलाकों को उन्हें मुश्किल से 'जीतना' पड़ा। रक्तरंजित आदिवासी विद्रोह औरतों की साझेदारी के बिना यह संग्राम न पूर्ण रहा और न वह ऐतिहासिक समृद्धि पा सका। विद्रोही अगर ब्रिटिश फौज के सामने झुके नहीं तो सिर्फ इसलिए कि औरतों ने पीठ पर बच्चे बाँध हाथों में हथियार ले अपने मर्दों का साथ दिया। विद्रोहों की कड़ी में 1855-56 का संताल हूल आदिवासी संघर्ष का ऐसा उदाहरण है जिसमें आत्मगौरव और आत्मसम्मान के लिए दस हजार से ज्यादा लोगों ने कुर्बानी दी। संताल औरतों का अपहरण और कुकर्म के बाद हत्या, अंग्रेजों, महाजनों और जमींदारों के जुल्म से आदिवासी त्रस्त हो उठे तो औरत-मर्द सबों ने हथियार थाम लिए। संताल विद्रोह में दस हजार से अधिक लोग मारे गए। संताल हूल के नायक सिद्धो, कानू, चाँद, भैरव के साथ उनकी दो बहनों—फूलो और झानो—ने योद्धा की भाँति अंग्रेज शत्रुओं से मुकाबला किया। रात को तलवार लेकर निकली फूलो और झानो ने अंग्रेजों के शिविर में जाकर 21 सिपाहियों की हत्या की। संताल लोकगीतों में आज भी इन बहादुर औरतों को याद कर आत्मगौरव से यह समाज भर उठता है। 'खूब लड़ी मर्दानी, माकी जैसी बलिदानी और फूलो झानो की कुर्बानी' भला कैसे भुलाई जा सकती है।

देवमनी उर्फ 'बन्धनी' कौन थी ? उसने सत्याग्रही ताकतों को क्यों बाँध रखा और असहयोग आन्दोलन की नींव मज़बूत किसलिए की ? इतिहासकारों का दावा है कि महात्मा गांधी को सत्याग्रह और असहयोग का रास्ता टाना भगतों ने दिखाया।[10] बन्धनी इस टाना भगत आन्दोलन की एक स्तम्भ रही है। झारखंड की 'देवमनी' उर्फ 'बन्धनी' जैसी सत्याग्रही शक्ति तथा 'माकी' जैसी हथियारबन्द लड़ाकू औरतें भी बलिदान का प्रतीक हैं। जतरा भगत के 1914 में गिरफ्तार होने के बाद बन्धनी ने उसकी बागडोर सँभाली थी। अंग्रेज भी उससे डरने लगे थे। गुमला के विशुनपुर इलाके में यह आन्दोलन तब जोर पकड़ा जब बाहरी लोगों और अंग्रेजों ने आदिवासियों को उनकी भूमि से बेदखल कर दिया। बड़े जमींदारों को अंग्रेजों ने भूमि बन्दोबस्त कर दी। हजारों एकड़ जमीन छीन ली गई तब विशुनपुर के चिंगरी गाँव में पैदा हुए जतरा उराँव ने टाना आन्दोलन चलाया। बिरसा उलगुलान के दस बरस बाद ही जतरा भगत ने उराँव समाज से कहा कि असहयोग करो। दिन-रात खेतों में काम करने और धान उपजाने का क्या फायदा ? जमींदार जितना कुकर्म कर सकता है, करता है। गाय-बैल चरने नहीं देता। जबरदस्ती धान काट लेता है। डॉ. सुदेशना बसु ने अपनी किताब 'पीजेंट रजिस्टेंस इन बिहार' (बिहार में किसान विद्रोह) में लिखा है कि चिंगरी में टाना भगत आन्दोलन का परचम लहरानेवाले जतरा भगत को 1914 में गिरफ्तार किया गया और उन्हें लगभग डेढ़ साल कैद की सजा हुई लेकिन टाना भगतों का असहयोग आन्दोलन बिखरा नहीं। बटकुरी गाँव के देवमनी-बन्धनी जतरा भगत की पत्नी ने आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। कहा जाता है कि देवमनी उर्फ बन्धनी के मोर्चा सँभालते ही टाना भगत आन्दोलन में ज्वार पैदा हुआ और इसका विस्तार राँची-हजारीबाग तक हुआ। देवमनी के नेतृत्व में हजारों आदिवासी टानापन्थी हुए। देवमनी की बहादुरी से जंगल-जमीन के लिए गोलबन्दी बढ़ी।

इस तरह डोम्बारी बुरू से डुम्बरपाठ तब औरतों की यह लड़ाकू परम्परा बिरसा उलगुलान के उस महान सह-नायक गयामुंडा और उनकी पत्नी माकी के साथ पूरे परिवार के बलिदान को ताजा कर देती है जिन्होंने आदिवासी समाज की अस्मिता की रक्षा के लिए अंग्रेजों से लोहा लिया। लोग माकी को, गयामुंडा और उनके परिवार को भले याद न करें, लेकिन उनका बलिदान भुलाया नहीं जा सकता। गयामुंडा धरती आबा के दाहिना हाथ थे। अंग्रेजों से जूझते हुए गया मुंडा शहीद हुए और उनके पूरे परिवार जिनमें उनकी बेटियाँ और बहुएँ भी थीं, को अंग्रेजों ने जेल के सीखचों में कैद किया।

बिरसा उलगुलान के कदम-दर-कदम संघर्ष में स्त्रियों की व्यापक भागीदारी पाई गई। उलगुलान के नायक बिरसा मुंडा का साथ स्त्रियों ने कभी नहीं छोड़ा, खासकर चम्पी और साली नामक विद्रोही स्त्रियों ने कभी नहीं। चम्पी और साली नामक विद्रोही स्त्रियाँ हर वक्त बिरसा की मदद के लिए साथ रहीं। अंग्रेजों ने बिरसा की गिरफ्तारी के लिए 500 रु. का इनाम घोषित किया और कुछ मुंडाओं को प्रलोभन देकर उन्हें अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाल में फँसा लिया तब स्त्रियों ने ही बिरसा की रक्षा की। मानमारू और जरीकेल गाँव के सात मुंडाओं को लोभ देकर अंग्रेजों ने पता कर लिया कि बिरसा कहाँ है। सातों लालची लोगों ने बिरसा को खोजते हुए देखा कि सेंतरा के पश्चिम स्थित जंगल के काफी भीतर जलाई गई आग का हल्का-सा धुआँ उठ रहा है। सभी बिरसा को पकड़ने के लिए पहुँचे तो देखा कि साली और दूसरी सुगी मुंडा की पुत्री चम्पी उनका खाना पका रही थी। मौके की ताक में बैठे लोभी लोगों ने, जब चम्पी और साली गहरी नींद में सो गईं तो, बिरसा को दबोच लिया।

डॉ. सिंह ने अपनी पुस्तक में सइल रकव में मारे गए शहीदों की सूची में तीन स्त्रियों का जिक्र किया है जो बनकन मुंडा, मंझिया मुंडा और डुनडंग मुंडा की पत्नियाँ थीं। ये तीनों जिउरी गाँव की रहनेवाली थीं।

संघर्ष की यह गौरवगाथा आज भी मुंडा लोक-स्मृतियों और लोकगीतों में सुनने को मिलती है। औरतों ने हमेशा ही समाज-व्यवस्था को तोड़नेवाली ताकतों का मुकाबला किया। बिरसा उलगुलान के बाद भी लड़ाकू संघर्ष की परम्परा ने झारखंडी पहचान के आदिम समाज की बुनियादी माँग के साथ जोर पकड़ा। झारखंड आन्दोलन इन्हीं विद्रोहों का आधुनिक रूप बना। बिरसा उलगुलान के बाद बने छोटा नागपुर काश्तकारी अधिनियम और संताल परगना काश्तकारी अधिनियम से सवाल हल नहीं हो सके और पूरे समाज पर मँडराता खतरा ज्यादा सघन हो चला। ऐसे दौर में झारखंड आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका क्या हो, यह सवाल महत्त्वपूर्ण हो उठा है।

जनकवि बिहारीलाल के प्रबन्ध काव्य[11] के बारे में पूर्व गृह राज्यमन्त्री सुबोध कान्त सहाय लिखते हैं कि वीरांगना झलकारीबाई चूँकि एक साधारण परिवार से सम्बन्धित नारी थी, इसलिए अब तक नींव के पत्थर की भाँति दबी रही।

जैसा कि जवाहरलाल नेहरू ने भी लिखा है, "असली इतिहास जैसा जहाँ-तहाँ से चुने हुए कुछ खास व्यक्तियों का ही वर्णन नहीं करता है बल्कि उन लोगों की बात भी करता है जो राष्ट्र के इतिहास का निर्माण करते हैं।"[12]

अधिकांश तौर पर देखा जाए तो भारत में आरम्भ से ही अधिकांश इतिहासकारों को राजा, रानियों, नवाबों, बेगमों के किस्से, कहानियाँ, कथाओं[13] को लिखने के अलावा कहाँ फुर्सत थी। सही बात तो यह है कि ऐसे इतिहासकारों ने दलित समाज के नायक और नायिकाओं को अँधेरे में ही नहीं धकेला बल्कि जान-बूझकर उन्हें इतिहास से काटने की साजिश भी की।

शौर्य तथा पराक्रम कभी भी किसी जाति तथा वर्ण विशेष की बपौती नहीं रहा है। दलित भी इतिहास के सूत्रधार रहे। उन्होंने भी समय-समय पर सशक्त भूमिका निभाई। झलकारी बाई भी भारत की आजादी के इतिहास में इसी प्रकार का एक सशक्त और प्रभावपूर्ण चरित्र रहा है, जिस पर अगर दलित समाज के कुछ लेखक और कवियों के द्वारा अगर नहीं लिखा जाता तो दलित समाज की वह वीरांगना झलकारीबाई अँधेरे में रह जाती।

झलकारीबाई का जन्म 22 नवम्बर, 1830 में झाँसी में बालाजी मार्ग पर स्थित गाँव भोजला में हुआ था। उनके पिता का नाम मूलचन्द और माँ का नाम धनिया था। 1843 में झलकारी का विवाह झाँसी के पूरन कोरी से कर दिया गया।

वीरांगना झलकारीबाई बचपन से ही वीर एवं बहादुर प्रकृति की थीं। उनमें नेतृत्वशीलता, उत्साह जैसे गुणों का अद्भुत संगम था। उनका जन्म अछूत वर्ग की उपजाति कोरी में हुआ था। उनके पति 'पूरन कोरी', राजा गंगाधर राव के राजदरबार में एक मामूली सिपाही थे। झलकारीबाई अपने पति के पैतृक पेशे से जुड़ी होने के कारण घर पर कपड़ा बुनने का कार्य करती थीं। वे एक आदर्श बहादुर घरेलू नारी थीं। उनका पारिवारिक जीवन अत्यन्त संघर्षमय था। वह यदा-कदा अपने पति के साथ राजमहल में जाती थीं। रानी लक्ष्मीबाई उनके व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य से अत्यन्त प्रभावित थीं, क्योंकि झलकारीबाई रूप-रंग, कद-काठी से रानी लक्ष्मीबाई के जैसी ही थीं। इसलिए रानी लक्ष्मीबाई और झलकारी में मित्रता हो गई और दिन-प्रतिदिन उनके सम्बन्ध गहराते चले गए। झलकारी बाई ने अपने पति पूरन से सैनिकों के सभी गुण सीख लिए थे चाहे तीर, तलवार, बन्दूक चलाना हो या फिर घुड़सवारी। उनकी यही सैन्य-शिक्षा झाँसी के स्वतन्त्रता संग्राम में काम आई।

न धर्म रक्षा और न जाति रक्षा, झलकारी ने चूड़ियाँ पहनना छोड़ देश-रक्षा के लिए बन्दूक हाथ में ले ली थी। उसे न महल चाहिए थे, न कीमती जेवर और न रेशमी कपड़े और न दुशाले। वह न तो रानी थी और न ही पटरानी। वह किसी सामन्त की बेटी भी नहीं थी तथा किसी जागीरदार की पत्नी भी नहीं। वह तो गाँव भोजला के एक साधारण कोरी परिवार में पैदा हुई थी और पूरन को ब्याही गई थी। पिता भी आम परिवार से थे और पति भी, लेकिन देश और समाज के प्रति प्रेम और बलिदान ने उन्होंने इतिहास में खास जगह बनाई थी।

झलकारी कोरिन के सम्बन्ध में बुन्देलखंड के घर-घर में आज भी कथा सुनी जा सकती है। पूरन कोरी की स्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुन्देलखंडी किसान घर की महिला झलकारी श्यामवर्णा और सुन्दर स्त्री थी। युद्ध के दिनों में वह रानी के सम्पर्क में आकर देशभक्ति से अनुप्राणित हो गई थी। झाँसी जब अंग्रेजों के हाथ में चली गई, झलकारी अंग्रेजों को रानी का पीछा करने से रोकने के लिए महाराष्ट्रीय स्त्री के वेश में सज-धजकर घोड़े पर सवार होकर तलवार हाथ में लिए ह्यूरोज़ से मिलने जाती थी। कहती हैं, मैं ही झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई हूँ। अगर आप झाँसीवासियों को क्षमा कर दें तो मुझे पकड़ लीजिए, इसीलिए मैं आत्मसमर्पण करने आई हूँ। किन्तु गोपाल राव सरस्तेदार ने उसको देखकर बताया कि यह रानी नहीं है, झलकारी कोरिन है। ह्यूरोज़ ने आदेश दिया इसे अभी प्राणदंड दिया जाएगा। झलकारी ने कहा—"मार दें, मैं का मरबे खाँ डरात हौं ? जैसे इत्ते सिपाई मरे तैसें एक मैंऊँ सई।"

एम.आर. विद्रोही के अनुसार झलकारीबाई में वीरता और धीरता का अनोखा संगम था। उन्होंने अपने प्राण देश की स्वतन्त्रता के लिए दे दिए। इसी तरह से दलित समाज की एक और महिला महाबीरी देवी ने भी इतिहास में अपना नाम कमाया था। वे मुजफ्फरनगर के मुंडभर गाँव की थीं। उनके नेतृत्व में 22 महिलाओं की टोली ने अंग्रेजी सेना पर आक्रमण किया था तथा लड़ते-लड़ते वे शहीद हो गई थीं।[14]

1857-58 के दौरान मुजफ्फरनगर की ही अनगिनत महिलाओं को फाँसी पर लटकाया गया। वीरगति प्राप्त अन्य महिलाओं में भगवानी, मेहरी, रणवीरी और शोभा देवी आदि के नाम हमें उस समय के रिकार्ड से मिले हैं। इसी तरह मेरठ क्रान्ति के समय बहुत-सी महिलाओं ने अंग्रेजों की गोलियों द्वारा शहादत पाई।

मेवाड़ राज्य चित्तौड़गढ़ के महाराणा सांगा के महल में धाय पन्ना का त्याग और बलिदान तो आज भी प्रेरणा और उत्साह का संचार करता है।[15] 1857 की क्रान्ति में जगरानी पासी का नाम भी अमर रहेगा। लखनऊ में सिकन्दर बाग के पास जब अंग्रेजी सेना से चेतराम रैदास के नेतृत्व में दलित क्रान्तिकारी लड़ रहे थे तो दलित परिवार की महिलाएँ भी पीछे न थीं। सिकन्दर बाग में सेमर के वृक्ष के नीचे जिस महिला ने अनेक अंग्रेजों को मार गिराया, वह जगरानी पासी ही थी।[16] इस युद्ध में लगभग 220 वीर शहीद हुए थे और उतने ही घायल भी हुए। शहीदों में स्वयं जगरानी भी थी।

जब 1857 की क्रान्ति की पूर्व बेला में क्रान्ति का प्रतीक कमल तथा रोटी गाँव-गाँव भेजी जा रही थी तो अवन्तीबाई ने उन्हें स्वीकार कर अनेक रियासतदारों तथा जमींदारों के पास कागज की पुड़िया भिजवाई थी, जिनमें चूड़ियों के टुकड़े थे। इनका अर्थ था देश की रक्षा करने के लिए या तो कमर कसो या फिर चूड़ियाँ पहनकर घर में बैठ जाओ।[17]

इसी तरह से नागालैंड की उत्तरी पहाड़ियों में सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-31) के दौरान रानी गुडियालो ने देश के लिए अपने प्राणों का बलिदान दिया था। वैसे ही 16 नवम्बर, 1857 को अपने पति मक्का पासी की मृत्यु का बदला लेने के लिए लखनऊ रेजिडेंसी की अंग्रेज सेना की 63वीं बटालियन पर हमला किया था। और अन्त में लड़ते-लड़ते वह शहीद हो गई। सर विलियम हावर्ड रसेल उस समय 'लन्दन टाइम्स' के रिपोर्टर थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'माई डायरी इन इंडिया 1857-59' में सिकन्दर बाग की महिलाओं के शौर्य के बारे में लिखा है।

बकौल कात्यायनी नारी-मुक्ति चेतना और नारी-मुक्ति आन्दोलन के इतिहास की शुरुआत अमेरिकी क्रान्ति के दौरान अबिगेल एडम्स और मर्सी वारेन के नेतृत्व में मताधिकार और सम्पत्ति के अधिकार सहित सामाजिक समानता की माँग और फ्रांसीसी क्रान्ति के दौरान ओलिगा द माउजेस द्वारा 1791 में राष्ट्रीय असेम्बली में प्रस्तुत स्त्रियों और स्त्री नागरिकों के अधिकारों की घोषणा से मानी जाती है।[18] वहीं अभय कुमार दुबे के अनुसार फ्रांसीसी क्रान्ति के जमाने से ही यह सवाल अनसुलझी शक्ल में मुक्तकामियों का मुँह चिढ़ा रहा था कि 'स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व' के नारे का औरतों के लिए क्या अर्थ है। वे कहते हैं कि फ्रांस की क्रान्ति लिंग के लिहाज से निश्चित रूप से एक पुरुषवादी क्रान्ति थी, लेकिन उससे जुड़ी सैद्धान्तिकता में नारी-मुक्ति की सम्भावनाएँ भी थीं।[19]

मार्क्सवाद सिर्फ श्रमिक को ही उसकी इस सार्वभौमिक लानत से मुक्त कराने की कोशिश करता दिखाई दिया, स्त्री की मुक्ति उसने साम्यवादी समाज की उपलब्धि के लिए छोड़ दी, ऐसा नहीं कि स्त्री का प्रश्न कभी भी वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापकों की निगाह से ओझल हुआ हो, एंगेल्स ने इंग्लैंड के मजदूर वर्ग का अपनी मशहूर कृति में और फिर 'कैपिटल' में मार्क्स ने परिवार और उससे जुड़ी हुई स्त्री की अधीनता पर निगाह फेंकी, लेकिन उनकी प्राथमिकता हमेशा वही रही। उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध न कि प्रजनन के सामाजिक सम्बन्ध, यौनिकता के मनोवैज्ञानिक पहलुओं को विश्लेषित करने की मार्क्सवाद ने कभी जरूरत नहीं समझी। वह परिवार को ज्यादा-से-ज्यादा निजी स्वामित्व पर आधारित इकाई ही मानता रहा।[20]

परवर्ती मार्क्सवादियों ने भी इस सीमा का अतिक्रमण करने की चेष्टा नहीं की, वे स्त्री-मुक्ति समर्थक उक्तियों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सवाद की पोथियों में रेखांकित करते रहे लेकिन उन्होंने समाजवादी क्रान्ति को स्त्री-मुक्ति के विशिष्ट सन्दर्भ से जोड़ने के कार्यभार में सदा हिचकिचाहट दिखाई, नतीजतन सीमोन द बोउवार जैसे प्रतिष्ठित नारीवादियों ने मार्क्सवाद की यह आलोचना पेश की कि मार्क्सवाद स्त्री की पुरुष से जैविक भिन्नता के तथ्य की उपेक्षा करता है, एंगेल्स यह स्पष्ट नहीं करते कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था क्यों अनिवार्यतः औरत की गुलामी का कारण बनती है, सम्पत्ति की अवधारणा औरत की दलित अवस्था के व्यक्तिगत आधारों को स्पष्ट नहीं करती, एंगेल्स ने औरत की कमजोरी को केवल ताम्र और लौह औजारों के विनियोजन के सम्बन्ध से उपजी परिघटना माना, उन्होंने श्रम की क्षमता से अलग प्राकृतिक रूप से ही माँ बनने को विवश औरत की एक मौलिक और ठोस असुविधा की समस्या का महत्त्व नहीं समझा।

जबकि डॉ. अम्बेडकर ने स्त्री-मुक्ति के सवाल को मनु के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के खिलाफ और मानवीय आधार पर उसे पुरुष के बराबर लाकर हल करने का प्रयास किया, क्योंकि वे जानते थे कि हिन्दू व्यवस्था ने मजदूर वर्ग को सदैव उस हालात में बने रहने को मजबूर कर दिया कि वे दूसरों के द्वारा निर्धारित जीने के तरीकों पर जीने को मजबूर हो गए।

बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने एक बार कहा था—"मैं किसी समाज की प्रगति का अनुमान इस बात से लगाता हूँ कि उस समाज की महिलाओं की कितनी प्रगति हुई है।" उनके विचार में किसी समाज के उन्नत होने का मापदंड उस समाज के पुरुष न होकर स्त्रियाँ हुआ करती हैं। बाबा साहेब ने अन्य महापुरुषों की तरह ही यह निश्चित किया कि इस देश में महिलाओं की प्रगति के लिए विशेष ध्यान देना होगा। वे स्वयं जिस समाज से थे, उनमें तो महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय थी। वहाँ महिलाओं का स्थान दलितों के दलित के रूप में था। सामाजिक मान्यताओं का बन्धन और पुरुष समाज की अधिकार प्राप्त प्रवृत्ति, सभी कुछ तो भारतीय समाज में नारी को सहना पड़ता था। उसका समूचा व्यक्तित्व कर्त्तव्यों के बोझ से दबा था। अधिकार उसके हिस्से में थे नहीं, जिनसे वह अपना विकास कर सके।

चम्पा लिमये के अनुसार महात्मा गांधी के आन्दोलन की तरह डॉ. अम्बेडकर के आन्दोलन में भी महिलाएँ बहुत सक्रिय रहीं। डॉ. अम्बेडकर ने समाज के सबसे शोषित, पीड़ित और दलित तबके को जगाया। अम्बेडकर के क्रान्तिकारी विचारों के प्रति महिलाओं का आकर्षण स्वाभाविक था।[21]

डॉ. अम्बेडकर का जिस समय भारतीय समाज में आगमन हुआ, उस दौरान महिलाओं के लिए सोचने और कुछ करने की प्रवृत्ति का विकास हो रहा था। अनेक स्थानों पर उनके लिए स्कूल आदि आरम्भ किए गए थे। आन्दोलन से भी महिलाओं को जोड़ने के प्रयास जारी थे। घर-परिवार के बाहर उनकी हिस्सेदारी बढ़ी भी थी। बाबा साहेब से पूर्व पूना में महात्मा ज्योतिबा फुले ने लड़कियों की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खोली थीं। स्वयं उनकी पत्नी सावित्री बाई फुले ने इस कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। लड़कियों के पाठशाला में आने के बाद सावित्री बाई सबसे अधिक महत्त्व इस बात को देती थीं कि लड़कियों के सर्वांगीण मानसिक विकास के लिए ज्यादा-से-ज्यादा प्रयास किए जाएँ। कभी कोई लड़की यदि पाठशाला में नहीं आई तो वे इसका पता लगातीं कि वह क्यों नहीं आई। उसके बीमार होने पर मिलने के लिए उसके घर जातीं और दवा का इन्तजाम करतीं। केवल इतना ही नहीं वह तो पाठशाला को यथाशक्ति आर्थिक सहायता भी देतीं। इस प्रकार उनमें समाज-कल्याण और उसमें आमूलचूल क्रान्तिकारी बदलाव की दृष्टि थी। इसी कारण चलते लोगों के मन में उनके प्रति अपार आदर था। एक महान शिक्षिका के रूप में उनकी ख्याति बढ़ने लगी। धीरे-धीरे लोग खुद-ब-खुद अपनी लड़कियों को पाठशाला भेजने लगे। इस प्रकार वर्ष के अन्त तक पाठशाला में शिक्षा पानेवाली लड़कियों की संख्या पच्चीस तक हुई, जिनमें से दस ब्राह्मण, छह मराठा, दो चमार, दो महार, एक मातंग, एक गड़रिया, एक जुलाहा, एक साली और एक माली जाति की लड़कियाँ थीं। बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर ने ज्योतिबा फुले, जिन्हें वे अपना गुरु मानते थे, उनसे प्रेरणा ली।

डॉ. अम्बेडकर ने अपने अछूतोद्धार आन्दोलन का आरम्भ 20 जुलाई 1924 को बम्बई में 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना से किया। इस सभा का उद्देश्य अस्पृश्यता निवारण आन्दोलन को आगे बढ़ाते हुए दलितों की बस्तियों में स्कूल तथा छात्रावासों की स्थापना करना था। उक्त सभा के कार्यक्रम अनेक स्थानों पर होते थे, जिनमें महिलाओं की हिस्सेदारी भी होती थी। इस समय तक दलित महिलाएँ साहस बटोरकर मंच पर आकर अपनी पीड़ा को सार्वजनिक रूप से बतलाने भी लगी थीं। इनमें वेणुबाई भटकर और रंगूबाई शुभरकर आदि के नाम विशेष रूप से लिए जा सकते हैं। बाबा साहेब के अनेक कार्यक्रमों में वे स्वागत गीत भी गाती थीं। मन्दिर-प्रवेश के लिए अमरावती में 13 नवम्बर 1927 को सम्मेलन हुआ था, उसमें काफी संख्या में महिलाओं ने अपनी हिस्सेदारी निभाई थी। चावदार तालाब से पानी लेने के लिए जो महाड़ सत्याग्रह बाबा साहेब के नेतृत्व में किया गया था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें भी महिलाएँ शामिल हुई थीं। डॉ. अम्बेडकर और अछूतों के जीवन में यह एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। गांधीजी के 1930 के 'दांडी-मार्च' का राजनीतिक दृष्टि से जो महत्त्व था, वही सामाजिक दृष्टि से बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर के 'तालाब-मार्च' का था।

बाबा साहेब चाहते थे कि महिलाएँ स्वयं अपने पैरों पर खड़ी हों। वे किसी पर आश्रित नहीं रहें, इसके लिए उन्होंने विभिन्न प्रयास किए। वे महिलाओं की हर एक समस्या से परिचित थे तथा उन्हें दूर करना भी चाहते थे। 28 जुलाई, 1928 को बम्बई विधान परिषद में कारखाना तथा अन्य संस्थानों में मजदूर महिलाओं को प्रसूति अवकाश सुविधा देने सम्बन्धी बिल पर अपने विचार रखते हुए उन्होंने कहा था–"महिलाओं को प्रसूति अवकाश सुविधा प्रदान करना राष्ट्रीय हित में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। मैं इस बात से सहमत हूँ कि इससे शासन पर भारी आर्थिक बोझ पड़ेगा, लेकिन फिर भी मैं उनके वेतन कटौती का पक्षधर नहीं हूँ। यह महिलाओं का उनका अपना अधिकार है, जिसकी प्राप्ति उन्हें होनी चाहिए।" बाबा साहेब के उक्त विचारों से सम्पूर्ण सदन प्रभावित हुआ था और वह बिल सर्वसम्मति से पारित किया गया।[22]

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर का जैसे-जैसे सामाजिक संघर्ष आगे बढ़ रहा था, वैसे-वैसे महिलाओं की हिस्सेदारी भी बढ़ रही थी। उनके द्वारा आरम्भ किए गए आन्दोलन में महिलाओं की हिस्सेदारी का होना ही उनकी सफलता थी। 12 अक्टूबर, 1929 को पूना के एक मन्दिर-प्रवेश के लिए सत्याग्रह हुआ। इसमें बड़ी संख्या में महिलाएँ आगे आईं। उनके एक जत्थे का नेतृत्व नानाबाई काम्बले ने किया। सवर्णों ने इन पर लाठियों और पत्थरों से हमला किया, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों पक्ष घायल हुए।

नासिक के कालाराम मन्दिर में अछूतों के प्रवेश के लिए 2 मार्च, 1930 को एक सभा हुई, जिसमें सत्याग्रह की घोषणा की गई। दोपहर 3 बजे अछूतों का एक बड़ा जुलूस चार-चार की कतारों में अनुशासित ढंग से कालाराम मन्दिर की ओर चल पड़ा। इसमें पचासों के लगभग दलित महिलाएँ भी सम्मिलित थीं। जुलूस जैसे ही मन्दिर के पास पहुँचा, मन्दिर-व्यवस्थापकों ने दरवाजे बन्द कर लिए। बाहर पुलिस का पहरा था। यह सत्याग्रह एक महीने तक चला। इसमें महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक और अन्य राज्यों से बीस हजार के करीब सत्याग्रही पहुँचे थे। भाऊराव गायकवाड़ की पत्नी सीताबाई तथा स्वयं बाबा साहेब की पत्नी रमाबाई के साथ अन्य महिलाओं ने कार्यकर्ताओं के खाने-पीने का इन्तजाम किया था। अन्ततः मन्दिर-प्रवेश के इस आन्दोलन में दलितों को सफलता मिली।

बहुत कम लोगों को मालूम है कि जनवरी, 1928 में बम्बई में महिला मंडल की स्थापना हुई थी। डॉ. अम्बेडकर की पत्नी रमाबाई अम्बेडकर उसकी अध्यक्षा थीं। 1930 में नागपुर में 'डिप्रेस्ड क्लासेज सम्मेलन' के समय महिलाओं की ओर से अलग से आयोजित सम्मेलन में भाग लेकर बाबा साहेब लौटे। उस समय 'कमाठी' की सभा में सैकड़ों महिलाएँ भाग लेने आई थीं। उनमें ऐसी महिलाएँ भी थीं, जो वेश्यावृत्ति कर अपना जीवनयापन करती थीं। बाबा साहेब ने विशेषकर उन महिलाओं को वेश्यावृत्ति छोड़कर नेक जीवन जीने के लिए प्रेरित किया था। उस समय उनके बीच एक संगठन की भी स्थापना की गई थी, जिसका मूल उद्देश्य था, ऐसी सभी महिलाओं को वेश्यावृत्ति से हटाकर उनका सुधार करना। बम्बई में वह संगठन अभी भी उनके बीच कार्यरत है।

जुलाई 1942 में नागपुर में बाबा साहेब द्वारा 'अखिल भारतीय शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' की स्थापना हुई थी। उसी समय 'अखिल भारतीय दलित महिला सम्मेलन' भी आयोजित किया गया था, जिसमें दस हजार महिलाओं ने भाग लिया था। आयोजन की अध्यक्षा थीं सुलोचना डोगरे तथा स्वागत अध्यक्ष कीर्ति पाटिल और मुख्य सचिव इन्दिरा पाटिल थीं। यह परिषद बहुत सफल रही थी। बाबा साहेब यह सब देखकर बहुत प्रसन्न हुए थे। 6 जनवरी, 1945 को बम्बई में तीसरा भारतीय अस्पृश्य महिला सम्मेलन हुआ। उसमें हजारों महिलाएँ शामिल हुईं। सभा की अध्यक्षता तत्कालीन मद्रास प्रान्त की प्रमुख कार्यकर्ता मीनांबल शिवराम ने की। उनके पति अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ (फेडरेशन) के अध्यक्ष थे। इन दोनों ने बाबा साहेब के आन्दोलन में ईमानदारी से अपना अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

डॉ. अम्बेडकर के समय में ही ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं जिन्हें महिला आन्दोलन को आगे बढ़ाने में खासतौर पर गिनाया जा सकता है। भयंकर गरीबी और सामाजिक बन्धनों का मुकाबला करते हुए ये दलित महिलाएँ आगे बढ़ीं। स्वयं बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की पत्नी रमाबाई त्याग की मूर्ति थीं। गृहस्थी के कार्यों को निपटाने के साथ-साथ अपने पति के द्वारा छोड़े गए संघर्ष में उन्होंने सहयोग दिया था। 1924 में जारबाई चौधरी ने नागपुर में 'चोखामेला कन्या पाठशाला' आरम्भ की। शुरू में उसमें चार लड़कियाँ ही पढ़ती थीं। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ी। बाद में वही स्कूल 'जारबाई चौधरी ज्ञानपीठ' के रूप में जाना गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी तरह से एक अन्य दलित महिला तुलसीबाई बनसोडे ने पति के साथ 'चोखामेला' नामक पत्र के प्रकाशन तथा प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। महिलाओं के बीच शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक स्थानों पर हॉस्टल आदि भी चलाए गए, जिनमें 'डिप्रैस्ड क्लासेज गर्ल्स हॉस्टल', 'आदर्श हॉस्टल', 'रमाबाई अम्बेडकर बोर्डिंग स्कूल' आदि प्रमुख हैं।[23]

बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की मृत्यु के पश्चात् दलित समाज की महिलाओं में आन्दोलन के प्रति निराशभाव नहीं आया, बल्कि उनके बीच जुझारू तेवर भी उभरे। विशेषकर जिन दलित परिवारों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, उन परिवारों में रह रही महिलाओं ने तो सम्पूर्ण अम्बेडकर दर्शन को ही आत्मसात कर लिया था। महाराष्ट्र में इस दिशा में समय-समय पर अनेक आन्दोलन चलाए गए। नागपुर की राधाबाई, अम्बेडकर के समय की एक जुझारू कार्यकर्ता थीं। हालाँकि वह अशिक्षित थीं, पर अशिक्षा उनके मार्ग में कभी बाधक नहीं बनी। वह कपड़ा मिल में मजदूर थीं। सभा, सत्याग्रह तथा सम्मेलन करना और मोर्चा निकालना यही उनका कार्यक्षेत्र था। बीड़ी कामगार और मिल-मजदूरों की संघटनाओं की वह कार्यकारी सदस्या थीं। उनसे सम्बन्धित जो भी समस्या होती थी, उसे सुलझाने के लिए वह सदैव तत्पर रहती थीं। सीताबाई गायकवाड़ ने तो देश के बँटवारे के बाद दिल्ली में शरणार्थियों के कैम्प में भी काम किया था।

मुक्ता सर्वगोंड का नाम कौन नहीं जानता। उनकी आत्मकथा 'मिटलेली कवाड़े' बहुचर्चित है। वे आदर्श समाज-सेविका मानी जाती हैं। कुछ समय पहले तक वे बाबा आमटे के कुष्ठधाम में काम करती रही थीं। शान्ताबाई दाणी ने भी शरणार्थियों के बीच अभूतपूर्व कार्य किया। वे बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर की न सिर्फ प्रशंसक थीं बल्कि एक ईमानदार और प्रतिबद्ध अनुयायी थीं। नासिक में जब रमाबाई अम्बेडकर गर्ल्स हॉस्टल की शुरुआत हुई तो उसकी व्यवस्था की जिम्मेदारी शान्ताबाई दाणी ने ही सँभाली। उन्हें उनकी कर्मठ समाजसेवा के लिए सावित्री बाई फुले पुरस्कार भी मिला था। वे आजीवन अविवाहित रहीं और बाबा साहेब के अधूरे कार्यों को आगे बढ़ाने में प्रयासरत रहीं। बाबा साहेब द्वारा गठित 'समता सैनिक दल' में भी दलित महिलाएँ अनुशासितबद्ध होकर कार्य करती रही हैं। इस क्षेत्र में अनेक महिलाएँ आईं। दिल्ली में रह रही 'कौशल्या बेसन्त्री' ने अखिल भारतीय शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन के विद्यार्थियों को संगठित कर महासचिव के रूप में वर्षों तक कार्य किया। उन्होंने भारतीय महिला जागृति परिषद संस्था का भी निर्माण किया। साथ ही सामाजिक विषयों पर मराठी, अंग्रेजी और हिन्दी में लेखन तथा अनुवाद भी करती रही हैं। 1999 में उनकी आत्मकथा प्रकाशित हुई। उनके जीवट जीवन से पाठक परिचित हुए। उनका जन्म नागपुर की खलासी लाइन बस्ती में हुआ था। वे महार जाति से थीं। आत्मकथा की भूमिका में उन्होंने लिखा था—"पुत्र, भाई, पति सब मुझ पर नाराज हो सकते हैं परन्तु मुझे भी तो स्वतन्त्रता चाहिए कि मैं अपनी बात समाज के सामने रख सकूँ। मेरे जैसे अनुभव और भी महिलाओं के आए होंगे परन्तु समाज और परिवार के भय से अपने अनुभव समाज के सामने उजागर करने से डरतीं और जीवन भर घुटन में जीती हैं। समाज की आँखें खोलने के लिए ऐसे अनुभव सामने आने की जरूरत है।"[24]

नागपुर में जहाँ शिक्षित होने के नाते और एडवोकेट के रूप में कार्यरत सुलेखा कुम्भारे महिला आन्दोलन को आगे ले जाने में सक्षम हैं, वहीं दूसरी तरफ अशिक्षित होते हुए भी शकुंतला बाई वाघनिक 'दलित मुक्ति सेना' तथा महाराष्ट्र में महिला मंडल के माध्यम से दलित और शोषित महिलाओं के बीच चेतना जागृत कर रही हैं। सुलेखा कुम्भारे महाराष्ट्र सरकार में इस समय मन्त्री हैं।

हैदराबाद की सीतारानी भारद्वाज भी जगह-जगह घूमकर महिलाओं के बीच कार्य कर रही हैं। इसी तरह से आगरा से महामाया, बिहार से मीराकिशोर (पूर्व कांग्रेस महासचिव रामरतन राम की पुत्रवधू), उदयपुर से डॉ. कुसुम मेधवाल, नरेन्द्र नगर (उत्तर प्रदेश) से कौशल्या देवी, महाराष्ट्र से शान्ति बाई (मंगलसिंह दीक्षित की धर्मपत्नी) जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर के रूप में कार्यरत श्रीमती थोराट, दिल्ली से रजनी, कांता कृपा गौतम, धनदेवी, सुजाता सिंह आदि ऐसी महिलाएँ हैं जो दलित महिलाओं के बीच सजग होकर कार्य कर रही हैं। आजादी के पूर्व और बाद में दक्षिण भारतीय महिला जे. ईश्वरीबाई ने भी दलितोद्धार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। वे रिपब्लिकन पार्टी की ओर से विधायिका भी रहीं। 1964 में भूमिहीनों को जमीन दिलाने के सवाल को लेकर रिपब्लिकन पार्टी की ओर से देशभर में जब सत्याग्रह किया गया था, तब बड़ी संख्या में दलित महिलाओं ने भी उसमें अपनी हिस्सेदारी निभाई थी। वे स्वयं दूध-पीते बच्चों को साथ लेकर जेल गई थीं। आन्दोलनकारी महिलाओं में कुछ गर्भवती भी थीं, जिनकी प्रसूति जेल में हुई। इन महिलाओं के सामने जेल अधिकारियों की ओर से अनेक बार ऐसे प्रस्ताव आए कि वे अगर चाहें तो उन्हें छोड़ा जा सकता है, लेकिन हर एक महिला का ऐसे अवसर पर एक ही उत्तर होता था कि जब तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी सभी माँगें नहीं मान ली जातीं, हम जेल से बाहर नहीं जाएँगी।[25]

वकील अलका आर्य उनका स्वप्न है कि अब दलित औरत को निम्न और न्यूनतम जैसे सामाजिक साँचों में बाँटकर न देखा जाए।...और यह स्वप्न उसने अपने ही बूते देखा है जिसे साकार करना उसके लिए एक चुनौती है। इसी स्वप्न के गर्भ में राष्ट्रीय दलित महिला महासंघ जैसा मंच धीरे-धीरे शक्ल अख्तियार कर रहा है। यह पहल वूमेन वार्यर्स सरीखे जनसंगठन और चतुर्थ विश्व महिला सम्मेलन की समन्वयक इकाई के जरिए दक्षिण भारत की दलित औरतों ने की है।

आखिर दलित औरतों के महासंघ की क्या जरूरत है ?[26] इस सवाल पर बहस छिड़ी है। बीते आठ साल में दक्षिण की दलित औरतों को महिला संगठनों से परे सिर्फ दलित महिला महासंघ का अपना संगठन और अस्तित्व क्यों होना चाहिए, यह सवाल मथता रहा है। तब देश में दलित चेतना या जाति-आधारित राजनीति की आज जैसी शक्ल नहीं थी। 1987 में बंगलूर में क्रिश्चियन दलित लिबरेशन मूवमेंट ने सबसे पहले दलित औरतों की एक बैठक बुलाई। पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, केरल, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों से 135 महिला प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्स लिया जिसमें नग्न पूजा और नग्न नृत्य की प्रथा आदि अन्य ज्वलन्त सवालों पर काफी लम्बी बहस हुई। दलित औरतों के प्रतिवाद के फलस्वरूप नग्न तत्वरी प्रथा पर सरकार ने पाबन्दी लगा दी है। 1990 से 1994 तक अनेक सम्मेलनों व संगोष्ठियों के जरिए जाति, धर्म, कट्टरवाद और निर्णय लेने की प्रक्रिया पर व्यापक चर्चा हुई और सूत्र भी रचा गया— 'दलित के खिलाफ अपराध मनुष्यता के खिलाफ अपराध है।'[27]

डॉ. अम्बेडकर के बाद के दौर का यह सबसे बड़ा महिला आन्दोलन बना जिसके छितरे स्वरूप के कारण उसकी भूमिका इतनी असरदार नहीं हो सकी। डॉ. अम्बेडकर की पुण्य तिथि 6 दिसम्बर को 'स्मरण दिवस' घोषित किया गया। वहीं से महासंघ की जरूरत का सवाल उठा। कुमद पावड़े ने 'माई स्टोरी इज संस्कृत' नामक पुस्तक में साफ-साफ लिखा है कि "दलित औरतों को संगठित व सक्रिय होना चाहिए। वह अपनी ही शर्तों पर वार्ता करें और फैसले लें। दलितों के पुराने इतिहास को न दोहराया जाए। बल्कि अब उन्हें सजग और गतिशील होने की जरूरत है।" बहस के दौरान बार-बार दलित औरतों का यथार्थ उभरता रहा कि दलित आन्दोलनों का एक मजबूत पक्ष होने के बावजूद दलित औरत कभी निर्वाचक पक्ष की स्थिति में न आ सकी। लिहाजा शुरुआत यहीं से होनी चाहिए कि दलित औरतों के अपने आन्दोलन मजबूत हों जिनमें प्रमुख शिरकत भी उन्हीं की हो। दक्षिण भारत के ऐसे उदाहरण बिखरे पड़े हैं जहाँ दलित औरतों ने खुद को लामबन्द करके सामाजिक जनआन्दोलन खड़े किए हैं। राजनीतिक नेतृत्व को बदला है और पुनर्जागरण के हालात पैदा किए हैं। इसका प्रमुख श्रेय सत्यवती प्लोरेस (आन्ध्र प्रदेश), प्रेमा कमला मारथा (तमिलनाडु), कोकिला (कर्नाटक), टेसले, अनेयम्मा तथा लवली (केरल)-सरीखी महिलाओं को जाता है।

आन्ध्र प्रदेश का अरक विरोधी आन्दोलन तभी सफल हो पाया, जब दलित औरतें संगठित होकर सड़कों पर उतर आईं। शराबबन्दी के मुद्दे पर तेलगुदेशम को उन्होंने विकल्प के रूप में चुना। कनार्टक में देवदासी प्रथा धर्म और सामाजिक स्वीकृति की आड़ में कुछ और नहीं ताउम्र वेश्या बने रहना है। ऐसी औरतों में दलितों की तादाद बहुसंख्यक है जो अछूत, बेसहारा, भूमिहीन बँधुआ मजदूर, दलित वस्त्रहीन की जिन्दगी जीती हैं। दलित औरतों ने इस सामाजिक कोढ़ के खिलाफ ऐसा जनआन्दोलन छेड़ा कि सरकार को कानून बनाना पड़ा। औरतों ने सामाजिक सांस्कृतिक लड़ाई का पहला चरण जीत लिया है।[28]

आजादी के 50 साल बाद भी चल रहे महिलाओं के सतत् संघर्ष ने पहचान के प्रश्न को ज्यादा गम्भीर बना दिया है। आमतौर पर यह कहा जाता है कि जीवन में सामूहिकता, औरत के प्रति सम्मान और आर-पार की लड़ाई जैसे नैतिक मूल्यों के बिना आदिवासी आन्दोलन सफल नहीं हो सकते। आदिवासी जीवन की इन विशिष्टताओं से वंचित झारखंड आन्दोलन 1980 के दशक में भटकाव का शिकार हुआ जो महिलाओं की भागीदारी नहीं होने को लेकर चिन्ता जताई जाने लगी। जयपाल सिंह मुंडा के जमाने से आदिवासी महासभा के झारखंड पार्टी में तब्दील होने तक का इतिहास स्त्री-नेतृत्व के खालीपन की कहानी है।

आदिवासी समाज के जीवन-मूल्यों से खाली झारखंड आन्दोलन में जनभागीदारी के नाम पर औरतों को जुलूसों-सभाओं में शामिल किया गया। 1 जनवरी 1949 को झारखंड पार्टी की सभा में बिरसा की तस्वीर छाप वाली साड़ी पहनकर बड़ी संख्या में औरतों ने भाग लिया था। लेकिन उस सामाजिक चेतना का विकास अवरुद्ध ही रहा। औरतों की भागीदारी का सवाल झारखंड आन्दोलन में किसी सिद्धान्त पर नहीं बल्कि इस्तेमाल की सामन्ती अवधारणाओं से गुँथा हुआ रहा। नतीजा यह रहा कि गाँव स्तर पर पैदा हुआ महिला नेतृत्व शीर्ष तक लाया नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सका। नेतृत्व के बिकाऊ और समझौतापरस्त होने से भी महिलाओं के लिए सीमा-रेखा खींची गई। महिला नेतृत्व के शीर्ष स्तर पर न उठने और झारखंड आन्दोलन में उनका वैचारिक व निर्णायक हस्तक्षेप न होने के सवाल से झारखंडी नेता घिरे हुए हैं।

हालाँकि झारखंड अलग राज्य के बाबत सरकार से हुई वार्ताओं व समझौतों के टेबल पर कोई औरत झारखंडी महिलाओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकी थी लेकिन झारखंडी समाज में विस्थापन के घुमड़ते बादल को देख महिलाओं ने ही एक बार फिर अपनी लड़ाकू परम्परा की पुनर्स्थापना की है। औरतों की अगुवाई से झारखंडी नेतृत्व हतप्रभ है और वह भी सत्ता में महिलाओं को साझेदार बनाने की बात कह रहा है। अधिकारहीन व समझौतापरस्त झारखंड क्षेत्र स्वशासी परिषद बना तो औरतों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। कुल छह महिला इसमें हैं। आदिवासी हितों और जीवन-व्यवस्था की रक्षा करने का दम्भ करनेवाली सभी राजनैतिक पार्टियाँ इस बिन्दु पर चारों खाने चित्त पड़ गईं।[29]

झारखंड दल इस सवाल पर मुँह चुराते रहे हैं। आदिवासी महिलाओं की समस्या पर आन्दोलन खड़ा नहीं किया जाता है। आन्दोलन के मुद्दे में आदिवासी औरतों पर हो रहे सामन्ती हमले, औद्योगिकीकरण की शिकार हुई महिलाओं की रोजी-रोटी और ईंट-भट्ठों में काम करनेवाली महिलाओं के सम्मान के सवाल हाशिए पर रहे हैं। डायन हत्या के नाम पर आदिवासी औरत व परिवार का सफाया नवउपनिवेशवादी हमले का विकृत चेहरा सामने लाता है। रोजी-रोटी के लिए बाहर काम पर ले जाई गई महिलाएँ घरों में लौट नहीं पातीं और समाज में गिरती उनकी स्थिति पर चिन्ता नहीं जताई जाती। समाजशास्त्रियों का मानना है कि विद्रोहों की चेतना और सामाजिक सरोकार न रखनेवाले नेताओं ने आन्दोलन का मटियामेट किया है, वरना ऐसी कोई वजह नहीं रही है कि झारखंड में बीते एक दशक में एक हजार से अधिक डायन हत्याएँ हुईं और बलात्कार की अनगिनत वारदातें घटीं, लेकिन कोई हलचल नहीं हुई—न झारखंड बन्द, न जुलूस-प्रदर्शन।

नेतरहाट की तर्सिला मिंज, कोयलकारों की इमानी, दयामनी और शंख नदी परियोजना की विरोधी गुलाब कलौडिया कुजूर को नकारना इतिहास के थपेड़ों को बलपूर्वक रोकना है। गाँव-गाँव में उमड़ रहे जनसमूह से झारखंडी नेता परेशान हो उठे हैं। आदिवासी समाज से आगे आई उन राजनीतिक परिवारों की महिला नेताओं ने भी ऐसा कुछ नहीं किया है जिससे बिरसा आन्दोलन की धारा मजबूत होती है।

आज तक दलित आदिवासी अपने शोषण का मूल दर्शक बना रहा है। महाजन, ठेकेदार, दलाल, दिकू, राजा, नवाब सब उसके जंगलों को और उसकी औरतों को लूटते रहे हैं। उसका रोजगार छीनते रहे हैं। विस्थापन उसकी जिन्दगी का ढर्रा बना दिया गया है। आजादी के बाद देश के विकास का हर कार्यक्रम आदिवासी की कीमत पर हुआ है। विकास की कीमत वह अपने विस्थापन से अदा करता रहा है। उसके खेत, खदानों में बदल गए और जंगल लकड़ी की टालों में समा गए या कुर्सियों, मेजों और फर्नीचर में बदल गए। गाछ खूँटे बल्ले बन गए और बन गए रेल की पटरियाँ। अकाल के दिनों में सखुआ के बीज खाकर जिन्दा रहनेवाला आदमी सखुआ की चोरी में जेल में ठूँसा जाने लगा और दंड भरने लगा। सखुआ सेठों के ट्रकों में लदाकर शहरों में भेजा जाता रहा।

एकाएक ईंट-भट्ठे उग आए, उनके खेतों पर अगल-बगल की जमीन ईंट बन गई, भट्ठों के नीचे की जमीन तपकर तवा यानी खेत बर्बाद। जमीन जोतनेवाला आदिवासी ईंट थापनेवाला या मिट्टी काटनेवाला मजदूर बन गया। इनकी औरतें ठेकेदारों के ऐशो-आराम का हिस्सा और उनके बराहिलों की बर्बता की शिकार होने लगीं। लेकिन अब ग्रेस कुजूर के शब्दों में विद्रोह कर रहा है आदिवासी मानस। अब शाखें, नदियाँ, झाड़ियाँ, देह, बाँहें, गलियाँ और नसें कमान बन चुकी हैं और कोंपलें, पर्वत, बिरवे, आहें, अँगुलियाँ, आँगन और लहू—तीर बन गए हैं। अब तो बस 'कलम के तीर' होने का इन्तजार है और इन्तजार है बिरसा के लौटने का, तभी भुजंग मैश्राम का कवि-मन पुकार उठता है—"बिरसा तुम्हें कहीं से भी आना होगा / घास काटती दराती हो या लकड़ी काटती कुल्हाड़ी / यहाँ वहाँ से पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण से / कहीं से भी मेरे बिरसा / खेतों की बयार बनकर / लोग तेरी बाट जोहते।"[30]

निश्चित ही ज्योतिबा फुले तथा बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर आदि के दर्शन से दलित महिलाओं की सामाजिक न्याय हेतु आन्दोलन में भागीदारी बढ़ी है। चाहे वह तेलंगाना आन्दोलन में 'महिला संघम' में शामिल[31] दलित महिलाएँ हों या फिर बौद्धगया में भूमि आन्दोलन में शरीक महिलाएँ। हरियाणा, उत्तर प्रदेश व आन्ध्र प्रदेश में अनेकों बार इन्हीं महिलाओं ने एकजुट होकर सरकारी दुकानों पर धरने दिए। या फिर टिहरी बाँध के विरोध में धरने का कार्यक्रम हो या राजस्थान में शिक्षा की मशाल जलाने हेतु प्रतिबद्ध महिलाएँ हों। सभी जगह दलित महिलाओं ने हाजिरी लगाई। न सिर्फ हाजिरी लगाई बल्कि सामाजिक आन्दोलन का इतिहास बनाया। दलित महिलाओं पर अत्याचारों की घटनाओं में भँवरी बाई की घटना ऐसी है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसे राजस्थान की सवर्ण जाति-अहंकार के इतिहास में दर्ज किया जा सकता है। भँवरी बाई ने न सिर्फ मुँहतोड़ जवाब दिया बल्कि आन्दोलन को भी आगे बढ़ाया। गाँव भर की रोक के बावजूद वह पानी के बर्तन उठाए अकेली पानी लेने गई। उस समय नए कपड़े पहनकर अपनी एक चुँदड़ी को कफन बनाकर घरवालों को देते हुए कहा था कि मरने के बाद मुझे यह चुँदड़ी ओढ़ा देना।[32]

सुश्री मीनाक्षी मून, उर्मिला पंवार आदि मराठी दलित महिलाओं ने पिछले दिनों शोध कर एक पुस्तक लिखी थी, जिसका शीर्षक था–'आम्ही इतिहास घड़विलो' हमने भी इतिहास बनाया। वैसा इतिहास पूरे देश में बन रहा है।

बकौल दीप्ति प्रिया महरोत्रा जब समाज में, रोजमर्रा की जिन्दगी में, पीड़ा व प्रताड़ना फैलती चली जाती है, तब महिलाएँ भड़क उठती हैं। दमन करनेवालों के खिलाफ महिलाएँ अपनी आवाज सदा उठाती रही हैं, चाहे वो विदेशी शासक हों या स्थानीय जमींदार। घरेलू जिन्दगी में असमानता और अन्याय झेलती हुई महिलाएँ आखिरकार अपने परिवार के रूढ़िगत ढाँचों, नियमों और पाबन्दियों पर भी नजर डालने लगती हैं।[33] दलित महिलाओं ने सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन के लिए कमर कसी है और आन्दोलन में वे तत्परता से शामिल हुई हैं। उन्होंने इतिहास भी बनाया और राजनीति में भी नई सम्भावनाओं को जन्म दिया। आ

संदर्भ

1. डॉ. रामदयाल मुंडा, आदिवासी अस्तित्व और झारखंडी अस्मिता के सवाल। प्रकाशन संस्थान। 4715/21, दयानन्द मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली, 2002, पृ. 13
2. आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह, सं. रमणिका गुप्ता, इतिहासबोध प्रकाशन, बी-239, चन्द्रशेखर आजाद नगर, इलाहाबाद, 2004, पृ. 49
3. एस.एल. सागर, आदिनिवासी और उनका संघर्ष, सागर प्रकाशन, 233 दरीबा, मैनपुरी, उ.प्र. 1977 (प्रथम संस्करण), पृ. 9
4. वही, पृ. 10
5. वही, पृ. 15
6. नवल वियोगी, सिन्धुधारी सभ्यता के सृजनकर्ता शूद्र और वणिक, अनुसन्धान प्रकाशन, 518, सीता नगर, लुधियाना, 1995, पृ. 36
7. मोहनदास नैमिशराय, भारतीय दलित आन्दोलन एक संक्षिप्त इतिहास, बुक्स फॉर चेंज, सी-75, साउथ एक्सटेंशन, नई दिल्ली, 2004, पृ. 14
8. आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह, पृ. viii
9. वही, पृ. 49
10. वही, पृ. 52
11. झलकारी (काव्य संग्रह) कीर्ति प्रकाशन, दिल्ली-32, 1995, पृ. 2
12. वही, पृ. 3
13. झलकारी बाई (जीवन परिचय), सम्यक् प्रकाशन, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली, 2001, पृ. 12
14. दलित दस्तावेज, गाँव मुनिरका, पृ. 88
15. डॉ. मंजू मोहन, दलित महिलाएँ, सम्यक् प्रकाशन, 12/3, क्लब रोड, पश्चिमपुरी चौक, नई दिल्ली-63, 2004, पृ. 217
16. वही, पृ. 219
17. वही, पृ. 225
18. भारतीय साहित्य में दलित एवं स्त्री, सं. चमनलाल, सारांश प्रकाशन, मयूर विहार, दिल्ली, 2001, पृ. 155
19. मार्क्सवाद और नारी-मुक्ति, अभय कुमार दुबे, हंस, 2/36, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली, 2001, पृ. 154
20. वही, पृ. 155
21. डॉ. अम्बेडकर : एक प्रेरक जीवन, सं. रत्नकुमार साँमरिया, जयपुर, 1991, पृ. 93
22. ताराराम, श्रम कल्याण, श्रम सुरक्षा भारतरत्न डॉ. अम्बेडकर, राजस्थान बौद्ध प्रकाशन, 23/946, चौपासनी हाउसिंग बोर्ड, जोधपुर (राजस्थान) 1997, पृ. 103
23. डॉ. अम्बेडकर : एक प्रेरक जीवन, पृ. 97
24. अपेक्षा, दलित आत्मवृत्त विशेषांक, जुलाई-सित. 2003, पृ. 137
25. आम्बेडकरी चलवल आणि भूमी ही नाचां सत्याग्रह, सिद्धार्थ सांस्कृतिक प्रतिष्ठान, 1991, पृ. 38
26. अलका आर्य, जरूरी है दलित महिलाओं का महासंघ, दलित महिलाएँ, सं. डॉ. मंजू सुमन, पृ. 154
27. वही, पृ. 155
28. वही, पृ. 156
29. युद्धरत आम आदमी (आदिवासी स्वर और नई शताब्दी,, सं. रमणिका गुप्ता, सी-5, लाजपत नगर, नई दिल्ली, 2001, पृ. 3
30. वही, पृ. 7
31. दीप्ति प्रिया महरोत्रा, भारतीय महिला आन्दोलन, बुक्स फॉर चेंज, नई दिल्ली, 2001, पृ. 52
32. आधुनिकता के आईने में दलित, सं. अभयकुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2002, पृ. 235
33. भारतीय महिला आन्दोलन, पृ. 24

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता का सौन्दर्यशास्त्र और निराला का उत्तरकाव्य

राजेन्द्र गौतम

यह एक निर्विवाद एवं सर्वस्वीकृत तथ्य है कि निराला बीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठतम कवियों में हैं परन्तु इससे यह निश्चित नहीं हो जाता कि उनके काव्य का सर्वांग एवं तटस्थ मूल्यांकन भी हो चुका है। कवि-विशेष की प्रसिद्धि अनेक बार उसके प्रति श्रद्धातिरेक को जन्म देकर भी उसके मूल्यांकन की ओर आलोचक को उत्प्रेरित नहीं कर पाती। कई युग-निर्माता आलोचक भी युग-प्रवर्तक कवियों की उपेक्षा करते देखे गए हैं। यही कारण है कि निराला के काव्य के अलग-अलग पक्षों का तो विवेचन यदाकदा होता रहा पर उनके काव्य के समग्र मूल्यांकन-विश्लेषण का प्रयास थोड़ा ही हुआ है। डॉ. रामविलास शर्मा, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री और डॉ. दूधनाथ सिंह जैसे कुछ आलोचकों की कृतियों को छोड़कर ऐसे कम ही आलोचना-ग्रन्थ हैं, जिनमें निराला के समग्र काव्य का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया गया हो।

निराला की ख्याति का प्रमुख आधार बहुत से आलोचकों ने जिन रचनाओं को माना है, वे हैं—'तुलसीदास', 'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्ति-पूजा।' ये क्रमशः 1934, 1935 और 1936 की रचनाएँ हैं। 'गीतिका' के गीतों का रचनाकाल भी सन् 1929 और 1936 के बीच का ही है। उनके काव्य के इस काल को 'स्वर्णयुग' मान लेने में कुछ अनौचित्य भी नहीं। विशेष यह है कि उनकी इस श्रेष्ठता का मूलधर्म 'क्लासिक' है परन्तु यदि श्रेष्ठता का यह शिखर निराला के काव्य का अन्तिम सोपान होता तो अन्य छायावादी कवियों की भाँति उनकी भूमिका भी सन् '36 में समाप्त हो जाती किन्तु तब उनके प्रचंड प्रगतिशील व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। प्रसाद के देहावसान, पन्त की स्वर्णानुसन्धान में अनुरक्ति और महादेवी वर्मा के काव्यरचना के संन्यास ने हिन्दी कविता के छायावादी अध्याय के समुचित उपसंहार की अपेक्षा उसके आकस्मिक-एब्रप्ट-अन्त की स्थिति पैदा कर दी थी किन्तु सन् 1937 और 1961 के बीच निराला ने प्रगति और परम्परा का जो अद्भुत अध्याय रचा है, न तो वह उनके काव्य के पूर्वकथित स्वर्णयुग से न्यून है और न ही उसे अनदेखा करके उत्तरशती की हिन्दी कविता का इतिहास लिखा जा सकता है। निराला के इस युग के काव्य का स्वतन्त्र एवं प्रसंगानुसार मूल्यांकन तो किया गया है पर यह हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों की—कविता के इतिहास-लेखन की—विडम्बना ही है कि इसकी भूमिका समकालीन प्रवृत्तियों के निर्धारण में क्या है, इस पर बहुत गम्भीरता से अथवा विस्तार से विचार नहीं किया गया है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के दौर में कुछ विशेष प्रवृत्तियों के आकलन के द्वारा उत्तरशती की कविता का

बी-226,, राजनगर, पालम, नई दिल्ली-110 045

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास लिखने के जो प्रयास हुए हैं, वे निराला जैसे समर्थ कवि के साथ न्याय नहीं करते और उनके जीवन के अन्तिम दो दशकों के लेखन की उपेक्षा तो कर ही जाते हैं, उन क्षितिजों को भी अनदेखा कर देते हैं, जिन्हें निराला की कविता ने खोला था। उद्घोष तो प्रत्येक इतिहास-लेखक करता रहा है कि बीसवीं शताब्दी की हिन्दी कविता की सभी प्रवृत्तियों के उत्स निराला की कविता में विद्यमान हैं परन्तु छायावादोत्तर काव्य के इतिहास-लेखन में उनकी कृतियों का मूल्यांकन-विवेचन अनुपस्थित रहता है। यहाँ तक कि इस शताब्दी के गीत का इतिहास लिखनेवाले आलोचकों ने भी 'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना', 'गीतगुंज' और 'सांध्यकाकली' की भूमिका का सही आकलन नहीं किया है। अतएव आज जब उत्तरआधुनिकता के दौर में प्रत्येक पाठ के पुनर्विश्लेषण की सार्थकता विशेष रूप से बढ़ गई है, निराला जैसे महाकवि के उत्तरकाव्य का पाठ तो विशेष रूप से पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है।

यद्यपि हमारा मानना है कि किसी महाकवि के रचनाकर्म का सही-सही मूल्यांकन केवल कुछ सूत्रों के आधार पर नहीं किया जा सकता तथापि निराला के काव्य को समझने का रास्ता बहुत दूर तक दिखाने में 'राम की शक्ति-पूजा' की यह पंक्ति सहायक और समर्थ है—'धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध।' परिस्थिति, प्रकृति, समाज और संसर्गागत जनों से उन्हें नित्य विरोध ही मिला। यों उन्हें जीवन में ख्याति भी असीम मिली पर विरोध उन्हें सतत मिला। उनके काव्य में विद्रोह की प्रखरता, स्वतन्त्रता का उद्घोष और मुक्ति की कामना यदि इस विरोध का प्रतिकार है तो वसन्त के इस अग्रदूत का प्रकृति-प्रेम और भक्ति का काव्य अपने चतुर्दिक् व्याप्त परिवेश में उन्मुक्त अभिव्यक्ति के माध्यम से भी सर्जनात्मक, धनात्मक एवं रचना के उल्लास से विषाद के दमन की सक्रियता है। परवर्ती काव्य का व्यंग्य जीवन में पाए विरोध की तिलमिलाहट का ही परिणाम है पर यहाँ यह 'जीवन' व्यक्ति निराला का जीवन नहीं है, वरन् यह समष्टि समन्वित उनके व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है।

निराला इस शताब्दी के प्रथम छह दशकों में घटित विचार और शिल्प के संघर्ष के दुर्द्धर्ष योद्धा हैं। अपने काव्य-जीवन के आरम्भ में ही मुक्तछन्द के प्रभावपूर्ण प्रयोग के द्वारा उन्होंने पारम्परिक शैली के प्रति विद्रोह का शंखनाद कर दिया था पर इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि इस शताब्दी में श्रेष्ठ छान्दसिक रचनाएँ भी निराला ने ही हिन्दी को दी हैं। उनके काव्य में सन् 1937 के आसपास जो नया दौर आता है उसके बदलाव को प्रमुखतः यथार्थवादी चेतना के उन्मेष के साथ जोड़ा जाता है। सामाजिक सरोकार का स्वर तो उनकी कविता में तब भी स्पष्ट सुना जा सकता था जब छायावाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच रहा था और उस काव्य को पलायन का पर्याय माना जा रहा था। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'खँडहर के प्रति,' 'गरीबों की पुकार' और 'बादल राग' जैसी कविताएँ इसी स्वर का प्रतिनिधित्व करती हैं पर 'कुकुरमुत्ता-काल' की उनकी रचनाओं को विशेष रूप से यथार्थवादी माना जाता रहा है। यथार्थ का आवेग उनमें एक आक्रोशमयी प्रतिक्रिया का परिणाम है। 'निराला रचनावली' के दूसरे खंड की भूमिका में सम्पादक ने लिखा है : "निराला-काव्य के दूसरे चरण की सबसे बड़ी विशेषता उसका यथार्थवाद है। 'कुकुरमुत्ता' (प्रथम संस्करण), 'अणिमा' और 'नये पत्ते' की कविताओं में हास्य के तत्त्व देखे गए हैं लेकिन वे शुद्ध हास्य के तत्त्व नहीं क्योंकि उनके भीतर निराला का सामाजिक यथार्थ का गहरा बोध छिपा हुआ है। 'कुकुरमुत्ता' उनकी ऐसी कविता है, जिसमें व्यंग्य की धार दोहरी है। उसमें एक तरफ वे पूँजीपति वर्ग पर व्यंग्य करते हैं और दूसरी तरफ संकीर्णतावादी प्रगतिशील दृष्टि पर। 'खजोहरा' जैसी कविताओं में उन्होंने रूमानी सौन्दर्य-स्वप्न को पूरी तरह मिटा देना चाहा है। इसी काल में यथार्थ के तीखे बोध से तिलमिलाकर उन्होंने आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को लिखा था कि 'एक रोज दिल में आया जो कुछ पद्य साहित्य में लिखा है, उसका उल्टा लिख डालूँ।' (निराला के पत्र में 26 मई 1943 का पत्र)। जैसा कि संकेत किया जा चुका है, निराला का यथार्थवाद 'नये पत्ते' की 'कुत्ता भौंकने लगा,' 'झींगुर डटकर बोला,' 'छलाँग मारता चला गया,' 'डिप्टी साहब आए' और 'महँगू महँगा रहा' जैसी कविताओं में बुलन्दी पर पहुँचता है। 'बेला' के गीतों और गजलों में यदि उनका रहस्यवाद है तो यथार्थ भी है। यहाँ स्मरणीय है कि 'बेला' की ही एक गजल में निराला ने सत्य को पा लेने की घोषणा की है—'खुला भेद विजयी कहाए हुए जो/लहू दूसरे का पिए जा रहे हैं।' " (निराला रचनावली—2, पृ. 15)

इससे स्पष्ट होता है कि निराला के काव्य का इस युग का यथार्थ साहित्य और परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया में रचा गया यथार्थ है परन्तु अभिव्यक्ति की नई-नई भंगिमाओं को अपनाकर भी वे गीत की अपनी प्रकृत भूमि से नहीं कटे हैं बल्कि उसमें भी यथार्थ का समावेश किया है। निराला के उत्तरकाव्य का पाठ-विश्लेषण डॉ. नन्दकिशोर नवल के उपर्युक्त उद्धरण और आधुनिक आलोचकों की कुछ टिप्पणियों के सन्दर्भ में थोड़ा जटिल हो जाता है। पहले कहा गया कि निराला के इस युग के काव्य को समकालीन कविता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास के साथ जोड़कर नहीं देखा गया। दूसरे, कई आलोचक उपर्युक्त उद्धरण में सन्दर्भित रचनाओं को ही निराला की कविता का अन्तिम सोपान, उनका अन्त और उनका प्रतिनिधि काव्य मानते हैं। इस सन्दर्भ में 24 जनवरी, 1996 को 'जलेस' द्वारा आयोजित निराला जयन्ती समारोह में कुछ आलोचकों के वक्तव्यों को देखा जा सकता है, जबकि एक भिन्न मन्तव्य की अभिव्यक्ति डॉ. नामवर सिंह ने 25 सितम्बर 1996 को इसी संस्था द्वारा आयोजित विचार-गोष्ठी में की थी। अपने इस भिन्न मन्तव्य को उन्होंने लगभग उसी समय 'कृति ओर-4' पत्रिका में और विस्तार से अभिव्यक्त किया है। वहाँ उन्होंने निराला की 'अर्चना', 'आराधना' 'गीतगुंज' और 'सांध्य काकली' जैसी कृतियों को उनके परवर्ती काल की प्रतिनिधि रचनाएँ स्वीकार कर उनके विशिष्ट अध्ययन एवं महत्त्व पर बल दिया है।

निराला का ऊर्ध्वमुखी विराट् व्यक्तित्व यों तो किसी भी प्रकार के वर्गीकरण के साँचे को अस्वीकार करता है पर उनके परवर्ती काव्य को अध्ययन की सुविधा से दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में उनका सन् 1937 से 1944 तक का काव्य आता है जिसकी अधिकांश रचनाएँ 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'बेला' और 'नये पत्ते' में संकलित हैं। दूसरा वर्ग 1950 से 1961 तक की रचनाओं का है, जिसका प्रतिनिधित्व मुख्यतः उनकी 'अर्चना', 'आराधना', 'गीतगुंज' और 'सांध्य 'काकली' संकलनों की रचनाएँ करती हैं। इनमें विषय और शिल्प की अद्भुत विविधता है। ऐसा प्रतीत होता है—जैसे यह एक दशक निराला की घोर बेचैनी का युग है। मुक्तछन्द, गीत, गजल, कजली और भी नए-नए प्रयोग इन रचनाओं में देखने को मिलते हैं पर प्रश्न यह है कि क्या निराला केवल प्रयोग के लिए प्रयोग कर रहे थे ? वास्तविकता तो यह है कि वे अपने युग के काव्य पर गहरी नजर रखे थे और जो-जो परिवर्तन घटित हो रहे थे, उनके प्रति सचेत थे। इसलिए उनकी इस युग की कविता एक ओर अपनी पूर्ववर्ती शैलियों को नई दिशा देती है, दूसरी ओर विश्रृंखल एवं अपकेन्द्रित होती समकालीन कविता के समक्ष एक प्रतिमान प्रस्तुत करती है। यह प्रतिमान तत्कालीन प्रगतिवादी कवियों के लिए भी एक चुनौती बना और प्रयोगवादी कवियों के लिए भी। रेखांकनीय यह है, उनकी इस काल की कविता का भाषिक विचलन (डेवियेशन) लगभग उसी समय के पन्त के उस शिलीभूत श्रम से अलग है, जिसमें विचार की पद्य-प्रस्तुति ही प्रधान है।

निराला ने जिन कविताओं में सामाजिक यथार्थ का चित्रण किया है, उनमें आघात की प्रमुखता है। विद्रूप के महल को कठोर घनाघातों से ही ध्वस्त किया जा सकता था। आरम्भ में उन्होंने व्यंग्य के जो छोटे-छोटे तीर छोड़े हैं, उनकी मार भी कम पैनी नहीं है—'प्रेम संगीत' और 'गर्म पकौड़ी' निराला द्वारा प्रक्षिप्त वे आरम्भिक बाण हैं, जो उन्होंने विषमता की ताड़का के संहार के लिए छोड़े हैं। 'प्रेम संगीत' 22-2-1939 की रचना है। शीर्षक की छायावादी प्रतिध्वनि की तुलना में एंटीक्लाइमैक्स प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं :

बम्हन का लड़का
मैं उसको प्यार करता हूँ।
जात की कहारिन वह,
मेरे घर की पनिहारिन वह,
आती है होते तड़का
उसके पीछे मैं मरता हूँ।
कोयल-सी काली, अरे
चाल नहीं उसकी मतवाली
ब्याह नहीं हुआ, तभी भड़का
दिल मेरा, मैं आहें भरता हूँ
रोज आकर जगाती है सबको,
मैं ही समझता हूँ इस ढब को,
ले जाती है मटका बड़का,
मैं देख-देखकर धीरज धरता हूँ।

यहाँ 'कोयल-सी काली' व 'अरे चाल नहीं उसकी मतवाली' में सौन्दर्य के आभिजात्य को ही नहीं तोड़ा गया है, 'ब्याह नहीं हुआ, तभी भड़का/ दिल मेरा' का आत्मव्यंग्य 'बम्हन के लड़के' के आभिजात्य को भी नया सन्दर्भ देता है। लगभग उसी काल में (1940 में) उन्होंने 'गर्म पकौड़ी' लिखी है। पूर्व लता की तरह यह भी मूलतः गीतधर्मी रचना है पर पारम्परिक गीत के 'स्वानुभूति की विवृति' के भावुकता-प्रधान घेरों को तोड़ते हुए निराला लिखते हैं :

गर्म पकौड़ी—
रे गर्म पकौड़ी !
तेल की भुनी
नमक मिर्च की मिली,
ऐ गर्म पकौड़ी !
मेरी जीभ जल गई
सिसकियाँ निकल रहीं
लार की बूँदें कितनी टपकीं,
पर दाढ़ तले तुझे दबा ही रखा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले तूने मुझको खींचा
दिल लेकर कपड़े-सा फींचा,
अरी तेरे लिए छोड़ी
बम्हन की पकाई
मैंने घी की कचौड़ी।

आभिजात्य पर यहाँ भी करारी चोट है। इन दोनों ही में तत्सम ब्राह्मण की अपेक्षा तद्भव 'बम्हन' यों ही नहीं आ बैठा है। यह 'जन्मना ब्राह्मण' निराला का वह क्रान्तदर्शी व्यक्तित्व है, जो अपने समय से बहुत आगे है। क्या यह आज के दलित-विमर्श का सूत्रपात नहीं है। यों 'चतुरी चमार' के इस लेखक की कृतियों को दलित साहित्य का वर्तमान प्रवक्ता 'टेक्नीकली' दलित-विमर्श में शामिल नहीं करता तो भी निराला यह जान चुके थे कि भारतीय सन्दर्भों में आर्थिक वर्गभेद के समानान्तर सामाजिक स्तर-भेद और भी जटिल रूप में विद्यमान है। वे जान चुके थे कि एक वर्ग जनता को पोथियों में बाँधने में सक्रिय है। उसी वर्ग के लिए उन्होंने लिखा था—"कितने ब्रह्मण आए/पोथियों में जनता को बाँधे हुए।" प्रेमचन्द इन स्तरों को समतल करने का प्रयास आरम्भ कर चुके थे। निराला यह भी जानते थे कि अभी मंजिल बहुत दूर है। उपर्युक्त दोनों रचनाओं का व्यंग्य जिस वर्गभेद और वर्णभेद पर केन्द्रित है, उस विषमता के संहारार्थ वे लघुवाणों की अपेक्षा ब्रह्मास्त्र छोड़ने की तैयारी कर चुके थे। जाति, धन, सत्ता और अधिकार—आभिजात्य के अनेक रूप होते हैं। इसी प्रकार निर्धनता, दासता, शोषितावस्था सर्वहारा की विभिन्न स्थितियाँ हैं परन्तु आभिजात्य की परपोषितता उसकी दीर्घजीवितता का आधार खिसका देती है। उसका पाटल-सौन्दर्य 'कुकुरमुत्ते' के सामने हेठा पड़ जाता है। 'कुकुरमुत्ता' निराला का वह व्यंग्य-ब्रह्मास्त्र है, जिससे एक साथ वे एक पूरी शोषणपरक व्यवस्था को ध्वस्त करने का प्रयास करते हैं। यहाँ वर्ग-सापेक्ष प्रतीकात्मकता जहाँ बहुत दूर तक तर्काश्रित रही है, वहाँ अनेक स्थलों पर पुख्ता तर्क-वितर्क की अपेक्षा लट्ठमार कुकुरमुत्ता हेकड़ी दिखाने पर आ गया है और जिस 'एब्सर्ड' अथवा विसंगत का असंगत चित्रण नई कविता और कुछ परवर्ती नाटकों में हुआ है, उसका सार्थक एवं संगत प्रयोग निराला ने 'कुकुरमुत्ता' में किया है। यहाँ यह बात भी साफ करना जरूरी है कि निराला ने 'कुकुरमुत्ता' का प्रतीक एकदम परम्परा-विच्छिन्न रूप में नहीं रखा है अपितु कालिदास और संस्कृत काव्य-परम्परा से सुपरिचित इस कवि ने 'कुकुरमुत्ता' का बिम्ब भी कालिदास की ही कविता से ग्रहण किया है, जहाँ इस महाकवि ने कुकुरमुत्ता को धरती से उठनेवाली असीम जिजीविषा के रूप में ही चित्रित किया है।

यह कविता वस्तुतः फन्तासी और कामदी का संश्लिष्ट रूप है। स्वप्निल फन्तासियों का प्रयोग तो और भी कवियों ने बहुत किया है पर निराला ने यथार्थ एवं व्यंग्यात्मक फन्तासी की बुनावट 'कुकुरमुत्ता' को प्रदान की है। देश-विदेश, ज्ञान-विज्ञान, अतीत-वर्तमान, इतिहास-भूगोल और शिक्षित-अशिक्षित समाज की जो सैर कुकुरमुत्ता पाठक को कराता है, उसके सन्दर्भ में इसकी भाषा का क्षिप्र प्रवाह सर्वाधिक ध्यानाकर्षक है। वृत्तान्त की यह क्षिप्रता पाटलवृत्ति पर किए गए दनादन प्रहार को व्यंजित करती है। कुकुरमुत्ता जिस व्यवस्था को ललकारता है, उससे तर्काश्रित लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। उसे तो शक्ति-प्रदर्शन से ही नेस्तनाबूद किया जा सकता है। यह शक्ति मूलतः सर्जनात्मक हो, इसकी स्थापना भी अनिवार्य है। इसीलिए समस्त सर्जनाओं का आधार कुकुरमुत्ता स्वयं को प्रमाणित करता है :

मुझी में गोते लगाए वाल्मीकि-व्यास ने
मुझी से पोथे निकाले भास-कालिदास ने
टुकुर-टुकुर देखा किये मेरे ही किनारे खड़े
हाफिज-रवीन्द्र जैसे विश्वकवि बड़े-बड़े।
कहीं का रोड़ा, कहीं का पत्थर
टी.एस. एलियट ने जैसे दे मारा
पढ़नेवाले ने भी जिगर पर रखकर
हाथ, कहा 'लिख दिया जहाँ सारा'
... ...
मेरी सूरत के नमूने पीरामीड्
मेरा चेला था यूक्लीड्
रामेश्वर, मीनाक्षी, भुवनेश्वर
जगन्नाथ, जितने मन्दिर सुन्दर
मैं ही सबका जनक
जेवर में जैसे कनक
हो कुतुबमीनार,
ताज आगरा या फोर्ट चुनार,
विक्टोरिया, मैमोरियल कलकत्ता
मस्जिद, बगदाद, जुम्मा अलबत्ता सेंट
पीटर्स, गिरिजा हो या घंटाघर
गुंबदों में गढ़न में मेरी मुहर
एरियन हो, पर्शियन या गाथिक आर्य
पड़ती है मेरी ही टार्च

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरी कविता में वर्ग-संघर्ष के दोहरे-तिहरे प्रतीक विद्यमान हैं। गुलाब और कुकुरमुत्ता जैसे मनुष्येतर प्रतीकों के अतिरिक्त 'गोली' और 'बहार' में प्रतीकात्मकता और वर्गभेद है, यहाँ तक कि परिवेश चित्रण में भी लेखक का बल कंट्रास्ट पर है। उपरिउद्धृत पंक्तियों के समानान्तर निम्न सन्दर्भ को रख देने से यह स्पष्ट हो जाता है :

बाग के बाहर पड़े थे झोंपड़े
दूर से जो दिख रहे थे अधगड़े
जगह गन्दी रुका सड़ता हुआ पानी
मोरियों में, जिन्दगी की लन्तरानी
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियाँ
सेलरों की, परी की गड्डियाँ
कहीं मुर्गी कहीं अंडे, धूप खाते हुए कंडे

बीसवीं सदी के अन्त में हिन्दी कथा साहित्य में जादुई यथार्थ के चित्रण की जो एक नई शैली विकसित हुई है, कुकुरमुत्ता में उसके बीज देखे जा सकते हैं। इस कविता की द्वन्द्वात्मक प्रतीकात्मकता केवल स्थिर बिम्बों में ही नहीं है, इसमें आए सक्रिय सन्दर्भ भी इसी द्वन्द्व को व्यक्त करते हैं। यथा :

चली गोली आगे जैसे डिक्टेटर
बहार उसके पीछे जैसे भुक्खड़ फोलोवर
उसके पीछे दुम हिलाता टेरियर
आधुनिक पोयट (Poet)
पीछे बाँदी बचत की सोचती केपीटलिस्ट क्वेट।

'तुलसीदास', 'गीतिका' और 'राम की शक्तिपूजा' के कवि के इस स्वर से लोग चौंके जरूर पर यह भी सब मानते थे कि इस ओज, वैराट्य और विस्तार को 'राम की शक्तिपूजा' का कवि ही कविता में बाँध सकता था। 'कुकुरमुत्ता', वर्ग-संघर्ष के चित्रण के साथ-साथ रूमानी सौन्दर्य की अवधारणाओं को खंडित करनेवाली कविता है। ऐसे अभिजात सौन्दर्य-स्वप्न पर दो और कविताओं में निराला ने चोट की है। 'रानी और कानी' के व्यंग्य में करुणा का स्वर प्रधान है पर 'खजोहरा' को रवीन्द्र की 'उर्वशी' के विलोम के रूप में देखा जाता रहा है। साधारण की असाधारण प्रस्तुति भी व्यंग्य का एक माध्यम रही है। गाँव के परिवेश को उर्दू-प्रधान शब्दावली में आंचलिक शब्दों की छौंक लगाकर जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह देखते ही बनता है :

मेंढक एक बोलता है जैसे सुकरात
दूसरा फलातूँ सुन रहा है बात

'बुआ' के जल में पैठने की छवि को निराला का सौन्दर्य-स्रष्टा मन इस रूप में अंकित करता है :

बुआ ताल में पैठीं जैसे हथनी,
डर के मारे काँपने लगा पानी
लहरें भगीं चढ़ने को किनारे पर
बाँधा पानी बुआ ने बाँहों में भरकर
नींव के खंभे हों, पैर बीच में हैं :
जाँघ से छाती तक अंग बीच में है।

'बुआ' के इस नग्नप्राय सौन्दर्य (?) का चित्रण निर्मम परिहास का ही रूप है, नई कविता की काम-कुंठाओं का पर्याय इसे नहीं कह सकते क्योंकि आवृत्त अथवा अनावृत्त सौन्दर्य को निराला सदैव मन के औदात्य से जोड़ते रहे हैं। 'स्फटिक शिला' का उपसंहार इसका प्रमाण है :

आँख पड़ी युवती पर
आई थी जो नहाकर
गीली धोती सटी हुई भरी देह में सुघर
उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़कर
आयत दृगों का मुख खुला हुआ छोड़कर
बदन कहीं से नहीं काँपता
कुछ भी संकोच नहीं ढाँपता
वर्तुल उठे हुए उरोजों पर अड़ी थी निगाह
चोंच जैसे जयन्त की, नहीं जैसे कोई चाह
देखने की मुझ ओर,
कैसे भरे दिव्य स्तन हैं, हैं ये कितने कठोर
मेरा तन काँप उठा, याद आईं जानकी
कहा, तुम राम की
कैसे दिये हैं दर्शन !

गत एक दशक से हिन्दी आलोचना जिन विमर्शों के इर्द-गिर्द घूम रही है, वे हैं : स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श और बाजारवाद। छह दशक पहले हिन्दी की नई कविता दुनिया-भर की आधुनिकता को समेटने की कोशिश में थी और इस प्रयास में निराला समेत सभी कवियों को अज्ञेयवादियों ने हाशिए के कवि मान लिया था। पर यह निराला ही थे जो सन् '42 में लिख रहे थे—"यह है बाजार/सौदा करते हैं सब यार !" 'अरे यार यहाँ सब सौदा करते हैं' या 'सब यार यहाँ सौदा करते हैं' की कड़वी सचाई को व्यक्त करनेवाली इस कविता में उपर्युक्त तीनों विमर्शों की छायाएँ हैं। केवल बाजार शब्द की उपस्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से हमने इसे बाजारवादी कविता नहीं कहा है। अपितु पूरी कविता का 'टोन' ही इसे इस विमर्श के साथ जोड़ता है। इसमें आए पात्र दुखिया और सुखिया और अन्य स्थितियाँ इसे दलित विमर्श से परोक्षतः जोड़ती हैं। ऐसी परोक्षता इसमें 'ठहर अरी सास की' जैसी पुरुषवादी उक्ति के माध्यम से स्त्री-विमर्श से जोड़ती है। इस व्यंग्य-रचना का यों पूरा ढाँचा गीतात्मक है। छायावादी गीत की कोमलता को दिया गया यह धक्का हिन्दी कविता को बहुत आगे ले जाता है। सन् 1940 के आसपास निराला के यथार्थ काव्य का स्वर व्यंग्य-प्रधान ही है, उसमें अभावग्रस्त जीवन की यातना का उतना सीधा चित्रण नहीं है परन्तु पाँच-छह वर्षों के अन्तराल के बाद वे जब फिर सामाजिक यथार्थ से जुड़ते हैं तो उनके काव्य में शोषणपरक व्यवस्था के खुलासे का स्वर प्रमुख होने लगता है। इस काल में रची गईं उनकी पाँच-छह कविताएँ तो निर्धन किसान के जीवन से गहरी सम्पृक्ति रखती हैं। इनमें पूँजीवादी व्यवस्था के षड्यन्त्रों को उद्घाटित किया गया है। एक छोटी-सी कविता में उन्होंने शोषक व्यवस्था के निर्माण की पूरी ऐतिहासिक प्रक्रिया को समेट दिया है :

धूहों और गुफाओं और पत्थरों के घरों से
आजकल के शहरों तक दुनिया ने चोली बदली
बिजली और तार और भाप और वायुयान
उसके वाहन हुए
जान खींची खानों से
कल और कारखानों से।
रामराज के पहले के दिन आए
बानिज के राज ने लछमी को हर लिया
टापू में ले चलकर रखा और कैद किया
एक का डंका बजा
बहुतों की आँख छपी
लहलही धरती पर रेगिस्तान जैसा तपा
जोत में जल छिपा,
धोखा छिपा छल छिपा
बदले दिमाग बढ़े
गोल बाँधे, घेरे डाले
अपना मतलब गाँठा
फिर आँखें फेर लीं।
जाल भी ऐसा चला
कि थोड़े के पेटे में बहुतों को आना पड़ा।

विकास की यह प्रक्रिया 'दगा की' और 'चर्खा चला' कविताओं में भी चित्रित हुई है। 'कुत्ता भौंकने लगा,' 'झींगुर डटकर बोला', 'छलाँग मारता चला गया' और 'डिप्टी साहब' केवल इसीलिए महत्त्वपूर्ण रचनाएँ नहीं हैं कि इनमें जमींदार और किसान के शोषक-शोषित के सन्दर्भों को दिखलाया गया है, वरन् वे इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें साधारण जन के आक्रोश के स्वर हैं, विरोध की आँच है और समकालीन राजनीतिक सन्दर्भों के प्रति सचेतता है। 'महँगू महँगा रहा' में जन की यह जाग्रति बहुत स्पष्ट है। करुणा का आलम्बन ले यह जनजीवन जब शोषक व्यवस्था के हथकंडों के प्रति सचेत हो जाता है तो परिवर्तन की आशा जन्म लेती है। निराला का यह काव्य नारेबाज कवि का काव्य नहीं है, वरन् यह उस कवि की करुणा का परिणाम है, जो इस जीवन से प्राथमिक आधार पर जुड़ा है। ऐसा कवि ही इन बिम्बों को आँक सकता है :

आज ठंडक अधिक है
बाहर ओले पड़ चुके हैं,
एक हफ्ते पहले पाला पड़ा था
अरहर कुल की कुल मर चुकी थी—
हवा हाड़ तक बेध जाती है
गेहूँ के पेड़ ऐंठे खड़े हैं
खेतिहरों में जान नहीं
मन मारे दरवाजे कौड़े ताप रहे हैं
एक दूसरे से गिरे गले से बातें करते हुए
कुहरा छाया हुआ
ऊपर से हवावाज उड़ गया
जमींदार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले
आया और लोगों को देखकर कहा
'डेरे पर थानेदार आए हैं;
डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है,
एक हफ्ते के अन्दर देना है
चलो बात दे आओ।'
कौड़े से कुछ हटकर
लोगों के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था
चलते सिपाही को देखकर खड़ा हुआ,
और भौंकने लगा,
करुणा से बन्धु खेतिहर को देख-देखकर।

'नये पत्ते' संग्रह की गजलें और इससे पूर्व 'बेला' की कई रचनाएँ निराला के यथार्थवादी स्वर में ही ढली हैं। समकालीन स्वतन्त्रता संग्राम की घटनाओं की प्रतिध्वनि इनमें है। इनकी अपेक्षाकृत सरल भाषा निराला के काव्य के कथ्य पर केन्द्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाने का प्रमाण है। शिल्प को लोक-रंगों में डुबाने का उनका प्रयास इन रचनाओं में देखा जा सकता है। उनकी लोक-रंग में डूबी यह रचना तो बहुत प्रसिद्ध है :

काले-काले बादल छाये, न आए बीर जवाहरलाल
कैसे-कैसे नाग मँडलाये न आए बीर जवाहरलाल

भले ही 'बेला' और 'नये पत्ते' की गजलें अपना रूपगत महत्त्व विशेष न बना पाई हों पर विषय की दृष्टि से वे उनकी सामाजिक यथार्थ को चित्रित करनेवाली मुक्तछन्द की रचनाओं की पूरक भूमिका का निर्वाह करती हैं। निम्न उद्धरण इस कथन की पुष्टि करता है :

भेद कुल खुल जाय यह सूरत हमारे दिल में है
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारी मिल में है
पेड़ टूटेंगे, हिलेंगे जोर की आँधी चली
हाथ मत डालो, हटाओ पैर, बिच्छू बिल में है

भाषा का गंगा-जमुनी रूप इन गजलों को दुष्यन्त से आरम्भ होनेवाली हिन्दी गजल की पूर्वपीठिका का दर्जा देता है। एक उत्साह जैसे निरन्तर इन गजलों को रवानगी प्रदान करता है :

अगर तू डर के पीछे हट गया तो काम रहने दे।
अगर बढ़ना है अरि की ओर तो आराम रहने दे।
बिगड़कर बनते और बनकर बिगड़ते एक युग बीता
परी और शाम रहने दे, शराब और जाम रहने दे।

व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित लगभग दस कविताएँ भी उन्होंने 'अणिमा', 'बेला', और 'नये पत्ते' में संगृहीत की हैं। 'अणिमा' में इनकी संख्यां अधिक है। बुद्ध, प्रसाद, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, रविदास, स्वामी प्रेमानन्द, महादेवी वर्मा, रामकृष्ण परमहंस, लक्ष्मी एवं सरस्वती विषयक इन कवियों एवं आराध्य शक्तियों के प्रति कवि की गहन अनुरक्ति की परिचायक हैं। 'सहस्राब्द' कविता ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रस्तुत करती है परन्तु यह भी उपर्युक्त कविताओं के साथ वर्गीकृत की जा सकती है। इन रचनाओं का महत्त्व तत्कालीन, राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में तो विशेष था ही, ये कवि की निष्ठा का प्रमाण भी हैं क्योंकि ये इन व्यक्तियों का किसी न किसी रूप में निराला के ऋणी होने का संकेत देती हैं। 'प्रसाद के प्रति' कविता में उन्होंने जो भाव व्यक्त किए हैं, वे छायावाद के संघर्ष का परोक्ष इतिहास तो हैं ही, प्रसाद के प्रति निराला की असीम श्रद्धा के परिचायक भी हैं। विशेष बात यह है कि उन्होंने इस कविता में साहित्य-यात्रा को विकास देनेवाले अपनी पीढ़ी के रचनाकारों का ही उल्लेख नहीं किया है, वरन् साहित्य-क्षितिज पर उदित होनेवाले सद्यस्क नक्षत्रों का भी मुक्त मन से रेखांकन किया है, जो इस बात का प्रमाण है कि उनकी नजर हिन्दी के नवीनतम लेखन पर सतत रही है। इन व्यक्तिपरक रचनाओं और 'बेला' तथा 'नये पत्ते' की अनेक वस्तुपरक कविताओं को समग्र रूप में देखें तो दो तथ्य उभरकर सामने आते हैं। एक तो उन्होंने सन् '39 से '49 तक लगभग एक दशक में शैल्पिक प्रयोग, विशेषकर काव्यरूपात्मक प्रयोग, बहुत अधिक किए हैं, दूसरे, उनके काव्य का विषयपरक क्षितिज अत्यन्त असीम हो गया है। यद्यपि इस काल में उनकी मुक्तछन्द की कई विशिष्ट रचनाएँ हैं पर तुलनात्मक रूप में परवर्ती काल में निराला ने मुक्तछन्द का प्रयोग पूर्वकाल से कम किया है। आज के कई मूर्द्धन्य आलोचक उन समकालीन कवियों की पीठ थपथपाते खूब दिखाई देते हैं, जिन्होंने छन्द को कविता से पूर्णतः बहिष्कृत कर दिया है। इनका तर्क यह है कि निराला ने कविता को छन्द से मुक्त कर दिया था और इस दौर के कवियों ने छन्द का परित्याग कर निराला की परम्परा को आगे बढ़ाया है। ऐसी घोषणाएँ निराला की स्थापनाओं से नितान्त भिन्न हैं क्योंकि मुक्तछन्द के प्रणेता, प्रचुर प्रयोक्ता और व्याख्याता निराला की एक भी पंक्ति छन्दहीन नहीं है, मुक्तछन्द में रचित कविताओं की भी नहीं। ऐसे आलोचक मुक्तछन्द और छन्दहीनता को पर्याय मानकर या मनवाकर अपनी विद्वत्ता का अच्छा उद्घाटन कर रहे हैं क्योंकि सीढ़ीदार कवित्वहीन गद्य लिखनेवाले जिन कवियों को ये छन्दहीनता के आधार पर निराला का वंशधर बतला रहे हैं, उनमें एक भी पंक्ति पारम्परिक छन्द में तो क्या मुक्तछन्द में भी रचने की क्षमता नहीं है।

निराला ने सन् 1939 से 1961 तक लगभग चार सौ गीतों की रचना की है। उन्होंने सन् 1950 में जनवरी और फरवरी के दो महीनों में ही 103 गीत लिखे हैं। यह संख्या इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि यह वह दौर था जब सप्तक-काव्य की प्रतिष्ठा अपने चरम पर थी, जब हिन्दी कविता अभारतीय एवं जन-विमुख होकर आयातित रूपवादी शिल्प के फेर में थी तथा रुग्ण मानसिकता की प्रवृत्तियों से घिरने लगी थी। तब गीत की मृत्यु की घोषणा की जाने लगी थी और छन्द का परित्याग एक फैशन बनता जा रहा था। उस दौर में निराला द्वारा गीत को दी गई यह समृद्धि गीत-विरोधियों को दिया गया रचनात्मक उत्तर थी। निराला ने अन्य काव्यरूपों के प्रयोग को समेटकर गीत की जमीन पर अपनी सम्पूर्ण प्रयोगशीलता को अन्तिम 10-12 वर्षों में यों ही नहीं खपाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। यह साधना उस शताब्दी के इस महत्तम कवि की गीत के प्रति निष्ठा, आस्था एवं समर्पणशीलता का परिचय देती है।

'कृति ओर' के सितम्बर '96 के अंक में 'निराला की कविता में परम्परा और आस्वाद के विभिन्न स्तर' शीर्षक से डॉ. नामवर सिंह का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इसमें वे लिखते हैं–"छायावादी दौर के गीत और इस दौर के निराला के गीतों को अगर हम देखें तो पन्त, प्रसाद और महादेवी के गीतों से अलग ये गीत हैं, इसलिए वे कहने को तो गीत जरूर हैं, लेकिन ठीक-ठीक परम्परित अर्थ में वे प्रगीत हैं–जिसे लिरिक कहते हैं। मैं यहाँ लिरिक शब्द का प्रयोग करना चाहूँगा क्योंकि गीत कहने में भ्रम होता है।" इस कथन में यह सत्य है कि निराला के अन्तिम दौर के गीत छायावादी गीत से भिन्न हैं पर उन्हें प्रगीत या लिरिक कहने से भी भ्रम ही होगा क्योंकि सन् '40 और '60 के बीच इन दोनों शब्दों का प्रयोग छायावादी गीतों के सन्दर्भ में ही होता रहा है। प्रयोग की जो परिभाषा वर्णनात्मक लम्बे गीतों के रूप में कभी नन्ददुलारे वाजपेयी ने दी थी, वह तो इन गीतों की पहचान को और भी ओझल कर सकती है पर डॉ. नामवर सिंह के कथन में सत्यता का दूसरा अंश यह है कि इन गीतों का रूप 'परम्परित' है तथापि हैं ये गीत ही, प्रगीत नहीं। हाँ भ्रम का निवारण यदि अपेक्षित है तो इनमें से अधिकांश को नवगीत कह सकते हैं। डॉ. नामवर सिंह द्वारा प्रयुक्त 'परम्परित' शब्द के स्पष्टीकरण से समस्या सुलझ सकती है। निराला ने सन् '50 के आसपास गीत को भारतीय परम्परा से जोड़ते हुए जो परिवर्तन किया है, हमारे मत से वह गीत में वस्तुपरकता का समावेश है। डॉ. नामवर सिंह ने जिस 'परम्परित प्रगीत' का उल्लेख किया है, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'एक असाहित्यिक की डायरी' में उसकी भारतीय काव्य में सम्पूर्ण परम्परा को विश्लेषित करते हुए दिखलाया है कि वस्तुपरकता भारतीय गीत-परम्परा में निरन्तर रही है। यह तो अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी काव्य का 'लिरिक' ही है जो गीत को स्वानुभूति की विवृत्ति तक सीमित करता है। पर निराला का गीत इन सीमाओं से मुक्त है। अतएव एक विशेष अर्थ में निराला के इस दौर के गीत 'परम्परित गीत' हैं और यह परम्परा उन्हें गैर-रोमानी एवं वस्तुपरक गीत प्रमाणित करती है। सौन्दर्य से गाढ़ अनुरक्ति तो निराला के सम्पूर्ण काव्य में है पर यह सौन्दर्यानुराग रोमानी भावोच्छ्वास मात्र नहीं है। वस्तुपरक दृष्टि की परम्परा तो निराला के 'गीतिका' के गीतों में भी है परन्तु उनके परवर्ती गीत उस काल की आवृत्ति नहीं हैं बल्कि उनका बोध और शिल्प नितान्त भिन्न है। इस भिन्नता का प्रवर्तन 'अणिमा' के गीतों से ही आरम्भ हो जाता है।

निराला ने अपने जीवन के अन्तिम 20-22 वर्षों में जो गीत लिखे हैं, उनकी अगणित भंगिमाएँ हैं–शेड्स हैं। आदर्श संसार को मूर्त बनाने की प्रार्थना, संसार के दुःखों के परिहार की प्रार्थना, संसार के दुःखमय रूप का चित्रण, भक्त कवि की आस्था, भक्ति के राम, देवी आदि आलम्बन, व्यंग्य की चोट, सामाजिक यथार्थ–किसान जीवन, देश की स्थिति, शोषण, अभाव, सौन्दर्य, प्रकृति–शरद्, वसन्त और वर्षा का चित्रण, दर्शन, वेदना और विषाद–कितनी-कितनी अर्थच्छवियाँ उनके गीतों में उभरी हैं। गीत की कोमलता-सापेक्ष छवि को निराला ने 'प्रेम-संगीत', 'गर्म पकौड़ी' और 'यह है बाजार' जैसी रचनाओं में ही तोड़ दिया था। व्यंग्य का स्वर उनके अन्य गीतों में भी उभरा है परन्तु बाद में उनके गीतों में क्रमशः व्यंग्य की अपेक्षा सामाजिक यथार्थ का चित्रण प्रमुखता पाने लगता है, जिसमें या तो अभावग्रस्त जीवन के प्रति करुणा है अथवा उससे उत्पन्न होनेवाले आक्रोश के कारण विद्रोह का स्वर है। सन् 1944 में लिखे उनके एक गीत की पंक्तियाँ हैं :

भीख माँगता है जब राह पर
मुट्ठी भर हड्डी का यह नर
एक आँख आज के बनिज की
पराधीन होकर उस पर पड़ी
कहा कला ने के कल का यह नर
एक आँख कारीगर की गड़ी
कहा आदमी को यह है छड़ी
खेदे कोई इसको लेकर

जीवन की इस विवश विषाद-ग्रस्त स्थिति का चित्रण तो उन्होंने आगे भी अपने गीतों में किया है पर बीच-बीच में विद्रोह के ये स्वर भी उभरे हैं :

जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ–
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार, तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला
एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछाओ

जो कवि यह लिखता है–'बन्दीगृह वरण किया, जनता के हृदय जिया।' वही जन के सुख-दुख को अपने गीतों का विषय बना सकता है। निराला ऐसा इसलिए कर सके क्योंकि लोक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन से उनका सीधा साक्षात्कार था। उनकी भाषा का निपट निरालापन इस लोक-जीवन से ही उपजा था। 'आराधना' के कई गीत इस अटपटी भाषा के माध्यम से लोक-जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं। यथा :

बान कूटता है,
मुगरी लेकर सुख का
राज लूटता है
मूज के फाले छाले
अच्छे बाँधों वाले :
ऐसे बैठे ठाले
काज कूटता है

निराला किसान-जीवन से अपने को कभी काट नहीं पाए। किसान का दुःख-दर्द उनकी कविताओं में आरम्भ से ही व्यक्त होता रहा है। अभाव, दैन्य, शोषण एवं यन्त्रणा को गीत में स्थान देने का क्रान्तिकारी कदम निराला ने ही उठाया था। इसीलिए वे प्रगतिशील चेतना से सम्पन्न परवर्ती गीतधारा 'नवगीत' के प्रवर्तक भी माने जाते हैं। कृषक जीवन के ये बिम्ब निराला के ही गीतों में मिल सकते थे :

खेत जोतकर घर आए हैं
बैलों के कन्धों पर माची
माची पर उल्टा हल रखा
बद्धी हाथ अधेड़ पिताजी,
माताजी सिर गट्ठल पक्का
पिता गये गौवों के गोंडे
माता पर लड़के धाये हैं

निराला के 40-42 के गीतों की तरह व्यंग्य का स्वर दिसम्बर, 1952 में फिर उभरा है पर यह व्यंग्य विसंगत जीवन का चित्रण अधिक करता है। 'ऊँट बैल का साथ हुआ है;/कुत्ता पकड़े हुए जुआ है।' जैसे गीतों में विसंगति का ही चित्रण है। 'मानव जहाँ बैल घोड़ा है' गीत में विसंगति के साथ करुणा भी आ मिली हैं। कवि कहता है :

पककर ऐसा फूटा है
जैसा सावन का फोड़ा है

डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला की उस मनःस्थिति का सूक्ष्म विश्लेषण किया है, जिसमें उन्होंने 'अर्चना' के गीत लिखे थे। उनका कथन है—"निराला का मन अपेक्षाकृत शान्त था। वह उस वातावरण में आ गए थे जिसमें रहने के आदी थे। साहित्यकार संसद में जो सरस्वती मौन थी, वह सहसा मुखर हो उठी। जिस नरक में उनका मन घूमता रहा था, वह बाहर था, उसके भीतर भी। गह्वर में पड़ा हुआ मनुष्य, कृमि से भी पतित उसका जन्म, दुर्गन्ध से विकल रोता हुआ शिशु, शिशिर की रात, चारों ओर हिंस्र पशु, हृदय में त्रास, सामने नग्न काली के समान नाचती हुई निराशा दिगंबरी, कवि के सामने उसके अपने प्राणों की जर्जर परछाईं, शरीर और मन में जैसे वीसों विष व्याप्त हुए, माथे है नील का टीका, दाग-दाग कुल अंग स्याह है, सबकुछ नीला-नीला, नील जलधि, नील गगन, नील मृत्यु—निराला जैसे मृत्यु की विभीषिका प्रत्यक्ष देख रहे थे, मृत्यु के विष से दग्ध हो रहे थे, भय और त्रास के आलम्बन प्रेतों की तरह उन्हें घेरे हुए थे। 'राम की शक्तिपूजा' का अन्धकार अकेला न होकर सैकड़ों भयावनी छायाओं में बँटकर मानो उनसे युद्ध कर रहा था। जिस नीलिमा को वे बार-बार देख रहे थे, वह कालिदास के शृंगार काव्य की शारदीय गगन जैसी नीरभ्र नीलिमा न थी; यह शिवकंठ की नीलिमा थी, सिन्धुमन्थन से अमृत के साथ निकली हुई, वैसी ही कालजयी, वैसी ही आकर्षक।

"निराला का मन आत्मकरुणा से भर गया। राह चलते चोट खाई, ऐसी चोट खाई कि होश के भी होश छूट गए। साथ में जो पाथेय था, उसे ठग-ठाकुरों ने लूट लिया। सारे संसार में जहर भर गया है। काल आ रहा है। कंठ रुकता जा रहा है। ये दुख के दिन, काटे हैं पलछिन गिनकर आँसू की लड़ के हार पिरोए, हार गया जीवन साथ छोड़ गए साथी।" निराला ने प्रार्थना की :

माँ अपने आलोक निखारो,
नर को नरक त्रास से वारो

निराला का मन पहली बार तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' की ओर गया। ज्ञानोद्धत प्रहार करना वे भूल गए। पहली बार उन्होंने विनती की—

भजन कर हरि के चरण मन
पार कर मायावरण, मन

पर आत्म-समर्पण कर जो सन्तुष्ट हो जाते, वे कवि कोई और होंगे, निराला नहीं। उन्होंने ब्रह्म से लड़ना शुरू किया। पूछा—कैसे हुई हार तेरी निराकार ? कहीं हों तो जवाब दें। निराला ने डाँटा, व्यंग्य किया, उलाहना दिया, फिर अपने मन को ललकारा—यों पथ पर बेमौत न मर। ऐसे मर कि दूसरे जीवन पाएँ। निराला का मन 'राम की शक्तिपूजा' के महावीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की तरह पछाड़ खाते हुए जल के पहाड़ों से लड़ता रहा, अपनी अद्भुत क्रियाएँ देखकर गीतों में उनके चित्र बनाता रहा।

"...निराला की रचनाओं में 'अर्चना' एक अद्भुत संग्रह है। हर संग्रह की तरह इसमें भी बहुत कुछ अटपटा है, कहीं-कहीं लगता है, शब्दों को जबर्दस्ती उन्होंने पंक्तियों में ठूँसा है, पर यह उस कवि की रचना है जो नरक में घूमकर लौटा था, जिसके मन से धरती का मोह छूटा न था... हार-हारकर भी जीता—ऐसा था निराला का अपराजेय मन जिसने सन् '50 में 'अर्चना' के गीत लिखे थे।" (निराला की साहित्य-साधना, पृ. 389-90।)

निराला के इस युग के गीत युगीन परिवेश की विभीषिकाओं का चित्रण यों करते हैं :

घन तम से आवृत धरणी है,
तुमुल तरंगों की तरणी है।
मन्दिर में बन्दी हैं चारण
चिघा रहे हैं वन में वारण
रोता है बालक निष्कारण
बिना सरण-स्मरण-भरणी है

तब वे संसार के दुःखों के परिहार की जो कामना या प्रार्थना करते हैं, वह भी उनकी इस सजगता का प्रमाण है, यों वे सन् 1939 में ही लिख चुके थे :

दलित जन पर करो करुणा
दीनता पर उतर आए प्रभु तुम्हारी शक्ति अरुणा

वास्तव में उनके तन-मन में रमा हुआ जनहित उनको विशेष मनःस्थिति में ढाल चुका था। वे अन्ततः प्रकृति से भी जनहित की कामना करते हैं :

हिम के आतप के तप झुलसो
नाम-वारि के वारिय हुलसो
भीगे कठिन धरा निष्पावन
चले चतुर्दिक हल अभिभावन
बोये बीज, सीझ कर हुलसो
बढ़ें नए पौधे लह-लहकर
पुरवाई के झोंके सहकर
थके नयन साधन-धन गहकर
जीवन के सावन तुम सुलसो

इन्हीं रचनाओं के लिए तो डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा था—"...गीत लिखते समय निराला ने विकट प्रयास से अपने मन को साधा था। दारागंज की गली में घूमते हुए वे स्वगत कथन के गद्य-संसार में कहाँ-कहाँ भटकते थे, उससे दूर कहीं गीत लिखते समय अपने मन को बहुत ऊपर खींच ले जाते थे। अपनी पीढ़ी के कवियों में वही अकेले थे जो अब भी अपने को अनासक्त मन से देख लेते थे, जो तटस्थ होकर अपना और अपने परिवेश का चित्रण कर सकते थे, जिनकी रचनाएँ उनके पुराने काव्य की प्रतिध्वनि मात्र न थीं, जो अब भी हिन्दी के ऊसर में अपने लिए नई राहें बना रहे थे।" (वही, पृ. 391)

निराला के उत्तरकाव्य में जहाँ अनेक गीत ऐसे हैं, जिनमें संसार के दुःखमय रूप का चित्रण, आदर्श संसार के मूर्तिकरण की कामना या संसार के दुःखों के परिहार की प्रार्थना का स्वर प्रधान है, वहाँ इसमें भक्तिपरक गीतों की संख्या भी कम नहीं है। निराला के ये भक्तिपरक गीत न तो किसी नव्यरहस्यवाद का अनुगायन हैं और न ही किसी संकीर्ण सम्प्रदाय का अनुसरण। मानना पड़ेगा कि आरम्भ में ही उनके मन में भक्त की चेतना रही है पर यह भक्त-व्यक्तित्व रूढ़िवादी या प्रगतिविरोधी हो, यह जरूरी नहीं है। इसी कारण निराला के इन गीतों में भक्ति के अस्तित्व को पूर्णतः नकारना तथ्यों की अवहेलना और वस्तुपरक मूल्यांकन का बाधक होगा, जबकि कुछ आलोचकों का ऐसा आग्रह है। वस्तुतः इन गीतों में प्रतिगामिता जैसा कुछ नहीं है। इस सन्दर्भ में डॉ. नन्दकिशोर नवल ने 'निराला रचनावली-2' की भूमिका में जो स्पष्टीकरण दिया है, वह तर्कसंगत है। उनका कथन है—"निराला के तीसरे चरण के काव्य से यह भ्रम हो सकता है कि उसमें वे पीछे की ओर लौट गए हैं।—धर्म-भावना निराला में पहले भी थी। वह उनमें अन्त-अन्त तक बनी रही है। उनके इस चरण के धार्मिक काव्य की विशेषता यह है कि वह हमें उद्विग्न करता है, आध्यात्मिक शान्ति नहीं प्रदान करता। वह शान्ति निराला को कभी मिली भी नहीं क्योंकि इस लोक से उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा, बल्कि इस लोक को अभाव एवं पीड़ा से मुक्त करने के लिए वे कभी सामाजिक-राजनीतिक आन्दोलनों की ओर देखते रहे और कभी ईश्वर की ओर। उनकी यह व्याकुलता ही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। उन पर वेदान्त का गहरा असर है लेकिन अनेक बार उन्होंने इसका अतिक्रमण भी किया है। यदि ऐसा न होता तो वे अन्त में यह न कहते कि 'नई शक्ति, अनुरक्ति जगा दो। विकृत भाव से भक्ति भगा दो, उत्पादन के मार्ग लगा दो, साहित्यिक वैज्ञानिक के बल।' जो कवि इस लोक को माया समझेगा, वह कभी नहीं चाहेगा कि साहित्य और विज्ञान का उपयोग उत्पादन वृद्धि और फिर उससे होनेवाले समाज-कल्याण के लिए हो।" (निराला रचनावली-2, पृ. 18)। लेकिन निराला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इस युग के काव्य में कई शुद्ध भक्तिपरक गीत हैं, यह एक तथ्य है। 'राम' और 'देवी' की आराधना उनके कई गीतों में है। 'कामरूप हरो काम। जपूँ नाम राम-राम', 'राम के हुए तो बने काम। सँवरे सारे धन, धान, धाम' तथा 'काम के छवि-धाम। शमन-प्रशमन राम !' जैसे गीतों में राम की सात्विक आराधना है, तो 'वन्दन करूँ हे जननि तुम तप चरिता' जैसे अनेक गीतों में 'माँ' की वन्दना और 'जीवन के उद्धार' की प्रार्थना है और यह भी एक सत्य है कि निराला के उत्तरकाव्य में एक सापेक्ष अध्यात्म एवं भक्ति की उपस्थिति के समानान्तर सौन्दर्य के प्रति गहन आसक्ति भी है। 'गीतिका' के गीतों में जो उन्मद-सौन्दर्य चेतना है, उसकी उपस्थिति इस काल की रचनाओं में भी निरन्तर है। समूचे विषाद-वृत्त को तोड़कर वे गा उठते हैं :

फूटे हैं आमों से बौर,
भौंर वन-वन टूटे हैं।
होली मची ठौर-ठौर,
सभी बन्धन छूटे हैं
फागुन रंग राग
बाग-वन फाग मचा है,
भर गए मोती के झाग,
जनों के मन लूटे हैं।
माथे अबीर से लाल,
गाल सेंदुर के देखे,
आँखें हुई हैं गुलाल
गेरू के ढेले कूटे हैं।

सौन्दर्य का यह आधार निराला के काव्य में शाश्वत है, नित्य रचना में ढलता रहा है। इस प्रेरणा को वह यों गाते हैं—रचना की ऋजु बीन बनीं तुम/ऋतु के नयन नवीन बनीं तुम।' शृंगार निराला के उत्तरकाव्य में अपने मधुरतम रूप में विद्यमान रहा है। 'जूही की कली' का 'उठ क्षमा माँगी नहीं' का टूटा सूत्र अर्चना में इस तरलता के साथ जुड़ता है :

प्रिय के हाथ लगाए जागी
ऐसी मैं सो गई अभागी।
हरसिंगार के फूल झर गए
कनक रश्मि से द्वार भर गए
चिड़ियों के कल कंठ भर गए
भस्म रमाकर चले विरागी

प्रकृति के परिवेश में सौन्दर्य की जो छवि निराला ने अंकित की है, वह अपनी शुभ्रता में अनुपम है। दो बिम्ब दर्शनीय हैं :

(क) *दिवरनी के पेड़ के तले,*
बैठी थीं तुम भले-भले,
आँखों से चिड़ियाँ उड़ती थीं
उससे कुलबिड़ियाँ जुड़ती थीं
पहने साड़ी सफेद
भावों से गया भेद
लोगों ने रूप पी लिया गले-गले।

(ख) *आँखें जहाँ प्रेमिका की थीं,*
पाँखें वहाँ तुम्हारी ही थीं।
अधर सुधा के स्वर जो घोले,
निकले वे वाणी के तोले
रानी कल्याणी भी हो ले,
ऐसी क्या आशाएँ भी थीं।

अनुराग, सौन्दर्यासक्ति और मर्यादा का जैसा चित्रण निराला के अतिप्रसिद्ध गीत 'बाँधो न नाव इस ठाँव, बन्धु !' में हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'यह घाट' और 'वह कभी नहाती थी' के 'यह' और 'वह' सर्वनाम जिस रूप में अर्थ-व्यंजक हैं, वैसी क्षमतावाला प्रयोग कितने कवियों ने किया है ? इस गीत में सारे गाँव का उल्लेख तो है पर इसके समानान्तर यह साधारण-सा 'वह' असाधारण प्रभाव छोड़ता है। गाँव भर की आलोचना के बीच चलनेवाली इस प्रेम-कथा को छायावादी 'प्लेटॉनिक लव' या रीतिकालीन वासना-विलास के साथ कहीं रखा नहीं जा सकता। एक मौन क्रान्ति की सूचना इस गीत में विद्यमान है :

वह हँसी बहुत कुछ कहती थी,
फिर भी अपने में रहती थी
सबकी सुनती थी, सहती थी,
देती थी सबके दाँव, बन्धु !

निराला के काव्य में प्रकृति का व्यापक चित्रण है पर यह चित्रण प्रधानतः वस्तुपरक है। आरम्भ से ही बासन्ती बिम्ब उनके काव्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाहते रहे हैं पर बसन्त के इस अग्रदूत के 'गीतिका' संग्रह के बाद 'अर्चना' तक बसन्त की लगभग अनुपस्थिति उस सहज उल्लास के अभाव की सूचक है, जो 'सखि, वसन्त आया' युग में रही है पर परवर्ती गीतों में निराला का वासन्ती उल्लास फिर लौटा है। बसन्त के साथ-साथ इस काल में प्रकृति की शारदीया छवियाँ और पावस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झंकृतियाँ भी विशेष रूप से अंकित हुई हैं। वर्षा, शरद और वसन्त का चित्रण सौ से अधिक गीतों में हुआ है। 7 अगस्त, 1949 को एक ही दिन उन्होंने चार गीतों में वर्षा का अनुपम चित्रण किया है। 'अयि, सजल-जलद वदने !' 'श्याम घटा घन घिर आई', 'घुमड़-उमड़ घन सावन आए।' 'छाये बादल काले-काले।' 'रस की बूँदो बरसो,' 'यह गाढ़ तन आषाढ़ आया,' 'सौरभ के रभस बरसो जीवन' 'आये धाराधर सावन हो,' 'श्याम गगन नव घन मँडलाये', 'बढ़-बढ़कर बहती पुरवाई,', 'आओ, आओ वारिद वन्दन' जैसे कितने ही गीत निराला ने इस काल में वर्षा की छवियों को चित्रित करते हुए रचे हैं। आर्द्रा के घनों के छाने के साथ नैदाघ तपन का ढकना, नद-जल में आकुल मद का धावन, जीवन पर जीवन का बल खाना, जैसे बिम्बों के साथ सावन की सर्जनात्मक उपलब्धियों को खेत-क्यार की इन छवियों के रूप में निराला ही चित्रित कर सकते थे :

हरी ज्वार की परियाँ झूमीं
अरहर अब चूमीं तब चूमीं
उड़द बदलकर फैली झूमीं
लिये मूँग ने पात

हलचल और झंझावातों से भरा निराला का उत्तर-जीवन मानसिक उद्वेलनों के बावजूद एक गम्भीर निथार को अनुभव कर रहा था। दिवस की सांध्य बेला में उदासी और अकेलेपन को झेलकर वे शरद की निरभ्र स्वच्छता से स्वयं को साधारणीकृत कर सके थे। इसीलिए उन्होंने इस युग में शरद की छवियों को अंकित करनेवाले अनेक सुन्दर गीत रचे हैं। इस तरह के उनके गीतों की बिम्ब-रचना अद्भुत है। एक गीत देखिए–

ओस पड़ी, शरद आयी
हरसिंगार मुसकायी
बादल वे बदल गए
कटे-छटे नए-नए,
नभ में आए, उनये
बन्द हुई पुरवाई।
जुही आन-बान भरी,
चमेली जवान परी,
मालती खिली निखरी,
शीत हवा सरसायी।
नद के उद्गार घटे
निकले तट कटे-छटे;
गीले औ' कीच पटे
फैली हल चलवाई।

वर्षा हो या शरद, निराला कृषि के साथ ऋतुओं का सम्बन्ध निरन्तर जोड़ते रहे हैं। ऊपर के गीत का आरम्भ भले ही जवान परी चमेली से हुआ हो पर समापन 'फैली हल चलवाई' से ही हुआ है। गन्ध की शुभ्रता को भी निराला ही पहचान सकते थे। उन्होंने लिखा है–'शरद की शुभ्र गन्ध फैली/ खुली ज्योत्स्ना की सित शैली।' इस गीत का समापन भी धान्य की समृद्धि में हुआ है–'ज्वारों की लटकी है थैली !' जहाँ प्रकृति ने कृषिकर्म को समृद्धि दी है, वहीं उसके गति चक्र में आलोड़न के चिह्न भी हैं। निराला ने अपने जीवन में शिशिर के आतंक को खूब झेला होगा, इसमें सन्देह नहीं पर इसकी मार कृषक पर कैसी पड़ी है, उनकी कविता की गहरी चिन्ता तो यह है। उत्तरकाव्य में उनके ये गीत चित्र इसी के साक्षी हैं :

गहरी विभावरी शीत की
काँपी पाले से अरहर की
डाली गुनागरी, शीत की।
मटर, चने कुछ काम न आए,
जौ, गेहूँ लड़ते अरगाए
माचे पर किसान का कूकर
कुँहकाया, सिहरी, शीत की।
प्रातः पातगात झुलसाई
खड़ी रही जैसे परछाईं,
नीली रेखा मुख पर छाई,
सुध सारी बिसरी, शीत की।
सूख गया किसान एकाकी
रोया, रहा न लेखा बाकी,
कर्म-धर्म को करके साखी,
दुहरी डगर भरी, शीत की।

यह एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन का विषय हो सकता है कि क्यों निराला के उत्तरकालीन गीतों में वर्षा-गीतों की संख्या सर्वाधिक है पर यह भी सत्य है कि उनके इस काल में रचे हुए अनेक वसन्त गीत भी अनुपम हैं। सौन्दर्य के प्रति उनकी सहज आसक्ति उनके इन गीतों में फूटी है। बिम्बों की यह माला इसका प्रमाण है :

अट नहीं रही है
आभा फागुन की तन
सट नहीं रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं साँस लेते हो,
घर-घर भर देते हो,
उड़ने को नभ में तुम
पर-पर कर देते हो,
आँख हटाता हूँ तो
हट नहीं रही है।

फागुनी सौन्दर्य को उन्होंने अपने गीतों में यों भी व्यक्त किया है :

कुंज-कुंज कोयल बोली है
स्वर की मादकता घोली है
गृह-वन जरा-मरण से जीकर
प्राणों का आसव पी-पीकर
झरे पराग-गन्ध-मधु सीकर
सुरभित पल्लव की चोली है।

निराला के गीतों में प्रकृति का यह उल्लसित नर्तन उनके उस समन्वित व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है, जो समस्त उथल-पुथल के बीच, घात-प्रतिघातों को सहते हुए एक समासीन योगी का व्यक्तित्व है। निराला अपनी अन्तिम साँस तक स्थितियों पर, समाज पर, देश पर, जीवन पर एक सजग दृष्टि रखे हैं। तन-मन की अस्वस्थता के बीच भी वे चीजों के आर-पार देख पा रहे थे पर वे यह भी अनुभव कर रहे थे, उनका अशक्त तन अब कुछ करने में बाधा बन रहा है। उनकी अन्तिम कविता भी बहुअर्थस्तरीय है। 'पत्रोत्कंठित जीवन का विष बुझा हुआ है' के बावजूद वे हृदय कुंज में आशा के दीपक के जलने की बात करते हैं। परन्तु दिङ् निर्णय ध्रुव की तरह कोई एक रश्मि है जिससे इस अन्धकार में भी पथ सुझा हुआ है। भीष्म शरों की कठिन सेज पर ताकता यह साधारण मानव (जो सिद्ध योगियों जैसा भी है) फूलों के संवरण-समय की लीला को देख रहा है। पर विशेष बात यह है कि यहाँ पर निराला का मन 'प्रकृतिस्थ' है :

स्निग्ध हो चुका है निदाघ, वर्षा भी कर्षित,
कल शारद कल्प की, हैम लोमों से आच्छादित,
शिशिर मिद्य, बौरा वसन्त आमों आमोदित।

सर्जना का प्रेरणा-आधार यह ऋतुचक्र ही है और निराला जीवन-संवत्सर को इसी ऋतुक्रम से ही जोड़कर चले हैं। जब यह सर्जना क्षीण होने लगती है, तब कवि अनुभव करता है—'मल्ल भल्ल की मारें मूर्छित हुईं। निशाने चूक गए हैं।' सहसा सब कुछ के छूट जाने—फिसल जाने का बोध होता है :

बीत चुका है दिक् चुम्बित चतुरंग, काव्य, गति,
यतिवाला, ध्वनि, अलंकार, रस, राग बन्ध के
वाद्य छन्द के रणित, गणित छूट चुके हाथ से—
क्रीड़ाएँ वीणा में परिणत।

पर पूरी कविता में आप वीतरागत्व के संकेत भले ही पालें पर पश्चात्ताप या निराशा की दूर-दूर तक उपस्थिति नहीं है। इस कविता की, और निराला की अन्तिम पंक्ति है :

'पुनः सवेरा एक और फेरा है जी का'

अपने समय के, अपितु अपने समय के आगे के भी सभी विमर्शों से जुड़ा यह कवि अन्तिम क्षण तक सवेरे के प्रति आश्वस्त है, जीवन की निरन्तरता के प्रति आश्वस्त है। यह आश्वस्ति कितनी प्रतिकूलताओं के बीच कवि ने बचाकर रखी है, यह ध्यातव्य है। निराला के सन् 1950 से 1961 तक रचे गए गीत भाषा के अद्भुत कौशल को प्रमाणित करते हैं। संगीत से इनकी संगति जितनी पुष्ट है, उतनी किसी और कवि के गीतों की नहीं। यद्यपि अप्रचलित शब्द और अटपटे समास इन गीतों को थोड़ा क्लिष्ट बनाते हैं तथापि नारिकेल वृत्ति के ये क्लासिक गीत जीवन का सम्पूर्ण आख्यान हैं। उनकी गीत-पंक्तियों में कई शब्दों का अप्रत्याशित आगमन होता है, कई जगह अर्थ अप्रत्याशित ही नहीं होता, वह प्रचलित और प्राथमिक अर्थ से भिन्न होता है। इन अर्थों तक जाने के लिए भाषा के व्यापक व्यवहार का ज्ञान अपेक्षित है। अनुप्रास के लिए लाए गए अनेक शब्द प्रसंग-बहिर्गत लगते हैं पर निराला अर्थवृत्तों के विस्तृत निर्माण के द्वारा शब्द विशेष से संलग्न सभी प्रतिध्वनियों से परिचित हैं, इसीलिए अन्ततः उनके शब्द-प्रयोग प्रासंगिक और सार्थक सिद्ध होते हैं। अलंकारवादियों अथवा रीतिकालीन चमत्कारवादियों के प्रिय यमक और अनुप्रास अलंकार का जैसा सर्जनात्मक और सार्थक प्रयोग निराला ने किया है, ऐसा किसी अन्य कवि ने नहीं किया।

निःसन्देह निराला ने सन् '37 और '49 के बीच लगभग एक दशक तक सामाजिक यथार्थबोध से सम्पन्न ऐसी रचनाएँ हमें दी हैं, जिन्होंने राजनीतिक-आर्थिक सन्दर्भों को गहरे स्पर्श किया है। उनमें निराला का आक्रोश भी है, सहानुभूति भी। 'कुकुरमुत्ता' हो या 'झींगुर डटकर बोला'—एक सतही यथार्थ की अपेक्षा उन्होंने इस काल की कविताओं में जीवन को एक ओर पूरी समग्रता में प्रस्तुत करने की कोशिश की है, दूसरी ओर एक तमतमाया हुआ प्रतिरोध इन कविताओं में है। पर इस सामाजिक संलग्नता के साथ वे जो प्रार्थनाएँ करते हैं, वे यही हैं—'माँ, अपने आलोक निखारो/नर को नरक-त्रास से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वारो।' 'दलित जन पर करो करुणा,'/'तरणि तार दो/ऊपर पार को। खे-खेकर थके हाथ/कोई भी नहीं साथ/श्रम-सीकर-भरा माथ, बीच धार ओ।' 'तिमिर दारण मिहिर डरसो' 'मानव का मन शान्त करो हे,' 'गीत गाने दो मुझे तो,/वेदना को रोकने को।' 'अन्धकार के अन्तराल को दूर करो।' मनुष्य की सहज दुःख-मुक्ति और दलित जन पर करुणा ही निराला के परवर्ती काव्य का केन्द्रीय कथ्य बनने लगते हैं। इस प्रक्रिया में उनकी यथार्थपरक कविताओं और गजलों का दौर एक सार्थक एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका कर अन्ततः समाप्त हो जाता है और निराला के जीवन का अन्तिम दशक गीतमय हो जाता है। वे इस परिणति को जैसे अपनी चरमसिद्धि मान लेते हैं। निराला का छन्द-विषयक दृष्टिकोण क्या था, यह भी इस चरम बिन्दु पर आकर स्पष्ट होता है। उन्होंने छन्द की कारा को तोड़ा है स्वच्छन्द होने के लिए। उच्छृंखलता उनका लक्ष्य नहीं था। 'अणिमा', 'कुकुरमुत्ता', 'बेला', 'नये पत्ते', 'अर्चना,' 'आराधना', 'गीतगुंज' और 'सांध्य काकली' का अध्ययन भी यही प्रमाणित करता है कि उनकी चरम उपलब्धि का आधार बननेवाली जो रचनाएँ 1929-37 के बीच आई थीं, उनकी परम्परा का निर्वाह उनके उत्तरकालीन गीतों में हुआ है। जो आलोचक इस पाठ को समझने में असमर्थ हैं, केवल उन्हें ही निराला छन्द ध्वंसक नजर आए हैं। शिल्प और काव्य-रूप के साथ-साथ विषयगत औदात्य ही निराला के उत्तरकाव्य में प्रतिफलित हुआ है। निःसन्देह निराला यथार्थ से सम्पृक्त रहकर भी उदात्त के कवि हैं। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास पुनर्मूल्यांकन

रोहिणी अग्रवाल

"हम प्रवासियों के दो वतन हैं। एक मॉरीशस देश जो हमारी जन्मभूमि है और दूसरा भारत, जो न केवल हमारे पूर्वजों की जन्मभूमि है अपितु संसार का सबसे बड़ा लोकतन्त्र भी। भारत की राष्ट्रभाषा हमारी भाषा है, उनकी संस्कृति हमारी संस्कृति है।"

(आनन्द दबी, *मसीहे नरक जीते हैं*, पृ. 35)

यह है भारत के प्रति मॉरीशस के आम आप्रवासी भारतीय का मनोद्गार। श्रद्धा एवं भावविह्वलता के कगारों को छूता हुआ जहाँ चौकन्ना न रहे व्यक्ति तो विसर्जन और समर्पण की गद्गद प्रक्रिया व्यक्तित्वशून्यता में परिणत हो जाती है और प्रेरणा अन्धानुकरण बनकर सृजन की सम्भावनाओं को ठस्स कर डालती है। लेकिन यही वह मंच भी है जो आदान के प्रत्येक सचेष्ट संवेदनशील सोद्देश्यपूर्ण लक्ष्य को सतत विकसनशील परम्परा में ढालकर संस्कृति का क्षैतिजिक विस्तार करता चलता है। अपनी जड़ों की तलाश में विकल मॉरीशस के आप्रवासी भारतीय को स्वतन्त्रता (12 मार्च 1967) के बाद 'दादा-मुल्क' भारत से दो ही अपेक्षाएँ रही हैं कि वह उसे अपने कुटुम्ब का एक अविभाज्य हिस्सा समझे और दूसरे, फ्रेंच-अंग्रेजी जैसी म्लेच्छ ताकत के चंगुल में फँसी उसकी जातीय अस्मिता की रक्षा में सदैव सन्नद्ध रहे। 'हिन्दी गई तो संस्कृति गई' को अपनी अस्मिता की लड़ाई का मुख्य मुद्दा बनाते हुए 1909 में प्रथम बार देवनागरी लिपि को मुद्रण की लिपि बनाकर और 1922 में हिन्दी की प्रथम पुस्तक प्रकाशित कर[1] उसने जिस अन्दाज में व्यूह-रचना की है, वहाँ पीढ़ियों के अन्तराल को पाटकर भारत के लिए अपने वंशजों की सन्तान को गले लगाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रहता। साहित्य के सन्दर्भ में मॉरीशस के यशस्वी कथाकार अभिमन्यु अनत इस स्नेह को धर्मवीर भारती, कमलेश्वर एवं कमलकिशोर गोयनका के मार्गदर्शन एवं सहयोग में मूर्तिमान करते हैं जिनकी बदौलत मॉरीशस का हिन्दी कथा-साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय मंच पा सका।[2] हालाँकि आदान-प्रदान एवं समर्पण-संरक्षण के अतिरेक के बीच मॉरीशस के प्रख्यात आलोचक डॉ. बीरसेन जागासिंह की यह आशंका भी अपनी जगह सही है कि इस प्रवृत्ति ने मॉरीशस के उन नवोदित रचनाकारों को कुंठित किया है जो भारतीय पत्रिकाओं में प्रकाशन को अपनी रचनाशीलता की अन्यतम कसौटी मान बैठे हैं। ऐसे रचनाकारों की 'सखेद' लौटी रचनाओं ने उनके मनोबल को कितना तोड़ा होगा, कहने की आवश्यकता नहीं। लेकिन यह तो सैलाब उतरने के बाद वस्तुस्थिति के सम्यक् परीक्षण की निर्वैयक्तिक घड़ी का निष्कर्ष है। भारत में मॉरीशस के हिन्दी उपन्यास का आगमन जिस उत्साहधर्मी जनून और अतिशयोक्तिपूर्ण

258, हाऊसिंग बोर्ड कालोनी, रोहतक-124 001 (हरियाणा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषणों के साथ हुआ है, उसकी एक झलक उपन्यासकार, अभिमन्यु अनत के साहित्यिक मूल्यांकन में द्रष्टव्य है—"अभिमन्यु घटनाओं को बहुत बारीकी से पकड़ते हैं और उनका चित्रण भी उतनी ही बारीकी से विस्तृत कैनवस पर कर देते हैं। वह मानव-जीवन के प्रेम-घृणा, ईर्ष्या-द्वेष, मान-अपमान, क्रोध व दम्भ, शोषण और दमन आदि भावों को साकार एवं जीवन्त बनाने में पूर्णतः सक्षम हैं।"[4] तथा "अभिमन्यु अनत मॉरीशस के सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं चर्चित लेखक हैं। उनकी कृतियाँ जब भारत में छपती हैं तो मॉरीशस एवं भारत दोनों देशों में उन पर गम्भीरतापूर्वक चर्चाएँ होती हैं और बड़ी खूबी यह है कि हिन्दी पाठकों के बीच वे बड़े प्रिय लेखक हैं।"[5] अभिमन्यु अनत माने मॉरीशस के हिन्दी उपन्यास के 'बेताज बादशाह'।[6] उल्लेखनीय है कि बादशाह को अपदस्थ करना जितना आसान है, उतना ही कठिन है 'बेताज बादशाह' की पैठ और प्रतिष्ठा, प्रभाव एवं परम्परा के पुनर्मूल्यांकन की गुहार लगाना। बहुत आसान नहीं होता जीतेजी 'आइकॉन' बनना, लेकिन 'आइकॉन' की परिक्रमा क्या जड़ता को प्रतिष्ठित करने का जर्जर हठ नहीं? इस दृष्टि से मॉरीशस के हिन्दी उपन्यास का पुनर्मूल्यांकन मॉरीशस के ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संघर्ष को सही परिप्रेक्ष्य देता है तो भारत के प्रभाव का तटस्थ आकलन का अवसर भी।

1960 में कृष्णबिहारी लाल द्वारा रचित उपन्यास 'पहला कदम' मॉरीशस का प्रथम हिन्दी उपन्यास है जिसे असफल उपन्यास घोषित कर डॉ. लता टिप्पणी करती हैं कि असफल प्रेमकथा पर आधारित इस उपन्यास का "कथा सौष्ठव और चरित्र-विकास पंगु है पर वर्णन-शैली में औपन्यासिकता है।" ध्यातव्य है कि स्वयं लेखक अपनी रचना की औपन्यासिकता को लेकर न आश्वस्त है, न उपन्यास जैसी सर्जनात्मक कृति रचने का महत्त्वाकांक्षी। बल्कि वह तो इसे उपन्यास मानने में भी संकोच करता है—"मैंने यह पुस्तक सिर्फ हिन्दू जाति को जीवित रखने और हिन्दी भाषा की धारा बहाने के उद्देश्य से बनाई है।"[7] जाहिर है इस विज्ञप्ति के मद्देनज़र नौ वर्ष बाद 1969 में प्रकाशित उपन्यास 'और नदी बहती रही' (अभिमन्यु अनत) से मॉरीशस के हिन्दी उपन्यास-लेखन की परम्परा की शुरुआत मानी जानी चाहिए। तब अभिमन्यु अनत हिन्दी के पहले उपन्यासकार ही नहीं, मॉरीशस के एकमात्र सशक्त उपन्यासकार के रूप में उभरते हैं—परिमाण की दृष्टि से भी और गुणवत्ता की दृष्टि से भी। रामदेव धुरंधर के बाद आदि-आनन्द दवी, दीपचन्द बिहारी, हीरालाल लीलाधर, वेणीमाधव रामखेलावन, परसाद गणपत को शामिल कर लेने पर अधिक नहीं तो समूचे हिन्दी उपन्यास के दो-तिहाई भाग के सर्जक अकेले अभिमन्यु अनत ही हैं। 1969 से अब तक तीस से भी अधिक उपन्यास जबकि रामदेव धुरंधर के कुल चार उपन्यास और शेष एक या दो उपन्यासों के रचयिता। गौण लेखकों का लगभग सारा उपन्यास लेखन (असफल) प्रेम-कहानियों के इर्द-गिर्द बुनी रूमानियत का सतही आरेखन है। इस सूची में शामिल हैं 'किसका कसूर' (आनन्द दवी), मसीहे नरक जीते हैं (दीपचन्द बिहारी), 'सगाई' (हीरालाल लीलाधर), 'सोमदत्ता' तथा 'अमर प्रेम' (वेणीमाधव रामखेलावन)। अपवादस्वरूप 'देवयानी' (परसाद गणपत) तथा 'निछावर' (वेणीमाधव रामखेलावन) क्रमशः स्त्री-चेतना और गिरमिटिया इतिहास जैसे विषयों को लेते भी हैं तो उसी आवृत्तिमूलक अन्दाज में कि उनकी कोई विशिष्ट पहचान नहीं बन पाती। जहाँ तक रचना की मूल्यवत्ता और साहित्यिक सौष्ठव का सवाल है, "भाव-भाषा तथा कथा-शिल्प" किसी भी दृष्टि से बहुत प्रयास करने के बावजूद डॉ. बीरसेन जागासिंह शेष उपन्यासकारों को अभिमन्यु अनत—रामदेव धुरंधर की कोटि में नहीं रख पाते।[8] तब यहाँ दो प्रश्न एक साथ विचारणीय हो जाते हैं कि क्या अभिमन्यु अनत वास्तव में इतनी प्रतिष्ठा के अधिकारी हैं कि उनके सामने अन्य लेखक गौणतर होते हुए शून्य हो जाएँ? दूसरे, शेष उपन्यासकार अभिमन्यु अनत से अलग अपनी पहचान क्यों नहीं बना पा रहे हैं? निःसन्देह प्रस्तुत आलेख इन्हीं प्रश्नों को केन्द्र में रखकर मॉरीशस के हिन्दी उपन्यास के पुनर्मूल्यांकन का उपक्रम है।

1

"रामजी की ईख की तू चूस लेई ली मिठसवा/हमरो खातिर छोड़ गइलो सीठिया हो रामा"[9]

मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास समग्रतः आप्रवासी भारतीयों की दुर्दशा का महाख्यान है। स्वतन्त्रता से पूर्व फ्रांसीसी एवं अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों ने यदि उनका शोषण किया है तो स्वतन्त्रता के बाद लोकतान्त्रिक व्यवस्था के झीने आवरण तले ढके इन्हीं राष्ट्रों की कुत्सित पूँजीवादी नीतियों ने भारतीयों को गिरमिटिया सन्तान के अभिशाप से मुक्त न होने देने का मुहिम चला रखा है। मॉरीशस का प्रत्येक संवेदनशील प्रबुद्ध व्यक्ति अपने अतीत और वर्तमान को लेकर बेहद अस्थिर और असुरक्षित है। गोरों (फ्रांसीसी-अंग्रेज़) और मलगासियों (दक्षिण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अफ्रीका से आए प्रवासी) के बीच अपने 'होने' को आश्वस्तिपूर्वक महसूसने के लिए आज भी वह बार-बार अपनी जड़ों की ओर लौट चलने को विकल है। भारत से नाभि-नाल नाता उसे अपनी मजबूत स्थिति का आधार देता है तो गुलामी के दौरान मालिकों के तमाम उत्पीड़न-दमन के बीच सिर पर कफन बाँधकर राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक स्वतन्त्रता की विकट लड़ाई मानसिक-नैतिक दृढ़ता का प्रमाण भी। इसलिए मॉरीशस के बेहतरीन हिन्दी उपन्यास वही बन पड़े हैं जहाँ इतिहास में गिरमिटिया मज़दूरों की व्यथा-कथा संघर्ष का बाना पहनकर पृष्ठ-दर-पृष्ठ वर्तमान जीवन की रवानगी में शामिल हो गई है। इस दृष्टि से तीन उपन्यास विशेष उल्लेखनीय हैं—'लाल पसीना' और 'गांधीजी बोले थे' (अभिमन्यु अनत) तथा 'पूछो इस माटी से' (रामदेव धुरंधर)।

अभिमन्यु अनत फ्रांस के राजा लुई चौदहवें के बहाने इतिहास को सबसे बड़ा झूठ कहते हैं।[10] इसलिए इतिहास-सम्मत तिथियों एवं विशिष्ट नामों से भरसक बचते हुए शोषण-दमन, संघर्ष-जिजीविषा के ताने-बाने से बुने जिस जन-जीवन की रचना करते हैं, वही अन्ततः मॉरीशस के गिरमिटिया इतिहास का जीवन्त दस्तावेज बन जाता है। प्रामाणिकता की तसदीक करने के लिए पाठक-आलोचक स्वयं श्रमपूर्वक ऐतिहासिक तिथियाँ जुटाकर कथा के साथ रखना चाहे तो इससे उपन्यास की भास्वरता और प्रखरता प्रगाढ़ ही होगी। 'लाल पसीना' में 1850 से 1900 तक की स्याह कालावधि को गूँथते हुए अभिमन्यु अनत ने परस्पर शत्रु होते हुए भी कोठी-मालिकों फ्रांसीसियों तथा मॉरीशस द्वीप के नए शासक अंग्रेज़ों की सह-अस्तित्वपरक रणनीतियों एवं अपने चट्टानी इरादों और फौलादी हाथों से बंजर को लहलहाते खेत में बदलते भारतीय मजदूरों की बदहाली का मार्मिक चित्रण किया है। लेकिन इतना तय है कि इतिहास के फ्रेम में रखे बिना अपनी ही जड़ता में ठहरे वक्त की अन्दरूनी शिनाख्त सम्भव नहीं जहाँ नई करवटों की खदबदाती हलचल कहीं बहुत गहरे दबी-ढकी है। तब इतिहास की पुस्तकें खंगालने के बाद जुटाई गई घटनाएँ जैसे 1835 में सामरिक महत्त्व के मॉरीशस द्वीप के विजय-अभियान में अंग्रेज़ शासकों द्वारा भारतीय फौज को द्वीप में भेजना, द्वीप पर अधिकार के बाद उन्हें गुलामी से मुक्त कर वहाँ का अधिष्ठाता बनाने का प्रलोभन देना और द्वीप-विजय के बाद भारतीय सैनिकों को बन्दी बना लेना यदि अंग्रेज़ों की साम्राज्यवादी नीति का अंग है तो द्वीप के आन्तरिक प्रशासन—खेती एवं व्यापार—पर फ्रांसीसियों के एकाधिकार को बनाए रखने के उद्योग में जहाज भर-भरकर भारत से गिरमिटिया मजदूरों को भेजने की 'अनुकम्पा' साम्राज्यवादी ताकतों के सखाभाव विस्तार का रूपक बन जाती है। अभिमन्यु अनत तिथियों में नहीं झाँकते, लेकिन अनन्त वक्त के हर पल में जीती विवशताजन्य वेदना को साकार करते हैं जहाँ पत्थर पलटकर सोना पा लेने के प्रलोभन में 'मारीच देश' में उतरते हर भारतीय मज़दूर के गले में जानवरों के पट्टे की तरह उनका पहचान नम्बर डाल दिया जाता है। चौबीस घंटे के अथक परिश्रम के बदले आधी देह कपड़ा, आधा पेट भोजन स्वीकारने की विवशता है लेकिन राशन ऐसा कि "चावल-दाल दूनों में खद-खद पिलवा भरल बा। जोन चील कुत्ता भी न खाई खोजी, ओके कैसे पकावत जाय ?"[11] घर के नाम पर एक ही दालान व एक ही छत के नीचे अनेकानेक घिरावटें। हर घिरावट एक घर। तिस पर उन्हें सतत आतंकित करने की सतत कारगुजारियाँ—कोड़ों से पीट-पीटकर घाव बनाना और घावों में मिर्चें छिड़कना (पृ. 45), गन्ने के रस का मज़दूर के शरीर पर लेप करके पेड़ पर उलटा बँधवाना ताकि लाल चीटियाँ उन्हें नोंचती रहें (पृ. 97), कुत्तों से नुचवाकर देह तार-तार कर देना और फिर मन की तरंग में किसी भी घड़ी किसी भी लड़की-स्त्री से बलात्कार (पृ. 26)। निष्ठुर अमानवीय परिस्थितियाँ ! सहते चले जाने की घनघोर मानवीय यन्त्रणा ! इतनी कि बकौल भारतीय सेना के फरार कैदी कुन्दन—"बिना दीवारों की इस चहारदीवारी में सभी मजदूर कैदी थे। सभी के हाथ-पाँव बँधे थे। सभी के होंठ सिले हुए थे। जीभ अकड़ी हुई थी।" (पृ. 44)

गौरतलब है कि पीरियड नॉवेल इतिहास से कन्नी नहीं काट सकता। इतिहास उसे कच्चा माल और सन्दर्भ ही नहीं देता, घटनाओं के चयन-संयोजन-प्रस्तुतिकरण का बोध (सेंस) भी देता है और आत्मानुशासन का संस्कार भी। भले ही तिथि के रूप में वह अदृश्य रहे, तथ्य बनकर उसे पूरी चाक्षुष स्पष्टता के साथ पात्रों एवं घटनावलियों में इस प्रकार ढल जाना होता है कि कोई भी महत्त्वपूर्ण कड़ी छूट न जाए। अन्ततः इतिहास परस्पर निबद्ध कड़ियों का सघन समूह है जिनमें से एक का भी विच्छिन्न हो जाना पूरी काल-चेतना को चीन्हने के प्रयास को प्रभावित करता है। मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास काल को उसकी समग्रता में देखना नहीं चाहता। वह उसके केवल एक पक्ष—शोषण—के करुण चित्रण में आकंठ डूबा है। 1850 से 1900 के दौर को अभिमन्यु अनत ने 'लाल पसीना' में 'पूँजी' के असमान वितरण-जन्य मजदूर—उत्पीड़न के रूप में चित्रित किया है—"हर फसल, हर कटनी से मालिक की तिजोरी भरी थी उन्होंने। हर फसल, हर कटनी के बाद चूहे नाचे थे उनके घरों की खाली हंडियों में।" (पृ. 246) इसके ठीक समानान्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश की आर्थिक प्रगति को सूचित करता एक और तथ्य भी इतिहास में दर्ज है कि "1843 से 1907 तक साढ़े चार लाख भारतीय वहाँ ले जाए गए। भारतीयों की मेहनत से मॉरीशस की एक लाख एकड़ भूमि में गन्ने की खेती होने लगी और चीनी मिलों की संख्या बढकर ढाई सौ से अधिक हो गई।"[12] इसी से जुड़े हैं कुछ प्रश्न कि मॉरीशस में भारतीय मजदूर किस नीति/अनुबन्ध के तहत लाए गए ? वे दास थे या गिरमिटिया मजदूर ? उनके शोषण का अनवरत सिलसिला यदि वक्त का क्रूर सत्य है तो यह तथ्य भी क्या अपनी जगह गौरतलब नहीं कि स्थानीय प्रशासन ने इन गिरमिटिया मजदूरों को कानून बनाकर कुछ अधिकार और सुविधाएँ दीं ? इन सवालों के जवाब के लिए फिर कथा से हटकर इतिहास की पुस्तकों की शरण में जाना पड़ता है कि 1835 में अंग्रेज़ों ने द्वीप में दास-प्रथा की समाप्ति कर शर्तबन्दी प्रथा की शुरुआत की जिसके अन्तर्गत केवल पाँच वर्ष के लिए अनुबन्ध पर भारत से प्रति माह पाँच सौ मजदूरों को लाने की अनुमति दी गई। पाँच वर्ष तक अपनी सेवाओं के एवज में भरपूर पारिश्रमिक लेने के बाद ये मजदूर भारत लौटने या द्वीप में कहीं भी ज़मीन लेकर बसने को स्वतन्त्र घोषित किए गए। लेकिन शक्ति-सत्ता, पूँजी-प्रभुता के मद में चूर कोठी-मालिक अनुबन्ध की शर्तों को बेमानी करते हुए दास-प्रथा को पूर्ववत् जीवित रखे रहे। परिणामतः गिरमिटिया मज़दूरों की सन्तान पीढ़ी-दर-पीढ़ी गिरमिटिया ! द्वीप पर जन्म लेने के बावजूद ! अपने सर्वस्व विक्रय के बदले दस रुपए नकद न वसूलने के बावजूद ! फिर भी इस तथ्य को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता कि शर्तबन्दी प्रथा के भीतर निहित मानवीय पक्ष ने ही गिरमिटिया मजदूरों की दुर्दशा और मुक्ति की सम्भावनाओं पर विचार करने की प्रेरणा दी जिसे दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी ने वैयक्तिक स्तर पर अनुभूत कर अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन देने का बीड़ा उठाया।

अभिमन्यु अनत को अपने इतिहासपरक उपन्यासों में "शासक, राजनेता, राज्यपाल और इस तरह की अन्य हस्तियों" को सम्मिलित करने में बेशक कितनी ही अरुचि क्यों न हो, 1901 में गांधीजी के मॉरीशस आगमन और उनके प्रभाव से उपजे जन-आन्दोलन को विकसित करने में ज़रा भी संकोच नहीं। इतिहास को गढ़ना सरल नहीं होता क्योंकि इतिहास विस्तृत-व्यापक काल की अनन्तता से छिटका कतरा भर नहीं है जिसे सुविधानुसार अतीत का नाम देकर वर्तमान और भविष्य से पृथक् किया जा सके। वह एक अविच्छिन्न मानव-परम्परा का अविभाज्य हिस्सा है जो निरन्तर विकसित भी होता है और बार-बार उन्हीं तिथियों-तथ्यों-घटनाओं में बँधी मानसिकता को दोहराता हुआ मनुष्य की आदिम क्रूरता और उदात्त जिजीविषा के संघर्ष को ताज़ा रखता है। इसलिए अभिमन्यु इतिहास नहीं गढ़ते, इतिहास की कदम-ताल के साथ जीवन के सुर-ताल को अनूदित करते चलते हैं जो गांधीजी के उद्बोधन एवं आह्वान को सुनने-पचाने, आँखों में बसाने की क्षमता का क्रमशः उद्रेक करता है। अस्मिता की लड़ाई को विजय के आत्यंतिक लक्ष्य तक पहुँचने के लिए एक सुनियोजित उद्देश्य के तहत वे यथास्थितिवादी मजदूर रघुसिंह'[13] सिंह के गिरमिटिया पुत्र किसनसिंह का व्यक्तित्व गढ़ते हैं ताकि वह गिरमिटिया संघर्ष-चेतना का प्रारम्भिक बिन्दु बन सके। किसनसिंह यानी आत्मसाक्षात्कार की निर्भीकता, विश्लेषण की गहनता और कर्म की भास्वरता से युक्त अनुकरणीय नेता। प्रश्नों, शंकाओं, आपत्तियों से घिरे किसनसिंह को दमनकारी फ्रांसीसी कोठी-मालिकों से अधिक अपनी कौम पर क्षोभ है कि अपने परिश्रम से चट्टानों को भुरभुरा देनेवाली ताकत अत्याचार और दमन का प्रतिकार करने के सवाल पर पंगु क्यों हो जाती है ? न, इस असमर्थता को वह विवशता का नाम नहीं दे सकता। डंके की चोट पर इसे नपुंसकता कहता है, प्राणों का मोह, मौत का भय जिसके चलते आत्माभिमान को गिरवी रखने में नहीं चूकते उसके अपने लोग। कायरता की हदों का संस्पर्श कर लेनेवाली सहिष्णुता और आत्मदया की हिलोरों में पर्यवसित होती अनुशासनबद्धता जिस मानसिक गुलामी की सृष्टि करती है, उसे तोड़ना सम्भव नहीं। "जब तक हमारी गिनती यहाँ आदमी में नहीं होती, तब तक कुछ भी होने को नहीं"—अपनी स्थिति को लेकर किसनसिंह का कड़वा-तीता ऐलान ! फिर निजी कायरता में विघटित होकर छीजती शक्ति को संगठित करने का आह्वान—"हमें पहले अपने को ताकतवर बनाना है"। (पृ. 73) वयोवृद्ध फरार कैदी कुन्दनसिंह के अनुभव एवं सैन्य-प्रशिक्षण की सहायता से किसन नई पीढ़ी के आक्रोश को जिस सरलता से विकट संघर्ष की जन-चेतना में ढाल लेता है, वह अविश्वसनीय नहीं। "हज़ारों की संख्या में होते हुए भी अगर हम शक्तिशाली नहीं बन सके, इस देश को फल-फूल देकर भी अगर हम आज ही की-सी स्थिति में रहना मान लें, तो बस वे हाथ हमारे ऊपर उठते रहने से कभी नहीं थमेंगे और तब सचमुच ही आनेवाले हर कल के लिए हम कमज़ोर रह जाएँगे। हमें अपनी ताकत को बहुत ही सावधानी और होशियारी से बढ़ाना है।...हर कोठी के लोगों से हम मिल सकें, इसका प्रबन्ध सबसे पहले करना है। फिर तो हमारा एक स्थान का निर्णय दूसरे से तीसरे स्थान तक पहुँचेगा और अवसर आने पर सभी कोठियों के लोग एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ आ खड़े होंगे।'' (पृ. 73)—संगठन और प्रबोधन की पहली गुहार जिसके प्रत्युत्तर में सात बस्तियों के मज़दूर संगठित हो गए हैं एक ही झंडे तले। इसी शक्ति के बल पर किसन न केवल दूसरी बस्ती की असहाय युवती रेखा को कोठी-मालिक की हवस का शिकार बनाने से रोकने के लिए उसे अपने यहाँ पनाह देकर घर की बहू-बेटियों के सतीत्व की रक्षा का सामूहिक बीड़ा उठाता है, बल्कि दंडस्वरूप साप्ताहिक राशन न बाँटने की मालिकों की नीति के विरोध में हड़ताल की घोषणा भी करता है। उसकी माँगों में निहित हैं मूलभूत मानवीय अधिकारों को पाने की विकल संकल्पबद्धता कि हमें आदमी समझा जाए, जानवर नहीं; कि हम कैदी नहीं, काम के बाद अन्य बस्तियों के हमजोलियों के साथ घूमने की स्वतन्त्रता दी जाए; कि पंचायत करने और पूजा-पाठ का अधिकार मिले; कि डॉक्टर की सुविधा हो; नियमित राशन पाने का अधिकार हो; बच्चों के लिए पाठशाला हो।

अभिमन्यु अनत की तरह रामदेव धुरन्धर भी गिरमिटिया इतिहास को 'पूछो इस माटी से' उपन्यास में पुनर्सर्जित करते हैं। अभिमन्यु अनत के 'लाल पसीना' एवं 'गांधीजी बोले थे' उपन्यासों की कथा को 'पूछो इस माटी से' में गूँथते हुए उन्होंने प्रस्तावना में अभिमन्यु के दावे को उन्हीं की शैली में दोहराया है।[14] प्रेरणा जब प्रतिगूँज बनकर रह जाती है तो अनुकरणधर्मी पुनर्सृजन के ईमानदार प्रयास के बावजूद वह उस मर्म को नहीं छू पाती जो मूल रचना का शक्ति-केन्द्र है। रामदेव धुरन्धर ने कासी, सुनन्द, कँवल, धानी, देवरतन, देसराज आदि के रूप में एक के बाद एक विद्रोही पात्रों की रचना की है लेकिन क्रान्ति विद्रोह का सार रूप नहीं हुआ करती। वह क्षण (विद्रोह क्षण-विशेष की आवेशमयी एकल/सामूहिक प्रतिक्रिया भर होता है) के पार भविष्य को रचने की सामर्थ्य रखती है जिसके लिए उद्बोधन से लेकर संगठन, संचालन और नीति-निर्धारण के अनेकविध दायित्व समय के तकाजे के साथ उसे करने हैं। रामदेव धुरन्धर इस पक्ष को लेकर मौन हैं। अतः अभिमन्यु अनत धुर 1850 के नितान्त जाहिल माहौल में भी शिक्षा की अनिवार्यता महसूस कर जिस समर्पित भाव से कुन्दन-किसन आदि के माध्यम से अक्षर-ज्ञान की मुहिम चला पाए हैं, वही दरअसल पहले-पहल बिहार के दमित-शोषित-असहाय/अर्द्धशिक्षित गिरमिटिया मज़दूरों को अस्मिता एवं आत्मसम्मान की क्रान्ति से प्रदीप्त करने का घटक बनी है। दीवारों पर हिन्दी लिखने की निषेधाज्ञा का उल्लंघन करते हुए किसन का पत्थरों-पहाड़ों-चट्टानों पर ''हमारे परिश्रम का आदर हो'' (पृ. 104) लिखना उसके सर्जक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है जहाँ अन्याय के प्रतिकार हेतु उठाया गया प्रत्येक कदम बुद्धि, तर्क, संयम आत्मसम्मानजनक आत्मानुशासन जैसी वैचारिक प्रक्रिया का हिस्सा बन जाता है। इसके विपरीत रामदेव धुरन्धर कासी, देवरतन, मृणाल जैसे शिक्षित पात्रों की वैचारिक उर्वरता का रचनात्मक उपयोग उपन्यास में नहीं कर पाए हैं। वकालत के छात्र कासी का अपनी पत्नी उर्मिला की बलात्कार-जन्य मृत्यु के वियोग में विक्षिप्त-सा हो उठना और प्रतिशोध की ज्वाला के बावजूद मॉरीशस आकर मज़दूरों के आक्रोश को संगठित न कर सकना लेखकीय विज़न में चूक का प्रमाण है जिस कारण गांधीजी के सत्याग्रह आन्दोलन के अनुकरण पर अनशन करना कँवल श्रमिक-चेतना की तार्किक परिणति न लगकर आरोपित पात्र लगता है। 'लाल पसीना' एवं 'पूछो इस माटी से' उपन्यासों की दृष्टि एवं चेतना के बुनियादी अन्तर को रेखांकित करते हुए डॉ. बीरसेन जागासिंह ने जिस रागात्मकता को रामदेव धुरन्धर की लेखकीय विशिष्टता के रूप में उभारा है, वही वास्तव में उपन्यास की घनीभूत संवेदना एवं दुख-दर्द-संघर्ष की तीव्रतर अनुभूति को झीना करते हुए रोमानी अभिव्यक्ति का रूप दे डालती है। ठीक कृष्णा सोबती के बृहद् उपन्यास 'ज़िन्दगीनामा' की तरह जो भावनाओं के उच्छ्ल विस्फोट के रूप में नोस्टेलजिक लेखन का पर्याय बन गया है। विगत की नेहभरी पड़ताल करते हुए लेखिका जिस तरह यहाँ कदम-दर-कदम बिखरे पंजाबी जीवन के वैभव, संस्कृति, दर्शन और आंचलिक वैशिष्ट्य को चित्रकार की शैली में उकेरने में रत हैं, उससे भोग एवं शौर्य के दो छोरों में जीते पंजाब की जिजीविषा का विहंगम दृश्य तो उभरता है, लेकिन उस अकूत आत्माभिमान, कूटनीति एवं पराक्रम के दर्शन नहीं होते जिस कारण खालसा राज्य को जीतना अंग्रेजी साम्राज्य के लिए टेढ़ी खीर बन गया था। वक्त में उतरकर ज़िन्दगी की गहरी पड़ताल के लिए रोमान को बौद्धिक अनुशीलन के अनुशासन में कसना अनिवार्य है जिसकी कमी दोनों उपन्यासों में यहाँ-वहाँ साफ दिखाई पड़ती है।

फिर भी, 'पूछो इस माटी से' का महत्त्व निर्विवाद है। रामदेव धुरन्धर गिरमिटिया इतिहास को पुनरावलोकित करने के प्रयास में अनायास उन रिक्त स्थानों की पूर्ति करते चलते हैं जिन्हें अभिमन्यु अनत 'लाल पसीना' और 'गांधीजी बोले थे' में छोड़ गए हैं। इस दृष्टि से तीनों उपन्यासों का संगुम्फन मॉरीशस के स्वतन्त्रता-पूर्व इतिहास का मुकम्मल चित्र बनाता है, कहने की आवश्यकता नहीं। कोठी-मालिकों के खिलाफ सात बस्तियों के साथ किसन की पहली सामूहिक हड़ताल, माँग-पत्र एवं माँगों की स्वीकृति के बाद 'लाल पसीना' उपन्यास का दूसरा खंड पूरे बीस-पच्चीस वर्ष की कालावधि के बाद शुरू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। युवा अविवाहित किसन अब वृद्ध हो चला है और उसका युवा पुत्र मदन सिंह मन्दिर के प्रांगण में मज़दूरों को भड़काने के आरोप में सात वर्ष की सजा काट चुका है। हालाँकि दूसरे खंड में मज़दूरों की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया है, लेकिन पहले से बेहतर जीवन-परिस्थितियाँ तो हुई ही हैं। मसलन, मन्दिर, बैठका (पंचायतघर) एवं किसी-किसी बस्ती में पाठशाला जैसी सुविधाओं के अतिरिक्त अब उनके पास अपनी ज़मीन है और छोटे-छोटे खेत भी। कोठी में दिन भर की मज़दूरी के बाद वे अपने खेतों में फसल उगाकर उसे बेचने को स्वतन्त्र हैं और उस आय का निजी उपभोग करने को भी। यह अलग तथ्य है कि अपनी शक्ति, पैसे और पहुँच के बल पर मोरेल जैसे ज़मींदार प्रत्येक लहलहाते खेत पर कब्जा करने का प्रपंच जानते हैं। यहाँ कुछ शंकाएँ उठती हैं कि राशन के बदले मुद्रा का भुगतान और बाजार जैसी आर्थिक सुविधाएँ आखिर मज़दूरों को कैसे प्राप्त हुईं ? क्या सिर्फ आन्दोलन के जरिए ? या इसके पीछे कुछ कूटनीतिक कदम भी रहे हैं ? रामदेव धुरन्धर ने कथा में स्वयं प्रविष्ट होकर इतिहास की इन गुत्थियों पर समीक्षा की है कि "अंग्रेज दो स्थितियाँ एक साथ निभा रहे थे।" एक ओर यदि मज़दूरों के आन्दोलन को शान्त करने के लिए वे हर जुल्म की न्यायिक जाँच की माँग स्वीकार कर रहे थे[15] वहीं, दूसरी ओर हत्या के झूठे आरोप में तीन निर्दोष मजदूरों को गिरफ्तार कर फ्रांसीसियों के हक में फैसला दे रहे थे। यही नहीं, मज़दूरों की श्रम के बदले नकद भुगतान की माँग स्वीकार कर वे बाज़ार की सुविधा उनके सामने रखते हैं, लेकिन न्यूनतम मजदूरी निर्धारित नहीं करते ताकि आठ आने जैसी नामालूम-सी रकम देकर फ्रांसीसी कोठी-मालिक मजदूरों का खून निचोड़ने में स्वतन्त्र रहें। "भारतीय खून तो जंगलीपन का प्रतीक है"[16]—इसे प्रचारित कर अंग्रेजों एवं फ्रांसीसियों दोनों द्वारा अपना उल्लू सीधा करना सरल हो गया है। उल्लेखनीय है कि साम्राज्यवादी ताकतों की इस कार्य-शैली का अनुकरण करते हुए आज की नव-साम्राज्यवादी ताकतें आई.आर.पी. एवं डब्ल्यू.टी.ओ. के नाम पर विकासशील एवं अविकसित देशों के आर्थिक शोषण का वही प्रपंच दोहरा रही हैं।

"रतवा भयानक बीत गयल भैया/छूट गयल नींदवा हमारी हो मैया"[17]

'लाल पसीना' मॉरीशस का 'बैस्ट सैलर' उपन्यास है, फिर भी यह कहने में संकोच नहीं किया जाना चाहिए कि कथा-शैथिल्य एवं विशृंखलता ने 'लाल पसीना' के उत्तरार्द्ध को क्षतिग्रस्त किया है। अनावश्यक विस्तार के साथ फैला मीरा-मदन प्रणय-प्रसंग और कोठी-मालिकों की अमानुषिकता का शिकार होकर नेत्रहीन मदन की आत्मदया परवर्ती उपन्यास 'गांधीजी बोले थे' में भी जस की तस चलती है। भावनात्मक रूप से मीरा पर पूरी तरह निर्भर होते हुए भी अकारण बार-बार उसके प्रति निर्दयी हो उठना और विवाह के प्रस्ताव पर चुप्पी साध लेना जैसी घटनाएँ मदन के अन्तर्मन की जिन जटिलताओं का चित्रण करती हैं, उन्हें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की गहराई एवं प्रामाणिकता देना न लेखक का लक्ष्य है, न सामर्थ्य। मदन गिरमिटिया आन्दोलन की एक कड़ी मात्र है—एक निश्चित कालावधि में जन्म लेकर एक निश्चित भूमिका अभिनीत करने को नियतिबद्ध। यानी लेखक के लिए महत्त्वपूर्ण है उसकी दायित्वभरी सामाजिक भूमिका। टीसती प्रणय-कथा पाठकों की करुण चीत्कारें बटोरने का एक नुस्खा भर है जिसे अभिमन्यु के प्रायः हर उपन्यास में इतनी ही इंटेसिटी के साथ अनुभव किया जा सकता है। लेकिन फिर भी इन सबके बीच उन्होंने परकाश के व्यक्तित्व को सर्जित करने का जो स्पेस पाया है, वह उपन्यास की शक्ति बन जाता है। पाठकों की माँग पर 'लाल पसीना' की अगली कड़ी के रूप में रचा गया उपन्यास 'गांधीजी बोले थे' 1900 से 1923 तक की राजनीतिक गतिविधियों का लेखा-जोखा है जिसने चेतना के एक बिन्दु को जन-लहर का रूप देते हुए 'मजदूर दल' के गठन जैसी असम्भव उपलब्धि को सम्भव कर दिखाया। इतिहास को पुनः रचने की प्रक्रिया में अभिमन्यु नायकों की गैलेक्सी खड़ी करते चलते हैं। उनके यहाँ मजदूरों की भी कोटियाँ निर्धारित हैं—मूक एवं मुखर। मूक मजदूर अज्ञान एवं भाग्यवाद में लिथड़ा शोषित वर्ग है तो मुखर मजदूर ओज और ऊर्जा से युक्त नए युग का अग्रदूत। जाहिर है यही उनका नायक है, इसलिए मदन जैसे नायक को गैलेक्सी को च्युत करने का जोखिम अभिमन्यु नहीं उठा सकते। अतः 'गांधीजी बोले थे' में उसे गांधीजी की वाणी और गूँज बनाकर परकाश सरीखी नई पीढ़ी को शिक्षित करने का दायित्व दिया जाता है। असल में 'गांधीजी बोले थे' उपन्यास गांधीजी के दो सपनों को साकार करने का महानुष्ठान है। एक, "आप जी-जान से अपने बच्चों को पढ़ाइए।...सिर्फ रामागती पढ़ाकर क्या करोगे...इन्हें स्कूल भी भेजना होगा ताकि ये अंग्रेजी-फ्रेंच भी पढ़-लिख सकें और अपने अधिकारों की माँग उन्हीं भाषाओं में कर सकें"[18] तथा दूसरा "राजनीति से दूर रहकर आप अपने अधिकारों को नहीं पा सकते। लोग आपकी इज्जत करना सीखें, इसके लिए आप लोगों को सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेना होगा। आपके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधि को बाहर से नहीं, बल्कि विधानसभा के भीतर से अपने अधिकारों का तकाजा करना होगा।''[19] शिक्षा ने ही परकाश को संवेदना के साथ विश्लेषण एवं तर्क करने की अद्भुत क्षमता दी है जिससे चमत्कृत होकर एकबारगी पुलिस सार्जेन्ट भी सिटपिटा जाता है। उसके पास परकाश के किसी भी सवाल का जवाब नहीं कि क्यों बलराम नामक मज़दूर की हत्या की खबर पाकर भी पुलिस हत्या-स्थल पर नहीं पहुँची ? कि क्यों पुलिस ने तुरन्त मामले की छानबीन नहीं की ? कि लाश को जलाने के लिए कोठी-सरदार ने जैसे डेथ-सर्टिफिकेट की व्यवस्था की और उस पर जिस डॉक्टर के हस्ताक्षर थे, वे सही थे या जाली ? शिक्षा ने ही परकाश को आत्मविश्वास दिया है कि वह ऊँचे स्वर में सही बात अधिकारियों तक पहुँचा सके। मामला चाहे स्कूल में अध्यापकी करते हुए गैर ईसाई/हिन्दू बच्चों के लिए ईसाई प्रार्थना में भाग लेने की अनिवार्यता का विरोध हो (पृ. 156) या बलराम की हत्या की न्यायिक जाँच हेतु जिला-न्यायालय के सामने धरना देने का। (पृ. 166) शिक्षा के कारण ही वह पुलिस एवं प्रशासन की जालसाजियों एवं कानून की पेचीदगियों को समझ सका है और आवेश[20] के स्थान पर संयम तथा गाली के स्थान पर तर्क की अहमियत को भी। यहीं वह 'पूछो इस माटी से' के कँवल के विलोम के रूप में उभरता है जो जन-चेतना को दिशा देने के प्रयास में स्वयं अपने आक्रोश एवं दृष्टिहीनता के चलते आसानी से अंग्रेज-फ्रांसीसियों की साजिश का शिकार हो जाता है (पृ. 378-380) जबकि जन-चेतना को कुचलने के ठीक ऐसे ही प्रयास में परकाश को चोरी के झूठे केस में फँसाने की उनकी योजना परकाश के प्रखर व्यक्तित्व के कारण असमय ही दम तोड़ देती है। (*गांधीजी बोले थे,* पृ. 188) यह शिक्षा का ही परिणाम है कि परकाश और उसके शिक्षित साथी गांधीजी के बाद उनके प्रतिनिधि के रूप में बैरिस्टर मणिलाल और 1924 में कुँवर महाराजसिंह के मॉरीशस आगमन की सूचना और उद्देश्य को समझ पाए। कुँवर महाराजसिंह की मॉरीशस यात्रा चूँकि अंग्रेज सरकार की ओर से भारतीयों की माँग के बढ़ते दबाव और भारतीय प्रवासी मजदूरों की स्थिति की सही जाँच के उद्देश्य के लिए थी, अतः जरूरी था कि मज़दूर बस्तियाँ इस सुअवसर का सदुपयोग करते हुए अपनी दुर्दशा का खुला चिट्ठा उनके सामने प्रस्तुत कर सकें। 'पूछो इस माटी से' में जहाँ कुँवर महाराजसिंह की यह ऐतिहासिक यात्रा अपनी ही जड़ता में धँसे कँवल तथ मुसे मानेस कोठी तक एक उड़ती खबर के रूप में आती है (वह भी इस सूचना के साथ कि मज़दूर बस्तियों का मुआयना करने भारत से आए चार वकील औरों की आँख से कोठियों का वैभव एवं मेहमाननवाजी देखकर घोड़ा-बग्घियों में लौट गए हैं पृ. 313-314), वहीं अभिमन्यु अनत इसका इतिहास-सम्मत रचनात्मक उपयोग करते हुए परकाश के व्यक्तित्व में नेतृत्व क्षमता, वक्तृतता और लेखन-कला जैसे गुणों का समावेश करते हैं। मज़दूर संघ को कानून रजिस्टर्ड करवा लेने तथा तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में ज्वलन्त मुद्दों पर विचारोत्तेजक लेख लिखकर जन-चेतना को आन्दोलित करनेवाले परकाश का कुँवर महाराजसिंह तक अपनी बात पहुँचा पाना कठिन भी नहीं रह पाता। ''सुधार के नाम पर केवल लीपापोती हुई है''–इस अभियोग को निर्भीकतापूर्वक तर्क एवं सबूत द्वारा प्रमाणित करना परकाश के ही वश की बात थी। ''यह सही है कि अब उनकी (मज़दूरों) पीठों पर कोड़े नहीं बरसते, लेकिन गन्ने के खेतों के बीच उन्हें नींबू की तरह निचोड़ लिया जाता है'' (पृ. 225)–परकाश के दावे को सत्य करती है कुँवर महाराजसिंह के साथ परकाश की द्वीप की पाँच-पाँच भिन्न-भिन्न कोठियों की अन्तर्यात्रा। कोठी और सरकार दोनों की मिलीभगत को लेकर कानूनी संरक्षण पर उँगली धरते हुए परकाश को तनिक भी भय नहीं। श्रम-संविधान के तहत न्यूनतम मजदूरी, सवा रुपए के स्थान पर एक रुपए का भुगतान और सवा रुपए पर अँगूठे का निशान लगवाने जैसी धाँधली का खुलासा करते हुए परकाश अदालत की पक्षपातपूर्ण भूमिका को उजागर करने में नहीं चूकता। ''आयोग के सामने कह रहा हूँ''–खुल्लमखुल्ला सरकार के खिलाफ सार्वजनिक बयान देने के दुष्परिणाम जानने के बावजूद अडिग रहने की दिलेरी। यही कारण है कि महाराजसिंह को परकाश में एक सच्चा जननेता दिखाई पड़ता है–''तुम एक अच्छे नेता हो, यह मैं देख चुका। तुम्हारे भीतर अपने लोगों के लिए कुछ कर पाने की जो चाह है, वह बहुत बड़ी है।...तुम्हें अपनी आवाज केवल मजदूरों की सभाओं और मालिकों के दफ्तरों में ही बुलन्द नहीं करनी है...इसे अब अपने देश की विधानसभाओं में बुलन्द करो।...तुम अभी से एक राजनीतिक मंच तैयार करना शुरू कर दो।'' (पृ. 228) कहना न होगा कि मॉरीशस के राजनीतिक इतिहास में 1926 के विधानसभा चुनावों में डॉ. लाला नामक जिस प्रथम आप्रवासी भारतीय की ग्राँ पोर्ट से विजय हुई, उसके संघर्ष और चेतना को परकाश के व्यक्तित्व की भीतरी परतों के जरिए समझा जा सकता है। यहाँ अधिक साम्य न होते हुए भी अकस्मात् हार्वर्ड फॉस्ट के उपन्यास 'रोड टु फ्रीडम' का स्मरण हो आता है जहाँ साउथ कैरोलिना अमेरिका के गृहयुद्ध का सैनिक गिडियन जैक्सन गोरों द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुनाव का बहिष्कार किए जाने के कारण विधानसभा में प्रवेश तो कर जाता है, लेकिन आत्मबल एवं आत्म-अर्जित शिक्षा के सहारे ही देश एवं समय की सही तस्वीर समझ पाता है। अपने को निखारने की प्रक्रिया में अवमानना एवं विरोध झेलते हुए भी वह जिस तत्परता से ज्ञान अर्जित करता है और जातीय अस्मिता हेतु अपने सुषुप्त समाज को जगाने की चेष्टा में सिर पर कफन बाँधता है, वह स्थिति परकाश की स्थिति से विकटतर एवं चुनौतीपूर्ण है। हार्वर्ड फॉस्ट तनाव को घनीभूत करते हुए असीम निःस्पृहता के साथ घटना एवं चरित्र के थर्रा देनेवाले घात-प्रतिघात के जरिए जिस प्रकार इतिहास को क्षण तथा व्यक्ति की समूची शख्सियत में जीवन्त कर देते हैं, और विवशता एवं विकरालता के बीच जिजीविषा की अन्तर्धारा को प्रवाहित होते देखते हैं, वहाँ साधारणीकरण की प्रक्रिया से गुजरते हुए आत्मविस्मरण कर पाठक कब गिडियन जैक्सन और स्पार्टाकस से एकात्म हो बैठता है, स्वयं उसे भी ज्ञात नहीं रहता। असल में यही वह स्थल है जहाँ इतिहास लेखक/इतिहासकार जैसी किसी भी बाहरी हस्तक्षेप का निषेध कर वह अपनी ही यात्रा और रवानगी के साथ बह उठता है और यहीं किसी भी कलाकृति की चिरन्तनता का तत्व भी निहित है। लेकिन अभिमन्यु अनत और रामदेव धुरन्धर की कथा के साथ सयत्न गढ़ी आत्मपरक रागात्मकता तनाव को सर्जित करने से पूर्व ही उसके प्रभाव को खंडित कर देती है। फलतः उनके उपन्यास वक्त को जीता सहज लम्हा नहीं बन पाते, गुजरे वक्त को उकेरने की मशक्कत भरी कोशिश बनकर रह जाते हैं जिसे अधिक-से-अधिक ग्रामीण संस्कृति के अभावग्रस्त आत्मसीमित, आत्मसन्तुष्ट रोमान में अनूदित किया जा सकता है।

2

"मैं चाहता हूँ कि होली हमारे लिए एक त्योहार के साथ-साथ संगठन बने"[21]

मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास अस्मिता की लड़ाई में अपनी सांस्कृतिक पहचान को सुदृढ़तर कर लेना चाहता है। ठीक रेड इंडियन येफे तूलर (अभिमन्यु अनत, मार्क ट्वेन का स्वर्ग, पृ. 106) की तरह जिसने रेड इंडियंस द्वारा अपनी जमीन वापसी के लिए अमेरिका के शहरों में चलाए गए पद-यात्रा अभियान के दौरान "उस हजूम के साथ अपने चेहरे पर रंग पोत लिया था और माथे पर पक्षी-पंख भी बाँध लिया था।" या उसके पिता की तरह जो ऐतिहासिक दस्तावेजों को उद्धृत कर घंटों यही प्रमाणित करते रहते हैं कि वे एक बहुत ही शूरवीर जाति के हैं तथा उनके पूर्वज अमरीकी धरती के प्रथम निवासी थे जो पूर्व के किसी समृद्ध और सांस्कृतिक देश से इधर को आए हुए थे।" (पृ. 107) चूँकि गोरे (अंग्रेज व फ्रांसीसी) शोषक बनकर आप्रवासी भारतीय मजदूर को त्रस्त करते रहे हैं और मलगासी (दक्षिण अफ्रीका के आप्रवासी) अपनी बेहतर स्थिति के कारण सामाजिक-आर्थिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहे हैं, अतः अपनी विशिष्ट जातीय पहचान बनाए बिना उसके लिए अधिकार की लड़ाई लड़ना सम्भव नहीं था। होली-दीवाली जैसे पर्वों को मनाना, छोटे-छोटे बच्चों को भी रामायण कंठस्थ कराना तथा मन्दिर में पूजा-बाती करना एक ओर यदि मजदूरों के मन में हीन भावना को निष्कासित कर भारतीय होने का गौरव भरने का उपक्रम रहा तो दूसरी ओर ईसाई मिशनरियों की फरेबभरी चामत्कारिक करतूतों से आत्मरक्षा का उपाय भी जो अपने आपमें किसी भी संगठित शक्ति को मिटा देने की साजिश थी। (*गांधीजी बोले थे*, पृ. 82) आप्रवासी भारतीयों के बीच प्रचलित विविध धर्मों तथा हिन्दुओं के बीच फैली प्रान्तीय/देशज विविधता को जब अलगाववादी ताकतों ने हवा देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहा तो जातीय पहचान की अपेक्षा बहुलतावादी भारतीय संस्कृति की रक्षा का गुरु दायित्व लेकर उसने जागरूक एवं उदार मजदूर वर्ग को खड़ा किया "हम अपने घर में मुसलमान रहें, अपने घर में हिन्दू रहें, लेकिन जब गाँव और देश का सवाल आए तो यह न भूलें कि हम किस देश से किस हालत में यहाँ पहुँचे और हमें क्या हासिल करना है।" (*गांधीजी बोले थे*, पृ. 54) धार्मिक उन्माद से ऊपर उठकर मानवीयता के प्रसार का बुद्धिमत्तापूर्ण फैसला जिसकी अनुगूँज दूसरों को स्पेस देकर स्वयं अपने क्षितिज का विस्तार करने की ललक में सुनी जा सकती है। हिन्दुओं के अतिरिक्त कोठी-मालिकों द्वारा तमिल, तेलुगू, और मराठों के लिए अलग मन्दिर बनाए जाने की विभाजनकारी प्रक्रिया का एक ही उत्तर सम्भव है—आपसी सद्भाव और सह-अस्तित्व में एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान—"हमें उन्हें अपना अलग मन्दिर या सभा बनाने से नहीं रोकना चाहिए। बस्ती में एक मन्दिर, एक सभा ज्यादा होने से हमारा ही कल्याण है। वे हमारे भी तो होंगे।...अगर उनके कुछ अलग रस्म-रिवाज हैं तो उन्हें हमें भी स्वीकारना होगा, जिस तरह आज तक वे हमारे रस्म-रिवाजों को स्वीकारते आए हैं।" (वही, पृ. 148) निस्सन्देह धर्मनिरपेक्षता की अनुपम मिसाल ! लेकिन आज मॉरीशस के प्रत्येक हिन्दू परिवार के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आँगन में तुलसी का चौरा और हनुमान का मन्दिर प्रतिष्ठित है और उसके अनुकरण पर अपने अलग धर्म के उद्घोष रूप में ईसाई व मुस्लिम धर्मावलम्बियों ने ही पहचान-सूचक संकेत घर के आँगन-द्वार पर उकेरने शुरू किए हैं, उससे आशंका होती है कहीं जातीय अस्मिता साम्प्रदायिक वैमनस्य का रूप न ले ले। विशेषकर भारत में 1992 के बाबरी मस्जिद ध्वंस और 2002 में गोधरा कांड के बाद ऐसी आशंकाएँ दुःस्वप्न बनकर डराती हैं। बाबरी मस्जिद के ध्वंस की प्रतिक्रिया में बंगलादेश के अल्पसंख्यक हिन्दुओं के दमन का अनवरत क्रम (जिसकी प्रामाणिक तस्वीर तसलीमा नसरीन के उपन्यास 'लज्जा' में कलमबद्ध हुई है) तथा अफगानिस्तान के बामियान में बौद्ध मूर्तियों का ध्वंस धार्मिक निष्ठा को कट्टरता एवं उन्माद में बदलती पीढ़ी के प्रबलतर होते चले जाने का सूचक है। यह ठीक है कि एक लम्बे अरसे तक भारतीयों को अपनी नस्ल के कारण सरकारी नौकरियों से वंचित रखा गया; हिन्दू धर्म के प्रचार पर पाबन्दी लगाई गई तथा हिन्दुओं को हिन्दू धर्म से विमुख करने के लिए अनेक कानून भी बनाए गए जिसके विरोध में 12 दिसम्बर 1943 को प्रो. वासुदेव विष्णुदयाल ने बेल विलेज के तमिल मन्दिर से पोर्ट लुई के गांधी मैदान तक साठ हज़ार समर्पित मॉरीशसवासी हिन्दुओं का शान्त जुलूस निकाला और यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र का उच्चारण कर अपने भाषण में एकत्रित भीड़ को हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए सन्नद्ध होने को कहा [22], लेकिन वह तो वक्त की जरूरत थी। भारतीय पहचान बनाने का अर्थ रामायण, आर्ष ग्रन्थ एवं नागरी लिपि के प्रति अन्ध-अनुकरण नहीं, बल्कि अपनी ज़मीन और संस्कृति से जुड़कर अपनी संवेदना, वैचारिकता और सरोकार का दायरा बढ़ाते हुए वर्तमान से वर्तमान के ही औजारों द्वारा मुठभेड़ करने की ताकत पैदा करना है। इस प्रयास में विदेशी प्रभाव अग्राह्य नहीं होने चाहिएँ, वरन् सत्य तो यह है कि संस्कृतियों का आदान-प्रदान हमेशा परम्परा और विरासत को समृद्ध करता है। इसके विपरीत आग्रहपूर्वक अपनाया गया अलगाववादी नजरिया दृष्टि को ही संकुचित नहीं करता, संवेदना को भोंथरा कर अलग-अलग द्वीपों की संरचना करने लगता है जिसका प्रमाण है डॉ. बीरसेन जागासिंह का यह कथन कि "अंग्रेजी एवं फ्रेंच साहित्य की सम्पन्नता से घिरे रहने पर भी पारस्परिक साहित्यिक आदान-प्रदान बहुत कम हुआ। अनुवाद भी कम हुआ क्योंकि हरेक भाषा-भाषी समूह एक-दूसरे से अपनी भाषा की रक्षा करने के लिए होड़ कर रहा था। हर समूह को डर था कि कहीं उसकी भाषा और साहित्य का मोल घट जाए और दूसरी भाषा या साहित्य में विलय हो जाए।"[23] यहाँ यह याद रखना भी जरूरी है कि परिस्थितियाँ बदल जाने के बाद दमन के इतिहास की जुगाली घृणा और प्रतिशोध को नासूर बना देती है। कुर्रतुल ऐन हैदर 'आग का दरिया' उपन्यास की भूमिका में 'मैं' और 'हम' में बँटी दो धार्मिक अस्मिताओं को अब अपनी ही कुंठा में हताहत होते देखती हैं तो सवाल उठाती हैं कि "संस्कृति क्या है या हिन्दू अथवा इस्लामी संस्कृति अथवा राष्ट्रीय संस्कृति क्या है? या हिन्दू अथवा मुसलमानों की अपनी-अपनी दृष्टियाँ या अपनी-अपनी जातिगत विशेषताएँ क्या हैं?...वैसे सच बात यह है कि जिन समस्याओं ने हमें आज चारों ओर से घेर रखा है, वे विविध ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का सीधा परिणाम है। परन्तु हम या तो इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं पर कीचड़ उछालते हैं या उनका गुणगान करते थकते नहीं। अजब है कि अभी तक हमने अपने इतिहास पर हँसना नहीं सीखा। जो घटनाएँ कभी बहुत पहले घटी हैं और उनकी जानकारी हमें आज और भी कायदे से होनी चाहिए, उनकी ओर आज जब हम रुख करते हैं तो या तो सारी कारगुजारियों में खुद ही हिस्सा लेने लगते हैं, या कुछ लज्जित होकर क्षमा माँगने की-सी स्थिति में हो उठते हैं, या उनकी तरफ से सफाई पेश करने लगते हैं। मगर जरूरी यह नहीं कि हम इतिहास की चहारदीवारी के पीछे कैद हो जाएँ, जरूरी यह है कि हम उसके ऊपर तने मकड़ी के जाले झाड़-पोंछकर साफ कर दें।"[24] असल में इस समय समूचा वैश्विक परिदृश्य संस्कृति एवं मनुष्यता जैसे उदात्त सरोकारों को हाशिए पर फेंककर धार्मिक पहचान को जिस कट्टरता के साथ आतंकवादी गतिविधियों में ढालता चल रहा है, उसमें मॉरीशस ही नहीं, विश्व के प्रत्येक साहित्यकार से यही अपेक्षा है कि अपनी लड़ाई को वह एक ही मुद्दे पर केन्द्रित करे- मनुष्यता एवं मानवीय संवेदना का उन्नयन।

"दस लाख लोगों का देश नौ सौ आदमियों का स्वर्ग है"[25]

520 वर्गमील में फैले मॉरीशस के अनुपम प्राकृतिक सौन्दर्य पर आसक्त है मॉरीशस का हर उपन्यासकार लेकिन उससे कहीं ज्यादा क्षुब्ध भी कि क्यों सौन्दर्य और समृद्धि का नागरिकों के बीच सही वितरण नहीं हुआ है। क्यों समुद्री इलाकों के सारे बंगलों पर एक वर्गविशेष का ही आधिपत्य है? क्या इसलिए कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बावजूद औसत भारतीय आप्रवासी कायरता और मानसिक गुलामी में तब्दील होते नम्रता एवं कर्त्तव्यपरायणता के संस्कार से मुक्ति नहीं पा सका है? या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए कि उसके अपने बीच का सुविधाभोगी अवसरवादी असामाजिक तत्व (जो गुलामी के दिनों में अपनी खुद्दारी अथवा पत्नी के यौवन का सौदा कर कोठी का पहरेदार बन जाया करता था) अब राजनीति की आड़ में भक्षक बना हुआ है ? अभिमन्यु अनत सहित सभी लेखक इस तथ्य से सहमत हैं कि "यह देश जितना धनी है, उससे आठ गुणा ज्यादा गरीब है"। गरीबी का मूल कारण है बेरोजगारी जिसके चलते प्रथम श्रेणी में सीनियर कैम्ब्रिज पास प्रेमसिंह को होटल में बेयरे का काम करना पड़ता है (*मार्क ट्वेन का स्वर्ग,* पृ. 173) और लड़कियों को वेश्या अथवा कॉलगर्ल बनने को विवश होना पड़ता है। यह वह देश है जहाँ "ऊँचाई को छूने के लिए गोरा होना पहली शर्त है" (*चेहरों का आदमी,* पृ. 16)। अभावग्रस्तता की कोख से उपजी हताशा और निरक्षरता ने संवेदनाशून्य करते हुए आम आदमी को इस कदर पशु बना दिया है कि "बाप बूढ़ी उमर में शराब के नशे में" दनादन बच्चे पैदा किए जा रहा है और "नादान उम्र में मजदूरी के लिए विवश बालक बड़ों की तरह सिगरेट और शराब के नशे में चूर हैं।" (वही, पृ. 24) यानी मूल्यहीनता का बढ़ता दौर ! अभिमन्यु अनत इसका विश्लेषण करते हुए दो कारणों को स्वतन्त्र मॉरीशस में आप्रवासी भारतीयों की दुर्दशा का मूल कारण बताते हैं। एक, खेती की बजाय सरकारी नौकरी करके पद, प्रतिष्ठा और पैसा पाने की महत्त्वाकांक्षा। 'तपती दुपहरी' (अभिमन्यु अनत) का राजेन हो, 'चेहरों का आदमी' (रामदेव धुरन्धर) का रामफल या 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' (अभिमन्यु अनत) का प्रेमसिंह, नौकरी के साथ स्वर्णिम भविष्य को जोड़ने की स्वप्नशीलता उन्हें अपनी ज़मीन से काटकर त्रिशंकु बना डालती है। नौकरी से बर्खास्त प्रेमसिंह का विकल्पहीन अवस्था में खेती की ओर प्रत्यावर्तन कथावाचिका के साथ-साथ लेखक को भी मर्माहत करता है कि "नियति से झगड़ने के बदले उसे स्वीकार कर उसमें शान का अनुभव मुझे आत्मसमर्पण-सा लगा।...एक सौ पचास साल के संघर्ष के बाद अब आगे के लिए (वह) बदतर की सम्भावना लिए हुए क्यों था ?"[26] 'मिट्टी की सन्तान' यह क्यों नहीं समझती कि ज़मीन को आज भी क्रान्तिकारियों की आवश्यकता है जो शिक्षा एवं आधुनिक तकनीकी युक्त ज्ञान के बल पर उसके जर्रे-जर्रे से सोना उगा सकें। अभिमन्यु अनत के उपन्यासों का पारायण लेखकीय ऊहापोह एवं आत्मालाप का सशक्त उदाहरण है जहाँ द्वन्द्व के बाद संकल्प और शंका के बाद संघर्ष के सोपान पर आरूढ़ हो वे किसी रचनात्मक दिशा का अन्वेषण करने में जुट जाते हैं। इस दृष्टि से 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' के नैराश्यपरक स्वर को जिजीविषा के जीवट भरे संघर्ष में ढालकर वे 'तपती दुपहरी' को अगली कड़ी के रूप में प्रस्तुत करते हैं जहाँ सरकारी नौकरी के मोहभंग की यन्त्रणा से उबरकर राजेन निर्वैयक्तिक दृष्टि से समाज के साथ-साथ आत्म-पड़ताल करता है तो पाता है कि निरक्षर निस्सहाय खेतिहर मजदूरों को उनके हाल पर छोड़ शिक्षित युवा पीढ़ी का शहरों में पलायन आत्मसुख नहीं तो और क्या है ? जरूरत है उन्हें यह बताने की कि "सोना उगानेवाले के भाग्य में कंकड़-पत्थर नहीं हो सकते। खेतों के मज़दूरों ने अपने घोर परिश्रम के बल पर जिन महाशक्तियों को जन्म दिया, आज उन्हीं के नीचे वे नहीं दब सकते।" (*तपती दुपहरी,* पृ. 148) लेकिन साथ ही वह सशंकित भी है कि "क्या सचमुच ही असन्तोष की भावना और हड़ताल तथा विद्रोह आज के प्रश्नों के हल हैं ?" (वही, पृ. 139) हल न सही, हल की दिशा में उठाया गया सार्थक कदम तो है ही—अभिमन्यु अनत 'मुड़िया पहाड़ बोल उठा' को लेखकीय चेतना के विकास की अगली कड़ी बनाते हैं तो नेहा के रूप में दुर्धर्ष श्रमिक नेता की परिकल्पना करते हैं जिसके लिए मज़दूरी नौकरी नहीं, धर्म बन गई है। किन्तु मसीहा के रूप में अवतरित नेहा को अभिमन्यु अनत जिन गढ़ी गई परिस्थितियों के बीच चित्रित करते हैं, वे एक ओर उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा के छीजने की संकेतक है तो दूसरी ओर अनायास उनकी लेखकीय क्षमताओं की सीमाओं को उजागर भी कर जाती है क्योंकि नेहा अपने आपमें कुछ नहीं, 'लाल पसीना' के किसनसिंह और 'गांधीजी बोले थे' के परकाश के संयुक्त चरित्र का स्त्री-संस्करण है। छोटे-से जीवन में ढेर सारे उपन्यास लिखकर अमर हो जाने का लोभ ही शायद लेखक को आत्मघाती आवृत्तियों के लिए उकसाता है। अभिमन्यु अनत इस क्षुद्र मोह से उबर पाते तो सम्भवतः 'लाल पसीना' और 'गांधीजी बोले थे' के सर्जक के रूप में उनकी ख्याति पर खरोंच तक न आती।

स्वातन्त्र्योत्तर मॉरीशस में प्रवासी भारतीयों की पूर्ववर्ती दुर्गति का दूसरा बड़ा कारण लेखकों की दृष्टि में है—राजनीति का भ्रष्ट स्वरूप। रामदेव धुरन्धर, दीपचन्द बिहारी, आनन्द दबी सहित अभिमन्यु अनत ने अपने लगभग हर उपन्यास में राजनीति के गलाजत भरे चेहरे को बेनकाब करने की कोशिश की है। इस दृष्टि से 'फैसला आपका' (अभिमन्यु अनत) तथा 'छोटी मछली बड़ी मछली' (रामदेव धुरन्धर) विशेष उल्लेखनीय हैं। कथ्य एवं शिल्प दोनों ही दृष्टियों से एक-दूसरे का विलोम हैं दोनों उपन्यास। 'फैसला आपका' में जहाँ सामाजिक सुरक्षा प्राप्त मन्त्री की प्रिया सिबालक नामक सेक्रेटरी मन्त्री के निर्देश पर मन्त्री की धनराशि से मन्त्री के लिए तस्करी करते रँगे हाथों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पकड़े जाने पर राजनीतिक संरक्षण प्राप्त पुलिस एवं न्याय व्यवस्था के उत्पीड़न की शिकार होती है, वहीं 'झूठ को जीकर' जीवन में आनन्द खोजनेवाली बैरिस्टर विनोदा *(छोटी मछली बड़ी मछली)* चुनाव जीतने के लिए अपनी ही पसन्द और उसूलों की खिलाफत करने में नहीं चूकती। "मैं जात-पात के भोंडेपन में विश्वास नहीं रखती। केवल खेल रही हूँ। चाहे यह अब गम्भीर हो गया है, लेकिन मेरे लिए यह खेल ही है।" (पृ. 129) वह जानती है धाँधली की बुनियाद पर टिकी राजनीति में सफलता पाने का एक ही मूलमन्त्र है—जनता की कमज़ोर नब्ज पहचानकर वार करना। अभिमन्यु अनत 'अचित्रित' में सूक्तियों के जरिए राजनीति के छद्म चरित्र को उजागर करते हैं जहाँ राजनीति मूल्यों को विघटित नहीं करती बल्कि विघटित मूल्यों को नई आचार-संहिता में ढालती है। जैसे "राजनीति में अच्छाई हारकर बुराई हो जाती है" (पृ. 99), "राजनीति में बुरे लोगों को नहीं मारा जाता।...मारा जाता है शरीफ लोगों को।" (पृ. 58) तथा "राजनीति के पास न दिल होता है न संवेदना" (*फैसला आपका,* पृ. 55)। यहाँ यह तथ्य गौरतलब है कि अभिमन्यु अनत तथा रामदेव धुरन्धर राजनीति के स्वरूप पर विचार करते हुए देश के राजनीतिक अवमूल्यन की गहरी पड़ताल नहीं करते, स्त्री पात्रों के जरिए राजनीतिक परिदृश्य का विहंगावलोकन कर लेते हैं, बस। ठीक कमलेश्वर के बहुचर्चित उपन्यास 'काल आँधी' की तरह जहाँ प्रेम एवं दाम्पत्य-विघटन के परिपार्श्व में उभरती नायिका की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा के जरिए राजनीति के गलीज चरित्र को दिलचस्प अन्दाज में चित्रित किया गया है। लेकिन वही कमलेश्वर जब 'कितने पाकिस्तान' जैसा महाकाव्यात्मक उपन्यास रचते हैं तब देश-काल की सरहदों को भुलाकर बार-बार वक्त को अपने चंगुल में जकड़ लेनेवाली औरंगजेब की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के साथ जुड़ी देशी रजवाड़ों की क्षुद्रताओं को उकेरते हैं जो मानवीय सरोकारों के पक्ष में खड़े हर दारा शिकोह का कत्ल करने के बाद ही अपनी पाशविकताओं का घिनौना नाच नाचने लगती हैं। एक ही वर्ण्यविषय पर एकाग्रचित्त न रह पाने के कारण मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास राजनीति सहित उन तमाम बर्बरताओं/विसंगतियों को सतह पर नहीं ला पाता जो जनजीवन को खोखला किए दे रही हैं। जुमलेबाजी कितनी ही मार्मिक एवं सटीक क्यों न हो, कथा में अपेक्षित तनाव पैदा नहीं कर पाती जो रचयिता, पात्र एवं पाठक के तीन भिन्न मनोलोकों की दूरियाँ पाटकर संवेदना के एक ही बिन्दु में अन्तर्लीन कर देता है। फिर भी, यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि मॉरीशस के चित्ताकर्षक मुखौटे के नीचे छिपे बदनुमा दागों को जस का तस दिखा पाने की निर्भीकता मॉरीशस के हिन्दी उपन्यास को एक अलग पहचान तो देती ही है। यहाँ 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' का पुनः उल्लेख करना असंगत न होगा जहाँ कथानायिका के रूप में कनाडा से आई रेड इंडियन लड़की की परिकल्पना कर अभिमन्यु अनत ने हर सैलानी से यह अपेक्षा की है कि वह ज़मीनी महक और सच्चाई को प्राकृतिक सुषमा के कुहासे में न समेटे, वरन् जीवित लोगों की धड़कन में उनकी अन्दरूनी ध्वनियों को सुनने की चेतना पैदा कर सके। तभी आज के उत्तरआधुनिक विश्व के इस भयावह सत्य का सामना कराना सम्भव हो पाएगा कि "संस्कृति के साम्राज्य में जी रहे हैं हम।" (पृ. 173) अन्यथा अज़टक एवं माया सभ्यता जैसी कितनी ही समृद्ध सभ्यताओं को लीलकर तथा प्रत्येक विकसित संस्कृति को आदिम एवं बर्बर संस्कृति की संज्ञा देकर सांस्कृतिक शोषण की परम्परा चलती रहेगी जो संसाधनों के समान वितरण की माँग को एक उजड्ड उद्दंड मज़ाक से ज्यादा नहीं समझेगी। एक प्रौढ़ कृति के रूप में 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' निश्चय ही मॉरीशस के उपन्यास की अमूल्य धरोहर है।

3

'औरत या तो रिश्वत होती है या उपहार'[27]

अतिशय भावुकता में निबद्ध अर्ध-उन्मीलित दृष्टि जब अप्रीतिकर यथार्थ की घनघनाती चोट से क्षतिग्रस्त हो जाने की आशंका में आदर्श, प्रेम एवं त्याग की मनोरम भित्तियों से सिरजे अपने ही मनोलोक में रमकर समय और समाज का दस्तावेज तैयार करने लगती है, तब रह-रहकर रोमानी हो जाना उसकी नियति बन जाता है। प्रेमचन्द-सरीखे व्यापक सरोकारों के बावजूद प्रसाद की पहुँच और धरातल में फर्क इसी रोमानी दृष्टि का परिणाम है, हालाँकि यह तथ्य अपनी जगह सही है कि प्रसाद के दार्शनिक चिन्तन की ऊँचाइयों ने रोमान को लिजलिजेपन में बदलने की बजाय सृष्टि के साथ 'स्व' के सम्बन्ध की चिरन्तन पड़ताल में जुटी आध्यात्मिक जिज्ञासा में तब्दील कर दिया है। मॉरीशस में चूँकि आज भी आर्य समाज, सनातन सभा जैसी प्रचारक संस्थाएँ वैदिक साहित्य, रामायण तथा सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों में जीवन-जगत्, वर्तमान-भविष्य के रहस्यों एवं अन्तर्सम्बन्धों को पा लेने को संकल्पदृढ़ हैं, अतः अपनी दृष्टि का विस्तार करते हुए वे उस तिल भर स्थल को नहीं देख पाते जहाँ यथार्थ और वर्तमान की टकराहट ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति एवं भविष्य के सम्बन्ध तथा स्वरूप का निर्धारण करती है। पूर्वाग्रहयुक्त दृष्टि तथा परम्परागत मान्यताओं की आवृत्ति ने उन्हें अनागत से मुठभेड़ करके कुछ नया एक्सप्लोर करने के जिस लोमहर्षक रोमांच एवं आनन्द से वंचित कर दिया है, सम्भवतः उसी की ओर संकेत कर भारतीय समीक्षक डॉ. लता ने लिखा है कि "मॉरीशस में उपन्यास के लिए जितनी परिस्थितियाँ, संस्कृतियाँ और विषय हैं, उस अनुपात में उपन्यास का विकास नहीं हुआ है।"[28] विशेष रूप से स्त्री-चित्रण को लेकर मॉरीशस का लेखक अपनी पिछड़ी/सतही सोच का निदर्शन ही करता है। अजीब विडम्बना है कि शरत्चन्द्र, प्रसाद, जैनेन्द्र की तरह वह स्त्री प्रवक्ता के जरिए प्रत्येक ज्वलन्त समस्या उठाता है, लेकिन स्थिति पर हाय धिक्नुमा चीत्कार करने के बाद अपनी सारी चिन्ता और चेतना को स्त्री के त्याग और आदर्श की पुनर्प्रतिष्ठा में लगा देता है। त्याग का ठीकरा फोड़ने के लिए आज भी स्त्री के अतिरिक्त निरापद स्थल पूरी सृष्टि में कहीं और नहीं। पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था में मर्दवादी मानसिकता के षड्यन्त्रों को बेनकाब करते हुए केट मिलेट जिस तल्ख अन्दाज में स्त्रीद्वेषी साहित्य को पुरुष कुंठा की अनिवार्य अभिव्यक्ति का नाम देती हैं, उससे कोसों दूर होने का दावा करता है मॉरीशस का हिन्दी उपन्यासकार। स्त्री, उसके तई, द्वेष की नहीं, श्रद्धा की 'वस्तु' है। इसलिए प्रेमोन्मत्त होने पर भी दमघोंटू, जड़ सामाजिक मान्यताओं के दबाव को स्वीकारते हुए वह वर्जनाओं को तोड़ कर मुक्ति हेतु अकुलाती प्रेमिका के सतीत्व की रक्षा में फौजी सैनिक की-सी निष्ठा में सावधान खड़ा रहता है[29] या फिर इंग्लैंड रिटर्न्ड मालती (गोदान) जैसी विलायत से पढ़कर आई बैरिस्टर विनोदा को 'राह' पर लाने के लिए प्रो. मेहता की तर्ज पर माधव जैसे सिद्धान्तवादी पात्रों को गढ़ता है जो अपने व्यक्तित्व की चुम्बकीय तरंगों का प्रक्षेपण कर उसके हृदय को परिवर्तित कर सके। समझ नहीं आता कि 1936 को बीसवीं सदी के नवें-दसवें दशक में पुनर्जीवित करनेवाला यह 'आउटडेटेड' प्रकरण क्यों मॉरीशस के उपन्यासकार को प्रिय है? बेशक शरत्, जैनेन्द्र और प्रसाद नारी-चित्रण करते हुए कहीं भी पुरुषवादी मानसिकता से उबरकर उसे एक निरपेक्ष जीवन्त मानवीय इकाई के रूप में चित्रित नहीं कर पाए हैं, लेकिन उसकी व्यथा—विवशता स्वप्नाकुलता—को मानवीय परिप्रेक्ष्य देने तथा अपने ही संस्कारों के साथ एक द्वन्द्वात्मक स्थिति का आयोजन कर डालने के कारण वे राजलक्ष्मी-किरणमयी, सुनीता-कल्याणी, चम्पा-मधूलिका के रूप में जिस नए स्त्री-कंस्ट्रस्ट को रचते हैं, वह अपनी दोयम स्थिति की निर्विवाद स्वीकृति, आत्मपीड़क विद्रोह तथा त्याग की भूमि पर खड़े होकर भी एक नई असन्तुष्ट आत्मसजग स्त्री के जन्म लेने का उद्घोष है। मॉरीशस का हिन्दी कथाकार प्रेम-चित्रण के नाम पर इस जटिल सूक्ष्म कुहेलिका से सप्रयास बचकर 'गुनाहों का देवता' (धर्मवीर भारती) तथा 'छाया मत छूना मन' (हिमांशु जोशी) की रोमानी लिजलिजी आर्द्रता में तर रहता है या 'भाग्यवती' (श्रद्धाराम फुल्लौरी) और 'स्त्री सुबोधिनी' की उपदेशात्मक शैली में स्त्रियों को नीति और मर्यादा का पाठ पढ़ा डालना चाहता है। विश्लेषण करने पर इस प्राथमिकता के पीछे दो कारण दिखाई पड़ते हैं। एक, *धर्मयुग* एवं *साप्ताहिक हिन्दुस्तान* जैसी पत्रिकाएँ भारत में मॉरीशस के हिन्दी साहित्य का प्रवेश-द्वार रही हैं। अतः इनके सम्पादक/उपसम्पादक के कृतित्व का जादू मॉरीशस के कथाकार के सिर पर चढ़कर बोलने की सम्भावना असंगत प्रतीत नहीं होती। दूसरे, मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास उस समय विकास की प्रारम्भिक अवस्था में था। भारत के हिन्दी उपन्यास के विकास-क्रम का अनुशीलन करते समय यह तथ्य ध्यातव्य है कि 1877 में 'भाग्यवती' की रचना के बाद 1918 में प्रेमचन्द के अवतरण से पूर्व 41 वर्षों की अवधि में एक भी उल्लेखनीय हिन्दी उपन्यास की रचना नहीं हुई। स्थूल उपदेशपरक, तिलिस्मी-ऐयारी एवं जासूसी उपन्यासों की रचना में रत हिन्दी उपन्यास का वह प्रारम्भिक काल हिन्दी पट्टी के ही समकालीन उर्दू उपन्यास की तुलना में बेहद रंक था जो 'उमरावजान अदा' जैसे यथार्थपरक उपन्यासों की रचना कर नारी के मन की भीतरी परतों को छू सका था। स्वयं प्रेमचन्द भी आदर्श (*सेवासदन, रंगभूमि*), हृदय परिवर्तन (*कर्मभूमि*) तथा करुणा (*निर्मला*) की सुपरिचित स्थूल युक्तियों को अपनाकर ही 'गोदान' में अपने आवेश को संयत कर पाए थे।

स्त्री को श्रद्धा की 'वस्तु' मानने के बावजूद मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास स्त्री की मर्यादा और गरिमा के सम्मान को लेकर ज़रा भी गम्भीर नहीं। वह अपने मूल स्वर में स्त्री-द्वेषी है, स्त्री सशक्तीकरण का प्रवक्ता होने के दावे के बावजूद। 'पूछो इस माटी से' (रामदेव धुरन्धर) की कँवल-पत्नी धानी को कोठीमालिक सिरिल द्वारा बलात् रखैल बना लेने का प्रकरण हो या 'मुड़िया पहाड़ बोल उठा' (अभिमन्यु अनत) की उमेश—प्रिया नेहा के जोन फ्रांस कम्पनी में नौकरी करने का संकल्प—पुरुष पात्रों के साथ कोई भी लेखक धानी के इस सवाल का जवाब नहीं दे पाया है कि "ऐसा क्यों होता है कि यहाँ सारी बेइज्जतियाँ सह ली जाती हैं, केवल अपनी औरत की बेइज्जती पर त्राहि-त्राहि मच जाती है।" (पृ. 220) हाँ, दिशा बदलकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कँवल की तरह शहादत भरे भाव से अपनी बेचारगी का प्रदर्शन करने में ज़रा भी नहीं चूकता कि "कालिख लगे चेहरे को लेकर मैं आज भी जिन्दा हूँ" (पृ. 349) यानी स्त्री-मुक्ति आन्दोलन की विश्वव्यापी लहर के बावजूद यौन-शुचिता को 'सती' (अर्थात् स्त्री) होने की एकमात्र कसौटी मानने का सामन्ती दम्भ ! यही दम्भ ग्रन्थि बनकर कुंठित पुरुष को स्त्री पर यौन-आक्रमण या चरित्र-हनन करने के लिए उकसाता है, कहने की आवश्यकता नहीं। 'फैसला आपका' तथा 'छोटी मछली बड़ी मछली' में हालाँकि अभिमन्यु अनत और रामदेव धुरन्धर प्रत्यक्षतया प्रिया और विनोदा पर कोई कटूक्ति नहीं करते, लेकिन "मैं भी तो इच्छाओं की दासी बनकर अपनी दुनिया से भाग आई थी" (*मार्क ट्वेन का स्वर्ग*, पृ. 56) तथा "झूठ मेरे पैर खींच रहा है और मैं खिंची जा रही हूँ" (*छोटी मछली बड़ी मछली*, पृ. 66) जैसी आत्मस्वीकृतियाँ देकर वे अपने स्त्री पात्रों के चारित्रिक स्खलन के लिए मनोवैज्ञानिक-समाजशास्त्रीय विश्लेषण की सम्भावनाओं की समाप्ति कर देते हैं। अभिमन्यु अनत तो एक कदम आगे बढ़कर स्त्रियों की नौकरी को "काम की फिजूलखर्ची" तथा आर्थिक स्वावलम्बन को "अपने जीवन में अधिकाधिक सुख और आनन्द" (*तपती दुपहरी*, पृ. 60) पाने की युक्ति मानते हैं। साथ ही स्त्रीविरोधी टिप्पणियाँ देने हेतु 'तपती दुपहरी' उपन्यास की उर्मिला को अपनी प्रवक्ता बनाकर वे अपनी खाल बचाने का पुख्ता प्रबन्ध भी कर लेते हैं। "औरतों का हर जगह छा जाना बेकारी बढ़ाना ही तो है"—उर्मिला की टिप्पणी में झाँकती पुरुष-मानसिकता। "मर्दों के साथ बैठने के दावे में वे मर्दों की जगह" पर बैठ जाती हैं—आधी दुनिया के लिए रसोई और पर्दे की दुनिया की स्वीकृति का ऐलान, 'आधी दुनिया' की प्रतिनिधि द्वारा। शिकवा-शिकायत हो भी तो किससे ? "औरतों को अपनी जगह पर बैठाकर जगह तलाशने का जिम्मेदार मर्द ही तो है"—अलबत्ता पुरुष की उदार सहयोगी प्रवृत्ति का मुखर उद्घोष ! पैतृक व्यवस्था की प्रहरी उर्मिला अभिमन्यु अनत की चहेती पात्र है जो इसी उपन्यास में रजनी और सन्ध्या के रूप में रसिया प्रेमी के प्रेमजाल में अपनी समूची चेतना और अस्तित्व को लय कर देने को विकल है तो 'शेफाली' में शेफाली, 'गांधीजी बोले थे' में मीरा, 'मार्क ट्वेन का स्वर्ग' में रेड इंडियन कथानायिका के जरिए आत्महत्या अथवा आत्मपीड़न को जीवन का पर्याय बना लेने की वैचारिक दरिद्रता से भरपूर। चम्पा और मधूलिका आज की नारी की प्रतिनिधि नहीं हो सकतीं, फिर उनकी अनुकृतियाँ क्योंकर स्वीकार्य हों ?

"औरत अगर वेश्या होती है तो फिर वेश्या औरत क्यों नहीं होती ?"[30]

उपन्यास में स्त्री-द्वेषी मनोवृत्ति के निदर्शन का अर्थ यह नहीं कि मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास स्त्रियों के जीवन को विपाक्त कर देनेवाली विडम्बनाओं पर मौन साधे बैठा है। विशेषकर अभिमन्यु अनत मॉरीशस में वेश्याओं की बढ़ती तादाद देखकर काफी चिन्तित हैं। अन्य उपन्यासों में यहाँ-वहाँ छिटपुट वर्णन करने के बाद 'शेफाली' एवं 'अचित्रित' दो उपन्यासों में वे खुलकर वेश्या-समस्या पर कलम चलाते हैं। गरीबी की असह्य मार से वेश्यावृत्ति अपनाने को विवश शेफाली के लिए जीवन सन्त्रास का दूसरा नाम है। "अब मैं रात से डरने लगी हूँ"—डूबते सूरज को थामकर रखने की व्यग्रता में असफल शेफाली का मनोबल तेज़ी से छीजता चलता है और हर क्षरण पर कुंडली मारकर बैठ जाता है भय का सर्प—"मैं ज़िन्दगी में हमेशा डरती रही हूँ अशित।...कभी किसी से सच्चा प्यार हो जाने का डर, कभी गर्भवती हो जाने का डर।...सबसे अधिक डरती हूँ मर्दों से।" (पृ. 34) एक औसत स्त्री की तरह प्रेम एवं पत्नीत्व पाना उसके जीवन की अन्तिम साध है लेकिन साथ ही है निरन्तर शून्य होते चलने का तल्ख बोध भी। "दो ही कारण तो होते हैं किसी सफर को खत्म करने के। मंज़िल या थकान"—थकान से अधिक निरर्थकताबोध से संत्रस्त है शेफाली और उसी कमज़ोर क्षण में नींद की गोलियाँ खा आत्महत्या का असफल प्रयास भी करती है। शेफाली के ठीक विपरीत है वेश्या-जीवन के एक और पक्ष को उभारता वानी का चरित्र। "औरत के अलावा मैं कोकाकोला की एक बोतल हो सकती हूँ। रसोई की एक कलछी, बाज़ार की एक सब्जी, किटी पार्टी का एक भरा हुआ गिलास...मैं कुछ भी हो सकती हूँ" (*अचित्रित*, पृ. 141)—वस्तु और उत्पाद में तब्दील हो जाने की यन्त्रणा भोगने के बावजूद वानी के पास जीने के कुछ मकसद हैं जैसे कात्र बोर्न कौंसिल के मेयर विक्रम की रखैल होने का गौरव; आर्थिक समृद्धि के बीच चुनिन्दा प्रतिष्ठित 'ग्राहकों' द्वारा बुलाए जाने की प्रतिष्ठा, गरीबी में जी रही माँ-बहनों की गुप्त आर्थिक सहायता करने का सन्तोष और बेरोजगार युवकों को अपने प्रभाव से नौकरियाँ दिला सकने की पात्रता। वानी 'फाइव स्टार' वेश्या है—सुख और ग्लैमर में डूबती-उतराती उपभोक्तावादी समाज की प्रतिनिधि। चूँकि स्वयं लेखक उसके चरित्र के तार्किक विकास में सक्रिय सूत्रों को अन्विति नहीं दे पाया, इसलिए एक साथ परस्परविरोधी टिप्पणी कर बैठती है वानी। "हम लोग तो यन्त्र थे" (पृ. 142)—अपनी बेबसी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आख्यान कर वह पति-परित्यक्ता छोटी बहन को वेश्या बनने से रोकती है जो उसकी समृद्धि, प्रतिष्ठा, ग्लैमर की चकाचौंध में अपने जन्म-जन्म के अभाव और अपमान धो डालना चाहती है तो दूसरी ओर निपट अकेले ईमानदार क्षणों में अपने पेशे से एक बार भी घृणा नहीं करती—''जिस तरह डॉक्टर अपने पेशे पर फख्र करता है, कोई अध्यापक जैसे अपने काम पर नाज करता है और जैसे कोई मजदूर अपने को छोटा काम करनेवाला कहे जाने की परवाह किए बिना अपने मजदूर होने पर पछताता नहीं, ठीक उसी तरह मैं भी नहीं पछताती। हाँ, अगर पैसा कमाकर जीना पाप हुआ तब तो मेरे साथ-साथ पूजा-पाठ कराकर पैसा कमानेवाले से लेकर रोटी बेचकर पैसा कमानेवाला भी पापी है।'' (पृ. 164) वानी की मुखरता से आतंकित हैं शायद अभिमन्यु अनत। इसलिए अब वे उसे मुहरे की तरह इस्तेमाल करने के लिए राजनीतिक शतरंज की बिसात बिछाने लगते हैं। राजनीतिक सत्ता के लिए रस्साकशी चल रही है विक्रम और रामनाथ नौरतन में। ''जनता के साथ आत्मीयता तथा समाज में बनी प्रतिष्ठा'' के कारण नौरतन का पलड़ा भारी है। इसलिए उसे छकाने के लिए विक्रम द्वारा वानी का इस्तेमाल। विक्रम के छिपे फोटोग्राफरों की मदद से शारीरिक अन्तरंगता के चरम क्षणों की तस्वीर उतरवाकर जनता के सामने नौरतन का चरित्र-हनन करने की साजिश। असहमति के बावजूद विवश है वानी और उससे कहीं ज्यादा चिन्तित अभिमन्यु अनत। उन्हें वानी यानी स्त्री की गरिमा और सच्चरित्र नेता की नैतिकता दोनों को बचाकर विक्रम सरीखे धूर्त राजनीतिज्ञों को बेनकाब करना है। अतः भावुक नौरतन का मिलन के मादक क्षणों में संस्मरणात्मक आत्म-वक्तव्य; देश की आजादी के लिए संघर्ष के मिशन का आख्यान; वानी जैसी हर छोटी-बड़ी इकाई से इस जन-आन्दोलन में आहुति डालने का आह्वान—घटनाओं की तरलता जिस तन्द्रिल तान पर टिकी है, वहाँ द्वन्द्वग्रस्त वानी की कठोरता को मोम होने और कर्त्तव्यपरायणता की लहर से आप्लावित होने में देरी न लगना स्वाभाविक है। बस, कुल मिलाकर यही है अभिमन्यु अनत का शेफाली-वानी आख्यान यानी वेश्या-समस्या की पड़ताल। इसके बरक्स जेहन में एक-एक कर अनेक यादगार कथाकृतियाँ घूमने लगें तो दोष स्मृति का नहीं। 'मांस का दरिया' (कमलेश्वर), 'आज़ादी शम्मोजान की' (कृष्णा सोबती), 'मुर्दाघर' (जगदम्बाप्रसाद दीक्षित), 'ये कोठेवालियाँ' (अमृतलाल नागर), 'गाड़ीवालों का कटरा' (कुप्रिन) तथा 'अगले बरस मोहे बिटिया न कीजै' (कुर्रतुल ऐन हैदर)। फिर 'सलाम आखिरी' (मधु काँकरिया) के मारक प्रभाव को दरकिनार करना इतना आसान भी नहीं। विश्लेषण को सिर्फ 'सलाम आखिरी' तक ही केन्द्रित करें तो भी स्वीकारना पड़ेगा कि बारह-तेरह वर्ष की अबोध आयु में अपनों-परायों की हवस का शिकार होकर चकलाघर के बाड़े में बन्द भेड़ों का-सा जीवन जीती वेश्या कही जानेवाली बदनसीब लड़कियाँ थर्रा देनेवाली सच्चाई बनकर उपन्यास के हर पृष्ठ पर मौजूद हैं कि चाहकर आप आँख नहीं हटा पाते। लाज और मान को घोंट-पीकर अपने शरीर के ऊपर-नीचे के अंगों का सौदा करती ये वेश्याएँ पैंतीस-चालीस की उम्र तक पहुँचते न पहुँचते एड्स-सिफलिस से तड़फड़ाकर मरने को अभिशप्त हैं। अपनी नियति को जानती हैं और अपने साथ विश्वासघात कर यहाँ भेजनेवाले स्त्री-पुरुषों की अमानवीयता को भी। मनुष्यता, रागात्मकता और आत्मीयता की तलाश उनके छोटे-से अभिशप्त जीवन का बड़ा-सा सपना है, लेकिन पेट की सच्चाइयाँ वक्त के साथ उन्हें भी उसी बीमार तन्त्र का हिस्सा बना देती हैं जहाँ चकलेदारिन की भूमिका में उतरकर छोटी-छोटी लड़कियों की बेबसी में अपने अतीत की पीड़ा देखने की बजाय उन्हें धन्धे के गुर सिखाना अपने बुढ़ापे को निरापद रखने की अनिवार्यता बन जाता है। तिस पर पुलिस, राजनीति और धर्म के ठेकेदारों की फट-फट पड़ती घृणा कि ''वेश्याएँ उस मादा मकड़ी की तरह होती हैं जो सम्भोग के बाद पुरुष मकड़ी की गर्दन मरोड़कर हत्या कर देती है।'' (*सलाम आखिरी*, पृ. 97) 'सिटी विदाउट गटर' की असम्भव परिकल्पना को वेश्याहीन समाज की असम्भव अवधारणा के साथ जोड़नेवाले पुरुष वर्ग पर कड़ा प्रहार करती हैं मधु काँकरिया जिसके लिए वेश्या और कुछ नहीं अपने शुक्राणु उँडेल सकनेवाला पात्र है, बस। समस्या को घनीभूत संवेदना और बौद्धिक विश्लेषण की निर्वैयक्तिकता के साथ निबद्ध कर इतने कोणों से उसकी तमाम जटिलतर परतों को क्षतिग्रस्त किए बिना उठाना अभिमन्यु अनत के बूते का नहीं। वे तो ज्यादा-से-ज्यादा यशपाल की 'दिव्या' और आम्रपाली के कायान्तरण की बात कर सकते हैं जहाँ मुक्ति भी खुला जा सिम-सिम की तरह अकस्मात् द्वार पर आकर दस्तक देने लगती है। 'शेफाली' इसका उदाहरण है। अशित के मित्र धरम द्वारा 'मुक्तिपथ' नामक संस्था की स्थापना, उस संस्था में उपभोक्तावादी संस्कृति से ऊबे बुद्धिजीवियों का आध्यात्मिक शान्ति की तलाश में आना (समतुल्य : धीरेन्द्र अस्थाना की कहानी 'दुखं शरणं गच्छामि'), तमाम भौतिक सुविधाओं से विच्छिन्न हो निखूट प्रकृति के सान्निध्य में रहना और कृष्ण की मुरली की तान में जीवन के सारे रहस्यों और आनन्दों की प्राप्ति—यही है अभिमन्यु अनत की दृष्टि में वेश्या समस्या का आध्यात्मिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाधान। लेकिन यहाँ यह दर्ज करना भी बेहद जरूरी है कि अपने अन्य समकालीनों में अभिमन्यु अनत ही एकमात्र उपन्यासकार हैं जिन्होंने स्त्री-समस्याओं को अपने उपन्यासों का वर्ण्य-विषय बनाया है अन्यथा शेष रचनाकारों के लिए वह अभी भी रीतिकालीन नायिका है—कामाग्नि भड़काने का अचूक अस्त्र या प्रेम त्रिकोण को रोमांचक मोड़ देनेवाला अनिवार्य घटक।

भारत के हिन्दी उपन्यास की तुलना में मॉरीशस का उपन्यास स्त्री के पारिवारिक-सामाजिक-वैयक्तिक जीवन को कठिनतर बनानेवाली समस्याओं/ वर्जनाओं/मान्यताओं को लेकर मौन है। मॉरीशस में मध्यवर्गीय शिक्षित महिलाओं से बात करने पर ज्ञात हुआ कि विवाह से जुड़ी समस्याएँ यथा दहेज प्रथा, बाल विवाह, अनमेल विवाह, विधवा पुनर्विवाह को हेय दृष्टि से देखा जाना, प्रेम/अन्तरजातीय विवाहों को लेकर (विशेषतः ग्रामीण समाज में) उठते सनसनीखेज हंगामे वहाँ स्त्री-जीवन को बाधित करनेवाले घटक नहीं हैं। यानी भारतीय संस्कृति में गहरे धँसकर रीति-रिवाजों की अनुपालना करता मॉरीशस समाज फ्रांसीसियों-अंग्रेजों के सतत् सम्पर्क में रहने के कारण पाश्चात्य संस्कृति की सकारात्मक विशिष्टताओं को हृदयंगम किए हुए है। वे तो बल्कि बस्तर इलाके की आदिवासी स्त्री की दुर्दशा देखकर स्तम्भित हैं कि सरकार या महिला संगठन उनकी स्थिति सुधारने के लिए प्रयासरत क्यों नहीं हैं ? यदि वास्तव में मॉरीशस की स्त्री (या स्त्रियों का एक वर्ग विशेष) अपनी मानवीय अस्मिता के साथ समाज में बराबरी की भूमिका निभा रही है, तो निश्चय ही यह बेहद सराहनीय स्थिति है। तब यहाँ मॉरीशस के हिन्दी उपन्यासकार से शिकायत का आयाम बढ़ जाता है कि भारत के अनुकरण पर स्त्री के स्टीरियाटाइप बिम्ब उकेरने की बजाय वह उन परिस्थितियों, प्रभावों और संघर्ष को चित्रित क्यों नहीं कर सका जिनसे गुज़रकर स्त्री आज यहाँ तक पहुँची है ? वैश्विक स्तर पर विश्व-भगिनीवाद का नारा लगाए जाने के बावजूद स्त्री की स्थिति कितनी विषम है, यह किसी से छिपा नहीं। ऐसे बीहड़ समय में प्रत्येक रचनाकार का नैतिक दायित्व बन जाता है कि वह अपनी रचनाओं में तमाम सकारात्मक परिणतियों का विश्लेषणात्मक ऐतिहासिक वृत्त प्रस्तुत करे जो एक बृहद् मनुष्य समाज को ही नहीं, बल्कि भविष्य को पुनर्सर्जित करने में योगदान देता हो।

यहाँ इस तथ्य को रेखांकित करना भी जरूरी है कि मॉरीशस के हिन्दी उपन्यासकारों में एक भी महिला रचनाकार नहीं। दो-चार कहानी-लेखिकाएँ यथा सुनीति अलियार, भानुमती नागदान, सत्यवती जगमोहन आदि अवश्य हैं लेकिन बचकानी भावुकता से ऊपर उठकर साहित्य जगत् को कोई ठोस रचनात्मक योगदान नहीं दे सकी हैं। स्त्रियों की स्थिति के विषय में विश्वसनीय जानकारी का अभाव कहीं इस रिक्ति का कारण तो नहीं ? बेशक यह दावा कि स्त्री ही स्त्री के अनुभूत जीवन-सत्य का प्रामाणिक चित्रण कर सकती है—निष्कर्षहीन पुरजोर बहस की शुरुआत करता है, लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि अभिमन्यु अनत की पुरुष-संवेदना वानी के जीवन में घटी उन छोटी-मोटी घटनाओं का रचनात्मक उपयोग कर नई ऊँचाइयों का संस्पर्श नहीं कर पाई जिन्हें भलीभाँति परख-जी कर तहमीना दुर्रानी ने 'कुफ्र' में पीर साईं (धार्मिक महन्तों) के यौन अतिचार को अनावृत्त करते हुए कठमुल्ला ताकतों द्वारा देश और स्त्री-समाज को लगातार पिछड़ेपन की ओर धकेलने की साजिश में मूर्तिमान किया है।

4

मॉरीशस का हिन्दी उपन्यासकार उपन्यास को जीवन का महावृत्तान्त मानता है। भारतीय रचनाकारों की देखादेखी आकारगत पृथुलता से छुटकारा पा लेने के बावजूद वह उपन्यास में जीवन के सभी आयामों को समग्रता में समेट लेना चाहता है। इस प्रक्रिया में उपन्यास की संरचना में एकाधिक कथाओं का समावेश हो जाना स्वाभाविक है। एक कथा अनिवार्य रूप से प्रेमकथा तथा दूसरी समाज की ज्वलन्त समस्याओं पर केन्द्रित। लेकिन कथा-विशृंखलता मॉरीशस के हिन्दी उपन्यास की सबसे बड़ी सीमा है। दोनों कथाओं की अन्तर्सम्बद्धता को विचार एवं संवेदना के बिन्दु पर अन्तर्सगुम्फित करने में वह स्वयं को अक्षम पाता है। रेल की पटरियों की तरह समानान्तर चलती ये कथाएँ जब स्वयं उसके लिए सिरदर्द बन जाती हैं, तब उनमें से किसी एक के महत्त्व और समस्यामूलकता को लीलकर वह दूसरी का इकहरा विकास करने लगता है जिस कारण अपरिपक्वता एवं अपूर्णता उपन्यास की कुल उपलब्धि के रूप में उभरने लगती हैं। जैसे 'तपती दोपहरी' उपन्यास में बस डिपो में कार्यरत निम्नवर्गीय शिक्षित युवक राजेन के जरिए देश में बढ़ती बेरोजगारी, मजदूरों के शोषण तथा मजदूर आन्दोलन के निरंकुश दमन जैसी बृहत्तर सामाजिक समस्याओं के चित्रण मिलते हैं, लेकिन एक के बाद एक राजेन-रजनी, उर्मिला-राजेन, सन्ध्या-गोविन्द जैसे युग्मों की रचना समस्त सामाजिक सन्दर्भों को असफल प्रेम की टीस में डुबो देती है। ठीक यही प्रवृत्ति विलोम सन्दर्भ के साथ 'चेहरों का आदमी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास में भी द्रष्टव्य है जहाँ राजशेखर-रूमा प्रणय-कथा के जरिए कला-जगत व कलाकार की मानसिक-जागतिक सच्चाइयों की मार्मिक कथा भ्रष्ट राजनीतिक तन्त्र की पोल खोलने की हड़बड़ी में राउत बनाम रामफल प्रसंग को वरीयता देने के कारण जबरन अधबीच रोक दी जाती है। हड़बड़ी जब लेखकीय सरोकारों में प्राथमिकता की अस्पष्टता से अधिक लेखकीय दृष्टि के अभाव को सूचित करने लगे तब अधिक चिन्तनीय हो जाती है जिसे आनन्द दबी के उपन्यास 'कसूर किसका' तथा दीपचन्द बिहारी के उपन्यास 'मसीहे नरक जीते हैं' में स्पष्टतया लक्षित किया जा सकता है। यहीं यह बात भी प्रखरता से उभरकर सामने आती है कि क्यों अभिमन्यु अनत की तुलना में उनका परवर्ती उपन्यासकार अपनी अलग पहचान नहीं बना पाया ? नई ऊँचाइयों को छूने के लिए जिस प्रयोगधर्मिता एवं अति सूक्ष्म विज़न की आवश्यकता होती है, उसे अपने भीतर सँजोने की बजाय ये रचनाकार अभिमन्यु अनत के अनुकरण को अपना लेखकीय मकसद बना बैठे हैं। फलतः बचकानी प्रेम-कहानियों का परिपाक और विशृंखलता के नाम पर भानुमती के कुनबे की तरह असम्बद्ध हो जाना उनके लिए लेखकीय दुर्बलता नहीं, मानक कसौटियों पर खरा उतरने की युक्तियाँ बन जाती हैं। मॉरीशस का दुर्भाग्य है कि 'लाल पसीना' जैसी सशक्त कृतियों की परम्परा की अगली कड़ी के रूप में उसे 'कसूर किसका' जैसी रचनाएँ प्राप्त हो रही हैं।

यहाँ यह कहना भी असंगत नहीं कि मॉरीशस की हिन्दी आलोचना को निर्वैयक्तिक, गम्भीर एवं दायित्वपूर्ण होना होगा। मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास अपनी मूल चेतना में लघु भारत बनने का आयोजन भर बनकर रह गया है, लेकिन इस तथ्य को नजरअन्दाज करते हुए डॉ. बीरसेन जागासिंह जैसे आलोचक जब कथा-साहित्य का हवाई सर्वेक्षण करते हुए लिखते हैं कि "अभिमन्यु अनत हों या धुरन्धर, हरेक ने अपने कथ्य में मॉरीशस की भूमि, यहाँ की जनता की सफलताएँ, समस्याएँ और उनको सहने-सुलझाने के उपाय भी मॉरीशसीय तरीकों से दिए हैं"[31] तब आश्चर्य होता है। सबसे पहले उन्हें ही अपनी निष्पत्तियों का पुनरीक्षण करना होगा कि मॉरीशस के उपन्यास में मॉरीशस का आम आदमी और जनजीवन कहाँ है ? साथ ही इस तथ्य को भी रेखांकित करना होगा कि आंचलिकता एवं देशज समस्याओं और तलस्पर्शी गहरी पड़ताल ही कृति में सार्वभौमिकता एवं सार्वकालिकता जैसे गुणों का समावेश करती है। दूसरे, साहित्य समाज का दर्पण होते हुए भी साहित्यकार की दृष्टि और व्यक्तित्व, संवेदना और विश्लेषण, मूल्य और विश्वास में सिरजी निजता के संस्पर्श के बिना जीवन्त नहीं हो पाता। इसलिए अनत-धुरन्धर का महिमामंडन करने की अपेक्षा अनछुए क्षेत्रों की ओर संकेत कर नई पीढ़ी को अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व एवं संसार गढ़ने का संस्कार देना होगा। आलोचना कृति का निरपेक्ष मूल्यांकन मात्र नहीं होती, कृति और समाज के अन्तःसम्बन्ध को प्रगाढ़ और समायोजित करने का माध्यम भी होती है। अतः उसे नई पीढ़ी को यह बताना होगा कि हिन्दी-हिन्दू विरुदावली गाने की अपेक्षा देश की ही अन्य भाषाओं-संस्कृतियों के साथ संवाद बेहद जरूरी है। अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि आनेवाले समय में मॉरीशस का हिन्दी उपन्यास अभिमन्यु अनत का उपन्यास बनकर रह जाए।

संदर्भ

1. बीरसेन जागासिंह, सैलावों के बीच, पृ. 16
2. पंकज (पत्रिका), सम्पा.—अजामिल माताबदल, सितम्बर 2002, पृ. 40
3. बीरसेन जागासिंह, सैलावों के बीच, पृ. 11
4. इन्द्रदेव भोला इन्द्रदेव, भारत से बाहर विदेशों में हिन्दी, पृ. 142
5. 'अचित्रित' उपन्यास की भूमिका में कमलकिशोर गोयनका की टिप्पणी, पृ. 9
6. बीरसेन जागासिंह, सैलावों के बीच, पृ. 12
7. इन्द्रदेव भोला इन्द्रदेव, भारत से बाहर विदेशों में हिन्दी, पृ. 141
8. बीरसेन जागासिंह, सैलावों के बीच, पृ. 12
9. अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, पृ. 58
10. "फ्रांस के राजा लुई चौदहवें को जब इतिहास की पुस्तक की जरूरत महसूस होती थी, उस समय वह आवाज देता था—'ले आओ दुनिया के सबसे बड़े झूठ को मेरे सामने।" (अभिमन्यु अनत, लाल पसीना।)
11. अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, पृ. 60
12. जितेन्द्र कुमार मित्तल, मॉरीशस : देश और निवासी, पृ. 67
13. "रघुसिंह को जब रात की बैठक के निर्णय का पता चला तो वह किसन पर बरस पड़ा, यह कहते हुए कि उसके समय में परिस्थिति इससे भी नाजुक थी। एक ही देगची में चावल पकता था और हर मजदूर के सामने कलछी भर फेंक दिया जाता था। कपड़े की जगह कई वर्ष बोरे पर दिन गुजारे गए थे। आँखों के सामने घर की औरतों की इज्जत लूट ली जाती थी।...आज जब स्थिति में काफी सुधार आ गया था, तब इस तरह का विद्रोह करना अपने भविष्य को माटी में मिलाना था। वह यह कहकर आज के नौजवानों को कोसता रहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इन गरम खूनवालों के भीतर सबूरी नाम की कोई भी चीज़ नहीं थी।'' (लाल पसीना, पृ. 94)

14. ''लाल पसीना...इसलिए भी इतिहास नहीं क्योंकि शासक, राजनेता, राज्यपाल और इस तरह की अन्य हस्तियाँ इसमें पात्र नहीं हैं...इसके पात्र वे हैं जो इतिहास की चक्की में पिसकर रह जाते हैं; पर उनका पिसा जाना इतिहास रहा है, यह इस उपन्यास का दावा है।'' (अभिमन्यु अनत, लाल पसीना)

''राजाओं का यशोगान आदि इतिहास हुआ करता है जो 'पूछो इस माटी से' किसी राजा के अनलिखे इतिहास का दावा नहीं। और फिर, यहाँ राजा नहीं हुए, यहाँ पूँजीवादी शोषक हुए। उन्हीं के शोषण के नीचे अकुलाते हुए लोगों की जीवन-गाथा का दावा यह उपन्यास है।'' (रामदेव धुरन्धर, पूछो इस माटी से)

15. ''फ्रांसीसियों को यह अधिकार नहीं कि वे मजदूरों पर शक्ति-प्रहार करें और उनके साथ अमानवीय ढंग से पेश आएँ।'' (रामदेव धुरन्धर, पूछो इस माटी से, पृ. 362)

इसके समतुल्य है वास्तविकता का तथ्यात्मक बखान जो स्थिति के अन्तर्विरोध को गहराता है कि ''यहाँ के फ्रांसीसियों को अंग्रेज़ों की कृतज्ञता स्वीकार करनी चाहिए कि कोठियों में अब भी फ्रांसीसियों का अपना राज्य कायम है। अंग्रेज इससे चिन्तित नहीं है और न ही वे कोठियों पर अपनी सत्ता कायम करना चाहते हैं। अंग्रेजों के लिए यह एक बहुत छोटा काम है। अंग्रेज केवल बड़े-बड़े काम करते हैं।'' (रामदेव धुरन्धर, पूछो इस माटी से, पृ. 339)

16. रामदेव धुरन्धर, पूछो इस माटी से, पृ. 367
17. अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, पृ. 113
18. अभिमन्यु अनत, गांधीजी बोले थे, पृ. 68
19. वही, पृ. 67
20. उल्लेखनीय है कि ''मैं बन्दूक चलाना सीखूँगा'' ('गांधीजी बोले थे', पृ. 211) कहकर गोरों के प्रति अपने नफरत का उद्घोष करता परकाश पढ़-लिखकर अहिंसात्मक आन्दोलन की शक्ति और महत्व को अपने जीवन में उतार पाता है। (पृ. 241)
21. अभिमन्यु अनत, लाल पसीना, पृ. 347
22. पंकज, सम्पा.–मातावदल अजामिल, मॉरीशस, सितम्बर 2002, पृ. 16
23. बीरसेन जागासिंह, सैलाबों के बीच, पृ. 11
24. कुर्रतुल ऐन हैदर, आग का दरिया, अपनी बात, पृ. vii
25. अभिमन्यु अनत, मार्क ट्वेन का स्वर्ग, पृ. 200
26. वही, पृ. 223
27. वही, फैसला आपका, पृ. 95
28. इन्द्रदेव भोलानाथ, भारत से बाहर विदेशों में हिन्दी, पृ. 141
29. आनन्द दवी, किसका कसूर, पृ. 122 तथा अभिमन्यु अनत, तपती दुपहरी, पृ. 120
30. अभिमन्यु अनत, शेफाली, पृ. 38
31. बीरसेन जागासिंह, सैलाबों के बीच, पृ. 13

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्री-लेखन और समय के सरोकार

हेमलता माहेश्वर

'स्त्री-लेखन और समय के सरोकार' वैचारिक दृष्टिकोण से बड़ा ही ज्वलन्त-विषय है। भारतीय सन्दर्भ में यदि हम स्त्री-लेखन के इतिहास का विहंगावलोकन करें तो इतिहास के पन्नों पर पहली पुस्तक के रूप में थेरी गाथा आती है, जिसमें गौतम बुद्ध की समकालीन भिक्षुणियों ने अपने जीवनानुभव अंकित किए हैं। इनमें से एक कविता का उल्लेख करना चाहूँगी–

स्नान शुद्धि से पाप मुक्ति होती है
यह तुझसे किसने बताया ?
यह तो अज्ञानी, मूर्ख के प्रति उपदेश हैं।
यदि जल से ही शुद्धि होती,
तब तो मेंढक, कछुए, जल के सर्प
मगर तथा अन्य जलचरों का
स्वर्ग-गमन निश्चित है।[1]

दुखद है कि आज भी इन्हीं बातों से लड़ाई जारी है।

दूसरी पुस्तक के रूप में **सीमन्तनी उपदेश** पाते हैं, जिसकी लेखिका का नाम अज्ञात है। इससे यह जाहिर होता है कि लेखिका को समाज का कितना भय रहा होगा। वे लिखती हैं– *"धर्म यह नहीं जो पुरोहित जी ने बताया, धर्म यह है–सत्य बोलना, सत्य काम करना, जाहिर वातन एकसार रखना। वह नहीं जो दुनिया को दिखाने को धार्मिक बन जाते हैं और मन में पापियों के गुरु रहते हैं।"*[2]

तीसरी पुस्तक के रूप में उल्लेखनीय है–**स्त्री-पुरुष तुलना** जिसे ताराबाई शिन्दे ने लिखा है। इसमें उन्होंने लिखा है– *"शास्त्रों का उदाहरण तो सभी देते हैं, परन्तु शास्त्रकर्ताओं ने प्राचीन काल की जिन स्त्रियों को पतिव्रता कहा है, उनमें से दो-चार तो दोष पात्र ही हैं। फिर भी उन्हें पतिव्रता का गौरव प्राप्त हुआ है। द्रोपदी पाँच पांडवों की पत्नी होते हुए भी अन्तर्मन में कर्ण का चिन्तन करती थी–क्या यह तथ्य नहीं है ? अहिल्या इन्द्र के साथ रत् होकर पत्थर बन गई। सत्यवती कुन्ती ने कौमार्यावस्था में ही वेदव्यास तथा कर्ण को जन्म दिया था। फिर भी वे सब श्रेष्ठ हैं। एक ने शरीर से दुर्गन्धी नष्ट करने के लिए ऋषि-वचन मान लिया और दूसरी ने मन्त्र का प्रभाव भी देख लिया। वाह रे देव! वाह रे ऋषि! सब एक से बढ़कर एक।"*[3] आक्रोश से भरी वाणी आर्तनाद के रूप में है और चौथी पुस्तक के रूप में **शृंखला की कड़ियाँ** छायावाद के चतुर्थ स्तम्भ के रूप में स्थापित महान कवयित्री महादेवी वर्मा की है। (यदि मान भी लिया जाए कि और भी रचनाएँ स्त्रियों द्वारा लिखी गई हैं तो

डी-9, आवास परिसर, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दिशा में शोध आवश्यक है।) आश्चर्य इस बात का है कि स्त्री की दासता या उसकी अधिकार-चेतना को लेकर पहली पुस्तक संस्कृत में नहीं बल्कि उर्दू में आई तथा दूसरी पुस्तक मराठी में। अक्सर ही इस मामले में यह कहकर पल्ला झाड़ लिया जाता है कि जब अत्याचार या अनाचार बढ़ जाता है तब ही विद्रोह पैदा होता है। मेरे विचार में यह एक कमजोर-सा तर्क है क्योंकि जब शासन सामाजिक या राजनीतिक स्तर पर सम्भव नहीं हो पाता तब सत्ता सदैव धर्म का सहारा लेती है। जब सारी व्यवस्था आस्था से संचालित होने लगती है तब तर्क का वहाँ भला क्या काम हो सकता है ? आज भी बेटा और बेटी का फर्क पुरुष की सत्ता में स्त्री के स्थान का परिचायक है। एक माँ का कन्या शिशु के जन्म पर शोक सन्तप्त-होना, इससे अधिक क्रूर और भयानक सच्चाई भला और क्या हो सकती है, जबकि वह स्वयं भी एक स्त्री ही है।

विचारणीय तथ्य यह भी है कि वैदिक काल में मैत्रेयी और गार्गी जैसी विदुषियाँ भी थीं, जिन्होंने भरी सभा में शास्त्रार्थ किया था और करने का माद्दा भी रखती थीं। वृहदारण्यक में उल्लेखित घटना के अनुसार *राजा जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य और गार्गी का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है जिसमें याज्ञवल्क्य ने गार्गी को मौन धारण करने की धमकी भी दी थी और कहा था कि यदि वह चुप नहीं हुई तो उसके सिर के टुकड़े हो जाएँगे।*[4] आसन्न संकट को भाँपकर गार्गी चुप तो हो गई, पर सवाल यह है कि क्या इन उद्भट विदुषियों ने कुछ लिखा नहीं ? क्योंकि जब किसी को कुछ भी कहने से रोक दिया जाता है तो वह अपना आक्रोश लिखकर व्यक्त करता है। *विशेष तौर पर लड़कियाँ अपनी समस्याओं को लिखकर अभिव्यक्त करने में विशेष पारंगत होती हैं।*[5] लेखन संवाद का माध्यम है। तब फिर मैत्रेयी, गार्गी जैसी स्त्रियों का लेखकीय मौन बहुतेरे प्रश्नचिह्न खड़े करता है। निःसन्देह इन स्त्रियों का अपना एक सामाजिक पक्ष था जिसके चलते दरबार में इनकी उपस्थिति थी।

वैदिक काल के बाद बौद्ध काल, फिर एक लम्बी चुप के बाद औद्योगिक काल में नारी-अधिकार और नारी-स्वातन्त्र्य को लेकर स्त्रियाँ मुखर हुई हैं। बीसवीं शताब्दी से लेकर इक्कीसवीं सदी के प्रवेश-द्वार तक यदि पूछा जाए कि स्त्रियों का सामाजिक-मानसिक विकास कितना हुआ तो उत्तर के रूप में यह कहा जा सकता है कि कुछ महिलाएँ नौकरी करने लगी हैं। इन नौकरीपेशा महिलाओं के मानसिक विकास के सम्बन्ध में यदि जानकारी ली जाए तो यह आश्चर्यजनक है कि वे रूढ़ धार्मिक मान्यताओं से आज भी नहीं उबर पाई हैं। मैं यहाँ पर एक उदाहरण देना चाहूँगी–

विश्वविद्यालय शिक्षक जैसे पद पर आसीन एक महिला प्राध्यापक ने मुझे जीन्स-पैंट में देखा। मुझे ही जब पैंट पहनने से कोई एतराज नहीं तो भला अपनी बेटियों के लिए क्योंकर होगा ? मेरी दोनों बेटियाँ भी खूब सहजता के साथ जीन्स पहनती हैं। एक दिन उन्होंने मुझे छेड़ते हुए कहा कि वे अपनी बेटी को जीन्स जैसे कपड़े नहीं पहनने देंगी क्योंकि जिस परिवार से वे सम्बन्धित हैं वह परिवार बहुत रूढ़ पारम्परिक किस्म का है। और ऐसे में वे कोई ऐसा कदम नहीं उठाएँगी जिससे उनके परिवार को कोई ठेस पहुँचे। और लड़कियों के लिए फ्रॉक, सलवार-कमीज ही उपयुक्त परिधान है।

मैं उनसे सहमत नहीं, यह जानकर उन्होंने मुझसे कारण जानना चाहा।

मैंने उनसे प्रतिप्रश्न किया कि रूढ़ पारम्परिक परिवार तो लड़कियों की शिक्षा के लिए भी सहमति प्रदान नहीं करते फिर भी आपने न केवल पढ़ाई की बल्कि नौकरी भी कर रही हैं। क्यों ? आप भी मत पढ़ाइए, अपनी बेटी को। आज यह बात सुनने में पुरानी किस्म की लगेगी।

मैंने उनसे सिर्फ दो ही बातें कहीं–

1. आई.आई.टी. जैसे संस्थान में अपनी बेटी को पढ़ाना चाहती हैं। यदि branch machenical, air croft, mining जैसी हो तो उनकी बिटिया प्रायोगिक कार्य करते हुए सलवार-सूट की चुन्नी, साड़ी का आँचल या फ्रॉक सँभालते हुए स्त्रियोचित कार्य करना चाहेगी या फिर अपने विषय में निष्णात होने के लिए इनको बन्धन ना सही, पर असुविधाजनक महसूस करेगी ?

2. दूसरी बात यह कि पश्चिम की सारी चीजें खराब नहीं हैं ठीक उसी तरह जिस तरह भारत में सारी चीजें अच्छी नहीं हैं। इसका कारण स्थान विशेष नहीं बल्कि मनुष्य है। कितना ही अच्छा क्यों न सोचें कुछ-न-कुछ तो कसर रह ही जाती है। इसी तरह से साड़ी जैसा साढ़े पाँच मीटर का परिधान भी अश्लील हो जाता है जब वह अंग नहीं ढाँक पाता। जब साड़ी की यह गति हो सकती है तब फिर सलवार-सूट और फ्रॉक की क्या बिसात ? फैशन डिजाइनर और उनके बनाए कपड़ों का प्रयोग करनेवालों की रुचि-अरुचि पर भी बहुत सारी चीजें निर्भर करती हैं। परिधान चाहे जो भी हो, सलीका उन्हें अच्छा या बुरा बनाता है। मनुष्य और उसकी मूल प्रवृत्ति भी उसके परिवेश पर हावी होने के लिए जिम्मेदार होती हैं।

अब उनकी बिटिया जीन्स पहने दिखाई देती हैं। कहने का मतलब यह है कि *उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाएँ भी पारम्परिक*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिकता के निर्वाह में स्वयं को अपराजेय ही सिद्ध करना चाहती हैं[6] क्योंकि उनका तथाकथित सभ्य समाज उन्हें इतनी ही अनुमति प्रदान करता है। और यदि जो महिलाएँ जीन्स को अपने परिधानों में स्थान देती भी हैं तो वह किसी विचारधारा के तहत नहीं बल्कि फैशन के तहत ग्रहण कर रही हैं। जीन्स के साथ खूब सारे सिन्दूर से भरी हुई माँग, दोनों हाथों में भरी चूड़ियाँ, पायल, बिछिया मतलब कि जिन परेशानियों से बचने के लिए यह पहनावा है, उसका कोई औचित्य नहीं। कहने का तात्पर्य यह कतई नहीं कि चूड़ी-पायल में कोई बुराई है, अपितु यह कि कोई भी कार्य केवल फैशन के निर्वाह के लिए ना किया जाए।

यहाँ पर मुझे यह भी कहना है कि उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में कुलीन समाज में नारी-शिक्षा किसी सामाजिक सुधार या चेतना को लेकर नहीं बल्कि अंग्रेज समाज में अपनी घुसपैठ बनाने के लिए थी। अंग्रेज समाज में स्त्रियों को घर के बाहर भी जो सम्मान प्राप्त था, उनकी सभ्यता और संस्कृति, उनके बच्चों की शिक्षा, व्यवहार से कुलीन समाज प्रभावित था। जब वह इनकी तुलना अपने बच्चों से करता, स्त्रियों से करता तो सौम्यता के स्थान पर जाहिलपना पाता। ऐसे में उसका कार्य-व्यापार बिना सामाजिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता के सुचारु रूप से संचालित नहीं हो पा रहा था। ऐसी स्थिति में यदि वह अपने घर की लड़कियों को अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करता तो अंग्रेज समाज में भाषा और पड़ोसी धर्म के चलते वह अपने अवरुद्ध विकास को अपेक्षित दिशा प्रदान कर सकता था। यहाँ पर जर्मेन ग्रीयर का कथन विशेष रूप से बहस आमन्त्रित करता है–

"उनकी (लड़की) पूरी ऊर्जा पढ़े जा रहे विषय के बारे में अपनी उत्सुकता को शान्त करने में नहीं, अनुशासन और वैसी ही बाकी माँगों पर खरा उतरने में लगकर, अर्थहीन अध्यवसाय में व्यर्थ हुई जा रही थी। यह घटना आज भी छात्राओं में, जिनका विश्वविद्यालयों के कला और मानविकी विभागों में बाहुल्य है, आम है, और इसके परिणामस्वरूप अध्यापन के पेशे पर उनका वर्चस्व है। स्पष्टतः यह प्रक्रम लगातार कम होते लाभ का है : दास भाव से भरे लोग दास भाव से भरे लोगों को पढ़ाने के लिए दास भाव उत्पन्न करते हैं और यह एक ऐसे क्षेत्र में होता है जहाँ तमाम मानवीय संज्ञाओं और क्षमताओं के माध्यम से अज्ञात पर लगातार हमला होना चाहिए, शिक्षा कोरी आज्ञाकारिता कभी नहीं रही, न हो सकती है।"[7]

आज भी समाज में महिलाओं द्वारा नौकरी करने या आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने पर भी उनके निर्णय लेने की क्षमता घरेलू क्षेत्र से बाहर लगभग नगण्य है। जहाँ तक घरेलू मामलात की बात है यानी अचार, बड़ी, पापड़ और नून, तेल, लकड़ी का सवाल है, यहाँ पर महिलाएँ अपने बजट के भीतर निर्णय ले सकती हैं। यही औरत का संसार माना जाता है। परन्तु इसके बाहर उच्च पदों पर पदस्थ महिलाओं को भी अपने पति की मंशा के अनुरूप ही निर्णय लेना पड़ता है।

मुझे याद आ रहा है कि एक महिला आई.ए.एस. की व्यथा 'इंडिया टुडे' में प्रकाशित हुई थी, जिसमें उन्होंने अपने पति द्वारा किए गए अत्याचारों को बताया था। ऐसे बहुतेरे उदाहरण हैं जहाँ स्त्रियों का अपनी कमाई पर कोई अधिकार नहीं है। कई परिवार ऐसे भी हैं जो महिलाओं को इस वजह से पढ़ाते-लिखाते हैं कि महिला-आरक्षण की वजह से नौकरी मिल जाएगी और घर आराम से चलेगा। फिर औरतों की दुनिया तो घर ही है, समय पर आएगी-जाएगी। यदि कोई पुरुष सहकर्मी किसी कार्यालयीन कार्य से भी घर आ जाए तो फिर तो शामत है। फिर इस पढ़ाई और नौकरी के दूसरे फायदे भी हैं, कहने को हो जाता है कि हम नारी-अधिकार के पैरोकार हैं, बच्चों के लिए अतिरिक्त रूप से ट्यूशन का खर्च भी नहीं उठाना पड़ता। **एक पन्थ कई काजा, हुईहै वही जो हम रचि राखा।**

स्त्री-लेखन और समय के सरोकार विषय पर बात करने के पहले अपनी सोच के अनुसार इस विमर्श को प्रस्तुत करना मुझे पहले आवश्यक लगा। थोड़ा विषयान्तर और करना चाहूँगी–बिना किसी अपनी स्वतन्त्र सोच के जब किसी भी तरह के कला जगत् से जुड़ा जाता है तब संस्कृति और सभ्यता पर प्रश्नचिन्ह लगने लगते हैं। घर-घर में मनोरंजन के नाम पर परोसे जा रहे धारावाहिकों को जब मैं भूले-भटके देख भी लेती हूँ तो मुझे कोफ्त होने लगती है। स्त्री-चरित्रों को कमीनगी की हद तक ले जाना, उन्हें विवाहेतर सम्बन्धों के लिए लालायित दिखाना, पौरुषीय काया के लिए लोलुप दिखाना, तरह-तरह का काला-पीला मेकअप दिखाना, एक-दूसरे के पतियों को छीनने के प्रयास में लगे रहना, जाने क्या-क्या दिखाया जा रहा है ? दर्शकों की सूची में महिलाएँ ही हैं जो बिना कोई विरोध दर्ज किए चुपचाप इन धारावाहिकों को देखती हुई जाने क्या प्राप्त कर रही हैं ? स्त्रियों को लेकर जितनी भी पुरानी स्थापनाएँ हैं, उनको पुनर्जीवित करने में लगे हुए हैं ये धारावाहिक। स्त्रियों को लेकर जिस तरह के अन्धविश्वास धार्मिक रूढ़ियों के बल पर गढ़े गए थे, उनका जीर्णोद्धार करते हुए ये धारावाहिक और उनके निर्माता पता नहीं किस भारतीय संस्कृति का यशोगान कर रहे हैं। स्त्री कुलटा है, पुरुषों के झगड़े का कारण है, यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मनोरंजन है, तो पता नहीं मनोरंजन को क्या कहा जाएगा ?

आज स्त्री के द्वारा उच्च पदों पर काम किए जाने के बावजूद उसे उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ सहजतापूर्वक स्वीकार नहीं किया जाता। यदि कोई स्त्री बिना किसी की सहायता लिए और बिना किसी पर निर्भर हुए अपना कार्य कर रही हो तो यह बात भी लोगों को पचती नहीं है। कई बार तो इन अफवाहों को हवा देने का कार्य स्वयं साथी स्त्री द्वारा ही किया जाता है। ये अफवाहें किसी भी तरह की हो सकती हैं, जैसे—उसकी कोई महिला दोस्त नहीं, पुरुषों से ही बात करना पसन्द करती है, तभी तो हम लोगों से बनती नहीं—महिलाओं की इस मानसिकता का कारण भी पुरुष सत्ता ही है—*"प्रायः पुरुष ज्यादा बुद्धिमान, ज्यादा साहसी, या ज्यादा सांस्कृतिक और निष्ठावान गुणोंवाली लड़की से सहम जाते हैं।"*[8] इस वजह से वे स्त्रियों में स्वतन्त्र चेतना पैदा होने के मार्ग को अवरुद्ध करने के लिए तत्पर होते हैं। इस पौरुषीय सत्ता में अपना सम्मानित स्थान सुरक्षित करने की लालसा ही स्त्री को स्त्री का दुश्मन बनाती है। यदि कोई स्त्री पुरुषों के इस कार्य में सहयोग प्रदान करती है तो पौरुषीय सत्ता में उसका स्थान सहज सम्माननीय हो जाता है। पुरुष वर्ग उसे बात करने के लायक समझता है और वह महिला पुरुष और स्त्री के बीच संवाद की कड़ी बनकर स्वयं को विशिष्ट समझने लगती है। स्त्री के द्वारा किसी दूसरी स्त्री का दुष्प्रभाव किसी भी स्त्री की रचनात्मक ऊर्जा को समाप्त करता है। शारीरिक मार से मानसिक मार सदैव घातक होती है और मानसिक मार से भी घातक भावनात्मक मार होती है।

इस संक्षिप्त से विश्लेषण को स्त्री-लेखन के सन्दर्भ में विचार करते समय ध्यान रखना अनिवार्यतः आवश्यक है। इसे ध्यान में रखकर विचार किया जाएगा तभी हम स्त्री के लेखन-संसार के साथ न्याय कर सकेंगे, ऐसी मेरी मान्यता है। हिन्दी में प्रथमतः स्मरणीय लेखिकाओं के रूप में मीराबाई, सुभद्रा कुमारी चौहान और महादेवी वर्मा का नाम आता है। मीराबाई को लेकर मैंने अपने एक लेख में लिखा ही था कि उसे कुल-कानी और लोक-लाज का त्याग कर देने के कारण विष का प्याला पीना पड़ा था। जब इतने पर भी मौत नहीं हुई तो कृष्ण मूर्ति में समा जाने का प्रचार किया गया। प्रश्न है कि क्या ऐसे कोई मूर्ति में समा सकता है, आज तक और कोई उदाहरण क्यों पेश नहीं हुआ ? दो ही वजहों से कोई ऐसे धरती में समा सकता है—या तो भूस्खलन हो या फिर कोई जिन्दा ही दफन कर दिया जाए। जहाँ सुभद्राकुमारी चौहान अपनी कविता 'झाँसी की रानी' से सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, वहीं महादेवी वर्मा 'मैं नीर भरी दुख की बदली' से। हमें भारतीय बुद्धि से अधिक भरोसा शायद विदेशी बुद्धि पर है तभी तो सैद्धान्तिक चर्चा करते हुए हम सारे तर्क विदेशी दार्शनिकों के उठाते हुए ही शायद बुद्धिजीवी कहलाते हैं। तभी तो स्त्री-विमर्श पर चर्चा करते हुए हम तमाम पाश्चात्य जगत् के दार्शनिकों का स्मरण करते हैं, महादेवी वर्मा का नहीं।

मुझे याद है कि विद्यालय और महाविद्यालय में जब कभी भी महादेवी जी को पढ़ाया जाता तो उनकी इसी कविता को बड़े रस ले-लेकर पढ़ाया जाता कि एक तो महिला, उस पर अकेली, बिचारी ने बड़े कष्ट झेले। आखिर लेखनी के माध्यम से अपने दुखों की अभिव्यक्ति की। चाहे वह 'यामा' हो या 'सान्ध्य गीत', कहानियाँ हों या संस्मरण, इन सबकी बड़ी लम्बी-चौड़ी व्याख्या की जाती थी। मुझे ऐसी एक भी क्लास याद नहीं जिसमें उनके निबन्धों को लेकर चर्चा की गई हो जबकि उनके निबन्ध इतने सशक्त हैं। स्त्री-समस्याओं को लेकर उन्होंने **शृंखला की कड़ियाँ** नामक निबन्ध संग्रह की रचना की। इसमें कुल अट्ठारह निबन्ध हैं जो स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की विशद् व्याख्या करते हैं। यहाँ स्त्री की दशा पर उनका दृष्टिकोण बड़ा सटीक जान पड़ता है—*"आज हमारी सामाजिक परिस्थिति कुछ और ही है। स्त्री न घर का अलंकार मात्र बनकर जीवित रहना चाहती है, न देवता की मूर्ति बनकर प्राण-प्रतिष्ठा चाहती है। कारण वह जान गई है कि एक का अर्थ अन्य की शोभा बढ़ाना है तथा उपयोग न रहने पर फेंक दिया जाना है तथा दूसरे का अभिप्राय दूर से उस पुजापे को देखते रहना है, जिसे उसे न देकर उसी के नाम पर लोग बाँट लेंगे।"*[9] मतलब यह कि इक्कीसवीं सदी के द्वार पर खड़ी स्त्री आज भी अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की पहचान कायम करने में कहाँ तक सफल हुई है—विचारणीय है। इतना ही नहीं, महादेवीजी मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकी हैं, अभागी स्त्री नामक संस्मरण में वे एक ऐसी स्त्री का उल्लेख करती हैं जो वेश्या-पुत्री है जिसे एक पुरुष ने सम्मानजनक ढंग से अपना लिया है किन्तु अब उस पुरुष को भी घर से निकाल दिया गया है। उसकी तबियत बहुत खराब हो गई और वह स्वाभिमानी अकेला घर जाना नहीं चाहता। स्त्री नौकरी की प्रत्याशा में महादेवीजी के समक्ष उपस्थित होती है। वे चिन्तन करती हैं—*"एक ओर यह स्त्री है जिसकी माता को माता बनने का अधिकार ही नहीं दिया गया और दूसरी ओर में हूँ जिसकी माता, नानी, परनानी, दादी, परदादी और उसकी भी पूर्वजाएँ अपने पतियों का चरणोदक ले-लेकर और*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनमें से कई जीवित ही अग्निपथ पार करके अपने लिए नहीं, मेरे लिए भी पतिव्रता का प्रमाणपत्र प्राप्त कर चुकी हैं। मैं अनेकों से पूजनीया माँ और आदरणीया बहिन का सम्बोधन पाती रहती हूँ; किन्तु इसे कौन अभागा माँ-बहिन कहकर अपवित्र बनेगा ? और वह जानना चाहती हैं, अपने अपवित्र माने जाने का कारण ? यह अपने विद्रोही पति के साथ सती ही क्यों न हो जाए; परन्तु इसके रक्त के अणु-अणु में व्याप्त मलिन संस्कार कैसे धुल सकेगा ? स्वेच्छाचार से उत्पन्न यह पवित्रता की साधना उस शूद्र की तपस्या के समान ही बेचारे समाज की वर्ण-व्यवस्था का नाश कर रही है, जिसका मस्तक काटने के लिए स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम दौड़ पड़े थे।''[10]

चूँकि स्त्री के समक्ष जीवन का सारा ताना-बाना सामाजिक और धार्मिक बन्धनों का है, अतः बहुत स्वाभाविक है कि इस स्त्री का रचना-संसार 'मैं' की भावात्मकता से बहुत दूर तक नहीं निकल पाया है। स्त्री का मैं, प्रेम के विस्तार, आस-पास की घटनाएँ, घर-परिवार से जुड़ी समस्याएँ ही बहुधा इनका लेखन-क्षेत्र है। और इस लेखन में उनकी अपनी स्पष्ट छाप नहीं दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि वे दास भाव से भरकर ही रचना-प्रक्रिया से जुड़ी हुई है। यहाँ दास भाव से तात्पर्य पुरुष मानसिकता से है। पुरुष जिन प्रश्नों से उलझे रहना चाहते हैं, उससे अलग रचना-प्रक्रिया स्त्रियों में नहीं दिखाई दे रही है। ऐसा लगता है जिस भाव या विचार-क्षेत्र में पुरुष रचनाकार रमा हुआ है, उसी में ही वे भी होड़ करना चाहती है। उदाहरण के तौर पर दलित चेतना का साहित्य जिस तरह से अपनी एक अलग पहचान लेकर उपस्थित हुआ है, उस तरह से स्त्री-लेखन के तेवर बिलकुल भी नहीं दिखाई दे रहे हैं। दलित साहित्य और प्रगतिवादी साहित्य में जिस तरह से स्पष्ट विभाजक रेखा दिखाई देखी जा सकती है, उस तरह से स्त्री-लेखन को अलग कर पाना बहुत मुश्किल है। एक संथाली कवयित्री निर्मला पुतुल नए तेवरों के साथ रचना फलक पर उभर रही हैं। उनकी एक लम्बी कविता के कुछ टुकड़े प्रस्तुत हैं–

मैं जानती हूँ कि तुम क्या सोच रहे हो मेरे बारे में
वही जो एक पुरुष एक स्त्री के बारे में सोचता है

मैं चुप हूँ तो मत समझो कि गूँगी हूँ
या कि रखा है मैंने आजीवन मौन व्रत
गहराती चुप्पी के अँधेरे में सुलग रही है भीतर
जो आक्रोश की आग, उसकी रोशनी में पढ़ रही हूँ
तुम्हारे खिलाफ अकेले लड़ने के खतरों का खेल

पर याद रखो,
तुम्हारी मानसिकता की पेचीदी गलियों से गुजरती
मैं तलाश रही हूँ तुम्हारी कमजोर नसें
ताकि ठीक समय पर, ठीक तरह से कर सकूँ हमला
और बता सकूँ सरेआम
गिरेबान पकड़ के कि मैं वो नहीं हूँ जो तुम समझते हो

अधिकार और चेतना को लेकर इन स्त्री रचनाकारों ने अपनी कोई विशिष्ट पहचान कायम नहीं की, कहीं से भी क्रूर सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह की ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। जो रचनाएँ हैं, वे बहुधा या तो कोमल आस्वाद कराती हैं या फिर बहुत बेचारगी का भाव उत्पन्न कराती हैं।

आज महिला रचनाकारों में कहानी, उपन्यास तथा कविता ये तीन विधाएँ ही प्रमुखतः ही स्वीकृत हैं। आलोचनात्मक क्षेत्र में उँगलियों पर गिने जानेवाले नाम आते हैं–एक तो निर्मला जैन और दूसरा नाम रोहिणी अग्रवाल का है।

अनुवाद पर भी आज गम्भीर कार्य हो रहे हैं। 'द सैकेंड सेक्स' का हिन्दी अनुवाद प्रभा खेतान ने किया और सीमोन द बोउवार : स्त्री विमर्श के लिए हिन्दी जगत् में जाना-पहचाना नाम हो गया। सुधा अरोड़ा, कात्यायनी जैसे रचनाकार विश्व की श्रेष्ठ रचनाओं को हिन्दी जनमानस के समक्ष लाकर बड़ा काम कर रही हैं, इससे आगे चलकर लाभ ही होगा। साथ ही, यह भी आवश्यक है कि हिन्दी का श्रेष्ठ भी बाहर जाए। यह आदान-प्रदान वैचारिक तथा भावात्मक बन्धन को स्वस्थ बनाए रखने में सहायक सिद्ध होगा।

हिन्दी जगत् में स्त्री रचनाकारों की कथाकार और कवयित्री के रूप में बहुत लम्बी सूची है। सबका उल्लेख कर पाना कुछ कठिन होगा, फिर भी कृष्णा सोबती, चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, मेहरुन्निसा परवेज, मैत्रेयी पुष्पा, जया जादवानी, अनामिका, लवलीन, मंजुल भगत, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, रमणिका गुप्त और अभी तेजी से सफर तय करती हुई नीलाक्षी सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें मैत्रेयी पुष्पा के नाम **अल्मा कबूतरी** दर्ज है जो सामाजिक चेतना से सम्पृक्त होती हुई दिखाई देती है। राजनीति महिलाओं के लिए सर्वाधिक उदासीन क्षेत्र है क्योंकि *''हमारी सरकार सबसे पहले व्यक्तिगत सत्ता का शासन है, जो नागरिकों को जहाँ तक सम्भव हो, गैर-राजनीतिक बनाना चाहती है ताकि उनका कोई विरोधी न हो। काम से राजनीतिक*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझ बढ़ती है। अगर स्त्रियाँ काम नहीं करतीं तो समाज में पूरी तरह से एक गैर-राजनीतिक क्षेत्र बनेगा और जब स्त्रियाँ राजनीति में कम रुचि लेती हैं, पुरुष भी कम मात्रा में राजनीतिक कदम उठाते हैं।"[11] और राजनीति पर निःसन्देह वर्चस्व पुरुषों का है। ऐसे में अपनी महिला पात्र को राजनीतिक तौर पर सशक्त बनाना समय के साथ चलना है।

लगभग सारी बड़ी पत्रिकाओं में प्रकाशित होनेवाली जया जादवानी अपनी कविता तथा कहानियों को लेकर सशक्त हैं। किन्तु उनका उपन्यास **तत्वमसि** समय से परे दिखाई पड़ता है। मानसी दार्शनिकता के स्तर पर बहुत ऊँची उड़ान भरती है। वह स्वयं की तलाश में दार्शनिक विवेचन की कठिन प्रक्रिया में लगी हुई अन्त में एक होटल के कमरे में अपने पूरे संसार को पा लेती है। उसकी यह शान्ति लोगों को आध्यात्मिक रूप से शान्ति पाने के लिए आकर्षित भी करती है। और फिर वह काफी कुछ देवी की मुद्रा में अवस्थित हो जाती है। अब यहाँ कथा का क्या सामाजिक सरोकार है, या फिर किस समय से लड़ाई है, कहना कठिन है। गौतम बुद्ध ने कुल दस सवालों का उत्तर नहीं दिया था, क्यों नहीं दिया, ये तो वही बेहतर बता सकते थे; मैं यह सोचती हूँ कि जीवनयापन के संघर्ष में उन्हें इन प्रश्नों का कोई औचित्य समझ नहीं आया होगा। मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, इस सृष्टि का निर्माण किसने किया होगा, जन्म से पहले और मृत्यु के बाद क्या होगा ? इन प्रश्नों पर वही विचार करेगा जिसके पास भरपूर खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, रहने-सोने के लिए हो। उसे मनुष्य और जानवर के पेट भरने में कोई अन्तर नजर नहीं आता, इन सवालों से जूझना ज्यादा बड़ा काम है– *"सत्य की तुलना में सत्य की तलाश ज्यादा अहमियत रखती है।"*[12]

जया जादवानी की कुछ कविताएँ स्त्री-चेतना के मद्देनजर बड़ी ही सशक्त रचनाएँ हैं–

पढ़ते हैं खुद
खुद नतीजे बनाते हैं
मेरी दिवारों पर
क्या कुछ लिख गए लोग।

या फिर–

वह पलटती है
रोटी तवे पर
और बदल जाती है
पूरी की पूरी दुनिया
खड़ी रहती है
वहीं की वहीं
स्त्री
तमाम रोटी सिंक जाने के बाद भी

कुछ ना कुछ छूट जाता है नामक लघु उपन्यास में स्त्री-चेतना को लेकर बहुत कुछ कर गुजरने की गुंजाइश थी। इसमें एक स्त्री का पति स्वयं ही यह सोच लेता है कि वह अपनी पत्नी के योग्य नहीं रहा। वह सारी स्थिति का खुलासा करते हुए उसके पुनर्विवाह के लिए विज्ञापन देता है। उसकी पत्नी फिर दूसरा विवाह भी कर लेती है। हालाँकि अपने तीनों पात्रों को वे असमंजस में ही दिखाती हैं, फिर भी स्त्री-चेतना की गुंजाइश बनी हुई है।

मृदुला गर्ग और अलका सरावगी के उपन्यास क्रमशः **अनित्य** और **कलिकथा : व्हाया बायपास** दोनों ही में गांधीजी और गांधीवाद के राजनीतिक और बहुत थोड़ी-सी सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा है। **अनित्य** में तो लेखिका ने किसान आन्दोलन के दौरान गांधीजी की भूमिका पर ही प्रश्नचिन्ह लगाया है ? गांधीजी के भाषण का सन्दर्भ देते हुए उन्होंने भगत सिंह को अंग्रेजों द्वारा आतंकवादी करार देने में सहायक बताया– *"भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव का जिक्र तक करना गांधीजी ने जरूरी नहीं समझा। इतनी बड़ी-बड़ी सिद्धान्त की बातें और वक्त आने पर अपना संगठन सब कुछ हो गया। कांग्रेस के सत्याग्रही जेलों से छोड़ दिए जाएँ, बस सविनय-अवज्ञा-आन्दोलन वापिस ले लिया जाएगा। उन लोगों से कोई सरोकार नहीं जो स्वतन्त्रता के लिए अपनी जान की बाजी लगा चुके हैं।"*[13] किसान आन्दोलन से किसको किस तरह का लाभ हुआ...इस पर भी व्यापक टिप्पणी है। तमाम ऐतिहासिक साक्ष्य के माध्यम से उन्होंने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के घटनाक्रम पर प्रकाश डाला है, जो वैचारिक तथा भावात्मक उत्तेजना पैदा करता है।

कलिकथा : व्हाया बायपास तीन मित्रों की कहानी है जो बड़े होकर फिर आपस में मिलते हैं। इस उपन्यास का ताना-बाना भी गांधीजी तथा उनकी विचारधारा के संघर्ष को लेकर बुना गया है। **हमारा शहर उस बरस** गीतांजलिश्री का ऐसा उपन्यास है जिसमें साम्प्रदायिकता और उसके प्रभाव को वैचारिक और भावात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया है। नीलाक्षी सिंह की एक कहानी में साम्प्रदायिक दंगे के भय से उत्पन्न स्थिति का मार्मिक वर्णन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गेट समझौते के तहत विश्व में उन्मुक्त व्यापार आरम्भ तो हो गया, पर यह उन्मुक्त व्यापार किसे लाभ प्रदान कर रहा है ?–विचार करना होगा। कॉस्मेटिक्स के उत्पादन तथा इससे सम्बन्धित विज्ञापन सबसे अधिक दिखाई देते हैं, इनका सामाजिक सरोकार भला क्या है ?–जिसके लिए अनुबन्ध करती विश्वसुन्दरियाँ देह की दुनिया में ही निवास करने का सन्देश देती फिरती हैं। इसके पीछे छिपा षड्यन्त्र वे जानती हैं या फिर जानना नहीं चाहतीं, या पैसों की दुनिया के खेल में सहभागी रहना चाहती हैं। *"सुन्दरता स्त्री का राजदंड है, बचपन से ही यह सीखते हुए मानस खुद को शरीर के अनुरूप ढाल लेता है और अपने सुनहरे पिंजड़े में घूमता सिर्फ अपने कारागार को सजाना चाहता है।"*[14] स्त्री को देह-शृंगार में व्यस्त रखकर पुरुष स्वयं के मनचीते कार्य करने के अवसर प्राप्त करते हैं। स्त्री को तमाम दुनिया से मुक्त रखकर देह की दुनिया में कैद कर दिया जाना ही उसका राजदंड है।

भूमंडलीकरण, उदारवाद, उन्मुक्त व्यापार तथा इससे सम्बन्धित तमाम नीतियाँ जो समाज के मध्य वर्ग को ललचाई गिद्ध दृष्टि से देख रहा है, के प्रति जागरूक होना, जागरूक किया जाना बाकी है। अमेरिका के एकमात्र महाशक्ति बनकर उभरने, उसके प्रजातन्त्र के नाम पर अपनाए गए तानाशाही स्वरूप पर लिखा जाना बाकी है, बाजार के उदारवाद का अपने पक्ष में दोहन कर भारत को सुदृढ़ बनाए जाने की दिशा पर लेखकीय निर्देश दिया जाना बाकी है। मैं और मेरी प्रवृत्तियों पर काफी लिखा गया है और लिखा भी जा रहा है, यह आवश्यक भी है बावजूद इसके एक बहुत विशाल फलक है; जो अनछुआ है और सार्थक होने हेतु प्रतीक्षित है, क्योंकि– *"कला को समर्पित साहित्य की भरमार रही है, जबकि लेखक को पाठक के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझनी चाहिए। उसने (सीमोन द बोउवार) एक सक्रिय राजनीतिक और नैतिक ताकत के रूप में साहित्य की भूमिका पर जोर दिया था। उसे सामाजिक समूह से जुड़ना बहुत जरूरी लगता था, जो आनेवाले भविष्य का निर्माता था।...लेखक एक तर्कसंगत उम्मीद और एक सही पथ-प्रदर्शन की नींव रख सकता है।"*[15] अब समय आ गया है कि स्त्री-लेखन अपनी चुनौतियों को पहचानना सीख ले। यदि मैं और मेरी दुनिया पर भी बात करना है, तो अपने अनुसार करें। साथ ही, अपने पथ-प्रदर्शक की भूमिका अंगीकार करें, क्योंकि अपने अस्तित्व की पहचान अपनी विशिष्टता के साथ ही दर्ज की जा सकती है। फिर नारी-शक्ति से सारी दुनिया का परिचय है। जो नारी अपने परिवार के हितार्थ अपना सर्वस्व होम कर सकती है, वह जब किसी संकल्प यात्रा पर चल पड़ती है, सफलता हासिल करके ही दम लेती है। भारत का स्वतन्त्रता संग्राम उसकी इस भूमिका का साक्षी है। उसे स्वचेतना के लिए इसी भूमिका की पुनः आवश्यकता है।

संदर्भ

1. विमल कीर्ति : थेरी गाथा, पृ. 21
2. स्त्री, परम्परा और आधुनिकता, सं.–राजकिशोर
3. ताराबाई शिन्दे : स्त्री-पुरुष तुलना, पृ. 19-20
4. वृहदारण्यक
5. जर्मेन ग्रीयर : विद्रोही स्त्री, पृ. 82
6. वही, पृ. 65
7. वही, पृ. 65
8. सीमोन द बोउवार : स्त्री उपेक्षिता, पृ. 139
9. महादेवी वर्मा : शृंखला की कड़ियाँ, पृ. 112
10. महादेवी वर्मा : अतीत के चलचित्र, पृ. 72
11. क्लोद फ्रांसिस और फेनार्द गोंतिए : सीमोन द बोउवार : स्वतन्त्रता की राह पर, पृ. 377
12. वही, पृ. 86
13. मृदुला गर्ग : अनित्य, पृ. 68
14. मेरी वौलस्टनक्राफ्ट : ए विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वीमेन, पृ. 90
15. क्लोद फ्रांसिस और फेनार्द गोंतिए : सीमोन द बोउवार : स्वतन्त्रता की राह पर, पृ. 259-60

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी आलोचना काल-वस्तु या इतिहास-वस्तु

रमेश दवे

हिन्दी की साहित्यिक आलोचना का समय अब एक प्रकार से इतिहास-वस्तु हो गया है। आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष पर गम्भीर चिन्तन की कमी है। हिन्दी के भाषाविद, समालोचक, शैली वैज्ञानिक भी भाषिक एवं साहित्यिक आलोचना उस प्रकार से नहीं कर रहे हैं जैसी पश्चिम में हो रही है। यदि वहाँ आलोचना में तरह-तरह के कला-आन्दोलनों ने सार्थक हस्तक्षेप किया, काव्य के पारम्परिक प्रकारों को नकारा और अपने पूर्ववर्तियों की स्थापनाओं, मान्यताओं को खंडित किया तो यह क्रम भी कला-आन्दोलनों तक ही सीमित नहीं रहा। मलार्मे, पॉल वेलेरी, रिल्के, येट्स अगर एक खास प्रकार की प्रतीक और बिम्ब प्रधान कविता के कलात्मक मूल्यों की समालोचना कर रहे थे तो टी.एस. इलियट और एज़रा पाउंड परम्परा, वैयक्तिकता, भिन्नता और समय या समयातीतता को आधार बनाकर आलोचना का नया विमर्श रच रहे थे। इसी बीच प्रतिबद्ध शिविर में कला-मूल्यों की नए ढंग से परख शुरू हुई। मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र रचा गया। मार्क्सवादी कला-मूल्य उस भौतिक द्वन्द्व में से खोजे गए जो किसी भी कला की सन्तान न होकर अर्थशास्त्र की सामाजिकता से पैदा हुए थे और आलोचना के तमाम उपकरण मनुष्य, उसके भौतिक यथार्थ, उसके संघर्ष और द्वन्द्व के ऐसे संकेतों से जोड़ दिए गए थे, जिनमें संवेदन की बेचैनी और शब्दों का शोरगुल तो था, लेकिन संवेदन का विन्यास ठीक प्रकार से नहीं हो पाया था। अलेक्ज़ेंडर ब्लोक, मायकोवस्की, वोजनेसेंस्की जैसे कवियों ने कलात्मक काव्य-कर्म किया भी तो वामपन्थी आलोचना ने उसे पश्चिमी काव्य-अध्यात्म कहकर उपेक्षित कर दिया। कविता के कलात्मक विन्यास या शिल्प को पूँजीवादी और सम्भ्रान्त समाज की शब्द-अय्याशी करार देकर वामपन्थी आलोचना ने कलावाद का लगभग तिरस्कार और बहिष्कार दोनों ही एक साथ कर दिया। ल्यूकाच, स्पेंडर और लीविस जैसे आलोचक और सर्जक भी इस यथार्थवादी राजनीतिक जुनून के शिकार हो गए और वामपन्थी आलोचना के सारे उपकरण समाजशास्त्रीय उपकरण बनकर रह गए। इसलिए आलोचना का एक शिविर कालबद्ध हो गया जिसने पूर्ववर्ती आलोचना को इतिहास-वस्तु बनाकर आलोचना के भविष्य को कमजोर कर दिया।

पश्चिम में वामपन्थी आन्दोलन एक समान्तर कला-आन्दोलन की भूमिका तो ठीक से नहीं बना सका लेकिन प्रतिबद्धता की प्रतिज्ञा से बँधकर उन्होंने जिस कवि, कथाकार, नाटककार को बड़ा कहा, वह बड़ा हो गया और उसे बड़ा साबित करने के लिए आलोचनात्मक उपकरणों के बजाय उन्होंने प्रचार-प्रसार के उन सब

276-एल, कोटरा, सुल्तानाबाद, भोपाल-462003 (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपकरणों का उपयोग किया जो उन्हें औद्योगिक क्रान्ति और विज्ञापनवादी बाजारवाद से ही हासिल हुए थे। औद्योगिक क्रान्ति से प्राचीन सामन्तवाद का रूपान्तरण पूँजीवाद में हुआ था और पूँजीपति, उद्योगपति मालिक एवं मजदूर-कामगार सम्बन्धों का एक नया समाजशास्त्र जन्मा था। संघर्ष, शोषण, वर्गभेद, गरीबी, अमीरी, पूँजीवाद, जनवाद, साम्यवाद, वामवाद या पन्थ एवं सर्वहारा जैसे ढेरों शब्द साहित्य और उसकी आलोचना में उतर आए थे। प्रारम्भ में तो टॉल्स्टाय जैसे कथाकार को भी वामपन्थी आन्दोलन ने प्रतिक्रियावादी, सामन्ती कहकर तब तक निष्कासित कर रखा था जब तक लेनिन ने उन्हें महान रूसी लेखक नहीं कहा। इसका मतलब तो यह हुआ कि वामपन्थी आलोचना की समूची आलोचनात्मक चेतना राजनीतिक-विचार, व्यक्ति और व्यवहार के अधीन थी, उसका अपना स्वतन्त्र और स्वायत्त चिन्तन-गामी कोई अस्तित्व नहीं था। यही वजह है कि रूस में सुखोरोव, पेस्तरनांक, सोल्ज़ेनित्शिन जैसे वैज्ञानिक और कथाकार तिरस्कृत हो गए या उन्हें देश-निकाला दे दिया गया। यह बात अलग है कि गोगोल, दोस्त्येवस्की, तुर्गनेव, पुश्किन, गोर्की आदि की महानता स्थापित करने में वामपन्थी विचार का सक्रिय और सार्थक योगदान था, लेकिन ये सर्जक ही इतने बड़े थे कि इन्हें नकारकर वामपन्थी साहित्य का पूरा धरातल बंजर नज़र आता और वामपन्थ के साहित्य के पास ऐसा कोई बड़ा सर्जक ही नहीं होता, जो पश्चिमी योरप के किसी शेक्सपीयर, सर्वेंटीज़, स्विफ्ट, दाँते, वर्जिल आदि से मुकाबला कर सकता। पोलेंड के इसाक सिंगर अमेरिकी बनकर महान कथाकार हो सके, मिलान कुन्देरा को चेक गणराज्य या तत्कालीन चेकोस्लोवाकिया छोड़कर फ्रांस में अपना सर्जन करना पड़ा और चीन जैसे किलाबद्ध देश में माओत्से तुंग जब तक ज़िन्दा रहे, तब तक स्वयं उनके अलावा किसी बड़े कवि का नाम सुनाई नहीं दिया। लातीनी अमेरिका में मार्क्वेज वामपन्थी होकर भी बड़ा सर्जक बना, पेब्लो नेरूदा को भी कुछ संकोच के साथ पश्चिम ने बड़ा कवि मान लिया, आक्टेवियो पाज़, कार्लोस फुएंटस आदि सर्जक एकदम किसी लेबल के साथ देखे नहीं जा सकते और बोर्खेज एक ऐसा सर्जक था जिसने सांस्कृतिक बौद्धिकता के अनेक आयामों का अतिक्रमण कर कथा में लातीनी आख्यान का एक ऐसा रूप रच दिया था जिसे यूरोप का आधुनिक कथा साहित्य लाँघ नहीं सका। पश्चिम में इस तमाम साहित्य के साथ आलोचना की समान्तर परम्परा जारी रही। आलोचना में समय, अवकाश के साथ भाषा के स्तर पर उत्तरआधुनिकों ने गहरा विमर्श किया। पाठ के प्रति नई दृष्टि उपजी और आलोचना के अनेक प्रचलित मूल्य बदले। यहाँ तक कि जो लोग नाटक पुराने तरीके से लिख रहे थे उनका धरातल बदलकर जब सेम्युअल बेकेट नए प्रयोगों के साथ आया तो नाटक की आलोचना का भी एक नया शास्त्र आकार लेने लगा। अब प्रश्न यह है कि क्या ऐसा कुछ हिन्दी आलोचना में भी घटा या पश्चिम के विचार की छाया में जीते-जीते भारतीय आलोचना का मानस भी पश्चिमी सिंड्रोम का शिकार हो गया ?

हिन्दी आलोचना की अगर कोई औपचारिक, अध्ययनपरक और गम्भीर छवि बनी तो उसकी नींव में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मेधा थी। उन्होंने आय.ए. रिचर्ड्स के अनेक आलोचना-सिद्धान्तों को और पश्चिमी आलोचना के अनेक मानकों को हिन्दी आलोचना के लिए उपयुक्त और प्रासंगिक तो माना, लेकिन साथ ही भारतीय काव्यशास्त्र के गहन अध्ययन, अन्वेषण से आलोचना की भारतीयता भी रची। यदि एक ओर क्रोचे, कांट, शॉपनहॉवर, फ्रायड आदि दार्शनिकों और मनोविश्लेषकों का अध्ययन कर पश्चिम की दर्शक-भूमि को उन्होंने खंगाला, तो दूसरी ओर वेद, उपनिषद, पुराण, इतिहास, काव्य आदि के व्यापक अध्ययन से उन्होंने अपनी भारतीय मनीषा का भी संस्कार किया। यही कारण है कि जायसी, सूर और तुलसी की आलोचना में उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र और वाङ्मय की शास्त्रीयता को अपना आधार बनाया, वहीं कामायनी, छायावाद या रोमेंटिसिज़्म के काव्य-सर्जन को लेकर उनके पश्चिमी अध्ययन ने सारगर्भित भूमिका निभाई।

हिन्दी के अनेक आलोचकों ने जहाँ रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दी आलोचना का पितृ-पुरुष माना वहीं विचारधारागत आग्रहों ने उनके मुकाबले पश्चिमी वामपन्थी आलोचक ल्यूकाच, लीविस और स्पेंडर को अधिक महत्त्व दिया। इस प्रकार के विभाजन के कारण बाबू श्यामसुन्दर दास और अन्य निबन्धकारों में बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और गुलाब राय जैसे दिग्गजों के काम का भी हिन्दी आलोचना में ठीक से मूल्यांकन नहीं हो सका। इसी प्रकार नाटक की आलोचना को लेकर भी कहा जा सकता है। जहाँ भारतेन्दु, प्रसाद और पश्चिम के अनूदित नाटकों की खूब चर्चा हुई, आलोचनात्मक लेखन भी उन पर हुआ और शेक्सपीयर, शॉ, इब्सन आदि के नाटकों को हिन्दी नाटकों में भी मॉडल मान लिया गया, वहीं रामकुमार वर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, लक्ष्मीनारायण लाल आदि के प्रति आलोचनात्मक विवेक जाग्रत नहीं हो पाया और हिन्दी आलोचना काव्य-प्रधान ही बनी रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाँ तक कथा-साहित्य का प्रश्न है, कथा-आलोचना लिखी तो खूब गई लेकिन कथा-आलोचना में खेमेबन्दी कुछ जरूरत से ज्यादा ही देखी गई। कथा को समय में विभाजित कर दशकों की सीमा में कैद कर दिया गया। 'उसने कहा था' के पहले की कहानियाँ, 'परीक्षा गुरु' जैसे प्रथम हिन्दी उपन्यास और इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' को ऐतिहासिक महत्त्व तो दिया गया, लेकिन कथा-तत्वों के आधार पर या हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियों के शिल्पगत विन्यास, भाषा शैली और कथानकों की सार्थकता-निरर्थकता को लेकर कोई बड़ा आलोचनात्मक विमर्श नहीं हुआ। इस प्रकार हिन्दी ने प्रेमचन्द के पूर्व जो कथा-समय रचा था, उसका कोई आलोचना-समय नहीं बना। इतना अवश्य हुआ कि देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी उपन्यासों को लेकर चौधरी प्रेमघन, मिश्रबन्धु और स्वयं देवकीनन्दन खत्री के बीच लिखित नोंक-झोंक हुई और चौधरी प्रेमघन ने खत्रीजी के उपन्यासों पर जो नकारात्मक टिप्पणियाँ की थीं उनका जवाब खत्रीजी ने एक लम्बे खत के ज़रिए दिया जिसे हिन्दी कथा-आलोचना का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज माना गया।

प्रेमचन्द के साथ हिन्दी का कथा-युग प्रारम्भ हुआ। प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आए मगर दोनों भाषाओं को कथा-साहित्य का जो अवदान प्रेमचन्द ने दिया, वह सम्भवतया न कृष्णचन्दर, मंटो, कर्तारसिंह दुग्गल, भीष्म साहनी दे सके न खालिस उर्दू में लिखनेवाले कुर्रतुल-एन-हैदर, इस्मत चुगताई आदि दे सके। इतना ज़रूर है कि राही मासूम रज़ा और असगर वजाहत ने कुछ हद तक सीमाएँ तोड़ीं मगर ये दोनों ही हिन्दी कथाकार के रूप में ही जाने-पहचाने गए। सम्भवतया प्रेमचन्द पर जितनी समालोचना की गई, हिन्दी साहित्य में किसी अन्य कथाकार या गद्यकार पर उतनी नहीं हुई होगी। यहाँ तक कि प्रेमचन्द के समकालीन व प्रेमचन्द की धारा से पृथक् जैनेन्द्र पर उतना काम नहीं हुआ। इस बीच यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सुभद्रा कुमारी चौहान, रेणु, महादेवी, प्रसाद, निराला, अमृतलाल नागर, इलाचन्द्र जोशी आदि अनेक कथाकार आए और जिनका कथा-साहित्य व्यापक रूप से पढ़ा गया, लेकिन कथा-साहित्य ने अपनी उत्कृष्टता के नए चिह्न रचे तभी जब 'नई कहानी' का प्रादुर्भाव हुआ। नई कहानी में या उसके थोड़े पूर्व वीरेन्द्र कुमार जैन, अज्ञेय, धर्मवीर भारती, ने कथा-साहित्य में शिल्प, कथानक और भाषा के स्तर पर उत्कृष्ट कथा-रचनाएँ तो कीं मगर मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, कृष्ण बलदेव वैद ने कथा के रूप और शिल्प में जो प्रयोग किए उससे छठे दशक और साठोत्तर दशक की कथाओं में अद्भुत परिवर्तन आया। एक ओर अज्ञेय के शिल्प का प्रभाव था तो दूसरी ओर मुक्तिबोध का संवेदन। जिस प्रकार कविता के क्षेत्र में प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी को लेकर काम हुआ या आगे चलकर मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन को लेकर जो विमर्श हुआ, उसके बरअक्स अज्ञेय, नरेश मेहता, धर्मवीर भारती पर भी हुआ लेकिन तीन सप्तकों के अनेक कवियों पर हिन्दी आलोचना ने विशेष गौर ही नहीं किया—जैसे नेमिचन्द जैन, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, मदन वात्स्यायन, शकुंत माथुर, कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह आदि। रघुवीर सहाय, हरिनारायण व्यास और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना को भी सीमित रूप से ही हिन्दी आलोचना ने परखा। सप्तक परम्परा से बाहर जो थे, उनमें से श्रीकान्त वर्मा सर्वाधिक चर्चित हुए लेकिन विपिन अग्रवाल, अशोक वाजपेयी, ज्ञानेन्द्रपति, विनोदकुमार शुक्ल, रमेशचन्द्र शाह, आदि पर विशेष काम नहीं हुआ। चौथे सप्तक के कवि तो हमारे समकाल में चर्चा तक से बाहर हैं। ऐसा लगने लगा है जैसे अब आलोचना, विवेचन, विमर्श सब कुछ प्रायोजित होने लगे हैं।

कथा-साहित्य में भी लगभग यही हाल रहा। निर्मल वर्मा, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद सर्वाधिक मान्य कथाकार रहे, मगर उन पर उत्कृष्ट आलोचनात्मक काम यदि कोई हुआ तो वह है मदन सोनी की पुस्तक *'कथा पुरुष'*। कृष्ण बलदेव वैद को तो हिन्दी के अनेक जड़ नैतिकतावादियों ने कथाकार की पहचान देने से ही इंकार कर दिया और उन पर पहली कृति आधारित आलोचनात्मक विवेचन की पुस्तक मेरी अपनी है—*'कृष्ण बलदेव वैद : गल्प का विकल्प'*। यद्यपि नई कहानी में खेमेबाजी और प्रतिबद्धता का शोर तो खूब मचा, मगर इन सबने मिलकर क्या मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी, विनोद कुमार शुक्ल, कमलेश्वर, दूधनाथ सिंह, शेखर जोशी, शैलेश मटियानी, काशीनाथ सिंह, अमरकान्त, प्रियंवद, ज्ञानरंजन, मन्नू भंडारी आदि पर उतना काम किया, जितना हिन्दी आलोचना में कवियों पर हुआ ? कृष्णा सोबती, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, मैत्रेयी पुष्पा जैसी कथाकारों पर कुछ-न-कुछ छुटपुट रूप से लिखा गया मगर नासिरा शर्मा, ज्योत्स्ना मिलन, चन्द्रकान्ता, सुनीता जैन आदि कथाकारों का तो कोई खास नोटिस लिया ही नहीं गया। गोविन्द मिश्र, गिरिराज किशोर, रमेशचन्द्र शाह, उदयप्रकाश जैसे कथाकारों को लेकर तो उतना विमर्श भी नहीं हुआ जितना कविता के क्षेत्र में अरुण कमल, मंगलेश डबराल, विष्णु खरे, विष्णु नागर और अशोक वाजपेयी को लेकर हुआ और अब जबकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग-अलग पहचान के कई मंच हो गए हैं, तो लोकार्पणों के साथ कहानी, कविता की किताबों पर समीक्षा का भी प्रायोजित आयोजन होता है। इस कारण अनेक जायज़ कवि या कथाकार तो छूट जाते हैं और प्रायोजन-पारंगत लोग किसी बड़े आलोचक या सर्जक के ज़रिए अपने बड़े कवि या कथाकार बनने की सम्भावना का प्रमाण-पत्र हासिल कर लेते हैं।

सच पूछा जाए तो यह हिन्दी आलोचना का एक प्रकार से शून्यकाल है। अब आलोचना अपना वृहत स्वरूप खोकर केवल पुस्तक-समीक्षा के रूप में सिमिट गई है और वह भी आकार-प्रकार की सीमाओं में पत्रिकाओं-अखबारों के सम्पादकों द्वारा तय की गई पृष्ठ संख्या या पैरेग्राफों में लिखी जाती है। इस कारण विषद् आलोचनात्मक विवेचन लगभग समाप्त होने लगा है। कृति-आधारित आलोचना का यह शून्य अब लेखक की अपनी कुशलता और प्रयोजन-क्षमता में केन्द्रित हो गया है। अब कथाकारों व कवियों को भी पढ़ने के बजाय लोकार्पण समारोहों या पुस्तक-चर्चा के आयोजनों या पत्रिकाई समीक्षाओं के ज़रिए उन्हें जाना जाता है। पाठक-मंचों पर जिन कवि, कथाकारों की रचनाएँ भेजी जाती हैं, उनको उनके गुण-दोष के बजाय परिचय, प्रतिबद्धता या प्रभाव के कारण भेजा जाता है। यद्यपि कुछ नए कथाकार, कवि अच्छा लिख रहे हैं और युवा कवियों में निरंजन श्रोत्रिय, कुमार अम्बुज, लीलाधर मंडलोई, आशुतोष दुबे, पवन करण, एकान्त श्रीवास्तव, अनामिका गीतांजलि आदि को हिन्दी कविता में कुछ पहचान मिली है लेकिन हिन्दी की समकालीन आलोचना इतनी मुखर और प्रखर नहीं दिखाई देती कि इन कवियों का ठीक से मूल्यांकन कर उनमें भविष्य की सम्भावनाओं को देखा-परखा जा सके। आलोकधन्वा, राजेश जोशी, चन्द्रकान्त देवताले, विष्णु खरे, अक्षय उपाध्याय, उदय प्रकाश, यदि किसी विशेष आयोजन में चर्चित हुए भी तो उन पर ऐसा अभी तक नहीं लिखा गया जिसे आलोचनात्मक विवेचन कहा जा सके। यही हाल नन्दकिशोर आचार्य, प्रयाग शुक्ल, लीलाधर जगूड़ी, रमेशचन्द्र शाह, ज्योत्स्ना मिलन, तेजी ग्रोवर, गगन गिल जैसे कवियों का भी रहा। एक बात और यह भी हुई कि समकाल की आलोचना में वह कवि, कथाकार, नाटककार, निबन्धकार या आलोचक बड़ा कहलाया जो किसी मंच के सर्वाधिक प्रतिष्ठा पुरुष द्वारा प्रशंसित हो। अगर नामवर सिंह अलका सरावगी को एक उत्कृष्ट कथाकार कह देते हैं, तो सारे स्वर नामवर सिंह के साथ मिल जाते हैं। यह एक प्रकार की इम्प्रेशनिस्टिक या प्रभाववादी प्रवृत्ति है। आलोचना की जो पुष्ट परम्परा नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद और प्रसाद को लेकर रची थी, उसे वामपन्थी होकर भी डा. रामविलास शर्मा ने अधिक प्रगाढ़, विमर्शात्मक और वैचारिक बनाया। हजारीप्रसाद जी का कथाकार तो सबसे अलग और श्रेष्ठता के अनेक सीमान्तों का अतिक्रमण करता है लेकिन उनके उपन्यासों को लेकर ऐसी कोई बड़ी आलोचना नहीं लिखी गई जैसी रामविलासजी ने निराला पर लिखी या मार्क्सवाद के साथ साहित्य और इतिहास को लेकर लिखी या विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने मध्यकालीन काव्य पर लिखी। डा. मैनेजर पांडेय, डा. विश्वनाथप्रसाद त्रिपाठी, पुरुषोत्तम अग्रवाल व विजयमोहन सिंह, नवल किशोर, परमानन्द श्रीवास्तव, नित्यानन्द तिवारी, खगेन्द्र ठाकुर आदि अनेक आलोचकों ने कुछ आस्थाबद्ध विश्लेषण किए मगर इन सबमें भी आलोचना का वह उत्कर्ष नहीं दिखाई दिया जो रामविलास शर्मा ने लिखकर और नामवर सिंह ने बोलकर उपलब्ध किया। सम्भावनाओं से भरपूर आलोचनाएँ विशेषकर काव्य के क्षेत्र में प्रभाकर श्रोत्रिय, वान्दिवडेकर, नन्दकिशोर आचार्य, रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी और मदन सोनी ने की तो अवश्य, मगर इनमें से किसी को खेमेबद्ध आलोचना ने पूरी तरह स्वीकार नहीं किया और इनकी आलोचना-दृष्टि को कलावादी, दक्षिण-पन्थी, अमूर्त आदि कहकर निरस्त कर दिया गया। वामपन्थी या मार्क्सवादी आलोचना में जो नाम उभरे उनमें शिवकुमार मिश्र और रमेश कुन्तल मेघ को इतना महत्त्व दे दिया गया कि उनके आगे अन्य मार्क्सवादी या वामपन्थी आलोचक जैसे विजयबहादुर सिंह, कर्ण सिंह, पुरुषोत्तम अग्रवाल आदि अच्छी आलोचना-दृष्टि के बावजूद दूसरी पंक्ति में रख दिए गए जबकि सच तो यह है कि पूरी मार्क्सवादी आलोचना में जो मानक, कीर्त्तिमान और आलोचनात्मक विवेक रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने रचा, उसको अतिक्रान्त कर अन्य कोई आलोचक इस धारा में खड़ा न हो सका। सुधीश पचौरी और कृष्णदत्त पालीवाल ने कुछ तटस्थ आलोचना-दृष्टि रखी, और सुधीश पचौरी ने उत्तराधुनिकों के योगदान पर भी लिखा लेकिन इनकी आलोचना से पद्य, गद्य, नाटक या अन्य विधाओं को उत्कर्ष मिला हो ऐसा नहीं लगता।

पश्चिम में कविता का जब भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन शुरू हुआ तो भाषा-विज्ञान से जुड़े वे सभी तत्त्व कविता पर आज़माए गए, जो एक कविता के सृजन में भाषिक आधार पर प्रभावशील होते हैं। ध्वनि, ध्वनिम, रूपिम, चेस्ट पल्स, सिलेबल, टोन, रिदम, शब्दों की मितव्ययिता, रेटरिक आदि जब भाषिक आधार पर रचना में देखे-परखे गए, तो एक सर्जक की भाषा-शक्ति और उसके उपयोग की कल्पनाशीलता का भी पता चला। अधिक शोर, पुनरुक्ति, क्रमबद्धता, क्रम-भंग,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनावश्यक व अनुपयुक्त प्रयोग, व्याकरण-दोष आदि यदि भाषिक सीमा में रचना के विश्लेषण के तत्त्व बने, तो अनेक दोष भी दर्शाए गए। यदि कविता मानक भाषा में है तो उसमें देशज, शब्द, ग्राम्यत्व, लोक-शब्दावली, अश्लील शब्द आदि किस रूप में आए हैं, उनका स्रोत क्या है और उनसे रचना की शक्ति व सौन्दर्य में वृद्धि हुई है या रचना अपने राग-तत्त्व से भटकी है, इन तमाम तत्त्वों का भी विवेचन किया गया। शैली को परखते वक्त जहाँ शास्त्रोक्त शैलियों का उपयोग किया गया, वहीं शैलीविज्ञान को भी प्रयुक्त किया गया। एक कविता अपनी संरचना, लय, संगीत, राग, तनाव, सौन्दर्य और अन्ततः अभिव्यक्ति समृद्धता में कितनी सार्थक है यह शैलीविज्ञान व शैलीगत अध्ययन से प्रकट हुआ। भारतीय कविता को और विशेषकर हिन्दी कविता को पश्चिमी शैली-विज्ञान के मानकों से जाँचा तो गया, लेकिन काव्यशास्त्र, छन्द और अलंकारशास्त्र एवं व्याकरण ने जो तत्त्व रच रखे थे, उनका प्रयोग हुआ। पश्चिम ने जिसे विचलन कहा, भारतीय शास्त्र में वक्रोक्ति, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति, पुनरुक्ति के रूप में वह नाना प्रकार की युक्तियों के साथ मौजूद था और उसे काव्य-मीमांसा का आधार बनाया गया। इसलिए भारतीय साहित्य में आलोचना के बजाय मीमांसा, व्याख्या के बजाय टीका और भाषिक संरचना के बजाय व्याकरण का महत्त्व अधिक रहा।

कथा-साहित्य में शैली-वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया जिसमें भाषाई तत्त्वों के साथ-साथ आंचलिकता, लोक-शब्दावली क्षेत्रीयता के अतिरिक्त कुछ साहित्येतर तत्त्वों पर भी विचार किया गया जिनमें मनोविज्ञान और दर्शन की मुख्य भूमिका रही। जहाँ कहानी साहित्य दशकवार अनेक विचलनों में प्रकट हुआ और नई कहानी, अकहानी, सचेतन-कहानी, समान्तर कहानी, लघु कहानी, ऐतिहासिक कहानी जैसे नए कहानी-रूप रचे गए, वहीं विचारधाराओं के प्रभावों का भी प्रवेश हुआ। यथार्थवादी, अतियथार्थवादी, कलावादी और प्रयोगशीलता के आधार पर ऐसे तत्त्वों का भी आकलन हुआ जो कथानक, पात्र, स्थिति-घटना आदि में से किसी भी तत्त्व का कभी भी विलोप कर सकते थे। थीमरहित या प्लाटलेस कहानी के ऐसे प्रयोग कृष्ण बलदेव वैद ने तो किए ही, इसके साथ ही कहानी में उत्तरआधुनिकता के साथ-साथ भाषा के भी नवीनतम प्रयोग हुए। ऐसे प्रयोग निर्मल वर्मा, कृष्ण बलदेव वेद, रमेशचन्द्र शाह, मनोहरश्याम जोशी आदि ने किए और पैरॉडी, कोलाज, संगीत आदि का प्रयोग भाषाशैली के आधार पर कहानियों में हुआ। राजी सेठ, ज्योत्स्ना मिलन दो ऐसी कथाकार हैं जिनमें से यदि राजी सेठ ने कहानी के संवेदन-तत्त्व की कलात्मकता रची, तो ज्योत्स्ना ने जीवन की सहजता का उत्कृष्ट अमूर्तन कर कहानी को कलात्मक कृति बना दिया। इसलिए कई बार ज्योत्स्ना मिलन की कहानियाँ पेंटिंग और सुगम संगीत की जुगलबन्दी जैसी लगती हैं। मैत्रेयी पुष्पा में लोक जीवनगत और आंचलिक सहजता के साथ जो मुखरता है, मृदुला गर्ग में जिस प्रकार की नागरिक चेतना के साथ मनुष्य के मनोवेगों का कथायन सीमान्तों के पार जाकर हुआ है, चित्रा मुद्गल में जो क्षेत्रीय और संगठनात्मक अनुभवों, जीवनगत विसंगतियों और संघर्षों से उत्पन्न संवेदन हैं, उन सबका हिन्दी कथा-आलोचना में बड़े पैमाने पर विश्लेषण नहीं हुआ। चन्द्रकान्ता की कहानी एवं उपन्यास में कश्मीरी निर्वासन की पीड़ा के साथ-साथ व्यवस्थागत अकरुणा के विरुद्ध आक्रोश अपने नरेशन में बहुत प्रभावी है। कृष्णा सोबती को पढ़ते हुए लगता है भाषा और कथा एक साथ उद्दाम अल्हड़ नदी की तरह बह रहे हैं। कथा-तत्त्व को बिना हानि पहुँचाए, कृष्णा सोबती जिस प्रकार का कथाराग उत्पन्न करती हैं, वह अद्भुत है। मन्नू भंडारी में सामाजिक संवेदन, मनोविज्ञान और शिल्प का सौन्दर्य है। जब इन कथाकारों के साथ हम गोविन्द मिश्र को लेकर चलते हैं तो उनकी कहानियों में नागरिकता, आंचलिकता और वैचारिक प्रबुद्धता के आयामों का समन्वय नज़र आता है लेकिन वे सर्वाधिक सहज होते हैं तब, जब उनके भी भीतर उनके लोकराग का संगीत झंकृत होने लगता है। रमेशचन्द्र शाह के पास ठीक निर्मल वर्मा और अज्ञेय की तरह एक साथ अनेक तत्त्व हैं। उनमें जीवनबोध की व्यापकता के साथ गहनता है, कथ्य की नाटकीयता के बजाय कथ्य में संवेदन के अनेक स्तर हैं, कथावस्तु में लौकिक आयामों के साथ दार्शनिक सम्मोहन है, पैराडी है, कोलाज है और कुछ हद तक भाषा का उत्तर-आधुनिक विन्यास है। गिरिराज किशोर की चेतना में सामाजिक विसंगतियों के साथ बौद्धिक छद्मों के विरुद्ध एक सहज पीड़ाजन्य वितृष्णा है। गांधी को कथागद्य में 'पहली गिरिमिटिया' लिखकर जिस प्रकार गिरिराज किशोर ने प्रयोग है, उससे गांधी की साहित्यिक और सर्जनात्मक सम्भावना के नए द्वार खुले हैं। ज्ञानरंजन अपनी विशेष शैली और मार्मिक कथायन के लिए जाने गए मगर कुछेक कहानियों के बाद आगे नहीं जा सके इसलिए उनमें जो प्रारम्भ में कथा-गति का वेग था वह रुका-सा प्रतीत होता है। प्रतिबद्ध आस्थाओं के साथ कहानी-उपन्यास तो भीष्म साहनी ने भी लिखे लेकिन उनमें अनुभव, संवेदन और अध्ययन का उत्कृष्ट समन्वय हुआ है। और कुछ हद तक वे प्रतिबद्ध धारा के निर्मल वर्मा से लगते हैं, काशीनाथ सिंह, अमरकान्त और दूधनाथ सिंह का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाशिल्प प्रतिबद्ध कथा-साहित्य के अनेक बन्धन काटता तो है साथ ही अपनी देशज चेतना को सुरक्षित भी रखता है। प्रियंवद, शेखर जोशी, बटरोही, प्रभु जोशी, स्वयंप्रकाश, शिवमूर्ति जैसे कथाकारों ने जो कथाएँ लिखीं उनमें मानवीय सरोकार तो प्रमुख रहे ही, साथ ही एक खास किस्म की संजीदगी व लोक जीवनगत सहजता भी उनकी कथाओं में नज़र आई। नासिरा शर्मा और उदयप्रकाश दो ऐसे कथाकार हैं जिनमें नरेशन का उत्कृष्ट उत्कर्ष देखा जा सकता है। नासिरा ने विचारबद्धता और जातीय विसंगतियों के अनेक धरातल चकनाचूर कर साहित्यिक ईमानदारी के साथ उन संवेदनों को पकड़ा है, जिनमें मनुष्य के अनेक संघर्ष, अनुभव, अध्ययन, यात्राएँ और यातनाओं का अम्बार है। उदयप्रकाश जो भी चरित्र रचते हैं, जो भी कथानक उठाते हैं उसे दो प्रकार से गति में लाते हैं। एक तो उनका नरेशन ऐसा होता है जैसे कोई यात्री या यायावर ऐसी यात्रा पर हो जिसका अन्त नहीं और मंजिल पर पहुँचने पर उसे लगे कि यह तो एक प्रकार की मरीचिका या क्षितिज है जिसे छुआ या पकड़ा नहीं जा सकता। दूसरा उनके संवेदन स्वयं उनके चरित्र में ही मौजूद हैं। टेपचू की जिजीविषा हो या 'पॉल गुमरा का स्कूटर' या 'वारेन हेस्टिंग्ज़ का साँड़', इतिहास, समय या स्पेस सब कुछ उदयप्रकाश नरेशन में इस प्रकार पिरो देते हैं, जैसे कथा स्वयं अपने को अनवरत कह रही हो और उसका कोई प्रत्यक्ष कथाकार न हो। फणीश्वरनाथ रेणु ने जो कथागत आंचलिकता भाषा, पात्र, क्षेत्र और स्थितियों के आधार पर रची थी, शैलेश मटियानी उसके पार जाकर दो प्रकार से प्रकट हुए। उनमें जो सांस्कृतिक बोध था उसे उन्होंने मनुष्य-बोध से जोड़ दिया और इस कारण उनकी आंचलिकता में एक प्रकार की अघोषित ऐसी प्रतिबद्धता है, जो विचारधारा से न बँधकर कथामर्म से बँधती है, मनुष्य और उसकी संस्कृति व प्रकृति से बँधती है। विनोद कुमार शुक्ल के पास भी विचारधारागत आग्रह तो रहे हैं लेकिन कलात्मकता, अमूर्त्तन और शैलीगत विचलन का जो सरस सौन्दर्य वे रचते हैं वह अद्भुत है।

हिन्दी में ढेर सारे कथाकार, कवि, नाटककार हैं और नए लोग आ रहे हैं लेकिन प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, निर्मल वर्मा, अज्ञेय, धर्मवीर भारती को छोड़कर कथाकार के रूप में कृष्ण बलदेव वैद, कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, केशव आदि का नाम लिया ही नहीं जाता। राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, अमरकान्त, भीष्म साहनी आदि ने तो कथा-साहित्य में ट्रेंड सेट किए और रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, सुनीता जैन, मिथिलेश्वर, प्रभु जोशी, हृदयेश आदि ने भी कथा-साहित्य में समय-समय पर सार्थक हस्तक्षेप किया, लेकिन कहानी-आलोचना में उनका जिक्र उस प्रकार होता ही नहीं जिस प्रकार अलका सरावगी, अनामिका और अनेक नए कथाकारों का एक-दो रचनाओं के बाद ही होने लगा है। यही स्थिति कविता में भी है और नाटक की आलोचना तो अब केवल उन नाटकों व रूपान्तरणों तक सीमित है, जिनका मंचन होने के बाद उन पर अखबारी टिप्पणी भर लिख दी जाती है। यात्रा-वर्णन, डायरी, व्यंग्य, निबन्ध, आलोचना, रिपोर्ताज आदि अनेक विधाओं की आलोचना तो लगभग नगण्य ही है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना का यह समय भी लगभग कविता-समय ही है और कथा-समय यदि बना भी है, तो कथा तक ही सीमित है, सम्पूर्ण गद्य-समय नहीं बन सका है। यदि हिन्दी में उत्कृष्ट सृजन होने के तथ्य को स्वीकार लिया जाए, तो प्रश्न यह है कि उत्कृष्ट सृजन की उत्कृष्ट आलोचना क्यों नहीं है जैसी पश्चिम में विचार और साहित्य को लेकर देरिदा, ल्यौतार, रोरती आदि उत्तरआधुनिकों ने की ? इस प्रश्न पर विचार करना होगा। आलोचना-विहीन साहित्य कालान्तर में अपठनीय होने लगता है। आलोचना को भी एक लोकव्यापी संस्कार बनाना होगा। यदि 'रामचरित मानस' इतना लोक-विश्रुत काव्य है तो इसलिए कि उसकी न केवल शास्त्रीय या लिखित समालोचना है, बल्कि लोक-व्यापी वाचिक आलोचना भी है जो सामान्य जन को तुलसी या कबीर तक ले जाती है। कथाकारों में भी प्रेमचन्द को लेकर तुलसी या कबीर की तरह तो नहीं लेकिन सामान्य पाठक की प्रतिक्रिया जो होती है वह कम आलोचनात्मक नहीं होती। ऐसी आलोचना न कभी कालबद्ध होती है न इतिहास-वस्तु बल्कि वह सतत नवीन होती जाती है।

जब किसी भी भाषा का साहित्यिक समाज या पाठक-समाज आलोचनाधर्मी बनता है तो उत्कृष्टता की सम्भावनाएँ व्यापक हो जाती हैं। रामचन्द्र शुक्ल से लेकर नन्ददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, हजारीप्रसादजी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नामवर सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रमेशचन्द्र शाह आदि दिग्गजों के कारण यदि भक्तिकालीन, छायावादी और आधुनिक काव्य की मीमांसा सही ढंग से हो सकी, तो वैसी आलोचना का अभाव कहानी-साहित्य में क्यों हुआ ? क्यों देवीशंकर अवस्थी, धनंजय वर्मा, हृदयेश, मधुरेश, नवलकिशोर आदि कुछ नामों में कहानी-आलोचना सिमटकर रह गई ? ऐसा क्यों हुआ कि हिन्दी सर्जक व आलोचक का आलोचना के नवीनतम धरातलों से परिचय कराने के लिए अशोक वाजपेयी को पश्चिमी अवधारणाओं के साथ 'फ़िलहाल' लिखना पड़ा और आलोचना-भाषा को भी

131470

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी पारम्परिक जकड़बन्दी से मुक्त करना पड़ा ? ऐसा क्यों हुआ कि आलोचना की एक पृथक सशक्त धारा होते हुए भी उसकी गुणवत्ता के लोप के कारण निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह और अशोक वाजपेयी को निबन्ध, वैचारिक-सृजन, आलोचनात्मक विवेचन और कलात्मक समीक्षाओं के लिए कलम उठानी पड़ी ? ऐसे में प्रभाकर श्रोत्रिय, बान्दिवडेकर, विश्वनाथ तिवारी का आलोचना-मौन भी हिन्दी आलोचना को हानि पहुँचा रहा है।

अज्ञेय का यह कथन बार-बार याद आता है और उसे दोहराने का हर बार मन भी करता है कि हमें एक आलोचक राष्ट्र का निर्माण करना है। आलोचक राष्ट्र कैसा क्या ? जैसा गांधी की प्रज्ञा में था ? गांधी के विचार, जीवन, प्रयोग और संस्कारों का कोई आलोचनाशास्त्र या सौन्दर्यशास्त्र हमने क्यों नहीं विकसित किया ? गांधी, विनोबा, अरविन्द को मिलाकर भी हम साहित्य के नए सौन्दर्यशास्त्र की रचना कर सकते थे और भाषा में प्रचलित आलोचना शब्दावली का एक और विकल्प रच सकते थे। सर्वोदय, सत्याग्रह, स्वदेशी, सर्वधर्म समभाव, समन्वय सहिष्णुता, समवाय, सेवा, भूदान, सूत, चरखा, खादी, हरिजन, वैष्णव, मानस, ऐसे हज़ारों शब्द हमारे गांधी वाङ्मय, स्वतन्त्रता आन्दोलन और अरविन्द दर्शन में रचे गए। क्या साहित्य-सृजन में शब्दों के इस नए निवेश की सम्भावना हम प्रकट नहीं कर सकते थे ? यहाँ वैचारिक शब्द भी थे, दार्शनिक भी और रागात्मक या संवेदनात्मक भी। लेकिन हमारे समय की आलोचना ने भी केवल वामपन्थी दक्षिणपन्थी विरोधी-युग्मों पर काम किया और इनसे आगे जाने की कुव्वत ही नहीं दिखाई और यही कारण है कि हमारे समय की आलोचना अपनी गति खोकर ठहराव में बदल गई है। यदि हिन्दी आलोचना का समय कहीं-न-कहीं ठहर गया है और आलोचना कर्म भूत, वर्तमान या समकालीनता के प्रति उदासीन है तो इस उदासीनता को कौन खंडित करेगा ? यदि समय को उसके तमाम भौतिक सन्दर्भों के साथ साहित्य की अस्मिता में जोड़ दिया जाए और उसके अरूप, अमूर्त्त, भाववाचक दार्शनिक प्रत्यय को छोड़ भी दिया जाए तो भी आलोचना को एक अपना समय रचना होगा जिसे इतिहासवस्तु न कहा जाए मगर साहित्य-वस्तु मानकर रचना का सन्दर्भ और आलोच्य तत्व बनाना होगा। आज तो लगता है हिन्दी आलोचना और उसका समय ठहर गए हैं, उदास हैं, निस्तेज हैं। साहित्य को जीवित रखने के लिए आलोचना-समय को पुनर्जीवित करना ही होगा। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुवाद : सांस्कृतिक और भाषिक विविधता की अनुभूति

डॉ. परिमळा अम्बेकर

अनुवाद करते सन्दर्भ में अनुवादक की अनुभूति निस्सन्देह ही विविधता की अनुभूति की रही है क्योंकि अनुवाद की प्रक्रिया ही दो भिन्न भाषा के पलड़ों में, अभिव्यक्त संवेदना या विचारों को सही अनुपात में तोलना होता है। और इस प्रक्रिया में वह भाषा और संवेदना के हिसाब से पलड़ों के वजन की विविधता का अनुभव करता है। इस सानुपातिक प्रक्रिया की अत्यन्त सूक्ष्म और आत्मीय पक्ष ही अनुवादक के सम्मुख प्रस्तुत अनुवाद की सांस्कृतिक और भाषिक विविधता की अनुभूति है। अनुवादक अपनी इस विशिष्ट अनुभूति के बतौर ही उभय भाषा और उसमें अभिव्यक्त संवेदना और विचारों के पलड़ों को सही अनुपात में तौलकर पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए, अपनी ओर से जोड़-तोड़ करते जाता है। मेरी दृष्टि में यह जोड़-तोड़ का हिसाब ही भाषिक और सांस्कृतिक विविधता का प्रमाण है। अगर अनुवाद के पास सांस्कृतिक, सामाजिक अनुभूति का अत्यन्त सहज संवेद्य हृदय है और भाषा प्रयोग की शास्त्रीय एवं व्यावहारिक निपुणता है तब ही वह इस विविधता की अनुभूति के जोड़-तोड़ के कलात्मक कर्म में सफल हो सकता है और न्याय भी दे सकता है। अन्यथा अनुवाद का कर्म बन्दर का न्याय बनकर रह जाएगा जो मक्खन के लिए लड़ रहीं दो बिल्लियों को, सही वजन में मक्खन बाँटने में जाकर, थोड़ा-थोड़ा कर सारा मक्खन खुद साफ कर गया था।

मेरी राय में, भारतीय समाज में, एक व्यक्ति अपने जीवनकाल में एक भाषा और एक संस्कृति का अनुभव करता है। यूँ तो वह एक से भी अधिक भाषा बोल भी ले या लिख भी ले और एक से भी अधिक सांस्कृतिक माहौल में रह भी ले लेकिन उसकी संवेदना और उसके विचार अपनी ही मूल भाषा और संस्कृति में आकार लेते रहते हैं और अपनी ही मूल भाषा और संस्कृति को वह अत्यन्त सहज रूप में संवेद्य करते जाता है। इसीलिए एक अनुवादक जब अपनी मूल भाषा और संस्कृति में, दूसरी भाषा और संस्कृति को प्रस्तुत करता है तब वह उस अनुवाद के लिए अनुवाद की प्रक्रिया, मूल कृति लेखन जैसे ही सहज और स्फूर्त लगेगी। लेकिन अनुवाद की प्रक्रिया जब उलट जाएगी अर्थात् जब वह अपनी मूल भाषा और संस्कृति को दूसरी भाषा और संस्कृति का रूप देना चाहेगा तब, उसके लिए अनुवाद की प्रक्रिया अवश्य ही कष्टसाध्य होगी। भाषिक और सांस्कृतिक विविधता की अनुभूति का प्रश्न इस पक्ष में अधिक तीव्र हो जाएगा और कभी-कभार अनुवादक के लिए सांस्कृतिक और भाषिक रूपान्तरण कष्टसाध्य भी हो जाएगा।

जब हम साहित्यिक अनुवाद को भाषा के साथ-साथ सांस्कृतिक

प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, गुलबर्गा विश्वविद्यालय, गुलबर्गा-6 (कर्नाटक)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपान्तरण भी अगर स्वीकार करेंगे तब, लक्ष्य भाषा और लक्ष्य संस्कृति में मूल की संस्कृति को प्रस्तुत करते समय अनुवादक को अधिक सतर्कता से इस विविधता की गुत्थी को, महीन कारीगरी हाथों से सुलझाना पड़ता है। लेकिन दूसरा प्रश्न भी यह उठता है कि अगर अनुवाद भाषा के साथ-साथ सांस्कृतिक रूपान्तरण भी है, तो भला अनुवाद क्यों करें और लक्ष्य भाषा के पाठक यानी कि टारगेट रीडर क्यों रहें। क्या वे अपने सांस्कृतिक परिवेश और समाज को अपनी भाषा की कृतियों में नहीं देख सकते हैं ? अनूदित कृतियों को पढ़ने के लिए पाठकों का गहरा उद्देश्य और इच्छा यही रहती है कि दूसरी भाषा और वहाँ का सांस्कृतिक परिवेश, सभ्यता, सामाजिक आचरण-व्यवहार, धर्म और मूल्य संस्कृति को जाने और पहचाने। कारण ऐसे सन्दर्भ में सांस्कृतिक अनुवाद सफलता और त्याज्य का प्रश्न सामने आता है क्योंकि सांस्कृतिक विविधता की विविध भाषा साहित्य के अस्तित्व का प्रमाण है। हर संस्कृति की अपनी ही एक विशिष्ट ध्वनि है और अपनी ही जमीन में उसकी संवेदना की जड़ें पसरी हुई रहती हैं।

हम यहाँ तक भी मान सकते हैं कि कुछ सांस्कृतिक मूल्य और आचरण सांस्कृतिक रूपान्तरण के और भाषिक परिवर्तन के दर्शन के परे रहते हैं। ऐसे सन्दर्भ में भाषिक और सांस्कृतिक विविधता का अनुभव करनेवाला अनुवादक, इस प्रमुख समस्या या एक ढंग से विवेक से जूझता है कि, ऐसे सन्दर्भ में अनुवाद का फलसफा क्या हो ? सांस्कृतिक रूपान्तरण हो या न हो, हो तो ? आंशिक हो या पूर्ण, और भाषिक रूप कौन-सा हो, संस्कृति के अनुकूल या पाठकों के अनुकूल ? सांस्कृतिक और भाषिक विविधता का यह प्रश्न एक विशेष करवट लेकर बैठ जाता है जब हम दो ऐसी भाषाओं को अनुवाद के लिए उठाते हैं जिसमें एक भाषा प्रादेशिक अस्तित्व को लिए हुई है जैसे कन्नड़, तेलुगू, तमिळ, मलियाळी, तुळु मराठी इत्यादि और दूसरी भाषा प्रादेशिकता के साथ-साथ विविध प्रान्तीय रूप में भी अस्तित्व में रहती है, जैसे हिन्दी।

भाषिक और सांस्कृतिक विविधता की अनुभूति से अनुवादक तभी आमना-सामना करता है जैसे ही वह अनुवाद के लिए पेन उठाता है। यूँ तो किसी भाषा विशेष का लगभग एक सांस्कृतिक इम्प्रेशन हर सुधी पाठक के मन पर रहता ही है। और भारत जैसे देश का हर कोई अनुवादक देश के इस सांस्कृतिक विविधता के कोलाज के चित्र का अनुभव किए हुआ रहता है। कारण संस्कृति के सतही स्वरूप, जैसे व्यक्ति और व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध, उसके सामाजिक मूल्य, व्यवहार, प्रदेश का राजनैतिक स्वरूप आदि हर भाषा साहित्य में उसी अनुपात में और लगभग समान स्वरूप में प्रस्तुत रहते हैं। नगर और मेट्रो सिटीजी की संस्कृति और परिवेश को दर्शानेवाला भाषा साहित्य का स्वरूप, उसके सरोकार, उसके नीड्स सभी लगभग एकरूप में प्रस्तुत रहते हैं। ऐसे सन्दर्भ में अनुवादक सांस्कृतिक विविधता की अपेक्षा भाषिक विविधता से ही जूझता है, और आधुनिक दशकों का भाषायी साहित्य, और आधुनिक सांस्कृतिक और भाषा के बढ़ते प्रयोग ने इस विविधता को भी लगभग एकरूप प्रदान करते जा रहा है। भूमंडलीकरण और तान्त्रिक विकास के बढ़ते हाथ भाषायी स्वरूप की विविधता और संस्कृति के नाजो-नक्श को मिटाकर, भाषायी सांस्कृतिक अस्मिता को ही समाप्त कर रहे हैं। हो सकता है भविष्य में अनुवादक के लिए अनुवाद का कार्य अत्यन्त सरल हो जाए क्योंकि कोई विविधता ही नहीं न भाषा की न संस्कृति की। बस एक भाषा शब्द के स्थान पर समानार्थी दूसरे भाषा के शब्दों को रख दिया। अनुवाद का कार्य सम्पन्न !! जैसे मशीनी अनुवाद हो। कम्प्यूटर और मशीनी अनुवाद के तकनीकी सिद्धान्त से भले ही अनुवाद के अन्य क्षेत्र तालमेल बिठा ले सकें, लेकिन साहित्यिक अनुवाद का क्षेत्र कदापि ही नहीं। क्योंकि अनुवादक और अनुवाद की संस्कृति का अस्तित्व भाषिक विविधता में ही मौजूद है और सांस्कृतिक विविधता की भूमि से ही वह रस ग्रहण करता है। अन्यथा नहीं।

काव्य या साहित्य की अन्य कृतियों में हम जिस स्फीति की चर्चा करते हुए सुनते हैं उसी स्फीति की अनुभूति हम अनुवाद में भी करते हैं। और अनुवाद में निहित इस स्फीति की अनुभूति विशेषतया शहरी या यान्त्रिक संस्कृति की समानरूपा कल्चर से भिन्न, अपने ही भौगोलिक और सामाजिक जीवन सरोकार और मूल्यों से बँधी हुई संस्कृति के अभिव्यक्ति की रचनाओं में अधिक कर सकते हैं। और उस सांस्कृतिक अस्मिता को पहचान देनेवाली अनूदित (लक्ष्य भाषा) भाषायी स्वरूप में कर सकते हैं। यूँ तो अनुवाद के हर क्षेत्र अनुवादक के सम्मुख भिन्न-भिन्न चुनौती प्रस्तुत करते हैं और इन चुनौतियों को उत्तर देता हुआ अग्रसर अनुवादक अन्त में सफलता का आनन्द महसूसता है। वह बात और है लेकिन जब अनुवादक भाषिक और सांस्कृतिक विविधता की चुनौतियों को प्रस्तुत करनेवाली कृतियों को अनुवाद के लिए उठाता है तब, ये सारे प्रश्न और अधिक सूक्ष्म और गम्भीर बनते हैं साथ ही स्फीति की अनुभूति का सवाल भी प्रस्तुत होता है। जैसे-जैसे अनुवादक भाषिक और सांस्कृतिक विविधता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुत्थियों को सुलझाता जाता है वैसे-वैसे अनुवाद कर्म की स्फीति को अपने में भरते जाता है। अन्यथा बिना इस अनुभूति के अनुवाद का कर्म, संवेदना एवं कलात्मकताविहीन कोरा भौतिक और बौद्धिक प्रक्रिया बन जाएगा। अनुवादनीयता की स्फीति इसी विविधता की अनुभूति में निहित है।

अनुवाद में भाषिक और सांस्कृतिक विविधता की अनुभूति और अनुवाद की संवेदना-स्फीति की अनुभूति के अंशों के आधार पर आगे, कुछ प्रायोगिक सन्दर्भ, प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। एक बात स्पष्ट कर दूँ। अब तक मेरी कोई गम्भीर कृति प्रकाशित हुई है न ही ऐसी कृतियों के अनुवाद का काम मुझे मिला है। क्योंकि अहिन्दी भाषी प्रदेश की भाषाओं में हिन्दी भाषा की कृतियों का अनुवाद साथ ही, अहिन्दी प्रदेश की कृतियों का हिन्दी में अनुवाद और उनका प्रकाशन, उसे लेकर अनेक समस्याएँ हैं। साथ में उसकी भी अपनी राजनीति भी। इस क्षेत्र में स्थापित व्यक्तियों का दबदबा है। इस क्षेत्र में नए-नए आए हुए अनुवादकों को, न कोई मार्गदर्शन मिलता है नहीं उनके पहचानने की या उन्हें टेस्ट करने की प्रक्रिया ही चलती है। जैसे आज राष्ट्र स्तर पर कलाकारों की, शिल्पकारों की पहचान और स्वीकृति के कार्यक्रम बाँधे जाते हैं, मेरी जानकारी में ऐसी कोई पहल न संस्थाओं, प्रकाशकों द्वारा होती है न ही विश्वविद्यालयों द्वारा ही। क्या ऐसी कोई व्यवस्था या कार्यागारों का संचालन नहीं हो सकता, जिससे कि अनुवाद प्रक्रिया के सैद्धान्तिक पक्ष की आलोचना विमर्श के साथ-साथ इस क्षेत्र की नई प्रतिभाओं की भी पहचानी हो, ताकि अनुवाद का प्रायोगिक सन्दर्भ अपनी सम्पूर्ण सार्थकता और नए-नए प्रयोगों के साथ टारगेट रीडर के हाथों में पहुँचे।

प्रायोगिक सन्दर्भ के लिए, कन्नड़ से हिन्दी में अनूदित कुछ दलित कथाओं को उठाया गया है, जैसे देवनूरू महादेवय्या का 'मारी कोंडवरू', 'अमास', डॉ. म.न. जवरय्या का 'एडे अन्न', बी.टी. ललिता नायक का 'हब्ब मत्तु बली', डॉ. अरविन्द मालगत्ती का 'उळि मत्तु कुकुम।' साथ ही कुवेंपू का 'देव्वद काट'। पहले इन अनुवादों के सन्दर्भ की भाषिक एवं सांस्कृतिक भिन्नता की अनुभूति के अंशों की चर्चा करेंगे।

कर्नाटक प्रदेश विशेष की ग्रामीण संस्कृति के जीवन को प्रतिबिम्बित करनेवाली ये कन्नड़ कहानियाँ अपनी ही प्रादेशिक भाषा शैली में लिखी गई हैं। कन्नड़ भाषा की जनपदीय रूप की गन्ध हम इन कहानियों में देख सकते हैं। इन कहानियों के हिन्दी अनुवाद के सन्दर्भ में पहली अनुभूति है स्रोत और लक्ष्य भाषा शैली एवं संस्कृति की भिन्नता की अनुभूति। अगर कहानियाँ समानरूपा नगरीय जीवन की संस्कृति को दर्शानेवाली होतीं तो इस भिन्नता की अनुभूति की तीव्रता उतनी गम्भीर न होती। कारण इन कहानियों के अनुवाद के सन्दर्भ में पहले हिन्दी भाषायी प्रदेश की समरूपा संस्कृति एवं उस प्रदेश विशेष की जनपदीय भाषायी रूप के चुनाव का रहा है। ऐसे समय में हिन्दी भाषा के कर्नाटक प्रान्त विशेष की जनपदीय भाषायी शैली और उसके टोन का चुनाव मुझे योग्य लगा। कारण कर्नाटक प्रान्तीय संस्कृतियों की अभिव्यक्ति इसी प्रदेश विशेष की हिन्दी भाषा की जनपदीय स्वरूप में अनुवाद के रूप में प्रस्तुत करना योग्य लगा। इस प्रयोग से अनूदित कृति, स्रोत भाषा एवं कृतियों में अभिव्यक्त संस्कृति की गन्ध को बचाए रखने में सफल हो सकती है। कारण टारगेट रीडर अनूदित कृत को पढ़ते समय स्रोत भाषा, और मूल कृति की सांस्कृतिक विशेषता और प्रान्तीयता की गन्ध को भी महसूस कर सकता है। अनूदित कृति, मूल कृति के—भाषा एवं संवेदना दोनों दृष्टि से—अधिक नजदीक ठहर सकती है। संवादों के कुछ उदाहरण हम देख सकते हैं—

"कौन बे किसने गोली चलाई ?"

माद "मै अय्या" कहा।

"तुझे क्या आँखें नहीं है रे ?"

"मैं क्या करूँ, अय्या ? दो दफा पुकार को पूछा। कोई बात नहीं। चोर ही समझकर उड़ा दिया।"

देव्वद काट—कुवेंपू

"एक सौ रुपया उधार ! कब वापस लौटाने का ?" साहूकार ने भँवें नचाते हुए पूछा।

"आगे फसल के समय दूँगा धणी" सण्णु ने दृढ़ता से कहा।

"कहाँ से लाएगा बे ? तब तक तेरे से ब्याज चुकाना भी होता कि नै...गाँव में घर नै। तुझे सौ रुपया उधार देको क्या मुझे घंटी बजा बोलता है।"

हब्ब मत्तु बलि—बी टी ललिता नायक

प्रस्तुत कहानियों के संवादों के सन्दर्भ में अय्या, धणी, साहूकार जैसे सम्बोधनसूचक शब्दों का यथावत प्रयोग, उक्त कहानियों के पात्र, उनकी संवादीय शैली एवं सांस्कृतिक गन्ध को बचाए रखने में सहायक हो सकते हैं। लक्ष्य भाषा का पाठक मूल कृति की भाषिक एवं सांस्कृतिक विशेषता का अनुभव सहज ही कर सकता है। अनुवाद के सन्दर्भ में ऐसे भाषिक प्रयोग, स्रोत भाषा एवं लक्ष्य भाषा के मध्य की भाषिक विविधता के बावजूद भी मूल की सांस्कृतिक वैशिष्टता को बचाए रखते हुए, अनुवाद की स्फीति को भी सँजोते जा सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। कहानियों में संवादों की सजीवता ही मूल रचना की कथा-वस्तुगत परिवेश और अंचलगत विशेषता को हू-ब-हू प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

देवनूरू महादेवय्या द्वारा रचित दलित कथा 'मारी कोंडवरू' लगभग प्रेमचन्द के 'कफन' कहानी की संवेदना के साथ बैठनेवाली कहानी है। कहानी का नायक 'बीर व्यसन' के हाथों यूँ बिक जाता है कि अपनी मर्यादा-पत्नी को साहूकार के नाम कर देता है। व्यसन की विवशता और मर्यादा के संस्कार के मध्य का संघर्ष *बीर* और उसकी पत्नी *लचुमी* दोनों भोगते हैं। कर्नाटक प्रदेश के नंजनगूडू प्रदेश विशेष के दलितों के जीवन की कथा से भी अधिक उक्त कहानी, गरीबी और व्यसनी जीवन के लत से त्रस्त भारतीय मजदूर एवं किसानों की कथा अधिक है। हिन्दी में उक्त कथा का अनुवाद, लगभग भाषिक प्रयोग की सहायता से, सार्थक रूप से मूल कथा की संवेदना एवं संस्कृति को हम टारगेट रीडर के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते हैं। लेकिन कथा का शीर्षक 'मारी कोंडवरू' अर्थात् अपने आपको, स्वयं को बेचे हुए का अनूदित रूप 'बिके हुए' मूल अर्थ को अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत नहीं कर पाता। इस भाषिक विविधता से अनुवादक एवं टारगेट रीडर दोनों को समझौता करना ही पड़ता है। क्योंकि भाषाओं की भाषिक एवं सांस्कृतिक विविधता की अपनी सीमाएँ हैं और अपनी ही विवशताएँ भी।

म.न. जवरय्या कृत 'एडे अन्न' कर्नाटक के अंचल विशेष की कथा है जो वहाँ के जनजीवन से जुड़े हुए एवं सामाजिक जीवन-मूल्य और उन मूल्यों का वहाँ के लोगों द्वारा नाटकीय स्वीकृति और अभिव्यक्ति, प्रस्तुत कहानी की विशेषता है। 'मारम्मा' देवी के सम्मुख रखा नैवेद्य का पत्तल, मूँछ मरिसिद्ध का भूखा बेटा, झूठा करता है। इसी घटना के चारों ओर बुनी गई कथा 'एडे अन्न' है। गाँव की राजनीति इस घटना को कैसे भुनाती है और अन्त में मूँछ मरिसिद्ध, इस घटना के पुलिसी तहकीकात न करने का आरोप लगाकर, गाँव की पंचायत को कैसे अँगूठा दिखाता है आदि को म.न. जवरय्या कहानी में चित्रित करते हैं।

एडे अन्न (भोग का पत्तल) के अनुवाद के सन्दर्भ में मूल लेखक द्वारा प्रयोगित पात्रों के नाम और व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का सामाजिक, धार्मिक और ध्वन्यात्मक प्रयोग और उनका अनुवाद का प्रश्न प्रस्तुत कहानी की विशेषता है। जैसे मूँछ मरिसिद्ध, बिल्डिंग दोड्डसिद्ध, मिल का बोरशेट्टी, दफेदार सिद्दय्या, मुळूरू मादप्पा, लक्ष्मीनारायणय्या, काडप्पा, अस्वत्रम्मा आदि नाम वाचक संज्ञाओं के लक्ष्य भाषा में यथावत् प्रयोग से, पात्रों का जातीय एवं सामाजिक व्यक्तित्व उभरकर प्रस्तुत होता है। ये नाम अपनी चारित्रिक विशेषताओं को लिए दिए अपने चहुँओर के परिवेश और वातावरण को भी उभारते जाते हैं। साथ ही 'मुट्टचेट्ट', 'कुलेस्तरू', 'कळस', 'मारम्मा' आदि शब्द अपनी सांस्कृतिक विरासत को लिए हुए हैं। अनुवाद में इन शब्दों का यथावत् प्रयोग-कोष्ठकों में अर्थ-विस्तार के साथ—मूल संस्कृति के महक को बचा सकता है। और अनुवाद की स्फीति की अनुभूति अनुवादक और पाठक दोनों प्राप्त कर सकते हैं।

कर्नाटक का मलेनाडु प्रदेश अपनी ही सांस्कृतिक विरासत के लिए पहचाना जाता है। यहाँ का सामाजिक, धार्मिक और पारिवारिक जीवन एक अछूते सन्दर्भ को प्रस्तुत करता है। निबिड़ अरण्य और पर्वतों से घिरी हुई यह पर्वतीय प्रदेश की प्रकृति की जिन विविधमयी परिदृश्यों को लिया हुआ है उतनी ही निगूढ़ और विचित्र सांस्कृतिक मूल्य, आचरण, व्यवहार, विश्वास मान्यताओं को भी अपने में समोया हुआ है। ऐसे अंचल विशेष की कहानी कहनेवाले कथाकार हैं कुवेंपू। कुवेंपू की कहानियों का अनुवाद अपने में एक जिज्ञासापूर्ण साहित्यिक अनुभूति है। 'देव्वद काट' कहानी, इस अंचल विशेष की जनता का अन्धविश्वास, भूत-प्रेतात्माओं में अन्धी भक्ति और वहाँ के लोगों के इन मूल्य विश्वासों का, उसी व्यवस्था के स्वार्थी लोगों द्वारा दुरुपयोग की कथा को अत्यन्त हास्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है।

रात में घरों पर पत्थर बरसानेवाले भूत (कल्लगुटगी देव्व) में इनका विश्वास है। और अपने ही जमींदार को गाँव से भगाकर खुद वहाँ का जमींदार बनने के दर्पभाव के मजदूर मुत्तण्णा द्वारा रचाए गए साजिश की कहानी 'देव्वद काट' है। प्रस्तुत कहानी का शीर्षक 'काट' शब्द मलेनाडू प्रदेश के सम्पूर्ण अंचलीय अन्धविश्वासी मूल्य परिसर को उजागर करता है। कारण 'भूत का भय या सायस' या त्रास आदि शब्द काट के सांस्कृतिक अर्थ को पूर्णरूप से ध्वनित न करने के बावजूद भी अत्यन्त समीपी अर्थध्वनि को लिए हुए हैं। साथ ही प्रस्तुत कहानी में प्रयोगित शब्द जैसे 'कल्लगुटगी देव्व', सारोटु बंडी, कल्मळे, तोटा कोवी, सिद्धान्तमाडु, केंगूळू इत्यादि अंचलीय प्रकृति को लिए हुए हैं। इनके अनुवाद का सन्दर्भ भी इसी विविधता की अनुभूति को परोसता है।

अन्य रचनाएँ भी लगभग इन्हीं विविधता की संवेदनीयता को अनुवादक के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं जिनका अनुवाद अपने में एक विशिष्ट अनुभूति है।

अन्त में—किसी भी भाषा का साहित्य, विशेषतया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंचलीय एवं ग्रामीण जीवन का साहित्य, अपनी भाषायी और सांस्कृतिक विविधता के बावजूद भी उनका पाठक चाहे मूल कृति का ही हो या अनूदित कृति का, बस एक ही अनुभूति से, समान संवेदना से संविलित होता है और जनजीवन की एक समान समस्याओं से, दुविधाओं से वाकिफ होता है। अन्धविश्वास, कुसंस्कार, दुराचार, अशिक्षा, गरीबी, शोषण, धर्मगत एवं जातीय विरोध, अज्ञान इत्यादि से भरा हुआ समाज का वही असली रूप है जो हर भाषा साहित्य में चित्रित है, जो हर भाषा साहित्यकार को विवश करते हैं। कारण, इन तमाम विविधताओं के बावजूद भी किसी भी प्रान्तीय भाषा का अनुवादक, स्रोत भाषा की कृति की संवेदना की नब्ज टटोल सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकांत वर्मा का विचार-लोक

जयप्रकाश

श्रीकान्त वर्मा हिन्दी के उन थोड़े-से कवियों में हैं जो अपने समय को लेकर बौद्धिक स्तर पर भी बहुत बेचैन जान पड़ते हैं। उनका विचार-लोक खलबलियों और अन्तर्द्वन्द्वों से भरा हुआ है। हिन्दी की ख़ासी साहित्यिक क़िस्म की कवि-परम्परा में वे 'असाहित्यिक' कोटि के कवि थे। इस कवि-परम्परा में उनकी उपस्थिति और उनका कवि-स्वर प्रायः विसंवादी मालूम पड़ता है। विद्रोह उनकी आरम्भिक कवि-मुद्रा है जो दरअसल उनके वैचारिक अन्तर्जगत में से प्रकट हुई थी लेकिन धीरे-धीरे एक प्रश्नाकुल बौद्धिक की विवश थकान में डूबती चली गई। वे अपने रचना-कर्म में ही नहीं, अपने जीवन-कर्म और राजनीति में भी अन्त तक विसंवादी बने रहे तो यह अचरज की बात नहीं। वे स्वभाव से ही 'नान-कॉन्फ़ॉर्मिस्ट' थे—यह कहना शायद ज़्यादा उपयुक्त होगा। अपने समय में मनुष्य की नियति के सवालों से जूझते हुए वे मोहभंग के जिस स्वर का सन्धान समूची शताब्दी के सन्दर्भ में कर रहे थे, अन्ततः निजी स्तर पर भी उसी स्वर के घटाटोप से अपने को घिरा पा रहे थे। बीसवीं शताब्दी के पश्चिम का 'आउटसाइडर', सच कहा जाए तो, अकविता-विद्रोही कविता-भूखी नंगी पीढ़ी या दिगम्बर कविता की नकलची दुनिया में नहीं, सिर्फ़ श्रीकान्त वर्मा की वैचारिक दुनिया में, अपनी देशज पहचान के साथ प्रकट हुआ था। यहाँ आकर वह चिरविद्रोही या आउटसाइडर नहीं रह गया था। उसका रूपान्तर एक ऐसे बौद्धिक के रूप में हुआ था जिसके सर्जक व्यक्तित्व में आत्मनिर्वासन की पीड़ा और उसका अतार्किक प्रक्षेप नहीं, अपने यथार्थ में गहरे धँसने की उत्तप्त ललक थी। यह ललक ही उसे 'अब मैं घर लौटना चाहता हूँ' की व्याकुल पुकार में अपने समय के समूचे त्रास को व्यक्त करने के लिए विवश कर सकी। सत्ता और यथास्थिति के आधिकारिक तर्क के विरुद्ध यह त्रास श्रीकान्त वर्मा के विचार-लोक में अपने वितर्क के साथ उपस्थित है। विक्षोभ और असहमति दरअसल इस वितर्क की ही मुद्राएँ हैं।

ये मुद्राएँ श्रीकान्त वर्मा को अकेला भी करती हैं। ग़ौर कीजिए कि वे अकवियों के अकेलेपन की भीड़ में शामिल नहीं थे। उनका सर्जक व्यक्तित्व इस अर्थ में अकेला जान पड़ता है कि बौद्धिक बेचैनी की दृष्टि से उनके समकालीनों में मुक्तिबोध और राजकमल चौधरी को छोड़ दें तो कोई और उनका समधर्मा और सहचर कवि दिखाई नहीं पड़ता। तीनों ही कवियों के विचार-लोक का उनकी संवेदना पर गहरा दबाव है। लेकिन मुक्तिबोध और राजकमल चौधरी जहाँ उसे निपट स्नायविक स्तर पर झेलते दिखाई देते हैं, वहीं श्रीकान्त वर्मा का वितर्क उन्हें बचा लेता है। असहमति की असमाप्य

जगन्नाथ मंदिर के पास, गांधी चौक, राजनाँदगाँव-491441 (छ.ग.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुद्राओं में ढला वितर्क जैसे उन्हें अपने समय के तनाव को विन्यस्त करने की युक्ति देता है। मुक्तिबोध के पास भी उसे एक सुसंगत विन्यास में ढालने के लिए तर्कविधि है, मार्क्सवाद की तर्कविधि। लेकिन राजकमल चौधरी के पास तो ऐसा कुछ भी नहीं। उनके पास सिर्फ़ तनाव और बेचैनी है। आश्चर्य नहीं कि समय को स्नायविक स्तर पर एकाग्र करने की विवशता ने उन्हें तोड़ दिया। मुक्तिबोध भी टूटते-टूटते बचे। अगर उनके दिमाग़ी गुहान्धकार में घुग्घुओं और चमगादड़ों के स्याह आर्केटाइपल बिम्बों के बरअक़्स दुर्गम पहाड़ों के पार नीली झील में प्रतिपल काँपता अरुण कमल न होता तो क्या वे आत्मग्रस्त नियति से बच सकते थे ? मुक्तिबोध को आस्था ने बचाया, श्रीकान्त वर्मा को असहमति के विवेक ने। निस्सन्देह विचारधारा ने मुक्तिबोध को राह दिखाई। लेकिन श्रीकान्त वर्मा को भी असहमति का तर्क लोहियावादी समाज-दृष्टि से ही तो प्राप्त हुआ था। यह असहमति राजनीति में ही समाजवादियों की स्थायी मुद्रा नहीं थी, श्रीकान्त वर्मा ने साहित्य में उसे अस्त्र की तरह इस्तेमाल किया। लोहिया के बाद जब यह मुद्रा ढीली पड़ गई तो उनका रचा प्रतिपक्ष राजनीति में ही नहीं, साहित्य में भी एक त्रासदी का शिकार हुआ। यह त्रासदी है, असहमति का आत्मस्खलन और उसका निरन्तर बढ़ता असम्मान। यह भारत के संसदीय जीवन की त्रासदी-भर नहीं है। यह गम्भीर सांस्कृतिक त्रासदी भी है। श्रीकान्त वर्मा का 'मगध' इसी त्रासदी की कथा है। यह अनायास नहीं कि 'जलसाघर' और 'मायादर्पण' का बेचैन और मुखर काव्य-मुहावरा 'मगध' में आकर एक बेचैन बौद्धिक के चिन्तित आत्म-संलाप में बदल गया है। यहाँ असहमति तो है, लेकिन प्रतिपक्ष ग़ायब है। यही श्रीकान्त वर्मा के विचार-लोक की त्रासदी है। सामाजिक जनवाद के जिस भारतीय संस्करण, लोहियावाद के वैचारिक तन्तुओं से श्रीकान्त वर्मा का विचार-लोक निर्मित हुआ है, उसकी विडम्बना यही है कि वह मूलतः और अन्ततः प्रतिपक्ष का दर्शन है, वह असहमति की ज्वाला है। मगर सत्ता और प्रतिष्ठान के क़रीब जाकर वह अपनी आँच खो बैठती है। लोहिया के राजनीतिक अनुयायियों के साथ यही हुआ और स्वयं श्रीकान्त वर्मा के साथ भी, जिन्होंने सत्ता के समीप पहुँचते-पहुँचते असहमति का तर्क, अपना कवच और कुंडल, खो दिया था। यह एक कवि की त्रासदी थी कि उसके सामाजिक विवेक के स्रोतों पर सत्ता का आधिपत्य हो गया था और उसका विचार-लोक अब व्यावहारिक राजनीति का उपनिवेश था। लेकिन उसकी संवेदना की दुनिया अब भी मुक्त थी। 'मगध' में इसी दुनिया के दृश्य हैं। इन दृश्यों में अगर 'वर्तमान शासक वर्ग के त्रास और उसके तमाच्छन्न भविष्य' की छायाएँ डोलती दिखाई देती हैं तो यह कवि की संवेदना की दुनिया तक सत्ता के किसी कोलम्बस के पहुँच न पाने का, उस दुनिया की स्वायत्तता अक्षत रहने का प्रमाण है। ग़ौर से देखें तो इस दुनिया में कवि के विचारों की दुनिया, उसके तमाम बौद्धिक सरोकारों के साथ स्थानान्तरित हो गई मालूम पड़ती है। 'मगध' श्रीकान्त वर्मा का विचार-लोक है।

लेकिन 'दिनारम्भ' और 'मायादर्पण' भी श्रीकान्त वर्मा का विचार-लोक है। एक सर्जक के आत्मबोध में ऐसी फाँक होती भी नहीं, जो उसके संवेदना-लोक और विचार-लोक को अलग-अलग कर देती हो। इसलिए श्रीकान्त वर्मा के भीतर जो कुछ घुमड़ रहा था, उनकी कविताएँ ठीक उसी तरह उसका साक्ष्य हैं जैसे कि उनकी लिखी आलोचना या उनका वैचारिक गद्य। उनके भीतर जो घुमड़ रहा था वह दरअसल उनके बाहर के संसार में पसरा अन्धकार था। उसे उन्होंने 'बीसवीं शताब्दी का अन्धकार' कहा। उनका साहित्य इस अन्धकार में रोशनी की तलाश का साहित्य नहीं है। वे अन्धकार की थाह लेते हैं, बीसवीं शताब्दी के भूगोल में पसरते अन्धकार के बीच अमानवीयकरण के स्याह बिम्बों को और क्रूरता की गहरी परछाइयों को ढूँढ़ते हैं। इन बिम्बों और परछाइयों के साक्ष्य पर वे बीसवीं शताब्दी से जिरह करते हैं।

'बीसवीं शताब्दी' श्रीकान्त वर्मा के विचार-लोक का बीज शब्द है। एक शब्द के रूप में ही नहीं, एक अवधारणा के रूप में भी बीसवीं शताब्दी उनकी चिन्तन-प्रक्रिया में यदि बार-बार जगमगाती दिखाई पड़ती है तो इसलिए कि उनके लिए बीसवीं शताब्दी में पैदा होना ही काफ़ी नहीं था, उसे वे सजग मनुष्य की तरह जीना, और इस तरह जीते हुए अपना समकालीन बना लेना चाहते थे। इसलिए बार-बार वे उससे जूझ रहे थे, उससे जिरह कर रहे थे। निश्चय ही किसी और हिन्दी-लेखक ने उसे अपने सृजन की दुनिया के केन्द्रीय विचार-बिम्ब की तरह नहीं अपनाया। बीसवीं शताब्दी को श्रीकान्त वर्मा ने अपने समय की अमानवीयताओं, दुरभिसंधियों और विद्रूपों के रूपक में बदल दिया। मिलान कुन्देरा ने ज़रूर कहा है कि एक रूपक के साथ चुहलबाज़ी नहीं की जानी चाहिए, लेकिन श्रीकान्त वर्मा ने बीसवीं शताब्दी को छेड़ने की बार-बार कोशिश की। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कोशिश में वे बीसवीं शताब्दी की सच्चाई को ही अनावृत्त करना चाह रहे थे— उसकी रूपकवत्ता को ध्वस्त करते हुए, उसकी नाटकीयता को चुनौती देते हुए वे दरअसल उसे समझने की कशमकश में थे। लेकिन यह शताब्दी भी ऐसी कड़ियल निकली कि न तो वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी रूपक की पकड़ में आ रही थी, न स्वयं रूपक में बदल दिए जाने पर अपने भीतर की सच्चाई को अन्धकार के अतिरिक्त किसी और रूपाकार में ढलने दे रही थी। बीसवीं शताब्दी के तमाम बिम्ब और सारी परछाइयाँ श्रीकान्त वर्मा के लिए मानो उसके अपने अन्धकार में डूबी हुई हैं। बीसवीं शताब्दी उनके लिए नरक है। इस नरक में है 'युद्ध, मृत्यु, पाप, घृणा, लालच, हत्या, हिंसा और बलात्कार।' आधुनिक कथा-साहित्य में अगर वे इस नरक के भयावह दृश्य देखते हैं तो उसे 'आधुनिक मनुष्य की भीतरी दुनिया' से जोड़ते हैं। उन्होंने कहा भी है 'लिखने का मतलब है, नरक से गुज़रना।'

इस नारकीय दुनिया में, श्रीकान्त वर्मा का विश्वास है कि मनुष्य स्वयं चलकर पहुँचा है। यहाँ 'सर्वव्यापी संकट मुँहबाए खड़ा है। युद्ध का भय इंसान को जकड़े हुए है। परमाणु संहार का ख़तरा उसकी गर्दन पर झूल रहा है। क्रान्तियाँ विफल हो चुकी हैं। सभी विचारधाराएँ निष्प्राण और व्यर्थ हैं।' श्रीकान्त वर्मा इस स्थिति के लिए विज्ञान और टेक्नालॉजी को ज़िम्मेदार मानते हैं। इसके चलते उन्हें लगता है कि न सिर्फ़ विपन्नता का नरक उठ खड़ा हुआ है, बल्कि समृद्धि का नरक भी। सबसे ऊपर तो आत्मसंहार मानवीय नियति बन चुका है। विज्ञान और टेक्नालॉजी को मानवीय विघटन का कारण मान लेना, कहने की आवश्यकता नहीं कि एक क़िस्म का अति सरलीकरण है। यह इतिहास की सामाजिक प्रक्रिया की अनदेखी करने का परिणाम है। यह दृष्टिकोण कुछ-कुछ अविकासवादियों सरीखा है जो विज्ञान और तकनीकी के प्रति निषेधपरक धारणा प्रकट किया करते थे। लेकिन श्रीकान्त वर्मा के चिन्तन में इस तरह की निषेधवृत्ति का बुनियादी कारण सिनिसिज़्म से उनका आक्रान्त होना भी है। असहमति का विवेक उनके यहाँ सर्वनिषेधात्मक भंगिमा में पर्यवसित हो जाता है। इसलिए बीसवीं शताब्दी का चेहरा बदलने को संकलित सारी विचारधाराएँ उन्हें व्यर्थ जान पड़ती हैं, तमाम क्रान्तियाँ रास्ते से भटक गई लगती हैं। पता नहीं बीसवीं शताब्दी की विफलताएँ उन्हें इतनी विकराल क्यों नज़र आती थीं, जबकि यह देख पाना मुश्किल न था कि ये विचारधाराएँ और क्रान्तियाँ ही मनुष्य को मुक्ति का आश्वासन दे रही थीं। बेशक उनके किए वायदे पूरे न हुए हों, लेकिन वे वायदों से मुकरे नहीं थे।

यदि श्रीकान्त वर्मा बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में भी जीवित रहते तो पता नहीं, सामाजिक परिवर्तन को लेकर, और स्वयं शताब्दी के चरित्र को लेकर, उनकी धारणाएँ क्या होतीं ? शायद क्रान्तियों की विफलता का विश्वास और पुख़्ता हो उठता है। शायद मानवीय नियति के प्रति उनका अविश्वास और तीव्र हो उठता। सम्भव है, इक्कीसवीं शताब्दी में विज्ञान और तकनीकी पर मानवजाति की बढ़ती निर्भरता को देखकर उनका सन्ताप एक करुण विवशता में बदल जाता। आख़िर इक्कीसवीं शताब्दी में प्रवेश करने के साथ ही उसका सामना जिस तरह की जटिल स्थितियों और नए नैतिक प्रश्नों से हो रहा है, उनकी कोई कल्पना बीसवीं शताब्दी में नहीं थी। विद्रोह और अनास्था की मशाल लेकर बीसवीं शताब्दी का सामना किया जा सकता था। लेकिन इक्कीसवीं शताब्दी ने उन्हें सन्दिग्ध ही नहीं, अर्थहीन कर दिया है। उसने बीसवीं शताब्दी की रही-सही नैतिक संवेदनशीलता को अपनी आँच में कपूर की तरह उड़ा दिया है। बीसवीं शताब्दी ने तकनीकी के निष्ठुर प्रहार से मानवीय इन्द्रियों को झनझना दिया था। इक्कीसवीं शताब्दी ने तकनीकी को मानवीय इन्द्रियों का स्थानापन्न बना लिया है। ज़ाहिर है, यह शताब्दी श्रीकान्त वर्मा को अधिक नारकीय प्रतीत होती। लेकिन वे यह देखकर शायद हतप्रभ रह जाने के अलावा और क्या करते कि उसने असहमति के विवेक को ही नहीं, असहमति के अधिकार को ही कुंठित कर डाला है। शायद वे यही कहते—यह आत्म-संलाप की नहीं, विलाप की शताब्दी है। इसे रूपक में ढाला नहीं जा सकता। यह मायावी शताब्दी है।

क्रान्तियों की विफलता का अन्तिम फैसला सुनाते हुए सम्भवतः उन्हें इल्म न था कि क्रान्तियों के अधूरे स्वप्नों में ही मानव-जाति का भविष्य, उसका यूटोपिया अभी भी बचा हुआ है—तकनीकी द्वारा रचे जा रहे डिस्टोपिया के ख़िलाफ़ एक उम्मीद-भरा यूटोपिया विचारधारा के अलावा और किसके पास है ? सपना अगर सच न निकले तो क्या उसे देखना बन्द कर देना चाहिए ?

लेकिन श्रीकान्त वर्मा पूरी तरह नाउम्मीद नहीं थे। उनकी दृष्टि में 'जब तक मनुष्यता अपनी स्थिति का पुनरवलोकन करती है और उस पर पुनर्विचार करती है और जब तक यह प्रक्रिया जारी रहती है, तब तक उम्मीद है।' उम्मीद उन्हें विचारधारा से नहीं, साहित्य और कलाओं से है क्योंकि वे ही मानव-स्थिति पर पुनर्विचार करने में सक्षम हैं। श्रीकान्त वर्मा साहित्य-कला को विचारधारा के रूप मानने के बजाय विचारधारा का विकल्प मानते हैं। यह जानते हुए भी कि टेक्नालॉजी ने कलाओं को असंगत कर दिया है, वे कलाओं पर आस्था रखते हैं, हालाँकि मनुष्यता के संकट को व्यक्त करने की जवाबदेही उठानेवाली कलाएँ उन्हें स्वयं अस्तित्व के संकट से जूझती प्रतीत होती हैं ? अगर कलाओं का कोई विकल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है तो क्या टेक्नालॉजी का विकल्प है ? टेक्नालॉजी और कलाएँ हालाँकि स्वायत्त नहीं हो सकतीं, पर अपना विकल्प क्या वे स्वयं नहीं ? विचारधारा के विकल्प में कला को रखकर श्रीकान्त वर्मा शायद कला पर अतिरिक्त विश्वास प्रकट करते हैं। इसलिए वे कला के विद्रोह को आत्यन्तिक मूल्य का दर्ज़ा देते हैं। दरअसल पश्चिमी संस्कृति में कला के विद्रोह का विचार उसकी आधुनिक चेतना के साथ लगभग अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है—ख़ास तौर पर दूसरे महायुद्ध के बाद व्यक्ति के विद्रोह की ज़मीन कलाओं के भीतर ही निर्मित हुई थी।

सच कहा जाए तो युद्धोत्तर यूरोप श्रीकान्त वर्मा के विचार-लोक का प्रायः स्थायी सन्दर्भ-बिन्दु है। बीसवीं शताब्दी को एक विभीषिका के रूप में युद्धोत्तर यूरोप ने ही देखा था। सम्भवतः उसके साहित्य के गहरे अध्ययन के कारण श्रीकान्त वर्मा अपनी बौद्धिक अभिप्रेरणा ग्रहण करने के लिए उसके समीप जाकर उससे सराबोर लौटते हों। शायद यही कारण है कि उनके चिन्तन में अवधारणा, मूल्यबोध और दर्शन के स्तर पर पश्चिम की गहरी छाया दिखाई देती है। लोहिया के देसी सामाजिक विवेक से प्रतिकृत होने के बावजूद वे इस छाया से मुक्त नहीं हो पाते। वे जिस मानवीय स्वतन्त्रता की वकालत करते हैं, उसका चरित्र पश्चिमी ढंग का है। स्वतन्त्रता की देसी अवधारणा उनके यहाँ नहीं है। देसी अवधारणा शायद सम्भव भी नहीं है क्योंकि भारतीय चेतना स्वतन्त्रता की बजाय मुक्ति को लक्ष्य मानती है—पारम्परिक सन्दर्भों में उसकी आकांक्षा भले ही आध्यात्मिक मुक्ति हो, लेकिन आधुनिक सन्दर्भ में वह सामाजिक मुक्ति की आकांक्षा है। यह आकांक्षा ही एक रचनाकार के भीतर प्रतिबद्धता का संकल्प रचती है।

किन्तु श्रीकान्त वर्मा प्रतिबद्धता को रद्द करते हैं। वे उसे साहित्य का नहीं, राजनीति का स्वभाव मानते हैं। सम्भवतः इसी धारणा के तहत वे कहते हैं कि 'मेरे साहित्य और मेरी राजनीति की दुनिया अलग-अलग है। दोनों को एक में मिलाना मेरे साथ ज़्यादती है।' यह ऐसी धारणा है जिसका इस्तेमाल वे अपनी राजनीतिक प्रतिबद्धता को संगत ठहराने के लिए करते हैं। इससे शब्द और कर्म के बीच दरार को भी ढँका जा सकता है। यह विचित्र है कि आपके शब्द तो स्वायत्त हों, लेकिन कर्म प्रतिबद्ध।

कमोबेश ऐसी ही फाँक समय के प्रति उनके रवैये में देखी जा सकती है। यह विडम्बना है कि श्रीकान्त वर्मा कविता से चिन्तन का काम लेते हैं। उनकी कविता अनुभव को तत्काल विचार में बदल देनेवाली कविता है। ऐसी कविता जो इतिहास के भीतर घट्यमान वर्तमान को चिन्तन का विषय बनाती है और प्रश्नों की अन्धाधुन्ध बौछार से उसे बींध देती है। उनका गद्य भी अपेक्षाकृत संयत भंगिमा में ऐसे ही प्रश्न उठाता है। वर्तमान पर हमला वे उस वक़्त बोलते हैं जब उसे समझने की ज़रूरत सबसे ज़्यादा थी—'मायादर्पण' और 'जिरह' के दौर में। जब सचमुच वर्तमान पर हमला बोलने का वक़्त आया, वे अतीत की तरफ़ मुड़ गए; अतीत के भीतर से होकर वे वर्तमान को समझने की चेष्टा में रत हो गए। 'मगध' का विचार-लोक इसका साक्ष्य है। भारत का वर्तमान यहाँ उसके अतीत में अन्यथाकृत है, मिथकों-किंवदन्तियों में घुस गया है। यह दिलचस्प है कि श्रीकान्त वर्मा के विचार-लोक के केन्द्र में, प्रारम्भ में बीसवीं शताब्दी थी, बाद में उसकी जगह महाजनपद युग विराजमान हुआ। बीसवीं शताब्दी पर हमला किया जा सकता था, वह आँखों के सामने थी। लेकिन महाजनपद युग बहुत दूर है, उस पर आक्रमण सम्भव नहीं। श्रीकान्त वर्मा ने अतीत के साथ एक चिन्तक और कवि की तरह सलूक किया—उसे रूपक में ढाल दिया। उसकी नैतिक संवेदनहीनता में अपने वर्तमान के बिम्ब देखने का प्रयत्न किया। ये बिम्ब अतीत के बर्बर कृत्यों के बिम्ब थे। लेकिन उन कृत्यों को क्या कहें जिनमें वर्तमान की बर्बरता को अतीत के बिम्बों के साक्ष्य पर प्रामाणिक बनाने के बेख़ौफ़ प्रयत्न किए गए हैं—चाहे वह नाज़ी यातनागृह हों, या फिर गुजरात। श्रीकान्त वर्मा की शताब्दी का प्रतीक है, यातनागृह। क्या गुजरात हमारी इस शताब्दी का प्रतीक होगा ? श्रीकान्त वर्मा होते तो कहते—'अब मुझसे पढ़ा नहीं जा रहा इतिहास।' हम पूछ सकते हैं—'बर्बरों ने इतिहास के साथ यह कैसा सलूक किया ?' कवि ने कवि की तरह और 'बर्बरों ने बर्बरों की तरह सलूक किया। इतिहास को कवि एक रूपक में पा लेता है, और बर्बर अपने कृत्यों में। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमूर्त कालजयता या कालजयी प्रासंगिकता
एक मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य

पी.एन. सिंह

हिन्दी साहित्य चिन्तन एवं समीक्षा में मार्क्सवादी हस्तक्षेप के साथ विचारधारा, समाजवादी यथार्थवाद, प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता, प्रासंगिकता जैसी अवधारणाओं का चलन हुआ और एक लम्बे अर्से तक ये चर्चा के केन्द्र में रहीं। इनके विरोध में कलात्मक स्वायत्तता, व्यक्ति स्वातन्त्र्य, रूप वैशिष्ट्य, अनुभूतिगत प्रामाणिकता, जातीय बोध जैसी अवधारणाएँ असरदार कोनों से उछाली गईं और इनके जेहादी भी रहे, लेकिन ये दरकिनार ही रहीं। इधर सोवियत संघ के विघटन के साथ बौद्धिक माहौल बदला है, और न केवल समाजवाद और समाजवादी यथार्थवाद अवमानित हुए हैं, बल्कि प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता और प्रासंगिकता जैसे साहित्यिक मूल्य भी प्रश्नांकित हुए हैं। उत्तरसंरचनावादी चिन्तन का विखंडनवादी उत्साह भी किसी मूल्यगत अवधारणा या स्थापना के प्रति आश्वस्त नहीं होने देता। आज चूँकि प्रासंगिकता के माने बाजार अर्थात् निर्द्वन्द्व पूँजी का क्रूर सच है, इसलिए 'प्रासंगिकता' को दरकिनार रखते हुए हम क्लैसिक्स की दुनिया में लौटकर कालजयता को परिभाषित करने में लगे हैं। भोपाल के महालक्ष्मी बाई कन्या महाविद्यालय में 15-16 अक्टूबर 2004 को आयोजित 'कालजयी साहित्य की परम्परा और आधुनिक हिन्दी कथा-लेखन' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी की रपट, नामवर सिंह का उसमें व्याख्यान (देखें, 'वसुधा'-63) और इस पर राजेन्द्र यादव की प्रतिक्रिया ('हंस', मार्च, 2005) को पढ़ते हुए कुछ ऐसा ही एहसास होता है। इस राष्ट्रीय सेमिनार में प्रगतिशीलता और प्रासंगिकता से बचते हुए कालजयता को प्रमुखतः टी.एस. इलियट की 'क्लैसिक' की अवधारणा के आईने में ही देखने-परखने की चेष्टा है। अपने इस बीज निबन्ध में इलियट का बल प्रमुखतः प्रौढ़ जातीय चेतना, प्रौढ़ भाषायी रिक्थ, रचनाशील मस्तिष्क की प्रौढ़ता, इत्यादि के साथ-साथ गुरुता या गाम्भीर्य, व्यापकता और सार्वभौमिकता जैसे अर्नल्डवादी मानकों पर है। नामवरजी का व्याख्यान, अनेक तलस्पर्शी प्रेक्षणों के बावजूद, इलियट के साँचे से बाहर नहीं निकल पाता। 'हंस' में राजेन्द्र यादव का विश्लेषण भी अपनी वर्गचेतन दृष्टि के बावजूद, कुल मिलाकर, उसी साँचे में बना रहता है। दोनों का कालजयता सम्बन्धी विमर्श मार्क्सवादी न होकर इलियटवादी है। राजेन्द्र यादव ने निश्चय ही सामंती पीठिका और उसकी कलात्मक एवं मूल्यगत फलश्रुति को प्रस्थान-बिन्दु बनाया है, लेकिन वह भी इलियट को अतिक्रमित करते नहीं दिखते। सारांश यह कि 'क्लैसिक' की अवधारणा को समझने के लिए इलियट का 1944 का निबन्ध ही क्लैसिक बना रहता है जिसकी ओर सबको बार-बार लौटना पड़ता है।

संपा., 'समकालीन सोच', गौतम बुद्ध कालोनी, मालगोदाम रोड, गाजीपुर-233001 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान निबन्ध में नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव या अन्य किसी की क्लैसिक सम्बन्धी अवधारणा का खंडन अथवा मंडन का कोई प्रयास नहीं है। इसमें प्रयास मात्र कालजयता को मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की पीठिका में टिकाऊ सार्थक प्रासंगिकता के रूप में समझने का है। सामाजिक अथवा व्यवस्थागत बदलाव के बावजूद जो कृति किसी न किसी रूप में सन्दर्भ बनी रहती है वह कालजयी है। सन्दर्भ में बने रहना इसकी प्रासंगिकता का अक्षुण्ण बने रहना है। प्रासंगिकता से स्वतन्त्र कालजयता पहेली बन जाएगी।

अपने-अपने ढंग से कार्ल मार्क्स और मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तकों ने भी कालजयता पर विचार किया है। खुद मार्क्स ने *राजनीतिक अर्थशास्त्र का आलोचना में अवदान* (1857) के लिए लिखी गई 'भूमिका' में इस प्रश्न को उठाया था जो 1857 में 'आमुख' (Preface) द्वारा विस्थापित कर दी गई और अन्ततः 1939 में *ग्रंड्रिज* में संकलित हुई। सम्भवतः 'भूमिका' पुस्तक की भावभूमि के अनुकूल नहीं थी। जो भी हो, किसी कृति की कालजयता सम्बन्धी कारण-मीमांसा की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। वैसे 'आमुख' में भी एक सुपरिचित स्थापना है जो प्रकारांतर से इस पर रोशनी डालती है। स्थापना यह है कि किसी व्यवस्था के भौतिक आधार और अधिरचना के बीच कोई सीधा एक-एक का रिश्ता नहीं होता। अधिरचना की विविध विचारधारात्मक अभिव्यक्तियों (कला, साहित्य, धर्म, राजनीति, नैतिकताएँ, इत्यादि) में परिवर्तन का मानव-चेतना से जुड़ाव के चलते भौतिक आधार से कमोबेश स्वतन्त्र तर्क होता है और इनमें परिवर्तन की गति भौतिक आधार में हो रहे परिवर्तनों की तुलना में धीमी होती है। अर्थात्, मानव-चेतना में पूर्व की सामाजिक संरचनाओं के संस्कार बचे पड़े रहते हैं जिसके फलस्वरूप बाद वाली पीढ़ियों का अतीत से संवाद बनता है। अत्याधुनिक पूँजीवादी समाज में भी सामंती धार्मिक एवं सामाजिक मूल्यों जैसे आस्था, वफादारी, त्याग, बलिदान, परिवार और पारिवारिक मूल्य इत्यादि का कायम रहना जीवंत अनुभव हैं। बल्कि ये ही वर्तमान पूँजीवादी समाज की आलोचना के मानक सन्दर्भ बने रहते हैं। अर्थात्, इनका प्रासंगिक बने रहना मनोगत आवश्यकता होने के साथ-साथ भौतिक आवश्यकता भी है। मार्क्स इसे उचित मानते नहीं प्रतीत होते, लेकिन एक दशक पूर्व लिखे *कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो* में पूँजीवादी समाज की क्रूरता एवं नैतिक फूहड़ता की आलोचना में इसका सहारा लेते हैं। उन्हें इस सांस्कृतिक यथार्थ को स्वीकारने में कोई हिचक नहीं है, यद्यपि विशुद्ध भौतिकवादी दृष्टि से ये अप्रासंगिक मानसिक उपस्थितियाँ हैं। दरअसल, मानव-चेतना में सभ्यतागत परतें होती हैं जिनमें बहुत सारी मस्तिष्क के अवचेतन का हिस्सा होती हैं। यहाँ ध्यातव्य है कि जिसे कार्ल मार्क्स एक अप्रासंगिक मानसिक संस्कार के रूप में स्वीकृति देते लगते हैं उसे ही सिगमंड फ्रायड और कार्ल जुंग मानव-मस्तिष्क के अवचेतन का अनिवार्य हिस्सा बताते हैं जो परिस्थिति विशेष में निर्णायक भूमिका निभाते हैं। तीनों में अन्तर इतना भर है कि कार्ल मार्क्स का सन्दर्भ सामाजिक-आर्थिक है, फ्रायड का नितान्त वैयक्तिक और जुंग में जातीय चेतना है। इलियट, नामवर सिंह और राजेन्द्र यादव तीनों में जुंग की अनुगूँज सुनी जा सकती है जिसे राजनीतिक अथवा शास्त्रवादी मार्क्सवाद विवशता में ही स्वीकार करता है।

'भूमिका' में कार्ल मार्क्स कालजयता पर सविस्तार विचार करते हैं जो रोचक, उपादेय और मार्गदर्शी है। सन्दर्भ प्राचीन यूनानी कला और साहित्य के प्रति कायम आकर्षण का है। आखिर होमर के महाकाव्य और इस्किलीज, सोफोक्लीज और इरूपिडीज के नाटक सदियों बाद भी लोगों को क्यों आकर्षित करते हैं? मार्क्स जैसा इतिहास-चेता व्यक्ति भी इनके जादुई प्रभाव से मुक्त नहीं है। उनका लिखा जाना आज सम्भव नहीं है क्योंकि उनकी रचना के अनुकूल अब परिस्थितियाँ नहीं रहीं। मनुष्य सम्बन्धी हमारी अवधारणा, हमारा सौन्दर्यबोध भिन्न हैं। फिर भी उनका अनायास आकर्षण क्यों? मार्क्स का मानना है कि यूनानी कला और साहित्य के सृजन के लिए यूनानी मिथक आवश्यक हैं, और इन मिथकों की कल्पना एक निश्चित प्रकार के पिछड़े, सामंती आर्थिक-सामाजिक ढाँचे में ही सम्भव है। फिर भी वे कृतियाँ आकर्षित करती हैं। मार्क्स के अनुसार—"कठिनाई यह समझने में नहीं है कि यूनानी कलाएँ और महाकाव्य सामाजिक विकास के किन्हीं रूपों से बँधे हैं, कठिनाई यह है कि वे आज भी कलात्मक आनन्द देते हैं और किसी न किसी प्रकार हमारे लिए प्रतिमान एवं अप्राप्य आदर्श के रूप में महत्त्वपूर्ण हैं।" इस कलात्मक आनन्द की तुलना उन्होंने मासूम बच्चे के प्रति सार्वभौम, सहज आकर्षण से की और उस प्राचीन यूनानी समाज को मानवता का 'ऐतिहासिक बचपन' बताया। उनकी दृष्टि में, यूनानी साहित्य इस ऐतिहासिक बचपन की एक 'सुन्दर फलश्रुति' था। लेकिन इतिहास अपने को दोहराता नहीं है। वह यूनानी समाज हमेशा-हमेशा के लिए बीत चुका है, यद्यपि उसकी कलात्मक उपलब्धियाँ कायम हैं। भारतीय सन्दर्भ में ये सारी बातें *रामायण, महाभारत, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मेघदूत, उत्तर-रामचरितम्, मानस* इत्यादि के बारे में भी कही जा सकती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये भी हमारे प्रतिमान हैं, साहित्य सृजन के सन्दर्भ में प्रमुख उपजीव्य हैं—विशेषतः *रामायण* और *महाभारत*। ऐसा क्यों है? मार्क्स एक और समाधान सुझाते हैं—"विकसित समाज बेहतर साहित्य देगा ही, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; आर्थिक-सामाजिक स्तर पर पिछड़ा होने के बावजूद यूनान ने बेहतर साहित्य दिया।" अर्थात्, आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था और उसकी कलात्मक-साहित्यिक उपलब्धियों या अन्य विचार-धारात्मक उपलब्धियों अथवा व्यवहारों के बीच कोई सीधा-सपाट निष्कर्षात्मक रिश्ता नहीं है। मानव कल्पना की अपनी, कमोबेश अपने भौतिक आधार से स्वतन्त्र, भूमिका है। खाद, पानी और मिट्टी पौध के लिए अपरिहार्य आवश्यकताएँ हैं, लेकिन इनकी वानस्पतिक फलश्रुति जैसे फूल की ये व्याख्या नहीं बन सकते। मार्क्स इस कठिनाई से अवगत हैं और समझने की चेष्टा करते हैं लेकिन लेनिनवादी प्रत्यावर्तन सिद्धान्त से प्रभावित राजनीतिक एवं साहित्यिक मार्क्सवादियों ने इसकी ओर ध्यान नहीं दिया या इसके प्रति अपेक्षित गम्भीरता नहीं दिखाई।

लेकिन इस बिन्दु पर थोड़ा ठहरकर कुछ बातें कही जा सकती हैं जिनकी ओर मार्क्स का ध्यान नहीं जाता दिखता। ईसाइयत के हेब्रूवादी नैतिक आग्रहों के चलते मध्ययुगों में यूनानी समाज एवं संस्कृति को 'हीथेन' अर्थात् असभ्य, जंगली, असंस्कृत, इत्यादि बताकर खारिज कर दिया गया था। इतना ही नहीं, प्राचीन यूनान में ही भाववादी एवं नैतिक दार्शनिक प्लेटो ने होमर के महाकाव्यों और उनसे प्रभावित कवियों को अपने आदर्श गणराज्य के लायक नहीं समझा। नैतिक आग्रह और कलात्मक उड़ान के बीच की जगह को भरना आसान नहीं है। धर्मप्रधान मध्ययुगों में कला धर्म की दासी बनी रही। इसके नैतिक बोध ने कलात्मक अभिव्यक्ति के पंख कुतरे जिसे पुनर्जीवन और उड़ने का आकाश नवजागरण ने दिया। कार्ल मार्क्स इसी नवजागरण की संतान थे और उनके समय तक यूनानी विचार, कला एवं साहित्य संस्थाबद्ध हो चुके थे। संस्थाबद्धता नैरन्तर्य प्रदान करती है—आस्वाद का नैरन्तर्य भी। इसी सन्दर्भ में विश्वविद्यालय को आधुनिक चर्च की संज्ञा दी जा सकती है। अगर रेमंड विलियम्ज की एक अवधारणा का उपयोग करते हुए कह सकते हैं कि आधुनिक विश्वविद्यालय सांस्कृतिक एवं कलात्मक आनुवंशिकी को निरन्तरता प्रदान करते हैं। मिल्टन जैसा शुद्धतावादी प्रोटेस्टेंट ईसाई भी इसके प्रभाव से नहीं बच सका था। कार्ल मार्क्स स्वयं इसी की उपज थे। फिर भी, उन्हें यह श्रेय जाता है कि वह *आर्थिक और दार्शनिक पांडुलिपियाँ—1844* में, अर्थात् 'भूमिका' से 13 वर्ष पूर्व ही, इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि कलात्मक बोध इतिहास-निर्मित होता है। अगर ऐसा है तो 1857 में वह जिस कुतूहल और विस्मय से यूनानी कला को देख रहे थे वह उनके आज के सामान्य पाठकों को भी चकित करता है। आज का पाठक जानता है कि मानव चेतना में अनेक सभ्यतागत परतें सुरक्षित हैं और सामाजिक शैक्षिक संस्थाएँ, विशेषतः सामाजिक रीति-रिवाज, परम्पराएँ, चर्च और विश्वविद्यालय, इन परतों को सुरक्षित रखती हैं। कुल मिलाकर, बदलावों के बीच आस्वाद की निरन्तरता सामाजिक मनस में कायम रहती है। सभ्यता की उपज के रूप में मनुष्य इन स्मृतियों एवं संस्कारों से मुक्त नहीं हो सकता।

जो भी हो, मार्क्सवादी समाज-चिन्तकों में से कुछ ने तो यूनानी कला के आकर्षण से सम्बन्धित मार्क्स की व्याख्या को यथावत स्वीकार किया, लेकिन बहुत सारे लोगों ने इसे अपर्याप्त मानते हुए नई व्याख्या दी। आरम्भिक मार्क्सवादी दार्शनिकों का ध्यान प्रमुखतः आर्थिक-सामाजिक अर्थात् राजनीतिक मुद्दों पर था और मार्क्स की सांस्कृतिक-कलात्मक चिन्ताएँ दरकिनार रहीं। इन्हें मात्र एक डिराइव्ड, गौड़ यथार्थ के रूप में मान्यता दी गई और सारा ध्यान मुख्यतः आर्थिक एवं राजनीतिक विश्लेषण पर रहा, और बहुतों के लिए लेनिन का प्रत्यावर्तन का सिद्धान्त ही पर्याप्त था। ऐसा एंगेल्स की बार-बार की चेतावनियों के बावजूद भी कायम रहा, यद्यपि बहुत सारे लोग इस स्थिति के लिए एंगेल्स को ही जिम्मेदार बताते हैं।

खैर, जार्जी प्लेखानोव पहले प्रमुख मार्क्सवादी हैं जिन्होंने *कला और सामाजिक जीवन* (1912) जैसी पुस्तक लिखी और सौन्दर्यबोध पर सविस्तार विचार किया। उनकी दृष्टि में "उपादेयता सौन्दर्यबोध की अग्रचर है", अर्थात् "युटिलिटी प्रिसीड्स एस्थेटिक्स।" लेकिन इससे यह समझ में नहीं आता कि हिमालय के बर्फाच्छादित शिखर, घने खतरनाक जंगल, निरभ्र आकाश में चमकता चाँद, सुबह की फूटती किरणें, चिड़ियों की चहचह या बगबगाते फूलों से लदी टहनी, इत्यादि हमें क्यों सुन्दर लगती हैं? एक सीमा तक जो उपयोगी है वह आकर्षित भी करता है, लेकिन बहुत सारी चीजें हैं जो उपयोगी हैं और आकर्षित नहीं करतीं या उपयोगी न होकर भी आकर्षित करती हैं। अगर डी-क्विन्सी की बात मानें तो पाकशास्त्र पर कोई पुस्तक अधिक उपयोगी होने के बावजूद मिल्टन के *पैराडाइज लॉस्ट* जैसी मूल्यवान नहीं मानी जाती। बच्चन की *मधुशाला* कालिदास के *मेघदूत* की बराबरी नहीं कर सकती, यद्यपि *मधुशाला* में बहुत कुछ है जिसे सेक्यूलर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतान्त्रिक बताया जाता है। इस प्रकार, सौन्दर्यबोध स्थूल उपादेयता का अतिक्रमण है और इसे जार्ज लूकाच जैसे श्रेष्ठ मार्क्सवादी साहित्य चिन्तक की स्थापना से भी नहीं समझा जा सकता। अपने एक चर्चित निबन्ध 'नरेट ऑर डेस्क्राइब' में वह महान कला को अन्तर्निहित सामाजिक यथार्थ की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के अंकन से जोड़ते हैं जो एक बौद्धिक अवधारणा है। इसके सहारे भी दूर से आता भीना-भीना संगीत किसी को क्यों मोहता है, नहीं समझा जा सकता। केवल अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मक यथार्थ की समझ के दायरे में किसी कलाकृति के सौष्ठव को समझना असम्भव है। फिर भी, महान कला के सम्बन्ध में लूकाच की इतिहास-संगत मानवीय सार्थकता की बात सही है क्योंकि महानता मात्र सुन्दर को अतिक्रान्त करती है। लूकाच श्रेष्ठ कलाकृति में 'विशेष और सार्वभौम' की द्वन्द्वात्मक अन्विति की भी चर्चा करते हैं। निश्चय ही, कलाकृति में निहित यह 'सार्वभौम' उसकी कालजयता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

मिखाइल लिफ्सिज ने सर्वप्रथम मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र पर एक स्वतन्त्र पुस्तक *फिलॉसफी ऑफ आर्ट ऑफ कार्ल मार्क्स* (1933) लिखी। उन्होंने मार्क्स की स्थापनाओं को ही आधार मानते हुए कहा कि प्राचीन यूनानी समाज चूँकि वर्तमान पूँजीवादी समाज से कहीं ज्यादा 'सन्तुलित' था इसलिए उस समय बेहतर साहित्य की रचना सम्भव हुई। पूँजीवादी समाज की गलाकाटू प्रतियोगिता से चूँकि सामाजिक सन्तुलन बिगड़ा है और संवेदनशील व्यक्ति निर्वासित हुआ है, अतः कला की अवमानना स्वाभाविक है। लेकिन आश्चर्य है कि संक्रमण के दौर में ही कालजयी कृतियाँ लिखी गई हैं, और संक्रमण का दौर सामाजिक सन्तुलन का दौर नहीं हुआ करता। फिर भी, लिफ्सिज का यह दावा सही है कि मार्क्स का सामाजिक विजन मूलतः 'सौन्दर्यबोधीय' है और इसलिए तत्त्वतः मानवतावादी भी। उनकी दृष्टि में, विजन की यह सार्वभौम मानवीय प्रासंगिकता ही मार्क्सवादी कला एवं साहित्य के सार्वभौम अपील को सुनिश्चित बनाती है। मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तक अर्न्स्ट फिशर भी अपनी पुस्तक *कला की आवश्यकता* (1959) में प्रासंगिकता के प्रश्न को उठाते हैं और यह रेखांकित करते हैं कि श्रेष्ठ कलाकृति में कुछ ऐसा जरूर है जो किसी "अपरिवर्तनीय सत्य" को अभिव्यक्ति देता है। उनकी दृष्टि में मानव इतिहास में क्रमभंग के साथ-साथ नैरंतर्य भी है, और प्रत्येक वर्ग या व्यवस्था में अपनी विशिष्टता के अलावा कुछ "सार्वभौम" भी अन्तर्निहित होता है। या इसमें कुछ होता है जो सार्वभौम के निर्माण में सहयोगी होता है। कलाकृति की कालजयता उसमें निहित इसी सार्वभौम के कारण है। कालजयता के सन्दर्भ में फिशर मानव गरिमा, मानव संघर्ष, प्रेम, विषाद, इत्यादि की चर्चा करते हैं जो मानव अस्तित्व में निहित हैं। अतः इनका कलात्मक अंकन, कालगत अंतराल के बावजूद, अपना प्रभाव छोड़ता है। अर्थात्, कलाकृति इसी "मानवता के क्षणों" को अभिव्यक्ति देकर देश-काल की सीमा लाँघ जाती है। फिशर की इस स्थापना में एक ओर लूकाच की 'सार्वभौम' और 'विशेष' की द्वंद्वात्मक अन्विति की गूँज है तो दूसरी ओर इसमें नव्य-क्लासिकीय "शाश्वत मानव प्रकृति" की अवधारणा भी निहित है। लेकिन लूकाच का सार्वभौम अन्तर्निहित द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का एक क्षण मात्र है, और इसलिए गतिशील है। अर्थात, सार्वभौम भी रूपान्तरित होता चलता है जबकि फिशर की अपरिवर्तनीयता की अवधारणा ऐसी किसी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया से बेखबर है। दरअसल, यह मूल मार्क्सवादी समझ का निषेध है।

मैक्स रैफेल और हैन्स हेस्स ने मार्क्स की यूनानी कला एवं साहित्य सम्बन्धी समझ को रूमानी माना है। उनकी दृष्टि में यूनानी कला एवं साहित्य की कालजयता सम्बन्धी मार्क्स की व्याख्या अपर्याप्त ही नहीं, गलत भी है। हेस्स के अनुसार, कोई प्राचीन कलाकृति, दर्शन अथवा सभ्यता के प्रति टिकाऊ आकर्षण उसमें निहित किन्हीं तत्वों के कारण नहीं बल्कि उसके इर्द-गिर्द सचेतन निर्मित प्रभामंडल के चलते होता है—"मार्क्स की समझ में यह नहीं आया कि जिसे वह मोहक बताते हैं वह, वास्तव में, प्रतिष्ठा है और प्राचीन यूनान की यह प्रतिष्ठा—चाहे वह कला के क्षेत्र में हो अथवा दर्शन के क्षेत्र में—सचेतन कायम की गई है। खुद मार्क्स इस मान्यता के शिकार थे।" अतः हेस्स के अनुसार, यूनानी कला का शाश्वत आकर्षण एक लुभावना विचार है, न कि मार्क्सवाद। उनकी यह भी मान्यता है कि मार्क्सवादी शब्दकोश में "शाश्वत" जैसे शब्द के लिए जगह नहीं है। दरअसल, व्यवस्थाएँ अपने सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों के जरिए अपने स्वार्थ में अनेक प्रकार के प्रयोजनहीन एवं बेमेल विचारों को कायम रखती हैं और उनके सातत्य का भ्रम पैदा कर अपने सातत्य का भ्रम पैदा करती हैं। आशय यह कि किसी कृति की कालजयता एक प्रायोजित अवधारणा है। प्रत्येक कलाकृति समय-सापेक्ष होती है और इसलिए अतिक्रमित होती रहती है। मार्क्सवादी सोच-समझ के दायरे में यह स्थापना कमोबेश निरापद है, यद्यपि यह सभ्यता-संस्कृति के मनोगत आयामों को दरकिनार रखती है। "सुदूरता का मोह", "अतीत का आकर्षण" परत-दर-परत स्मृतियों की संरचना के चलते हैं और "सभ्य" होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नाते मनुष्य इनसे मुक्त नहीं हो पाता। फ्रायड के अनुसार, यही मनोरोगों का मूल कारण है। इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृति और मानव स्वभाव परस्परविरोधी अवधारणाएँ हैं। मनुष्य ने स्वभाव की कीमत पर ही सभ्यता और संस्कृति को अर्जित एवं विकसित किया है। अतः नवजागरण का "मानववाद" प्रायोजित नहीं कहा जा सकता। वह मध्ययुगीन जड़ता से मुक्ति की अभिव्यक्ति था और इसने शहीद पैदा किए। इस प्रकार, हेस्स एक सत्य को जरूर उद्घाटित करते हैं, लेकिन उनके द्वारा उद्घाटित सत्य लोकप्रिय या राजनीतिक मार्क्सवाद में ही सिमटा प्रतीत होता है।

नव-वाम के एक अत्यन्त चर्चित साहित्य-चिन्तक टेरी ईगलटन का मानना है कि दाँते की *डिवाइन कामेडी* को मात्र काव्य-सौष्ठव के आधार पर कालजयी कृति कहना एक घिसी-पिटी बात होगी—"तर्क ऐसा ही है जैसे यह कहना कि कोई कृति इसलिए कालजयी है कि वह कलाकृति है।" इनके अनुसार कलाकृति भी एक विचारधारात्मक संरचना होती है और विभिन्न स्थितियों में सौन्दर्य की अपील इसके "ठोस विचार समुच्चय" के कारण होती है। वह प्रश्न उठाते हैं कि आखिर हमें किसानों के लोलार्ड विद्रोह या कारीगरों का लूड्डाइट विद्रोह आज भी क्यों आकर्षित करता है? चूँकि अपनी परिस्थिति में हम भी विद्रोह की आवश्यकता महसूस करते हैं, इसलिए पुराने विद्रोहों से हमारा भावनात्मक रिश्ता बनता है। अतः ईगलटन किसी कृति की कालजयता को उसकी 'विचारधारात्मक पुनर्प्रस्तुति' (ideological reproducibility) की क्षमता के रूप में आँकते हैं। बर्तोल्त ब्रेख्त का भी कहना है कि "साहित्यिक कृतियों का जीवन, मरण एवं पुनर्जीवन विचारधाराओं के इतिहास का ही हिस्सा है।" आज भी *महाभारत* क्यों लोकप्रिय है? इसलिए कि शकुनि, दुर्योधन और दुःशासन, धृतराष्ट्र और गांधारी, इत्यादि के माध्यम से हम वर्तमान राजनीतिक दुष्चक्रों और पारिवारिक मोह में फँसी जिन्दगी को हम बेहतर समझ पाते हैं। अर्थात्, हम अपने सन्दर्भ में *महाभारत* की 'पुनर्प्रस्तुति' करते हैं। दलित एवं अन्य उपेक्षित तबकों ने एकलव्य, शंबूक और कर्ण के माध्यम से अपनी नियति को समझने का प्रयास किया है। इसी 'पुनर्प्रस्तुति' के रूप में कलाकृतियाँ सार्वभौम रूपक के रूप में कालातिक्रमण करती हैं।

इसी प्रकार अपनी पुस्तक *निजता और संबद्धता* (Idintity and Relationship) में जेरेमी हॉर्थन बताते हैं कि कोई भी कलाकृति अपने कथ्य और रूप वैशिष्ट्य की निजता और परिवेश से सम्बद्धता की द्वन्द्वात्मक अन्विति के रूप में कालजयी बनती है। विभिन्न परिवेशों में पाठकीय सम्बद्धता के द्वारा उसकी, अगर ईगलटन की अवधारणा का उपयोग करें, पुनर्प्रस्तुति पुनरुत्पादन होता रहता है और कृति अपने स्थान काल का अतिक्रमण बनती है। अर्थात् कृति अपने कृतिकार से स्वतन्त्र पुनर्प्रस्तुत और पुनरुत्पादित होती है—"हैमलेट जैसी कृति प्रत्येक युग में एक-सी प्रतिक्रिया नहीं पैदा करती, बल्कि युग-विशेष की चेतना किसी दूसरे युग की चेतना का तुलनात्मक सन्दर्भ बनकर छानबीन करती है।" इस प्रकार, पूर्व की कृतियाँ बाद की कृतियों का सन्दर्भ बनकर भी स्थान-काल का अतिक्रमण करती हैं। आश्चर्य नहीं, किसी कृति की कालजयता उसकी पुनरुत्पादकता से जुड़ती है और पुनरुत्पादनकर्ता प्रासंगिकता से। अप्रासंगिक कथ्य में पुनरुत्पादकता की सम्भावना नहीं होती क्योंकि प्रासंगिकता पाठकीय सम्बद्धता की एक महत्त्वपूर्ण शर्त है। तुलसी भी अपने रामभक्त पाठकों के लिए विभीषण को ग्राह्य नहीं बना सके क्योंकि विभीषण पारिवारिक सन्दर्भों में अप्रासंगिक है।

हिन्दी काव्य-साहित्य में *गोदान, त्यागपत्र* और *शेखर : एक जीवनी* को कालजयी कृति के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, यद्यपि तीनों अपने कथ्य, रूप और बोधग्रहण की दृष्टि से सर्वथा भिन्न कोटि की हैं। अगर *गोदान* किसान जीवन का राष्ट्रीय मेटाफर है तो *त्यागपत्र* स्त्री-विमर्श का एक सार्थक प्रस्थान-बिन्दु होने के साथ-साथ स्त्री-पीड़ा के मार्मिक अंकन का शिखर है, तथा *शेखर : एक जीवनी* अनुभव, अनुचिन्तन और बोधग्रहण का कलात्मक शिखर। तीनों का कथ्यात्मक सत्य विद्रोह है और विद्रोह-भाव में पुनरुत्पादकता की असीम सम्भावना होती है। यह कभी अप्रासंगिक नहीं होता। होरी की अर्थगर्भा सादगी, उसका नेक विश्वासी मन पुरोहिती, सामंती, व्यावसायिक एवं व्यावहारिक तिकड़म पर गम्भीर नैतिक टिप्पणी है। विश्वासघातों के कुठाराघातों में फँसी *त्यागपत्र* की बुआ की अप्रतिम विनम्र, और कमोबेश मूक दृढ़ता और मार्मिकता को दोहराया नहीं जा सकेगा। आज के स्त्रीवादी विमर्शकार लेखिकाओं के लिए यह तलस्पर्शी संवेदन और सर्जनात्मक भाषा की दृष्टि से भी कलात्मक चुनौती है। *शेखर : एक जीवनी* को पढ़ते समय लगा था कि यह अपनी पूर्ववर्ती अंग्रेजी साहित्य की क्लैसिक कृतियों—*यूलिसिस* और *पोर्ट्रेट ऑफ ए यंगमैन ऐज एन आर्टिस्ट* की तुलना में बोधग्रहण की दृष्टि से अधिक समृद्ध है, यद्यपि लिओपोल्ड ब्लूम का अकेलापन अधिक सूना और चुनौतीपूर्ण है क्योंकि धार्मिक एवं भाषायी अल्पसंख्यक होने के नाते वह तरह-तरह के कटु अनुभवों से गुजरने के लिए अभिशप्त है जबकि शेखर के पास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकल्प है। इसलिए एक जगह विवशता की तीक्ष्णता है और दूसरी जगह विकल्प का ऐडवेन्चर है। इसी कारण जेम्स जॉयस के उपर्युक्त उपन्यास जिस सर्जनात्मक विस्फोट और ऊर्जा का एहसास देते हैं उतना *शेखर : एक जीवनी* नहीं देता। परिस्थितिगत कारणों के चलते जेम्स जॉएस भाषायी सम्भावनाओं का भी अधिक दोहन करते हैं। इसके बावजूद, अपने परिवेश विशेष में शेखर की कलात्मक एवं बोधगत अर्थवत्ता कायम रहती है और यह एक क्लैसिक के रूप में प्रतिष्ठित है। अगर *त्यागपत्र* स्त्री-विमर्श का क्लैसिक है तो *गोदान* किसान-विमर्श होने के साथ-साथ समाजवादी, स्त्रीवादी और दलितवादी विमर्श का प्रस्थान-बिन्दु है। *शेखर-एक जीवनी* के भी अनगिनत आयाम हैं। इस बिन्दु पर यह ध्यातव्य है कि विद्रोह-भाव की ही तरह सार्थक प्रस्थान-बिन्दु भी सन्दर्भ-च्युत नहीं पाते। दुखद है कि इसके बाद ही अज्ञेय ने अपनी जमीन छोड़ दी और अपने सुघड़ एवं कलात्मक द्वीप में सिमटते चले गए और उनके सृजन में एक किस्म का कलात्मक ठंडापन आया। बाहर से टकराहटें समाप्त हो गईं और अन्ततः वह *अपने-अपने अजनबी* की बर्फीली कंदरा में ऊर्जारिक्त पड़े दिखते हैं। एक बड़ी गरजती सम्भावना का यह समापन दुखदायी है। फिर भी *शेखर : एक जीवनी* के रचनाकार के रूप में वह हिन्दी कथा-साहित्य के एक निर्विवाद शिखर हैं जिस पर नामवरजी तक मुहर लगाने में नहीं हिचकते। नामवरजी ने *बाणभट्ट की आत्मकथा* और *मैला आँचल* का भी क्लैसिक्स के रूप में उल्लेख किया है। लेकिन पहली कृति की महत्ता के पीछे द्विवेदीजी की प्रतिष्ठा है और *मैला आँचल* की तुलना में स्वयं रेणु की *परती परिकथा* अधिक अर्थगर्भा और सम्भावना-सम्पन्न है। *नौकर की कमीज* का साँय-साँय करता माहौल, लगता है, काफ्का और प्रूस्त का तुलना में एक कमजोर पुनर्सृजन है जो इसके क्लैसिक होने के रास्ते में दुर्लंघ्य बाधा है।

एक बात और, टी.एस. इलियट से सहमत होते हुए नामवर जी कहते हैं कि कोई क्लैसिक दोहराई नहीं जा सकती क्योंकि यह अपने विषयवस्तु की सारी कथ्यात्मक एवं भाषिक सम्भावनाओं का दोहन कर लेती है। अर्थात् क्लैसिक किसी संश्लिष्ट परम्परा का परिसमापन है। इलियट का प्रेक्षण उत्तर-शेक्सपियर नाटककारों के सन्दर्भ में था जो अपनी काव्यगत क्षमताओं के बावजूद कोई विशिष्ट पहचान नहीं बना पाए क्योंकि उन्होंने शेक्सपियर की ट्रेजि-कॉमिक जीवनदृष्टि और क्लैकवर्स को अपना मॉडल मान लिया था। वे नहीं समझ सके थे कि इन क्षेत्रों में शेक्सपियर से कुछ बेहतर कर पाना सम्भव नहीं था। अपने व्याख्यान में नामवरजी *साकेत* का उल्लेख करते हैं। अर्थात् तुलसी के बाद रामकथा पर कुछ लिखने के प्रयास की स्वाभाविक परिणति *साकेत* जैसी ही होनी थी। यही बात केशव की *रामचन्द्रिका* के बारे में भी कही जाती है। यह सही है कि शेक्सपियर की रोमैन्टिक परम्परा से बाहर निकलकर ही अंग्रेजी ड्रामा में कुछ महत्त्वपूर्ण किया जा सका, लेकिन ब्लैंकवर्स के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। अंग्रेजी में इसकी लम्बी सुदृढ़ परम्परा है—मिल्टन, वड्र्सवर्थ, कीट्स, अर्नल्ड, टेनीसन, आदि। दूसरी बात यह कि क्या कोई भी श्रेष्ठ कलात्मक कृति दोहराई जा सकती है? क्या *साकेत, मानस* का दोहराया जाना है? दरअसल, किसी भी विषयवस्तु में असीम कथ्यात्मक सम्भावनाएँ होती हैं, जो समय-सापेक्ष होती हैं। इनके कलात्मक रूपांतरण की गुणवत्ता कलाकारों या लेखकों के रचनात्मक सामर्थ्य पर निर्भर करती है। लेकिन केशव की असफलता उनकी काव्य-प्रतिभा के चलते कम, उनके राजाश्रयी परिवेश के चलते अधिक थी जहाँ लोकजीवन, लोकव्यथा या किसी उदात्त जीवन-दृष्टि के लिए जगह नहीं थी। तुलना में *साकेत* एक श्रेष्ठतर उपलब्धि है क्योंकि इसमें कथ्यात्मक अन्वेषण है, *मानस* से भिन्न स्वस्थ जीवन-दृष्टि है। मैथिलीशरण गुप्त ने उर्मिला जैसी 'उपेक्षिता' को काव्यांकित कर स्त्री-विमर्श का एक तरह से सूत्रपात किया था, यद्यपि उनकी नारी-दृष्टि द्विवेदीयुगीन नवजागरण की मान्यताओं के दायरे में ही थी। इसे क्लैसिक की कोटि में तो नहीं रखा जा सकता, लेकिन उस दौर में इसकी नारी-दृष्टि की नवता को भुलाया भी नहीं जाना चाहिए। आशय इतना भर कि क्लैसिक सम्बन्धी इलियट की स्थापनाओं से अभिभूत होने का एक परिणाम बहुत सारी महत्त्वपूर्ण कृतियों का दरकिनार या अवमानित होना भी है।

अब निबन्ध के मुख्य बिन्दु की ओर लौटना आवश्यक है—प्रासंगिकता से स्वतन्त्र कालजयता बेमानी है। क्लैसिक की एक निरापद पहचान यह है कि इसकी ओर बार-बार लौटना पड़ता है। लेकिन हर पीढ़ी इसकी ओर अपने लिए लौटती है। *महाभारत* की ओर हम अक्सर लौटते रहते हैं लेकिन हमारे अलग-अलग मकसद होते हैं। धर्मवीर भारती, बुद्धदेव भट्टाचार्य, बच्चन सिंह, शिवाजी सावंत या विष्णु सखाराम खांडेकर, आदि ने उसमें अपने-अपने युगबोध को तलाशा है, अपने युग की अपेक्षाओं के आईने में इसके पात्रों या परिवेश को पुनर्सृजित किया है। टी.एस. इलियट की दृष्टि में शेक्सपियर पर लिखा गया आलोचना साहित्य भी इंग्लैंड के सामाजिक एवं बौद्धिक माहौल में आते रहे बदलावों को देखने-समझने के लिए एक विश्वसनीय दर्पण है। दरअसल, व्याख्या और मीमांसा की दुनिया भी समय-सापेक्ष होती है जो क्लैसिक को जीवन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ बनाए रहती है। कोई क्लैसिक कृति मात्र ऐतिहासिक जिज्ञासा नहीं बल्कि जातीय चेतना का प्रतीक होती है जो रचना, व्याख्या और समालोचना के माध्यम से पुनर्प्रस्तुत एवं पुनरुत्पादित होती रहती है। इसी प्रक्रिया में क्लैसिक जातीय चेतना की पहचान और उसके नैरन्तर्य का अर्थगर्भी मेटाफर बनती है। इसलिए, किसी क्लैसिक के निर्माण को केवल उसी तक सीमित रहकर नहीं समझा जा सकता। इसके लिए उस व्याख्या और समीक्षा की परम्परा की ओर भी जाना होगा जो किसी जातीय चेतना की प्रौढ़ता का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। इस समालोची परम्परा के अभाव में जातीय चेतना अपने को यांत्रिक रूप से दोहराती है जो जातीय जड़ता की निशानी है। ऐसी स्थिति में क्लैसिक्स दुर्भाग्य का प्रतीक हैं। इस प्रकार भाष्य और समालोचना की संस्था न केवल जातीय क्लैसिक्स के इर्द-गिर्द प्रभामंडल रचती है, जैसा कि हैन्स हेस्स बताते हैं, बल्कि पीढ़ीगत प्रौढ़ संवाद की आधारशिला भी निर्मित करती हैं जिससे जातीय चेतना का सर्जनात्मक नैरन्तर्य कायम रहता है। यह सर्जनात्मकता ही सामाजिक आर्थिक बदलावों के बीच व्यक्ति के जातीय वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखते हुए उसे सुकून और समाधान के बिन्दु सुझाती है। इसीलिए क्लैसिक हमेशा कल्चर-स्पेसिफिक होता है। हैमलेट का अतर्द्वन्द्व किसी कबायली समाज के सदस्य का अन्तर्द्वन्द्व नहीं हो सकता। राम का मर्यादा-बोध या कृष्ण का निष्काम कर्म कल्चर-स्पेसिफिक है। ये दोनों ही एक जातीय परम्परा के निष्कर्ष हैं जो ईसाई परम्परा के महाकाव्यों में नहीं दिखते। जातीय चेतना के प्रवाह में आए मोड़ मानसिक कटाव देते हैं जिससे अतीत पहेली बन जाता है। फ्रांसीसी प्रभाव में इंग्लैंड में निर्मित नव्य-क्लासिकीय मानकों के चलते 17वीं सदी में शेक्सपियर के त्रासद नाटक पहेली बन गए और उन्हें युगीन बनाने के लिए उन पर नए-नए भाष्य लिखे गए और युगीन आस्वाद के अनुकूल बनाने के लिए उन्हें संसोधित तक करना पड़ा। शेक्सपियर की स्वच्छन्द रूमानी प्रतिभा वर्चस्वशील नव-कलासिकी आस्वाद के अनुकूल नहीं थी। अपनी मूल पहचान के लिए इसे 19वीं सदी के रोमैंटिक आन्दोलन का इंतजार करना पड़ा। इसी प्रकार हिन्दी में 17-18वीं सदी की दरबारी संस्कृति और रीतिबद्ध साहित्य चेतना के लिए तुलसी या कबीर कितने सार्थक रहे? दरअसल, तुलसी और कबीर 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध और प्रमुखतः 20वीं सदी के अन्वेषण हैं जब एक विजातीय वर्चस्व को चुनौती के लिए जातीय रिक्थ को नए सिरे से अन्वेषित किया गया। देव, बिहारी, मतिराम या घनानन्द में जातीय चेतना में निहित औदात्य और विराटता का बोध नहीं है, और *रामचन्द्रिका* बताती है कि इसकी पुनर्प्रस्तुति करने हेतु अपेक्षित लोकदृष्टि परिप्रेक्ष्य भी नहीं है। कबीर "परम्परा" के क्लैसिक नहीं हैं। उन्हें 19वीं सदी बंगाल के क्षितिमोहन सेन और रवीन्द्रनाथ ने अपने समय के लिए अन्वेषित किया। उन्हें भी कबीर का रहस्यवाद ही प्रिय है। लेकिन दलित जागरण ने कबीर के विद्रोही सामाजिक तेवर को पकड़ा है, यद्यपि, एक सीमा तक यहाँ भी हजारीप्रसाद द्विवेदी और नामवर सिंह अग्रधावक हैं। आशय यह कि जो भी कृति अनागत के लिए प्रासंगिक नहीं वह क्लैसिक की श्रेणी में नहीं आ सकती।

अपने युग-विशेष को भी व्यापक एवं सघन सम्बोधन युगातिक्रमण की क्षमता प्रदान करता है। *मानस* और *किंग लियर* इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। दोनों ही लोक-व्यथा से जुड़ी कृतियाँ हैं। दोनों अपने-अपने युग को सम्बोधित हैं। 16वीं एवं 17वीं सदी में भारत और इंग्लैंड दोनों ही अपने-अपने किस्म की सांस्कृतिक चुनौती झेल रहे हैं। दोनों के यहाँ संक्रमण का सन्त्रास है। संक्रमण का दौर मूल्यगत संकट का दौर हुआ करता है। मंथरा, कैकेयी, कालनेमि, रावण, एडमंड, रेगान, गानेरिल सामाजिक संकट के मूर्त्त रूप हैं। परिवार का संकट राजनीतिक सत्ता के संकट में विस्तार पाता है। दोनों का समाधान एक जैसा है—लेजिटिमेट राजसत्ता। अर्थात्, सार्वभौम के माध्यम से विशेष का समाधान। प्रकारान्तर से सामाजिक मुक्ति के बिना पारिवारिक मुक्ति संभव नहीं है। राजेन्द्र यादव का यह कहना सही है कि क्लैसिक में बहुत-कुछ वर्ग-विशेष का और बहुत-कुछ सार्वभौम होता है। लूकाच की अवधारणा का उपयोग करते हुए कह सकते हैं कि क्लैसिक विशेष और सार्वभौम हितों के अंकन का कलात्मक परिपाक है। अर्थात् वर्ग-व्यथा या समुदाय व्यथा के साथ-साथ लोक-व्यथा और मानव-व्यथा भी। मुक्ति की अवधारणा सार्वभौम होती है अन्यथा वर्ग-मुक्ति अथवा समुदाय-मुक्ति की फलाश्रुति अन्य के लिए गुलामी भी हो सकती है। इसलिए विशुद्ध वर्गीय या सामुदायिक व्यथा और इससे मुक्ति के प्रयास से जुड़ी कृति में सार्वभौम के लिए जगह कम होती है और उसी अनुपात में उसमें क्लैसिक बनने की संभावना भी क्षीण होती है।

इस सन्दर्भ में तत्काल दो उपन्यास, जो घोषित क्लैसिक हैं, याद आते हैं—*माँ* और *गोदान*। गोर्की का उपन्यास क्रान्तिधर्मा रूसी श्रमिक चेतना का राष्ट्रीय मेटाफर है और *गोदान* शोषित-पीड़ित लेकिन अपने "धरम" और "भरजाद" की डोर पकड़े भारतीय किसान चेतना का। पावेल और उसकी माँ इतिहास में निहित अपनी वर्गीय मुक्ति की संभावना को साकार करने में लगे हैं। वे अपनी मुक्ति में मानव-मुक्ति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभावना देखते हैं। लेकिन प्रेमचंद का होरी इतिहास की संभावना नहीं है। 'धरम' और 'मरजाद' की डोर पकड़े वह बर्बाद हो जाता है, लेकिन प्रेमचंद उसमें किसान की मुक्ति की संभावना नहीं देखते। अब उन्हें लगता है कि होरी बेमानी है, अप्रासंगिक है। उसकी मासूम दृढ़ता और धर्म-मरजाद चेतना उसे त्रासद अर्थवत्ता भले प्रदान करती हों, उसे सेक्यूलर मुक्ति नहीं दिला पातीं। तुलना में *रंगभूमि* का सूरदास की नैतिक जीत का अंत विरोधियों की नैतिक पराजय और समर्थकों में नैतिक-उद्वेलन और कर्म-प्रेरणा में होता है। *गोदान* में ऐसा कुछ घटता नहीं दिखता। उल्टे प्रेमचंद का फोकस होरी से गोबर पर शिफ्ट कर जाता है। अर्थात, मुक्ति की संभावना किसान होरी के नैतिक संघर्षों में नहीं बल्कि श्रमिक गोबर के आर्थिक संघर्षों और पारम्परिक 'धर्म' एवं 'मरजाद' से मुक्ति में है। अब प्रेमचंद के लिए गांधी नहीं मार्क्स अधिक प्रासंगिक लगते हैं। ऐसी स्थिति में *गोदान* को राष्ट्रीय चेतना का मेटाफर बताना समस्याग्रस्त है। दूसरी बात यह कि वर्तमान उत्तर-औद्योगिक बूर्जुआ विश्व में मानव मुक्ति की पुरानी श्रमिकवादी संकल्पना भी अतिक्रमित हो चुकी है। इसी अनुपात में *माँ* और *गोदान* दरकिनार होने के कगार पर हैं। लगता है कि इन पर केन्द्रित विमर्श समकालीन समीक्षा-उद्योग की विवशता है। दरअसल, इनमें सार्वभौम की तुलना में विशेष अधिक है। तुलना में *त्यागपत्र* और *शेखर : एक जीवनी* में सार्वभौम अधिक है और विशेष कम। रूसी सन्दर्भ में यही बात *पिता और पुत्र, कर्माजोव बंधु, युद्ध और शान्ति,* या *अन्नाकारेनिना के* बारे में कही जा सकती है। इतिहास के एक दौर का राष्ट्रीय मेटाफर, अर्थात् क्लैसिक दूसरे दौर की क्लैसिक होने के लिए उसे प्रासंगिक होना होगा। इस परिप्रेक्ष्य में *माँ* और *गोदान* को क्लैसिक घोषित करना निरापद नहीं लगता। लेकिन ये इस कोटि में गिने जाते हैं और इसका एक प्रमुख कारण संस्थाबद्ध समीक्षा और विमर्श का नैरन्तर्य है जो प्रभामंडल रचता-बचाता रहता है। इसे परिप्रेक्ष्यगत प्रतिबद्धता या आलोचकीय आदत के रूप में भी हम देख सकते हैं। कुल मिलाकर, निवेदन इतना भर है कि क्लैसिक को चिन्हित करने के लिए हमें इलियट की चहारदीवारी से बाहर भी झाँकना चाहिए। जड़ आन्दोलनी प्रतिबद्धता या आलोचकीय आदत से मुक्त होकर यथासम्भव बदलते वस्तुजगत में कृति की अवस्थिति, उसकी व्याख्यात्मक क्षमता, उसमें निहित पुनर्प्रस्तुति और पुनरुत्पादकता की संभावना, उसकी व्यापकता और बहुआयामीयता, इत्यादि की ओर भी ध्यान जाना चाहिए। इनके प्रति बहुत सारे मार्क्सवादी साहित्य-चिन्तक एक अर्से से संवेदनशील भी रहे हैं। अतः, जरूरत अमूर्त कालजयता पर बल देने की नहीं बल्कि कालजयी प्रासंगिकता पर बल देने की है। सार्थक एवं ठोस मानव नियति के सन्दर्भ में ही कोई कृति कालजयी होने की अधिकारिणी हो सकती है। सम्भव है, इससे स्थापित प्राथमिकताओं में बदलाव आए और अपनी क्लैसिक कृतियों के देवमंडल में नए-नए समायोजनों की आवश्यकता पड़ती रहे। ■

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकई का दाना

अरुण कमल

श्री केदारनाथ सिंह के इस नये संग्रह पर लिखने से अच्छा होता कि मैं इस संग्रह की एक-एक कविता पर अलग-अलग लेख लिखता या फिर उनके सम्पूर्ण काव्य-जगत पर एक पुस्तक। क्योंकि यहाँ तक आते-आते केदारजी की कविता इतना सांद्र, संश्लिष्ट और विपुल हो चुकी है कि प्रत्येक कविता स्वतंत्र विचार-विमर्श की अधिकारिणी लगती है तथा अब एक स्पष्ट जीवन-दृष्टि भी स्पष्ट उभरकर आ चुकी है। सत्तर के हो चुके केदार जी के पास अब जीवन के बारे में स्वअर्जित दृष्टि और मंतव्य-निष्कर्ष हैं, जीवन और कविता के बारे में। 'जासूस-डायरी' अब सार्वजनिक है। यह संग्रह अपने समय का 'आईना' है, और कवि के आभ्यंतर का 'दीप' भी। अब यहाँ सौम्यता और संभार के साथ एक बेचैनी है, 'आग पर चलने' की तड़प। और प्रत्येक कविता का अपना अनूठा गठन है। सहोदर होकर भी वे अलग-अलग हैं। और भाषा और शब्दों के साथ ऐसी अंतरंगता है जो लम्बी साधना के बाद भी बिरले ही नसीब होती है। 'अभी बिलकुल अभी' से लेकर अभी तक केदारजी की जो काव्य-यात्रा है उसके सभी चरणों की छाप तो यहाँ है ही, साथ ही उन सबसे अलग एक 'श्वेतिमा' है, परिपक्वता, एक 'भरा-भरा-सा पन'। और एक बिलकुल नया तत्त्व भी, विनोद वृत्ति, अस्फुट हास्य। और अब कविता का मुख अपने घर-गाँव की तरफ है जैसे कोई पूरी दुनिया घूमकर वापस अपने घर की चौखट पर बैठा हो, निढाल पर आश्वस्त।—'कवि जी आओ घर चलें, रैन भई एहि देस'।

संग्रह की पहली ही कविता 'आईना' मानो पूरे संग्रह का और स्वयं कवि का घोषणापत्र है—

मैं उनकी तरफ से बोल रहा हूँ
जो चले गए हैं काम पर
... ...
और यद्यपि इस छोटे से घर का
एक छोटा-सा गवाह हूँ
पर जब भी बोलता हूँ
लगता है बोल रहा हूँ उस चिउँटी की तरफ से
जो बच गई थी अकेली
नागासाकी में
... ...
और देखिए न मेरी मुस्तैदी
*कि मैं **सबकी ओर से** बोलता हूँ*

4, मैत्री शांति भवन, बी.एम. दास रोड, पटना-800 004 (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और बोलता हूँ अपने भीतर की पूरी सच्चाई के साथ
पर मेरे नेक निर्माता ने मुझे दी नहीं अनुमति
कि कभी बोल सकूँ ***अपनी तरफ से***

लेकिन हर बड़े और प्रतिनिधि कवि की तरह केदारनाथ सिंह भी सबकी ओर से और साथ-साथ अपनी तरफ से बोलते हैं। यह द्विगुभाव ही, यह दुरुखापन ही कविता की शक्ति है। केदार जी की कविता इसी कारण 'आईना' भी है और 'दीप' भी (डब्लू बी.यीट्स का बिम्ब लेकर कहें तो)—बाहर को प्रतिबिम्बित और भीतर को प्रकाशित करती। और इसी विनम्र प्रतिज्ञा के साथ शुरू होती है 'पानी की प्रार्थना' जो पानी के व्याज से पृथ्वी पर जीवन के ध्वंस की और पूँजी के निर्बाध लोलुप प्रसार को इंगित करती है। केदार जी की कविताएँ 'इंगित' की कविताएँ हैं, 'विस्फार' की नहीं। इस पूरी कविता की गति पानी की तरह तरल और क्षिप्र है—लगातार बहती हुई, पर अन्त तक जाते-जाते बाधित, अवरुद्ध क्योंकि अब "तल पर कचरा' है। केदार जी की हर कविता की अब अपनी अलग लय है अलग-अलग मनोदशा और स्वभाव के अनुसार। कविता का आरम्भ भी नाटकीय है—

प्रभु
मैं—पानी—पृथ्वी का
प्राचीनतम नागरिक

और फिर जीवों के कंठ में तृप्ति की अनेक ध्वनियाँ—

एक जानवर आया हकासा-पियासा
और मुझे पीने लगा चभर-चभर
इस अशिष्ट आवाज के लिए
क्षमा करें प्रभु
यह एक पशु के आनन्द की आवाज थी

यहाँ कविता के निष्कर्षों (जो स्थूल अर्थ में पारिस्थितिक भी लग सकते हैं) से अधिक महत्त्वपूर्ण (और जीवन्त भी) वह प्रक्रिया जो जल के जीवन की सार्थकता और इस प्रकार पृथ्वी पर स्वयं मनुष्य की नियति पर आशंका व्यक्त करती है। यह एक नई बिलकुल अदेखी परिस्थिति है पृथ्वी के जीवन में। अब तक की कविता जल के सौन्दर्य के समारोह की कविता थी, अब यह उसके 'जलकर राख' हो जाने की त्रासदी का शोक है। एक कवि अपने काव्य-काल में ही दो भाव-ध्रुवों से टकराए, ऐसा कम होता है। यह एक बिलकुल नई दुनिया है जहाँ जल अपना स्वभाव खो रहा है और मनुष्य अपना घर-बार, अपनी इयत्ता। यहाँ मनुष्य का विस्थापन केवल भौगोलिक नहीं बल्कि भावात्मक और आन्तरिक भी है। 'त्रिनिदाद' इसी विस्थापन की कविता है—

तो क्या मैं भी डायस्पोरा हूँ?
कहीं अपने समय के किसी त्रिनिदाद में
एक अजब आप्रवासी!

और इस कविता का सबसे विकट क्षण वो है जब 'बगलवाले आदमी की गहरी उदास कैरेबियन आँखों' और 'उसकी आवाज में एक मूर्च्छना तथा किसी भूली हुई सुदूर भोजपुरिया धुन की' खनक के बाद ये पंक्तियाँ आती हैं—

उसने बताया उसके पुरखे उदयपुर से थे
जो कहीं बिहार में है
पर उसकी बात को काटते हुए
जब मैंने धीरे से कहा—उदयपुर बिहार में नहीं
राजस्थान में है
वह हो गया उदास
और एकदम निहत्था!

एक गलत स्मृति का मतलब एक पूरे जीवन का घाटा।

'घोंसलों का इतिहास' भी विस्थापन की इसी त्रासदी का थोड़ा भिन्न और तिर्यक् आख्यान है—

इसलिए अच्छा यही होगा
कि घोंसलों को छोड़ दिया जाए पेड़ पर ही
जहाँ अपनी छोटी-सी गरिमा में
झूलते रहें वे
इतिहास के दूसरी तरफ

लेकिन यहाँ कहना जरूरी है कि अब केदार जी की कविता के एक तने से अनेक टहनियाँ फूटती हैं—'और अपने में सम्पूर्ण एक घर था/वह आदमी के घर का भूला हुआ पूर्वज'; 'सच यही है कि बाजार में मिलते नहीं घोंसले/वहाँ सिर्फ पिंजड़े मिलते हैं'; 'क्या राष्ट्रों की तरह/अलग-अलग होता है घोंसलों का इतिहास भी'—ये सब एक ही कविता के अलग-अलग टुकड़े हैं जो मूल अर्थ से घूमकर भी उसे ही पुष्ट करते हैं। यह कहना वैसे कम कहना होगा कि यह कविता किसी खास विषय पर है। शायद किसी भी श्रेष्ठ कविता के बारे में ऐसा कहना उचित नहीं होता। जैसे, 'बुद्ध से' जैसी कविता जो अनेक कालों-अवधियों में एक साथ आती-जाती अपने समय की कठोर आलोचना भी है और बुद्ध के दर्शन पर शंका भी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नितान्त निजी एवं निपट सार्वजनिक भी; आसक्त और विरक्त; और सबके ऊपर एक गहरी करुणा जो पाठक को रोमांचित कर देती है। कविता की थिर, गम्भीर लय और कुछ शब्दों—भंते, थेरी, जेतबन, पुरबा, भेड़ का दूध और ज्वार की रोटी, मृगदाव, महाभिषग, निर्वाण—से जाग्रत पुरातन स्मृतियों की बुनावट इसे विलक्षण बना देती है। अनेक कालों में आवाजाही त्रिनिदाद में भी है और पांडुलिपियों में भी—

और अब यहाँ सारा समय एक जगह इस तरह है
कि आपको लगेगा जैसे ब्रह्मसूत्र
पढ़ रहा है मुक्तिबोध को
और शाकुन्तल का हिरन
कुछ कह रहा है पद्मावत के तोते से...

और फिर 'बर्लिन की टूटी दीवार को देखकर' में भी और 'ट्रेन में कविता', 'अपनी खबर', 'दिनचर्या इन दिनों' में और अनेक स्थलों पर। यहाँ तक कि छन्दों के प्रयोग में भी वही संचरण है—एक काल से दूसरे काल में, एक स्मृति-लोक से दूसरे में आने-जाने का सहज योग। छन्द में लिखने का एक फल यह भी है कि आप कई कालों में एक साथ उपस्थित होते हैं। छन्द में लिखने या न लिखने का निर्णय कई बार काल की हमारी चक्रीय या रैखिक अवधारणा पर भी निर्भर है। खैर! तो केदार जी 'पूस की रात : पुनश्च' में भी प्रेमचन्द, महाभारत और समकालीन समाज को एक साथ मिलाते हैं। यह कोई काव्य-तकनीक नहीं है बल्कि जीवन को उसकी समग्रता, उसके सम्पूर्ण प्रवाह में देखने का यत्न है। जैसे, 'पिता के जाने पर' सरीखी मार्मिक कविता में उस विराट खालीपन को व्यक्त करने के लिए लगातार मामूली बातों के होने के बयान दबे हुए रुदन को और भी व्यग्रता से प्रगट करता है। पहले नल में पानी आया, फिर अखबारवाला आया, फिर डाकिया आया, फिर कोई पंडित आया और अन्त में 'मुखाग्नि'—क्रम उलट दिया जाता है, नहीं 'होना' इन 'होनों' से उभरता है और एक लम्बी हूक पूरी कविता में दबी हुई चलती है। जो है और जो नहीं है सब मिलकर इस जीवन को पूरा करते हैं—

झुका हुआ बैठा हूँ
मोमबत्ती के सामने
और पूरी कर रहा हूँ वह कविता
जिसे लिखना शुरू किया था किसी पुराने कवि ने
शायद सदियों पहले
और देखता हूँ कि नीम अँधेरे में
मैंने यही तो किया है
कि हटा दिया है कोई हलन्त्
हटा दी है कहीं बिन्दी
उलट दिया है कोई विशेषण
उड़ा दी है कोई तिथि
और तुर्रा यह—
कि मैंने कविता की है

यही तो हर कवि पूरी परम्परा के साथ करता है, कुछ संशोधन, जो कि कविता है। और व्यक्ति का जीवन भी वास्तव में एक हल्का-सा संशोधन ही तो है अब तक के जीवन का। जो जितना बड़ा है उसका संशोधन भी उतना ही बड़ा है। और यह न केवल अतीत का बल्कि वर्तमान का भी संशोधन होता है—

यह सदियों का खेल था
जिसे पल भर में होना था

जब केदार जी आग पर चलने के करिश्मे के बारे में यह टिप्पणी करते हैं तो यह केवल वहीं तक सीमित नहीं रहती; यह कविता का खेल भी है और जीवन का भी। इस संग्रह में पानी, आग, हवा, मिट्टी जैसे प्राथमिक तत्त्वों की अधिकता अकारण नहीं है। यह मूर्त्तता है। पुनः कवि के उद्गम का अन्वेषण, उन प्राथमिक तत्त्वों का जिनसे यह जीव-जगत बना है और मनुष्य और मनुष्य की कविता भी।

लेकिन यह अखंड जीवन लगातार क्षतिग्रस्त हो रहा है। अनेक दीवारें हैं, विभाजन, युद्ध और हिंसा। यही वह क्षण है जब केदारनाथ सिंह की कविता में राजनीति सीधे प्रवेश करती है। उनकी कविता पर राजनीति की छाया पड़ती रही है, पर सीधे-सीधे राजनीति कम आई है। यहाँ वे सारे परहेज टूट गए हैं। वैसे भी कविता के लिए न तो कोई पथ्य है न अनुपान। लेकिन एक बार फिर यह कहना जरूरी है कि केदार जी कभी भी अराजनीतिक कवि नहीं हैं। उनकी राजनीति ऊपरी सतह की, संसद या चुनाव तक की नहीं है। वह उन कारकों की खोज करते हैं जो मनुष्य के जीवन को नष्ट कर रहे हैं। गहरा प्रेम हमेशा आपको प्रतिबद्ध बना देता है। जीवन से गहरा प्रेम ही केदार जी के स्वर को अब कठोर भी बना रहा है।—

और अब जबकि वह नहीं है
हिन्दी का यह कवि
नतमस्तक खड़ा है उसकी शोकसभा में
जिसमें कोई शरीक नहीं
और पूछना चाहता है समूचे राष्ट्र से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इस कविता से बाहर
क्या कोई जगह नहीं
जहाँ रखी जा सके एक भी ईंट
घुरहुवा के नाम पर उस कभी न बननेवाले
स्मारक की नींव में ?

केदार जी प्रश्न करते हैं, केदार जी पूरी स्वाधीनता को अस्वीकृत करते हैं और उसके पक्ष में खड़ होते हैं जो सबसे कमजोर है, घुरहुवा। पूरे संग्रह में एक विषाद है, गहरा दुख और संताप जो सहसा इन पंक्तियों में फूट पड़ता है—

सिर्फ चीखने पर मालूम होता है
ध्रुपद में आज भी कितनी जान है

कुछ पाठकों को लग सकता है कि यह केदार जी का पूर्व परिचित स्वर नहीं है, शायद उतना विश्वस्त भी नहीं, परन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि यह भी उन्हीं का स्वर है जो शेष स्वरों को नया अर्थ प्रदान करता है। 'रात की आवाज़ें' उस मुहाने पर बसी कविता है जहाँ निजी एवं बाह्य एक दूसरे से मिलते हैं। 'चींटियों की रुलाई' भी इसी कोटि की कविता है—

मैं तो बस इस शहर की
लाखों-लाख चींटियों की मूक रुलाई का
हिन्दी में अनुवाद करना चाहता हूँ

यह ऐसा समाज है जहाँ 'इतने बड़े शहर में अब इतनी भी जगह नहीं कि एक गर्भवती चींटी कहीं रख दे अपना अंडा'। इस 'छोटे-से शहर' में क्या 'ईश्वर' के लिए कोई जगह है (ब्रेख्त के नाटक पर आधारित एक कविता में)—

पर अरे, ये बत्तियाँ क्यों बुझने लगीं
सारे घरों की?
यह सारा शहर चुप क्यों है?
ये उदास क्यों पड़े हैं मन्दिरों के घंटे?

यह कैसा जश्न है 'बस्ती के उस छोर पर' जहाँ लोग 'एक काले गदबदे सूअर को घेरकर गोलाई में खड़े' हैं और 'सूअर चीखे जा रहा है' बुरी तरह? और इस सारी हिंसा और विध्वंस के बीच जो सबसे उपेक्षित और दलित हैं वे पूरी गरिमा के साथ खड़े हैं जैसे कि 'दिल्ली में बबूल' जो 'अपनी उदासी के बीच भी खड़ा था तनकर' और जिसके सामने 'कितनी हास्यास्पद थी मेरी सारी सहानुभूति'। और तब लगता है कि 'एक साधु एक फकीर एक भिक्षुक ही दे सकता है साथ जीवन की लम्बी उदास यात्रा में'। ऐसे विनाशकारी समय में स्वयं को अधिक-से-अधिक बचाने और जीते चले जाने का क्या मतलब है? 'शीर्षासन' एक ऐसी कविता है जहाँ नैतिक, राजनैतिक और सौन्दर्यात्मक सभी पक्ष एक साथ मिलते हैं और कविता का अन्त तड़तड़ा देनेवाले प्रश्न से होता है—

तो क्या इस दौर में
सिर्फ इतनी सी बात के लिए
कि मेरी धमनियों में बहता रहे मेरा खून अबाध
मुझे भी शीर्षासन करना होगा ?

केदार जी की कविता में ऐसे तेज, तल्ख़ क्षण कम रहे हैं। लेकिन यहाँ तक आते-आते उनकी कविता में रंग गाढ़े होने लगते हैं। तिक्तता, बेचैनी और हदों को तोड़ने की व्यग्रता बढ़ी है—

अन्त में लिखूँगा कि पृथ्वी के एक छोटे से
नागरिक के नाते मेरा सुझाव है
कि हो सके तो हर धड़कन के साथ
एक अदृश्य तार जोड़ दिया जाए
कि एक को प्यास लगे
तो हर कंठ में जरा सी बेचैनी हो
अगर एक पर चोट पड़े
तो हर आँख हो जाए थोड़ी-थोड़ी नम
और किसी अन्याय के विरुद्ध
अगर एक को क्रोध आए
तो सारे शरीर
झनझनाते रहें कुछ देर तक

टेक्नोलॉजी के ग्लोबल इंटरकनेक्टिविटि के बरक्स यह मनुष्यता का सार्वभौमिक एकतारपन है। कविता इसी सामूहिकता और एकात्मता को स्थापित करती है। इसीलिए कविता हर वस्तु, हर अनुभव, हर जीवन-क्षण को एक सूत्र में पिरोती चलती है। इसीलिए यहाँ कुछ भी बाह्य का त्याज्य नहीं है।

केदार जी की कुछ कविताओं का अलग से भी जिक्र जरूरी है जिसमें एक कविता तो है 'शहरबदल' और दूसरी 'नया गाँव की बत्ती'। दोनों ही विलक्षण अनुभवों की कविताएँ हैं। एक में यदि 'उस छोटे से शहर' का 'महाजीवन' है तो दूसरे में एक छोटे से आदमी का बड़प्पन। ऐसा कहकर मैं दोनों के ही आन्तरिक सौन्दर्य को कम कर रहा हूँ। इन्हें पूरा-का-पूरा पढ़ना जरूरी है। केदार जी की कविताएँ 'असम्भव सारांश' (पद श्री आशुतोष दुबे का है) की कविताएँ हैं। एक जगह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आता है–

और चप्पल फटकारते हुए
चल दिया पडरौना–उसी शहर में
जिसके नाम का उच्चारण
एक लड़की को लगता था ऊँट के कोहान की तरह

अब यह एक खास बात है। शमशेर जी ने कहीं कहा है कि 'ऐनक' कहने से आकार के घुमाव का जो एहसास होता है वह 'चश्मा' कहने में नहीं। तो कोई शब्द, कोई ध्वनि कैसे इतना चित्रमय हो जाती है, कैसे वह कई रूपाकारों और बिम्बों को जाग्रत कर देती है, यह केदार जी के इस संग्रह से भी जाना जा सकता है।–'वह लम्बा-सा घुमावदार छन्द जो सिर्फ एक ऊँट के चलने में होता है'। 'लुखरी' और 'अँगोछा' परिष्कृत हिन्दी और लोकभाषा के सम्बन्धों को भी दर्शाते हैं जो कि केदार जी की एक प्रमुख चिन्ता रही है, लेकिन उससे अलग भी वे 'मरकाना', 'मिलारेपा', 'ठीकरा' जैसे शब्दों के साथ एक पूरे जीवन-खंड का पर्याय बन जाते हैं। 'ठीकरा' अद्भुत कविता है जो मनुष्य और खेत और वह सब कुछ जो खेत का अंश है यानी सम्पूर्ण सत्ता के पारस्परिक सम्बन्धों की पड़ताल है। और 'एक अधूरी कविता' की ये शानदार पंक्तियाँ–

देखो न इन पक्षियों को–दुनिया में कितनी कम जगह
घेरते हैं वे–शायद उससे भी कम
जितना उनके नाम घेरते हैं शब्दकोश में

यहाँ 'वास्तव' और भाषा के बीच जो परेशान करनेवाला द्वन्द्व है, वास्तव के निरन्तर संकुचित होते जाने का जो बोध है वह अनायास, अयाचित प्रगट हुआ है।

जीवन के कुछ सहज, आकस्मिक क्षण 'तू फू और ली पै', 'लुखरी', 'खरहे' और 'बारिश में स्त्री' जैसी कविताओं में भी उभरकर आते हैं जहाँ विनोद वृत्ति भी है और कौतूहल भी जिसकी कोई तत्काल-व्याख्या जरूरी भी नहीं। जैसे, 'बारिश में स्त्री का भींगना' कविता है जिसके अन्त में आता है–

एक तृप्त मेढक
बारिश के बीच टर्राना भूलकर
अवाक् देखे जा रहा था
इस समूचे दृश्य को

अगर इसका 'विखंडन' किया जाए तो फिर वह लोककथा भी याद आएगी सुन्दरी और मेढक वाली। साथ ही, यह बरसात के पूरे दृश्य का, एक स्त्री के तन के भींगने का चित्र है जहाँ मेढक भी एक अपरिहार्य पात्र है। केदार जी में रोमान तो है ही, अब मांसलता भी है।

'ताल्सताय और साइकिल' भी इसी तरह की एक अनूठी कविता है जहाँ साइकिल चलाना सीखते ताल्सताय के गिर पड़ने का जिक्र है, एक मामूली-सा प्रसंग जो केदार जी के हाथों पड़कर मनुष्यता के सम्पूर्ण विकास का मनोरंजक आख्यान बन जाता है; साथ ही, इस बात का दृष्टान्त भी कि महानता हमेशा बेध्य भी होती है, कहीं पर बेहद विवश और भंगुर। मसलन, बच्चे का यह कहना कि '' 'बापू' यह शब्द/दो अक्षरों से मिलकर बना है/'बा'+'पू'/'बा' चलो ठीक है पर 'पू' हमें ज्यादा आनन्द देता है/पता नहीं क्यों'' महानता और उसकी गरिष्ठता को आत्मीय तथा सुपाच्य बना देता है। केदार जी के यहाँ अब 'भोलापन' भी 'अनुभव'-जनित है।

अब मैं उन कविताओं का उल्लेख करूँगा जिन्होंने अपने सम्मोहन से मुझे सबसे ज्यादा तंग किया है–'मोड़ पर विदाई', 'लहरतारा', 'तीन दोहे', 'वह कुशीनगर की एक शाम', 'पतझड़' और 'क्रिकेट'। इनमें पहली चार कविताएँ छन्द में हैं जिनका गठन देखते ही बनता है। 'पतझड़' एक ऐसी कविता है जो उत्तर भारत के पतझड़ का, 'मेरी मिट्टी के ठेठ भोजपुरिया पतझड़' का ऐश्वर्यशाली चित्र है, 'हाँ एक विरल पतझड़'। यह ठेठ भारतीय कविता है। और क्रिकेट दो होनी-अनहोनी के बीच की कहानी है। 'इन्तजार' को इस तरह 'खेल खेल में' प्रस्तुत किया गया है कि यह खेल गम्भीर होने लगता है–और 'मैं इंतज़ार कर रहा हूँ' का बारम्बार कहा जाना, क्रिकेट के अन्तिम रोमांचक क्षण और भारत की पराजय और फिर भी किसी अनहोनी उम्मीद का इन्तजार–क्या अब इन्तजार बेमानी है, क्या वह सचमुच नहीं आएगी? क्या एक पराजय दूसरे का भी शकुन है? यह एक विरल कविता है।

अब जो चार कविताएँ छन्द में हैं उनके बारे में सिर्फ यही कह सकता हूँ कि ये हमारी भाषा, जो इतनी सम्पन्न और महान् है, की अमूल्य निधि हैं। कविता पढ़ने का जो अनिर्वचनीय सुख अपनी भाषा में और केवल अपनी भाषा में मिलता है, वही यहाँ मिलेगा। बार-बार पढ़ने का उल्लास। तुकों का आकस्मिक मेल, लय की अप्रत्याशित लहर, किसी भूले हुए गीत या पद की याद, अनेक कविता-स्मृतियों की प्रतिध्वनि–सारे दल-पत्र एक ही वृंत पर संयोजित। वह 'कुशीनगर की एक शाम' में तीसरी पंक्ति, 'था' शब्द से शुरू होती है जो स्वयं एक आघात-सा है, और अनेक बार उसकी धौंकती उपस्थिति पूरी कविता को एक प्राचीनता तो देती ही है, साथ ही अतीत से वापिस वर्तमान का इंगित भी करती है। फिर उसके समृद्ध ब्योरे। इसी तरह 'तीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोहे', अमीर खुसरो की मशहूर पंक्ति की पुनर्व्याख्या करती है— बाजार के इस दौर में जब पाठक भी विदेश जा रहे हैं यानी अंग्रेजी की शरण में, केदार जी कहते हैं—

श्रोता कब के उठ गए, पाठक चले विदेश
कवि जी आओ घर चलें, रैन भई एहि देस

इतने लम्बे काव्य-श्रम के बाद हिन्दी का कवि ऐसा क्यों सोचता है? पूरे संग्रह में लगातार कवि स्वयं अपनी एवं कविता की पड़ताल की करता चलता है। अकारण नहीं है कि स्वयं कविताओं में कवि का नाम केदारनाथ सिंह कई बार आता है। एक आशंका, आत्म-सजग आशंका है।

लेकिन जिस कविता ने मुझे सबसे अधिक पाश में जकड़ा वह है 'लहरतारा'। जिसका बनना बिलकुल आकस्मिक है, वैसे ही जैसे 'पेड़ पर पत्तियाँ आती हैं,' उतना ही नैसर्गिक और हठात्। किसी भी कवि में ऐसी चीजें कम ही होती हैं क्योंकि वे लगभग स्वतःस्फूर्त होती हैं।

अबकी काशी में देखा मैंने
अनन्त के बराबर एक छोटा-सा पल

यह पूरी कविता भी वैसी ही है—अनन्त के बराबर एक छोटा-सा पल।

श्री केदारनाथ सिंह की यह नवीनतम कविता-पुस्तक न केवल समकालीन हिन्दी कविता बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी कविता के संसार में एक अनुपम काव्य-सृष्टि के रूप में समादृत होगी। केदार जी अब हमारे बड़े कवि हैं। मिलारेपा ने ठीक कहा था—

दुनिया की सबसे सुन्दर प्रार्थना
एक मकई के दाने में निवास करती है।

केदार जी प्रार्थना तो नहीं करते, पर उस मकई के दाने को जानते हैं। उनकी कविता भी मकई का एक दाना ही तो है। आमीन!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुनिया भर की खाक-धूल सहेजती कविता

ओम निश्चल

जब कविता परम्परा का अनुगमन करती मानव-स्वभाव को दर्ज करती लगभग एकरसता के निकट पहुँचने लगती है तब अचानक कोई एक कवि ऐसा उभरता है जो झटके से एकस्वरता की लय को नया मोड़ देता है—कविता के शिथिल और बासी पड़ते शिल्प व कथ्य को नई कलफ लगाकर परिमार्जित करता है। हिन्दी कविता के विराट भुवन में केदारनाथ सिंह के पदार्पण से कविता में एक नया मोड़ आया था—वह मोड़, वह विशिष्टता आज भी उनके नए संग्रह 'तालस्ताय और साइकिल' तक अपने अनूठेपन के साथ कायम है। कविता में शिवत्व क्या कवि की इस आकांक्षा में शामिल नहीं है, जब वह कहता है : भरने दो अपने शब्दों में सारे शहरों की खाक-धूल/इस यात्रा में वापसी नहीं बस चलते जाना है।

हमारे समय के वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह के नये कविता संग्रह के साथ एक अनुचिन्तन।

"देखता हूँ कि नीम अँधेरे में
मैंने यही तो किया है
कि हटा दिया है कोई विशेषण
उड़ा दी है कोई तिथि
और तुर्रा यह—कि मैंने कविता की है!"

'अपनी खबर' के गहरे तलघर में पैठे अतीत को खुरचते हुए केदारनाथ सिंह की यह कविता अनेक ऐतिहासिक अवस्थानों, समयों और स्मृतियों से गुजरती हुई जिस फंतासीमूलक अयथार्थता का सृजन करती है, वहीं कहीं से केदारजी की कवि-कल्पना अपनी भावात्मक वेध्यता के साथ उड़ान भरती है। बिजली गुल होने के कारण बाजार जाना स्थगित कर मोमबत्ती की रोशनी में कविता लिखते हुए कवि की स्मृति छलाँग मारती हुई उसे कभी विदिशा में एक भड़भूजे की दूकान पर ले आती है, कभी उसके जन्म-स्थान चकिया में, कभी गान्धार के किसी प्राचीन मठ में, कभी मध्येशिया में एक सूफी के मजार पर प्रार्थना-विनत, कभी हल्दी, कोटा, पाटन या पिपराइच में, कभी वैशाली में आम के पेड़ के रूप में, श्रावस्ती में एक भिक्खु के भिक्षापात्र और वाराणसी में एक पहिए के रूप में—और तभी कवि को याद आता है कि उसके थैले में न जाने कब से समरकन्द के एक गड़रिए का एक जरूरी सन्देश पड़ा है, जिसे भुलक्कड़ीवश वह कुशीनारा के एक गाँव तक नहीं पहुँचा पाया है और मोमबत्ती के सामने झुका हुआ कविता पूरी कर रहा है—वह कविता जो सदियों से उसके किसी पुरखे कवि ने लिखनी शुरू की थी—परम्परा किस तरह आधुनिकता को अपना दाय सौंपती है, एक

जी-1/506ए, उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि किस तरह अपने पुरखे कवियों के प्रति कृतज्ञता से भर कर यह कहने का साहस रखता है कि बस मैंने तो कोई हलन्त भर हटाया है या लगा दी है कहीं कोई बिन्दी या उलट दिया है कोई विशेषण, उड़ा दी है कोई तिथि—यानी कविता के नाम पर बस इतना ही। *केदारनाथ सिंह* का नया संग्रह *तालस्ताय और साइकिल* अनेक स्थानों-समयों में एक साथ उपस्थित जिस बृहत्तर कविता-समय का संधान करता है, उसमें जहाँ एक ओर कविता-कला के समस्त उपादानों की सन्निधि नजर आती है, वहीं तमाम सांस्कृतिक संकटों-झंझावातों, आपदाओं को सहकर भी अपने अस्तित्व को बार-बार बचा लेनेवाली मनुष्यता की कौंध भी, जिसे केदारजी शुरू से ही अपनी कविता और निबन्धों की ताकत के रूप में सहेजते आए हैं।

केदारनाथ सिंह वैविध्य और विलक्षणता से भरी हिन्दी कविता के एक ऐसे उदाहरण हैं जिनकी भाषा में दूब की-सी हरीतिमा है, ऐन्द्रियता का एक ऐसा आस्वादक तत्त्व है, जिसके सान्निध्य से कविता वह *स्फटिक गरिमा* प्राप्त करती है, जिसकी चर्चा केदारजी ने अपनी कविता में की है। कविता के तमाम गुजरे आन्दोलनों के बीच केदारनाथ सिंह की उपस्थिति एक ऐसे कवि के रूप में रही है, जो कभी आन्दोलनों अथवा वैचारिक प्रतिश्रुतियों से जुड़कर सतही लोकप्रियता जुटाने का हामी नहीं रहा। यही वजह है कि अपने समकालीनों के मध्य कविता की एक अलग किस्म ईजाद करनेवाले केदारनाथ सिंह के यहाँ कथ्य की अलग भंगिमा, ध्वनियों, बिम्बों और प्रतीकों के नये प्रयोग ही कविता का अलंकरण बन जाते हैं। कविता उनके लिए सदैव उम्मीदों का एक कोना बचाए रखती है। वे कहते हैं, *मौसम चाहे जितना खराब हो/उम्मीद नहीं छोड़तीं कविताएँ।*

एक जमाने में गीतों की लालित्यपूर्ण रेखा खींचनेवाले केदारजी की कविता ने *अभी बिल्कुल अभी* से एक नया रुख अख्तियार किया। उनके गीतों में जैसे लयात्मकता के नए कल्ले फूटते दिखाई देते थे, कविताएँ भी कथ्य और कलात्मकता का नाजुक सन्तुलन बुनती हैं। किन्तु *जमीन पक रही है* कविता के इलाके में एक सर्वथा नया मोड़ था, जिसने न केवल केदारजी की कविता के विन्यास को एकाएक बदल दिया, बल्कि हिन्दी कविता के लिए भी यह एक अचीन्हा आस्वाद था। धीरे-धीरे वे हिन्दी कविता के एक ऐसे *आइकन* बनते गए जिससे बड़ी खामोशी से कविता के आन्तरिक विन्यास को बदलने का बीड़ा उठाया है। स्थूलता और पदार्थमयता की महक में जब उनके अनेक समकालीन डूबे थे, या पेड़ों, बच्चों, लड़कियों आदि की प्रतीकात्मकता में निमग्न थे, उन्होंने कविता को ऐसे सम्मोहनों से बाहर निकालने की पहल की। यह अकारण नहीं कि उन्हें यह कहना पड़ा, *कुछ शब्द हैं—जैसे सूर्योदय/जिनके जादू से बचना चाहिए।* वे कविता के एक ऐसे क्राफ्ट्समैन हैं जिनके यहाँ *कुदाल* भी अपने समय का एक विलक्षण काव्य-बिम्ब बन जाती है और *टमाटर बेचनेवाली बुढ़िया* भी एक आत्मीय काव्यात्मक विषय बनकर स्मृति की अलगनी पर टँक जाती है। कविता के *इंटीरियर डेकोर* की दृष्टि से हिन्दी में शमशेर, विनोदकुमार शुक्ल, कुँवरनारायण के बाद केदारजी की कविता सर्वाधिक नुकीली, स्लिम, सौन्दर्यग्राही और मार्मिक है। देश-विदेश की घुमक्कड़ी ने भी उनकी कविता को आनुभूतिक स्तर पर चाक्षुष और संवेदी बनाया है। बातचीत की लय उनकी कविता और गद्य दोनों के मिजाज में अनुस्यूत है। समकालीनता से उनकी कविता का रिश्ता जितना प्रगाढ़ है, उतना ही उनकी कविताएँ समयातीत और किसी भी देश की चौहद्दी में न अँटनेवाली मानवीय अनुभूतियों से लैस हैं।

यों देखें तो केदारजी की जमीन गाँव की है। एक नास्टेल्जिया-सा गाँव से शहर आ बसे कवियों के भीतर प्रायः होता ही है। केदारजी इस नास्टेल्जिया से बराबर बचते दिखाई देते हैं, पर उसे एकदम झिटककर अलग नहीं हो पाते। कहीं न कहीं यह नास्टेल्जिया ही है जो उनकी कविताओं को ताकत देती है पर वे इसे अपनी आधुनिकता के खाँचे और साँचे में ढालते हैं और एक जीवन-मूल्य के रूप में और काव्यात्मक मूल्य के रूप में भी आविष्कृत करते हैं। *ज़मीन पक रही है* आधुनिकताबोध से सम्पन्न कविताओं का एक ऐसा विस्फोट था जो उन्हें न केवल उनके तब तक के अर्जित मुहावरे से अलग करता था बल्कि अपने समकालीनों से भी। रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा और कैलाश वाजपेयी के प्रभावों से भी वे अछूते रहे और अकविता के अवसाद से भी, जिसका शुरुआती प्रभाव श्रीकान्त वर्मा और जगूड़ी पर पड़ा तथा चन्द्रकान्त देवताले काफी दिनों तक उसके प्रभामंडल से बँधे रहे। यह वह समय था जब वे (केदारजी) कह रहे थे, *मैं भरी सड़क पर सुनना चाहता हूँ वह धमाका/जो शब्द और आदमी की टक्कर से पैदा होता है।* या यह कि—*इस समय सड़क पर कोई भी किसी का समकालीन नहीं है। जब उन्हें लगता था कि पत्ते गिरते हुए बढ़ई की रुखानी का ज़रा-सा हिलना भी निर्णायक हो सकता है*—यह केदार की कविता में कंटेंट से भी ज्यादा कविता का एक नया फार्म निर्मित करने की विकलता और व्यग्रता था जिसका विकास केदारजी ने उत्तरोत्तर किया—*तालस्ताय और साइकिल* में उनके इस फार्म का चरम शिखर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखने को मिलता है, जहाँ वे वस्तुओं को अपने अनुभव और संवेदना की रगड़-टकराहट और टक्कर का हिस्सा बनाते चलते हैं जिसके जबर्दस्त धमाके में भी एक गहरी खामोशी छिपी होती है। उनकी संवेदना वर्तमान को भी इतिहास की धूल में सने अतीत के आईने में देखती है, तभी वह काम पर गए लोगों की तरफ से और यहाँ तक कि उस चींटी की तरफ से भी बोलती है जो नागासाकी में अकेली बच गई थी। *ज़मीन पक रही है* से *तालस्ताय और साइकिल* तक केदार की कविताओं में इतिहास, स्मृति, कल्पना, फंतासी और आख्यानकता का एक अटूट और अद्भुत सहमेल बनता है जहाँ वे अतीत को वर्तमान के क्षितिज से जोड़ते नजर आते हैं। वे अपने भीतर की सारी सच्चाई के साथ कभी पानी बनकर बतियाते हैं, कभी प्राचीन पांडुलिपियाँ उन्हें पुकारती, उनका कुशलक्षेम पूछती प्रतीत होती हैं, आठवीं सदी के महाकवि तू फू और ली पै—आपस में बतियाते हुए, कभी सारनाथ से लौटने के बाद वे खुद बुद्ध से अपनी विक्षुब्धता का बयान करते हैं, कभी सपने में सालिम अली से भेंट होती है, कभी त्रिनीदाद के प्रवासी भारतीयों से जिनकी गहरी उदास कैरेबियन आँखों में किसी सूने कछार की-सी नमी नजर आती है और कंठ से निकलती भोजपुरिया धुन, पर साथ ही लुप्त होती स्मृति के संकेत भी। इसी तरह उन्हें अचानक घरघराते टेलीफोन पर दिवंगत पिता की आवाज सुनाई देती है जो इब्राहिम मियाँ का हालचाल पता करने के लिए कहते हैं और वे इब्राहिम मियाँ के पास उनके ऊँट की पहचान के सहारे पहुँचते हैं। इब्राहिम मियाँ बोलते हैं, *कह देना पिता से सब ठीकठाक है, हवा है, पानी है—बस्ती के बाहर एक छोटा-सा कब्रिस्तान है।* अब कवि की चिन्ता यह कि वह इसे किस तरह पिता को सूचित करे। अपने अदृश्य पूर्वजों से बातचीत के बहाने इब्राहिम मियाँ जैसे मुसलमानों की हालत को फोकस करने के लिए वे और भी कोई प्रविधि इस्तेमाल कर सकते थे, पर केदार का कवि एक साथ कई चैनलों पर सक्रिय रहता है, वह एक समय में होकर भी कई समयों, जगहों में कविता के मानवीय और मार्मिक क्षणों को सहेजता है। वे ब्रह्मांड में उठती ध्वनियों की टोह लेने के लिए कभी किसी ढेले पर कान लगाकर सुनने के लिए उत्कंठित होते हैं, कभी टीवी पर इराक युद्ध में घायल बच्चे के चेहरे से लटककर हवा में झूलती शिशु-आँखें देखकर इनकार करते हैं *कि मैं कवि हूँ। एक जरूरी चिट्ठी का मसौदा* लिखना चाहते हैं, पृथ्वी के सारे निवासियों के नाम और मिलना चाहते हैं दुनिया के एक-एक शख्स से तथा कहना चाहते हैं कि *हो सके तो हर धड़कन के साथ एक अदृश्य तार जोड़ दिया जाए कि एक को प्यास लगे तो हर कंठ में जरा-सी बेचैनी हो।* वे इस विडम्बना की तह में जाना चाहते हैं कि आखिर वह भाषा का कौन-सा नियम है जिससे पोकरण में होनेवाला बम-विस्फोट बुद्ध की मुस्कान में बदल जाता है। *यह भाषा सरासर ध्वंस है*—कवि बुदबुदाता है। तभी एक तितली के छटपटाते पैरों को अपने अकेलेपन की गहरी और पवित्र गरिमा में महसूस करना चाहता है। *चींटियों की रुलाई* कविता बार-बार उस देसी चित्तवाले कवि केदार की बुनियादी जमीन की याद दिलाती है जो चींटियों तक के लिए शहर में महफूज जगह न पाकर शहर को ही अपने कन्धे पर उठाकर कहीं और ले जाना चाहता है। बेशक यह सम्भव नहीं, पर चींटियों की चिन्ता शहर के कोने-अन्तरे में जिजीविषा के साथ संघर्षरत लघुमानवों की लघु सत्ता कवि के लिए चिन्ता का विषय है—*इस इतने बड़े शहर में अब इतनी भी जगह नहीं/कि एक गर्भवती चींटी कहीं रख दे अपना अंडा।*

केदारजी की कविता का कोई निश्चित व्याकरण नहीं है, वह नैरेटिव में भी घटित होती है और आख्यान में भी। वह बोलचाल के गद्य में भी सम्बोधित करती है और एकालाप के छन्द में भी। उनकी कविता किसी को अपनी पूरी कद-काठी में देशज लगती है तो किसी को उसमें गाँव को नए ढंग से देखने की कोशिश मिलती है। कविता के शिल्प में ज्यादा गुंजाइश न होते हुए भी उनकी अनेक कविताओं में बनारस, पडरौना, कुशीनगर और दिल्ली तक की यात्रा के पड़ावों का सूक्ष्म ब्यौरा मिल सकता है। पडरौना, कुशीनगर और बनारस के लोकेल पर उनके यहाँ अनेक कविताएँ हैं तो दिल्ली और दुनिया की अनेक जगहें, स्मृतियाँ और वहाँ के लोग उसमें बेरोक आवाजाही करते हैं। त्रिनीदाद में उन्हें सुदूर भोजपुरिया धुनें और लोगों की शहरी उदास कैरेबियन आँखें कचोटती हैं तो तू फू और ली पै को स्मरण करते हुए वे आठवीं सदी के दो घुमक्कड़ महाकवियों के संगी बन जाते हैं। बुद्ध से बतियाते हुए वे सारनाथ के हिरनों से सूने मृगदाव को याद कर सिहर उठते हैं तो सिंह, शर्मा और गुप्त जैसी व्याधियों से क्षुब्ध भी, क्योंकि यह मनुष्य की त्वचा पर दाग की तरह जम गया है। कभी-कभी उनकी कवि-स्मृति *पूस की रात* जैसी प्रेमचन्द की लोकप्रिय कहानी के रचना-समय में जा पैठती है और हल्कू की नियति पर एक असमाप्त जिरह छेड़ती है तो *बर्लिन की टूटी दीवार को देखकर* दीवाल के चारों ओर चक्कर लगाती हुई एक पागल स्त्री अचानक कवि के भीतर आ धमकती है और अहमद फराज की एक गजल के भूले मिसरे के बीच पूछती है, यह दीवार कब टूटेगी ? दो देशों के सम्बन्धों के बीच पसरे सन्नाटे को तोड़ने में क्या कविता भी काम आ सकती है ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरेक के भीतर मौजूद हिन्द और पाक की यह दीवार आखिर कब टूटेगी—क्या अहमद फराज और केदार जैसे कवि दोनों देशों के ठंडे सम्बन्धों के अन्तराल को अपनी-अपनी शायरी की गर्मजोशी से नहीं भर रहे ? गहरे और स्पष्ट अर्थों में केदारजी भले ही राजनीतिक कवि न कहे जाएँ, पर वे राजनीतिक परिदृश्य के बीच साँस लेनेवाले कवि तो हैं ही—किसी विचारधारा के सीमित प्रकोष्ठ के बजाय वे विचार की विराटता के कवि हैं। ये विचार कभी *मिलारेपा* को पढ़ते हुए आते हैं तो कभी *दिल्ली में बबूल* को देखकर। शहरी सभ्यता से कवि की गँवई संवेदना लगातार टकराती है और यह पाती है कि *दुनिया की सबसे सुन्दर प्रार्थना एक मकई के दाने में निवास करती है।* उसकी स्लिम, ट्रिम और सलीकेदार संवेदना में एक देशज महक है, किसानी जीवन से गुजरे अनुभवों की प्रतीति है, इसलिए उसकी अभिजात-सी लगती कविताओं में गाँव की अनुभूतियों के बिम्ब किसी थिगड़े की तरह नहीं बल्कि अनिवार्य गुण-सूत्र की तरह गुँथे हुए दिखते हैं। इसलिए दाँत उखड़ने पर टूटे हुए दाँत को घास की जड़ में गाड़ देने की दादी की सीख वह पैंसठ पार पहुँचकर भी नहीं भूलता और झमाझम बारिश के बीच खिली धूप में *लुखरी के ब्याह* की जनश्रुति उसे अब भी याद है। *तालस्ताय और साइकिल* कविता के पीछे भी कवि के भीतर बसा गुजरे जमाने की साइकिल का जादू बरकरार है जो आज उसे हर आदमी के पीछे-पीछे घंटी बजाती हुई इतिहास की धूल झाड़कर बाहर निकलने का रास्ता खोजती हुई लगती है।

धूल का जिक्र आया तो याद आया कि यह केदारजी का प्रिय शब्द है। परमानन्द श्रीवास्तव ने लिखा है—जब भी पडरौना-कुशीनगर से दिल्ली के अपने विस्थापन का जिक्र केदारजी करते हैं तो वहाँ की धूल का जरूर ही एक विस्मय-भरा बयान होता है। *शहरबदल* में जिस छोटे से शहर को पिपिहरी के संगीत, ट्रकों के ताल, हवा की मुरकियों और बैलगाड़ियों की मूर्च्छना के रूप में चित्रित किया गया है, वहीं उन्हें दुपहरिया पैसेंजर की धूल से उठते हुए लम्बे आलाप की याद भी आती है। अचरज नहीं कि त्रिनीदादियों से मिलते हुए उन्हें अपने विस्थापन की याद हो आती है—*तो क्या मैं भी डायस्पोरा हूँ कहीं अपने समय के किसी त्रिनीदाद में / एक अजब आप्रवासी !* और *पांडुलिपियाँ* पलटते हुए उन पर धूल के कार्बोराइट का एक मजबूत ठप्पा नजर आता है। सच कहें तो केदारजी की कविताएँ इतिहास और स्मृति के अटाले में जमी धूल को हटाने का काम करती हैं। उनके भीतर चकिया, कुशीनगर, पडरौना, बनारस और दिल्ली महज भूगोल की जगहें नहीं हैं, वे मानवीय सभ्यता के मापदंड हैं। इन्हें वे महज जगहों के रूप में नहीं देखते, जिस तरह ज्ञानेन्द्रपति बनारस को, बल्कि स्थानीयता से ऊपर उठकर मानवीय गुणों के न भूलनेवाले बिम्बों, प्रतीकों के रूप में देखते हैं। *सिर्फ एक गमछा भी हो सकता है आदमी का सबसे बड़ा मित्र*—कहकर वे केवल कैलाशपति निषाद को ही स्मरण नहीं करते—गमछे से पहचाने जा सकनेवाले ग्राम-जीवन की सहजता की ओर भी इशारा करते हैं। जेएनयू में घर का नम्बर पूछते और निराश लौटकर जाते एक अधेड़-से आदमी के कन्धे पर रखा *अँगोछा*—यही *गमछा* ही है जिससे वे गँवई और किसानी जीवन के व्यक्ति का खाका खींचते हैं। उनके लिए ऊँट भी इब्राहिम मियाँ की पहचान बनकर कौंधता है और पडरौना का नाम *ऊँट के कोहान की तरह* तो गाँव-कस्बे के उस ठहरे हुए समय में भी जो लोगों के कन्धों पर *गमछे की तरह* पड़ा होता था।

भुतहा बाग, लहरतारा, खरहे, नया गाँव की बत्ती, स्मारक, एक पशु की कराह, वह कुशीनगर की एक शाम, इब्राहिम मियाँ ऊँटवाले, ठीकरा, दिल्ली में बबूल तथा *कैलाशपति निषाद की स्मृति में* जैसी कविताओं से यह दीख पड़ता है कि केदारजी गाँव-कस्बे से जुड़ी अनुभूतियों से आज भी अपनी कविता के लिए कितनी ऑक्सीजन लेते हैं। एक बातचीत में उन्होंने कहा है—*मैं उन लोगों से मिलना चाहता हूँ जिनसे अपना हृदय-छन्द मिले।* उनके घनिष्ठ मित्रों में कैलाशपति निषाद थे जो उनके लिए ग्रामीण संस्कृति और भारतीयता के विरल प्रतीक थे। उनके पत्रों को पढ़कर केदारजी उस यथार्थ भूमि का स्पर्श कर पाते थे जो दिल्ली की महानगरीय दिनचर्या में संभव नहीं है। हम उनके निबन्धों को पढ़ें तो अचरज होता है कि बिम्बों और विस्मयता के बोध से भर देनेवाली अपनी काव्यात्मक युक्ति से अलग वे वहाँ समाज, साहित्य, संस्कृति और ग्रामीण सभ्यता के संकटों पर एक बेचैन भारतीय नागरिक के रूप में दिखाई देते हैं। *बुद्ध की नदी मर रही है, किसानों की आत्महत्या* तथा *पांडुलिपियों की लुप्त होती दुनिया* और मानवीय सभ्यता की किसी भी क्षति को वे गहरी चिन्ता से देखते आए हैं। हम देख सकते हैं कि अपने अलग फार्म, कथ्य, काव्यास्वाद और सुगठित निर्मिति को लेकर सजग रहनेवाला केदार जैसा कवि भी अपने समय के ज्वलन्त प्रश्नों से कैसे टकराता है और प्राचीन सांस्कृतिक टकरावों की दबी हुई अनुगूँज को अनसुनी नहीं रहने देता।

समय-समय पर लिखी उनकी निबन्धात्मक टिप्पणियों में उनकी कविताओं के उद्गम-स्रोत नजर आते हैं। *पांडुलिपियाँ* कविता में व्यक्त चिन्ता कहीं न कहीं उनके निबन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पांडुलिपियों की लुप्त होती दुनिया में व्यक्त चिन्ताओं से टकराती है। उन्हें पांडुलिपियों को बचाने का सवाल अभिव्यक्ति की रक्षा के सवाल से जुड़ा लगता है—रक्षणीय और मूल्यवान को बचाने का सवाल है यह। इसी तरह *नूर मियाँ* पर लिखी *सन् '47 को याद करते हुए* कविता के बहाने वे नूर मियाँ की नियति के अँधेरे प्रकोष्ठ में उतरते हुए बहुत बाद नूर मियाँ की तलाश में निबन्ध लिखते हैं जो कदाचित कल्पना से यथार्थ की ओर लौटना है। इसी तरह *बीसवीं सदी की सबसे लम्बी चीख* की बुनियाद में ही कहीं *बुद्ध की मुस्कान* का *विपर्यय* छिपा है। जापानी कवि तोगे संकिची की *हिरोशिमा की कविताएँ* पढ़ते हुए केदार अतीत में घटित उस भयावह विस्फोट की तबाही और *विकिरण* के वीभत्स परिदृश्य से गुजरे इस कविता के भीतर के विस्फोटों से दहल जाते हैं और सिर्फ यह कहकर निबन्ध का समाहार करते हैं कि *मैं सिर्फ कामना करूँगा कि इन पंक्तियों की प्रतिध्वनि उन कानों तक पहुँचे, जिनमें इस समय आसन्न युद्ध का भीषण संगीत गूँज रहा है।* तोगे संकिची की कवि-वेदना, उत्तर हिरोशिमा की पीड़ा और भयावहता जिस तरह एक खामोश चीख में बदल गई है, केदार जैसे कवि का संवेदन भी पोकरण बम विस्फोट को *बुद्ध की मुस्कान* का जामा पहनाने के कूटनीतिक दुराशयों से हिल-सा गया है, जहाँ कवि की चेतना से चिपके तितली के छोटे-छोटे पर दुनिया के सारे विस्फोटों के खिलाफ थरथरा रहे हैं।

तालस्ताय और साइकिल कई दृष्टियों से केदारनाथ सिंह के उत्तर जीवन और हिन्दी कविता दोनों के लिए भी एक नया मोड़ है। *पानी की प्रार्थना, पानी था मैं, त्रिनीदाद, पांडुलिपियाँ, पिता के जाने पर, बर्लिन की टूटी दीवार को देखकर, इब्राहिम मियाँ ऊँटवाले, बुद्ध की मुस्कान* तथा *शहर बदल* जैसी कविताओं से केदार हिन्दी के काव्य जगत को थोड़ी और ऊँचाई देते हैं। कई-कई विषय और कथ्य उनके सुपरिचित फार्म में ढलकर अद्भुत व्यंजनाओं में बदल जाते हैं। *पानी था मैं, पानी की प्रार्थना, बुद्ध की मुस्कान, बर्लिन की टूटी दीवार को देखकर* और *अपनी खबर* जैसी कविताएँ तो ऐसी हैं जिन्हें लिख पाना उनके समकालीनों के लिए कठिन है। उनकी कविताएँ इस बात का प्रमाण हैं कि वे कैसे सपाटबयानी, विवरणात्मकता, स्थूलता और जानी-पहचानी रचना-सरणि के विरुद्ध *गत्यात्मकता, नवाचार और नैसर्गिकता* की आग्रही हैं। *मोड़ पर विदाई* कविता में वे अकारण ही नहीं कहते, *भरने दो अपने शब्दों में / सारे शहरों की खाक-धूल / इस यात्रा में वापसी नहीं / बस चलते जाना है अकूल।* यों तो केदार अपनी प्रसिद्धि के चरम पर हैं—छन्द, नई कविता दोनों के सिद्ध साधक, किन्तु अब भी लगता है उनकी कविता नए से नए मुहावरे और कथ्य के लिए व्यग्र है। हर बार वे कविता को प्रचलित लीक से हटकर कुछ रचना चाहते हैं। इस दृष्टि से *स्वच्छता अभियान* नामक उनकी कविता एक स्पष्ट संकेत देती है—

इतनी गर्द भर गई है दुनिया में
कि हमें खरीद लाना चाहिए
एक झाड़ू आत्मा के गलियारों के लिए
और चलाना चाहिए दीर्घ एक स्वच्छता अभियान
अपने सामने की नाली से उत्तरी ध्रुवान्त तक

—सारी दुनिया देख लेने और लगभग जी लेनेवाले वरिष्ठ कवि की यह सलाहियत कहीं न कहीं हमारी आत्मा में चिपके कालुष्य को निकाल बाहर करने के आह्वान से भरी है और यहीं वह मुक्तिबोध की उस उद्विग्नता के हमकरीब भी नजर आती है जहाँ उन्होंने कहा है—*यह दुनिया जैसी भी हो / उससे बेहतर चाहिए / इसे साफ करने के लिए एक मेहतर चाहिए।*— और तब इस *स्वच्छता अभियान* का निहितार्थ समझ में आता है। दोनों कवियों की चिन्ताएँ अलग-अलग सरणियों, काव्य-मूल्यों, प्रविधियों से होती हुई अन्ततः एक बिन्दु पर आकर टकराती हैं—लगता है परवर्ती पीढ़ी का एक कवि अपने पूर्वज कवि के उत्तराधिकार का दाय वहन कर रहा है। यह आकस्मिक नहीं कि केदारजी इसका संकेत भी *अपनी खबर* में देते हैं—*और ऐसा भुलक्कड़ हूँ कि झुका हुआ बैठा हूँ / मोमबत्ती के सामने और पूरी कर रहा हूँ वह कविता / जिसे लिखना शुरू किया था मेरे किसी पुरखे कवि ने / शायद सदियों पहले।*—केदार ऐसे संयोग बहुधा घटित करते हैं जिनमें वे अचानक वर्तमान से छलाँग लगाकर प्राचीन काल के किसी प्रसंग में जा पहुँचते हैं, डाकघर जाते हुए वृहत्कथा के किसी जंगल में पहुँच जाने का आभास होता है, किताब खोलते हैं तो कालिदास दिख जाते हैं, कापी बन्द करते हैं तो बाणभट्ट की हँसी सुनाई देती है—कभी राष्ट्रीय संग्रहालय के एक पुरातन मृद्भांड की गन्ध आवाज देती हुई लगती है तो कभी नीम की पत्तियों की फाँक से अब्दुर्रहीम खानखाना की कराह सुनाई देती है। कभी किसी पांडुलिपि के प्राचीन हस्तलेख के भीतर से कोई पुकारता-सा जान पड़ता है, कभी चकिया याद आता है तो कभी गान्धार के किसी प्राचीन मठ में कुछ दिन रहने की याद भी—इस तरह वे वैशाली, श्रावस्ती, कुशीनारा, बुद्ध, मध्येशिया, थेरीगाथा, जेतबन, मृगदाव, सुजाता, अंगुलिमाल, पडरौना, वाराणसी, मिलारेपा, लहरतारा और यहाँ तक कि दिल्ली (जिससे शायद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता का हृदय-छन्द नहीं भी मिलता) के भी प्रसंग उठाते हुए वे देशकाल का अतिक्रमण कर एक साथ कई देशों, समयों, मनःस्थितियों, सभ्यताओं में पहुँच जाते हैं—*एकोहं बहुस्याम* का आभास देते हुए। इसी तरह पहले भी भिखारी ठाकुर, त्रिलोचन, रामचन्द्र शुक्ल और गालिब उनकी कविताओं में आए हैं। और तब लगता है, केदारजी कोई चकमा देने के लिए कविता में यह युक्ति नहीं अपनाते, बल्कि यह जताते हैं कि एक कवि की वेधक दृष्टि किस तरह किसी एक देश-काल और परिस्थिति की बंदी नहीं होती—वह देश-काल और परिस्थितियों की चौहद्दियों का अतिक्रमण करती हुई प्राचीन से प्राचीन इतिहास, प्रसंग, चरित्र और जगहों से वैसे ही टकराती है जैसे कोई वर्तमान से मुठभेड़ करता हो। यह कविता में अतीत और वर्तमान की फंतासी का सहमेल है, पर यह *समकालीनता से पलायन नहीं है*, दूरातीत में जाकर जीवन के नए आशयों की खोज है। वे जैसे अनेक जन्मों में सन्तरण करते हुए कविता को उसके सच्चे वैभव की पहचान के साथ जोड़ते हैं। एक धुन का नष्ट होना भी जिस कवि के लिए एक मानवीय क्षति से कम नहीं हो, उस कवि के भीतर जाग्रत शताब्दियों की हलचल को एक गहरे अर्थ में लिया जाना चाहिए।

केदारजी की भाषा जितनी सरल है, उतनी ही विस्मयता की दुरूहता से भरी भी है। सरल इतनी कि भाष्य की कोई जरूरत नहीं और दुरूह इतनी कि आलोचक के लिए चुनौती बन जाए। दरअसल केदार की कविता व्याख्या नहीं, सहृदयता और पढ़े जाने का धीरज माँगती है। वह जल की दुर्लभता को सीधे-सीधे नहीं कह सकती, उसके लिए *पानी की प्रार्थना* जैसा आख्यान रचती है और अपनी मौजूदगी को *पानी था मैं* की किस्सागोई में बदलते हुए पाठक को अचरज में डाल देते हैं—पानी की आवाज या पानी की पुकार को कोई केदार जैसा कवि ही सुन सकता है जैसे पानी भी अपनी आवाज किसी नारियल के पास ही सुन पाता है। पानी के इतिहास के ऐसे ही एक दुर्लभ क्षण को केदारजी ने *बारिश में स्त्री* शीर्षक कविता में सहेजा है अपनी पूरी ऋजुता, रोमानियत और पवित्र आकांक्षा के साथ। जहाँ स्त्री-सौन्दर्य बारिश में किताब की तरह खुलकर सजल तरल, छप्-छप् करता हुआ *पानी के एक महावाक्य* में बदल गया है। वे एक गमछे में भी मैत्री का जज्बा ढूँढ़ लेते हैं और एक साइकिल में भी प्रेम निभा सकनेवाला ताप। एक पुरानी ढोलक भी उन्हें उदात्त ऊँचाइयों तक पहुँचा सकती है और एक मकई के दाने में भी सुनाई दे सकती है दुनिया की सबसे सुन्दर प्रार्थना—इसीलिए केदार के लिए भीगती हुई स्त्री भी एक किताब की तरह खुली लगती है और उसकी देह पानी के एक *महावाक्य* में बदलती हुई—सौन्दर्य को पढ़ने-आँकनेवाली कवि की आँखों ने स्त्री को *पदार्थ* के रूप में नहीं, *शब्द की सत्ता* के रूप में अवलोकित किया है।

कविता में आख्यान के पुनर्वास पर बहुत कुछ कहा जा चुका है। आख्यान की इस परम्परा की नींव आज के कवियों ने नहीं डाली, वह सदैव हमारी श्रेष्ठ काव्य-परम्परा में अन्तर्भूत रही है। *महाभारत, रामायण* जैसे ग्रन्थ जो आज भी हमारी कविता का उपजीव्य बने हुए हैं, आख्यान की समरसता का अपूर्व उदाहरण हैं और शायद यही वजह है कि केदारनाथ सिंह ने *तालस्ताय और साइकिल* की लगभग सभी कविताओं को किस्सागोई और काव्यानुभूति के सहमेल से रचा है। कभी-कभी लगता है, केदारजी लोकजीवन से, लोककथाओं से, पुरा-प्राचीन गौरव ग्रन्थों से—यहाँ तक कि वर्तमान की खाक-धूल तक से जीवन में फैली-बिखरी कहानियाँ बीनते-बटोरते और उसके सत्व से कविता रचते हैं। कभी-कभी यह भी लगता है कि ऐसी कथा तो हमने कहीं सुनी है, पर कविता में वह एक नए आस्वाद का उन्मेष कर रही है—विचारों के आयतन का बिल्कुल बोझ न पड़ने देते हुए केदारजी ने चतुराई से ऐसे घटनाक्रम अपनी कविताओं के लिए चुने हैं जो पाठकों को अपनी ओर खींच सकें। उनकी स्मृति के अशेष कुंड से निकलते अनेकानेक आख्यानों से गुजरते हुए एक गहरी उत्सुकता और एकाग्रता बनी रहती है और अन्त का विन्यास वे जिस गूँज से करते हैं, जिस मुकाम पर वे पाठक को ले जाकर छोड़ देते हैं, वह विस्मयता-विमुग्धता के बोध से भावाभिभूत हो उठता है। इसीलिए वे कविताओं की पीठिका एक किस्सागोई की तरह ही रचते हैं। मसलन, यह उन दिनों की बात है, यह कब घटित हुआ याद नहीं, याद सिर्फ इतना है कि शायद मैं भरतपुर के पक्षी विहार से लौट रहा था, वह जाड़ों की एक शाम थी, उधर जाते हुए बचपन में डर लगता था, कभी पानी था मैं, बस इतना याद है कि एक दिन एक कटोरे से गिरा, वह एक अलभ दृश्य था, वह कुशीनगर की एक शाम, यह शुरू के दिनों की बात है, शायद मई का महीना था—और सबसे उम्दा कथानक एक नया गाँव की बत्ती का है। चोर-उचक्कों की भी अपनी अलग दुनिया है, वे भी बिना श्रम खैरात में मिला हुआ धन लेने में संकोच करते हैं। लगभग जानी-पहचानी-सी इस कथा कविता में रात बारह बजे पैसेंजर से उतरकर गाँव जाते हुए अचानक उसी गाड़ी से उतरा हुआ एक यात्री उसके साथ हो लेता है, बगल के ही गाँव जाने का भरोसा दिलाते हुए। कुछ दूर चलने के बाद वह नदी आने पर मदद के बहाने कवि की अटैची थाम लेता है, फिर कुछ दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाकर यह बताते हुए वह जेल से आज ही छूटा है और खाली हाथ घर जाना अच्छा नहीं लगता, वह अटैची हथिया लेता है। निरुपाय कवि के सामने कोई विकल्प नहीं होता। फिर थोड़ी दूर जाकर वह वापस लौटता है और नफरत से देखते हुए कहता है, बिना विरोध के अपनी अटैची देकर मुझे आपने निहत्था कर दिया है, वरना अपना शिकार मैं खुद करता हूँ और अटैची वापस लौटाकर अँधेरे में गायब हो जाता है। कविता शायद यही करती है—एक आख्यान के सहारे वह पाठक को बस उस मुकाम तक पहुँचकर अपने जाल में समेट लेती है, जहाँ विस्मयता, सात्विकता और अनूठेपन के बोध से भर उठे। याद आता है कुसुमाग्रज की एक कविता का भाव कि एक साधु के भीतर पैठी हो सकती है एक वेश्या से भी उदग्र वासना, जबकि एक वेश्या के अन्तःकरण में भी हो सकती है एक साधु से भी अधिक पवित्र सात्विकता। इस तरह कभी-कभी एक चोर-उचक्का भी कविता का सन्देश हमारे मुँह पर फेंककर जा सकता है—*नया गाँव की बत्ती* कम से कम यह संकेत तो देती ही है। कहना यह कि आख्यान से कविता सरस और दीर्घजीवी होती है, यदि वह कविता की कीमत पर न रचा गया हो, और आख्यान के भीतर कविता का सत्व समाया हुआ हो।

देखा जाए तो केदारजी की कविता के निर्माण के पीछे उनके ग्रामार्जित अनुभवों की भी एक अप्रत्यक्ष भूमिका रही है। *इब्राहिम मियाँ ऊँटवाले, एक पशु की कराह, स्मारक, नया गाँव की बत्ती, भुतहा बाग, ठीकरा, समूह गायन, रात की आवाजें, चींटियों की रुलाई, शहर बदल, खरहे, पतझड़, कैलाशपति, निषाद की स्मृति में, घोंसलों का इतिहास* आदि के पीछे केदार के भीतर समाए गाँव-कस्बे के *लोकेल* की महक है, कुशीनगर के बौद्ध स्तूप, कुशीनारा, सरयू और गंगा के कछार, फसलों के मीलों तक फैले सुनहरे जादू, पडरौना, गोरखपुर और बनारस जैसे *छोटे कस्बों, शहरों के महाजीवन* को गँवई मस्ती के साथ जीने की अल्हड़ यादें हैं और भाषा की दृष्टि से भोजपुरी रंगत को जीने-समझने, अपने कवि-संवेदन का उससे संस्कारित-परिमार्जित करते रहने का सतत उपक्रम है। आ

[*ताल्स्ताय और साइकिल* (कविता-संग्रह) केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण 2005, मूल्य रुपये 125.00]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहनी उपखान
एक पत्र

अरविन्द जैन

4648/21, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

आदरणीय काशीनाथ जी। सादर प्रणाम।

19-20 नवम्बर को इन्दौर-भोपाल यात्रा के दौरान 'कहनी उपखान' की चालीस कहानियाँ एक साथ पढ़ना, सचमुच अद्भुत अनुभव रहा। कुछ कहानियाँ पहली बार पढ़ीं और कुछ दुबारा। दिल्ली लौटकर आपसे फोन पर बात हुई मगर आधी-अधूरी सी। और मैं कहानियाँ पढ़कर अभिभूत हूँ। अफसोस कि पहले क्यों नहीं पढ़ीं ?

चालीस वर्षों की 'कुल जमा पूँजी' ये चालीस कहानियाँ, हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य ऐतिहासिक धरोहर हैं। 'साहित्य की कुलीनता' और वर्चस्ववादी मर्द मानसिकता की धज्जियाँ उड़ाने के खतरों (गालियों और उपेक्षाओं) के बावजूद, 'सामाजिक और आर्थिक विसंगतियों' से घिरे आदमी (औरत) की मनोकथा पढ़ना-समझना और लिखना बेहद दुःसाध्य काम है, जो आप करते रहे हैं। यही आपकी पहचान है और लेखन की प्रासंगिकता और सार्थकता भी। खेद है कि समकालीन आलोचना अपने समय के एक समृद्ध और समर्थ रचनाकार का न सही-सही मूल्यांकन ही कर पाई और न 'भविष्य के संकेत' समझ पाई। मैं कहानी के एक आम पाठक की हैसियत से सिर्फ इतना ही समझ पाया कि आपकी हर कहानी में एक अनकही कहानी भी है, जो दुबारा पढ़ने के लिए आमन्त्रित करती है और दृष्टि सम्पन्न बनाती है। चेतना को चिंगारी दिखाती है और मानसिक स्तर पर नए सिरे से, सोचने-समझने को विवश करती है। मैं आपको नितान्त मौलिक शिल्प और धारदार भाषा के साथ, हर बार नया प्रयोग करते कथाकार के रूप में ही नहीं बल्कि, सामाजिक-राजनीतिक संवेदनाओं की शब्दाभिव्यक्ति और संवाद की अनन्त सम्भावनाओं तक जाते, एक खोजी-बेचैन यात्री के रूप में भी देखता रहा हूँ।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, उल्लेखनीय और रेखांकित करने योग्य बात यह है कि आपने भारतीय समाज (पितृसत्तात्मक) में, सूक्ष्मता से मर्दों के चेतन-अवचेतन का अध्ययन करते हुए, सामन्ती पुरुष मानसिकता और संस्कारों में रची-बसी स्त्री-छवि और उसकी सामाजिक स्थिति की भी गम्भीरता से जाँच-पड़ताल की है। सम्भव है कि आनेवाले दौर में यही सामाजिक-सांस्कृतिक खोजबीन या सृजनात्मक रिपोर्ट समाजशास्त्रियों के लिए आधारभूमि या विचार-बीज सिद्ध हो। प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. श्यामाचरण दुबे के शब्दों में "साहित्य समाज का दर्पण मात्र नहीं होता। उसमें समाज की परम्परा, जीवन-दृष्टि और दर्शन तथा समसामयिक यथार्थ और चिन्ताएँ तो अभिव्यक्ति पाती ही हैं, उसमें समाज की विकृतियों और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विसंगतियों के चित्रण के साथ भविष्य का पूर्वाभास और दिशा-संकेत भी होता है।'' (*परम्परा, इतिहासबोध और संस्कृति,* पृष्ठ 155) मैं इसी परिप्रेक्ष्य में, विस्तार से समझना चाहता हूँ।

औरत हो तो औरत की तरह रहो

आपकी पहली कहानी 'संकट' (1960) मूलतः विवाह संस्था में स्त्री को 'घरेलू गुलाम' और पति परमेश्वर की कामपिपासा शान्त करनेवाली 'गाय, बकरी या भैंस' समझने-माननेवाली मानसिकता के विरुद्ध, पहला प्रतिरोध या प्रहार है। पत्नी ने बेटा जन्मा है। दो-तीन दिन पहले ही जचगी से बाहर निकली है। बेहद कमजोर है। पति (फौजी) छह-सात रोज की छुट्टी पर आया है और पत्नी-सुख नहीं भोग पा रहा, तो मार-पीट, गाली-गलौच पर उतारू है। समझाने आए दोस्त को कहता है ''मैं एक औरत को देखता हूँ, तो सोचता हूँ। अगर इसे होना ही था, तो यह गाय, बकरी या भैंस न होकर औरत क्यों हुई ?...मैं औरत को 'हेट' माने नफ़रत करता हूँ'' (पृ. 21)। उसे अपने सामने पत्नी का न छींकना बर्दाश्त है और न हँसना। कुतर्क और शक (अविश्वास) की कोई सीमा ही नहीं—''जो औरत आज मेरे सामने तीन बार छींक रही है, वही कल दूसरे के सामने कुछ भी कर सकती है'' और ''जो औरत मेरे सामने जरा-सी हँस सकती है, वही कल तुम्हारे सामने कुछ भी कर सकती है।'' (पृ. 28) यहाँ 'कुछ भी कर सकती है' का अर्थ (अनर्थ) साफ-साफ समझा जा सकता है। कुल मिलाकर पति (मालिक, स्वामी) का अन्तिम फैसला है ''अगर वह औरत है तो औरत की तरह रहे।'' (पृ. 28) हम सब अच्छी तरह जानते हैं 'औरत की तरह' रहने के नियम, कायदे-कानून ! समाज में 'देवी' बनकर रहे, घर में 'गृहलक्ष्मी' और पति के शयनकक्ष में 'वेश्या'। माहवारी हो या गर्भ या नवप्रसूता—पुरुष की यौनकामना शान्त होने में कोई 'संकट' नहीं होना चाहिए। दरअसल असली 'संकट' स्त्रियों के लिए ही है। 'ना' करें तो घर में 'संकट' और 'हाँ' करें तो जीवन 'संकट' में। अपना ही नहीं, गर्भस्थ शिशु का भी। ''बच्चे को होना ही था, तो क्या यह दो-चार महीना आगे-पीछे नहीं हो सकता था।'' (पृ. 30) मर्द चीखता है।

पितृसत्तात्मक समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक-ऐतिहासिक और आर्थिक जाल-जंजाल को बिना जाने-बूझे, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के इस गम्भीर 'संकट' की कल्पना तक असम्भव लगती है। मात्र तेईस साल की उम्र में और वह भी प्रथम रचना के रूप में, नारी-जीवन के ऐसे 'संकट' को 'सर्जनात्मक विमर्श' का विषय चुनना-बुनना—बौद्धिक चिन्ता या चिन्तन ही नहीं, समय की चुनौती स्वीकारना भी है। आयातित 'यौन क्रान्ति' के उस दौर में, जब 'यौन मुक्ति' या 'मुक्त यौन स्वतन्त्रता' की 'नई कहानी' के तथाकथित नायक, 'डार्क रूम' में नंगे नाच रहे थे और अभी भी बेसुध, बेखबर—'नाच' देख-दिखा रहे हैं।

औरत होने का शाप

दूसरी कहानी 'कस्बा, जंगल और साहब की पत्नी' (या औरत) अक्सर सोचती-कहती है 'रोज-रोज बच्चे पैदा करना अच्छी बात नहीं' और 'बच्चे ही पैदा करना तो सब कुछ नहीं है।' (पृ. 40-41) शायद इसलिए कि वह 'माँ' नहीं बन पाई। पति जंगल विभाग में अफसर है और 'रोमांटिक तबियत' के आदमी, जो गणित के विद्यार्थी से बेहिचक पूछ रहे थे, 'हलो, यदि सात लड़के आठ दिन में नौ लड़कियों को दस बार प्रेम करते हैं, तो तेरह लड़के बारह दिन में ग्यारह लड़कियों को कितनी बार प्रेम करेंगे ?' पत्नी 'थोड़ी बदसूरत' है, मगर उन्होंने 'लव मैरेज' की है। पति अपनी औरत को समझाते हैं ''उस औरत को तो जानना ही चाहिए, जिसने स्टोव जलाने में अपने को जला लिया। मेरी समझ में नहीं आता कि *अगर वह स्टोव जलाना नहीं जानती, तो फिर औरत किस बात की है ?''* (पृ. 41-42) बताने की जरूरत नहीं कि गत वर्षों में स्टोव फटने या स्टोव जलाने और खाना बनाते हुए कितनी औरतें जलकर मरीं या मारी गई हैं। 'औरत की जात' है, तो 'जाकर माँड पसाओ और आटा गूँथो' और 'चूल्हा फूँको' (पृ. 14, कहानी 'सुख') वरना कैसी औरत ? पुरुष (पति) कभी भी 'चीख' कर कह सकता है ''जब मेरा कोई दुख नहीं समझ सकता, तो कैसी बीवी और कैसा बेटा ?'' (पृ. 19, कहानी 'सुख') या 'तुम खाक़ समझती हो।' (पृ. 25, कहानी 'आख़िरी रात')...'गेट आऊट'...'गेट लॉस्ट'... !

पत्नी सारी उम्र मुस्कुराती रहती है और लोगों को विश्वास दिलाती रहती है कि ''मैं एक सुखी और सन्तुष्ट औरत हूँ'' लेकिन ''तेजी से भागती हुई अपनी उम्र, ढीला पड़ता शरीर, चेहरे पर बनती (बिगड़ती) रेखाएँ और अब तक का जिया हुआ अर्थहीन जीवन'' उसकी आँखों के सामने उभर आता है, तो लगता है कि ''पूरा का पूरा जीवन, जिसमें ज़िन्दगी की तमाम सम्भावनाएँ और आशाएँ निहित थीं, बेमतलब कपूर की तरह उड़ा जा रहा है।'' (पृ. 52)

औरतें सदियों से सवाल कर रही हैं ''आप लोग समझदार हैं, तो विचार क्यों नहीं करते ? जिसके एक औरत है, वह चाहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी तो दूसरी शादी कैसे कर सकता है। और जबकि वह औरत हर तरह से योग्य हो, उसमें कहीं से कोई कमी न हो... देखने में अच्छी हो, शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, बात करना जानती हो, अखबार भी पढ़ लेती हो, कोई कैसे छोड़ सकता है ? लेकिन...हे ईश्वर...'' (पृ. 49 और 53) इसे 'देह धरे का दंड' कहें या 'औरत होने की सज़ा' ? स्त्री होने के 'संकट' समझें या 'सुख' की 'आखिरी रात' ? क्या सचमुच 'ईश्वर जब किसी जड़-चेतन से नाराज होता है तो उसे औरत होने का शाप देता है' ? क्या आपने 'ब्राईडस ऑर नॉट फोर बर्निंग' पढ़ी है ?

घाट-घाट पर जलाई गई औरतें—लाश नहीं थीं !

जैसा मैंने शुरू में ही कहा कि 'आपकी हर कहानी में एक अनकही कहानी भी है, जो दुबारा पढ़ने को आमन्त्रित करती है...' आपकी कहानी 'चायघर में मृत्यु' के अन्त में यह कहना *'मुझे हमेशा लगा और आज भी लगता है कि घाट पर जिसे हमने जलाया था, वह लाश नहीं थी।'* (पृ. 39) एक अनकही कहानी के बारे में सोचने को विवश करता है। कहानी में निस्सन्देह 'असल कहानी वही है', जो मैं पढ़ नहीं, समझ पाया हूँ। आपको 'लिखना था लेकिन...'

भारतीय समाज में विधवा स्त्री की स्थिति यही है कि वे रोज मरती हैं, रोज जीती हैं। और एक दिन 'लाश' समझ जला दी जाती हैं। ''वे कब विधवा हुईं ? कब ससुराल से लौट आईं—हमेशा के लिए। मुझे ठीक से याद नहीं है। इतना याद है कि वे पूरी जवान थीं और काफी खूबसूरत थीं। जब लौटीं तो लोगों को भय था कि कुएँ में डूब मरेंगी या गले में फाँसी लगा लेंगी। अगर यह न हुआ तो नकटा की रात को नंगी होकर नाचेंगी। दिन-दहाड़े अरहर के खेतों में घूमेंगी। दरवाजे पर खड़ी होकर बेमतलब मुस्कुराएँगी...'' (पृ. 33) ऐसे ही वे 'अपना जीवन मौत से' या 'बदनामी के भय' से शुरू करती हैं। जब-जब 'मर जाना' चाहती हैं तो लगता है ''अभी फ़सलें हरी हैं। अभी तो उनमें फूल भी नहीं आए हैं। अभी इतनी जल्दी क्या। और फ़सलों के खलिहान में आने तक के लिए वे रुक जाना चाहती हैं।'' (पृ. 36) ताकि 'मर जाने पर भाई उनकी काम-क्रिया अच्छी तरह कर' सकें।

विचित्र स्थिति है। फूआ की भी। ''लोगों का कहना था कि फूआ मरती नहीं, सबको तंग करने में मज़ा लेती हैं। और फूआ से पूछा जाता, तो वे उदास हो जातीं। उनकी आँखें डबडबा आतीं। उनके नथने फड़क उठते। और वे सहसा आँचल में मुँह छिपाकर बिलख पड़तीं। उनकी पीठ, जिस पर कफ़नवाले कपड़े की कुर्ती थी; देर तक हिलती रहती।'' (पृ. 37) जीतेजी 'कफ़नवाले कपड़े की कुर्ती' ! और रोज किश्तों में जीना-मरना !

'चायघर में मृत्यु' की फूआ, हम सबकी फूआ (माँ, बहन, बेटी, चाची, ताई, मौसी, साली और भाभी...) है। समाज-सुधार आन्दोलनों और कानूनी संशोधनों की 'विंगे ड्रैसिंग' से शहरी क्षेत्र में थोड़ा-बहुत बदलाव जरूर आया है, लेकिन ग्रामीण भारत में यथास्थिति बनी ही हुई है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति में स्त्री और स्त्रीत्व के प्रति सबसे अधिक भय और घृणा छुपी हुई है। 'सती प्रथा' के प्राचीनतम इतिहास से लेकर 'रूपकँवर सती कांड' के तमाम अभियुक्त 'बाइज्जत रिहा' किए जा चुके हैं। इस सन्दर्भ में 'Sati : the blessing and the curse', Ed. by Johan Stratton Hawley, Oxford 1994' उल्लेखनीय ही नहीं बल्कि मूल्यवान दस्तावेज है।

बचपन से बलात्कार

हिन्दी कथा-साहित्य में बाप द्वारा बेटी (बच्ची) से बलात्कार की शायद प्रथम और एकमात्र कहानी है 'एक बूढ़े की कहानी' (पृ. 77-84)। दरअसल यह एक बाप द्वारा अपनी ही बेटी से बलात्कार की कहानी है, जिसे एक दूसरा बूढ़ा युवकों को सुना रहा है या उस बेटी की कहानी है, जो अपने पिता की हवस का शिकार हुई या फिर उन युवकों की कहानी है, जो बच्ची के जवान होने के हिंसक सपने देखते-देखते, बूढ़े सूत्रधार से गाली-गलौच और मार-पिटाई करने लगते हैं या अपने आसपास (चारों तरफ) बाढ़ के पानी की तरह फैल रही, यौनहिंसा के भयावह आतंक की कहानी है ?

संक्षेप में, सूत्रधार कहता है ''यह सारी रोशनी—सारा उजाला तुम्हारे सिर के ऊपर है, ज़रा नीचे देखो तो गड़ाक्। क़ानून-व्यवस्था, सुख-चैन सब बातें हैं और बड़े लोगों के लिए हैं। मगर हम तुम ? यह लो, अगर तुम अपनी दीवार के पीछे निश्चिन्त और सुखी हो तो हम उसी में छेद किए देते हैं। अगर तुम्हारा धन तुम्हारी खूबसूरत जाँघें हैं तो यह लो खटाक्। अभी तो वह बच्ची ठीक से आँखें भी नहीं खोल पाई थी कि तुमने अपनी हथौड़ी दिखा दी। बतला दिया कि यह रहा वह सबक जो हमने इस धरती पर इस ज़िन्दगी और व्यवस्था में सीखा है। आओ चलो, देखें अब क्या करती हो ?'' (पृ. 81) बलात्कार और हत्या के आँकड़ों और न्याय / कानून-व्यवस्था द्वारा 96 प्रतिशत अभियुक्तों की बाइज्जत रिहाई पर ऐसी ही प्रतिक्रिया हो सकती है। मगर 'बूढ़े की कहानी' सुनता-समझता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन है ?

बाप (ब्रह्म) के पास 'अपने पेड़ के फल खाने' का अधिकार है और एक घिनौना तर्क 'यह सब और कुछ नहीं, गरीबी के मजे हैं।' बोलोगे तो 'मैं–मैं तुम्हें जिन्दा नहीं छोड़ूँगा।' युवकों को लगता है 'हाय ! मुल्क में इतनी सारी लड़कियाँ हैं और एक भी मेरे बिस्तरे पर नहीं'...या 'भला बुढ़ऊ, तुम्हारी यह बच्ची कभी जवान भी होगी'...'फटाक-फटाक से जवान करो'...'जवान...अह, जवान करो उसे'...'जवान तो वह झक मारकर होगी; सिर्फ एक घूँसे में' (पृ. 88, 83, 84)। कहानी सुनानेवाले बूढ़े का कहना है "हमारे जमाने में चोरी, छिनाला, धोखाबाजी, बेईमानी–हाँ बेईमानी भी होती थी और छिनाला भी। सब होता था लेकिन यह नहीं कि तुम सारी इंसानियत को उठाकर ताक पर रख दो। सारी नैतिकता और समझ। अगर तुममें भैंसे जैसी ताकत है, जवानी शरीर में अँटाए नहीं अँट रही है, तुम्हारी जाँघों और पुट्ठों में बलगम भर गया है तो उसके लिए और जगहें हैं और रास्ते हैं..." (पृ. 78) कोठों से कोठियों तक फैले लालबत्तीवाले रास्ते... विवाह से लेकर व्यभिचार तक के रास्ते ही रास्ते हैं !

बलात्कारी सपने और साहित्य

यूँ कानून का विद्यार्थी होने की वजह से, बेटी या 'बचपन से बलात्कार' के सैकड़ों मुकदमे विस्तार से पढ़े हैं–एक से एक घृणित, पाश्विक, बर्बर और विकृत यौन मानसिकता की अकल्पनीय नज़ीर सुसन ब्राऊन मिलर की विश्वविख्यात पुस्तक 'अगेंस्ट ऑवर विल' तो खैर, न जाने कितनी बार सन्दर्भ ग्रन्थ की तरह देखनी-पढ़नी पड़ती है। कृष्णा सोबती का उपन्यास 'सूरजमुखी अँधेरे के' (प्रथम संस्करण 1972), 'एक बूढ़े की कहानी' (1968) छपने के कई साल बाद आया है। बलात्कार सम्बन्धी जो कहानियाँ मैं याद कर पा रहा हूँ जैसे मंटो की 'खोल दो', चित्रा मुद्गल की 'प्रेत योनि', कमला चमोला की 'अँधेरी सुरंग का मुहाना' और विभांशु दिव्याल की कहानी 'गंडासा'–किसी में भी बलात्कारी पिता नहीं है। हाँ, इधर 'हंस' के 'बलात्कार विशेषांक' (सितम्बर 2004) में 'जाँघों के बीच' (अस्वीकार), 'इट्स माई लाइफ़', 'जिन दिन देखे वे कुसुम', 'ढाई आखर', 'देह दंश' और 'गैंग रेप' प्रकाशित हुई हैं। इनमें से दो कहानियाँ 'ढाई आखर' (अजय नावरिया) और 'देह दंश' (कविता) में, बाप द्वारा बेटी से बलात्कार दर्शाया गया है। अजय नावरिया ने नायिका के पिता का नाम ब्रह्मदेव शर्मा रखकर, सरस्वती के मिथ को भी जगाने का प्रयास किया है और "कविता की 'देह दंश' उन प्रेमिकाओं के मानसिक-प्रताड़ना से गुजरने" की कहानी है, जहाँ बलात्कारी पिता ही है और बेटी 'माली, पेड़, फल' वाले रूपक में ही उलझी रहती है। अन्तः नायिका (प्रेमी से) कहती है "पत्थर के अंग पिघल उठे थे... धीमे-धीमे तुम्हारी बाँहों में मैं नदी-सी बह रही थी...फूल-सी खिल रही थी। तुमने...हाँ तुमने, तुम्हारे स्पर्श ने मेरे बदन से पोंछ दिए थे नख-दन्त चिह्न वाले घावों की स्मृति। देह की गाँठ धीरे-धीरे खुली थी, मैं सुख की नदी में नहा उठी थी...देह नशा होता है तभी समझ में आया।" यहाँ दोनों ही कहानियों में नायिका 'बच्ची' नहीं हैं। इस अंक में राजेन्द्र यादव का सम्पादकीय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

खैर...राजेन्द्र यादव ने सालों साल पहले 'उखड़े हुए लोग' में (पृ. 380) 'माली, पेड़, फल' वाला रूपक विस्तार से लिखा ही था। इधर उन्होंने यहाँ तक लिख दिया है "दुनिया की हर खूबसूरत लड़की चाहती है कि उसके साथ रेप हो...रेप का आधा मजा तो वह लोगों की भूखी निगाहों और तारीफ के फिकरों में लेती ही है। डरती वह उस घटना से नहीं है, बल्कि उसके तो सपने देखती है। वह डरती है उस घटना को दूर खड़े होकर देखनेवाली आँखों से, तमाशबीनों से..." (मैं वहाँ नहीं हूँ, राजेन्द्र यादव, अकार, मार्च 2001, पृ. 86) इस सन्दर्भ में पाठक, नैनंसी फ्राईडे की पुस्तक 'विमेन ऑन टॉप' पढ़ेंगे, तो ऐसे 'दुष्प्रचार' की मूल लेखिका का पता लग जाएगा।

साहित्य के दर्पण में विवस्त्र स्त्री

अगर 'एक बूढ़े की कहानी' के 'जवान' जिन्दा हों, तो अपनी यौन कामनाएँ 'हंस' का 'बलात्कार विशेषांक' पढ़कर पूरी कर सकते हैं। प्रायः हर कहानी में लड़की, शीशे के सामने निर्वस्त्र होती (दिखाई गई) है। तमाम लेखक-लेखिकाओं ने, 'पाठकों की पसन्द' का पूरा ध्यान रखा है। 'बदलते समय के साथ...कहानियाँ बदलती हैं' और 'कहानियों का मिजाज' भी। काशी जी की समझ में ही नहीं आता (आया) अभी भी, तो कोई (आलोचक) क्या करे ?

'जाँघों के बीच' (नाम बदलकर 'अस्वीकार' कर दिया गया) की नायिका का नाम ही है 'आनन्दिता', जो बलात्कार की शिकार होती (की जाती) है। कहानी में एक जगह (पृ. 31) *"उसने शीशे के सामने अपने अन्तःवस्त्र उतार दिए...अपनी नग्न देह को देखती रही...उसके जबड़े भिंचने लगे...उसने यौनांग पर अपना हाथ लेकर उस दर्द को फिर से महसूस किया जो उस दिन से उसके साथ है। दर्द की टीस ने उसकी ज़बान*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोल दी–'सालो-हरामजादों के बीज...' '' 'दर्द की टीस' महसूस करने के लिए, ऐसी स्त्री को किसी शीशे के सामने विवस्त्र होने की जरूरत नहीं। उसके मन में–दिमाग में 70 एम.एम. का दर्पण लगा है।

निर्वस्त्र नायिका की देह का जो वर्णन ऊपर 'छूट' गया है, इसे 'जिन दिन देखे वे कुसुम...' (लता शर्मा) में पढ़ लें *''वो पलंग से उतरी और धीरे-धीरे कपड़े उतारने लगी...पहले कुरते को तहाकर पलंग पर रखा, फिर अंगिया को। अब सलवार। वो भी तहाकर रख दी।...उसने बाल भी खोल डाले। हाथ ऊपर कर जोर से 'अँगड़ाई' ली...कहीं कोई तेज़-तेज़ साँसें भर रहा है! वो धीरे-धीरे कमरे में टहलने लगी...कमर पर हाथ रखकर चारों ओर घूमी, आगे-पीछे झुकी। उँगलियाँ आपस में फँसा, सिर के पीछे रख, यही मुद्राएँ दोहराईं। उनके घने-लम्बे, हल्के से घुँघराले काले बाल कमर तक छितराए हुए थे। बगलों के बाल हल्के भूरे से थे और योनि के बाल गहरे काले-घुँघराले...साफ रंग, बड़ी-बड़ी आँखें और नन्हे-नन्हे स्तन।''* (पृ. 44)

'नन्हे-नन्हे स्तन' देखकर मन न भरा हो, तो पढ़ें *''मेरी छाती ऐसी उभरी हुई थी कि अगर मैं टी-शर्ट पहनती तो उन्हें किसी भी तरह चलते लोगों की निगाह रोकने से रोक न पाती। इतना ही नहीं कुछ लोग जब रुककर देखने लगते तब मैं मारे खुशी के और पैर पटककर चलती। वे खूब हिलते। मेरी सुडौल जाँघों में कसी जीन्स मेरी सुन्दरता को और बढ़ा देती थी। होस्टल का रूम बन्द करके मैं पूरे कपड़े खोलकर शीशे में चारों तरफ से खुद को देखती।...यह मेरे जवान होने की शुरुआत थी।''* (ढाई आखर, पृ. 59) और अन्त में सिर्फ इतना ही *''एक बार (हर बार) तो उसका उन्माद इतना बढ़ा कि एकान्त कमरे में विवस्त्र होकर आदमकद शीशे के सामने खड़ी हो गई और पगली जैसी बहकने लगी–'इतने लोग झूठे कैसे हो सकते हैं? शायद वही भूल गई हो और किसी बेसुधी के आलम में इस स्थिति से गुजरी हो। यदि ऐसा है तो वह 'गैंग रेप' उसके शरीर पर दिखना चाहिए...लेकिन कहाँ है?...कहाँ?''* ('गैंग रेप', उषा यादव, पृ. 85) अदालत (पाठकों की) वक्ष, नितम्बों, जाँघों और योनि पर नख-दन्त चिह्नों को भी तो देखना चाहती है! बिना देखे कैसे फैसला हो!

यह सब मनगढ़न्त, काल्पनिक, अविश्वसनीय लग रहा हो, तो तसलीमा नसरीन के 'बचपन के दिन' (पृ. 80) पढ़ सकते हैं। *''अब तुझे वह मजे की चीज दिखाऊँ''...''जो मजे की चीज दिखाना है, दिखाओ। मुझे नंगा क्यों कर रहे हो?''...शराफ मामा ने दुबारा मेरा हाफपैंट खींचकर अपने हाफपैंट से अपनी धुन्नी बाहर निकालकर मेरे बदन से सटा दिया...मैं जोर से बोली, ''यह क्या कर रहे हो? शराफ मामा हट जाओ, हटो''...''तुझे जो मजे की चीज दिखाना चाहता था, यह वही चीज है''...''पता है, इसे क्या कहते हैं...दुनिया में सभी इसे करते हैं। मेरे अम्मा-अब्बू भी करते हैं, मेरे भी''... शराफ मामा अपनी इन्द्री को बड़े ताकत से ठेल रहे थे। मुझे बहुत खराब लग रहा था। शर्म से अपनी आँखों पर मैंने अपना हाथ रख लिया...''यह बात किसी से कहना नहीं, कहोगी तो सर्वनाश हो जाएगा।''* किसका? स्त्री का ही ना! सुप्रीम कोर्ट के शब्दों में *'बलात्कार स्त्रियों के लिए मृत्युजनक शर्म है।'* और मर्दों के लिए? पौरुष का प्रतीक, नारी-देह पर विजय (लिंग), वर्चस्व के सांस्कृतिक धर्मध्वज!

पोर्नोग्राफिक मीडिया और अश्लील साहित्य के ही परिणाम हैं–छोटे-बड़े शहरों (जलगाँव, जयपुर, अजमेर, जालन्धर, चंडीगढ़, चित्रदुर्ग, दिल्ली, जोधपुर, भोपाल) में हुए सैक्स-स्कैंडल, नयना साहनी, शालिनी भटनागर, जेसिका लाल से लेकर मधुमिता हत्याकांड और सिनेमा से साहित्य और बाजार तक के लिए फैली यौन फैंटेसियाँ, नग्न-अर्धनग्न स्त्री-देह की कामुक छवियाँ। सैक्स सबसे अधिक मुनाफे का व्यापार है और हिंसा (हत्या-बलात्कार) पुरुष वर्चस्व बनाए-बचाए रखने का षड्यन्त्र। राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय पूँजी और उपभोक्ता संस्कृति, स्त्री को सिर्फ आनन्द या मनोरंजन की 'सैक्सी डॉल', 'सेक्स बम', वस्तु या साधन के रूप में प्रस्थापित करती जा रही है। इस 'बाढ़' की भयावहता, अभी समझ से बाहर है।

बेपर्दा हुई (की गई) औरतें

''सामने खूँटियों पर कपड़े टँगे हैं। कपड़ों के बीच हेवड्र्स का एक पुराना कैलेंडर है, जिसमें किसी विदेशी औरत की तस्वीर है। उसने अपने वक्ष को जालीदार चोली में बन्द कर रखा है। उसने अपनी एक जाँघ पर दूसरी जाँघ चढ़ा रखी है और पूरी तरह हमलावर की मुद्रा में है। सब मिलाकर कुछ ऐसा है जैसे कोई बिल्ली कहीं पंजा मारने के लिए उछली हो और काग़ज़ पर जाकर औरत हो गई हो। पत्नी को यह औरत फूहड़ और गन्दी लगी थी और एक दिन (शायद जिस रोज़ उनके पिता आए थे) उन्होंने उसके ऊपर भारत का एक बड़ा मानचित्र टाँग दिया था। इस समय वह मानचित्र कहीं और हट गया है।'' (कहानी 'अपने घर का देश', पृ. 55) ऐसा ही एक कैलेंडर 'काला जल' (शानी) के नायक के पिता के कमरे में भी टँगा था, जिसमें ''एक सुन्दर स्त्री अपनी साड़ी के सामनेवाले पल्लू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के एक कोने को दाँतों में दबाए, परदा करने का अभिनय करती हुई, ब्लाउज उतार रही है, लेकिन अर्धनग्न है'' (पृ. 149) सुन्दर (सेक्सी) औरतें !

अपने देश के मध्यवर्गीय घरों में, प्रायः हर मर्द के कमरे में ऐसा-वैसा एक कैलेंडर जरूर टँगा मिल जाएगा। दीवार पर हो या दिमाग में, क्या फर्क पड़ता है ! अब तो खैर स्त्री को पूरी तरह 'बेपर्दा' कर दिया गया है। छोटे-बड़े पर्दे से लेकर पत्र-पत्रिकाओं के चिकने और रंगीन पन्नों तक। सी.डी., इंटरनेट, रिमिक्स, आईटम साँग, एलबम, वीडियो और वेब कैमरे के सामने—कौन-सा 'जालीदार पर्दा' बचा रह गया है ? 'जिस्म' की नायिका के शब्दों में ''आखिर टाँगों और जाँघों में ऐसा क्या है, जिसे छिपाना जरूरी हो।'' सच तो यह है कि 'बाथरूम' से 'बेडरूम' तक में कैमरे लगे हैं और सब 'लाइव टेलीकॉस्ट' हो रहा है। 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता' का 'मौलिक अधिकार' है ! क्या करेगा (कर लेगा) सेंसर बोर्ड ? मीडिया मर्द-मालिकों का है—औरतों का नहीं। और हमें (अभी भी) घर में बुर्के (घूँघट) वाली चाहिए और बाहर बिकनीवाली। छोटे पर्दे पर 'तुलसी' और 'पार्वती' चाहिए मगर बड़े पर्दे पर बिपाशा, मल्लिका, प्रियंका, लारा, शिल्पा, ईशा, अमीषा वगैरा...वगैरा...क्षमा करें, काशी जी (शानी जी भी) आपके कैलेंडरवाली औरतें अपनी देह से मुक्त होकर, आपकी हम सबकी पहुँच या पकड़ से परे जा चुकी हैं। स्त्री-देह की छवियों को देख-देखकर लार भी टपकाते रहें और धर्म, मर्यादा, नैतिकता, संस्कार, सभ्यता और संस्कृति भी चिल्लाते रहें—ऐसा नहीं हो सकता।

हम सब अपने ही रचे-रचाए चक्रव्यूह (दुष्चक्र) में बुरी तरह फँस चुके हैं।

बौद्धिक वेश्यावृत्ति और व्यभिचार

''समझ में नहीं आता कि चौबीसों घंटे चलनेवाले पचासों चैनलों में स्त्री की देह से लेकर रतिक्रिया की कौन-सी मुद्रा है जो हम माँ-बहनों के साथ बैठकर नहीं देखते ? मगर उसके शतांश को लिखते ही 'देहवाद' कहकर छाती-माथा कूटने लगते हैं। स्त्री की देह में अब ऐसा बचा क्या है जिसका सहारा लेकर ट्रैक्टर-सूट और मोटर-गाड़ियाँ न बेची जाती हों। मुझे इस तरह के छद्मों और आडम्बरों से चिढ़ होती है। किस संस्कृति और शील की बात हम इस 'ग्लोबलाइजेशन' और 'बाजारवाद' के जमाने में दूसरों को समझाना चाहते हैं।'' ('कथाकार राजेन्द्र यादव से ओम निश्चल की बातचीत', साक्षात्कार, सितम्बर 2004, पृ. 9) यह 'ग्लोबलाइजेशन और बाजारवाद' का समर्थन है या विरोध ? पूँजीवादी प्रचार तन्त्र में स्त्री-देह और सैक्स के माध्यम से आम जनता की कमजोरी का फायदा उठाते हुए आर्थिक शोषण करते राष्ट्रीय-बहुराष्ट्रीय निगमों की तर्ज पर क्या साहित्यिक पत्रिकारिता में भी वही खुली छूट लेने-पाने के तर्क (कुतर्क) नहीं हैं ? साहित्य में भी स्त्री का वैसा ही शील (हरण) हो, यह कौन-सी (कैसी ?) प्रतिरोध की संस्कृति है ? 'पोर्नोग्राफी' पूँजीवादी व्यवस्था में स्त्री के शोषण और दमन का सबसे बड़ा हथियार है और अधिकतम मुनाफा कमाने का 'शर्तिया इलाज'। स्त्री-देह का सहारा लेकर 'ट्रैक्टर-सूट और मोटर-गाड़ियाँ' ही नहीं, 'इंडिया टुडे', 'आऊट लुक', और 'हंस' जैसी पत्रिकाएँ भी बेची जाती रही हैं। अपने धन्धे के प्रचार-प्रसार के पक्ष में, व्यापारी (पितृसत्ता) न जाने कब से इस प्रकार की बौद्धिक वेश्यावृत्ति या व्यभिचार की पीठ थपथपाते रहे हैं। साहित्य में भी 'रूपर्ट मर्डोकों' की कमी नहीं। पोर्नोग्रॉफी के विरोधियों को 'विक्टोरियन', 'आर्यसमाजी', 'शुतुर्मुर्गों की औलाद', 'ढोंगी', 'पाखंडी', 'धार्मिक कठमुल्ले', 'संकीर्ण कट्टरपन्थी' और न जाने कैसी-कैसी 'उपाधियों' से पुकारा जाता है। जा रहा है।

''मुझे सलमान रुश्दी की यह बात कहीं सही लगती है कि 'हर सभ्य-समाज के लिए अश्लील साहित्य अनिवार्य है' क्योंकि वह नैतिक किलेबन्दी का प्रतिरोध और प्रतिपक्ष है।'' (सम्पादकीय 'हंस', सितम्बर 2004, पृ. 8) 'सभ्य-समाज' और 'अश्लील साहित्य' की अवधारणा पर विचार की कोई जरूरत नहीं ! 'अश्लील साहित्य' पढ़ो-पढ़ाओ, समाज अपने-आप सभ्य कहलाने लगेगा। समाज सभ्य हो या न हो—लेखक, सम्पादक तो मान ही लिया जाएगा।

'सूचना' से नये सूचना तन्त्र तक

ऐसे दहशतजदा माहौल में मुझे आपकी कहानी 'सूचना' (पृ. 144-149) याद आ रही है, जिसमें एक लड़की पानी पार करते समय साड़ी सँभालती है और लोग फब्तियाँ कस रहे हैं। तभी एक हट्टा-कट्टा मर्द पानी में कूदता है और लड़की से कहता है गिरा साड़ी ! भीग जाने दे ! इस पर फब्तियों और मजाकों के साथ सारा शहर उस मर्द पर टूट पड़ता है। जब उससे बर्दाश्त नहीं होता तो वह एक टीले पर खड़ा होकर घूम-घूमकर चीखने लगता है जैसे शहर को चुनौती (या चेतावनी) दे रहा हो ''जाँघ ही देखना चाहते हो न ? ये देखो, जितने में तुम्हारे दोनों चूतड़ हैं, उतने में यह एक है।''...कहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया वह मर्द जो सारे शहर (देश) को चुनौती देते हुए, एक बार फिर कह सके ! उसे मार दिया गया (मुठभेड़ में) या वह भी जाँघ देखनेवालों की भीड़ में शामिल हो गया। या वह अब जाँघें देखते-देखते ऐसे अतृप्त-वासना-कुंठित बूढ़े में बदल गया है, जो चाकलेट का लालच देकर तेरह साल की लड़की ('लोलिता') की जाँघें टटोलकर सुख 'हासिल' करता है ? या रातभर फैशन शो, फैशन टी.वी., या ब्लू फिल्म देखता रहता है ? फोन सेक्स के मजे लूटता है या इंटरनेट पर सेक्स साइट्स में डूबा रहता है ? 'डी.पी.एस. धमाका' ढूँढ़ रहा है ?

कम्प्यूटर से हैंगअप बुद्धिजीवी कुतर्क करने लगते हैं "बहू-बेटियों का नाश तो नंगी पत्रकारिता और टी.वी. पहले ही किए बैठे हैं। जहाँ स्त्री के शरीर का कोई भी हिस्सा छिपा नहीं है। लेकिन साहित्य में हम वहीं अड़े हैं। रतिक्रिया की कौन-सी मुद्रा है जो मीडिया में बेशर्मी से दिखाई नहीं जा रही, मगर हमारा ढोंग है कि लेखन में वह सब नहीं आना चाहिए। वस्तुतः साहित्य में हम, वही विक्टोरियन या आर्यसमाजी दुनिया में पड़े सड़ रहे हैं। इस जगह हम शुतुर्मुर्गों की औलाद हैं" (समय माजरा, दिसम्बर 2004 में राजेन्द्र यादव की अजेय कुमार से बातचीत) पोर्नोग्राफी के विरुद्ध बोलने की बजाय उसके उपयोग के समर्थन में, बिपाशा बसु ('जिस्म' की नायिका) की तरह कहते हैं "पता नहीं लोगों ने मुझे कपड़े उतारू अभिनेत्री क्यों समझ लिया है जबकि औरों के मुकाबले मैंने कम ही कपड़े उतारे हैं। आखिर टाँगों और जाँघों में ऐसा क्या है, जिसे छिपाना जरूरी हो" अगर छिपाना जरूरी नहीं (रहा), तो साहित्य में भी छापना जरूरी है ! यह नई 'सूचना' है। आप सोचते रहें। यह क्या हो रहा (गया) है ?

लापता लोकतन्त्र में सड़ते सपने

'सूचना' के अन्त में कही यह बात, हर पल घटती (बढ़ती) दुर्घटनाओं के अम्बार का सिर्फ सार-संक्षेप में विवेचन है कि "ऐसा नहीं है कि ये घटिया बातें इतिहास के किसी ख़ास दौर में (ही) घट रही हैं या तभी घटती हैं जब पानी बढ़ता है। इनसे कहीं ज्यादा खौफनाक और टुच्ची बातें रोज-ब-रोज हर जगह और हर समय हो रही हैं, आप देख रहे हैं और किनारा कर रहे हैं" (पृ. 47)।

किनारा न करनेवाले, 'सिद्दीकी की सनक' (पृ. 233-236) पढ़ें...प्लीज। "सिद्दीकी के आँकड़े बताते हैं कि मामले आगजनी के हों या बलात्कार के, राहजनी के हों या लूटपाट के, ठगी के हों या हत्या के, उन्हें गौर से देखो तो पाओगे कि गरीब गरीब से टकरा रहा है, खाता-पीता खाते-पीतों से, जाति जाति से टकरा रही है, धर्म मजहब से टकरा रहा है, लेकिन एक भी दौलतमन्द दूसरे दौलतमन्द से नहीं टकरा रहा है।" मुजरिम, मुंशी, दरोगा, गवाह, वकील, न्यायाधीश और जन (तन्त्र) के लिए सच एक नहीं है। इसीलिए "कहते हैं सिद्दीकी पगला गए हैं...आखिरकार तंग आकर एक दिन उसे (एक इश्तहार) अपनी पीठ पर चिपकाया और घर से बाहर निकल पड़े। तब से आज तक लापता है सिद्दीकी !" मौजूदा जनतन्त्र की न्याय-व्यवस्था से हताश-निराश हो, पागल हुए लोगों में सिद्दीकी पहला और अन्तिम शिकार नहीं है। एक प्रतिनिधि चरित्र है।

'आदमी का आदमी' (पृ. 98-103) में मुख्य पात्र ने "अपनी औरत के लिए चोरी की और धीरे-से घर सरक गया। आने पर मालूम हुआ कि औरत हफ्ते भर किसी मर्द के साथ कहीं भाग गई है। वह देखते-देखते पड़ोसियों की समझ से बाहर हो गया।" और वर्षों से अस्सी चौराहे पर खड़ा है। अन्ततः "कांग्रेस ने चुनाव-प्रचार के दौरान एक रोज़ डंडा उठाए इस आदमी को इस तरह निरर्थक देखा, तो डंडे में अपना झंडा बाँध दिया। दूसरी सुबह उसके सिर पर एक पीली टोपी थी और देह में भगवे रंग का झोल। पेट पर लम्बा-चौड़ा दीपक। अगले दिन उसकी पीठ लाल हो चुकी थी और उस पर हँसुआ और हथौड़ा नजर आ रहा था। और दो रोज बाद तो केवल हँसुआ की मूठ रह गई और मूठ के आगे दौड़ता घोड़ा दिखाई पड़ा।" सुविधा और सत्ता की राजनीति के बदलते समीकरणों में, आम आदमी की इससे भी कहीं अधिक दुर्दशा हो (रही) गई है। आप लिखते रहें 'माननीय होम मनिस्टर के नाम' चिट्ठियाँ।' (पृ. 150-159)

काल-कथा कहने का हुनर

'वे तीन घर' (पृ. 266-278) का मदन (बेहद ईमानदार व्यक्ति) भी तो लोगों की नजर में 'पागल' ही है या 'पगला हाकिम' जो ईमानदार होने के 'खतरे और दुष्परिणाम' झेलता-भुगतता रहता है और एक दिन सोचता है "वे बराबर फालतू की चीजों के बारे में सोचते रहे। समाज के बारे में, व्यवस्था के बारे में, सत्ता के बारे में, इनके जुल्म और उनके जुल्म के बारे में, आगजनी, बाढ़, सूखा, भूमैया, बेहरमई, मुसहरी, मुठभेड़, बराबर इन सबके बारे में सोचते रहे। दिमाग खराब करते रहे और अपनी हरकतों के लिए लोगों में हास्यास्पद बने रहे।" जीवन में हो या साहित्य में, हर सोचने-समझनेवाले (ऐसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तित्व) लोगों में हमेशा 'हास्यास्पद' बने रहे हैं...'पागल'... 'दार्शनिक'...'आदर्शवादी'...वरना क्यों ऐसी कहानियाँ लिखते ! बड़ी आसानी से कह सकते थे ('अपना रास्ता लो बाबा' के देवनाथ की तरह) ''सारी जिन्दगी और सारी दुनिया और सारा जमाना तुम्हारे सामने पड़ा है और तुम (मैं) एक बेमतलब के बुड्ढे को लेकर मुँह लटकाए बैठे हो !'' (पृ. 314)

यह 'एक कहानी—कुछ आपबीती कुछ जगबीती' की अशेष अभिव्यक्ति है या ग्रामीण (कस्बाई) मध्यवर्ग के मर्म को स्पर्श करती, संवेदनाओं और सहानुभूतियों की अनुभव यात्रा ? या/और यात्रा अनुभव भी। काल-कथा की परिसीमा में 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' भी महसूस होता है और विचार के व्यापक परिप्रेक्ष्य भी। स्मृतियों के कथा पात्र एक समय या स्थान तक साथ-साथ संवाद करते हैं और फिर अचानक अपनी-अपनी अनदेखी दिशाओं की ओर बढ़ जाते हैं—अनन्त आकाश-सी खुली सम्भावनाओं में। अपने समय के समाज का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए जरूरी है, उसके सुख-दुख में सहभागी होना। 'लापता' की तलाश में खुद भटकते और खोजबीन करते हुए ही आपमें काल-कथा कहने का हुनर विकसित हुआ होगा। लुप्त हुई (होती) सभ्यताओं और संस्कृतियों की खोज से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, 'एक लुप्त होती हुई नस्ल' (पृ. 292-299) के बारे में जानना-समझना और 'कविता की नई तारीख' (पृ. 358-393) देखना-पढ़ना-लिखना। यही नहीं सकारात्मक 'हस्तक्षेप' (पृ. 134-143) भी अनिवार्य है। यह आदमी है या वहशी जानवर जो कह रहा है ''वो कोई और होंगे जो दिक में औरत की कमाई पर जीते होंगे और उसके तलुवे चाटते होंगे। यहाँ तो मुँह नहीं खोला कि जबान खींच ली। वह एक भेड़िए की तरह चारों ओर देखकर गुर्रा रहा है जैसे कह रहा हो कि 'देखो, औरत को किस तरह रखा जाता है' ?'' (पृ. 139)

'रोटी, रोमांस और रिवाल्यूशन'

'लालकिले' के बाज' (1977) का (क्रान्तिकारी) नायक सुहागरात को अपनी पत्नी सोना को 'दास कैपिटल' भेंट करेंगे। प्रेमिका को समझाया ''वो विवाह माँ-बाप का मन रखने के लिए कर रहे हैं इससे ज्यादा उन्हें उस लड़की से कोई मतलब नहीं...वे जैसे ही नौकरी शुरू करेंगे—सारी जिन्दगी कावेरी के साथ दोस्त की तरह रहेंगे। वैसे ही जैसे सार्त्र सीमान द बोवा रहती है।'' पत्नी को निगाहों में ही तौल लिया ''शरीर के कुछ उपयोगी हिस्से कावेरी की तुलना में ज्यादा मांसल और पुष्ट हैं'' नायक के सपनों में भी ''उनके एक हाथ में कावेरी का दुपट्टा...और दूसरे में चूनर और दोनों के रंग लाल'' होंगे। नायक सोचता है ''उन्हें रिसर्च करते हुए चार साल हो गए हैं लेकिन भविष्य का कोई ठिकाना नहीं। क्रान्ति के लिए भी पैसे की जरूरत पड़ती है और सबसे बड़ी बात यह है कि अगर तुम दरिद्र हो तो तुम्हारे ही साथी तुम्हें दो कौड़ी का समझेंगे। राजनीति में ही कोई घास नहीं डालेगा—लोग 'पैरासाइट' होने की तोहमत जो लगाएँगे सो अलग।'' (पृ. 195-202)

यह कहानी, तथाकथित क्रान्तिकारी नायकों के नकाब उतारकर, एक तरफ रख देती है और उनके स्त्री के प्रति सामन्ती दृष्टिकोण का ही पोस्टमार्टम करती है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अगर समाज-व्यवस्था को बदलने के सपने देखनेवाले शिक्षित-सजग क्रान्तिकारी नायकों का यह हाल है, तो सामान्य पुरुषों के संस्कार या मानसिकता के बारे में सिर्फ अनुमान ही लगाया जा सकता है। क्या नहीं ?

उस काल सन्दर्भ में 'हंस' (अक्टूबर-नवम्बर 2004) में प्रकाशित 'मेरे विश्वासघात' (रामशरण जोशी) विशेषरूप से प्रासंगिक और उल्लेखनीय हैं। 'आदमी, बैल और सपने' लिखनेवाले 'क्रान्तिकारी', 'कामरेड', पत्रकार, समाजशास्त्री, लेखक, विचारक द्वारा, स्त्रियों के 'शिकार' की 'गौरवगाथा'—सचमुच 'लालकिले के बाज' का ही विस्तार लगता है। कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि किसी संवेदनशील पत्रकार की कलम, स्त्री अस्मिता को इस तरह आहत और अपमानित करेगी ! व्यक्तिगत पापों (अपराधों) का प्रायश्चित भले ही सम्भव हो, मगर सार्वजनिक (पापों) अपराधों का कोई भी प्रायश्चित असम्भव है। 'आधी दुनिया' ऐसे (क्रान्तिकारी) नायकों को, न 'वायदा माफ गवाह' या 'मुखबिर' मान सकती है और न 'सन्देह का लाभ' देकर, बाइज्जत बरी कर सकती है। औरतों (दलित, आदिवासी, विदेशी) का आरोप है कि उन्हें सार्वजनिक रूप से नंगा करके घुमाया गया, सामूहिक बलात्कार किया गया और सरेआम हत्या कर दी गई। इस षड्यन्त्र में एक प्रतिष्ठित पत्रकार, सुप्रसिद्ध सम्पादक और राष्ट्रीय पत्रिका का प्रकाशक भी शामिल है। मामला 'जन अदालत' में विचाराधीन है। (हंस, दिसम्बर 2004)

जो बचेगा, कैसे रचेगा ?

हाँ ! आपातकाल की बेहद मार्मिक कथा है 'मुसई चा' (पृ. 160-166)। कथानायक 'विश्वविद्यालय से निकलने के बाद घर की परिस्थितियों ने उसे नौकरी करने के लिए मजबूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया–आज के बहुत-से नौजवानों की तरह' क्योंकि 'उसके पास इतनी जमीन भी न थी कि वह खेतों पर गुजारा करता।' वह दो साल तक 'यहाँ-वहाँ भटकता रहा' और जब नौकरी नहीं मिली, तो 'धनबाद, झरिया और सिन्दरी होते हुए कलकत्ते' पहुँच गया। वहाँ से कभी-कभार चिट्ठी लिखता 'जिन दिनों में अपनी पीठ पर दुनिया को गठरी की तरह बाँधकर दौड़ने का हौसला रखता था, जाने कहाँ आ फँसा ?' अन्ततः 'मार्डन फ़र्नीचर हाऊस' के मालिक से मारपीट और तपेदिक की बीमारी। लोग कहते हैं इसके बाद 'मुसई चा' फर्नीचर की दुकान क्या, कलकत्ते में ही नहीं दिखाई पड़ा। 'और आज कई साल हो रहे हैं, उसका कोई पता नहीं है !' एक पूरी पीढ़ी की 'जिन्दगी के बेहतरीन दिन...कभी वापस न आनेवाले दिन रोजगार की तलाश में खत्म हो गए'...हो रहे हैं। ये वो जिन्दा 'लाश' हैं, जिनकी 'शिनाख्त' नहीं हो सकी और 'उस षड्यन्त्र का सबूत', जिसे 'जनतन्त्र' कहते हैं। इन्हें 'गन्ने की तरह चूसकर' फेंक दिया गया है—समाज के घिनौने हाशिए पर। ऐसे में आपको 'कलम बन्द करने की इजाज़त' कैसे और क्योंकर मिल सकती है ? चारों तरफ ही तो 'दलदल' है !

अभी तो आपको और बहुत कुछ लिखना है। आप कलम बन्द कर देंगे, तो फिर कौन लिखेगा 'मंगलगाथा', 'कहानी सराय मोहन की' या 'सुधीर घोषाल' की ? कौन समझेगा 'पहला प्यार' और 'बैलून' की महकती मिट्टी के भावार्थ ? "आप लेखक हैं। धरती माँ की भी आवाज आपको सुनाई पड़ती होगी। कुछ उसके लिए भी लिखें, वरना लिखना छोड़कर हल चलाएँ" (अधूरा आदमी, पृ. 182) लिखो 'यह मेरा पहला अनुभव था' (पृ. 193) 'मजदूर-संघ' के आयोजन में। 'निधन' पर 'अपने लोग' ही तो कन्धा देते हैं। काशी की कलम की स्याही यूँ सूख नहीं सकती। आप जानते हैं "कमरे में बैठकर चिन्तन करनेवाले और मैदान में काम करनेवाले का फर्क" और यह भी कि "लोगों के बीच काम करने से आत्मविश्वास तो पैदा होता ही है, सोचने-समझने में सफाई भी आती है" (पृ. 273) आप तो निरन्तर सम्पर्क में रहे हैं—सारे सरोकारों के साथ सक्रिय। और फिर गूँगे की माँ ही तो जानती है, गूँगे की भाषा। अनकहा महसूस भी करते हो और गुमशुदा को पहचानते भी हो। सो सर ! कलम ही चलाएँ, हल हम चला लेंगे। गुस्ताखी माफ।

'कहनी उपखान' की कहानियाँ, सिर्फ अपने समय-समाज की कथा ही नहीं बल्कि आत्मालोचना भी है। किसी भी शिष्ट-विशिष्ट 'फ्रेम' से अलग, अपने ही शिल्प में ढली और आम आदमी की दुनिया में रची-बसी अनगढ़ और खुरदरी भाषा के साथ। धीरे-धीरे दिल से दिमाग में जा बैठती है किसी 'टाइम बम्ब' सी। जब तक चौकन्ना होने का होश आए, तब तक 'टाइम बम्ब' फट चुका होता है। हर बार कथा, अपना शिल्प या तकनीक खुद बुनती-चुनती है। 'मैं' न जाने कहाँ-कहाँ (यहाँ-वहाँ, भीतर-बाहर) भटकता रहता है। कभी-कभी तो खुद से ही कहता हुआ "काशी कभी कायदे की कहानियाँ लिखा करता था लेकिन अब तो उसे लिखना ही बन्द कर देना चाहिए।" कुछ भी लिखने से पहले अपने (समाज) बारे में, परत-दर-परत वो सब जानना-समझना भी जरूरी है, जो वह अपने-आप तक से छुपाता-ढँकता-ढाँपता है। सार्वजनिक होने-करने के आन्तरिक सन्देह और 'अभिव्यक्ति के खतरे' ! सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना में, मानसिक स्तर पर तोड़-फोड़ करना 'अराजकता' ही समझी जाती (रही) है। बहुत-सी चुनौतियाँ और चेतावनियाँ सामने खड़ी हैं ! सीमा-रेखा पार करने की कोशिश भी की, तो धाँय ! धाँय ! ! गोली मार दी जाएगी। स्साला...'मुठभेड़ में मारा गया।' बाहर बच भी गए, तो घर में ही गला घोंट दिया जाएगा। घर-परिवार, पत्नी-बच्चे, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, लोक-लिहाज, सब स्टेनगनों की तरह तन जाएँगे खोपड़ी पर। काल्पनिकता के सारे बहाने, धरे रह जाएँगे। कौन मानेगा ? सुनेगा ? ऐसे 'खतरनाक समय' में लिखे शब्दों का, अन्तरंग संवाद का बने-बचे रहना, सचमुच एक उम्मीद और विश्वास की सुरक्षा जैसा है।

'आगे दिन पाछे गए' अभी पढ़ना शुरू नहीं किया। पहले अलका सरावगी का उपन्यास 'कोई बात नहीं' पढ़ना है और फिर पवन करण का कविता संग्रह 'स्त्री मेरे भीतर'। दिसम्बर में अदालत बन्द रहेगी (18 दिसम्बर से 2 जनवरी 05), तो कुछ और पढ़ने-लिखने की सोच पाऊँगा। 'ब्रेन हैमरेज' के बाद से पापा लकवाग्रस्त हैं। बोल भी नहीं पा रहे। बिटिया (संस्कृति) आपको बहुत याद करती है। मैं कुछ विशेष नहीं कर पा रहा इन दिनों। शेष कुशलता है।

आपकी कुशलता की मंगलकामना करता हूँ। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जातीय लोकमानस की संघर्षशीलता और प्रतिरोध-शक्ति का आख्यान

शम्भु गुप्त

मेवात का अतीत और वर्तमान उर्फ़ लेखक की दस साल की मेहनत

हिन्दी के युवा कथाकार भगवानदास मोरवाल के दोनों उपन्यास- 'काला पहाड़' (1999) एवं 'बाबल तेरा देस में' (2004) मेवात के समाज और उसकी संस्कृति का एक जीता-जागता आईना एवं गतिशील चित्रकृति जैसे हैं। इन दोनों उपन्यासों में मेवात का न केवल वर्तमान यथार्थ झाँकता है बल्कि अतीत का काला-सफ़ेद वृत्तान्त भी भरपूर उजागर हुआ है। लेखक की निगाह यहाँ केवल समय पर नहीं, संवेदना पर भी है। समय और संवेदना दोनों मिलकर मेवात की एक मुकम्मल और प्रामाणिक तस्वीर पेश करते हैं। प्रकारान्तर से ये दोनों उपन्यास मेवात का लगभग सर्वांगीण अध्ययन है, जो लेखक की पिछले दस साल की मेहनत का परिणाम है।

इन दोनों उपन्यासों में सबसे पहली और बड़ी बात जो निकलकर आती है वह यह है कि मेवात एक संश्लिष्ट और यौगिक सामाजिक संरचना है। हिन्दी-प्रदेश में सम्भवतः यह अकेला समाज है जो इतना संगुम्फित और समेकित चला आया है। लगभग सात-आठ दशक पूर्व हिन्दू से मुसलमान बना यह समाज अब तक केवल नाम का मुसलमान है जिसमें रोज़ा, नमाज़, खतना, निकाह, हज, ज़कात आदि मोटी-मोटी अभिलाक्षणिकताओं के अलावा कुछ अन्य मुसलमानों जैसा नहीं है। मूलभूत रूप से इनकी जीवनचर्या व जीवन-शैली शेष बहुसंख्यक समाज से मेल खाती है। 'काला पहाड़' में नूह-स्थित आमीन मेव कॉलेज के प्रो. उस्मानी तथा इस क्षेत्र के विधायक चौ. करीम हुसैन सन्दर्भानुसार इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि वे पहले क्षत्रिय हैं, बाद में मेव। (द्रष्टव्य, *काला पहाड़*, पृ. 87-88)। संस्थाबद्ध मुसलमानों से इन्हें अलगानेवाला सबसे बड़ा तत्त्व है, इनके शादी-विवाह के रस्मो-रिवाज; जिनके अन्तर्गत "इनके यहाँ आज भी रिश्ता करते वक़्त हिन्दुओं की तरह माँ, दादी, नानी और ख़ुद का गोत्र बचाया जाता है..." (वही, पृ. 87)। इस परम्परा के कुछ लाभ हैं तो कुछ हानियाँ भी। लाभ यह कि इससे हिन्दुओं से इनकी निकटता बढ़ती है और हानि यह कि अन्य मुसलमान-जातियों से इनकी दूरियाँ बढ़ जाती हैं। इनके रिश्ते हिन्दुओं में होने का तो ख़ैर प्रश्न ही कहाँ उठता है, उधर अन्य मुसलमान भी इनसे कन्नी काटते दिखाई देते हैं। प्रो. उस्मानी जो यह कहते हैं तो क़तई ग़लत नहीं कहते कि "आज भी हम यू.पी. वाले इनसे आसानी से रिश्ता नहीं जोड़ते"* (वही)। इधर पिछले एक-डेढ़ दशक से साम्प्रदायिकता

1/ए-1, राजकीय आवास, सूर्यनगर, अलवर (राज.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जो ज़लज़ला हमारे यहाँ गुज़रा है, उसने सबसे ज़्यादा मुसीबत मेव जैसी मध्यवर्ती जातियों को पैदा की है कि उनके सामने एक धर्मसंकट पैदा हो गया कि वे किधर जाएँ, क्या करें ! इधर हिन्दुओं में उनके प्रति एक दुराग्रह-सा पैदा होता चला गया है कि ये तो एक दीगर कौम है और उधर मुसलमान इन्हें खुलकर गले लगाने से परहेज़ करते रहे हैं। इस दुविधापूर्ण स्थिति का नतीजा यह निकला कि ये निरन्तर एक हाशिए-से पर आते चले गए; हालाँकि हाशिए-जैसी सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवृत्तियाँ कभी इनमें नहीं रहीं। आज भी यह एक जाँबाज़ और ज़िन्दादिल क़ौम है। लेकिन दोनों तरफ़ से दबाव में आ जाने के कारण यह एक भारी संक्रमण की प्रक्रिया में आती चली गई है। 'काला पहाड़' का सलेमी इसका मूर्तिमान रूप है। इस उपन्यास के प्रारम्भ से ही यह प्रत्यय लगातार उसके तथा पाठक के दिमाग़ पर प्रहार करता चलता है कि "अब वैसे भी या इलाका को कोई भरोसा ना रहो।" (वही, पृ. 30)। इस इलाके के अल्पसंख्यक समुदाय के मनीराम द्वारा उपन्यास के प्रारम्भिक हिस्से में कहा गया यह वाक्य कुछ समय बाद उसकी अगली पीढ़ी के मुँह से कुछ ज़्यादा तीखे और आक्रामक स्वर में सुनाई देता है। मनीराम का रोजगार की तलाश में नगीना छोड़कर दिल्ली जा बसा बेटा बनवारी जब-जब अपने गाँव आता है, किसी-न-किसी बहाने यह बात ज़रूर दुहराता है कि "इस इलाके का अब कोई भरोसा नहीं रहा...×××।" (वही, पृ. 270)। बनवारी उपन्यास में धीरे-धीरे हिन्दुत्ववादियों के रंग में रँगता जाता दिखाया गया है। नई पीढ़ी के इस तेवर का असर थोड़ा-बहुत पुरानी पीढ़ी पर भी होता है जिसका प्रमाण यह है कि तीस नवम्बर के सम्भावित आतंक के डर से मनीराम सपत्नीक गाँव छोड़कर दिल्ली चला जाता है। हालाँकि तथ्य एक यह भी है कि बाद में उसे अपने इस क़दम पर भारी शर्मिन्दगी महसूस होती है और वह यह तय पाता है कि "ये छोटा-मोटा धूमस तो होता ही रहवे है...×××" (वही, पृ. 398)। मनीराम अपनी ग़लती सुधारता है और छह दिसम्बर की आशंका से बेअसर फिर गाँव छोड़ने की बात उसके दिमाग़ में नहीं आती ! मनीराम, हरसाय, बुद्धन इत्यादि का कथांकन उस पिछली पीढ़ी के रूप में किया गया है जो अभी तक संक्रमित नहीं हुई है। छह दिसम्बर के बाद जब इस मेव-बहुल इलाके में मेवों के कुछ कथित स्वयंभू नेता बलवा पैदा करने की मुहिम चलाते हैं, मन्दिर, बाज़ार इत्यादि में तोड़-फोड़, लूटपाट शुरू करते हैं तो इन्हें रोकने का काम मेव-समुदाय की यह पिछली पीढ़ी ही करती है। मनीराम, हरसाय, बुद्धन आदि हिन्दुओं की पिछली पीढ़ी के लोग हैं तो सलेमी, नबी खाँ, रोबड़ा आदि मेवों की। इस इलाके की नई पीढ़ी में इधर बनवारी इत्यादि हैं तो उधर स्वयं सलेमी का बेटा बाबू खाँ है। यह नई पीढ़ी साम्प्रदायिकता और तत्ववाद की गहरी चपेट में है। बनवारी चूँकि दिल्ली चला जाता है, अतः उसकी भूमिका अप्रत्यक्ष हो जाती है। बाबू खाँ गाँव में ही रहता है, इसलिए वह सीधे-सीधे सक्रिय होता है। बाबू खाँ का चरित्र प्रारम्भ से ही संक्रमित रहा है। उसके मन में गहरा अलगाववाद और फासीवाद घर करता चला गया है। हाजी अशरफ़ जैसे लोगों के साथ रहता हुआ वह उस तबके से जुड़ जाता है, जो इस इलाके में तनाव पैदा करने और उसे निरन्तर बनाए रखने के काम में मुब्तिला है। चौ. करीम हुसैन इसके अगुआ हैं। इस भीड़ में धीरे-धीरे गुंडा-तत्व हावी होता जाता है।

जातीय लोकमानस की संघर्षशीलता और प्रतिरोध-शक्ति का आख्यान

'काला पहाड़' लगभग डेढ़ दशक पहले तक के मेवात का कथात्मक सामाजिक-सांस्कृतिक आईना है; अगर यह कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। 'बाबल तेरा देस में' उसके बाद के मेवात का दृश्य प्रस्तुत करता है। इस दूसरे उपन्यास में स्त्री-विमर्श चाहे केन्द्रीय बिन्दु हो, लेकिन मेवात का और विशेषतः इधर के मेव-जीवन का ताज़ा स्वरूप पर्याप्त रूप से उसमें उभरकर आया है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'बाबल तेरा देस में' 'काला पहाड़' के आगे के मेवात की कहानी है। ये दोनों उपन्यास मिलकर समकालीन मेवात की एक मुकम्मल राजनीतिक, सामाजिकार्थिक एवं सांस्कृतिक तस्वीर खड़ा करते हैं। दूसरा उपन्यास पहले का अगला विकास है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया; सलेमी, मनीराम, नबी खाँ, बुद्धन, हरसाय, रोबड़ा आदि *(काला पहाड़)* तथा दादी जैतूनी, नसीब खाँ, पारो, असग़री, फत्ते, धनसिंह, शकीला आदि *(बाबल तेरा देस में)* इन दोनों उपन्यासों की वह प्रौढ़ और बुजुर्ग पीढ़ी है जो साम्प्रदायिकता, कट्टरता, तत्ववाद, फासिज़्म आदि से अछूती है। जनतान्त्रिकता, सामान्य मानवीय संवेद्यता, गति एवं प्रगतिशीलता इनकी रग-रग में बसी हैं। यह दरअसल वह परम्परागत भारतीय लोक-मानस है, जिसकी अपनी ये जातीय विशेषताएँ हैं। मेवात के ये लोग भी उसी विराट् भारतीय जातीय लोक-मानस का एक संघटक अवयव हैं। साम्प्रदायिकता का मौजूदा दौर-दौरा इसी भारतीय जातीय लोक-मानस को पद-दलित करने के लिए है। इन दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यासों का महत्त्व यह है कि ये वर्तमान समय में प्रतिगामी शक्तियों द्वारा सुनियोजित तरीक़े से पद-दलित किए जाते इस भारतीय जातीय लोक-मानस की संघर्षशीलता तथा प्रतिरोध-शक्ति का आख्यान हैं। मेवात के मार्फ़त अखिल भारतीय स्तर पर यह समस्त भारतीय जातीय लोक-मानस की संघर्षशीलता और प्रतिरोध-शक्ति है, जो तमाम गहरे झटकों के बावजूद अपने संस्कारों पर अभी तक क़ायम है। हम देखते हैं कि न केवल मेवात में—जैसा कि मोरवाल ने अपने दोनों उपन्यासों में दिखाया है—बल्कि समस्त भारत में जातीय लोक-शक्तियों का प्रतिगामी शक्तियों से यह संघर्ष जारी है। इस संघर्ष की विशेषता यह है कि जातीय लोक-मानस की तरह ही यह संश्लिष्ट और बहुआयामी है। यह खंडित और इकहरा नहीं है। व्यावहारिक लोक-जीवन की तरह इसमें भी समग्रता पाई जाती है।

साम्प्रदायिकता के उत्स : सन्दर्भ-मेवात

साम्प्रदायिकता और तत्ववाद के उद्भव एवं विकास की प्रक्रिया पर ग़ौर किया जाए तो यह बात खुलकर सामने आती है कि साम्प्रदायिकता का ख़ुद का कोई तात्विक अस्तित्व नहीं होता। यह मनुष्य की मूलभूत क्रिया नहीं बल्कि एक उत्तेजित प्रतिक्रिया मात्र है, जो किसी संस्था द्वारा उकसाई जाती है। इस संस्था का अपना संजाल और विहित एजेंडा होता है। यह संस्था कुछ दुरभिसंधियों के साथ अन्य संस्थाओं से तथा ये सब मिलकर किसी एक महासंस्था से जुड़ी होती हैं। इस महासंस्था का एक अलिखित और अवसरानुकूल संविधान होता है जिसके सूत्र धुर अतीत में होते हैं। यह अतीतगामिता पकड़ में न आए और आ भी जाए तो अनेकानेक संभ्रम पैदा होते चलें इसलिए इस पर तरह-तरह के आधुनिकतावादी मुखौटे चढ़ाए जाते हैं। इन मुखौटों के संधारण की एक निश्चित अवधि होती है, जो परिणामोन्मुखता पर आधारित होती है। परिणाम आ जाने के बाद मुखौटे परे कर दिए जाते हैं और इनके उतर जाने पर वह अतीतगामिता अपने मूल विद्रूप में सामने आ जाती है, जैसे मेकअप या कास्ट्यूम्स उतार लेने के बाद कोई अभिनेता अपने असल रूप में आ जाता है। या यों भी कहें कि जैसे सम्भ्रान्त वर्ग की प्रौढ़ महिला प्रसाधन उतारने के बाद चुड़ैल-सी दिखाई देती है। मोरवाल के इन दोनों उपन्यासों से इस प्रक्रिया को समझना हो तो कई उदाहरण लिए जा सकते हैं, जो न केवल इनकी विद्रूपता को उजागर करते हैं बल्कि लोक के सामने इनकी कलई खुलने का संकेत भी देते हैं। मसलन, 'काला पहाड़' के ज्ञानचन्द जैन, अभयचन्द आर्य, बिसम्भर सन्नाटे आदि छह दिसम्बर के सम्भावित/मनगढ़न्त आतंक के वरअक्स जब इलाके के हिन्दुओं की कथित एकता और अस्मिता के विश्व हिन्दू परिषद् के सुनियोजित अभियान के तहत गाँव के चमरवाड़े में पहुँचते हैं, और वहाँ जाकर 'सारे हिन्दुओं को पेड़े बुरे वक्त में एकजुट होकर रहना चाहिए...' जैसे जुमले उछालते हैं तो लीला तथा अन्य लोग इनकी जो धुर उतारते हैं, वह देखते ही बनता है। न केवल वे इनकी इस कथित आयोजना को कोई समर्थन नहीं देते बल्कि वे यह भी मानकर नहीं चलते कि "इन मुसलमानन् को कोई भरोसा ना है..." लीला अपने साथियों से स्पष्ट शब्दों में कहता है कि—"इनको मगज खराब हो रो है जो ये खून खच्चर करेंगा... ।" (पृ. 406)। यहाँ इसी उपन्यास के छोटेलाल कुम्हार के इस कथन को याद कर लेना ज़रूरी है, जो उसने सलेमी द्वारा सावधान किए जाने पर तीस नवम्बर को उससे कहा था—"काई को मूँड बावलो ना हो रो है काका, जो बेमतलब मोहे छेड़ेगो।" (पृ. 327)। यहाँ दूसरा उदाहरण 'बाबल तेरा देस में' की महिला कल्याण से जुड़ी एक एन.जी.ओ. की उन सम्भ्रान्त महिलाओं का है जो सजी-सँवरी, गहनों से लकदक, मारुति से चलकर शकीला से मिलने आती हैं और अपनी कथित कल्याण योजनाओं का पिटारा खोलती हैं। इन 'अठाली और अघायी बीर-बाणीन' की इस चोंचलेबाज़ी की हाजी की हवेली की तथा अन्य औरतों द्वारा जो ख़बर ली जाती है, वह एक स्मरणीय दृश्य है। यहाँ पुरानी के साथ नई पीढ़ी की स्त्रियाँ भी इसमें शामिल हैं। मुमताज़ इनमें सबसे आगे रहती है। (द्रष्टव्य : *बाबल तेरा देस में*, पृ. 342-43)।

इन दोनों उदाहरणों तथा इस पूरे प्रकरण से जो तथ्य निकलकर सामने आता है वह यह है कि मेवात जैसे इलाकों में, या कहें कि लोक में धर्मनिरपेक्षता की एक ऐसी बद्धमूल प्रवृत्ति पाई जाती है, जो शॉक ऑब्जर्वर की तरह साम्प्रदायिकता के बड़े-बड़े झटकों को झेल जाती है। जैसे साम्प्रदायिकता अकेली नहीं आती, वैसे ही धर्मनिरपेक्षता भी अकेली नहीं होती। साम्प्रदायिकता के साथ फासीवाद लगा आता है तो धर्मनिरपेक्षता के साथ जनतान्त्रिकता लगी आती है। साम्प्रदायिकता के साथ अवैध पूँजी जुड़ी है तो धर्मनिरपेक्षता के साथ श्रम और मूल्य-निष्ठा। साम्प्रदायिकता के साथ तत्ववाद नत्थी है तो धर्मनिरपेक्षता के साथ सामान्य संवेदनशील मनुष्यता। इन दोनों उपन्यासों के विभिन्न पात्रों को यदि इन दो कोटियों में बाँटकर उनकी चारित्रिकता का आकलन किया जाए तो यह तथ्य पुष्ट होगा कि साम्प्रदायिकता से वही लोग संक्रमित हुए हैं जो व्यक्तिगत तौर पर किसी-न-किसी प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अनैतिकता या अवैधता के अभ्यस्त हैं, जिनकी चेतना में बेईमानी और दोगलापन निर्द्वन्द्व भाव से स्वीकृत हैं तथा मूलभूत रूप से आस्तिकता में जिनकी आस्था ख़त्म हो चुकी है। अन्य शब्दों में इस बात को यों भी कह सकते हैं कि जो लोग अपनी जातीय चेतना से विच्छिन्न हो गए हैं, साम्प्रदायिकता का वायरस उन पर हावी होता चला जाता है। 'काला पहाड़' के चौ. करीम हुसैन, चौ. मुर्शीद अहमद, दोनों ही धर्मों के संस्थानिष्ठ नेतागण, खाता-पीता, अघाया हुआ, पढ़ा-लिखा मध्यवर्ग, उच्च वर्णों के लोग, पुलिस तथा अर्द्धसैनिक बलों के लोग इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

ग़ैर-साम्प्रदायिक होने का अर्थ सिर्फ़ यह नहीं है कि आप सम्प्रदायवाद से अछूते रहे हैं। ग़ैर-साम्प्रदायिक होने का अर्थ यह भी है कि आप साम्प्रदायिकता का प्रतिरोध करें। तटस्थ होकर घर बैठना प्रकारान्तर से सम्प्रदायवादियों के हौसले बढ़ाना ही है। भारतीय जातीय लोक-चेतना की यह एक प्रवृत्ति है कि वह किसी भी मामले में तटस्थ नहीं होती। वह दूध का दूध और पानी का पानी करती चलती है। तटस्थता मध्यवर्गीय चोंचलेबाज़ी है, जो इतिहास में घातक भूमिका अदा करती है। समकालीन मेवात में साँझी संस्कृति एवं परम्पराओं का जो विघटन हुआ है या होने की आशंका उत्पन्न हो गई है तो इसका बहुत-कुछ दायित्व इस क्षेत्र के इसी बिचौलिए तबके पर है। मेवात का आम बाशिन्दा अभी भी उसी साँझेपन में साँस लेने की तमन्ना रखता है। साम्प्रदायिकता एवं तत्ववाद का विरोध भी मेवात की इस साँझी विरासत का संघटक तत्व है जिसके चलते आज तक यहाँ कोई बड़ा ख़ून-ख़राबा नहीं हुआ। मोरवाल ने 'काला पहाड़' में जगह-जगह पर प्रसंगवश इस ऐतिहासिक तथ्य का उल्लेख किया है कि मेवात आज जो अशान्त है और यहाँ तक कि यह 'दूसरा पाकिस्तान' बनने की आशंका से त्रस्त है तो, दरअसल इसके मूल में यह महत्त्वाकांक्षी मध्यवर्ग ही है जो फिरकापरस्त ताक़तों का एजेंट बना अवसर का लाभ उठा रहा है। इस तबके में, जैसा कि मैंने ऊपर कहा, राजनीति से लेकर लगभग अन्य सभी पेशों से जुड़े लोग शामिल हैं। इन उपन्यासों में इसके सर्वोच्च सूत्र फिलहाल राजनीतिक नेता हैं, राजनीतिक पार्टियाँ हैं, दोनों ओर के कुछ कथित धार्मिक संगठन हैं; लेकिन यह राजनीति और धर्म मूलतः कहाँ से संचालित हैं, इसके हवाले न के बराबर हैं। इस समय सम्प्रदायवाद और तत्ववाद वैश्विक स्तर पर सक्रिय है। भारत भी उसकी कार्यसूची का एक हिस्सा है। इस पर भी मोरवाल थोड़ा ध्यान देते तो कथ्य और गहरा और पैना हो जाता।

इन दोनों उपन्यासों में पंचायत के चुनावों का ज़िक्र है। इन चुनावों में धर्म के आधार पर मतदाताओं के ध्रुवीकरण में दोनों ही पक्षों के लोग सक्रिय हैं। 'काला पहाड़' में इधर मुर्शीद अहमद, हाज़ी अशरफ़ और बाबू खाँ जैसे लोग हैं जो 'काफिरों' के ख़िलाफ़ अपनी बिरादरी, अपनी कौम को एक करने में जुटे हैं तो उधर लाला अभयचन्द आर्य, लाला ज्ञानचन्द जैन, बिसम्भर सन्नार्थी जैसे लोग हैं जो मेवों के ख़िलाफ़ पूरे नगीना के हिन्दुओं को संगठित करने की मुहिम में लगे हैं। इनके अलावा इस उपन्यास में डॉ. गोयल, डॉ. नसीर, डॉ. रफीक जैसे लोग भी हैं जो अवसर का लाभ उठाकर कहाँ से कहाँ पहुँच गए हैं।

गाँवों में पंचायत चुनाव सबसे महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। जैसी मारामारी यहाँ इन चुनावों में मचती है वैसी विधानसभा और लोकसभा के चुनावों में नहीं मचती। पंचायत के चुनावों में गाँवों का चप्पा-चप्पा और पोर-पोर सक्रिय हो उठता है। इन उपन्यासों के आधार पर मेवात के पिछले डेढ़-दो दशकों के पंचायत-चुनावों के इतिहास को देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि इनके मार्फ़त और स्वयं इनमें मतदाताओं के साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तेजी से चली है और इसके चलते गाँव का परिदृश्य बदला है। इस प्रक्रिया में बाहर के लोगों का बहुत बड़ा हाथ रहा है लेकिन व्यावहारिक तौर पर सारा काम अन्दर के लोगों द्वारा ही पूरा होता है। पीछे हमने इनका उल्लेख किया है। इस ध्रुवीकरण से सलेमी, मनीराम, धनसिंह, नसीब खाँ जैसे ग़ैर-साम्प्रदायिक लोग भारी हतोत्साहित हुए देखे जाते हैं। ये लोग हालाँकि अपने बूते-भर इस ध्रुवीकरण को रोकने की कोशिश करते हैं जैसे कि सलेमी अपने बेटे बाबू खाँ को खूब डाँटता-डपटता है, उसे खरी-खोटी सुनाता है (काला पहाड़), रामचन्दर सालिगराम सन्नार्थी जैसे लोगों के चक्कर में आने से मना कर देता है *(बाबल तेरा देस में)*; लेकिन प्रतीत होता है कि अब ये लोग या तो अल्पमत में आ गए हैं या इनसे ज़्यादा उन लोगों की बातों का असर मतदाताओं पर पड़ने लगा है; लिहाज़ा ग़ैर- साम्प्रदायिक उम्मीदवारों की या तो पराजय होती देखी जाती है, या, अगर वे जीतते हैं तो रातों-रात रुख़ बदलकर किसी एक सम्प्रदाय के प्रतिनिधि बनकर उभर आते हैं। जैसे कि 'काला पहाड़' में मानक सरपंच लम्बे समय से सरपंची करता आ रहा था। हिन्दू होते हुए भी वह एक हिन्दू उम्मीदवार के रूप में अब तक चिह्नित नहीं किया जाता था। असलियत यह थी कि उसके असाम्प्रदायिक और जनतान्त्रिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वभाव के चलते मेव-समुदाय के लोगों का भी वह चहेता था। गाँव में उसकी लोकप्रियता चरम पर थी। लेकिन अगले चुनावों में जब चौ. खुर्शीद अहमद हाज़ी अशरफ़ को मेवों का उम्मीदवार बनाकर मैदान में उतरवा देता है और बाबू खाँ जैसे लोग मेवों को एकजुट करने में रात-दिन एक कर देते हैं तो मानक सरपंच पलक झपकते कथित हिन्दूवादियों की गोद में जा बैठता है। उपन्यास में हालाँकि दिखाया यह गया है कि हिन्दूवादियों के नेता स्वयं पहल करते हुए चुनाव की सारी कमान अपने हाथ में ले लेते हैं और मानक सरपंच इसे अपने लिए एक 'सौभाग्य की बात' (*काला पहाड़,* पृ. 377) समझ अपने सिर-माथे पर ओट लेता है। इन चुनावों में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण का आलम यह है कि गाँव के जो मतदाता कहीं और जा बसे हैं, उनके घर जा-जाकर उन्हें वोट के दिन लाने का बाक़ायदा प्रबन्ध किया जाता है। यहाँ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इनमें ज़्यादातर कथित निम्नजातियों के लोग हैं, जिन्हें हिन्दूवाद के नाम पर एकजुट करने की मुहिम चलाई जाती है। उल्लेखनीय तथ्य एक यह भी है कि ये कथित हिन्दू नेता, यों सिद्धान्ततः और व्यवहारतः इन शूद्रों से परहेज़ करते हैं, न उन्हें छूते हैं, न उनके घर का कुछ खाते-पीते हैं लेकिन चुनाव के अवसर पर गांधी-भक्ति का मुखौटा लगाकर गधे को भी बाप बनाने की अवसरवादिता के तहत इन्हें गले लगाते देखे जाते हैं। भारतीय हिन्दूवादियों का गांधी-प्रेम प्रायः इसी प्रकार का है। 'काला पहाड़' में लाला ज्ञानचन्द जैन नजफ़गढ़ जाकर जगनी चमार के घर गांधी को लेकर जिस अन्तर्मन्थन की स्थिति में दिखाया गया है, वह वास्तविकता के काफ़ी निकट है। 'बाबल तेरा देस में' सरपंची के दो चुनाव हैं। पहले चुनाव में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया में गाँव नहीं होता और होता भी है तो गुणवत्ता का पैमाना अभी लोगों के मन में जीवित है अतः चुनावों में शकीला के रूप में जनतान्त्रिकता की जीत होती है। इस पहले चुनाव में विरोधी खेमे का 'हिन्दुत्व का कार्ड सूखे पत्ते की तरह छिन्न-भिन्न हो गया' था (*बाबल तेरा देस में,* पृ. 317)। लेकिन अगले चुनाव तक माहौल बदल जाता है और साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की प्रक्रिया तीव्रता से घटित होती है अतः इस बार सालिगराम शरणार्थी की बहू पद्मा जीत जाती है। यहाँ हिन्दुत्ववादी नेता फिर शूद्र-जातियों का सहारा लेते हैं। 'काला पहाड़' में जगनी इनका एजेंट बना था तो इस उपन्यास में रामजीलाल इनका ख़ैरख़्वाह बनता है। रामचन्दर स्पष्ट कहता है—"इन इलेक्शन में बोट आदमी और आदमी के काम पे ना गिरी है बल्कि हिन्दू और मुसलमान का नाम पे गिरी हैं।" (वही, पृ. 400)। उपन्यास में इस बात पर भी बहस होती है कि ये हरिजन जो अब तक मेवों के निकटतर थे, यकायक पाला बदलकर अपने जातिगत शत्रु बणिया-बामणों के चक्कर में कैसे फँस गए ? (वही, पृ. 401)। इस प्रसंग में लेखक ने कुछ और तथ्यों को भी शामिल किया है। जैसे कि यह कि साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण तो एक बहाना है। असल मसला है; सत्ता में भागीदारी का। रामचन्दर इस तथ्य का खुलासा करता है—"ई सब वाही हिस्सेदारी की भूख है जाकी वजह सू रामजीलाल उनकी गोदी में जा बैठो।" (वही) इसके अलावा सबसे पते की बात यह है कि इन दलितों, निम्न जातियों के कन्धे पर बन्दूक रखकर अपने विधर्मियों-मेवों/मुसलमानों से अपना कथित बचाव करना : ×××मुसलमानन सू हम बणिया-बामण थोड़ेई टक्कर लेंगा...टक्कर तो यहीं लेंगा। हमन्ने तो सूधी-सी बात है अपनी बचाव चाहिए।" (वही)। यानी हिन्दूवाद के नाम पर यह दलितों को एक बार फिर इतिहास में अपना मोहरा बनाकर अपने हित में उनका अवसरवादी इस्तेमाल कर उन्हें छूँछ की तरह निचोड़कर फेंक देने की चालबाज़ी है। आज़ाद भारत में दलितों तथा अन्य छोटी जातियों के बढ़ते दबदबे को काउंटर करने की हिन्दूवाद के तले सवर्ण जातियों की यह एक सोची-समझी रणनीति है। मोरवाल संकेत से इस तथ्य को सन्दर्भित करते हैं। आगे उपन्यास में बत्तो इत्यादि के हवाले से यह बात स्पष्ट की गई है कि इन ऊँची जात के लोगों के लिए हम कभी भी उनके 'जाये' नहीं हो सकते। हिन्दू हैं तो क्या हुआ, इन लोगों के रिजर्वेशन्स ज्यों के त्यों हैं। बत्तो साफ़ कहती है कि पद्मा के लिए बामणी सोनदेई सगी हो सकती है हम कभी सगी नहीं हो सकतीं। हमारा सगापन तो तुम (मेव) लोगों के साथ ही हो सकता है : "तम ठहरी मुसलमानूनी और मैं ठहरी नीची जात की कुम्हारी। अब बताओ मैं कैसे होगी वाकी जाई ?" (पृ. 405)।

जनविरोधी भारतीय राजनीति का बाईप्रोडक्ट : साम्प्रदायिकता

मेवात के सन्दर्भ में साम्प्रदायिकता की स्थितियों के निर्णायक कारकों पर जब हम विचार करते हैं तो लगभग वही निष्पत्तियाँ सामने आती हैं जो साम्प्रदायिकता के उभार के लिए शेष उत्तर-भारत में उत्तरदायी हैं। मेवात के साथ विशेष बात सिर्फ़ यह है कि यहाँ विभिन्न धर्मावलम्बियों या कहें कि सम्प्रदायों के बीच का शक्ति-सन्तुलन लगभग समकोणीय है। यहाँ मेव भी कम ताक़तवर नहीं हैं। अतः दंगों की स्थिति में यहाँ लड़ाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगभग बराबरी पर ही छूटने के आँकड़े हैं। इसलिए पहल करने की स्थिति में कोई नहीं है। अनुमान यह है कि यदि यहाँ किसी तरह किसी समय कोई दंगा हो गया तो यह दूसरा गुजरात साबित होगा; बल्कि उससे भी भयावह ! मेवों की बद्धमूल असाम्प्रदायिकता तथा धर्मनिरपेक्षता मेवात को अभी तक बचाए हुए है।

इस तथ्य से कोई इनकार नहीं कर सकता कि विकास की दौड़ में पूरा मेवात क्षेत्र न केवल शेष भारत से बल्कि आसपास के इलाकों से भी काफी पीछे रह गया है। यहाँ के जन-प्रतिनिधि—एम.एल.ए. इत्यादि—मेवों में से ही आते हैं लेकिन वस्तुतः इस क्षेत्र के विकास से, इस क्षेत्र की सामाजिकार्थिक समस्याओं से उन्हें कोई लेना-देना नहीं रहता। वे सिर्फ़ दो काम करते हैं। एक तो यह कि सबसे पहले अपना घर भरते हैं, अपना वर्चस्व स्थापित करते हैं और दूसरे यह कि येन-केन-प्रकारेण चुनावों में अपनी जीत पक्की करने के मंसूबे बाँधते हैं। 'काला पहाड़' में सलेमी की पौली में तथा अन्यत्र बार-बार लोगों की बातचीत में यह मुद्दा उभरकर आता है कि "xxx इलाका की फिकर तो इन्ने है ना उल्टा एक-दूसरान्ने लड़ाता डोले हैं।" (पृ. 303)। मेवात के जन-प्रतिनिधि तो जैसे हैं, वैसे हैं; राज्य व केन्द्र सरकार का ध्यान भी इस इलाके पर नहीं है। उपन्यास के प्रारम्भ में शहीद मेवों की याद में मीनार की नींव रखने आए प्रधानमन्त्री के समक्ष भरी सभा में साकरस चौबीसी का युवा सरपंच जब पूरे इलाके की समस्याओं का एक विस्तृत माँग पत्र प्रस्तुत करता है तो न केवल अन्य विधायक, मन्त्री इत्यादि नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं बल्कि स्वयं प्रधानमन्त्री को भी ग़श-सा आने लग जाता है। सिवाय आम जनता के मेवात की इन अरसे से ठंडे बस्ते में पड़ी समस्याओं से कोई लेना-देना नहीं है। (द्रष्टव्य, पृ. 18-22)। इस जलसे में प्रदेश के मुख्यमन्त्री को मेवात-रत्न के अवार्ड से नवाज़ा जाता है जिसने मेवात की आज तक कोई भलाई नहीं की। इलाके के एम.एल.ए. वगैरह अपने निजी हितों को साधने के लिए मुख्यमन्त्री को खुश करने के लिए यह सब करते हैं। अब, ऐसी स्थिति में मेवात का आमजन कहाँ जाए, क्या करे ? किससे अपनी बात कहे : "पर अन्यायी, हम जैसा करें भी कहा...हम कसके आगे या मूँड़ ए फोड़ें ?" (पृ. 22)। 'काला पहाड़' का निष्कर्ष यह है कि इस इलाके में जो जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं तक का अभाव है; न सिंचाई की कोई सुविधा है, न रेल है, न ढंग का कोई अस्पताल, न कोई उद्योग है, न प्राकृतिक आपदाओं के समय किसी सरकारी सहयोग का कोई नेटवर्क है; तो इसके पीछे वस्तुतः इस इलाके के जन-प्रतिनिधि दोषी हैं (द्रष्टव्य, वही, पृ. 281)।

विकास एवं रोजगार के अभाव में पलायन यहाँ की एक बड़ी समस्या बन गया है। कुल मिलाकर विकास के अभाव से जो एक प्रकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता और शून्य जैसी स्थिति यहाँ पैदा हुई है, उसने फिरकापरस्त ताकतों को यहाँ अपने पैर फैलाने का भारी स्पेस दिया है। इस शून्य को भरने के लिए वे एकदम तत्पर दिखाई देती हैं। दरिद्रता और तत्ववाद का सीधे-सीधे चाहे कोई सम्बन्ध न हो लेकिन धीरे-धीरे ये एक-दूसरे को आगे बढ़ाने में मशगूल हो जाते हैं। 'काला पहाड़' में गाँव छोड़कर रोज़गार की तलाश में दिल्ली तथा अन्य शहरों की ओर गमन करते अनेकानेक परिवार उल्लिखित हैं। इस प्रसंग में यह संकेत भी अन्तर्निहित है कि गाँव से उखड़े इन लोगों के मानसिक शून्य को साम्प्रदायिकता ने आकर भरा है। पीछे बनवारी, जगनी इत्यादि के जो उदाहरण दिए गए हैं, वे इसके सबूत हैं। यह प्रक्रिया हिन्दुओं में भी घटी है और मेवों में भी।

अतः स्पष्ट होता है कि मेवात की साम्प्रदायिकता की समस्या मौजूदा साम्राज्यवाद-पूँजीवाद-परस्त जनविरोधी भारतीय राजनीति एवं प्रशासन-तन्त्र का ही एक बॉयप्रोडक्ट है। मोरवाल के ये दोनों उपन्यास जोरदारी से इस तथ्य को सामने लाते हैं कि मेवात का आम जन; चाहे वह हिन्दू हो या मेव; स्वभावतः साम्प्रदायिक नहीं है। वह धार्मिक अवश्य हो सकता है लेकिन साम्प्रदायिक हरगिज़ नहीं है। दरअसल स्थितियाँ ऐसी पैदा की जा रही हैं कि मेवात का यह परम्परागत सांस्कृतिक साँझापन छिन्न-भिन्न हो और यहाँ उच्च जातियों, पूँजीवादियों का वर्चस्व स्थापित हो, उनके एजेंडे के अनुसार इस क्षेत्र का राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्संगठन और दोहन हो।

अत्यन्त परस्परान्वित जीवन और उसमें पैर फैलाता तत्ववाद

धार्मिक तत्ववाद मेवात में किस तरह अपने पैर फैलाता जा रहा है, ये दोनों उपन्यास इस यथार्थ का भी कथात्मक लिप्यांकन करते हैं। इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रामाणिक और तथ्यात्मक सूत्र इन उपन्यासों में मिलते हैं। समाजशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से इन्हें स्रोत-सामग्री के रूप में आधिकारिक तौर पर लिया जा सकता है।

लेकिन धार्मिक तत्ववाद के बढ़ते प्रभाव के आकलन से पहले मेवात की उस मूलभूत संस्कृति एवं सामाजिक संरचना पर निगाह दौड़ाना ज़रूरी है जिसकी प्रवृत्ति सदियों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संश्लिष्टता और साँझेपन की रही है। इस विषय में कुछ बातें ऊपर आ गई हैं। यहाँ एक बार फिर यह दोहराना प्रासंगिक है कि बावजूद तमाम प्रतिकूलताओं के मेवात की साँझी संस्कृति और संश्लिष्ट सामाजिकता अभी भी बरक़रार है।

मेवात के विषय में अनेकानेक भ्रम एवं पूर्वाग्रह-दुराग्रह अनेक लोगों के मन में देखे गए हैं। यह तो सब जानते हैं कि मेव एक धर्म-परिवर्तित मुसलमान जाति है। लेकिन यह वस्तुस्थिति मेवात में जाकर ही पता चलती है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से ये न तो पूरे मुसलमान हैं, न पूरे हिन्दू। इनकी परम्परा में हिन्दू एवं इस्लाम की वृत्तियाँ इस कदर घुली-मिली हैं कि ऊपर-ऊपर से देखने पर यह तय करने में कठिनाई होती है कि ये हिन्दू हैं या मुसलमान ! वेशभूषा, सामान्य रहन-सहन एवं दिनचर्या, बोली-बानी तथा स्वभाव आदि के आधार पर यहाँ के मेवों तथा अन्य में अन्तर करना काफ़ी मुश्किल होता है। भाषा इनकी एकता एवं अलगाव का सबसे बड़ा अभिलक्षण है। मोरवाल के इन दोनों उपन्यासों से भी ये तथ्य पुष्ट होते हैं। मेवात में इधर लुंगी एवं मुसल्ली टोली पहनने का रिवाज़ चला है लेकिन ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। युवा लोग टोपी पहनना शुरू किए हैं लेकिन बुज़ुर्ग अभी भी फेंटा बाँधते हैं। स्त्रियों का पहनावा भी इलाके की अन्य किसान-स्त्रियों जैसा ही है। वे सलवार कुर्ती/कुर्ता पहनती हैं। बुर्का नहीं पहनतीं। मेव-स्त्रियाँ शृंगार-पटार नहीं करतीं। क्रीम-पाउडर, प्रसाधन का उन्हें अन्य हिन्दू किसान-औरतों की तरह ही कोई शौक नहीं है। 'बाबल तेरा देस में' में हसीना एक जगह कहती है—"×××माई, तैने आज तलक कोई मेवणी देखी है किरीम-पौडर सू लिपी-पुती ?" (पृ. 187)। मेवणियों का जीवन सादा, अत्यन्त कर्मठ एवं संघर्षशील होता है। इसी उपन्यास की असग़री के हवाले से कहा जाए तो इनका जिस्म ऐसा है "जिसे समय की चोटों ने कूट-कूटकर लौह बना दिया है।" (वही, पृ. 475)। भारत की अन्य परिवर्तित मुस्लिम महिलाओं से तुलना करने पर मेवणियों की यह अपनी विशिष्ट पहचान स्पष्ट होती है।

न केवल वेशभूषा, भाषा, दिनचर्या आदि बल्कि जीवन के अन्य रस्मोरिवाज़ भी यहाँ अत्यन्त परस्परान्वित हैं। मसलन मेवों में निकाह में हिन्दुओं की तरह चाक पूजने का रिवाज़ आज भी क़ायम है। निकाह पढ़ना तथा फेरों को छोड़कर लगभग शेष सारी प्रथाएँ दोनों समाजों में एक-सी हैं। 'काला पहाड़' में सलेमी के विवाह—दरअसल निकाह—का फ्लैशबैक चित्रण इसका उदाहरण है।

लेकिन, इधर, जब से कथित अयोध्या मसले ने विकराल रूप धारण किया और पूरे देश में साम्प्रदायिकता और तत्ववादी रुझान की सर्वग्रासी लहर चली; मेवों की नीचे की ज़मीन भी हिली। 'काला पहाड़' में मोरवाल ने पिछले कुछ सालों में मेवों में आए लगभग सभी छोटे-बड़े परिवर्तनों को दर्ज़ किया है। मसलन, सलेमी के बाप ने उसकी शादी उसी प्रकार की, जैसी इस इलाक़े में मेवों में सदियों से होती आती थीं। स्वयं सलेमी ने अपने बेटे बाबू खाँ का निकाह इसी परम्परा के तहत किया था। लेकिन अब बाबू खाँ अपने बेटे असलम का निकाह 'शरीयत और हदीस के बीच' करवाता है। न केवल यह बल्कि यह भी कि वह हिन्दुओं जैसे सारे रीति-रिवाज़ों को अलविदा कहने पर आमादा है। बाबू खाँ ने चाक पुजवाना बन्द कर दिया। असलम की बीवी को मुसल्लियों की तरह बुर्क़े में विदा करा के लाया। (दृष्टव्य, पृ. 357-359)। एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य इस सन्दर्भ में यह है कि शरीयत और हदीस के प्रति यह आकर्षण पुरुषों में चाहे जितना हो, चाहे हो या न हो; स्त्रियों में इसके प्रति कोई आकर्षण क़तई नहीं दिखाई देता। बाबू ख़ाँ की पत्नी तरकीला अपने पति के निर्णयों से निरन्तर असहमत रहती है; चाहे उसकी कुछ चले न; लेकिन वह अपना विरोध ज़रूर दर्ज़ कराती है। (पृ. 358)। इसी तरह गाँव की मेवणियाँ जब असलम की नई-नवेली नौसी को बुर्क़े में आती देखती हैं तो इनमें से एक युवा स्त्री यह कहे बिना नहीं रहती—"ऐं रे बाबू या मुल्लण कहान् सू लायो है ?" (पृ. 368)। यहाँ तक कि कुछ पुरुष भी इस घटना पर कुछ इस तरह प्रतिक्रिया करते हैं—"अन्यायी, ई तो ऊ बात हो गई के देसी गधी और पूरबी चाल।"/बुद्धन। (पृ. 369)।

बद्धमूल साँझी सामाजिकता और सांस्कारिकता : उल्टे पाँव लौट जाओ तत्ववाद

मेवात की साँझी संस्कृति का एक अप्रतिम उदाहरण यह है कि यहाँ हिन्दुओं में भी मेवों की कुछ धार्मिक-सांस्कृतिक प्रथाएँ घुली-मिली हैं। जैसे कि 'बकरा करने' की प्रथा। धनसिंह के परिवार में 'बाबल तेरा देस में' में इस घटना का काफ़ी विस्तार से लेखांकन किया गया है। पीर-औलियाओं द्वारा दिए गए गंडा-तावीज़, नक़्क़स इत्यादि का प्रचलन जितना मेवों में है उतना ही हिन्दुओं में भी। पीरों की मज़ारों पर चादर चढ़ाना, मोहर्रम के ताज़ियों के नीचे से निकलना, ईद की खुशी में बराबर का शरीक़ होना इत्यादि हिन्दुओं में अब तक देखा जाता है। सामाजिक समवेतता, साथ उठना-बैठना, खाना-पीना, एक-दूसरे के समारोहों में शामिल होना यहाँ रोज़मर्रा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटनाएँ हैं। मोरवाल के ये दोनों उपन्यास इसके गवाह हैं।

यहाँ इस तथ्य पर भी ग़ौर करना ज़रूरी है कि यह साँझापन दरअसल छोटी जातियों के साथ सबसे ज़्यादा है। ब्राह्मण-बनिए संक्रमित हुए हैं। 'बाबल तेरा देस में' कुम्हारिन बत्तो व बामणी सोनदेई के चरित्र इस दृष्टि से तुलनीय हैं। सोनदेई धीरे-धीरे हिन्दूवाद एवं सवर्णवाद की ओर झुकती देखी जाती है जबकि बत्तो की आत्मीयता पहले की तरह अभी भी मेवों से ही है।

'काला पहाड़' में बाबू खाँ अलगाववाद का प्रतीक है तो 'बाबल तेरा देस में' में यूनुस, मुबीन आदि इसके प्रवक्ता हैं। 'काला पहाड़' में प्रारम्भ में ही यह विमर्श उठाया गया है कि मेवात में तबलीग का काम जोर-शोर से चालू करने, किए रखने की मुस्लिम संगठनों की योजनाएँ हैं। इन संगठनों के प्रतिनिधियों को लगातार यह महसूस होता है कि मेव असल मुसलमान नहीं हैं अतः इन्हें कुरआन इत्यादि की ज़्यादा-से-ज़्यादा तालीम देने की ज़रूरत है। स्थानीय एम.एल.ए. वग़ैरह इस कार्य में उनकी हर तरह की मदद करते दिखाई देते हैं। नए-नए मदरसों की स्थापना इधर की गई है। इनमें लड़के-लड़कियों को केवल मज़हबी तालीम देने का प्रावधान रखा गया है। आधुनिक शिक्षा से इन तबलीगियों को जैसे परहेज़ है। 'बाबल तेरा देस में' में लड़कियों को यहाँ भेजने पर विवश करने के उल्लेख हैं।

'बाबल तेरा देस में' में यूनुस मोहर्रम को सैयदों की तरह मनवाने की लम्बी कवायद करता है। लेखक ने विस्तार से इसका वर्णन किया है। लेकिन उसने साथ ही यह निष्कर्ष भी दिया है कि मेव इसे पचा नहीं पाते। अन्य लोगों की तो बात ही क्या, हाजी चाँदमल जैसा अमूमन दक़ियानूस चरित्र भी इस प्रक्रिया की हँसी उड़ाता देखा जाता है : '×××वह बन गया सच्चा मुसलमान, या अभी कुछ कमी है ?' (पृ. 356)।

उक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि मेवात को साम्प्रदायिकता एवं तत्ववाद की आग में झोंकने की कोशिशें लगातार जारी हैं तो दूसरी ओर मेवात का आमजन अपनी बद्धमूल साँझी सामाजिकता एवं सांस्कारिकता के तहत इस आयोजना को उल्टे पाँव लौटाने का तय किए हुए है। हाँ, इतना ज़रूर है कि इस प्रतिरोध में ज़्यादातर छोटी जातियों के स्त्री-पुरुष शामिल हैं।

हैदरावादी मुस्लिम स्त्रियाँ : हिन्दी-कथा में पहली बार

स्त्री-प्रश्न इन दोनों उपन्यासों का एक प्रमुख विमर्श है। 'बाबल तेरा देस में' तो घोषित रूप से स्त्री के दुखों, पितृसत्तात्मक-पुरुषवर्चस्ववादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ स्त्रियों के प्रतिरोध-प्रतिकार का आख्यान है। (ब्लर्ब)। इस आख्यान का सबसे आकर्षक पक्ष यह है कि यहाँ लेखक स्त्री को उसके अपने घर, स्वजनों इत्यादि की ज़मीन से उठाता है और तय पाता है कि "×××स्त्री×××जो अपने ही घर के असुरक्षित अभेद्य क़िले में क़ैद है।" (ब्लर्ब)। हाजी चाँदमल की हवेली उपन्यास की अधिकांश घटनाओं का केन्द्र है।

इन दोनों उपन्यासों में कई कोणों से, कई स्तरों पर स्त्री-प्रश्न को उठाया गया है। ये स्त्रियाँ हिन्दू भी हैं और मेव भी। इन दोनों ही समाजों में स्त्री की स्थिति हाशिए जैसी है। इनमें कुछ ठेठ मुस्लिम स्त्रियाँ भी हैं जो हैदराबाद या अन्य जगहों से मेवात में मेवों द्वारा निकाह करके या खरीदकर लाई जाती हैं। इनकी स्थिति तो और भी बदतर होती जाती है। ये 'मुहाज़िर' से भी बदतर ज़िन्दगी जीती देखी जाती हैं। 'काला पहाड़' की मेमन तथा 'बाबल तेरा देस में' की समीना इसके उदाहरण हैं। शकीला भी हैदराबाद से लाई गई है लेकिन उसका चरित्रांकन लेखक की वैचारिक कल्पना तथा आकांक्षा के साँचे में ढला होने के कारण यथार्थ से थोड़ा दूर है। प्रारम्भ में उसे भी अपने पति दीन मुहम्मद की बहुओं की अवहेलना, उत्पीड़न सहना पड़ता है लेकिन बाद में धीरे-धीरे लेखक की योजनानुसार वह कथा के केन्द्र में आती चलती है।

'काला पहाड़' में लेखक ने मेवों द्वारा हैदराबाद इत्यादि से औरतें लाने के इतिहास का विवरण दिया है। इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ज़्यादातर अधेड़ विधुर या दिलफेंक शौकीन यह काम करते हैं। मेव इस मामले में इस्लाम में चार तक बीवियाँ रखने का तर्क देते भी देखे जाते हैं। जहाँ तक इन औरतों की बात है तो ये ज़्यादातर कम उम्र की कमसिन लड़कियाँ होती हैं जिनके माँ-बाप इतने गरीब होते हैं कि न तो इन्हें पाल-पोस सकते हैं, न इनका निकाह इत्यादि कर सकते हैं। लिहाज़ा मेवात इत्यादि से पहुँचे लोग उन्हें खुदा की इनायत जैसे लगने लगते हैं और वे निकाह के नाम पर अपनी लड़कियों को इन उम्रदराज़ लोगों के पल्ले बाँध छुट्टी पाते हैं। ये औरतें न केवल घर में बल्कि बाहर भी असम्बद्धता की नियति की शिकार रहती हैं। इन्हें कई बार 'यूज़ एंड थ्रो' की स्थितियों से भी गुज़रना पड़ता है। 'काला पहाड़' की मेमन वापस हैदराबाद भेज दी जाती है और 'बाबल तेरा देस में' की समीना कटी पतंग की तरह एक से दूसरे हाथों में पड़ती देखी जाती है। हिन्दी-कथा में मोरवाल के मार्फ़त मुस्लिम औरतों का यह यथार्थ सम्भवतः पहली बार आया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचायती राज-व्यवस्था में स्त्रियों का आरक्षण : यथार्थ और उसके निहितार्थ

पंचायती राज में स्त्रियों के लिए आरक्षण का प्रावधान है। इसके तहत 'बाबल तेरा देस में' की शकीला सरपंच बन जाती है। उसके सरपंच बन जाने के बाद उसका पति दीन मुहम्मद किस तरह उसे किनारे कर स्वयं सरपंची करने लगता है और सारा गाँव कैसे उसे ही असल सरपंच मानने लगता है, लेखक ने तफ़सील से इसके ब्यौरे दिए हैं। देखा जाए तो मेवात ही नहीं, पूरे उत्तरभारत में स्त्री-सरपंच इसी स्थिति में आती देखी जाती हैं। भारतीय समाज-व्यवस्था में पुरुष-वर्चस्वता का यह सबसे विडम्बनात्मक यथार्थ है। इस यथार्थ के कई निहितार्थ हैं। इसका एक निहितार्थ यह है कि इससे स्त्री के अस्तित्व और व्यक्तित्व के उभरने के अवसर ख़त्म हो जाते हैं और वे मात्र एक रबड़-स्टैम्प बनकर रह जाती है। यह स्थिति पुरुष-अहंकार की तुष्टि करती है। इससे भी बड़ा दूसरा इसका निहितार्थ यह है कि इससे मौजूदा भ्रष्ट राजनीतिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था बरकरार रहती है। पुरुष-प्रधान व्यवस्था की एक अभिलाक्षणिकता यह भी है कि वह मूलतः भ्रष्ट और बेईमान होती है। इसके उलट जब नेतृत्व स्त्री के हाथ में होता है तो व्यवस्था में वस्तुपरकता, न्याय एवं संवेदनशीलता का आधान होता चलता है। शकीला जब दीन मुहम्मद की मनमानियों से गले तक भर आती है और उसे गाँव की औरतों के ताने आने लगते हैं तो वह एक तरह से रिवोल्ट कर देती है और सारी शक्तियाँ अपने हाथ में लेने का उपक्रम करती है। लेकिन इसका प्रतिफल यह भी होता है कि हवेली के शक्ति-सम्पन्न दकियानूसों की आँख की किरकिरी भी वह बन जाती है। शकीला के बाद सालिगराम सन्नार्थी की बहू पद्मा गाँव की सरपंच बनती है, पर पद्मा तो वैसे भी पुरुषवर्चस्वता की समानुकूलता में ढली स्त्री है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। लेकिन पद्मा के मार्फ़त इस तथ्य की पुष्टि अवश्य होती है कि दक्षिणपन्थ में स्त्री की नियति सिर्फ़ एक उपयोगी वस्तु की तरह है।

स्त्री पर टूटता तत्ववाद का कहर अर्थात् तलाक़-तलाक़-तलाक़

मेवात में जैसे-जैसे तत्ववाद बढ़ रहा है, वैसे-वैसे स्त्री की स्थिति बद से बदतर होती जा रही है। मेवों को सच्चा मुसलमान बनाने और उन्हें शरीयत और हदीस के अनुसार चलाने की गाज़ भी अन्ततः औरतों पर ही पड़ी है। इसका एक ताज़ा उदाहरण है, मेवों में तलाक़ की बढ़ती प्रवृत्ति। मुसलमानों की तरह मेवों को भी 'तलाक-तलाक-तलाक' कहकर अपनी बीवियों को ठिकाने लगाने की लत लगती जा रही है। आज से बीस साल पहले मेवों में तलाक नाममात्र को होते थे। हिन्दुओं की तरह मेवों में भी शादी को जन्म-जन्मान्तर का रिश्ता मानकर चलने की सांस्कारिकता जीवित थी। अब स्थितियों में बदलाव आया है। 'बाबल तेरा देस में' में 'तलाक-तलाक-तलाक' से उत्पीड़ित कई स्त्रियों के क़िस्से मौजूद हैं। इनमें शगुफ़्ता है, समीना है, मुमताज़ है। ज़ैनब इसकी दहलीज़ तक पहुँचते-पहुँचते इससे बच जाती है। लेकिन इसकी जो बहुत भारी क़ीमत उसे चुकानी पड़ती है, वह वही स्त्री का व्यक्तित्व और अस्तित्व-हीनता है, जिसे 'बहिश्ती ज़ेवर' जैसी किताबों के आदेशों, निर्देशों तथा उपदेशों को अमल में लाते हुए एक मुसलमान स्त्री अर्जित करती है। ज़ैनब का पति जो पहले उससे खफ़ा-खफ़ा रहता था, चाहे जब उसे मायके छोड़ जाता था, घर से भाग खड़ा होता था अब उससे जो बेइन्तहा खुश है तो इसकी वजह सिर्फ़ यह है कि ज़ैनब ने अपने-आपको 'बहिश्ती ज़ेवर' के अनुसार अपने ख़ाविन्द की समानुकूलता में ढाल लिया है। (द्रष्टव्य : पृ. 476)।

धर्म की आड़ में स्त्री-विरोधी प्रपंच : एक तीखा विमर्श

मोरवाल ने इस उपन्यास में 'बहिश्ती ज़ेवर', 'दस्तरुल मुत्तक़ी फ़ी अहकामिन्न-बिट्रियूय' जैसी स्त्री-सम्बन्धी निर्देशों, आदेशों एवं उपदेशों की इस्लामिक किताबों के मार्फ़त धर्म की आड़ में स्त्री के ख़िलाफ़ रचे गए प्रपंचों पर एक तीखा विमर्श संरचित किया है। इस विमर्श में ऋग्वेद एवं पुराणों को भी बाक़ायदा लिया गया है। निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रायः हर धर्म/सम्प्रदाय में स्त्री को लेकर लगभग एक-जैसा दिग्दर्शन मौजूद है। इन धर्म-ग्रन्थों की स्त्री-अस्तित्व/व्यक्तित्व-विरोधी नीति-निर्धारण-पद्धति में पुरुषवर्चस्वता की संकल्पना अन्तर्निहित है; कहीं संकेतों में तो कहीं-कहीं स्पष्टतः शब्दार्थ में। कुल मिलाकर तस्वीर यह उभरती है कि इन धर्म-ग्रन्थों ने स्त्रियों के ख़िलाफ़ पुरुषों/पतियों के हाथ में अकूत सत्ता और शक्तियाँ दे रखी हैं और उन्हें इनकी दया पर निर्भर किया गया है। इस स्थिति में विरोध या विद्रोह करके यदि किसी औरत को अपनी ज़िन्दगी ख़्वार करनी है तो वह मज़े से करे। इसके लिए कोई और नहीं, वह स्वयं जिम्मेदार होगी। अतः ज़्यादातर औरतें पति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समानुकूलता के साँचे में ढल जाने में ही अपना कल्याण समझती हैं। इस उपन्यास में शकीला को हवेली की सारी औरतों में 'मर्द' की आत्मा प्रवेश कर गई-सी जो दिखाई देती है और हर औरत के रूप में मर्द ही मुखौटा लगाए नज़र आते हैं तो यह उन्हीं धर्म-ग्रन्थों के अमल का नतीजा है जो एक चक्रव्यूह की तरह इस समाज-व्यवस्था में अन्तर्व्याप्त हैं : "थोड़ी देर के लिए लगा जैसे हवेली में मुखौटे लगाए उसके सामने सिर्फ मर्द ही मर्द बैठे हैं।" (पृ. 457)।

इस उपन्यास में लेखक ने 'मेव कस्टमरी लॉ' के इस प्रावधान पर भी तीखे सवाल उठाए हैं कि औरतों का पुश्तैनी ज़मीन-जायदाद में किसी तरह का कोई हक़ नहीं है। न पिता की सम्पत्ति में, न पति की सम्पत्ति में। पुश्तैनी जायदाद में केवल पुरुषों का हक़ है। स्त्री को अपने पति से यदि कोई पुत्र है तो उसका तो हक़ बनता है; यदि पुत्री है तो उसका कोई हक़ नहीं बनता। दीन मुहम्मद की मृत्यु के बाद शकीला जब पुश्तैनी जायदाद में अपना हक़ माँगती है तो जैसे पूरी हवेली की निगाह में वह खलनायिका-सी बन जाती है। (द्रष्टव्य : पृ. 456)। इस पूरे प्रकरण में लेखक का हस्तक्षेप सिर्फ़ यह है कि उसने अपने अनेक पात्रों को शरीयत एवं मेव कस्टमरी लॉ के इन प्रावधानों से एकदम असहमत चित्रित किया है। इनमें कुछ पुरुष-पात्र (जैसे नसीब खाँ) भी हैं तो कुछ स्त्री-पात्र (जैसे दादी जैतूनी, शकीला, मुमताज़) भी शामिल हैं।

पराई अमानत अर्थात् छोरा-सो हो जातो !

तत्ववाद के बढ़ते दबदबे के चलते मेवात में स्त्री-शिक्षा का हतोत्साह बढ़ा है। इस हतोत्साह के मूल में भी हमारी पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था है। लड़कियों पर उनके अपने घरवालों का, निकट सम्बन्धियों का ही दबाव रहता है कि वे आगे न पढ़ें। यहाँ तक कि प्रतिभासम्पन्न और होनहार लड़कियों पर भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। 'बाबल तेरा देस में' में इस हतोत्साह के कुछ उदाहरण तो ऐसे हैं जिन्हें देखकर भारी कोफ़्त होती है। ये सीधे-सीधे पुरुष-अहम् की अमानवीयता के उदाहरण भी हैं। यह स्थिति मेवों में भी पाई जाती है और हिन्दुओं में भी। उपन्यास में जिस 'शकीला की फौज' का चित्रण है, जिसमें कि सभी लड़कियाँ हैं, में हिन्दू लड़कियाँ भी हैं और मेव लड़कियाँ भी, इन सब लड़कियों का भविष्य अधर व अँधेरे में है। इनमें मैना बहुत होशियार थी। इस बार वह दसवीं का इम्तिहान दे रही थी। जिस लड़के से उसका विवाह तय हुआ है वह दसवीं फेल है। कई बार परीक्षा देने के बाद भी वह दसवाँ नहीं पास कर पाता। इस डर से कि मैना यदि दसवीं पास कर गई तो उसके पर न निकल आएँ, उसका होनेवाला ससुर उसे इम्तिहान देने से रुकवाना चाहता है। उसकी पढ़ाई बन्द करवाकर वह जल्दी-से-जल्दी उसका गौना करवाकर ले जाना चाहता है। मैना दसवीं की परीक्षा तो देती है और पास भी हो जाती है, लेकिन इस घटनाक्रम का ऐसा दबाव उसके मन पर पड़ा कि परिणाम आशानुरूप न रहा। दरअसल वह एक 'लक्ष्यहीनता' की मनःस्थिति में आ गई थी। (पृ. 300)। गौने के बाद उसका नालायक़ पति अपनी कुंठा के चलते उससे हिंसा के साथ पेश आने लगता है। हतोत्साह का दूसरा उदाहरण मुमताज़ है। वह प्रथम श्रेणी में पास होती है। उसकी इस उपलब्धि पर हवेली के मर्द खुश नहीं होते जबकि उसका भाई मुबारक अली कई बार के प्रयास के बाद भी इस बार केवल पास होता है तो हवेली में खुशी की लहर दौड़ जाती है। मुमताज़ के बाद फ़ौजिया की सफलता से भी कोई खुशी मर्दों को नहीं होती। उल्टे उन्हें एक डर-सा लगने लगता है कि कहीं ऐसा न हो कि यह भी मुमताज़ की तरह निकल आए ! हाजी चाँदमल एक तरह से उपन्यास में पुरुष-प्रधानता का नेक्सस हैं। सम्भवतः इसका कारण यह है कि यहाँ यह धारणा बहुत पुख़्ता है कि "आखिर है तो पराई अमानत। खानदान का नाम तो इन लड़कों से ही होना है।" (पृ. 302)। और, सम्भवतः यही कारण है कि यहाँ पुत्री के जन्म पर कोई खुशी किसी को नहीं होती। स्त्रियों को भी नहीं। शकीला जब अरसे बाद पहली बार माँ बनती है और एक लड़की को जन्म देती है तो दादी जैतूनी तक यह कहती देखी जाती हैं कि—"बस, एक कमी रहगी असगरी के या छोरी की जगह छोरा-सो हो जातो।" (पृ. 301)। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विस्मृत कवियों की भूमिका और भारतेन्दु का काव्य-समय

भवदेव पाण्डेय

प्रसंगवश कालिदास का एक कथन याद आता है, 'प्रांशुलभ्ये फले लोभात् उद्बाहुः इव वामनः।' आजकल कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल और मुक्तिबोध आदि के अर्थ-शोधार्थियों पर उद्बाहुता का नशा उत्तर-आधुनिक शैली में चढ़ रहा है, परन्तु 'परिमलेन्दु' ने अपने को इस खतरे से सुरक्षित रखते हुए इतिहास के अनुवेश का पूरा-पूरा ध्यान दिया है। यही कारण है कि 'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य' जैसे ग्रन्थों को शोध से अधिक आलोचना की दृष्टि से पढ़ना चाहिए।

हालाँकि 'परिमलेन्दु' ने अपने लम्बे प्रबन्ध में केवल बिहार तक ही अपने को सीमित कर दिया है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनका ग्रन्थ केवल बिहार के रहनेवालों के लिए ही पठनीय है। इस ग्रन्थ द्वारा हिन्दी साहित्य के विकास में बिहार के रचनाकारों का योगदान समझने में काफी सहायता मिल सकती है। इस ग्रन्थ में जिन कवियों की अज्ञात कविताओं के पाठ और विश्लेषण दिए गए हैं, वे केवल बिहार की ही नहीं, पूरे हिन्दी-क्षेत्र की उपलब्धि हैं।

यह अज्ञात नहीं है कि साहित्य के क्षेत्र में शोध-कार्य को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए मुख्यतः तीन उपादानों के साथ कई-कई भौतिक संसाधनों की आवश्यकता होती है। मानस-उपादानों में वृत्ति, दृष्टि और श्रम। वृत्ति के अन्तर्गत शब्द और अर्थ का सम्यक् अभिधान करना जरूरी है। परिमलेन्दु के आलोच्य ग्रन्थ में वृत्ति का अभाव भले हो, परन्तु उनमें प्रवृत्ति की व्याकुलता बहुत अधिक है जिसके तहत कहीं-कहीं बिहार हिन्दी-क्षेत्र के लिए किए गए प्रगमन और प्रवचन अर्धसत्य तक ही सिद्ध हो सके हैं। लेकिन शोध-कार्य में पूर्ण सत्य की प्राप्ति की बात बेमानी है। इसी परिप्रेक्ष्य में 'परिमलेन्दु' ने जो कुछ किया है, वह सराहनीय है।

रामनिरंजन परिमलेन्दु पुरानी पीढ़ी के लेखक हैं, इसलिए साहित्यिक शोध-कार्य में अपेक्षित श्रम से कतराने की चालाकी उनमें नहीं है। एक पुराना सुभाषित है, 'जानति हि पुनः सम्यक् कविः एव कवेः श्रमम्।' इस सुभाषित में 'सम्यक्' शब्द बहुत ही अर्थगर्भित है। सम्यक् शब्द अन्तरावलोकन का बोध कराता है। एक क्षेत्रीय कवि होने के नाते परिमलेन्दु ने अपने हिसाब से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र काल के भूले-बिसरे क्षेत्रीय कवियों का क्षेत्रीयता के आधार पर अन्तरावलोकन किया है। ऐसे ही शोध-कार्यों द्वारा जनपदीय काव्य और काव्य की सौन्दर्य-चेतना को जातीय समानान्तरता प्राप्त होती है। मिसाल के तौर पर परिमलेन्दु ने बिहार के एक मुसलमान रामभक्त कवि बुलाकी मियाँ अधम (सन् 1851-1911) के काव्य ग्रन्थ 'श्री रामविश्राम लावन्यावली' (खड्ग विलास प्रेस) की चर्चा की

प्रेमघन मार्ग, मिर्जापुर-231001 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उसके बाद मिसरे का उल्लेख किया है—''कैसे हैं वे जो राम नाम नहिं लेते, कंचन तजिके चित कायर पर देत।'' (पृ. 7)

देखा जा सकता है कि एक बिहारी मुसलमान रामभक्त कवि की भक्तिभावना में आत्मीयता का सौन्दर्य है। बुलाकी मियाँ 'अधम' ने राम के नाम पर 'काचरवाद' (कीचड़वाद) का प्रचार करनेवालों को जमकर लताड़ा है। उन्होंने 'राम' का सच्चा निवास भक्त के हृदय और कंठ को माना है। जो लोग 'राम' को मन्दिर में कैद करने की वकालत करते हैं, वे राम के भक्त नहीं हो सकते। 'अधम' जी ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'काचरवादियों' से सावधान रहने का आह्वान किया था।

भारतेन्दु काल का हिन्दी-साहित्य का इतिहास पढ़नेवाले साहित्य प्रेमी बुलाकी मियाँ 'अधम' से शायद ही परिचित हों, परन्तु वे परिमलेन्दु का ग्रन्थ 'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य' पढ़कर इतना अवश्य जान सकते हैं कि आज जब 'राम मन्दिर' के नाम पर 'काचरवाद' का घिनौना प्रचार किया जा रहा हो तब बुलाकी मियाँ 'अधम' कितने अधिक प्रासंगिक कवि हो गए हैं। परन्तु बुलाकी मियाँ की समकालीन प्रासंगिकता का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को उन कवियों के बारे में जानकारी नहीं रही होगी जिनका सारणीयन परिमलेन्दु ने 'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य' में किया है। सन् 1900 से लेकर सन् 1911 तक नागरी प्रचारिणी सभा ने सैकड़ों ज्ञात-अज्ञात कवियों और उनके ही काव्य ग्रन्थों की खोज रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी थी। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के पाठकों से स्पष्ट निवेदन किया था कि उनके 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखने का उद्देश्य, सारणीयन, कवि-कीर्तन अथवा संग्रहीकरण नहीं था। उन्होंने समय को गति देनेवाले रचनाकारों और उनकी कृतियों को ही विशेष महत्व दिया था। जो रचनाकार अपने समय में ही अपने सृजन को लोक-संवाद अथवा लोक-विवाद का विषय बनाने में समर्थ नहीं हो पाता उसे और उसके 'पात्रपत्रम्' को इतिहास स्वीकार नहीं करता। इसलिए परिमलेन्दु द्वारा यह लिखा जाना, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास अपूर्ण है, अप्रामाणिक है, एवं पूर्णतया विश्वसनीय नहीं है'—कुछ ज्यादा तल्ख हो गया है। फिर भी यह कहना असंगत न होगा कि रामनिरंजन परिमलेन्दु का साहस निराधार नहीं है।

परिमलेन्दु के इस ग्रन्थ ने नया इतिहास चाहे न भी बनाया हो लेकिन यह साहित्य के नए इतिहास-लेखन का स्रोत अवश्य बनेगा। खासतौर से उन्होंने रामकथा की प्रबन्ध धारा की समृद्ध जानकारियाँ दी हैं। सभी प्रामाणिक। सभी में अभिनव बोध धरोहर। सन्दर्भ ग्रन्थों और पत्रिकाओं की लम्बी सूची। यह सब देखकर लगता है कि परिमलेन्दु एक बड़े मनस्वी लेखक हैं। उनका ध्यान आज के समय पर नहीं बल्कि बीते कल के समय पर है। उनके लिए आज का समय असहनीय है, बीते कल का समय सराहनीय है। शोध-कार्य में बीते कल का सही-सही शोध करना काफी दुष्कर होता है।

'परिमलेन्दु' की साहित्यिक चिन्ता समकालीन परिवेश में भी विचारणीय है। अब तक हिन्दी साहित्य के लिखे इतिहास-ग्रन्थों में बिहार के रचनाकारों को अपेक्षित स्थान नहीं दिया गया है। इसलिए उनके शोध-कार्य में बिहार के भूले-बिसरे कवियों की संख्या का अधिक हो जाना संगत है। इसी संगति के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, 'बिहार के सिद्ध और सिद्धोत्तरकालीन हिन्दी साहित्य के प्रति वस्तुतः इतिहासकार और आलोचक अनजान ही रहे। सातवीं से तेरहवीं शताब्दी तक व्याप्त सिद्ध काल पर पर्याप्त अनुसन्धान की आवश्यकता है। 'चौदहवीं से उन्नीसवीं शती तक बिहार के छह वर्षों के सिद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास गहन अंधकार में विलुप्त-प्राय ही है।' (प्रस्तावना, पृ. 7) 'परिमलेन्दु' ने 'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य' नामक ग्रन्थ लिखकर काफी हद तक इस चिन्ता से मुक्ति पा ली है।

रामनिरंजन 'परिमलेन्दु' का शोध-श्रम केवल इसलिए प्रशंसनीय नहीं है कि उन्होंने सातवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक के केवल बिहारी कवियों के ही इतिहास का नव-लेखन किया है बल्कि बिहार की क्षेत्रीयता से हटकर उन्होंने हिन्दी क्षेत्रों के कुछ अन्य कवियों का भी वर्णन किया है। हालाँकि 'विविध काव्य' (चतुर्थ अध्याय) के सन्दर्भ में बाबा सुमेर सिंह (पृ. 254), उपाध्याय पंडित बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन' (पृ. 256) और राधाचरण गोस्वामी (पृ. 258) आदि बिहार के भूले-बिसरे कवियों की श्रेणी में नहीं आते, परन्तु लेखकीय मर्यादा के तहत परिमलेन्दु ने बिहार को गौरव-बोध से सम्पन्न करने के लिए इन ख्यातिलब्ध कवियों के भी काव्य-वैभव का चित्रण किया है। यह उनके सृजन-चातुर्य का अच्छा प्रयास है।

परिमलेन्दु ने अम्बिकादत्त व्यास को बिहार के रचनाकार के रूप में प्रस्तुत करते हुए उनकी रचनात्मक प्रतिभा और उनकी कृतियों की सूची बड़े विस्तार के साथ दी है। परिमलेन्दु द्वारा व्यास जी की कृतियों का जो सम्पूर्ण परिचय दिया गया है वह शोध करनेवालों के लिए बड़े महत्त्व का स्रोत है। उन्होंने ग्रन्थों के नाम, लेखन-काल, मुद्रण वर्ष, मुद्रण-संस्थान और भाषायी परिचय देकर अम्बिकादत्त व्यास के सर्जनात्मक अध्ययन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए अभिनव सामग्री प्रस्तुत की है। यह कार्य लेखक की दृष्टि और शोध-वृत्ति दोनों का परिचायक है, परन्तु यहाँ एक तथ्य का उल्लेख किया जाना जरूरी था कि पंडित अम्बिकादत्त व्यास बिहार के रहनेवाले नहीं थे। बिहार उनके उत्तर युवा-काल की कर्मभूमि था। संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान उनके पिता पंडित दुर्गादत्त व्यास दशाश्वमेघ घाट के समीप गिरि त्रिपुरा भैरवी मोहाल के रहनेवाले थे, भारतेन्दु के संस्कृत-शिक्षक और महाराजा काशी नरेश की पंडित-सभा के प्रमुख सदस्य थे। इन्हीं के साथ रहकर अम्बिकादत्त व्यास ने संस्कृत वाङ्मय का व्यापक अध्ययन किया, कविताएँ रचीं और समस्या-पूर्ति-गोष्ठियों में भाग लिया। भारतेन्दु की सलाह से ही 'वैष्णव पत्रिका' का नाम परिवर्तित कर 'पीयूष प्रवाह' की पदवी भारतेन्दु ने ही दी थी। इनके मामा कवि मन्नालाल भी बनारस के ही रहनेवाले थे। भारतेन्दु ने ही इन्हें खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर (पटना) के मालिक रामदीन सिंह से परिचित कराया था। इसलिए कहा जा सकता है कि ये अम्बिकादत्त व्यास बनारस के मूल थे जिन्होंने बिहार में अपनी रचनात्मक प्रतिभा की छाया फैलाई थी। अगर गौर किया जाए तो बनारस की यह परम्परा आज भी कायम है। प्रेमचन्द से लेकर नामवर सिंह इसी परम्परा की कड़ियाँ हैं।

रामनिरंजन परिमलेन्दु ने अम्बिकादत्त व्यास की तरह ही कवि चूड़ामणि गोस्वामी गोवर्द्धन लाल 'प्रेमकवि' (साँवलिया जी का मन्दिर लल्लू बाबू का कूचा, पटना-9) का भी उल्लेख किया है—(पृ. 58 से 68 तक)। इन्होंने मुख्यतः पंडित लक्ष्मी प्रसाद चौधरी द्वारा लिखित पुस्तक 'प्रेमप्रभा' को स्रोत-सामग्री के रूप में अपनाया है। 'प्रेमप्रभा' का प्रकाशन गंगा विष्णु श्री कृष्णदास 'लक्ष्मी वेंकटेश्वर' स्टीम प्रेस, कल्याण मुंबई से सन् 1929 में हुआ था। उक्त चौधरी जी 'प्रेमप्रभा' के प्रकाशक थे और ग्राम भड़ोखर, पो. पुरैनी, जिला भागलपुर के निवासी थे परन्तु स्वयं प्रेमकवि मूलतः श्री राधारमण जी का मन्दिर मोहल्ला त्रिमोहानी, मिरजापुर (युक्त प्रान्त) के रहनेवाले थे। श्री गोवर्द्धन जी महाराज 'प्रेमकवि' राधाबल्लभी सम्प्रदाय वृन्दावन के श्री हितहरिवंश चन्द्र गोस्वामी की शिष्य-परम्परा से सम्बद्ध थे। हित हरिवंश गोस्वामी परम्परा पाँचवीं पीढ़ी तक आकर दो शाखाओं—गोस्वामी किशोरीलाल जी और गोस्वामी गिरिधरलाल जी में बँट गई। गोवर्द्धनलाल कवि चूड़ामणि ने गोस्वामी गिरिधरलाल की परम्परा में जन्म लिया। इसी वंश-परम्परा का जो तीर्थ केन्द्र मिरजापुर में स्थापित हुआ उसी में बहुत दिनों तक रहकर गोस्वामी गोवर्द्धनलाल ने अपनी रचनाएँ कीं। मिरजापुर के तत्कालीन सेशन जज मुंशी अब्दुल हलीम ने इन्हें मुसलमान बादशाहों और ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा प्रदत्त अधिकार पत्रों की सनद दी थी। महाराजा रींवा वेंकटरमण सिंह द्वारा 23 जून 1911 को लिखे एक पत्र के द्वारा भी ज्ञात होता है कि गोस्वामी गोवर्द्धनलाल मिर्जापुर में थे। रींवा नरेश ने लिखा—''गत वैसाख मास के अधिवेशन में श्री गोस्वामी गोवर्द्धनलाल जी प्रेमकवि और मन्त्री श्री वैष्णव धर्म सभा मिर्जापुर ने उक्त सभा को महासभा की साखारूप मानने का प्रस्ताव किया था। इत्यादि। तत्कालीन डिस्ट्रिक मजिस्ट्रेट ने जार्ज पंचम द्वारा भेजा गया एक धन्यवाद प्रस्ताव अग्रसारित करते हुए लिखा था—''Dated Mirzapur the 4 January 1911. The above is forwarded to Goswami Shri Goverdhan Lal Secretary Shri Vaishnava Dharmsabha of Mirzapur under Signed would thank the Sabha for their resolutions.''

रामनिरंजन 'परिमलेन्दु' ने गोवर्द्धनलाल गोस्वामी का पटना से जो सम्बन्ध दिखलाया है, वह अप्रामाणिक नहीं है क्योंकि इनके पिता गोस्वामी कीरतलाल महाराज को पटना की अंगरेजी सरकार द्वारा सनद सरदारी प्राप्त हुई थी जिसको 29 नवम्बर, 1858 में थाना चौक शिकारपुर (पटना) के दरोगा रामसख सिंह ने इत्तिलायन गुजारिश किया था। इसके भी पहले कवि गोवर्द्धनलाल का सम्बन्ध मिर्जापुर से था और ये पटना के नहीं मिर्जापुर के कवि जाने जाते रहे हैं।

परिमलेन्दु ने 'प्रेमप्रभा' के आधार पर गोस्वामी गोवर्द्धन लाल की कई-कई कविताओं के उद्धरण दिए हैं, जैसे—

छापा अरु मुद्रा तिलक शठ ने लिये लगाय
कथा मंच में बैठ कै बोले अति हर खाय।
फिर पंडित अवलोक कै मन में निश्चय कीन
छैल चिकनिया रसिक मन या तरुणी में लीन।

'प्रेमप्रभा' में गोवर्द्धनलाल गोस्वामी की 60 कृतियों के विवरण दिए गए हैं। इनमें से सभी पुस्तकों के प्रकाशक गोवर्द्धनलाल महाराज कवि चूड़ामणि स्वयं हैं। इनका मुद्रण मथुरा, वृन्दावन राधा प्रेस कलकत्ता (कोलकता), लहरी प्रेस, बनारस जैसे कई-कई स्थानों में हुआ था। केवल एक पुस्तक 'द्वादश महाकाव्य प्रश्नावली' की मुद्रण संस्था 'व्यास प्रेस भागलपुर' थी।

पूरे भारतवर्ष में गोस्वामी गोवर्द्धनलाल के हजारों शिष्य थे जिनमें मारवाड़ियों की संख्या अधिक थी। इनमें सेठ मंगलदास जमनादास मोदी, शाह रणछोर दास, साकलदास, वानसरवाला जैसे धनीमानी लोग थे। बिहार में मुंगेर, भागलपुर, पटना, मुजफ्फरपुर, दरभंगा और हाजीपुर आदि में अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेले-चेलनियाँ फैली थीं। पटना की मुसम्मात जानकी बीबी और मथुरा की महारानी सरस्वती कुँवर ने तो अपनी सारी चल-अचल सम्पत्ति गोवर्द्धनलाल जी को दान में दे दी थी। (*प्रेमप्रभा*, पृ. 99 से 110 तक)

रामनिरंजन परिमलेन्दु ने बड़े विस्तार के साथ गोस्वामी गोवर्द्धनलाल कवि चूड़ामणि का विवरण अपने लम्बे प्रबन्ध में दिया है। यह विवरण कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। लेकिन साहित्येतिहास लिखने की दृष्टि जितनी पैनी होती है उतनी ही कठोर भी। शायद इतिहास-दृष्टि की कठोरता के कारण ही रामचन्द्र शुक्ल ने कवि चूड़ामणि को अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में स्थान नहीं दिया था। परिमलेन्दु की इतिहास-दृष्टि प्रशंसनीय स्तर तक उदार है। शायद इसी के तहत उन्होंने लिखा है, " 'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य' शीर्षक ग्रन्थ वस्तुतः भारतेन्दुकालीन हिन्दी काव्य का इतिहास नहीं है। यह हिन्दी काव्य के इतिहास का पुनरावलोकन है; हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की दिशा में एक सत्प्रयास है। मैंने इस ग्रन्थ में हिन्दी साहित्य के इतिहास की कतिपय टूटी कड़ियों को जोड़ने के प्रयास किए हैं।" (प्रस्तावना)

देखा जा सकता है कि परिमलेन्दु अपने ग्रन्थ को इतिहास ग्रन्थ न मानकर इतिहास का पुनरावलोकन मानते हैं और साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन का प्रयास मानते हैं। यह प्रयास उनकी विद्वत्ता का प्रमाण है। इस प्रकार के 'प्रयास' अगर हर काल के सन्दर्भ में किए जाएँ तो निश्चित रूप से हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लिखने के लिए कुछ न कुछ सामग्री मिल सकती है लेकिन साहित्य का इतिहास लिखने के लिए सामग्री के निर्यातीकरण का औपदानिक प्रयास ही किया जाना चाहिए। यहाँ देशकाल की प्रामाणिक निरन्तरता, समाज-सापेक्ष श्रेष्ठता और आम आदमी की उपस्थिति बहुत जरूरी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के प्रारम्भ में ही जनता की चित्तवृत्ति के संचित प्रतिबिम्ब के प्रामाणिक लेखन को साहित्य का इतिहास माना था। उन्होंने समय के परिवर्तन के साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होते रहने की अनिवार्यता पर भी जोर दिया था। उन्होंने किसी इतिहास-लेखक के उसी प्रयास को सत्प्रयास माना था जो परम्परा और आधुनिकता में सामंजस्य बैठाने में समर्थ हो। जो लेखक लोक-रुचि के संचार और पोषण की गति और प्रक्रिया समझने की 'दृष्टि' से वंचित होगा, वह 'साहित्य का इतिहास' लिख ही नहीं सकता। साहित्य का इतिहास 'सम्प्रति भवित और भवितव्य' तीनों धरातलों पर एक साथ घटित होता है। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् के बीच साहित्य के इतिहास की रेखा इतनी वक्र होती है कि उसमें सूक्ष्मवत विद्यमान ऋजुता की पकड़ सम्भव नहीं हो पाती। इन्हीं कठिनाइयों को समझते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा था, 'इतिहास लेखन के कई जोखिम हैं।' (*हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास* : आमुख, पृ. 12) पाठकों को यह समझने में बहुत देर नहीं लगती कि चतुर्वेदी 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' (1986) लिखते हुए इस जोखिम के शिकार स्वयं हुए थे। (आमुख : पृ. 9) उन्होंने ऐतिहासिक विवेक का बेहद सरलीकरण कर दिया है। वास्तव में साहित्य के इतिहास की गति-वक्रता में ऋजुता की पहचान करने की अक्षमता को ही 'जोखिम' कहते हैं। रामनिरंजन परिमलेन्दु ने 'साहित्य का इतिहास' लिखने के जोखिमों को समझते हुए ही अपने ग्रन्थ का नाम 'भारतेन्दु काल की कविता का इतिहास' नहीं रखा। नाम रखा 'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य।' इस नामकरण में लिखने की काफी छूट मिल गई है। उन्होंने यह दावा नहीं किया है कि उनके ग्रन्थ में बिहार के सभी भूले-बिसरे कवि आ गए हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग सबसे अलग है। कविता लिखने की सबसे बड़ी बाढ़ इसी काल में आई। इस युग की दूसरी प्रतिरूपता काव्य-रचना में अन्तर्बाह्य का द्वन्द्व था। रचनाकारों के अन्दर कुछ और बाहर कुछ के द्वन्द्व की दुर्घटना इस काल में सबसे अधिक घटी। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, केशवराम भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र आदि सैकड़ों लेखक अन्दर से राष्ट्रवादी और बाहर से ब्रिटिश सत्तावादी। सभी कवि काम-चलाऊ देशभक्ति की अभिव्यक्ति में लगे थे। जो कवि दोनों से बचकर चल रहे थे, वे श्रृंगार, भक्ति और नीति कविताओं में डुबकी लगा रहे थे। इसलिए भारतेन्दु काल के कवि और कविता पर शोध-कार्य करना बेहद जटिल और जोखिम भरा कदम है। परिमलेन्दु ने तमाम जोखिमों का मुकाबला करते हुए भारतेन्दु-काल के कवि और उनके काव्य के उद्धार का साहसिक कार्य किया है। वे इस चुनौती का कहाँ तक सामना कर सके हैं, इसका निर्णय इस ग्रन्थ के पाठक ही कर सकते हैं।

इस ग्रन्थ का चौथा अध्याय है, 'राजभक्ति काव्य।' जहाँ तक मैं समझता हूँ कि आज 21वीं सदी में जब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाईटेकवाद, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद द्वारा वोट बटोरने का महासमर, साम्प्रदायिक आग में घी डालने का यज्ञ और वामपन्थी विचारों का दमन कर दक्षिणपन्थी सामन्तवाद स्थापित करने की कोशिशें की जा रही हों वहाँ विक्टोरिया प्रशस्ति के गड़े मुर्दे उखाड़ने की कोशिश बेमानी है। क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जरूरत है कि आज का युवा पाठक रोहतास के लाला मार्कण्डेय लाल को पढ़कर शर्मसार होने के लिए विवश हो—जिन्होंने लिखा—

जाकी प्रजा सद चैन करे अरु जाकी प्रजा भई पंडित ज्ञानी।
जाकी प्रजा को न त्रास कछू निरभै ह्वै कहौं सब सो प्रन ठानी॥
ताते तुम्हैं यो असीसत हौं चिरंजीव सुनैं प्रभु जो मम बानी।
पुत्र पतोहुन संग लिये जग जीवों सदा विक्टोरिया रानी ॥

(पृ. 252)

रामनिरंजन परिमलेन्दु ने चतुर्थ अध्याय (राजभक्ति) में कुल 96 कविताओं का उल्लेख किया है जिनमें कुछ राष्ट्रीय कविताओं का भी संयोजन है। राष्ट्रीय कविताओं के रचनाकारों में कुछ ऐसे लोग अवश्य हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है, मिसाल के तौर पर दाऊद नगर औरंगाबाद के कवि जवाहिरलाल जो उम्र में भारतेन्दु से केवल एक वर्ष छोटे थे। परिमलेन्दु ने उन्हें 'बिहार के कवियों में सामाजिक जागरण का अग्रदूत' कहा है। वास्तव में एक सामाजिक-राष्ट्रीय अग्रदूत के रूप में इन्होंने वेश्याओं के उद्धार, समाज में नारियों की हीन दशा और गाँवों में किसानों की आर्थिक बदहाली के सन्दर्भ में अनेक कविताएँ लिखीं जो 'बिहार बन्धु', 'क्षत्रिय पत्रिका,' 'धर्म दिवाकर,' और 'हिन्दी प्रदीप' जैसी दर्जनों पत्रिकाओं में प्रकाशित होती थीं। जैसे 'दारागण की लखि दशा, दृग भरि आवत नीर। जाते भारत हीन इमि जिम रमणी बिनु चीर।' (क्षत्रिय पत्रिका : चैत-बैशाख शुक्ल 10 संवत् 1940, पृ. 210)।

इतिहास साक्षी है कि वाराणसी में 'डिबेटिंग क्लब' का ऐतिहासिक महत्त्व था जिसमें तत्युगीन सामाजिक समस्याओं पर विमर्श होते रहते थे। 'औरतों की तालीम और समाज में नारी-समस्या' जैसे विषयों पर उत्तेजक वाद-विवाद होते थे। मिस मेरी कारपेंटर स्त्री-शिक्षा को बढ़ावा देने में विशेष वातावरण बना रही थीं। 'कविवचन सुधा' और 'बिहार बन्धु' इसमें काफी सहयोग करते थे। औरंगाबाद के कवि जवाहिर लाल ने भी समाज में नारियों के उत्थान में अपने काव्य-विवेक का परिचय दिया था। परिमलेन्दु ने उनकी बहुमुखी रचनाओं का परिचय दिया है।

रामनिरंजन परिमलेन्दु के शोध-श्रम और शोध-संयम का परिचय तो इतने से ही हो जाता है कि उन्होंने 'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य' लिखने में 283 मुद्रित किताबों, 163 हस्तलिखित (पांडुलिपियों) पुस्तकों, 31 शोध-विवरणों तथा 127 पत्रिकाओं के अध्ययन के बाद ही अपना शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किया है।

'भारतेन्दु काल के भूले-बिसरे कवि और उनका काव्य' में 'समस्या-पूर्ति' और खड़ी बोली आन्दोलन और खड़ी बोली काव्य के भी यथासंभव विवरण दिए गए हैं। यथासंभव इस सन्दर्भ में कि भारतेन्दु युग में पंजाब से लेकर बंगाल तक सैकड़ों समस्या-पूर्ति केन्द्र थे। पटना, समस्तीपुर, डुमराँव, आरा, गया, सूर्यपुरा जैसे दर्जनों केन्द्र बिहार में ही थे। समस्या-पूर्ति के सन्दर्भ में भारतेन्दु काल एक ऐसा समय था जब प्रायः हर घर में समस्या-पूर्ति करनेवाला कोई एक कवि पैदा हो जाता था। बंगला भाषा में भी समस्या-पूर्तियाँ होती थीं। इन समस्या-पूर्तिकारों की कविताओं में एक से एक चमत्कार और अविश्वसनीय उड़ान हुआ करते थे। यही कारण था कि बंकिमचन्द चट्टोपाध्याय ने समस्या-पूर्तिकारों पर तीखा व्यंग्य करते हुए लिखा, ''मैंने और भी एक दुकान देखी उसमें असंख्य बालक और औरतें बेच-खरीद रहे थे। भीड़ के मारे भीतर नहीं घुस सका, बाहर से ही पूछा, 'यह काहे की दुकान है ?' बालकों ने कहा, 'हिन्दी साहित्य की।' मैं—बेचता कौन है ? उत्तर—हम ही बेचते हैं। दो-एक बड़े व्यापारी भी हैं। उनके सिवा कुछ कथरी कवि भी हैं। उनका परिचय प्राप्त करना हो तो समस्या-पूर्ति के मासिक पत्र देखो।'' (*भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : नए परिदृश्य* : अनामिका प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1997, पृ. 84) रूपनारायण पांडेय ने 'चौबे का चिट्ठा' (बांग्ला से अनूदित) में समस्यापूर्तिकारों की जादूगरी का विस्तृत विवरण दिया है। लेकिन समस्यापूर्ति की सभी कविताएँ केवल कल्पना की उड़ानें ही नहीं थीं। इनमें लगभग तीस प्रतिशत कविताएँ अवश्य ऐसी हैं जिनकी समसामयिक प्रासंगिकता तो थी ही, साथ ही आज के हाईटेक युग में भी वे समाज की यथार्थवादी तलाश में सहायक हो सकती हैं। अगर आज कोई प्रतिष्ठान समस्या-पूर्ति की उन कविताओं का संकलन प्रकाशित करे जो समकालीन पाठ-प्रक्रिया की ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय उद्धरणीयता में कुछ महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सके तो यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकता है। 'साहित्य अकादमी' जैसी संस्थाओं को इसके लिए पहल करनी चाहिए। समस्या-पूर्ति गोष्ठियों को नवचेतना का आन्दोलन बनाने में सैकड़ों समस्या-पूर्ति 'कवि-समाज' और उत्तर-भारत के अनेक फुटकल कवि साहसिक भूमिका निभा रहे थे। आज 21वीं सदी में उनकी राष्ट्रीय आवाजों का पुनः पाठ किया जाना जरूरी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज की हिन्दी कविता तमाम विपर्ययों के बावजूद...

अनिल त्रिपाठी

समकालीन हिन्दी कविता के समक्ष उपस्थित आसन्न संकट और चुनौतियों की चर्चा पिछले कुछ वर्षों से निरन्तर गम्भीर बहस का विषय बनी हुई है। उत्तरआधुनिक 'साइबर स्पेसिक' और 'फ्यूचरशाक' की सर्वथा नई विषम परिस्थिति में साहित्य, और उसमें भी कविता के भविष्य की चिन्ता किसी भी साहित्यिक के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय तो है ही। परिस्थितियों के आमूल परिवर्तित सन्दर्भ में हमारी आज की कविता आखिर कैसे अपने को बचाए, यह एक दीगर सवाल है। पूँजीवाद की आक्रामक एवं बर्बर जटिल व्यवस्था वैश्वीकरण आखिर जिस तरह से हमारे घर-परिवार, पास-पुरवे और अब तो गुसलखाने और नितान्त निजी क्षणों में दाखिल हो रही है वह आज के मनुष्य के समक्ष गम्भीरतम चुनौती है। पूँजी एवं तकनीक का ऐसा भीषण गठजोड़ जो पहले नहीं था अब जिस तरह सारे तामझाम के साथ अपनी पूरी संहारक शक्ति के साथ 'युद्धं-देहि' की मुद्रा में भुजा उठाए खड़ा है उसका सामना आज की रचनाशीलता कैसे करे? यह उसके लिए जीवन-मरण का सवाल है। दुष्चक्र में स्रष्टा की अवस्थिति क्या अनिवार्यतः उस नियति से जुड़ी है जिसमें यह मान लिया जाए कि कविता या साहित्य क्रमशः हाशिए पर जाने के लिए ही अभिशप्त है? क्या इस संघर्ष की परिणति हार में ही होनी है या फिर इस नई परिस्थिति में वह अपना कोई बृहत्तर स्पेस निर्मित कर सकती है? और इस बृहत्तर स्पेस में प्रतिरोध की शक्ति अर्जित कर सकने की यदि कोई सम्भावना है, तो वे कौन-से आधार होंगे जिस पर टिके रहकर इन दारुण एवं विग्रह मुश्किलों का सामना किया जा सकता है। यह आज विचारणीय है। 'आलोचना' पत्रिका के जनवरी-मार्च 2003 के अंक 'कविता का भविष्य' एक में समकालीन कविता को लेकर कपिलदेव ने बहस के लिए एक मसौदा तैयार किया था, जिसका शीर्षक था 'समकालीन कविता सवालों के घेरे में', जिसमें आज की कविता पर उनकी राय है कि "आज की कविता का दृश्य यह है कि नई परिघटनाओं के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक असन्तुलन का जाना-पहचाना रूप जिन नई जटिलताओं के साथ बदले रूप में हमारे सामने है उस बदलाव पर पकड़ का वह कोई प्रमाण नहीं दे पा रही है। वहाँ यथार्थ के जटिल रूप से बदल जाने का शोर तो बहुत है। और कई बार इस बदलाव को भेद न पाने की घुटन का मार्मिक चित्र भी दीखता है। लेकिन कुल मिलाकर सामने का सच यही है कि गम्भीर ऐतिहासिक राजनीतिक विचलनों से भरे इस दौर में हमारी कविता लगातार गैरराजनीतिक, गैरऐतिहासिक होती गई है। असमर्थता को अलंकरण की तरह धारण किए हुए आज की कविता

हिन्दी विभाग, जे. एस. पी. जी. कालेज, सिकन्द्राबाद, बुलन्दशहर-203205 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस आत्मतोष में जी रही है कि जुस्तजू में होने का भ्रम अभी उसके पास बचा हुआ है।'' कपिलदेव की यह चिन्ता निर्मूल नहीं है। इसमें सच्चाई है कि संतोषलिप्तता के साथ सामना के नाम पर 'नैतिकता का आत्मगौरव' ढोते हुए कविता का एक बड़ा हिस्सा सामने है। आज की कविता पर कोई इसे बेहद निराशापूर्ण और हताश टिप्पणी कह सकता है। किसी को पढ़कर हँसना या रोना भी आ सकता है—जैसे कि विजय कुमार ने लिखा है ''समकालीन कविता पर बहस के लिए भेजे गए प्रस्तावना लेख को पढ़कर हँसना और रोना एक साथ आया। हँसी इस पर कि उन्होंने कितनी आसानी से सारी समकालीन कविता को खारिज कर दिया और रोना उनके इस आत्मविश्वास पर। दरअसल यहाँ सवाल न तो समकालीन कविता को खारिज करने का था और न ही आत्मविश्वास की अतिरेकता का प्रश्न। अगर कुछ था तो यही कि समकालीन कविता पर गम्भीर बहस होनी चाहिए। बहरहाल विजय कुमार को कपिलदेव द्वारा उठाए गए मुद्दे 'एक अधीरता, अतिवाद और सरलीकरण में रिड्यूस' हुए लगते हैं। उन्हें यह भी शिकायत है कि 'समकालीन कविता के पूरे फ्रेमवर्क को समझा' नहीं गया है। लेकिन दिलचस्प है कि विजय कुमार जिस आलेख 'समाचार समय में कविता' में कविता के समकालीन फ्रेमवर्क को समझने की बात करते हैं उस फ्रेम में समकालीन कविता के नाम पर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और विष्णु खरे की चर्चा है। समकालीनता का इतना समावेशी दायरा वे ही बना सकते हैं। प्रतिष्ठित कवियों के हवाले से बात करना आसान है उसमें सुविधा भी होती है। यहाँ कपिलदेव का मन्तव्य आज की समकालीन अपेक्षाकृत युवा कविता से है या फिर वह पीढ़ी जो हाल-फिलहाल के कविता परिदृश्य में प्रतिष्ठित हो चली है। बहरहाल संकट की इस भयावहता का उल्लेख राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल के लेखन में भी देखा जा सकता है। वीरेन डंगवाल ने तो साहित्य अकादमी सम्मान के अवसर पर अपने वक्तव्य में इस समस्या को बुनियादी चिन्ता के रूप में सामने रखा था। उन्हें लगता है कि 'केवल मानवतावादी नजरिए से आलोचनात्मक विवेक के बगैर होनेवाला काव्यात्मक प्रतिरोध एक सघन हताशा में विसर्जित हो सकता है। इसके आसार बराबर दिखाई भी देते हैं।'

संस्कृति सन्दर्भ के इस परिवर्तित परिवेश की क्षिप्रता के समानान्तर यह हो सकता है कि हमने हारी होड़ लगाई हो। लेकिन होड़ का यह माद्दा ही अपने वजूद में चिह्नित किया जानेवाला वह प्रस्थान बिन्दु है जो तमाम पंकिलताओं एवं विपर्ययों के बावजूद हमारा अभीष्ट है। क्योंकि जीवन की उपस्थिति के समस्त राग-विराग आनुभविक रूप में अनुभव ग्रहण करने की चेष्टा में ही प्रतिफलित होते हैं। प्रतिरोध की शक्ति चेतना के विनिर्माण के रास्ते में ये प्रयास कमतर महत्त्व के नहीं हैं। कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है। बात को आगे बढ़ाने के लिए इन सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में यहाँ हाल में प्रकाशित कुछ संग्रह विचारणीय हैं। ये संग्रह हैं अष्टभुजा शुक्ल का 'दुःस्वप्न के बाद', स्वप्निल श्रीवास्तव का 'चुप दूसरी पृथ्वी चाहिए', ए. अरविन्दाक्षन का 'राग लीलादास' आर. चेतनक्रांति का 'शोकनाच' और जितेन्द्र श्रीवास्तव का 'अनभै कथा।'

I

त्रिलोचन का एक बरवै है—

दुनिया जओ जओ किहेसि हमार पछेड़
मुदा नाइँ छाड़े हम आपन मेड़।

आज भी त्रिलोचन ने अपना मेड़ नहीं छोड़ा है। सभ्यता एवं संस्कृति के अतिरिक्त दबाव और पछेड़ के बावजूद। अष्टभुजा भी कुछ इसी मिट्टी के बने हैं। 'दुःस्वप्न के बाद' संग्रह की कविताएँ इस बात का साक्ष्य हैं कि इस सारे हो-हल्ले के बीच लोकराग के ताने-बाने में न्यस्त जीवन की संवेदनशीलता को अक्षुण्ण रखा जा सकता है। उनकी कविता की प्रकृति नागरगन्धी नहीं है, बल्कि गाँव-देहात, घर, खेत आदि की भावमय उपस्थिति उनकी कविता को समकालीन कविता में अपना अलग चेहरा प्रदान करती है। सिर्फ लोकराग किसी कवि को महत्त्वपूर्ण नहीं बना सकते, जब तक उसमें जीवन पर दबाव के और उस दबाव के बीच अपनी समाहारी प्रवृत्ति को सुरक्षित रखने और उसे काव्यात्मक प्रतिरोध की शक्ति के रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता न हो। अष्टभुजा में यह क्षमता है। उनकी खासियत है कि गाँव या लोक के प्रति उनका रुझान किसी रोमानी अवधारणा से आबद्ध नहीं है। वे इस भाव के साथ अपने परिवेश के प्रति मुखातिब नहीं हैं कि 'अहा ग्राम जीवन भी क्या है?' वे मूलतः उस वाह्य एवं परिस्थितिजन्य तनाव के साक्षी हैं जिसके चलते ग्रामीण संस्कृति की चूलों में दरार आ गई है। लोक एवं नागर संस्कृति की टकराहट के बीच क्या कुछ क्षरित हुआ है और क्या बचा है उनकी कविताएँ इसका एक लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। इतिहास का दुरुपयोग तक उनकी आँखों से ओझल नहीं है। संग्रह की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहली ही कविता 'इतिहास बोध' में उन्होंने इस बात को रेखांकित करने का प्रयास किया है कि कैसे-कैसे इतिहास की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति समकालीन जीवन में गहरा असर डालती है। यह कविता विडम्बना और व्यंग्य की सन्धि स्थल पर रचित है। कुछ पंक्तियाँ देखें–

इतिहास से/कुछ लोग
चिनगारियाँ उठाकर लाए
और बिखेर दिए जेठ की पछुआ में।

अष्टभुजा जीवन के कुछ ऐसे अनुभव को सहेजते नजर आते हैं जो आमतौर पर हमारे रचनात्मक धरातल से गायब हैं। ये छोटी-छोटी घटनाएँ जीवन के बढ़ते क्रम में अनुभव के बनने, पकने की प्रक्रिया का अभिन्न हिस्सा हैं। मसलन शब्द पाने के लिए खड़िया और स्याही का घोलना एवं ढरकाना, मिठास के लिए शरीफा और खजूर का भुसौले में पकसाना, पिल्ले और सुग्गों को खचोली के नीचे तोपना, गरम दूध की साढ़ी को सिकुड़े सफेद दुपट्टे की तरह छूना, सूत्रों का रटना आदि पूरे वैभव के साथ उनकी कविता में सहज ही दाखिल है। एक उदाहरण देखें–

अइउण अइउण करता रहा
लेकिन नहीं साध सका
कोई प्रयोग
गुरुजनों की दृष्टि में
लिखना चाहता था कविता
हो गई आत्मकथा।

यहाँ 'लिखना चाहता था कविता, हो गई आत्मकथा' में क्या व्यंजित है। व्यंजना का एक आपात आयाम यही है कि अपने अनुभव के दायरे से निकलकर किसी सार्वजनीन होने के इरादे को छोड़ 'लोकल' और स्वानुभव पर ही वे जोर देते हैं। दरअसल अनुभव के इस रूप में अष्टभुजा के यहाँ विपुल शब्द-भंडार है जिनके माध्यम से वे कह सकते हैं कि 'वक्तव्य में रहूँगा उद्गार की तरह'। देशज शब्द बहुतों के यहाँ प्रयुक्त होते हैं लेकिन अक्सर दाल में छौंक की तरह। उनसे शब्दों की ताकत और उन शब्दों की परम्परा एवं व्यवहार की अर्थगर्भित धड़कनें नहीं सुनी जा सकती हैं। अष्टभुजा इसके विपरीत इन शब्दों का प्रयोग उसकी पूरी व्यवहारधर्मी ऊर्जा के साथ करते हैं। करें भी क्यों नहीं आखिर अष्टभुजा का प्रथमतया उसी परिवेश से नजदीकी रिश्ता है। त्रिलोचन ने लिखा है कि 'भासा दहइ-दहइ सझइ कहनाइ/पावइ ऊ जेकर नगीच रहनाइ।' उसी कारण वे अपने कथ्य को इन देशज शब्दों के 'विट' एवं मुहावराई ताकत के साथ सीधा-सीधा कह पाते हैं। 'जो दिल से दिल को बाँटते हैं/राम जाने हरा हरा गेहूँ काटते हैं।' या 'और उनके बाप/उनकी माताओं को/सावाँ की तरह लतिया रहे थे' ऐसे ही प्रयोग हैं।

भाषा के विलक्षण प्रयोग के अतिरिक्त अन्तर्वस्तु के स्तर पर समकालीन समस्याओं से कविता मुखामुखम है। तिरसठ के इस रिश्ते की महत्त्वपूर्ण कविता है 'रोजाना के सवाल।' यह मूलतः बाजार की गिरफ्त से प्रतिकार की कविता है। मेढक-धर्मी चेतना कैसे यहाँ अपना अर्थ प्रकट एवं व्यंजित कर रही है–इसका उदाहरण देखें–

और अन्त में पंडितों ने
हमारे जैसे आदमी के लिए
हाँ हमारे जैसे आदमी के लिए
उन्हीं उन्हीं वस्तुओं को
तुलादान पर चढ़ा देने के मन्त्र उच्चारे
जबकि हम मेढक निकले।

'दुःस्वप्न के बाद' संग्रह में कई ऐसी कविताएँ हैं जो समाज की ऐंठन और पेचोखम को उसकी पूरी संश्लिष्टता के साथ सामने रखती हैं। इस दृष्टि से वे चन्द्रशेखरियाँ किशोरियाँ, बनारस, युगल किशोर, गोरखपुर तीन कविताएँ, पप्पू का प्रलाप, भारत घोड़े पर सवार है, और किसी साइकिल सवार का एक असन्तुलित बयान महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं। बदलते समय की व्यवस्था में समस्याओं के वास्तविकता की पहचान गम्भीर चुनौती है क्योंकि समस्याएँ बाजार एवं तकनीक की पुनर्रचित दुनिया में सफलता या उपलब्धि के सम्मोहक मुखौटे धरकर सामने हैं। अष्टभुजा से यह तथ्य अलक्षित नहीं हैं। उन्हें यह पता है जो इस चकाचौंध में शामिल नहीं हैं वे तटस्थ दृष्टि से इनका पर्यवेक्षण कर सकते हैं। उनकी ये काव्य पंक्तियाँ कि 'जो रोशनी में खड़े होते हैं वे/अँधेरे में खड़े लोगों को/तो देख भी नहीं सकते/लेकिन अँधेरे के लोग रोशनी में खड़े लोगों को/देखते रहते हैं साफ साफ।' एक अन्य कविता 'भीतर गहरे तक' कवि की उन्मेषी दृष्टि को सामने रखती है। यह कविता किसी भी सरलीकरण के बरक्स वस्तुनिष्ठता की पक्षधर है। साथ ही कविता के पाठक के लिए एक चेतावनी भी कि वे ऊपर ही ऊपर बिना रचनात्मक गहराई में उतरे कोई निर्णय न दें–पंक्तियाँ हैं–

ऊपर ऊपर
जिसने भी देखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरा ही दिखा
हर वक्त
समूल उखाड़ने पर ही
समझ सके लोग
कि भीतर गहरे तक
मुझमें मूली जैसी सफेदी थी
या गाजर जैसी लाली।

इस संग्रह की कविताओं का अभिविन्यास और उसकी समूची प्रकृति गैरराजनीतिक एवं गैरऐतिहासिक होने की नहीं है। प्रारम्भ में जो बातें उठाई गई हैं उस सन्दर्भ में इस संग्रह को यदि हम देखें तो हम पाते हैं कि ये कविताएँ अपनी परम्परा की गहरी जड़ों से शक्ति अर्जित करती हुई काव्यात्मक प्रतिरोध की चेतना को वाणी देती हैं। स्थानीयता की प्रकृति एवं उसकी संश्लिष्टता को समझे बिना सार्वजनीन नहीं हुआ जा सकता। स्थानीय चेतनाबोध कविता या साहित्य के समक्ष मौजूद चुनौती का सामना करने का एक कारगर औजार है जिसे अष्टभुजा की कवि-दृष्टि के अभिन्न हिस्से के रूप में देखा जा सकता है।

II

ग़ालिब ने बहुत पहले कहा था–

तुम शहर में हो, तो हमें क्या गम जब उठेंगे
ले आएँगे बाजार से जाकर दिल ओ जाँ और।

तब शहर सुविधा के रूप में ग़ालिब के सामने मौजूद था। बाजार में दिल मिलता भले ही हो लेकिन उसका जैविक बोध पूरी तरह बरकरार था। यद्यपि व्यापारिक प्रक्रिया में वह खरीद-फरोख्त का वस्तु बन चुका था। लेकिन इस जैविक बोध से सम्पन्न रिश्ते की ऊष्मा अभी बाकी थी। लेकिन स्थिति बदतर हुई और आज बाजार संस्कृति में दिल गायब है, देह उपलब्ध है। व्यावहारिक एवं चतुर विनिमयता ने रिश्तों का पण्यीकरण किया है। दिलो-जाँ का जैविक बोध अब परिवर्तित होकर महज वस्तु के रूप में उपस्थित है। स्वप्निल श्रीवास्तव का संग्रह 'मुझे दूसरी पृथ्वी चाहिए' बाजार के इस वर्चस्व में हलाकान होती संवेदनशीलता को सहेजने का उपक्रम करती है। वे इस त्रासद स्थिति की भयावहता को अपनी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। अनाज, सब्जी एवं मानव अंग एक ही तुला पर इस व्यवस्था में तुलने के लिए अभिशप्त है। सब कुछ बिकाऊ है यहाँ तक कि–

बच्चे भी बेचे जाते हैं
बाजार में
उन्हें ऊँट की पीठ पर बाँधकर
बेदम होने तक दौड़ाया जाता है
उनकी चीखों में आनन्द की
खोज करते हैं आततायी।

अरब देशों में उस प्रकार ऊँट दौड़ की प्रतियोगिता आज भी होती है जिसमें कई बच्चों की जान भी जाती है। आनन्द एवं सुख की प्राप्ति का यह नरपैशाचिक कुकृत्य जिस हद तक इस सभ्यता में उपस्थित है उससे मुक्ति का संघर्ष कब संगठित होकर ऐसी शक्तियों को परास्त करेगा, इसकी कोई साफ-साफ तस्वीर दिखाई नहीं देती है। अब तक जो संघर्ष दिखाई देते हैं उनके नतीजे भले ही सुखद एवं फलप्रद न हों लेकिन संघर्ष का हौसला बने रहना अत्यन्त जरूरी है। संघर्ष की यह प्रक्रिया साहित्य में 'विरोध की यथास्थितिवाद' को भले ही जन्म देती हो लेकिन हारने से यह बेहतर है कि संघर्ष के स्वर की यथास्थिति बनी रहे।

राजनीति एवं पूँजी की संयुक्त शक्ति की भयावहता के सम्मुख पूरी दुनिया में जिस तरह बर्बरता को प्रश्रय मिला है उससे सम्प्रभुता की बुनियाद खंडित हुई है। इस नवउपनिवेशवादी समय में आर्थिक फासीवाद का क्रूर हाथ मल्टीनेशनल के जरिए हमारे गले तक पहुँच चुका है। यह परिदृश्य स्वप्निल की कविताओं की मूल चिन्ता है। इसलिए वे कहते हैं कि 'हम अन्त तक नहीं जान पाते कि आखिर हमें किस बाजार में बिना बताए बेच दिया गया है।' स्वप्निल इनसे बचने का एक मात्र आधार आदमी के विचार को मानते हैं, जिन पर हमला सबसे पहले होता है। क्योंकि विचार पर विजय के साथ ही दुनिया को रौंदने का रास्ता निष्कंटक हो जाता है। स्वप्निल खतरे की इस घंटी को जानते हैं इसलिए वे सावधान करते हैं–

सबसे ज्यादा खतरे में तो आदमी के विचार हैं
यदि वे नहीं बचे तो कुछ भी नहीं
बचाया जा सकता।

बाजार के दबाव के अतिरिक्त इस संग्रह में जो दूसरा विषय कवि की रचनाशीलता का केन्द्रीय बिन्दु है वह है साम्प्रदायिक समस्या। ये कविताएँ भी उसी दौर की हैं जैसा कि संग्रह में उल्लेख किया गया है 1990 से 1999 के बीच। यह वही समय है जब एक तरफ भारत में आर्थिक सुधारीकरण के नाम पर वैश्विक व्यापारिक शक्तियों के लिए मुक्त बाजार उपलब्ध कराने की तैयारी हुई तो दूसरी तरफ साम्प्रदायिक धर्मोन्माद ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश को झकझोरकर रख दिया। और कालान्तर में सत्ता के शीर्ष तक ये शक्तियाँ पहुँच गईं। यह गौरतलब है कि मुक्त बाजार की अवधारणा के साथ ही साम्प्रदायिक शक्तियों का उभार हुआ। स्वप्निल इस पूरे परिदृश्य को अपनी रचना का विषय बनाते हैं। ईश्वर का जन्म स्थान, हमलावर, प्रेमावेग, बादशाह हुसैन रिजवी का दुःख, आदमी का मारा जाना, चेतावनी, पुनरुत्थान, अश्वमेध हिन्दू आदि कविताएँ इसी भावबोध की उपज है। ईश्वर, धर्म एवं राजनीति कैसे संगठित हो गए हैं इस समय—कवि के शब्दों में देखें—

धर्माचार्य ईश्वर की तिजारत
कर रहे हैं
राजनेता ईश्वर के नाम पर
पक्की कर रहे हैं, अपनी गद्दी
राजनीति की संस्कृति में ईश्वर
और धर्म सबसे अनिवार्य वस्तु है।

स्वप्निल इन कविताओं में हिंसारहित एक नई भाषा की तलाश में तो हैं ही, साथ ही एक बेहतर पृथ्वी की कामना भी करते हैं। वे पृथ्वी को नष्ट करनेवाले लोगों से छुटकारा पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना भी करते हैं। ऐसे में स्वर की तल्खी घुलकर धीरे-धीरे निराशा में परिवर्तित हो जाती है।

पृथ्वी को नष्ट करनेवाले तानाशाहों
को गारत करो ताकि बचा रहे नदियों में
पानी, आकाश में रंग
परवरदिगार! मैं बहुत थका हुआ आदमी हूँ
मुझे मुश्किल से आती है नींद
मुझे घेरे रहते हैं दुःस्वप्न।

दो अन्य कविताएँ जो ध्यान आकृष्ट करती हैं वे हैं 'विभा कौल' और 'बुनकरों की बस्ती'। 'विभा कौल' विस्थापन की पीड़ा से जुड़ी कविता है तो 'बुनकरों की बस्ती' कविता बुनकरों की दारुण स्थिति का यथातथ्य चित्रण। निस्सन्देह स्वप्निल के इस संग्रह में मानवीयता के प्रति व्यवस्था की असहिष्णुता, बाजार एवं राज के गठजोड़ से उत्पन्न संकटशीलता, ईश्वर एवं धर्म की दुरभिसन्धि से होनेवाली हिंसा आदि का बेबाकी से चित्रण किया गया है।

III

प्रसिद्ध मेक्सिकन कवि आक्तेवियो पाज ने कहा है कि 'कोई भी तब तक कवि नहीं है जब तक उसे अपने भीतर भाषा को नष्ट करने और एक दूसरी भाषा को सिरजने के आकर्षण ने लुभाया नहीं है। जब तक उसने अर्थशून्यता के आकर्षण को और अभिव्यक्त न किए जा सकनेवाले अर्थ के भयावह अनुभव को जिया नहीं है।' पाज के कवि की कसौटी का अर्धांश, ए. अरविन्दाक्षन पर लागू होता है। दूसरी भाषा (मातृभाषा से अलग) के सिरजने का जबर्दस्त आकर्षण उनमें है। वे हिन्दी के कवि हैं। हिन्दी भाषा में अपना अधिकांश लिखते हैं जबकि उनकी अपनी मातृभाषा मलयालम है। अभी हाल में उनका प्रकाशित काव्य-संग्रह 'राग लीलावती' इस बात का साक्ष्य है कि हिन्दी क्षेत्र से अलग रहकर भी हिन्दी में महत्त्वपूर्ण रचना की जा रही है। कविता के बारे में उनकी राय कविता से लगाव का पता देती है—उनके अनुसार 'कविता मेरी और मेरी किस्मत की पहरेदारी करनेवाली वास्तविकता है' क्योंकि 'उसमें तमाम मनुष्यों का दुःख आरचित होता है।' माध्यम और कथ्य के द्वन्द्वात्मक तनाव (जिसे पाज अभिव्यक्त न किए जा सकनेवाले अर्थ के भयावह अनुभव के रूप में देखते हैं) के बीच अरविन्दाक्षन भाषा के प्रति बेहद सजग हैं। भाषा-अर्जन या यह कहें कि जो कुछ उन्हें कहना है उसको पूरी तरह कह सकनेवाली भाषा की खोज उनके लिए रचनात्मक तनाव पैदा करता है। किन्तु अभिव्यक्ति की जद्दोजहद की पूरी तन्मयता उनके यहाँ देखने को मिलती है। वे कहते हैं—

हृदय मेरा दुखी
शरीर मेरा व्रणित
दिमाग मेरा शून्य
रक्त मेरा ज्वलित
जुबान मेरी गिरफ्त
भाषा के अभाव में मैं छटपटाता हूँ
इतने पर भी
मेरे हृदय का एक गवाक्ष
कविता की तरफ खुलता दिखाई देता है।

यह दिलचस्प है कि आज जब कविता पर सशंक दृष्टि का प्रक्षेपण ही दिखाई देता है, वे कविता के प्रति बेहद गम्भीर हैं। कविता में जीवन की धड़कनें सुनी जा सकें, हमारा राग-विराग उसका अभिन्न हिस्सा हो यह उनकी आकांक्षा है। इसके लिए आँख-कान का बेहद चौकस रहना वे जरूरी मानते हैं। गैर सजगता का हश्र क्या होगा वे साफ-साफ इन पंक्तियों में कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कान को मैंने अपनी पीठ पर लगवा दी
उसके बाद
इतिहास का एक बृहदकाल
अनसुना रह गया
आँख को मैंने अपनी काँख में रख दी
उसके बाद
जीवन का एक वृहद थल
अनदेखा रह गया।

इतिहास और मिथकों ने किस तरह 'निगेटिव कैपिविलिटी' के साथ आज के समय में मनुष्य विरोधी भूमिका का निर्वहन किया है, अरविन्दाक्षन इस तथ्य की ओर बार-बार ध्यान आकर्षित करते हैं। इतिहास के इस अमानुष द्रोणपर्व के बीच वे कटी उँगली की भाषा के जरिए उस अमानवीय कृत्य को उजागर करते हैं जो सदियों से जातीय श्रेष्ठता के छल छद्म के सहारे किया जाता रहा है। 'अतिथि देवो भवः' कविता वर्तमान में बाह्य शक्तियों के प्रवेश के कारण उत्पन्न जटिल परिस्थितियों की सूचना तो देती ही है साथ ही संस्कृति के शिष्टाचार की आड़ में हमारी ही जड़ों को कुतरने की षड्यन्त्रकारी कृतित्व का पर्दाफाश भी करती है।

संग्रह शीर्षक कविता 'राग लीलावती' प्रौद्योगिकी के चमकीले परिदृश्य में बुनियादी जरूरतों के लिए संघर्षरत चरित्र लीलावती का आख्यान है। पानी के लिए संघर्ष करनेवाली लीलावती को पानी के ठेकेदारों ने जिन्दा नहीं रहने दिया। यह कविता इस चरित्र के अप्रतिहत संघर्ष के प्रति कवि की विनम्र श्रद्धांजलि है। कविता का अन्तिम अंश हमारे विरुद्ध रचे जा रहे षड्यन्त्र का खुलासा करता है–

खलनायक नेपथ्य में वेशभूषा बदल रहे हैं
अब कोई ध्वनि नहीं रह गई है
सन्नाटा छा गया है
सन्नाटे में गूँजते इस राग को नाम दिया जाना
बेहद जरूरी है।

'राग लीलावती' संग्रह में ऐसी कई कविताएँ हैं जो आदिम और अभिनव राग के सम्मिलन स्थल पर मानवीय संवेदना में आए बदलाव की पहचान कराती है। आदिम गंध, वैसाखी, घड़ियाँ, चमकता है वर्तमान, तुम्हारा गाँव शहर हो जाएगा, विकल्प आदि कविताएँ इसी दृष्टि से पठनीय हैं। अरविन्दाक्षन देखने-परखने के अत्यन्त हामी हैं। आँखिन देखी पर ही उनका विश्वास है। वे किसी कविता की भूरि-भूरि प्रशंसा होने पर उसके शब्दों को टटोलते हैं। संग्रह की खूबी है संघर्ष में गहरा विश्वास। स्वप्नों की अक्षुण्णता के प्रति बेहद गम्भीर। सपनों से अलग रहनेवाले कुंठित होकर आत्मनाश कर लेते हैं–

हर भीड़ भरी गाड़ी में
सपनों से अलग होकर खड़े रहनेवाले
थकान में आत्महत्या कर लेते हैं।

केदारनाथ सिंह के शब्दों में कहूँ तो संग्रह की कविताएँ इस बात की साक्षी हैं कि 'मौसम चाहे जितना खराब हो/उम्मीद नहीं छोड़तीं कविताएँ।

IV

हर जगह, हर समय एक युद्ध चल रहा था
हम लड़ना नहीं चाहते थे
लेकिन भागना भी हमारे वश में नहीं था।

आर. चेतनक्रांति की ये पंक्तियाँ विकल्पहीनता की जिस स्थिति की ओर संकेत करती हैं वह भयावह एवं अत्यधिक प्रमथित करनेवाली विवश स्थिति है। इस बैवशिक अस्मिताबोध से मुक्ति की तीव्र बेचैनी चेतन की कविताओं का मूल उत्स है। उनका पहला ही कविता संग्रह 'शोकनाच' अपनी प्रौढ़ अभिव्यक्ति के कारण थोड़ा चौंकाता है। यथार्थ का तीक्ष्ण बोध, बेहद चौकस निगाहों से रूबरू जटिल व्यवस्था का अँधेरा, सीधे-सीधे सच को कह जाने की प्रवृत्ति के कारण शिल्प पर गद्यात्मक दबाव, बिम्बों एवं रूपकों के दबाव के बावजूद कथ्य संप्रेक्षण की क्षिप्रता इस संग्रह की बुनियादी विशेषताएँ हैं।

चेतन की कविता की कथ्य संरचना पर यदि हम विचार करें तो पाते हैं कि प्रतिसंवेदनशीलता से उत्पन्न हुई संवेदनशीलता को बचाने के प्रयास में वे एक आत्मचेतस व्यक्ति की बौद्धिक प्रतिक्रिया की तरह सामने आते हैं। इस प्रक्रिया में वे पर्याप्त आक्रोश के साथ मर्मवेधक शब्दों की एक सरणि की रचना करते हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं सपाट-बयानी और कहीं-कहीं बेहद मुश्किल से लगते बिम्बों की सृष्टि को वे एक साथ साध जाते हैं। इसलिए कई बार अपने प्रकृति में नितान्त विपरीत धर्मी कवि द्वारा मुक्तिबोध और धूमिल की चेतना का छायाभास एक साथ घटित होता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रस्तुति की इस प्रक्रिया में चेतन की बेहद सधी विचारबद्ध अवस्थिति जितना ऊपर से ठोस दिखाई पड़ती है, वहीं भीतर कहीं गहरे में नैराश्य उदासीनता का संस्पर्श भी उनमें लक्षित किया जा सकता है। दरअसल जिस मेटाफर में चेतन की अभिव्यक्ति उपस्थित है वह 'विडम्बना', 'व्यंग्य' एवं कुछ हद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक 'एब्सर्डिटी' की सम्मिलित भावभूमि है। ऐसे में किसी को 'सिनिसिज्म' की छुवन भी दिखाई दे तो गलत नहीं होगा। वर्तमान परिवर्तित सभ्यता के सन्दर्भ में मनुष्य की चेतना में फाँक का आ जाना स्वाभाविक ही है। खासकर ऐसे व्यक्ति की चेतना में जिसने अभी इतने समझौते नहीं किए हैं कि स्वाभिमान डग-डग पर पानी भरता दिखे। वर्तमान में अर्जित वस्तुगत आत्मविश्वास चेतन के लिए एक ऐसा आधार है जिस पर टिके रहकर वे हारने की दशा में भी नहीं हारते। 'खुदयकीनी'–कविता में वे लिखते हैं–

खुदयकीनी हमारी
पोल ढोल के ऊपर चमड़े का शानदार खोल थी
जब भी खतरा दिखाई देता
हम उसे बेतहाशा पीट डालते
और सारे समीकरण बदल जाते।

सारे समीकरण को बदल डालने वाली यह खुदयकीनी कभी-कभी विपरीत परिस्थितियों में 'पिघले गुड़ की तरह नसों में भर सकती है लेकिन ऐसी स्थिति लम्बे समय तक नहीं रहती। यह वही आत्मविश्वास है जिसके दम पर चेतन कह सकते हैं– 'पवित्रता के बौने दरवाजों की मर्यादा से निर्भय हो/मैं धड़धड़ाकर चला/ जैसे सुन्दर कारों के बीच ट्रक जाता है।' भविष्य की कविता पर विचार करते हुए अरुण कमल ने एक जगह लिखा है–'कविता का भविष्य उन कवियों के आगमन पर निर्भर है जो जीवन के तीक्ष्णतम क्षणों को वाणी देंगे, जो पिघलते हुए शीशों को अपनी आत्मा में ढालेंगे और सारी विपत्तियों त्रासदी के बीच न तो अपना पक्ष छोड़ेंगे न भविष्य में विश्वास।' चेतन ऐसे ही कवि हैं।

इस संग्रह में कई ऐसी कविताएँ हैं जो अपने शिल्प की विलक्षण नाटकीयता के कारण सहज ही ध्यान आकर्षित करती हैं। लेकिन यह विशिष्टता केवल शिल्प तक सीमित होती तो कोई बड़ी उपलब्धि नहीं होती। महत्त्वपूर्ण है वह विषय जिसे इन शिल्पों में ढालकर प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से दस हजार की नौकरी और दाम्पत्य जीवन की एक सफल रात, सीलमपुर की लड़कियाँ, हम क्रान्तिकारी नहीं थे, पैसे के बारे में एक महत्वाकांक्षी कविता के लिए नोट्स, एक दृश्य की समग्र और कलात्मक अभिव्यक्ति की समस्या, आखिरी कामरेड, हिन्दी पार्क में एक प्रेमिल फटकार महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं।

'दस हजार की नौकरी और दाम्पत्य जीवन की एक सफल रात' कविता की संरचना पर थोड़ा विचार करें–चेतन उस कविता की शुरुआत करते हैं बिल्कुल नाटक मंचन में सूत्रधार की तरह–'यह कहानी ऐसी ही एक गुमशुदा रात की है/जो शाम छः बजे शुरू हुई, और कुम्हार के चक्के की तरह सुबह छः बजे तक धुआँधार चली। बेशक जो आपके सामने आएँगे, वे चित्र उस रफ्तार का पता नहीं देते/जो अक्सर ठोस और धारदार चित्रों के पीछे अकेली सिर धुनती रहती है।' इसके ठीक बाद कैमरा तकनीक का इस्तेमाल करते हुए एक एक कर क्रमशः चार दृश्य प्रस्तुत करते हैं। दृश्यों में गतिमयता है। 'आप देख रहे हैं, अब सूरज डूब रहा है, देखिए पति भी आ रहा है' आदि वाक्य तीव्र गति से पूरे परिदृश्य को सामने रखते हैं, पूरी कविता जीवन्त दृश्यों से चमक उठती है। नौकरी एवं दाम्पत्य जीवन का रसायन गाढ़ा होकर सोल्लासपूर्ण वातावरण की रचना करता है। जो पत्नी खूँटा तुड़ाकर भाग जाने पर आमादा थी वही नौकरी पाने के बाद पति के साथ सफल दाम्पत्य जीवन गुजारने के लिए तैयार हो जाती है। पूरा तनाव अन्ततः सुखद एहसास में तब्दील हो जाता है। एक दूसरी प्रविधि का इस्तेमाल वे *सीलमपुर की लड़कियाँ* कविता में करते हैं। कविता की पहली पंक्ति 'सीलमपुर की लड़कियाँ विटी हो गई हैं' एक आधार वाक्य की तरह है–और फिर जैसे उस आधार वाक्य, जो कि कविता का कथ्य भी है, तक पहुँचने के लिए पूरा ताना-बाना रचा गया है। उसी तरह अन्य कविताओं में अलग-अलग तरह से पूरी संरचना निर्मित की गई है। कविता में यह करतब दिखाने वाले चेतन अपनी पीढ़ी में बिल्कुल अकेले हैं। कविता के क्राफ्ट के प्रति उनमें अतिरिक्त सजगता है। मुझे याद पड़ता है 'साक्षात्कार' के किसी अंक में चेतन की एक 'करोड़पति' कविता छपी थी। उस कविता की किस तरह काटछाँट की गई है उससे बिल्कुल नितान्त भिन्न कविता 'खुदयकीनी' जो इस संग्रह की अच्छी कविताओं में है, रची गई।

चेतन जानते हैं कि कैसे विषयवस्तु के साथ पेश आया जाए। आमतौर पर ये कविताएँ जिस परिदृश्य को दिखाती और निर्माण करती हैं उसका सम्बन्ध नगरीय संस्कृति एवं सभ्यता से अधिक है। इन अर्थों में चेतन पर सीमित संवेदना के कवि होने का आरोप लग सकता है। लेकिन जो है वह महत्त्वपूर्ण है। आखिर उस परिदृश्य की मुश्किल जगहों और आमतौर पर नजर न आने वालों कोनों-अंतरों तक चेतन की दृष्टि गई है। एक उदाहरण से यह बातें ज्यादा स्पष्ट होंगी। गर्मी पर लिखी गई कविता को लें–सूरज और गर्मी के बीच के सम्बन्ध को मालिक-नौकर के सम्बन्ध का रूपक देकर चेतन काव्य-संवेदन व्यापार की एक राह और दिखाते हैं। काव्य संवेदना के विस्तार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मायने ही हैं कुछ उसमें नया जोड़ा जाए—चेतन अपनी कविताओं के माध्यम से जोड़ते हैं—ऐसा बिना किसी संशय एवं संकोच के कहा जा सकता है। 'गर्मियों की अगवानी' कविता का अंश देखें—

गर्मियाँ आ रही हैं
सूरज फिर दफ्तर के मालिक की तरह
सिर पर आ बैठेगा
और दिन
नौकर की यन्त्रणा की तरह
लम्बे और लम्बे होते चले जाएँगे।

चेतन की ये कविताएँ यह विश्वास दिलाती हैं प्रचलित रीतिवाद टूटा है और यह भी कि 'नये समाज की सुविधाएँ भोगते हुए विरोध की नकली मुद्राओं की' ही कविता नहीं लिखी जा रही है।

V

निगाहों की अलगनी पर
टँगा है स्मृतियों का वसन
जो आज तक नहीं सूख पाया
पिछले कई वर्षों से।
आज भी है उतना ही भीगा
उतना ही साफ।

जितेन्द्र श्रीवास्तव का संग्रह 'अनभै कथा' पढ़ते हुए जिस बात को आसानी से लक्ष्य किया जा सकता है वह है स्मृतियों की रचनात्मक शक्ति का अवदोहन। जितेन्द्र की कविता का पूरा 'स्ट्रक्चर' स्मृतियों के 'पावरफुल वैकअप' से ही खड़ा होता है। आज जब यथार्थ के सम्मुख कवि अमूमन इलाकान दिखाई पड़ता है तब जितेन्द्र गवेषणात्मक स्मृतिधर्मी संवेदना एवं चेतना का प्रयोग कर ऐसी कविताएँ लिख रहे हैं जिससे जीवन के बीच बची-खुची उत्सवधर्मिता को अक्षुण्ण रखा जा सके। समकालीन विषण्ण एवं विषम प्रतिमानवीय स्थितियों से संघर्ष का यह उनका तरीका है। उसमें न तो 'पोलिटिकली करेक्ट' होने की त्वरित आकांक्षा है जो अमूमन आज टिप्पणी की शक्ल में कविता को लाउड बनाती प्रचलित स्फीति-रीति के रूप में सामने दिखाई पड़ती है। विरोध एवं प्रतिरोध का स्वर कुछ यूँ है कि कविता का मैदान अति रक्तरंजित एवं लहूलुहान ही नजर आता है। ऐसे में जितेन्द्र कविता के लिए परम्परागत भाव को ही अपना उपजीव्य बनाते हैं। अपनी दुनिया से परिचय का राग, घर-परिवार, खेत आदि से अभिन्न रिश्ता जो इन कविताओं का मूल स्रोत है। जितेन्द्र की यह विशेषता ही कही जायेगी कि उनकी कविताओं को पढ़ते हुए जीवन की आपाधापी की मार से हटकर थोड़ा सुख का एहसास होता है। दुनिया अभी इतनी बुरी नहीं हुई है। मन रमता है। इस दृष्टि से ये कविताएँ पठनीय हैं। उमंग, उल्लास, कुछ करने-गुजरने की इच्छा, अभी आँखों में सपनों का होना, पिता बनने का सुख, जिम्मेदारियों का एहसास, नवान्न जैसे कृषक समाज के मांगलिक उत्सव आदि कविता की संरचना में न्यस्त हैं। ये जीवन के मूल राग-विराग हैं जिनसे एक आत्मीय रिश्ता पाठक से बनता दिखाई देता है। इस प्रवृत्ति को रोमानी प्रवृत्ति कहा जा सकता है। लेकिन यह रोमानी भाव जीवन में कुछ उसी तरह जरूरी है जितना विकट यथार्थ का प्रत्यक्ष बोध। हमेशा दुःखों की आँच में कब तक तपेगा आदमी। पहली 'बार' कविता का यह अंश देखें जिसमें एक शब्द पहली बार कानों में पड़ता है तो कैसे महसूस होता है—

पा पा पापा
पापा पापा
तुतलाती आवाज में
जब पहली बार पुकारता है कोई
चाँदनी उतर आती है
मन की मुंडेर पर।

अन्यथा आज की कविता बेहद प्रौढ़ ही नजर आती है। उसमें नई स्फूर्ति एवं नवयौवन की संवेदनशीलता न के बराबर ही मिलती है। कभी रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा था कि आज की कविता असमय वृद्धत्व का शिकार हो गई है। यह असमय वृद्धत्व एवं कम उम्र में बुजुर्ग बनने की आकांक्षा का ही परिणाम है कि कविता से कोमल राग की जगह परुष भाव ही दृष्टिगोचर होता है। जतन से उन खुशगँवार आदिम संवेदना को सहेजने की ओर आज ध्यान कम ही गया है। निःसन्देह जितेन्द्र ने उन भाविक संवेगों को सहेजा है। दुःख में भी उनकी इच्छा यही है—

दुःख आए
कोई बात नहीं
पर ऐसे आए
कि निरर्थक न लगने लगे जीवन
थका-थका न लगे पुरुषार्थ
मरने न लगें संवेदनाएँ
उसी में घुल-घुलकर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन संवेदनाओं को सहेजते हुए ऐसा नहीं है कि वे बिल्कुल उस तथ्य से अनजान हों कि मूल्यों का क्षरण हुआ है जिससे हमारी संवेदनशीलता एवं भीतरी ऊर्जा भी प्रभावित हुई है। वह इस जद्दोजहद में था कि 'समझ में नहीं आता था/कि आदमी के चेहरे बदले हैं/या जीवन की भाषा/या मेरी आँखों में उतर आया है किसी पोखर का रंग।' सच तो यह है आदमी के चेहरे एवं जीवन की भाप दोनों ही बदले हैं क्योंकि अब लोग धधाकर नहीं मिलते। अब लोगों की देह या देहांश ही मिलता है, दिल से दिल नहीं मिलते। इसलिए अभी भी ऐसे समाज, जगह या गाँव की खोज का वह साकांक्षी है 'जहाँ अब भी बचा है उत्सव जीवन का, जहाँ अभी बचा है आँखों में पानी/ जहाँ रंग नहीं उतरा है लाज का।' वैयक्तिक अभिव्यक्ति पर किस तरह दबावों का सेंसर है—निम्न पंक्तियाँ बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के सहज ही संकेत करती हैं—

मैं नाक भी हो सकता हूँ
और सूँघ सकता हूँ अपनी इच्छा से
लेकिन सूँघना अपनी इच्छा से
और बताना भी अपनी ही इच्छा से
अपने समय से टकराना है।

जितेन्द्र की कविता पर यदि बारीकी से देखें तो स्पष्टतः यह दिखाई पड़ता है। जितेन्द्र आत्मीय परिवेश के धरातल पर बेहद संवेदनशील हैं। उनके अनुभव 'संवेदनात्मक ज्ञान' की प्रक्रिया से पाए हुए सच हैं न कि ज्ञानात्मक संवेदन के सच। ज्ञानात्मक संवेदना मूलतः स्वानुभूति नहीं सहानुभूति के आयाम पर ही घटित होती है। अधिकांश कवियों का अनुभव प्राथमिक नहीं है वह प्रत्यक्ष बोध से नहीं आगत है वह सच के अन्य आधार 'अनुमान' एवं 'शब्द' से निःसृत है। उदाहरण के तौर पर अयोध्या एवं गुजरात पर लिखी ढेर सारी कविताएँ हैं। घटनाओं की परिणतियों की जानकारी के आधार पर लिखी गई ये कविताएँ सहानुभूति एवं उन घटनाओं के विरोध में साहित्यकारों के स्टैंड को सामने तो रखती हैं लेकिन रचनात्मक धरातल पर प्रामाणिक अनुभव की कसौटी पर शायद ही खरी उतरती हैं। हालाँकि ये भी संघर्ष की भूमिका में अपने पथ को रखने की एक महत्त्वपूर्ण कोशिश है इससे इनकार नहीं किया जा सकता। जितेन्द्र के यहाँ यह शिकायत हो सकती है जैसे कि कपिलदेव ने लक्ष्य भी किया है कि 'जितेन्द्र की कविता में राजनीतिक-सामाजिक सन्दर्भ चिन्ता की हद तक अनुपस्थित हैं जबकि सांस्कृतिक फासीवाद और साम्प्रदायिकता के दिल दहला देने वाले सन्दर्भ आज की कविता का बहुत ज्यादा स्पेस भरते हुए देखे जा सकते हैं।' हो सकता है कि यहाँ कवि को ज्ञानात्मक सूचना के आधार पर कविता में कठिनाई हो। किसी विषय या कथ्य के लिए जिस भाषिक या आनुभविक तनाव की जरूरत होती है, उसे वे पाने में नाकामयाब रहे हों। इसके बावजूद 'अनभै कथा' को पढ़कर कवि के काव्यात्मक प्रतिरोध की शक्ति को पहचाना जा सकता है।

इस आलेख की प्रस्तावना में जो चिन्ता व्यक्त की गई थी वह अष्टभुजा शुक्ल, ए. अरविन्दाक्षन, स्वप्निल, चेतन, जितेन्द्र की कविताओं को पढ़कर इस आलेख के अंत तक आते-आते थोड़ी-कम हुई है। नई सोच के 'ग्लोबल मॉडल' के बरक्स हमारी हिन्दी की आज की कविता का यह 'लोकेल' उत्तर-आधुनिक टफलरीय 'फ्यूचर शाक' को सहन करने में न केवल सक्षम है बल्कि अपनी तर्ज़े-बयाँ से यह आश्वस्त करती है कि इस सियाह रात में भी वो मौजे-ज़र नूरगर है जो हिन्दी कविता की अपनी शक्ति है। दरअसल कविताएँ जब तक आन्तरिक अनिवार्यताओं से निकलेंगी तब तक उसके भविष्य को लेकर चिन्ता जैसी कोई बात नहीं होगी। समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम फ़ैज़ की इस बात को ध्यान में नहीं रखते कि 'शे'र लिखना जुर्म न सही, लेकिन बेवजह शे'र लिखते रहना ऐसी अक्लमंदी भी नहीं है।' आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता में स्त्री : स्त्री होने का संकट

परमानन्द श्रीवास्तव

समकालीन कविता के परिदृश्य में स्त्री होने का क्या संकट हो सकता है। कभी *ऐन सेक्स्टन* ने कहा था : *हम स्त्रियाँ समय को शरीर से पहचानती हैं, इस अर्थ में हम घड़ियाँ हैं।* *'नींद थी और रात थी'* (सविता सिंह), *'पानी का स्वाद'* (नीलेश रघुवंशी) और *'नगाड़े की तरह बजते हैं शब्द'* (निर्मला पुतुल)—ये इधर प्रकाशित संग्रहों में इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे आज के समय की त्रासद विडम्बना को उसकी जटिलता में प्रकट करने में सक्षम हैं। एक ओर *सविता सिंह* 'प्रेम के बारे में कविता' को सिल्विया प्लाथ के नाम खत बना देती हैं, दूसरी ओर *'स्त्री होने का संकट'* कविता में लिखती हैं :

किस दौर में आ गई हूँ
पीले से लाल हो रहे मेपल के पत्तों की तरह आश्वस्त
समझती सुन्दर किसी इंतजार को भीतर ही भीतर

× × ×

यह सब कर लेने का संकट ही मगर
स्त्री होने का संकट है
जो हर सपने का हो गया है

ठोस, वास्तविक, मूर्त, हिंसा का शिकार होती स्त्री सपना हो सकती है, यह काल्पनिक सुकून भर नहीं है। हमारे समय की कामगर स्त्रियाँ सारे दुखों को टिफिन बाक्स में बन्द कर बस में ट्रेन में सफर करना और एक झपकी लेना जानती हैं और अब उन्हें पहले की तरह कन्धे की जरूरत नहीं है, न पुरुष की न संगी-साथी की। यह है हमारा समय, जिसमें सविता सिंह, नीलेश रघुवंशी, अनामिका और निर्मला पुतुल कवि-कर्म की विडम्बना से अपरिचित नहीं। यहाँ फन्तासी भी यथार्थ से अधिक डरावना है।

'नींद थी और रात थी' में सविता सिंह *अपने जैसा जीवन* नामक पहले संग्रह से कहीं आगे हैं, जैसे *घर-निकासी* से *पानी का स्वाद* में नीलेश छलाँग लगाती हैं और मामूलीपन में आश्चर्य पैदा करती हैं। बच्चे के जन्म से पहले की इक्कीसवीं रुलाई स्त्री ही लिख सकती है। फूले पेट को फुटबाल का मैदान बना देनेवाले गर्भस्थ शिशु से बोल-बतिया सकती हैं। अनामिका में यह दुख क्रीड़ा-विनोद की शक्ल में आता है।

स्त्री सच है, दर्पण-सी हँसी, अद्वितीय नाच, प्रेम और यातना की कविता, उदास दोपहरों के रहस्य, जैसे एक स्त्री जानती है, बचा हुआ स्पर्श, माँ का चेहरा, चिड़िया और एकान्त, रात ओस बन टपकती है, प्रेम करती बेटियाँ और *सारा आकाश एक बन्द किवाड़*

बी-70, आवास विकास कॉलोनी, सूरजकुण्ड, गोरखपुर-273015 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है–लगभग दर्जन-भर कविताएँ अगर सविता सिंह के संग्रह में मौजूद हैं, तो जाहिर है यह संग्रह लम्बे समय तक पढ़ा जाएगा। *कोई था और नींद थी* कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं–

कितनी नींद बाकी थी
कितने सपने आने थे
रात थी कि धीरे-धीरे खत्म हुई जा रही थी
एक पागल चिड़िया इसी में जोर-जोर से बोले
जा रही थी
उसकी आवाज में एक अजीब तड़प थी

यों ही नहीं है कि स्त्री और चिड़िया, उसका दुख, उसका प्रेम एक-दूसरे के समक्षीकरण में ही अपना अर्थ खोलते हैं और फिर अर्थ की और-और परतें खुलती हैं। कविता के अन्त के शब्द हैं *रात यूँ खत्म हो रही थी / कहीं कोई था जो यह देख और सुन रहा था / मगर चुप था।* एक अथाह चुप्पी और चीख का यह सान्निध्य विलक्षण है।

किसी को भ्रम न हो कि *सविता सिंह* निजता, एकान्त या अकेलेपन को ही अभिव्यक्ति देती हैं। उनके स्वप्न, उनका संघर्ष उस विश्व दृष्टि से पैदा होता है जिसे कभी मार्क्स 'विज़न' कहते थे। सविता में अनजाने विचारों की वह गहराई भी है, जो बहुत कम कवियों के यहाँ देखी जा सकती है। सविता सिंह क्रूरता को कोमलता के विरुद्ध छिपाने की कला भी जानती हैं। यातना की कविता है तो प्रेम के बरक्स ही उसे जाना-देखा जा सकता है। संवेदनाएँ जितनी जटिल दिखती हैं, कलाकृति उतनी ही चमकती है। एक अच्छे कवि से अच्छे मनुष्य की माँग भी आकस्मिक नहीं है। गिरस्तिनें इस प्रेम स्वप्न यातना के निहितार्थ जानती हैं। सविता के यहाँ एक बिम्ब पर नजर जाती है तब तक अनेक बिम्ब उभरने लगते हैं। एक स्त्री किस तरह पारदर्शी शीशे में बदल जाती है, यह सविता सिंह बखूबी जानती और बताती चलती हैं।

चुप्पी, यातना की तरह *इंतजार* भी सविता सिंह के यहाँ बीज शब्द (Key word) है।

'क्या था जिसका इंतजार था / झिर-झिर हवा में बैठी हुई क्या सोचती थी वह / जब आँखों के बदले भर आता था हृदय / उमड़ता हुआ शब्दों से खचाखच भरा / ...सब कुछ डूब रहा था पता था पल-पल उसे / एक चुप्पी तब भी बार-बार धकेलती थी भीतर / पत्ते को गिरना है करो इंतजार कहती हुई।' असंख्य जुगनुओं का प्रकाश, नक्षत्र, खगोलीय रहस्य, किस तरह बेटियों में साँस लेते हैं, भविष्य किस तरह एक स्त्री के कानों में फुसफुसाता है–यह सविता का एक मार्मिक अनुभव है। पन्त का रूमान यहाँ प्रकृति को समझने में सविता की मदद नहीं करता, बल्कि यह कठिन समय करता है। *फिल्म* की-सी युक्तिवाली कविताओं में दृश्यों की रील खुलती है, जो इस *डिजिटल समय* में ही संभव है।

सविता सिंह के यहाँ *उम्मीद* भी एक सार्थक शब्द है। उम्मीद आती है तो ढेर सारे काम सुझा जाती है और मुश्किलें बढ़ा जाती है। कविता में सुकून नहीं है, बेचैनी का नैरन्तर्य है–वही सविता के यहाँ सामाजिक सरोकार बनता है। सविता की जिद है कि लिखने से भी दुनिया का बदलाव मुमकिन हो। सविता *जब लिख नहीं पाती* कविता में लिखती हैं।

लेकिन जब लिखना बन्द करती हूँ
बिंधने लगती हूँ दूसरी बेचैनियों से
तार-तार होने लगती हूँ नहीं लिखी जा रही
उदासियों के प्रहार से

अपनी भाषा में जीवित रहने की तकलीफ का सविता को पता है। *जहाँ सोच रही धूप* कविता में सविता सिंह को खौफनाक आवाजें सुनाई देती हैं। उनके शब्द हैं :

यह 'दोपहर' है 'इक्कीसवीं सदी' की
किसी शान्त तालाब के किनारे
जहाँ 'बाईसवीं' सदी पर सोच रही है धूप

याद करें, राहुल सांकृत्यायन की किताब *बाईसवीं सदी* जो एक अद्वितीय कृति है। राहुल जी स्त्री-सत्ता के प्रभुत्वशाली होने का सपना देखनेवालों में थे। सविता सिंह के यहाँ प्रकाश और अंधकार का क्रूरतम खेल चलता रहता है। जहाँ मोहभंग है वहीं आग की चमक-जैसी उम्मीद भी है।

प्रेम सविता सिंह के यहाँ आजकल का शगल या मनोविनोद नहीं है, *यातना* है। अपने प्रति *हिंसा* है, *मधुमक्खियों के पंखों से उपजती धुन है।* भविष्य की स्त्रियों का भी एक अतर्क्य खाका यहाँ मौजूद है–*नृत्यमग्न छाया ही थीं भविष्य की वे स्त्रियाँ / दिखती हैं करती हुई जो अब मुश्किल से मुश्किल काम।* कहीं रातरानी की महक प्यार का अहसास कराती है, कहीं एक स्त्री की वापसी आत्मवृत्तान्त बनती है–औपन्यासिक कथा। सविता सिंह के एक स्त्री का दुख अतीत का गट्ठर जान पड़ता है, जो जीवन और मृत्यु के बीच पसरा या बिखरा रहता है। सादगी की अपनी मुश्किलें हैं, अपना सौन्दर्य, अपनी नियति। विस्तार को संक्षेप में बदलने की कला से परिचित सविता सिंह कविकर्म के संकट को, कविकर्म की यातना को जानती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सविता सिंह अपने समय में होकर भी समयातीत को छूने लगती हैं। बारहवीं सदी के सूफी कवि *रूमी* का समय सविता सिंह का समय हो जाता है। रूमी के शब्द हैं–

तुम्हारी रोशनी में
मैं प्रेम करना सीखता हूँ

तुम मेरी छाती में
नृत्य करती हो
जब तुम्हें कोई नहीं देखता

लेकिन कभी-कभी मैं देखता हूँ
और यह दृश्य ही
कला का रूप ले लेता है

('द एसेंशियल रूमी' से)

इसके समानान्तर सविता सिंह *सिल्विया प्लाथ* को आत्मा में बसने और सुकून पाने का भरोसा दिलाती हैं। या *अपनी यातना में* कविता में वे लिखती हैं :

वह सो चुकी थी कई नींदें / कई दिन और रातें बीत चुकी थीं / कई ज़िन्दगियाँ बन और बिखर चुकी थीं इस बीच / लेकिन एक सपना था जो अब भी झिलमिला रहा था।

यह *झिलमिलाहट* यह आभासी यथार्थ सविता सिंह की खास अन्तर्वस्तु है। प्रेम यहाँ यातना के बावजूद नष्ट नहीं होता। हालाँकि वह टुकड़ों-टुकड़ों में बिखर जाता है। 'पसरा था बाहर अब भी कितना भय कितनी घृणा / द्वेष और स्पर्द्धा उसके लिए / मृत्यु और नींद महसूस होती थी उसको / एक विस्तार अजीब-सा / भयावह और सुनसान इस समय।' (एक शीशा थी वह) सविता सिंह के यहाँ जब शाम रात के आगोश में जा चुकी थी, कोई अचानक हवा में बचा स्पर्श खोजता जान पड़ता है। संभावना बची है तो उसी के इंतजार में। दुनिया इसी स्पर्श में सुन्दर होती जाती है और चमक लौट आती है–जैसे जीवन में, वैसे कविता में। जब मैं रूमी का जिक्र कर रहा था तो मुझे युवा कवयित्री गगन गिल का 'थपक थपक दिल थपक थपक' संग्रह याद आ रहा था जिसमें बुल्लेशाह शेख फरीद जैसे सूफी सन्तों की झलक मिल रही थी। यह गगन गिल का अर्जित अनुभव है जो सकल ब्रह्मांड में व्याप्त प्रिय की पुकार सुनता है। तेजी ग्रोवर की तमाम कविताएँ उनके घुमक्कड़ फक्कड़ स्वप्न से निकली हैं। डर है कि उन्हें अध्यात्म इतना आविष्ट न कर ले कि लोक की सुध न रहे।

सविता सिंह के आत्मवक्तव्य-सरीखी कविता है–*कहाँ लिये जा रही हो मुझे मेरी कविता* : कवयित्री के शब्द हैं :

"कहाँ लिये जा रही हो मुझे / यातना की किन हदों तक / किन पीड़ाओं के पास /...एक सूखे पत्ते-सी खड़खड़ाती तुम्हारे तूफान में / बढ़ती जाती हूँ उस तरफ / जहाँ से लौटने का रास्ता पता नहीं होगा मुझे।"

सविता सिंह जिनसे रोज़ अकादमिक स्तर पर जूझती टकराती रही हैं हॉब्स, लॉक और रूसो पीछे छूट जाते हैं कविता का अंतहीन यातना-भरा सफ़र जारी रहता है। चारों ओर नींद है, प्यास है, जागरण है, इंतज़ार है, समतल पथरीला मैदान है और खुद एक स्त्री या कि कवि। 'पसंद की जानेवाली स्त्री' कविता में सविता सिंह लिखती हैं–

प्रेम करती हुई स्त्री ही अब भी पसन्द की जाती है
छल में भी एक अजीब जादू है
जो झूठ में नहीं
अंत में सच ही बचाता है हर स्त्री को
लेकिन तब तक वह तब्दील हो चुका होता है
झूठ में कुछ इस तरह
कि वह उसके काम का नहीं रहता

तो *प्रेम* क्या झूठ है, *छलावा* है, *जादू* है, *मायाजाल* है। स्त्रियाँ ही हैं कि खुद मुक्त होती हैं और पुरुषों को भी मुक्त करती हैं। नारी-मुक्ति के छलावे सब जानते हैं पर सभी जुलूस में, शान्ति कारवाँ में स्त्रियों का साथ चाहते हैं। क्या स्त्रियाँ वैसे ही मुक्त हो रही हैं जैसे कभी श्रम पूँजी के लिए मुक्त हुआ था। यह *डायलेक्टिस* सविता की रणनीति है। कविता भी उनके लिए एक रणनीतिक कार्रवाई है। यहाँ कात्यायनी जैसा मुखर क्रान्तिवाद न हो, पर *ख़ामोशी भी हलचल* से भरी है।

एक फ़िल्मकार अनन्या चटर्जी को 'द्वित्यपक्ष' और 'लक्ष्मण रेखा'-जैसी फ़िल्मों के लिए स्त्री सशक्तीकरण की आवाज़ कहा जा रहा है। सविता सिंह अघोषित रूप से स्त्री के हितों की लड़ाई में शरीक हैं–वह भी कविता जैसी सूक्ष्म संवेदनात्मक विधा के बूते पर। सविता प्रश्न पूछती हैं और अक्सर पुरुष वर्चस्ववाद को चुप कर देती हैं। क्या कारण है कि सारे शास्त्र पुरुषों द्वारा निर्मित आचारसंहिता की तरह हैं और सिर्फ़ इसके लिए रिमोट हाथ में लिए हुए हैं कि स्त्रियाँ इस बाजारू समय में क्या करें, क्या न करें। इसमें संदेह नहीं कि सविता सिंह को समकालीन कविता में स्त्री के हस्तक्षेप की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह देखा जा सकता है। नवनीता देवसेन, अगर 'वामा-बोधिनी' लिखती हैं तो भारतेन्दु-सम्पादित पत्रिका 'बाला बोधिनी' की याद दिलाती हैं। कभी 'स्त्री-सुबोधिनी' जैसी कविता में मैंने आक्रोश के स्वर में कहा था—कि गंगा अपवित्र हो सकती है या चन्द्रमा सकलंक हो सकता है पर तुम रहना अक्षत अकलंक। यह वह समय है जब सविता सिंह जैसी कवयित्री से ऐक्टिविस्ट होने की माँग की जा सकती है—घर में रहकर बाहर की वर्चस्वशाली दुनिया में हस्तक्षेप। उनकी कविता यही करती है और स्त्री की चुप्पी को चीख़ में, सहमति को अस्वीकार या इनकार में बदल देती है। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजकमल समूह द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक पुस्तकें

कबीर	हजारीप्रसाद द्विवेदी	225
नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक	,,	495
मृत्युंजय रवींद्र	,,	यंत्रस्थ
कालिदास की लालित्य योजना	,,	150
मेघदूत : एक पुरानी कहानी	,,	175
सूर-साहित्य	,,	125
निराला की साहित्य साधना (भाग 1)	रामविलास शर्मा	550
(भाग 2)	,,	550
(भाग 3)	,,	550
आस्था और सौंदर्य	,,	250
नई कविता और अस्तित्ववाद	,,	325
भारतीय साहित्य की भूमिका	,,	350
प्रेमचंद और उनका युग	,,	295
आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना	,,	325
भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ	,,	150
भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास-परंपरा	,,	225
महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण	,,	495
परंपरा का मूल्यांकन	,,	250
कविता के नए प्रतिमान	नामवर सिंह	195
छायावाद	,,	150
इतिहास और आलोचना	,,	225
दूसरी परंपरा की खोज	,,	195
वाद विवाद संवाद	,,	150
पृथ्वीराज रासो : भाषा और साहित्य	,,	250
कहानी : नयी कहानी	,,	90
आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ	,,	60
नई कविता का आत्मसंघर्ष	ग. मा. मुक्तिबोध	250
कामायनी : एक पुनर्विचार	,,	195
समीक्षा की समस्याएँ	,,	75
नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	,,	95
आधुनिक साहित्य	नंददुलारे वाजपेयी	500
प्रेमचन्द : एक साहित्यिक विवेचन	,,	150
महाकवि सूरदास	,,	75
हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी	,,	150
लोकवादी तुलसीदास	विश्वनाथ त्रिपाठी	150
हिंदी आलोचना	,,	225
कुछ कहानियाँ : कुछ विचार	,,	175
देश के इस दौर में (परसाई के व्यंग्य-निबंधों की विवेचना)	,,	125
नई कहानी : संदर्भ और प्रकृति	देवीशंकर अवस्थी	225
शब्द और मनुष्य	परमानंद श्रीवास्तव	175
कविता का उत्तर जीवन	,,	250
आधुनिक हिंदी कविता में बिम्बविधान	केदारनाथ सिंह	350
मेरे समय के शब्द	,,	125
संवाद और एकालाप		
रामचंद्र शुक्ल	मलयज	125
हिंदी आलोचना का विकास	,,	75
मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना	नंदकिशोर नवल	350
रहस्यवाद	,,	450
भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज	राममूर्ति त्रिपाठी	150
आधुनिक साहित्य : मूल्य और मूल्यांकन	,,	450
हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी	निर्मला जैन	95
कविता का प्रति संसार	,,	95
फिलहाल	,,	75
कुछ पूर्वग्रह	अशोक वाजपेयी	150
हिन्दी उपन्यास का इतिहास	,,	295
उपन्यास की संरचना	गोपाय राय	495
हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास	,,	495
समकालीन हिन्दी कविता	बच्चन सिंह	495
निर्मल वर्मा और उत्तर-उपनिवेशवाद	ए. अरविंदाक्षन	125
हिंदी कहानी : प्रक्रिया और पाठ	सुधीश पचौरी	150
समकालीन कविता और कुलीनतावाद	सुरेन्द्र चौधरी	100
दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र	अजय तिवारी	175
हिन्दी-गद्य : विन्यास और विकास	ओमप्रकाश वाल्मीकि	175
हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास	डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी	200
हिन्दी काव्य संवेदना का विकास	,,	200
आधुनिक कविता यात्रा	,,	200
समकालीन हिंदी साहित्य : विविध परिदृश्य	,,	125
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास की रचना प्रक्रिया	,,	225
रामचंद्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धांत और गीता रहस्य	डॉ. समीक्षा ठाकुर	150
हिन्दी आलोचना : शिखरों का साक्षात्कार	,,	75
बिहारी का नया मूल्यांकन	डॉ. रामचन्द्र तिवारी	100
कबीर : एक नई दृष्टि	डॉ. बच्चन सिंह	70
जायसी : एक नई दृष्टि	डॉ. रघुवंश	125
महाकवि जायसी और उनका काव्य	,,	125
केशवदास	डॉ. इकबाल अहमद	100
विद्यापति	डॉ. विजयपाल सिंह	125
निराला : आत्महंता आस्था	डॉ. शिवप्रसाद सिंह	120
छायावादी कवियों का सांस्कृतिक दृष्टिकोण	दूधनाथ सिंह	200
साठोत्तर हिन्दी कविता में लोक सौंदर्य	डॉ. प्रमोद सिनहा	50
रामकाव्य धारा : अनुसंधान एवं अनुचिन्तन	डॉ. प्रकाश शुक्ल	250
	डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह	50

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुक्रम

संपादकीय : आरम्भिक 5

सृजन

पवन करण की पाँच कविताएँ 7

साक्षात्कार

लोक रंगमंच : समयों की आवाजाही :
वरिष्ठ रंगकर्मी हबीब तनवीर से **महावीर अग्रवाल** की बातचीत 12

स्मरण

डॉ. महादेव साहा : एक दुर्लभ व्यक्तित्व : **श्री नारायण पाण्डेय** 18

कालजयी कृति

फटे-पुराने पतलूनों वाले मानवप्रेमी : **गिरीश मिश्र** 27

जन्मशती

सज्जाद ज़हीर : 1936 : 2005 : **खगेन्द्र ठाकुर** 36
वज़ीर मंज़िल : **अरुण कुमार** 44

विमर्श

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : कुछ विचार : **निरंजन कुमार** 47
दलित साहित्य : नई सदी की दहलीज पर : **शरण कुमार लिम्बाले** 55
दलित विमर्श का इतिहास चक्र : **व्रजकुमार पाण्डेय** 59

मूल्यांकन

विजयदान देथा की दुनिया : **कर्मेन्दु शिशिर** 73
बस गई एक बस्ती है : **अष्टभुजा शुक्ल** 77

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भिक

आलोचना का यह अंक उन्हें समर्पित है जो समाज के सबसे कमजोर लोगों की ओर से निरन्तर मनुष्य की गरिमा और समानता के लिए संघर्ष करते रहे। यह अंक एक बार फिर लोक के अक्षय रचना-कोष, वंचित समूहों की सृजनशीलता एवं उनके प्रतिनिधि लेखकों के बौद्धिक संघर्ष को रेखांकित करता है।

कहा जाता है कि इंग्लैण्ड में चार्टिस्ट आंदोलन के बाद मजदूर वर्ग से बड़ी संख्या में रचनाकार आए और उन्होंने अधिकांशतः आत्मकथाएँ ही लिखीं। आरम्भिक कच्चेपन और अनगढ़पन के बावजूद धीरे-धीरे उनमें से कई श्रेष्ठ रचनाकार निकले। उन्हीं में से एक थे रॉबर्ट ट्रेस्सेल जिनका उपन्यास 'फटे-पुराने पतलूनों वाले मानवप्रेमी' आज दुनिया के महत्त्वपूर्ण उपन्यासों में गिना जाता है। बाद में इन्हीं मजदूरों के घर से डी.एच. लॉरेंस जैसे लेखक भी आए। और आज ये लेखक सम्पूर्ण मनुष्यता के प्रतिनिधि माने जाते हैं, केवल एक वर्ग या वर्ण के नहीं; और किसी रियायत के कारण नहीं, बल्कि अपनी रचनात्मक श्रेष्ठता के बल पर।

हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में भी लगभग ऐसी ही घटना है दलित लेखन का आगमन एवं विकास, जिसके सामाजिक-राजनैतिक सन्दर्भ भी हैं। आकस्मिक नहीं कि इनमें से भी अधिकांश ने आरम्भ में आत्मकथाएँ लिखीं और धीरे-धीरे अन्य सृजन क्षेत्रों में भी प्रगति की। लेकिन दलित साहित्य को भी अंततः केवल साहित्य होना है। दलित साहित्य भी अपने प्रक्षेप में समग्र मनुष्यता का साहित्य होगा; होना चाहिए। अमरीकी अश्वेत लेखक जॉन ए. विलियम्स के मुहावरे में कहें तो ऐसा नहीं होने पर अलग-अलग जातियों, नस्लों, योनियों सबका अलग-अलग साहित्य होगा और इस तरह अनेक 'लिटररी गेटो' बन जाएँगे। दलित साहित्य भी एक 'लिटररी गेटो' में तब्दील हो जाए तो साहित्य मात्र की हानि होगी। विभाजन के इतने कारण हैं कि समाज तब तक बँटता चला जाएगा जब तक व्यक्ति अंततः एक अकेला में विसर्जित न हो जाए। और तब शायद साहित्य की जरूरत भी समाप्त हो जाएगी। इसलिए दलित साहित्य को भी अंततः साहित्य और श्रेष्ठ साहित्य होना चाहिए।

साहित्य की श्रेष्ठता के अनेक प्रतिमान हो सकते हैं, परन्तु इतना तय है कि श्रेष्ठ साहित्य अधिकतम लोगों और अधिकतम युगों का साहित्य बन जाता है, साथ ही वृहत्तर अंतर्सम्बन्धों का अंकन करते हुए अधिकतम समावेशी भी। साहित्य और समाज दोनों से सभी प्रकार के विभाजन चिह्नों को मिटाना ही ध्येय है। जैसा कि रॉबर्ट ट्रेस्सेल अपने उपन्यास में कहते हैं, 'गरीबी को समाप्त करना है तो हमें उसके कारणों को खत्म करना होगा'। महत्त्वपूर्ण है उन कारणों को खत्म करना जो रंगभेद या वर्णभेद और वर्गभेद को जन्म देते हैं। साहित्य की एक मूल प्रेरणा यह बोध भी रहा है। इसलिए उन सब लोगों ने जो इस संघर्ष में शामिल रहे साहित्य से प्रेरणा ली। और साहित्य ने उन सबसे। इसीलिए दलित आन्दोलन एवं सभी परिवर्तनकामी आन्दोलनों को ज्ञान की समस्त सम्पदा को आयत्त करना होगा, तभी ज्ञान के गणतंत्र की नागरिकता प्राप्त हो पाएगी। और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तदनुरूप शक्ति भी। ज्ञान और शक्ति के इसी आराधन को लक्ष्य करते हुए इन आन्दोलनों के तेजस्वी प्रणेता महादेव साहा जी कहा करते थे, 'इतनी किताबें तो होनी ही चाहिए कि मरने के बाद उन्हीं से शव जलाया जा सके'।

—अरुण कमल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पवन करण की पाँच कविताएँ

'सत्विर', आई 10, साइट नं. 1, सिटीसेंटर, ग्वालियर-474002 (म.प्र.)

मुझ नातवाँ के बारे में : पाँच प्रेम कविताएँ

जैसी कि, आदत है उसकी एक बार फिर
बैठे-बैठे अचानक मुझसे बोल पड़ी वह
सुनो, थोड़ी देर के लिए, ये काम बन्द करो अपना
और पहले मेरी बात सुनो
अपने घर में तुम जिस कमरे में रहते हो न
वह कमरा बहुत अच्छा है

उसकी तरफ देखते हुए मैंने कहा, अच्छा
आज तुम्हें ये क्या सूझा, चलो ठीक,
तुम कहती हो तो मान लेता हूँ
घर में, जिस कमरे में, मैं रहता हूँ वह बहुत अच्छा है

नहीं वह जोर देकर फिर बोली
तुम्हारे पूरे घर में सब कमरों से हटकर है तुम्हारा कमरा
अच्छा बूझो तो सही उस घर में
क्यों अलग है तुम्हारा ही कमरा

क्योंकि मेरे साथ उस कमरे में सबसे पहले
तुमने कदम रखे, शायद इसलिए, हूँ वह बोली,
और अपने कमरे को मैंने ज्यादा सामान से भी नहीं भरा है
वह खाली-खाली-सा है, तुम्हारे मन जैसा साफ-सुथरा
शायद वह तुम्हें इसीलिए पसन्द है, मैंने कहा

वह बोली हूँ, इसके अलावा और बताओ,
मैं बोला, शायद इसलिए भी कि उसकी दीवारों पर
तुम्हारी पसन्द का रंग चढ़ा है
और मैं उसकी एक दीवार पर हँसता हुआ
तुम्हारा एक बड़ा-सा चित्र टाँगना चाहता हूँ

या फिर इसलिए कि जब मैं उस कमरे में होता हूँ
देर तक टेलीफोन पर तुमसे खुलकर बातें
कर पाता हूँ, जोर-जोर से तुम से कह पाता हूँ
लव यू, लव यू, लव यू, निश्चिन्त होकर तुम्हें
कर पाता हूँ मोबाइल पर बड़े-बड़े एसएमएस,
माना तुम्हें उस कमरे में बैठकर मैंने कोई पत्र नहीं लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगर तुम्हें लेकर ख्वाब इतने देखे हैं कि उनकी रंगीनी
मुझसे दूर बैठीं तुमने हमेशा अपनी आँखों में महसूस की है

वह बोली, नहीं, और कुछ बताओ
मैं बोला, शायद इस वजह से कि उसकी खिड़कियाँ
पीछे आसमान की तरफ खुलती हैं
धूप सीधे आकर जिसे
एक और दिन से भर देती है
हवा तुम्हारी उँगलियों की तरह आ-आ कर बार-बार
मेरे बालों से खेल जाती है
और हर रात खिड़की से दिखाई देता
वह धोखेबाज चाँद,
पलंग पर अकेला लेटा देख मुझे सताता है

वह बोली, नहीं, यह सब नहीं, निरे बुद्धू हो तुम
जो सब तुमने मुझे बताया अभी
उस सबकी वजह से तुम्हारा कमरा अच्छा नहीं है
तुम्हारा कमरा, सिर्फ इसलिए अच्छा है,
क्योंकि तुम उसमें रहते हो।

2

एक दिन वह बोली अच्छा एक बात बताओ
तुमने आज तक ये जानने की कोशिश क्यों नहीं की
मुझे तुममें क्या पसन्द नहीं
तुममें सब अच्छा तो नहीं हो सकता
तुममें कुछ ऐसा भी हो सकता है
जो मुझे पसन्द न हो, पूछो वह क्या है
जो मुझे पसन्द नहीं तुममें

हाँ यार, मैं बोला, ये बात तो मेरे मन में
कभी आई ही नहीं, मैंने उसकी तरफ देखते हुए कहा,
अच्छा आज बताओ मुझमें ऐसा क्या है
जो पसन्द नहीं तुम्हें,
वह बोली नहीं तुममें जो पसन्द नहीं मुझे
उसके बारे मुझे तुम्हीं बताओ बूझकर

अच्छा, मैंने कहा मुझे सोचने दो फिर मैं बोला
शायद तुम्हें मेरा ये मेरा बढ़ता हुआ
गंजापन पसन्द नहीं, वह बोली नहीं
उससे तो तुम्हारी खूबसूरती और बढ़ रही है
क्या चौड़ा माथा उभरकर आया है बाहर,
तो फिर, कुछ सोचते हुए मैंने कहा
शायद मेरे कन्धों को ज्यादा चौड़ा होना चाहिए था
वह बोली, हाँ ठीक है मगर वे जितने चौड़े हैं
मेरे लिए बहुत हैं मैं उनमें समा जाती हूँ

मैं उसके हँसते हुए चेहरे की तरफ देखता सोचने लगा
आखिर क्या हो सकता है ऐसा जो इसे पसन्द नहीं मुझमें
कहीं ऐसा तो नहीं मेरी कोई आदत पसन्द न हो इसे
हाँ, ये हो सकता है चलो मैं उससे बोला
मैं तुम्हें कुछ बताने की कोशिश करता हूँ

कहीं तुम्हें मेरा रेस्टोरेंट में वेटर को
भइया कहकर बुलाना या फिर कटलरी की आवाज के साथ
अपनी प्लेट में कटोरे से सब्जी का
आखिरी तक निचोड़ लेना पसन्द नहीं
हाँ, आदत तो ठीक नहीं, वह बोली
मगर यह बुरी भी नहीं उतनी
कि मैं उसे एकदम नापसन्द कर दूँ

एक चीज तो तुम्हें मेरी नापसन्द है ही
मुझे पता है, अब आई पकड़ में बताऊँ
हाँ बताओ वह बोली, वह है मेरा बस बी.ए. पास होना
और एक तुम हो जो न जाने क्या-क्या किए बैठी हो
अक्सर तुम मुझसे कहती भी हो बी.ए. हो बी.ए.

नहीं नहीं वह हँसते हुए बोली
तुम तो मुझे न जाने क्या क्या बताए जा रहे हो
जो सब तुमने मुझे बताया उनमें ऐसा कुछ भी नहीं
जो मुझे नापसन्द हो चलो मैं ही बताती हूँ

मुझे तुम्हारा मुझसे देर तक बातें करना
और उन बातों में तुम्हारा मेरी तारीफ न करना पसन्द नहीं, बस

3

एक दिन वह बोली क्यों जानू तुम्हें याद है न
एक दिन मैंने तुमसे अपनी नापसन्द के बारे में पूछा था
और तुम बता नहीं पाए थे, चलो ठीक,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मगर आज ये बताओ तुमने कभी
ये जानने की भी कोशिश क्यों नहीं की
कि तुम मुझे कितने पसन्द हो

मैंने हँसते हुए कहा मुझे पता है
मैं तुम्हें सबसे ज्यादा पसन्द हूँ,
वह तुनककर बोली सबसे ज्यादा क्या हुआ
यह तो बहुत आम बात हुई
और तुम कोई आम चीज थोड़े ही हो मेरे लिए
तुम तो मेरे लिए बहुत खास हो

उसकी बात सुनकर कुछ शरारत करने की सूझी मुझे
मैंने उससे कहा अच्छा सोचने दो
आज मैं तुम्हें बताने की कोशिश करता हूँ
मैं तुम्हें कितना पसन्द हूँ
कुछ सोचने का अभिनय करता हुआ मैं बोला
शायद मैं तुम्हें जिन्हें खोला नहीं गया दिनों से
अलमारियों में दुर्लभ किताबों से भरी
उस एक लाइब्रेरी की तरह पसन्द हूँ
जिसमें पहुँचकर तुम उदास हो जाती हो अक्सर
वह सिर झुकाते हुए बोली हाँ यार तुम ठीक कहते हो
पर आजकल लाइब्रेरी में कौन बैठता है
सब नेट पर बैठे रहते हैं और फिर किताबों पर जमी धूल
नहीं, नहीं, कुछ और बताओ

तो शायद मैं तुम्हें एक पैथोलोजी के शेड में खड़ी
उस पुरानी लेडिज साइकिल की तरह पसन्द हूँ
जो अपने समय से जूझती साधना वाकणकर को
रोज काम पर आती जाती है लेकर,
सुनकर वह बोली हाँ वैसे बात तो ठीक है
तुम्हें इसी तरह किसी के काम आना चाहिए
मगर उसकी साइकिल कई बार पंचर हो जाती है
फिर उसे उसको सड़क पर
धूप में दूर तक घसीटना भी पड़ता है

तब शायद मैं तुम्हें ऐन यात्रा के दिन
बहुत, आसानी से मिल जाने वाले
रेलवे के रिजर्वेशन टिकट की तरह पसन्द हूँ
वह हँसते हुए बोली नहीं बिलकुल नहीं
क्या अंट-शंट बोले जा रहे हो
तुम और रेलवे का कंफर्म रिजर्वेशन टिकट

तब तो मैं तुम्हें नहीं बता सकता
मैं तुम्हें कितना पसन्द हूँ पर तुम्हें बहुत पसन्द हूँ
इतना जरूर जानता हूँ,
अपनी शरारत की लगाम खींचते हुए मैंने उससे कहा,
वह बोली अच्छा ये ही बताओ बहुत कितना
मैंने हँसते हुए कहा मुझे नहीं पता यार

अच्छा, फिर वह मेरे होंठों पर
अपनी उँगलियाँ फेरते हुए बोली
अरे बुद्धू क्यों मुझको बनाने लगे हो
खैर, तुम तो मुझे क्या बताओगे
कि तुम मुझे कितने पसन्द हो,

तुम मुझे कितने पसन्द हो
ये तो तुम्हें मैं भी नहीं बता सकती

साधना वाकणकर—स्कूल की एक हँसमुख सहपाठिन—समय की धूप में जो इन दिनों मुरझा गई है।

4

एक दिन फिर बात करते-करते वह अचानक बोल उठी
अच्छा छोड़ो ये किताब, ये कविता
मेरी बात तुम सुनो तुमने कभी ये सोचा
तुमसे दूर जब मैं अपने घर में अकेली होती हूँ
देख पाने की तो छोड़ो तुम्हें तुमसे बात तक नहीं कर पाती हूँ
तब मैं घर में अकेली पड़ी-पड़ी क्या सोचती हूँ तुम्हारे बारे में

एक बार फिर अपने हाथों अपना सिर दबाते हुए मैं बोला
अच्छा थोड़ा साँस लेने दो बताता हूँ
मुझसे दूर रहते हुए तुम क्या सोचती हो मेरे बारे में
हूँ शायद तुम यह सोचती हो इधर मैं
घर में दरवाजे पर भीतर से कुंडी की तरह चढ़ी हूँ
और इधर वो पट्ठा किसी चौराहे पर
किसी गोलगप्पे के ठेले की तरह आती-जाती
छप्पन छुरियों को लुभा रहा होगा या तय हो गया होगा
तो शाम को नमकीन-सिगरेट के साथ
दोस्तों के बीच बोतल की तरह खुलने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्न बुन रहा होगा कहीं बैठा-बैठा,
कुछ नहीं रात को लौटेगा पीकर फिर फोन की
घंटियाँ पर घंटियाँ बजाएगा साला, लुच्चा कहीं का,

हूँ ठीक है और बताओ और क्या सोचती हूँ तुम्हारे बारे में
और क्या सोचती होओगी यही कि
पुरुष की जात तो वैसे भी कुत्ते की होती है
कहीं और भी तो नहीं उलझा साला जैसे मुझसे बनाता है
उससे भी बना रहा हो बातें
या फिर घर में ही चिपका पड़ा हो अपनी उस नापसन्द से
साला जब घर में होता है तो कितना सीधा बनकर रहता है
जब इतना ही डरता है उससे तो मुझसे बोलता क्यों है
अकेले उसके ही पैर क्यों नहीं दबाता,

वह ठहाका लगाते हुए बोली हाँ और
कुछ नहीं और क्या सोचती होओगी, सोचती होऊंगी साला
हमेशा की तरह खा रहा होगा उसके जूते
और मिलने पर जब मैं उससे पूछूँगी तो सीधा बनते हुए कहेगा
नहीं यार ऐसी कोई बात नहीं

सिर्फ खराब ही क्यों अच्छा भी तो सोचती होओगी
मैं तुम्हारे बारे में जरा वो भी तो बताओ,
मैं बोला अच्छा तो, शायद फिर ये सोचती होओगी, नहीं यार
मेरा जानू बिलकुल भी ऐसा नहीं है
वो कहीं कुछ पढ़ रहा होगा या निपटा रहा होगा घर के काम
या टीवी देखते हुए मुझे याद कर रहा होगा
पहनकर आने वाली ड्रेस तय कर रहा होगा
या अकेले में अपने कमरे में मुझे उधेड़बुन रहा होगा
कहीं होकर हताश मुझे भूलने की तो नहीं सोचने लगा
बहुत देर से कोई एसएमएस भी नहीं आया उसका
ऐसा ही सोचती हो न तुम मेरे बारे में

वह फिर से जोरों से हँसी लेकिन इस हँसी में
मैंने गेहूँ में कंकर-सी उसकी उदासी पिसी देखी
वह बोली मैं तुमसे झूठ नहीं बोलूँगी अभी तुमने जो भी कहा है
मैं यह सब सोचती हूँ मगर एक बात और जो मैं सोचती हूँ
जो मुझे रन्दे-सी लगातार छीलती रहती है भीतर से
वो तुम क्यों नहीं बता रहे हो मुझे
उसे क्यों छुपा रहे हो, क्यों चुरा रहे हो नजरें
कहो और हमेशा की तरह अपनी आँखों में आँसू भरकर कहो
कहो कि जब मैं तुमसे दूर होती हूँ
इन सब बातों से ज्यादा ये बात और भी बेचैनी से सोचती हूँ
काश तुम शादीशुदा नहीं होते

5

एक बार वह बोली अच्छा बस आखिरी बात
और मेरी बात पर सोच-समझकर बोलना
लोगों को जब मैं तुमसे हर जगह चिपकी दिखाई देती हूँ
वे सब क्या सोचते होंगे तुम्हारे बारे में
मेरे बारे में नहीं बस अपने बारे में कहना

कुछ देर सोचने के बाद मैं बोला क्या सोचते होंगे
सब कहते होंगे देखो हरामी मजे मार रहा है
एक घर में और एक बाहर
एक नम्बर का छिड़रा है साला
हम इसको शुरू से जानते हैं
चलो इसकी तो छोड़ो मगर ये लड़की कैसी है
जो इसके साथ सदा चिपकी ही रहती है
पगली कहीं की शादी ब्याह करके अपना
घर क्यों नहीं बसा लेती,
इसके साथ रहकर इसे क्या मिलेगा

हूँ वह हूँका भरते हुए बोली और क्या कहते होंगे
कहते होंगे, अब बताओ ये साला कोई इससे
ब्याह रचाएगा, राधा बनाकर रखेगा जिन्दगी भर
उसके घर पे कलंक लगाएगा सो अलग,
माँ-बाप को कहीं का नहीं छोड़ेगा उसके
और खुद के बीबी बच्चों से चिपका रहेगा हमेशा,
पता है बीबी बहुत खतरनाक है इसकी
जिस दिन अपनी पर आ गई
साले में बीच चौराहे पर जूते लगाएगी

हाँ बोलते जाओ और क्या कहते होंगे
क्या यार तुम तो पीछे ही पड़कर रह गई मैं बोला
और क्या कहते होंगे, कहते होंगे कुछ भी हो यार
लेकिन साला है किस्मत वाला, बदमाश ने
चीज सही फँसाई है, देखो तो सही एक ये है
और एक हम हैं खुद को सड़कों पर लिए-लिए डोलते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरामी रहता भी ऐसे है कि कोई भी रीझ जाए
मगर दो के चक्कर में हीरो की हालत भी खराब है
फिर आजकल की लड़कियाँ भी तो कम नहीं उन्हें भी
ऐसे ही खेले खाए आदमी पसन्द आते हैं
और गुरु हम इस बदमाश को ही क्यों कहें
साली ताली तो दोनों हाथों से बजती है न

हूँ वह पहले उदास, फिर आँखों में आँसू भरते
फिर सुबकते हुए बोली, हाँ और तुम क्या चाहते हो
मुझे तुम्हारे जीवन में खिला देखकर वे क्या कहें,
तब मैंने भी अपनी आँखों से बहती धार के बीच उससे कहा
तुम्हें और मुझे जीता देखकर ये कहना ही चाहते हैं
तो यह सब कहने के साथ-साथ में ये भी कहें
कुछ जोड़ियाँ इस तरह भी बनतीं हैं यार जैसे ये
असली मेल यही है, देखो उसे उस लड़की का ये
कितना ख्याल रखता है, उसके लिए जरा-सी बात पर
जान लड़ा देता है अपनी, जरा देर भी आँखों से
ओझल नहीं होने देता अपनी, और वह भी
उसका कितना मान रखती है, और तो और जीवन में
आने के बाद एक-दूसरे के एक दूसरे को बदला कितना है दोनों ने

बाप रे इतनी गति इतनी ईमानदारी, इतना भरोसा इतनी मजबूती,
क्या हमने देखा नहीं इन्हें पहले क्या थे अब क्या हो गए
फिर कमाल है भाई अपने बीच को तो ये छुपाते ही नहीं किसी से
तपाक से कह देते हैं सब कुछ

अपने हाथों से एक-दूसरे के आँसुओं को
पोंछने के बीच वह भर्राते हुए बोली
मैं भी चाहती हूँ सब बातों के साथ-साथ
मुझे तुम्हारे जीवन में खिलखिलाती देख
ये कहने वाले लोग ये बात भी तो कहें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक रंगमंच : समयों की आवाजाही

वरिष्ठ रंगकर्मी हबीब तनवीर से महावीर अग्रवाल की बातचीत

महावीर अग्रवाल : प्रत्येक कलाकार की अपनी अलग-अलग विशेषता होती है। 'नया थिएटर' के प्रसिद्ध कलाकारों की अलग-अलग कलागत खूबियों के बारे में हम जानना चाहते हैं।

हबीब तनवीर : अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर धूम मचा देनेवाले ये लोग अनपढ़ थे, मगर बहुत बड़े कलाकार थे। नाचा कलाकारों में गाँव का खाँटी संस्कार होता है। अपनी धरती की सोंधी गन्ध को नमन करते ये कलाकार अपनी जमीन और परम्परा से जुड़े रहकर भी, समय की धारा के साथ अपने आपको जोड़कर उसे गतिशील बनाते हैं। यही कारण है नाचा के सभी कलाकार रात भर काम करने के बाद सीधे खेतों में काम करने जाते थे। आज भी ढेर सारे नाचा कलाकारों की दिनचर्या इसी तरह की है। छत्तीसगढ़ के कलाकारों में अभिनय की अभूतपूर्व क्षमता है। बिना किसी सेट्स या सहायक सामग्री के ये कलाकार आंगिक क्षमता के बल पर मंच पर हरा-भरा जंगल हो या आकाश को छूते पहाड़ एक पल में क्रियेट कर लेते हैं। कलकल करते झरने से लेकर गर्जन करते समुद्र को साकार कर देने में समर्थ होते हैं। समर्पण और लगन की भावना के बारे में क्या कहूँ ? महलों की रानी हो या फिर झोंपड़े में रहनेवाला गरीब मजदूर, तक, कहानी और संवाद एक बार याद हो जाए, तो भूलते नहीं हैं। हमारे नाटकों की स्क्रिप्ट ये नहीं पढ़ पाते, लेकिन सुनकर याद कर लेते हैं। इनकी याददाश्त बहुत जबर्दस्त होती है। 'नया थिएटर' के इन कलाकारों के पास लोक संस्कार का भंडार है। 'हाय मोर कुंदरु...हाय मोर टमाटर...की खट-मिठ क्वालिटी' का कोई मुकाबला नहीं है। छत्तीसगढ़ी गाने, धुनें, गीत और अभिनय में ये बेजोड़ हैं। हमारे कलाकारों में से अनेक कलाकारों ने फिल्मों में काम किया, फिर नया थिएटर में लौटकर आ गए, क्योंकि यहाँ प्रत्येक दृष्टि से अधिक सुरक्षा है। इसी तरह रामचन्द्र सिंह भी अनेक धारावाहिकों में काम करने के बाद वापस आए हैं। ये कलाकार कहते हैं फिल्मों में क्रेज है, लेकिन सन्तुष्टि नहीं है। आपने स्वयं इनके ढेर सारे इंटरव्यू छापे हैं।

महावीर अग्रवाल : छत्तीसगढ़ में होनेवाली मड़ई में रात-रात भर 'नाचा' मैंने भी खूब देखा है और वर्षों देखता रहा हूँ। आप 'नाचा' की किसी ऐसी विशेषता को रेखांकित कीजिए, जो आपको अन्यत्र नजर नहीं आती।

हबीब तनवीर : गाँवों में एक छोटे-से प्लेटफार्म (जमीन का चौकोर टुकड़ा) के तीन तरफ दर्शक होते हैं, कभी-कभी चारों तरफ। हजारों की संख्या में। नाचा कलाकारों को इससे कोई फर्क नहीं

सम्पादक 'सापेक्ष', ए 14, आदर्शनगर, दुर्ग-491003 (छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता। कभी-कभी प्रदर्शन के बीच में कहीं से गाय आ जाती है, ऐसी स्थिति में भी ये कलाकार गाय की और संकेत करते हुए तात्कालिक रूप से गढ़ा हुआ कोई चुस्त फिकरा उछाल देते हैं और दर्शक हँसते-हँसते लोटपोट हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि 'नाचा' के दौरान दर्शकों से जीवन्त सम्बन्ध सूत्र बनाए रखते हैं। दिल्ली के शुरुआती दिनों में मुझे बहुत सफलता नहीं मिल पाई थी, इसका एक कारण तो यह था कि मैंने इन कलाकारों से हिन्दी में संवाद बुलवाने की कोशिश की। और दूसरा यह कि अभिनय और अंग संचालन के नियमों में कलाकारों को बाँधने की कोशिश करता रहा। छत्तीसगढ़ी इतनी मीठी और लचीली बोली है, यह जानने और समझने में ही मुझे वर्षों लग गए। 1970 से 1973 तक खालिस छत्तीसगढ़ी मुहावरे में काम करता रहा। अपनी मातृभाषा में नाटक करने के कारण सभी कलाकारों के भीतर गजब का आत्मविश्वास नजर आया। धीरे-धीरे वे मेरी बात समझने लगे और फिर सफलता के झंडे गाड़ते चले गए।

महावीर अग्रवाल : आपने इन कलाकारों में छिपी प्रतिभा को पहचाना कैसे ? और उन्हें दिल्ली ले जाने के लिए कैसे मना लिया ?

हबीब तनवीर : महावीर जी, वैसे ही जैसे आप यह जान लेते हैं कि 'सापेक्ष' में इस विषय पर पूरे देश में कौन-कौन अच्छा लिख सकते हैं ? और फिर उन्हें मना भी लेते हैं। मैं देख रहा हूँ पिछले 20 वर्षों से हिन्दी के हर विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण रचनाकार का रचनात्मक सहयोग 'सापेक्ष' के लिए आप प्राप्त कर ही लेते हैं। जहाँ तक मेरी बात है, छत्तीसगढ़ जा-जाकर मैंने रात-रात भर नाचा देखा है। कलाकारों को समझने की कोशिश की है। इनकी आब्जर्वेशन की क्षमता का भी मैं कायल रहा हूँ। आप यह बात अच्छी तरह जानते हैं, बार-बार नाचा देखकर ही इनकी इम्प्रोवाइजेशन की विलक्षण प्रतिभा से हमारा साक्षात्कार हो सकता है।

महावीर अग्रवाल : मध्यप्रदेश कला परिषद ने 'रंगपर्व' नाम से नौ दिवसीय आयोजन दिनांक 12 दिसम्बर 1998 से 20 दिसम्बर 1998 तक किया था। उस समय अपने व्याख्यान में आपने कहा था, "पिकासो और माइकलेंजेलो में कौन बड़ा है ? आप कैसे तुलना कर सकते हैं ? वह एक बड़ा आर्टिस्ट, ये एक बड़े आर्टिस्ट। इससे ज्यादा तुलना तो उनकी नहीं की जा सकती।" छत्तीसगढ़ के नाचा कलाकारों की श्रेष्ठता की बात जब सामने है तो आप इनकी तुलना किस तरह करेंगे ?

हबीब तनवीर : छत्तीसगढ़ के ठाकुर राम और मदन निषाद दोनों बहुत बड़े अभिनेता थे। 'नाचा' के बारे में मुझसे ज्यादा जानते थे। कल्पना और कौशल का वैसा अद्भुत संयोग अपने जीवन में मैंने कम देखा है। अनगढ़ और अकृत्रिम अभिनय करने में दोनों की दक्षता देखते ही बनती थी। मदन निषाद और ठाकुरदास वर्षों से बहुत अच्छा काम कर रहे थे। इनकी याददाश्त बहुत जबर्दस्त होती है। जीवन भर करते रहे। उनकी नाचा पार्टी का नाम 'रिंगनी' था। छत्तीसगढ़ में थिएटर के चाहनेवाले लोग बहुत हैं। देहात में लोगों में उनकी बड़ी शोहरत और चर्चा रहती थी। मैंने देखा है और जाना है कि उनके पास परखने की अच्छी नजर है, चुनाँचे रात-रात भर जमे रहते थे। गाँववालों में इस बात को लेकर ज्यादा बहस होती थी कि ठाकुर राम ज्यादा अच्छा एक्टर है या मदन निषाद ? दर्शकों के बीच चैतन्य समाज की सक्रियता मैंने कई बार देखी-सुनी है। रसिक दर्शकों में दोनों कलाकारों की अभिनय क्षमता पर लगातार बहस होती थी।

महावीर अग्रवाल : आप दोनों कलाकारों के सम्बन्ध में अपने विचार बताइए। मदन निषाद और ठाकुर राम दोनों की अपनी अलग पहचान किस तरह बनती थी ? उनकी अपनी विशिष्टता क्या है ?

हबीब तनवीर : मैं मानता हूँ एक ओर अभिनय और तुकबाजी में ठाकुर राम बहुत आला दर्जे का कलाकार था, तो दूसरी ओर हास्य रस क्रियेट करने की दृष्टि से मदन निषाद जैसा बेजोड़ कलाकार मैंने नहीं देखा। ठाकुर राम के अभिनय में कामेडी शब्दप्रधान होती थी। एक शब्द किसी ने उछाल दिया और ठाकुरराम अपनी कल्पनाशीलता के दम पर उसमें लगातार नए-नए रंग भरते चले जाते थे। निहायत बेलगाम बात से बात निकालना विशेष गुण था। नए-नए लतीफों से भरी हुई बातें इनकी कल्पना से निकलती रहती थीं। इसके साथ ही नफासत से भरी हुई अपनी आवाज के सहज उतार-चढ़ाव के कारण भी बेहतरीन कलाकार माने जाते थे। इम्प्रोवाइजेशन के उस्ताद थे ठाकुरराम। मदन निषाद की कामेडी जिस्मानी होती थी। बदन को तोड़-मरोड़कर चेहरा बनाकर अनोखी कामेडी करते थे। वे ऐसे दक्ष कामेडियन थे जिसके अन्दर एक अच्छे सर्कस के क्लाउन की कला भी कूट-कूटकर भरी हुई होती है। मदनलाल के जिस्म में कमाल की चुस्ती ओर फुर्ती थी और 'टाइमिंग' जो कामेडी की जान है, लाजवाब होती थी। गाँव में बहुत से लोग ठाकुर राम को बड़ा एक्टर मानते थे, तो बहुत-से लोग मदन निषाद को बड़ा मानते थे। मेरा खयाल है कि दोनों अपनी-अपनी जगह बड़े एक्टर थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महावीर अग्रवाल : आपने एक बार कहा था, फिदा बाई वर्ल्ड-लेवल की एक्ट्रेस थीं उस जमाने में। 'रंग प्रसंग' (जुलाई-दिसम्बर 2002) में संगीता गुंदेचा से बातचीत में भी आपने कहा है, इसमें कोई शक नहीं कि वे विश्व के बेहतरीन कलाकारों में से एक थीं।

हबीब तनवीर : भारत के बड़े शहरों में ही नहीं इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, रूस और यूरोप के दूसरे देशों में भी फिदा बाई जहाँ भी जाती थी, सब जगह उसके अभिनय की जमकर तारीफ होती थी। राजनांदगाँव जिले में सोमनी गाँव की रहनेवाली फिदा बाई का असली नाम फीता बाई था। उसने तकरीबन सभी नाटकों में काम किया। बहुत नेचुरल और खूबसूरत अभिनय करती थी। कभी ओवर एक्टिंग नहीं की, अपने अनोखे और अर्थगर्भी अभिनय से प्रत्येक पात्र को हमेशा एक नई ऊँचाई तक पहुँचाती थी। 'चरनदास चोर' में रानी और 'मिट्टी की गाड़ी' में वसन्तसेना बनती थी। ब्रेष्ट के नाटक 'शाजापुर की शान्ताबाई' (गुड वूमेन आफ शेत्जुवान) में उसकी भूमिका बेमिसाल थी। अनपढ़ होने के बावजूद इस कदर संवेदनशीलता से फिदा बाई अपना पार्ट करती थी कि बस कमाल है। 'गाँव का नाव ससुराल मोर नाव दामाद' में—रोई रोई काटी हो राती ओ दाई मोर—इस गीत को गाते हुए सचमुच में रोने लग जाती थी। भावुक बहुत थी, इसके साथ ही वह गुस्सा करने में, शराब पीने में, झगड़ा करने में और गाली-गलौज करने में भी हमेशा आगे रहती थी। वह गाली बकती थी तो मैं काँप जाता था। गले में मधुर सुर के साथ ही ताल की भी पक्की थी। पाटदार आवाज में खुलकर गाती थी। 'बहादुर कलारिन' में वह अभिनय करती थी तो लगता था कि बड़ी-से-बड़ी अभिनेत्री भी शायद इस किरदार को इतनी खूबी के साथ न निभा सके। उसकी प्रतिभा बहुआयामी थी। संगीत नाटक अकादमी सहित अनेक सम्मान उसे मिल चुके हैं। गाँव गई थीं और वहाँ जल गईं। फिर उनका इलाज एक माह तक हमने पहले भिलाई में करवाया और बाद में दिल्ली ले आए। एक्टिंग करने के काबिल नहीं रही और लगभग 12-13 साल स्टेज से दूर रही। कुछ समय पहले जनवरी 2002 में उसका निधन हो गया। उनकी बच्ची है हमारे थिएटर में। फिदा बाई के अभिनय में हमेशा एक लयात्मकता रहती थी। 'हिरमा की अमर कहानी' में बैगन बाई की मुख्य भूमिका बहुत आत्मविश्वास के साथ करती थी। वह जब भी मंच पर होती थी, तो उसकी पर्सनालिटी में एक गजब का आकर्षण होता था।

महावीर अग्रवाल : अभिनय के साथ-साथ जब गायकी की बात आती है तो हमे लालूराम, भुलवा राम और माला बाई की दिल को छू लेनेवाली आवाज याद आती है।

हबीब तनवीर : माला की मधुर आवाज की हर जगह तारीफ हुई। माला जो अभी तक, अन्त तक हमारे पास थी, उससे बेहतर गायिका छत्तीसगढ़ में नहीं थी। उसकी सुरीली आवाज सुनकर एक बार लता मंगेशकर ने माला बाई को बम्बई बुलवाया था, लेकिन माला जीवन भर 'नया थिएटर' से ही जुड़ी रही। नाटकों में उसकी आवाज का जादू रिकार्ड किए हुए कुछ आडियो के माध्यम से आज भी सुना जा सकता है। नाटक की भीतरी स्थितियों को वह बहुत अच्छी तरह समझती थी। माला की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह पीक पर पहुँचकर भी सहज रहती थी। बिना चेहरा बिगाड़े बहुत आराम और धीरज के साथ गाती थी। लालूराम सुर-ताल के धनी थे। मैं जब यह कहता हूँ कि लालूराम जैसा गानेवाला सारे छत्तीसगढ़ में नहीं है, तो भी काफी लोगों को सुनने के बाद मैं यह कह रहा हूँ। 'नरवा तीर के मोर छैला' की धुन मन मोह लेनेवाली है। लालूराम इसे आड़े में गाते थे, एक बार कुमार गन्धर्व जैसे बड़े संगीतकार ने लालू की तारीफ की।

आप जानते हैं महावीर जी, आड़े में गाना बहुत कठिन होता है ?

महावीर अग्रवाल : नहीं मैं नहीं जानता। 'आड़े' में गाना कैसा होता है ?

हबीब तनवीर : 'मिट्टी की गाड़ी' का गीत रायगढ़ के देवांगन ने लिखा है, 'अजीब है यह तो कचहरी'। ठाकुर राम यह गाना गाया करते थे। और जब भुलवा राम जैसा गानेवाला, जो मेरे पास मौजूद था, तब भी वह अपनी गायकी में बेजोड़ था। पूरी तरह मुँह खोलकर मस्त होकर गाता था। 'तोला जोगी जाने रे भाई...' में जबरदस्त कशिश है। जब कहता हूँ कि, उसके टक्कर का दूसरा कोई नहीं था, तो यह बात मैं छत्तीसगढ़ के सैकड़ों गायकों को सुनने के बाद कह रहा हूँ। अमरदास मानिकपुरी शानदार तबला बजाते थे। देवीलाल नाग बहुत अच्छा हारमोनियम बजाते हैं। अभिनय भी करते हैं। बेरसराय (दिल्ली) में जब बिल्डिंग बन रही थी, तब हमारे कलाकार वहीं झोंपड़ियाँ बनाकर रहते थे। बीच के आँगन में बैठकर रिहर्सल करते थे। बात अभिनय की हो या संगीत की हमारा हर कलाकार भीतर से अपनी भाषा, अपनी संस्कृति में रचा-बसा है। शास्त्रीय संगीत की गहरी जानकार हैं सुलोचना वृहस्पति। एक बार हमने उन्हें सुनने के लिए आमन्त्रित किया। उन्होंने स्वयं बैठकर सुना और कहा—आपकी गायिकाओं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवाज बहुत सुरीली है। पहली बात गाँव के ठेठपन में मिट्टी की सोंधी खुशबू है। दूसरी बात यह कि बगैर वादक कलाकारों के भी रिद्म सधा हुआ है और पूरी तरह सुर में गा रही हैं। मैंने देखा है, हमारे कलाकारों के अभिनय और उनकी गायकी की कला मर्मज्ञों ने भी भरपूर तारीफ की है।

महावीर अग्रवाल : नाचा के इन कलाकारों से पहली भेंट कब और कहाँ हुई ?

हबीब तनवीर : विदेश से लौटने के बाद 1958 में मैंने पहली बार रायपुर में नाचा देखा। इन कलाकारों का कमाल देखकर मैं दंग रह गया। रात भर देखता रहा। मैंने उनसे लम्बी बातचीत की। भुलवा, ठाकुर राम, मदन निषाद, बाबूदास, क्लारनेट वादक जगमोहन और छठे सदस्य के रूप में लालू राम दिल्ली जाने के लिए राजी हो गए। इसके बाद इंडो-सोवियत सोसाइटी के डॉ. बाली राजनान्दगाँव आए हुए थे। मुझे भी बुलवाया गया था। वहाँ जाकर मैंने डॉ.बाली को सुना और अपने भाषण में मैंने अपना यूरोप का अनुभव बताया कि कैसे मैंने वहाँ छत्तीसगढ़ी गाने गाकर आपने रोजी-रोटी का साधन एकत्रित किया नाइट क्लबों में जाकर। उसमें एक व्यक्ति बैठा हुआ था। जब लेक्चर खत्म हो गया तो वह हमारे पास आया—उसका नाम था बाबूराम। उन्होंने मुझे अपने घर बुलाया, वे गाँजा पीते थे। गाँजा-वांजा पीकर उन्होंने मुझे अपने गाने सुनाए। अजीब सुरताल था उनका। उनके साथ बैठा रात भर मैं उनके गाने सुनता रहा। बाबूदास की कामेडी की अपनी अलग हैसियत थी। उनकी बातें सुनकर, उनका चेहरा देखकर दर्शक बे-अख्तियार हँस पड़ते थे। कौशल्या पुरानी कलाकार है। कौशल्या ने एक दिन की रिहर्सल में फिदा बाई की अनुपस्थिति में उसका पार्ट बखूबी निभाया था। पुराने कलाकारों में बृजलाल बेजवार और अमरसिंह लहरे भी अपना कमाल दिखाते थे। 'मिट्टी की गाड़ी' में भुलवाराम और लालू चांडाल बने थे। मदन निषाद ने जुआरी तथा ठाकुर राम ने शर्विलक की भूमिका की थी। जगमोहन ने क्लारनेट बजाया था। जगमोहन रायपुर के रहनेवाले थे। छत्तीसगढ़ी तो नहीं थे, मराठे थे जिनको माँगले कहते हैं। बहुत अच्छा बैंड बजाते थे वे। गोरा-खूबसूरत चेहरा, चेहरे पर नूर, वह अफीम की चुस्की लेते थे। छोटी-सी कटोरी में अफीम घोलकर बड़े इत्मीनान के साथ पीते थे। फिर दिन भर के लिए काम करने को तैयार हो जाते थे। उस बुड्ढे में इतना जोश था और बैंड इतने इत्मीनान से बजाते थे कि क्या कहना। अब बैंडवाले तो मिल जाते हैं, लेकिन वे लोक धुन नहीं बजाते। फोक थिएटर के लिए उन्होंने कोई डेढ़ सौ धुन बनाई होंगी। अब रामशंकर ऋषि क्लारनेट और शिवदयाल दास तबला बजाते हैं।

महावीर अग्रवाल : कहा जाता है, कलाकार तो मूडी होता है। उन्हें एकजुट रखना तराजू में मेंढक तौलने की तरह होता है। दिल्ली जैसे महानगर में इतने कलाकारों को 'नया थिएटर' से जोड़कर रखा। इसमें होनेवाले अपने अनुभव बताइए। आपकी पाँच दशकों तक की रंग यात्रा का यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है।

हबीब तनवीर : दिल्ली में कलाकारों की व्यवस्था करने में 1958 से 1972 तक अनेक कठिनाइयों का सामना लगातार करना पड़ता था। प्रारम्भ में कलाकारों को अपने दम पर हम 150 रुपए प्रतिमाह देते थे। कुछ समय बाद संस्कृति विभाग से 20 कलाकारों के लिए (प्रत्येक कलाकार को पहले 300 रुपए) आर्थिक अनुदान मिला। जबकि मेरे पास 25-30 कलाकार हमेशा रहे हैं। धीरे-धीरे यह राशि 750 रुपए, फिर 1500 रुपए से 2000 रुपए और अब 2500 रुपए तक हो गई है। कलाकारों को उनकी योग्यतानुसार अ वर्ग के कलाकार को 2250 रुपए मासिक वेतन के अलावा प्रति कार्यक्रम साठ रुपए व 20 रुपए दैनिक भत्ता प्रदान किया जाता है। ब वर्ग के कलाकार को 1800 रुपए मासिक वेतन के अलावा प्रति कार्यक्रम पचास रुपए, स वर्ग के कलाकार को 1650 रुपए मासिक वेतन के अलावा प्रति कार्यक्रम पैंतालिस रुपए, ड वर्ग के कलाकार को 1250 रुपए मासिक वेतन के अलावा प्रति कार्यक्रम तीस रुपए प्रदान किया जाता है। 'डिपार्टमेंट ऑफ कल्चर' एक सब्सिडी अभी भी दे रहा है, लेकिन वह सब्सिडी तो कलाकारों की तनख्वाह के लिए भी पूरी नहीं मिल पाती। शासन द्वारा 'नया थिएटर' को 1 लाख 80 हजार रुपए अनुदान प्राप्त होता है। जबकि संस्था का वार्षिक बजट तीन लाख 67 हजार है। नियमित वेतन होने के बाद भी आज तक कोई लिखित करारनामा हमने नहीं किया। कलाकार अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार वर्ष में एक-दो बार गाँव जाते रहते हैं। 1973 से 'नया थिएटर' एक व्यावसायिक थिएटर बन गया, तब से हमने पीछे मुड़कर नहीं देखा। ये कलाकार मुझे बार-बार धोखा भी देते रहे हैं। बदमिजाजी और बदतमीजी भी करते रहे हैं। एक माह की छुट्टी लेकर गए तो छह माह वापस नहीं आए। और कुछ लौटे ही नहीं। मदन, भुलवा, रामचरण और दूसरे कलाकारों ने कहा, 'बूढ़े हो गए हैं, अब घर जाना चाहते हैं'। मैंने उनसे कहा—पुराने नाटकों की माँग लगातार बनी रहती है, जिसमें तुम लोगों के बिना काम नहीं चल सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या तुम लोग आओगे ? उन्होंने कहा जब भी पुराने नाटक होंगे हम लोग आएँगे। और वे आते भी रहे हैं। चुनाँचे 'नया थिएटर' चल रहा है।

महावीर अग्रवाल : आपने एक बार बताया था, कोई कलाकार एक मर्डर केस में भी फँस गया था ?

हबीब तनवीर : हाँ, वह घटना भी बताता हूँ। मैंने देखा है, व्यक्तिगत जीवन में ये कलाकार शराब के बहुत शौकीन रहे हैं। कर्जा लेना और झगड़ा करना इनकी सहज आदत में शामिल रहा है। गुस्से में आने पर जबर्दस्त हँगामा भी करते हैं। हाँ, वह मर्डरवाला किस्सा। गाँव में एक आदमी सबको बहुत सता रहा था। गाँव के कोई बीस-एक आदमी ने मिलकर उसका मर्डर कर दिया, उसमें शिवदयाल नहीं थे। लेकिन शिवदयाल जो उसी गाँव के थे, जब पुलिस ने घेरा और लोगों को पकड़ा तो उसमें शिवदयाल भी फँसे। जब पुलिसवाले ने पूछा—शिवदयाल से कि तुमने उसे किस चीज से मारा ? तो शिवदयाल बहुत मजाकी आदमी थे और 'सेन्स ऑफ ह्यूमर' उनमें बहुत तेज था। उन्होंने कहा—मैं तो हथौड़ा मार रहा था तबले के ऊपर। लिख लो। पुलिस वालों की समझ में बात आई नहीं और वह भी फँस गए और जेल चले गए। अब जब जेल में गए तो वहाँ भी तबला बजाते थे और गाने-वाने गाते थे। फिर जेल में तबला बजाने लगे और जेल से इजाजत दी जाती थी कि जेल की मंडली कभी भोपाल, कभी रायपुर भेजी जाती थी। उनका अच्छा रिकार्ड देखते हुए 20 साल की उनकी कैद कुछ कम कर दी गई। उन्होंने कोई प्रोटेस्ट नहीं किया, चुपचाप चले गए, गाना-बजाना चलता रहा। तो जब वे जेल से छूटे तो मैंने उन्हें बुलाया। उस समय 'मिट्टी की गाड़ी' के लिए प्रोडक्शन का काम शुरू हो रहा था। 1958 में छह कलाकार आए थे। तब से आज तक कलाकार आ रहे हैं। भुलवाराम का बेटा चैतराम यादव भी 1976 से अभिनय कर रहा है। ठाकुर राम का बेटा द्वारका हमारे यहाँ 'नया थिएटर' में काम करता था। अब द्वारका का बेटा भी यहाँ मौजूद है। यह तीसरी पीढ़ी चल रही है। कलाकारों में बृजलाल लेंजवार, रामचन्द्र, उदयराम श्रीवास, दीपक तिवारी, पूनम तिवारी, श्यामा मरकाम, आगेश नाग, रविलाल, शंकर, धन्नो बाबू का काम आपने देखा ही है। बहुतों के नाम अभी याद नहीं आ रहे हैं। अनूप रंजन पांडे, मनोज नायर, योगेश तिवारी, बालेन्द्र सिंह, तनवीर अहमद, राजीव यादव, संजय सरकार, अभिजीत कुमार, ईश्वर सिंह, आनन्द चौरसिया भी अभिनय करते रहे हैं। अनेक कलाकार बीच-बीच में आते-जाते रहे, सबने सन्तोषप्रद तरीके से अपनी जिम्मेदारी निभाई। महावीर जी, अभी हमारे पास जितने कलाकार हैं, उनमें बेहतरीन एक्टरों में से एक गोविन्दराम निर्मलकर है। उसके भीतर गजब का आत्मविश्वास है। अभिनय करते समय वह अवाम के बीच का ही आदमी लगता है।

महावीर अग्रवाल : हबीब जी दर्शकों से मेरी बात लगातार होती रहती है। नई पीढ़ी के लोग आपका पुराना नाटक 'आगरा बाजार' एक बार देखना चाहते हैं। पिछले 10 वर्षों से आपने यह नाटक किया भी नहीं है।

हबीब तनवीर : 'आगरा बाजार' करने में मुझे अब लुत्फ नहीं आता, वैसा करना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अब मुझे ठाकुरराम, मदन, लालू, फिदाबाई और भूलवा जैसे एक्टर नहीं मिलते हैं। ये सब इतने गजब के इम्प्रोवाइजर थे कि एक संकेत में पूरी बात समझ जाते थे। स्पेस डिफाइन कर लेते थे। इस कलाकारों की स्मृति बहुत अच्छी थी। गम्मत और गीतों का तो खजाना था इनके पास। टाइमिंग और एंट्री दोनों जबरदस्त होती थी। इम्प्रोवाइज करने में तो इन्हें कमाल हासिल था। मुझे उतने अच्छे कलाकार अब नहीं मिलते। खुलापन नजर ही नहीं आता। अपनी संस्कृति को भूलकर भद्दी नकल कर रहे हैं, गाँवों में 'डिस्को कर्मा' और 'डिको ददरिया' ने कलाकारों का दृष्टिकोण पूरी तरह बदल दिया है। सीखने की ललक कम होती जा रही है। नए कलाकार कामचलाऊ नाच लेते हैं, गा-बजा लेते हैं। पहले की पीढ़ी में जो उस्तादी थी वह नई पीढ़ी में गायब है, चुनाँचे नाटक को पहले की तरह कलरफुल बनाना कठिन होता जा रहा है।

महावीर अग्रवाल : पीटर ब्रुक ने समय-समय पर 'नया थिएटर' की, आपकी और कलाकारों की बहुत प्रशंसा की है। ऐसे समय में आप कैसा महसूस करते हैं ?

हबीब तनवीर : एक बार पीटर ब्रुक आए, उन्होंने कलाकारों से भेंट की। उन्होंने मुझसे पूछा ? आखिर ऐसी कौन-सी कला आपके पास है, जिसके दम पर इतने कलाकारों को, वह भी 50 वर्षों तक जोड़कर रख सके। मुझे नहीं लगता कि दुनिया में इतने लम्बे समय तक थिएटर चलाने की कोई दूसरी मिसाल मौजूद है। मैंने उनको बताया कि कलाकारों को हम तनख्वाह देते हैं, लेकिन बन्दिशें नहीं हैं। थिएटर छोड़कर गाँव वापस जाना चाहते हैं, तो चले जाते हैं। तनख्वाह के अलावा हर आर्टिस्ट को हर शो के हिसाब से अलग से कुछ राशि दी जाती है। आर्टिस्ट खुश हो जाते हैं और हर बार शो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पहले से और अच्छा करने की कोशिश करते हैं। इसके लिए उन्होंने मुझे साधुवाद दिया। हम सबको यह सुनकर बहुत अच्छा लगा। आप जानते हैं महावीर अन्दाज पैदा करने के लिए जरूरी है कि कलाकारों का एक दल मुद्दत तक लगातार तजुर्बा करने में लगा रहे। रूस में स्तानिस्लावस्की और नेमेरोविच-डेंचेंको का थिएटर इसी ढंग से परवान चढ़ा और सारी दुनिया में चर्चित हुआ। मैंने उन्हें यह भी बताया कि गाँव के कलाकारों के बारे में यह एक बहुत बड़ा भ्रम है कि ये सीधे-साधे हैं, नेक हैं। इनकी बदतमीजी और चकमा देने की हरकतों की कोई सीमा नहीं है। ये कलाकार हमेशा से मनमौजी रहे हैं। बेवकूफियों और नादानियों पर गुस्सा तो बहुत आता है, लेकिन किसी तरह निभाते चले आ रहे हैं। कुछ ऐन वक्त पर धोखा देकर चले गए। और फिर एक साल बाद लौट आए। कभी झूठा टेलीग्राम दिखाकर चले गए। ऐसा बार-बार होता रहा है। बूढ़े होते हुए कलाकारों की दवाई और देखरेख अधिक करनी पड़ती है। भीतर की ढेर सारी दिक्कतें और उलझनें रही हैं जिनको मोनिका अपने स्तर पर लगातार हल करती रही हैं। मेडीसिन और हाऊसिंग की दिक्कतें यहाँ भोपाल में भी हैं। नगीन भी पूरी तरह हाथ बँटाती है। उनकी जिन्दगी की समस्याएँ भी हमारे सामने से गुजरती हैं। हजारों तरह के झगड़े हैं, लड़ाई होती रहती है, उनको भी निपटाना पड़ता है। इस तरह हमारा नया थिएटर एक पारिवारिक थिएटर है जिसमें इनकी घरेलू समस्याओं को भी सुलझाना पड़ता है।

महावीर अग्रवाल : हबीब जी, छत्तीसगढ़ के कलाकारों के साथ जीवन भर की इस रंगयात्रा में...

हबीब तनवरी : (बीच में ही) महावीर जी, आप थका देते हैं, अब सब समेटिए।

महावीर अग्रवाल : यह अन्तिम प्रश्न, इन कलाकारों के साथ घटी, कोई घटना या किसी ऐसे दृश्य के बारे में बताइए, जो आपको आज तक न भूलता हो। और जो घटना आज भी आन्दोलित करती हो।

हबीब तनवीर : घटनाएँ तो सैकड़ों हैं। एक बार 1976 में जब हम लोग 'चरनदास चोर' स्टेज कर रहे थे, तभी यह खबर आई थी कि हमारे नाचा कलाकार 'ठाकुरराम' का देहान्त हो गया। जब यह खबर मिली तब शो चल रहा था। अतः इसे मैंने कलाकारों को नहीं जाहिर किया। शो के बाद मैंने इस खबर को एनाउंस कर दिया। कुछ कलाकार नाराज भी हुए और कहा कि नाटक बीच में ही रोक देना चाहिए था। तो अधिकांश कलाकारों ने माना इतने बड़े कलाकार के निधन की सूचना मिलने के बाद, मंच पर खेले जा रहे नाटक को पूरा करना ही कलाकार ठाकुरराम के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है। छत्तीसगढ़ के कलाकारों में अपनी कला के प्रति समर्पण की भावना का और जीवन के प्रति दृष्टिकोण का यह भी एक उदाहरण है। महावीर जी, लोक अपनी पारम्परिक चेतना को अनेक काल में समेटे है। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्मरण

डॉ. महादेव साहा : एक दुर्लभ व्यक्तित्व

श्री नारायण पाण्डेय

डॉ. महादेव साहा हिन्दी, उर्दू तथा बंगला अकादमिक तथा राजनीतिक जगत का बहुपरिचित और बहुचर्चित नाम है। बोलचाल में लोग उन्हें 'दादा' सम्बोधित करते थे और इसी सम्बोधन से जानते थे। वे अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। जब पार्टी विभाजित हुई तब से मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के साथ जुड़ गए और मृत्युपर्यन्त उसी के सदस्य बने रहे। लिउशाओ ची के मुताबिक वे सच्चे कम्युनिस्ट थे। पार्टी अनुशासन में रहकर आजीवन पार्टी का कार्य करते रहे। किसी पद की आकांक्षा नहीं, और न है कोई अन्य लिप्सा। अगर कोई वस्तु प्रिय थी तो पुस्तकें, अगर किसी वस्तु की तलाश थी तो पुस्तकों की। बात भी करते थे तो पुस्तकों की या अपने जीवनादर्श मार्क्सवाद की। स्मृति अद्भुत थी। सभी लोहा मानते थे। मृत्युकाल तक स्मृति ज्यों-की-त्यों बनी रही। लोग उन्हें 'मूविंग इनसाइक्लोपीडिया' कहते थे। ज्ञान राशि के साक्षात विग्रह थे। कोई एक विषय का पंडित होता है, तो कोई दो तीन का, उनका स्मृति-सौध एक नहीं अनेक विषयों का संग्रहालय था। वे कहते भी थे विद्वता की महानता उसकी व्यापकता में है।

कम लोगों को देखा है जिनका आचार-विचार एक-सा हो। साहा जी अपने आचार-विचार में एक थे। जो सादगी लिबास में वही खान-पान में। दो कुर्ता, दो पायजामा काफी था। जो और जहाँ मिला खा लिया। रहने के नाम पर कोई घर नहीं। न चाकरी, न कोई व्यवसाय। सारा जीवन पार्टी को समर्पित था। हमारा उनका परिचय 1954 में हुआ। इसके पूर्व उन्हें एक बार देखा था। 1953 या 1954 में किसी समय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में एक साहित्यिक आयोजन था। उसी में डॉ. रामविलास शर्मा तथा कई अन्य प्रगतिशील लेखकों के साथ डॉ. साहा भी आए थे। इस आयोजन में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी मौजूद थे। भाषण में उनकी और डॉ. रामविलास शर्मा की नोक-झोंक भी हुई थी। आयोजन प्रगतिशील साहित्यकारों की ओर से किया गया था। वहीं हमने अपने मित्र हनुमान सिंह की जबानी सुना था कि साहा जी कई भाषाओं के जानकार हैं। कम्युनिस्ट हैं, बड़े विद्वान हैं। कलकत्ता में रहते हैं।

बात आई और गई। बी.ए. की परीक्षा देकर मैं कलकत्ता चला आया। कलकत्ता आते समय मैं नामवर सिंह से मिलने गया, तो उन्होंने मुझसे कहा कि कलकत्ता जा रहे हैं, तो साहा जी से जरूर मिलते रहिएगा। उनका ठौर-ठिकाना मैं भी नहीं जानता। कम्युनिस्ट हैं। कम्युनिस्ट पार्टी आफिस से आपको पता लग जाएगा। उनके ठौर-ठिकाने का पता न तो तब ही किसी को था और न आज ही

412/3-एफ, बक्सीखुर्द दारागंज, इलाहाबाद-211006

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। अपने बारे में वे कुछ नहीं बताते थे। मगर औरों की खबर जरूर रखते थे। केवल यही ठिकाना था कि वे कम्युनिस्ट थे और कलकत्ता में रहते थे। कलकत्ता छोड़कर किसी गैर शहर में जाने की बात आती, तो वे 'ज़ौक' का एक शेर सुनाते थे।

गर्चे है मुल्के दकन में आजकल कदरे सुखन।
कौन जाए "ज़ौक" पै दिल्ली की गलियाँ छोड़कर॥

कलकत्ते की गलियाँ भी उन्हें इसी तरह प्यारी थीं। चप्पा-चप्पा पैरों से नाप रखा था। कुछ इत्तफाक ही कहिए कि अन्तिम साँस इन्होंने दिल्ली में ली। इन दिनों जब नामवर सिंह ने उन पर एक आलेख लिखने और पत्रों के प्रकाशन की बात कही, तो हमारे मन में आज से करीब 50 वर्ष पूर्व के एक ऐसे व्यक्ति का चित्र उभर आया जो कद में करीब 5 फीट लम्बा, रंग साँवला, इकहरा बदन, बादामी रंग का कुर्ता, चौड़ी मोहड़ी का पायजामा पहने बीड़ियों का कश पर कश लगाए जा रहा हो। इसी व्यक्ति से हमारी पहली मुलाकात 1954 में अलीमुद्दीन स्ट्रीट में पार्टी आफिस में हुई थी। कलकत्ता में हमें ऐसे आदमी को तलाशना था जिससे हमारी कोई जान-पहचान न थी। महज इतना कि एक बार देखा भर था। उन दिनों अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी का आफिस अलीमुद्दीन स्ट्रीट में था और आज मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का आफिस उसी भवन में है। उन दिनों वहीं से बंगला 'स्वाधीनता' (दैनिक) तथा जहाँ तक याद है 'हिन्दी स्वाधीनता' (साप्ताहिक) दोनों पत्र निकलते थे। आज भी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का बंगला 'गणशक्ति' (दैनिक) और हिन्दी 'स्वाधीनता' (पाक्षिक) वहीं से निकलते हैं। यानी पार्टी विभाजन के बाद प्रेस और अखबार तथा भवन मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के ही हाथ हैं।

जब 1954 में साहा जी को खोजते हुए अलीमुद्दीन स्ट्रीट गया तो हमारी मुलाकात कामरेड महाबीर सिंह से हुई थी। वे बिहार के रहनेवाले थे। बड़े अच्छे कामरेड थे। सुना है घर चले आए थे और अब नहीं हैं। 'स्वाधीनता' आफिस में जिन और दो व्यक्तियों से मुलाकात हुई थी, उनमें एक कामरेड सूर्यदेव उपाध्याय बिहार के रहनेवाले थे। स्वाधीनता संग्राम से जुड़े थे। वे कलकत्ता से बम्बई चले गए थे। हिन्दी ब्लिट्ज़ में काम करते थे, साथ-साथ पार्टी संगठन में भी लगे हुए थे। बहुत दिनों के बाद कलकत्ता में जनवादी लेखक संघ के एक जलसे में उनसे मुलाकात हुई थी। डॉ. अयोध्या सिंह उत्तर प्रदेश के उन्नाव के रहनेवाले थे। विज्ञान में स्नातक थे। ट्यूशन से जीवन-यापन करते थे। कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य थे। परिवार और पार्टी दोनों का दायित्व निभा रहे थे। नेपाल कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन में इनकी मुख्य भूमिका थी। मृदुभाषी और बड़े गम्भीर थे। बंगाल स्टेट कमेटी के सदस्य भी थे। मार्क्सवाद की बड़ी स्पष्ट धारणा थी। पार्टी का काम करते-करते इन्होंने कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी थीं। 'मुक्ति संग्राम' (दो खंड), 'हिन्दुस्तान का स्वाधीनता आन्दोलन और कम्युनिस्ट', 'साम्राज्यवाद का उदय और अस्त' आदि। शायद हिन्दी लेखकों में अयोध्या सिंह ही ऐसे लेखक हैं जिन्होंने इतने सन्दर्भों का सहारा लेकर इन ग्रन्थों की रचना की है। इन पुस्तकों पर साहा जी की अदृश्य छाप है। काश ! अगर आज अयोध्या सिंह होते तो वे साहा जी पर बहुत कुछ बताते। क्योंकि लम्बे अरसे तक साहा जी से उनका सम्बन्ध था। सही मायने में वे ही साहा जी के सही प्रवक्ता थे। इन्हीं साथियों के साथ साहा जी काम कर रहे थे। जिन्हें न धन लिप्सा थी, न यश। कम्युनिस्ट होना तब जोखिम था। इतना उन दिनों जरूर था कि पार्टी का नाम सुर्खियों में था। कम्युनिस्ट उभार पर था। नेहरू भारत में प्रधानमन्त्री थे।

जैसा कि हमने पहले कहा है 'स्वाधीनता' आफिस में हमारी मुलाकात का. महाबीर सिंह से हुई थी। उन्होंने सम्मानपूर्वक बैठाया। परिचय पूछा। जब हमने साहा जी से मिलने की चर्चा की, तो उन्होंने कहा कि साहा जी के आने का कोई समय नहीं है, मगर आते जरूर हैं। कुछ देर इन्तजार कीजिए शायद आ जाएँ। इन्तजार के बावजूद पहले दिन मुलाकात न हुई। तीन दिन आने-जाने पर भी साहा जी से मुलाकात न हो पाई। आने-जाने से फायदा यह हुआ कि का. सूर्यदेव उपाध्याय और का. अयोध्या सिंह से परिचय हुआ। उन दोनों के आत्मीय व्यवहार से अपरिचित जगह में आने-जाने का संकोच समाप्त हो गया।

एक दिन मैं निश्चित समय देकर गया था। देखता हूँ कि उस दिन साहा जी मौजूद थे। पहचानने में दिक्कत न हुई। क्योंकि पहले बनारस में देख चुका था। नामवर सिंह के परिचय के बहाने अपना परिचय दिया। साहा जी ने बड़ी आत्मीयता के साथ घर-दुआर से लेकर पढ़ाई-लिखाई, कलकत्ता आने का मकसद सब कुछ पूछ डाला। जब हमने अपने गाँव का नाम लिया, तब वे हमारे गाँव की भाषा बोलने लगे तथा आसपास के गाँवों के कुछ ऐसे व्यक्तियों का नाम लिया जो कभी कलकत्ता रहते थे, मगर अब नहीं थे। उनकी भाषा पर हमें सन्देह हुआ कि हो न हो ये उधर के ही हैं। मगर मित्रों से सुन चुका था कि साहा जी कई बोलियाँ आसानी से बोल लेते हैं। आदमियों के नाम तो कलकत्ता में आने-जाने के कारण जानते होंगे। इसका रहस्य बहुत दिनों बात मालूम हुआ जब उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने जन्मभूमि की याद आई, मृत्यु के कुछेक वर्ष पूर्व। इसकी चर्चा मैं बाद में करूँगा।

बातचीत के दौरान इतना कहा कि पढ़ने-लिखने आए हो तो पहला काम यह करो कि कलकत्ता के पुस्तकालयों में जाया करो। बड़ा बाजार में भी हिन्दी के कई पुस्तकालय हैं, वहाँ जाकर उनकी पुस्तक सूचियों से जानकारी लेकर अध्ययन शुरू करो। इन पुस्तकालयों में 19वीं सदी के हिन्दी साहित्य की पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की दुर्लभ सामग्री है। बंगाल में हो तो बंगला भाषा अवश्य सीखो और बंगला मूल से ही बंगला साहित्य का परिचय प्राप्त करो। हर भाषा की अपनी संस्कृति होती है। अनुवादों से भाषा-संस्कृति का बोध नहीं होता। पहले ही दिन सम्बोधन 'तुम' में करने लगे थे। मैं गद्गद् होकर घर लौटा, इसलिए कि उन जैसे व्यक्ति से हमारा परिचय हो गया। साहा जी के यहाँ आने-जानेवालों में महेश कुमार मूँघड़ा भी थे। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में इतिहास के विद्यार्थी थे। अंग्रेजी बहुत अच्छी थी। पहले से ही मन बना चुके थे कि विदेश जाना है। अंग्रेजी में विदेशी पत्रों में लिखते भी थे। उन्हीं से पहली बार प्रो. सुशोभन सरकार का नाम सुना, जिन्होंने अमित सेन नाम से बंगाल के नवजागरण पर किताब लिखी थी। प्रो. सरकार प्रेसिडेंसी कालेज के अलावा कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी इतिहास पढ़ाते थे। सुमित सरकार उन्हीं के पुत्र हैं। प्रो. सुशोभन सरकार मान्य मार्क्सवादी इतिहासकार थे। बाद में साहा जी ने सुशोभन सरकार के सम्बन्ध में विस्तार से बताया था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रवक्ता सूर्यनारायण सिंह ने मुझे बताया कि सुशोभन सरकार की रचनाओं का हिन्दी अनुवाद भी छपा है, जिनमें बंगीय नवजागरण सम्बन्धी रचना भी है। जब नामवर सिंह इंग्लैड गए थे तब महेश कुमार मूँघड़ा से उनकी मुलाकात अचानक हो गई थी, फिर दोनों आदमी मार्क्स की समाधि स्थल तक साथ गए थे। ऐसा नामवर सिंह ने हमें बताया था। मूँघड़ा बड़े पढ़ाकू और खुले विचार के थे। साहा जी इन्हें बहुत मानते थे।

उन दिनों साहा जी अलीमुद्दीन स्ट्रीट के आसपास ही एक चीनी स्कूल में रहते थे। यह स्कूल साम्यवादी चीन सरकार के हिमायतियों द्वारा चलाया जाता था। गेट के पास एक कमरा था। स्कूल का भवन भी पुराना था। जिसमें साहा जी रहते थे। वह कमरा भी पुराना ही था। पूरा कमरा किताबों से ठसाठस भरा था। बीचोबीच एक तख्त था। उस पर भी किताबें रखी रहती थीं। किताबें भिन्न-भिन्न विषयों की। कुछ नए प्रकाशन, तो उसी के बीच कुछ दुर्लभ ग्रन्थ भी। रूसी, चीनी पत्र-पत्रिकाएँ और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रकाशन उनके पास बराबर आते थे। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ एवं पुस्तकें प्रकाशकों और लेखकों से बराबर आती रहतीं। हिन्दी, अंग्रेजी और बंगला—इन तीन भाषाओं की किताबों से कमरा भरा हुआ था। मगर किताबें बेतरतीब थीं। हम लोगों ने दो एक बार उनको ठीक-ठाक करने की कोशिश की, मगर फिर वही रफ्तार बेढंगी। जीवन ही कुछ ऐसा था। इसी के बीच एक अदद मुख्तसर बिछौना और वही दो कुर्ता, दो पायजामा और एक गमछा। जिसे शाम को साफ कर लेते। दूसरे दिन के लिए तैयार हो जाता। तकिया के नाम पर तो किताबें थी ही। न्यूनतम आवश्यकताओं से कैसे जिया जा सकता है, इसे साहा जी के जीवन में देखा जा सकता था। इसी कमरे से साहा जी के साथ उठने-बैठने-बातचीत करने का सिलसिला शुरू हुआ।

एक जगह से शुरू करते ही अनेक सन्दर्भों और विषयों पर वे बोलने लगते थे। घंटों बोलते चले जाते थे। साहित्य, लोकसाहित्य, भाषा, विज्ञान, कोश, इतिहास, नृविज्ञान, राजनीति आदि विषयों पर नए, पुराने तमाम सन्दर्भ ग्रन्थ उन्हें याद थे। संस्करणों से लेकर सन्, तारीख, सब कुछ कहाँ उपलब्ध हैं- इसकी सूचना भी उनके पास थी। ब्रिटिश इंडिया लाइब्रेरी में कौन पुस्तकें उपलब्ध हैं, इसकी जानकारी भी थी। कई बार वहाँ से मँगाई गई पुस्तकों की छायाप्रति भी हमने उनके पास देखी थी। किताबों पर पैसा खर्च करते थे। पत्राचार खूब करते थे। इसमें कोताही उन्हें पसन्द नहीं। कहते भी 200 पोस्टकार्ड मैं एक साथ खरीदता हूँ। कहने की बात नहीं है, जिनसे उनके सम्बन्ध थे, वे सभी इसे जानते हैं।

कलकत्ता सम्पत्ति और संस्कृति दोनों का शहर है। एक ओर बंगला संस्कृति की महान परम्परा है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता में डूबी पूँजीवादी संस्कृति का रंगमंच भी है। भारतीय संस्कृति परम्परा की विभिन्न धाराएँ यहाँ के जनजीवन में प्रवाहित होती रही हैं। यह शहर पुस्तकों की संस्कृति का शहर है। पुस्तक लिखना, पढ़ना और संग्रह करना यहाँ के पढ़े-लिखों का संस्कार है। रवीन्द्रनाथ तो बेमिसाल हैं ही प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रमेश चन्द्र दत्त उपन्यास भी लिखते थे। पहले तो पोथियाँ थीं, जब से छापाखाना आया पुस्तकें छपने लगीं, तब से नए किस्म के पुस्तकालय स्थापित हुए। इम्पीरियल लाइब्रेरी, नेशनल लाइब्रेरी, एशियाटिक सोसायटी लाइब्रेरी के साथ बंगला और हिन्दी के बहुतेरे पुस्तकालय यहाँ हैं। जिनमें दुर्लभ पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएँ सुरक्षित हैं।

कलकत्ता के बड़ा बाजार पुस्तकालय, श्री कुमार सभा पुस्तकालय में 19वीं सदी में छपे ग्रन्थों के प्रथम संस्करण तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ पत्र-पत्रिकाओं की समूची फाइलें विद्यमान हैं। बालमुकुन्द गुप्त द्वारा दी गई पुस्तकें बड़ा बाजार पुस्तकालय में उनकी स्मारक हैं। साहा जी को इन पुस्तकालयों की अच्छी जानकारी थी। साहा जी की प्रेरणा से हमने इन्हीं पुस्तकालयों का उपयोग कर प्रेमचन्द के बहुतेरे निबन्धों का संग्रह किया था तथा उनके करीब 350 कहानियों का तिथि-क्रम चिह्नित किया था। सारी सामग्री साहा जी ने अमृत राय को दिला दी थी। निबन्धों का उपयोग 'विविध प्रसंग' के खंडों में हो गया है, भूमिका में हमारा नाम जरूर गलती से श्रीनाथ छपा है। कहानी तिथिक्रम का उपयोग 'कलम के सिपाही' में बेनाम कर लिया गया है। अपने पत्रों में साहा जी ने इस भूल पर नाराजगी जाहिर की है। अब उचित रखरखाव के अभाव में यह सामग्री नष्ट हो रही है। मानिकिया का हनुमान पुस्तकालय भी इसी तरह का है। सुना है आजकल डॉ. शम्भुनाथ आदि उसकी सुरक्षा में लगे हैं, उसी तरह कुमार सभा पुस्तकालय का दायित्व डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी पर है। इन सबसे इस दुर्लभ धरोहर के बचाव की सम्भावना बनती है। साहा जी बराबर इन पुस्तकालयों की चर्चा करते थे।

कलकत्ता का सबसे बड़ा पुस्तकालय तो कालेज स्ट्रीट की सुखाय की वे पुरानी पुस्तकों की दुकानें हैं, जहाँ अनवरत नित पुस्तकें आती रहती हैं। कलकत्ते के बड़े-से-बड़े विद्वान वहाँ किताब छाँटते दिखाई पड़ जाते थे। साहा जी वहाँ बराबर जाते थे। सारे दुकानदार उनके परिचित थे। उनकी पसन्द उन्हें मालूम थी। साहा जी भी उनका नाम जानते थे। पुराने घरानों के संग्रहों की पुस्तकें वहाँ मिल जातीं। साहा जी बराबर कहते थे कि यहाँ जरूर जाना चाहिए। नामवर सिंह और रामविलास शर्मा के साथ हमने साहा जी को वहाँ देखा है। पुस्तकों की तलाश में वे सबको फर्मा के.एल. मुखोपाध्याय के यहाँ ले जाते, जो प्राचीन पुस्तकों के पुनर्मुद्रक और दुर्लभ पुस्तकों के विक्रेता थे।

पुस्तकें ही उनका संसार थीं। पुस्तक खरीदना, पढ़ना, दूसरों को पढ़ाना उनके स्वभाव में था। आजकल के विद्वानों से उनकी शिकायत थी कि मोटी रकम उड़ानेवाले अध्यापक कार तो खरीदते हैं, मगर किताब के लिए उनके पास पैसा नहीं रहता। साहा जी कहा करते थे कि इतनी किताबें तो होनी ही चाहिए कि मरने के बाद उन्हीं से शव जलाया जा सके। उनके पास घर-द्वार भले न रहा हो, मगर किताबें तो थीं ही। जब वे बीनी स्कूल वाला कमरा छोड़ने लगे थे, तब दो ट्रक से अधिक किताबें हमने उनके एक बंगाली मित्र के घर पहुँचाई थी। जहाँ भी जाते किताबों का संसार जुटा लेते। वे बिना किताबों के जी ही नहीं सकते थे। किन्तु आज उनकी किताबों का कोई अता-पता नहीं है।

कलकत्ता में वे कभी एक जगह नहीं रहे। पार्टी विभाजन के बाद पार्टी का केन्द्रीय आफिस कलकत्ता में आ गया था। यहाँ से पार्टी-पत्रों का सम्पादन होता था। हमने का. बासुपुन्नैया एवं का. रणदिवे को यहीं देखा था। यहीं पर काका बाबू (कामरेड मुजफ्फर अहमद) के साथ साहा जी भी रहते थे। साहा जी ने यहाँ से कई महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों को प्रकाशित करवाया था। कुछ दिनों तक दिलकुशा रोड में पार्टी कम्यून में रहते थे। यहाँ पर कई कामरेड एक साथ रहते थे। का. समर मुखर्जी, का. रवीन सेन, का. अब्दुल्ला रसूल भी यहाँ रहते थे। इन्हीं लोगों के बीच उनका समय बीतता था। जब दिल्ली चले गए तब जब कभी कलकत्ता आते, तो सरला माहेश्वरी एवं अरुण माहेश्वरी के यहाँ रहते। हमने पहले कहा है साहा जी की जरूरतें बहुत कम थीं। दो खद्दर का कुर्ता, दो पायजामा और काबुली सैंडल। अपने हाथ से धोकर कपड़ा पहनते। साफ-सुथरा रहते थे। बीड़ी पीने की आदत जरूर थी। कलकत्ता में ट्राम गाड़ी के पीछे वाले डिब्बे में चलते। जिसमें आम आदमी चलते थे। कलकत्ता में एक तरह का रिक्शा आदमी चलाते हैं। साहा जी उस पर कभी नहीं बैठते। सुना है सरकार ने अब इसे बन्द कर दिया है। बन्द तो कब का होना चाहिए था। लिखने के लिए पेलिकन कलम उन्हें पसन्द थी। कहते थे रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसका उपयोग करते थे। अपने नाम का कोई पैड या परिचय कार्ड उनका नहीं था। चिट्ठियों पर अपना पूरा पता लिखते थे। अंग्रेजी पते पर रोमन संख्या, हिन्दी पत्रों में हिन्दी संख्या का व्यवहार करते थे। पार्टी या किसी अन्य के पैड को इस्तेमाल करते समय उसका ऊपरी हिस्सा फाड़ देते थे। बहुत साफ-सुथरी जिन्दगी जीने का प्रयास करते थे, और यही सीख भी देते थे।

जहाँ तक उस समय के कलकत्ता के हिन्दी लेखकों की बात है हर्षनाथ, छेदीलाल गुप्त, अवधनारायण सिंह, विमल वर्मा, इजराइल उनके सम्पर्क में थे। इजराइल बाद में 'स्वाधीनता' के सम्पादक बने। हिन्दी प्रकाशकों में वे हिन्दी प्रचारक, हिन्दी पुस्तक एजेंसी और विशाल भारत में कभी-कभी आकर बैठते ! हिन्दी प्रचारक में दीनानाथ कश्यप से उनकी मैत्री थी। यहाँ से उन्होंने शशिभूषण दासगुप्त की पुस्तक 'राधा का क्रम विकास' तथा शरतचन्द्र के निबन्धों का एक संग्रह छपवाया था।

मैं 1954 से 1958 तक कलकत्ता रहा। बाद में मुर्शिदाबाद, फिर रानीगंज और वर्धमान विश्वविद्यालय से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवकाश प्राप्त किया। कलकत्ता रहते समय बराबर इनके सम्पर्क में रहा। इसी बीच इनके साथ रहकर बंगला सीखी। हिन्दी साहित्य के प्राचीन इतिहास और हरिश्चन्द्र के कुछ नाटकों पर दो लेख लिखे। बाहर जाने पर कभी कलकत्ता आने पर पत्रों से सम्पर्क बना रहता। रानीगंज एवं वर्धमान वे स्वयं गए भी थे। पत्रों से बराबर अपने पढ़ने-लिखने और हमारे पढ़ने-लिखने की जानकारी लेते-देते रहते।

बंगला एक बंगलाभाषी की तरह लिखते, पढ़ते और बोलते थे। सखाराम देउस्कर की पुस्तक 'देशेर कथा' का सम्पादन किया था और उसकी भूमिका लिखी थी। प्रेमचन्द के निबन्धों का एक संग्रह नेशनल बुक एजेंसी से बंगला में छपवाया था। और भी लिखा होगा जिसकी जानकारी हमें नहीं है। बंगीय परिषद के नियमित पाठक थे। वहीं से छायाप्रति लेकर हिन्दी के प्राचीन पत्र-पत्रिकाओं पर एक आलेख 'स्वाधीनता' में छपवाया था। एशियाटिक सोसायटी के सदस्य थे। बराबर वहाँ जाते। कभी-कभी अपने मिलने का ठिकाना भी वहाँ का देते थे। रूसी विद्वान अकादमी शियन द्याकोव और बंगला के विद्वान डॉ. शहीदुल्ला को आपसी वार्तालाप करते एशियाटिक सोसायटी में ही देखा था। द्याकोव को कुछ लिखकर भी दिया था। साहा जी ने केवल इतना बताया था कि रूसी इतिहासकारों ने कुछ गलतियाँ की हैं, उसी की चर्चा की है।

नेशनल लाइब्रेरी तो उनका आस्ताना ही था। हरिनाथ दे नेशनल लाइब्रेरी के पूर्व लाइब्रेरियन थे। वहाँ ले जाकर उनका परिचय साहा जी ने विस्तार से दिया था। दे साहब देशी-विदेशी कई भाषाओं के जानकार थे। जब मैं वर्धमान विश्वविद्यालय में था उस समय उनके प्रसंग में एक पत्र साहा जी ने लिखा था। पत्र बड़ा रोचक है।

नई दिल्ली
23.12.94

प्रियवर,

चिट्ठी मिली होगी।

'परिचय' का गोपाल हालदार अंक मिले, तो दो कापियाँ भेजना। पैसे भेज दूँगा।

छुट्टी मिले तो इधर का फेरा लगाना।

वर्दवान के महाराजा इस शताब्दी के पहले दशक में पोप से मिले थे। हरिनाथ दे को संग ले गए थे। दे ने लैटिन में ही पोप से बात की थी। पोप प्रसन्न हुए और कहा कि दे को इटालियन भी पढ़ लेनी चाहिए। दे ने उन्हें इटालियन में भी एक भाषण सुना दिया था। विवरण मिले तो भेजना।

शुभकामना
महादेव साहा

मैं साहा जी के साथ बराबर नेशनल लाइब्रेरी जाता। नेशनल लाइब्रेरी के चप्पे-चप्पे से वे परिचित थे। हमने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हंटर शिक्षा आयोग में दिए गए बयान को साहा जी की सहायता से प्राप्त किया था। नेशनल लाइब्रेरी के पुस्तकों की जानकारी उन्हें किस हद तक थी, इसका अन्दाज इस पत्र से लगाया जा सकता है। पत्र से आवश्यक अंश दे रहा हूँ।

"नेशनल लाइब्रेरी के एनेक्सी बिल्डिंग के दो तल्ले पर सुभाष मजूमदार से मिल लेना। वे Education Commission की रिपोर्ट ढूँढ़ने में सहायता करेंगे, Skrine लिखित जीवन चरित (W.W. Hunter) मेन बिल्डिंग में मिलेगा।

रीडिंग रूम में दक्खिन की ओर Dictionary of National Biography में भी Hunter देखा लेना। रिपोर्ट के Evidence वाले खंडों में हरिश्चन्द्र बनारसी के अलावा औरों ने भी हिन्दी का समर्थन किया था। देख लेना।" इतने में सन्तोष नहीं हुआ, तो फिर उसी पर एक और पत्र लिखा। पत्र का आवश्यक अंश–

नई दिल्ली 16/7/[illegible]

"William Wilson Hunter (1840-1900) अपने दृष्टिकोण से बहुत बड़े-बड़े काम कर गए हैं। 1882-83 के Education Commission के चेयरमैन थे। कठमुल्ला सिविलियन नहीं थे। इनका Brief History of the Indian Peoples (1883) पढ़ लेना।"

यह था साहा जी का विषय बोध और पुस्तकालयों में पुस्तकों पर उनकी पैठ का नमूना। ऐसे बहुतेरे पत्र हैं जिनमें उन्होंने पुस्तकों के बारे में लिखा है। केवल पुस्तकें नहीं पुस्तकालय का ऊँचे से नीचे तक का हर कर्मचारी उनका परिचित ही नहीं उनका मित्र था। केवल नेशनल लाइब्रेरी ही नहीं जिस भी पुस्तकालय में गया हूँ वहाँ यही देखा है। अपने पत्रों में जिस किसी जगह के बारे में लिखते, सबसे पहले वहाँ के पुस्तकालयों को देख लेने की सलाह देते। साहा जी कहते थे "जर्मन में कहावत है कि एक किताब लिखने के लिए दस किताब पढ़ना पड़ता है। हिन्दी में एक किताब पढ़कर दस किताब लिखी जाती है।"

नेशनल लाइब्रेरी की एक घटना का जिक्र और करूँगा। सुनीति बाबू साहा जी के घनिष्ठ मित्र थे। सुनीति बाबू ने एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक साहा जी को समर्पित भी की है। सुनीति बाबू नेशनल प्रोफेसर थे और नेशनल लाइब्रेरी में ही बैठते थे। पढ़ने-लिखने की सारी सुविधाएँ थीं। साहाजी, अक्सर लाइब्रेरी से निकलने के बाद उनके साथ बैठते थे। एक दिन साहा जी ने कहा आज सुनीति बाबू से संस्कृति पर चर्चा हो रही थी। हमने कहा सुसंस्कृत किसे कहा जाए। सुनीति बाबू ने आचार-विचार, वेशभूषण, ज्ञान, वाणी पर संयम आदि की चर्चा की। मैंने (साहा ने) कहा एक बात और जोड़िए—पैसे के प्रति नजरिया। यह निर्णायक पहचान है। साहा जी ने कहा सुनीति बाबू भी इसकी गिरफ्त में हैं। उनकी स्पष्टवादिता की यह मिसाल है। लगे हाथ डॉ. सुकुमार सेन की भी चर्चा कर दूँ। डॉ. सुकुमार सेन कलकत्ता विश्वविद्यालय के भाषा विज्ञान विभाग में प्रोफेसर थे। वे डॉ. सुनीति बाबू के शिष्य थे। 90 वर्ष से अधिक उम्र मिली थी। भाषा विज्ञान के साथ बंगला साहित्य पर भी उन्होंने कई ग्रन्थों का निर्माण किया है। जिसमें बंगला साहित्य का चार खंडों में इतिहास अप्रतिम ग्रन्थ है। साहा जी का उनके साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। पढ़ने-लिखने वालों की निष्ठा का वे सम्मान करते थे। डॉ. सुकुमार सेन की उम्र 91 पार कर गई थी। अन्धे हो गए थे। फिर भी बंगला साहित्य के इतिहास का नया संस्करण छपवाया था। साहा जी ने 6-12-91 के एक पत्र में लिखा, "डॉ. सुकुमार सेन ने अपने 'बांग्ला साहित्येर इतिहास' के कुछ खंडों का नया संस्करण प्रकाशित कराया है, मिले तो भेजना। 91 के हो गए हैं। प्रज्ञाचक्षु होने पर भी खूब काम करते हैं, स्मृति पूर्ववत् है। मेरे मित्र सुनीति के शिष्य हैं।" यह थी साहा जी की ज्ञान पिपासा।

यों तो बंगला के बहुतेरे लेखकों से उनका परिचय था। क्योंकि जैसे हिन्दी लेखक उन्हें बंगाली समझते थे, उसी प्रकार बंगला लेखक भी उन्हें बंगाली समझते थे। उनका बंगला भाषा-ज्ञान, उच्चारण तथा लेखन बिलकुल बंगला भाषा-भाषियों जैसा ही था। बंगला लेखकों में दो एक नाम और लेना चाहूँगा जिनसे उनकी घनिष्ठता थी। उनमें से एक थे डॉ. शशिभूषण दासगुप्त। शशिभूषण दास गुप्त कलकत्ता विश्वविद्यालय में बंगला विभाग के अध्यक्ष थे। सिद्ध साहित्य तथा आधुनिक साहित्य पर उनका समान अधिकार था। हिन्दी भी अच्छी जानते थे। उनकी एक पुस्तक 'राधा का क्रमविकास' का अनुवाद साहा जी ने किया था, जो हिन्दी प्रचारक संस्थान से छपी है। राहुल जी ने चर्यागीति पर जो सामग्री इकट्ठी की थी, साहा जी के माध्यम से शशिबाबू ने उसका उपयोग किया था। असमय उनकी मृत्यु हो गई। बड़ा ही सरल व्यक्तित्व था। विचारों में बहुत खुले हुए थे। उनकी एक पुस्तक "गांधी, टालस्टाय और रवीन्द्रनाथ" का अनुवाद हमने भी किया है, जो छपी नहीं है। साहा जी के अनन्य मित्र थे गोपाल हालदार। 'परिचय' पत्रिका से जुड़े थे। कम्युनिस्ट पार्टी (C.P.I.) के सदस्य थे। बंगला में कई किताबें लिखी है। 'परिचय' ने इसका एक विशेषांक भी निकाला था। इनके सम्बन्ध में 24.11.94 के एक पत्र में साहा जी ने लिखा था—

"गोपाल हालदार बहुत पुराने मित्र थे। मृत्यु के कुछ दिन पहले अन्तिम बार भेंट हुई थी। पुराने जातीयवादी आन्दोलन से 1942 के समय पार्टी में आए थे। पार्टी के विभाजन के समय पुरानी पार्टी में ही रहे।

उनमें कट्टरता नहीं थी। सार्थक साहित्य भी काफी मात्रा में सृजन कर गए हैं। संस्कृति पर किताबें और निबन्ध संग्रह हैं। अच्छे उपन्यासकार और निबन्ध लेखक थे। कुछ वर्ष सुनीति कुमार के Research assistant रहे। Comparative Grammer of Eastern Bengal Dialects थीसिस है, जिसे पेश कर डॉक्टर नहीं बने। अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी थे। अपने जिले-नोआखाली-में कुछ दिन पढ़ाया भी था। मित्रों-परिचितों की सहायता के लिए तैयार रहते थे। यह काम आजीवन किया।"

एक बार गोपाल बाबू से मिलने मैं भी उनके घर गया था। उनके कमरे में एक चित्र लगा था। जेल के फाटक के ताले को मजबूत पंजे से कोई तोड़ रहा था। वह चित्र आज भी हमारी स्मृति में बना हुआ है। वह चित्र नहीं उनकी चिन्ताधारा का विग्रह है।

बंगला बुद्धिजीवियों में जिनको वे सबसे अधिक श्रद्धा करते थे, वे थे विवेकानन्द के छोटे भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त। इन्हें साहा जी छोटे दादा कहते थे। इनके मकान पर एक बार मुझे भी ले गये थे। इनका नाम 'अनुशीलन समिति' से जुड़ा है। अंग्रेजी राज्य के घोर विरोधी थे। विदेश चले गये थे। इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। विवेकानन्द के समाजवादी विचारों पर भी एक पुस्तक है। 'युगान्तर' के सम्पादक थे। इसमें छपे आलेखों के लिए 1907 में उन्हें एक साल की कड़ी सजा हुई थी।

हिन्दी भाषा-भाषियों में बहुतेरों के साथ साहा जी का सम्पर्क था। उनमें में कुछेक का ही उल्लेख करूँगा। लेखकों में साहा जी प्रेमचन्द के प्रशंसक थे। बंगाल में दो लेखकों पर विशेष आयोजन हुए थे। एक प्रेमचन्द और दूसरे राहुल सांकृत्यायन। साहा जी इन दोनों आयोजनों में सक्रिय थे। प्रेमचन्द्र के निबन्धों का बंगला अनुवाद उन्होंने नेशनल बुक एजेंसी से भूमिका के साथ छपवाया भी था 'स्वाधीनता' में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बराबर प्रेमचन्द की रचनाओं को छापने की योजना बनाई थी। प्रेमचन्द के परिवार से भी उनका सम्बन्ध था। शिवरानी देवी को अम्मा कहा करते थे। अमृतराय के यहाँ इलाहाबाद आने पर टिकते थे। वे चाहते थे कि प्रेमचन्द का अधिक-से-अधिक साहित्य लोगों को सुलभ हो। अमृतराय ने प्रेमचन्द के अप्राप्य साहित्य का जो सम्पादन किया, उसमें साहा जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

दूसरे लेखकों में राहुल सांकृत्यायन थे। राहुल जी को केदार कहकर पत्रों में सम्बोधित करते। पार्टी में राहुल को साहा जी ही लाए थे। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा है कि वे किन कारणों से पार्टी से निकाल दिए गए थे–

"केदार भाई सैगर लिखने में विश्वास करते थे। प्रतिक्रियाशील चीजें भी लिख गये हैं। पी.पी.एच. से "विविध प्रसंग" मँगाकर पढ़ना। भारत के मुसलमानों की भाषा, खाना और लिबास वही हो जो बहुमत की है। ऐसी बातों के लिए पार्टी से निकाले गए थे। 9 साल बाद माफी माँगकर फिर पार्टी में आये। कम्युनिस्ट की हैसियत से केदार भाई मेरे शिष्य थे। मेरा स्नेह बना हुआ है।"

राहुल जी के बहुत से खत उनके पास थे। मैं चाहता था कि वे उन्हें छपवा दें। मगर उन्होंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। कारण पत्र व्यक्तिगत थे। साहा जी आलोचक भले थे, मगर नैतिकता को बराबर ध्यान में रखते थे। बातचीत में राहुल के बहुत से प्रसंगों पर नाराजगी जाहिर की है, मगर उसे वे कभी उछालनेवाले मित्र न थे। न पत्रों को छपवाकर, न व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं को लिखकर ही।

डॉ. रामविलास शर्मा भी उनके नजदीकी लेखकों में से थे। दोनों में वैचारिक मेल भी था। रामविलास जी की भी मार्क्सवादी प्रतिबद्धता प्रसिद्ध है। रामविलास जी कलकत्ता आते तो साहा जी के सम्पर्क में रहते । उसी प्रकार साहा जी भी आगरा जाने पर उनसे मिलते। विचारों का आदान-प्रदान दोनों में बराबर होता रहता। रामविलासजी को पठन-पाठन में पुस्तकों से जानकारी देते रहते। रामविलास जी ने अपनी 'भाषा और समाज' पुस्तक में स्वीकार किया है कि "महादेव साहा किसी भी विषय पर लिखने में पुस्तकों आदि से मेरी सहायता करते रहे हैं।" यह बात 1961 की है, लेकिन रामविलासजी ने 1982 में जब "भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद" लिखा, इस समय जिन लोगों का आभार स्वीकार किया, उसमें साहा जी का नाम नदारद है। यह यों ही नहीं हुआ है। दरअसल इस बीच साहा जी एवं रामविलास जी में कुछ मुद्दों पर मत विरोध हो गया था। एक मुद्दा महावीर प्रसाद द्विवेदी का आकलन था। रामविलास जी ने जब महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण पर अपनी किताब प्रकाशित की, तो उसे पढ़कर साहा जी को लगा कि रामविलास की स्थापना ठीक नहीं है। उनके कुछ ऐसे पत्र हैं जिनमें यह असन्तोष व्यक्त हुआ है। इसी तरह का असन्तोष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की स्थापनाओं पर भी है। पत्र का अंश इस प्रकार है–

17/2/85
12, विंडसर प्लेस, नई दिल्ली-110001

प्रिय श्रीनारायण,

...रामविलास गलत-सलत और झूठी बातें लिखता है, अधिक कागज काला करता है।...इसके दादा और बाप अंग्रेजों की सेना में थे, जैसे महावीर प्रसाद दुबे के दादा और बाप। महावीर बनते नहीं थे, सज्जन थे। रामविलास बनता है। वह भक्त अधिक और आलोचक कम है।

हरिश्चन्द्र ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की कामना करते हुए कविताएँ लिखीं, अफ़गानिस्तान और मिस्र पर अंग्रेजों की चढ़ाई की सफलता की कामना करते हुए जो कविताएँ थीं, तुम्हें याद होंगी। रामविलास के दादा और बाप अंग्रेजों के साम्राज्य-विस्तार के सहायक हुए। रामविलास के तर्क के अनुसार उसके दादा और बाप भी देशभक्त थे।"

महावीर प्रसाद द्विवेदी के सम्बन्ध में एक बात और वे जानना चाहते थे कि "पहले विश्वयुद्ध (1914-18) महावीर द्विवेदी ने सरस्वती में इस युद्ध के बारे में क्या लिखा है? रामविलास लिखता है कि प्रेमचन्द की पीठिका तैयार की थी और विचारों में वे प्रेमचन्द से आगे थे। उग्र बैसवाड़ापन दिखा रहा है।"

"त्रिपाठी (सूर्यकान्त) का जीवन चरित (शर्मा कृत) कई बार छपा है, पहला खंड पढ़ा है, दर्जन से ऊपर तथ्य की गलतियाँ हैं। प्रकाशक मिलने आएगा तो उसे दे दूँगा।"

"शर्मा उग्र हिन्दीवादी मार्क्सवाद विरोधी बन गया है।"

यह खत 1987 का है।

रामविलास शर्मा की हिन्दी जातीयता की अवधारणा को भी वे ठीक नहीं मानते थे। उनका कहना है "केवल भाषा से ही जाति नहीं बनती। रामविलास प्रतिक्रियावादी बात कर रहा है।"

इस प्रकार बहुत-सी बातों में मतभेद था। बातचीत में वे कभी-कभी कहते थे कि रामविलास आर्य समाजी हो गए हैं। मैं यह नहीं कहना चाहता कि किसकी बात सच है। हो सकता है कि साहा जी का कथन तथ्यों से मेल न खाए। इतना केवल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए लिखा कि साहा जी की सोच का पता लग सके।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्बन्ध में भी उनकी राय जानना आवश्यक है। वे सीधे साहित्य के विद्यार्थी नहीं थे, मगर साहित्य पढ़ते रहते थे। हमने आचार्य शुक्ल और बंगला साहित्य पर एक लेख लिखा, उसी बहाने उन्होंने शुक्ल जी के अनुवादों पर जो लिखा वह इस प्रकार है—

पत्र 29/7/86 का है।

"रामचन्द्र शुक्ल ने राखालदास बनर्जी के उपन्यास 'शशांक' का अनुवाद किया था। मूल के अन्तिम अध्याय की जगह अपना लिखा अध्याय जोड़ा था। मूल के और शुक्ल के अध्यायों को मिलाकर देखना होगा। इस पर लिखना होगा।

"आर्न्स्ट हेकेल की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद The Riddle of the universe के कुछ अध्यायों का स्वतन्त्र अनुवाद शुक्ल ने किया था। अपनी ओर से लम्बी भूमिका लिखी थी। भौतिकवादी पुस्तक को शुक्ल ने चौपट करके रख दिया था। दोनों को मिलाकर पढ़ना होगा। इसके बाद लिखने की बारी आएगी।"

हेकल के बारे में एक पत्र में और लिखा—

"आर्न्स्ट हेकेल (Esnst Haeckel 1834-1919) ने 1899 में The Riddle of the Universe लिखी। शुक्ल ने अनुवाद में डटकर जोड़ा-घटाया है। मूल से अनुवाद को अच्छी तरह मिलाना चाहिए, जो जोड़ा है उस पर लिखना चाहिए। पुस्तक का दुनिया की कई भाषाओं में तर्जुमा हुआ था। प्रतिगामियों ने हेकेल का विरोध किया था। प्रगतिवादियों के लिए पुस्तक 'वर्गसंघर्ष' का हथियार बन गई थी। लेनिन ने हेकेल का पक्ष लिया था। बाद में हेकेल कुछ बदल गया था।"

इस प्रकार उनके पत्रों में विभिन्न लेखकों एवं रचनाओं के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ और विचार रहा करते थे।

हिन्दी लेखकों में नामवर सिंह, मार्कंडेय, दूधनाथ सिंह, चन्द्रबली सिंह, त्रिलोचन शास्त्री आदि से भी उनका खासा सम्पर्क था। दिल्ली में नामवर सिंह से उनकी भेंट होती रहती थी। इनके अलावा दिल्ली में रहनेवाले जिन लेखकों की वे चर्चा करते थे, उनमें विश्वनाथ त्रिपाठी और मैनेजर पांडेय मुख्य हैं। साहा जी ने सखाराम देउस्कर की पुस्तक 'देशेर कथा' के प्रथम संस्करण और पंचम संस्करण का सम्पादन किया था। मैनेजर पांडेय ने बाबूराम विष्णु पराड़कर के हिन्दी अनुवाद 'देश की बात' का सम्पादन किया है, जिसमें साहा जी द्वारा सम्पादित 'देशेर कथा' का हवाला दिया है। यों तो नामवर सिंह से उनके अच्छे सम्बन्ध थे, मगर कुछ बातों में उनकी आलोचना भी करते थे। जैसे 'हिन्दी जाति' का सवाल। वे इस मुद्दे पर रामविलास जी एवं नामवर सिंह को एक ही पाँत में खड़ा देखते थे। एक पत्र में फिर उसी बात को दुहराया गया है कि "सिर्फ भाषा से जाति नहीं बनती है। रामविलास हिन्दी जाति का सपना देखता है। नामवर ने हिन्दी 'महाजाति' लिख डाला।...नामवर को लिखा कि तू भी रामविलासी सपना देखने लगा।"

साहा जी का समूचा व्यक्तित्व सूचनाधर्मी ही नहीं था, वे पुस्तकों की तह में भी बैठते थे, उसका विश्लेषण करते थे। उस विषय की अन्य पुस्तकों की तुलना में उसके गुण-दोष का विवेचन करते थे। एक बात जरूर थी कि वे कभी-कभी व्यक्तियों के सम्बोधन एवं आलोचना में इतने अनुदार हो जाते थे कि अपनी और दूसरों की भी मर्यादा भूल जाते थे। रही उनकी लेखन और जन्मस्थान की बात। उनके ज्ञान का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। भाषाएँ भी कई जानते थे ही। मार्क्सवादी दृष्टि भी थी। अच्छा लिख भी लेते थे। हिन्दी, अंग्रेजी और बंगला पर समान अधिकार था। जहाँ तक लिखने का सम्बन्ध है, पत्र-पत्रिकाओं में बराबर शोधपरक आलेख लिखते थे। बंगला से हिन्दी में अनुवाद करते थे। शरतचन्द्र की कुछ रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया था। 'राधा के क्रम विकास' अनुवाद की चर्चा ऊपर की है। अंग्रेजी में लिखी बहुतेरी पुस्तकों का सम्पादन किया था। जेम्स लांग, लालबिहारी दे तथा बहुतेरे प्राचीन दस्तावेजों का सम्पादन किया। लिसामरे ने पेरिस कम्यून का प्रामाणिक इतिहास लिखा था। इसका 1886 में अंग्रेजी अनुवाद हुआ था। साहा जी ने लेखक की जीवनी और बिब्लियोग्राफी के साथ इसका सम्पादन किया है। भूमिका रणदिवे ने लिखी है। कलकत्ता में महावीरप्रसाद लखेड़ा और रामाधार सिंह साहा जी के सम्पर्क में थे। आज वे दोनों जन नहीं हैं। अगर होते तो साहा जी के सम्बन्ध में इन लोगों से बहुत-सी जानकारी मिलती।

जहाँ तब उनके जन्मस्थान का सम्बन्ध है, वे शुरू में उसके सम्बन्ध में कुछ बताना नहीं चाहते थे। अन्तिम दिनों में उन्हें अपना गाँव ज्यादा याद आने लगा था। उन्होंने कई पत्रों में अपने गाँवों के स्कूल के प्रधान शिक्षक श्री रामेश्वर प्रसाद का नाम लिखा। अपने 14.12.2001 के पत्र में लिखा—"अभोली स्कूल के प्रधान शिक्षक बड़े सज्जन हैं। उन्हीं से पता चला है मैं ठाकुर रघुराज सिंह जमींदार के जिस पुत्र को शैशव में छकौड़ी सिंह के नाम से जानता था, वह रघुराज सिंह के पुत्र भगौती सिंह हैं। 100 वर्ष के हो गए हैं। चाहते हैं कि मैं एक बार उधर जाऊँ। अभोली स्कूल के प्रधान शिक्षक दुर्गागंज में रहते हैं। दोनों बेटे दवा का काम करते हैं। अभोली का जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिस्सा बाजार कहलाता था, वह अब टूट-फूट गया है। मेरे दरवाजे का सुविशाल नीम का पेड़ सब की याद कर रहा है।''

उनका अपना पत्र ही उनके जन्मस्थान का प्रमाण पत्र है। अभोली गाँव में उनका जन्म हुआ था। शैशव वहीं बीता। बाद में परिवार कलकत्ता चला गया। बाबू भगौती सिंह की उम्र के अनुसार मृत्यु के समय साहा जी की उम्र भी 90 से अधिक रही होगी। यों उनकी जन्म तिथि, शिक्षा-दीक्षा का सटीक पता नहीं लगता। कलकत्ता के ही किसी कालेज में पढ़े थे। कितना पढ़े थे, क्या पास थे, डॉ. की उपाधि देश-विदेश में कहाँ से मिली थी, इसका पता नहीं है।

अभोली उनके जन्म के समय बनारस स्टेट का हिस्सा था। बाद में वाराणसी जिला का हिस्सा बना। अब रविदासनगर का हिस्सा है। यह जंघई-ज्ञानपुर मार्ग पर बसा है। इस समय अभोली ब्लाक है। यहाँ की भाषा अवधी है। यही उनकी मातृभाषा थी। इस भाषा को वे बोलते भी थे। उनके आगे-पीछे और भी कोई था या है—इसकी कोई जानकारी नहीं है। संयोग से अभोली से 6 किलोमीटर पश्चिम रविदासनगर में ही हमारा भी गाँव है। उनका यह पत्र 'उसने कहा था' कहानी के लहना सिंह की याद दिलाता है।

साहा जी एक नहीं अनेकों की स्मृति में आज भी विद्यमान हैं। कहना इतना ही है कि साहा जी की अन्तिम दिनों की इच्छा पूरी न हुई। दरवाजे के नीम के पेड़ की छाँव में बैठने का अवसर नहीं हो पाया। अन्तिम दिन दिल्ली में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के विंडसर प्लेस पार्टी आफिस में बिताए और वहीं अन्तिम साँस ली। एक ऐसा व्यक्ति सब दिन के लिए चला गया, जो निःस्वार्थ भाव से पार्टी को समर्पित था, जिसकी ज्ञान ज्योति से कितनों ने अपने दीप जलाए हैं। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कालजयी कृति

फटे-पुराने पतलूनों वाले मानवप्रेमी

गिरीश मिश्र

संसार में हर जगह बहुसंख्यक जनता मेहनत-मशक्कत द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन करती है। उसकी श्रमशक्ति ही मशीनों और उपकरण की सहायता से कच्चे माल को वस्तुओं और सेवाओं में बदल देती है, जो लोगों की आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सन्तुष्ट करती हैं। कहना न होगा कि श्रमशक्ति के लिए मजदूरी और वेतन के रूप में जितना भुगतान किया जाता है उससे कहीं अधिक मूल्य वह जोड़ती है। इस प्रकार वही अधिशेष मूल्य का एकमात्र स्रोत है, फिर भी मेहनतकश जनता की आर्थिक-सामाजिक स्थिति प्रायः खराब रहती है। इसके द्वारा उत्पन्न अधिशेष मूल्य को हथियाने वाले वर्ग और उनकी रक्षा करनेवाला राज्य तथा उनके महिमा-मंडन में लगे पंडे-पुरोहित, चिन्तक, लेखक और पत्रकार ऐश करते हैं तथा जनतन्त्र हो या तानाशाही, समाज एवं शासन पर इन्हीं का दबदबा होता है। इतना ही नहीं, जनतन्त्र में मेहनतकश भी इन्हें अपना माई-बाप मानकर उन्हें अपना समर्थन देते हैं।

ऐसा क्यों होता है ? मेहनतकश अपने शोषण की सच्चाई को क्यों नहीं देख पाते ? एक पृथक वर्ग होने के बावजूद वे अपने वर्गहित को साधने के लिए एकजुट क्यों नहीं होते ? वे शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष से क्यों कतराते हैं ? इन जैसे अनगिनत प्रश्नों को रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल ने अपने विश्व प्रसिद्ध उपन्यास "द रैग्गेड ट्राउजर्ड फिलान्थ्रोपिस्ट्स" (फटे-पुराने पतलूनों वाले मानव प्रेमी) में आज से लगभग एक सौ साल पहले उठाकर उनका बड़े विस्तार से विवेचन किया। ट्रेस्सेल्ल स्वयं एक मजदूर थे और उनका पेशा इमारतों में रंग-रोगन करना था। आज लगभग एक शताब्दी के बाद भी न तो उपन्यास की प्रासंगिकता कम हुई है और न ही उसमें लोगों की दिलचस्पी घटी है। वस्तुतः जैसा कि हम आगे देखेंगे, इसकी जनप्रियता बढ़ती ही जा रही है।

2

उपन्यास में झाँकने के पहले, आइए, इसके प्रकाशन और रचनाकार की पृष्ठभूमि के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यों को देखें।

डी.जे. टेलर थैकरे और ऑरवेल के जीवनीकार के रूप में विख्यात हैं। उन्होंने "न्यू स्टेट्समैन" (19 मार्च 1999) में प्रकाशित अपने लेख "द वन हंड्रेड मोस्ट इंफ्लुएंशियल बुक्स एवर रिटन-रिव्यू" में 1850-1999 के डेढ़ सौ सालों के दौरान प्रकाशित सौ अत्यन्त प्रभावशाली पुस्तकों की सूची में "द रैग्गेड ट्राउजर्ड

एफ-112, साकेत, नई दिल्ली-110017

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिलान्थ्रोपिस्ट्स'' को शामिल किया।

एक सौ ग्यारह से अधिक बार आठ से अधिक भाषाओं में यह उपन्यास प्रकाशित हो चुका है। एक संस्करण की भूमिका में एलन सिल्लिटो ने लिखा है कि द्वितीय महायुद्ध के दौरान मलाया में 19 वर्ष की आयु में ब्रिटिश फौज में काम करते समय यह उपन्यास उनके हाथ लगा, जिसको पढ़ने के बाद उनकी जिन्दगी की दिशा ही बदल गई। उनका दावा है कि 1945 के आम चुनाव में ब्रिटिश लेबर पार्टी की जीत में इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

समाचार पत्र ''गार्जियन'' (23 सितम्बर 2004) में टिम पियर्स ने इसको बीसवीं सदी के दस सबसे नामी राजनीतिक उपन्यासों में रखा है। उनका मानना है कि ''कोई उपन्यास दुनिया को नहीं बदल सकता, परन्तु एक महान उपन्यास लोगों के दिमाग को अभूतपूर्व रूप से खोल देता है। और जब दिमाग खुलता है तब भविष्य का दरवाजा भी खुलता है।''

पेंगुइन ने भी इसे ट्रिस्ट्राम हंट की भूमिका के साथ छापा है। जिसकी समीक्षा करते हुए ''इवनिंग स्टैंडर्ड'' ने इसे ''वर्गयुद्ध के विषय में पहला महान अंग्रेजी उपन्यास'' कहा।

मेलबोर्न से प्रकाशित दैनिक ''दी एज'' (18 मार्च 2002) में जासन स्टेगर ने लिखा है : ''कुछ ऐसी किताबें हैं जो आपके जीवन की दिशा बदल सकती हैं। वामपन्थी अक्सर रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल के ''द रैग्गेड ट्राउजर्ड फिलान्थ्रोपिस्ट्स'' या विलियम मौरिस के ''न्यूज फ्रॉम नोवेहर'' या फिर एमिल जोला की किसी कृति का नाम लेते हैं।''

रेमंड विलियम्स के अनुसार जॉर्ज आरवेल के ऊपर ट्रेस्सेल्ल के उपन्यास का गहरा असर था, जिसे उनकी कृति ''कीप दी ऐसपिडिस्ट्रा फ्लाईंग'' में देखा जा सकता है।

वर्ष 2004 में चार मार्च को विश्व पुस्तक दिवस के अवसर पर स्कॉटलैंड की संसद में ट्रेस्सेल्ल के उपन्यास का विशेष उल्लेख हुआ। जॉन स्विनबर्न ने बतलाया कि यह उपन्यास एक मूलभूत सन्देश देता है। वह पूँजीवादी व्यवस्था की असलियत को सरल और सीधी भाषा तथा अवधारणाओं के जरिए उजागर करता है। रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल बतलाते हैं कि मेहनतकश खुद ही अपनी दुर्दशा के लिए काफी हद तक जिम्मेदार हैं। वे पूँजीपतियों को अपना शोषण करने देते हैं और दब्बू बनकर व्यवस्था के आगे आत्मसमर्पण कर देते हैं। इतना ही नहीं, सुधार के लिए होनेवाले हर आन्दोलन की खिल्ली उड़ाते हैं। ऐसा इसलिए है कि मेहनतकश सदा विपन्नता में रहने के आदी हैं। ट्रेस्सेल्ल ने अपने उपन्यास के जरिए उन्हें यह सन्देश देने का प्रयास किया कि मेहनतकश वास्तविकता से मुँह मोड़ने के बदले उसे गहराई में जाकर देखें। संगठित होकर शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष के जरिए ही वे अपनी हालत में बदलाव ला सकते हैं, क्योंकि तभी उन्हें राष्ट्रीय सम्पदा में उचित हिस्सा मिलेगा। सांसद ने बतलाया कि इस उत्कृष्ट पुस्तक ने उनके राजनीतिक चिन्तन और जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है।

उसी वर्ष 24 नवम्बर को ब्रिटिश सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय विकास की तत्कालीन मन्त्री हिलेरी बेन्न ने बी.बी.सी. के एक आयोजन में ट्रेस्सेल्ल के उपन्यास को विलियम कॉब्बेट्ट और चार्ल्स डिकेंस की कृतियों के समकक्ष रखते हुए कहा कि ट्रेस्सेल्ल का उपन्यास शब्दों और प्रतिबिम्बों की शक्ति द्वारा लोगों को कार्रवाई करने के लिए प्रेरित करता है।

अक्टूबर 2004 में रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल और उपन्यास सम्बन्धित ब्यौरों को लेकर 48 पृष्ठों की एक पुस्तिका का प्रकाशन हुआ, जिससे अध्येताओं का पथ-प्रदर्शन हो सके। अब तक दस से अधिक लोगों ने शोध प्रबन्ध तैयार कर डॉक्टरेट की डिग्री अर्जित की है। जिन भाषाओं में उपन्यास का अनुवाद हो चुका है, उनमें जर्मन, रूसी, फ्रेंच, जापानी, पोलिश, चेक, रूमानियन, स्वाहिली आदि प्रमुख हैं। अंग्रेजी में इसको छापनेवाले प्रकाशकों में पेंगुइन, लारेंस एंड विशार्ट, पैंथर, फ्लैमिंगो, पालाडिन, मैकमिलन आदि शामिल हैं। हमारे अपने देश में मुख्यतया लारेंस एंड विशार्ट का संस्करण ही उपलब्ध रहा है।

अंग्रेजी के अग्रणी मार्क्सवादी आलोचक टेरी इगल्टन ने अपनी 1983 में प्रकाशित पुस्तक ''लिटरेरी थियेरी : ऐन इंट्रोडक्शन'' (ऑक्सफोर्ड : बेसिल ब्लैकवेल) में ट्रेस्सेल्ल की कृति के बारे में विचार किया है और उसकी अहमियत को बतलाया है। दूसरी ओर, लन्दन स्थित दी इंस्टीट्यूट ऑफ इकॉनॉमिक अफेयर्स द्वारा वर्ष 2000 में प्रकाशित प्रो. आर्थर पोल्लार्स द्वारा सम्पादित ''द रिप्रेजेंटेशन ऑफ बिजनेश इन इंग्लिश लिटरेचर'' की भूमिका में ट्रेस्टेल्ल के उपन्यास को आवश्यकता से अधिक बड़ा और शब्दाडम्बरपूर्ण बतलाया गया है। यह इंस्टीट्यूट पूँजीवाद और पूर्णतया मुक्त बाजार के मसीहा और मार्ग्रेट थैचर के वैचारिक गुरु फ्रेडरिक हॉयक के मार्गदर्शन में बना था। कहना न होगा कि अपने प्रकाशन के नब्बे वर्ष बाद भी उपन्यास पूँजीपति वर्ग के लिए सिरदर्द बना हुआ है।

आश्चर्य है कि इस उपन्यास के हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा में अनुवाद की बात तो दूर रही, इस पर कोई चर्चा भी नहीं हुई है। इतना ही नहीं, हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के दिवंगत ''महन्त'' और उनके आक्रामक तेवरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले भक्तों ने भी कोई नोटिस नहीं ली है। हिन्दी के एकमात्र मजदूर कथाकार शिवनारायण श्रीवास्तव को कभी इन लोगों ने प्रोत्साहित करने का कष्ट नहीं उठाया और वे विस्मृति के गर्भ में कब के खो चुके हैं।

रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल के जीवन और उनकी पृष्ठभूमि तथा उपन्यास के सम्बन्ध में शोधकार्य के लिए इंग्लैंड के सस्सेक्स में द रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल सेंटर की स्थापना की गई है। वर्ष 1980 से लगातार हर साल उनकी स्मृति में व्याख्यान का आयोजन हो रहा है। इतना ही नहीं, 1967 में बी.बी.सी. ने "द रैग्गेड ट्राउजर्ड फिलान्थ्रोपिस्ट्स" का नाटकीय रूपान्तरण प्रसारित किया। इसका कई बार पुनर्प्रसारण भी हो चुका है।

रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल के विषय में वैसे तो अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं, मगर सबसे पुरानी और प्रामाणिक रचना एफ.सी. बॉल की है, जो "ट्रेस्सेल्ल ऑफ मग्सबोरो" के नाम से 1951 में लारेंस एंड विशार्ट ने लन्दन से प्रकाशित किया।

बॉल को ट्रेस्सेल्ल के सम्बन्ध में जानकारियाँ इकट्ठी करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जहाँ-जहाँ ट्रेस्सेल्ल ने एक मजदूर के रूप में काम किया था, वहाँ-वहाँ बॉल गए। एक फर्म के मालिक को आश्चर्य हुआ कि वे एक निरा अपढ़ मजदूर की जीवनी लिखने में अपना समय नष्ट कर रहे हैं, जो बदमिजाज था। दूसरी फर्म ने टका-सा जवाब दिया कि उसे ट्रेस्सेल्ल के बारे में कुछ भी नहीं मालूम है, जबकि वे वहाँ काम कर चुके थे और इस सम्बन्ध में कागजात विद्यमान थे।

सन 1914 में यानी ट्रेस्सेल्ल की मृत्यु के तीन साल बाद जब ग्रांट रिचर्ड्स ने "द रैग्गेड ट्राउजर्ड फिलान्थ्रोपिस्टस' का पहली बार प्रकाशन किया तब उन्हें यह अहसास था कि पुस्तक निश्चित रूप से शोहरत पाएगी। वे भी चकित थे कि इसका लेखक एक गुमनाम मजदूर है। लेखक के अनुसार वह मकान निर्माण के काम में लगे मजदूरों के एक समूह में रंगरोगन का काम करता था। इंग्लैंड के जिस शहर में वह कार्यरत था, उसको उसने "मग्सबोरो" नाम दिया था। उपन्यास की रचना बड़े ही उत्साह के साथ समाजवादी दृष्टिकोण से की गई। शोधकर्ताओं के अनुसार मग्सबोरो वस्तुतः ईस्ट ससेक्स स्थित हेस्टिंग्स शहर था। 1960 के दशक में जब ब्रिटिश टेलीविजन ने उपन्यास का नाटकीय रूपान्तरण किया, तब उनकी नातिन तथा उनके पति के पास इतने पैसे नहीं थे कि वे एक टी.वी. सेट खरीदकर उसे देख सकें। उनके हितैषियों ने अपनी ओर से एक टी.वी. सेट भेंट किया, तब वे उस कार्यक्रम को देख पाए। जोन तो अब इस दुनिया में नहीं है, मगर उसके पति रेग (78) आज भी जिन्दा हैं और गरीबी के बावजूद हर वर्ष अपने पेंशन से एक हजार पाउंड की रकम रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल फाउंडेशन को देते हैं।

रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल का असली नाम रॉबर्ट नूनन था। चूँकि वे रंगरोगन का काम करते थे, जिसके लिए पाएदार सीढ़ी या छोड़ी का इस्तेमाल होता था जिसे अंग्रेजी में ट्रेसल्ल (trestles) कहते हैं, इसीलिए इसी आधार पर उन्होंने अपना नाम रॉबर्ट ट्रेस्सेल्ल कर दिया।

इंग्लैंड आने के पहले उन्होंने एक लम्बे अरसे तक दक्षिण अफ्रीका में काम किया था। वहाँ वे एक कलाकार के रूप में नामपट्ट तैयार करते थे। जब वे इंग्लैंड आए तब उनके साथ उनकी बेटी भी थी। पत्नी गुजर चुकी थी। इधर-उधर भटकने के बाद वे 1902 के करीब हेस्टिंग्स में बस गए और स्थानीय भवन-निर्माताओं के लिए काम करने लगे। फुर्सत के समय वे "द रैग्गेड ट्राउजर्ड फिलान्थ्रोपिस्ट्स" लिखने का काम करते थे। सन 1911 में उनका बेहद गरीबी में क्षय रोग से देहान्त हो गया। इसके तीन साल बाद उनका उपन्यास ग्रांट रिचर्ड्स लिमिटेड ने प्रकाशित किया।

प्रकाशन की कहानी भी कम दिलचस्प नहीं है। उनकी मृत्यु के बाद उनकी बेटी लन्दन में घरेलू नौकरानी के रूप में काम करने लगी। एक दिन जब उसके मालिक अपने मेहमान के साथ खाने की मेज पर बैठे किताबों के बारे में बात कर रहे थे, तब उसने अपने पिता की पांडुलिपि का जिक्र किया और उन्हें पांडुलिपि दी। 1914 में "पंच" पत्रिका की कुमारी जेस्सी पोप ने प्रकाशक ग्रांड रिचर्ड्स के लिए इसका सम्पादन किया, किन्तु पोप ने उसे काट-छाँटकर तिहाई मात्र कर दिया। इतना ही नहीं, प्रकाशित पुस्तक ने मूल पांडुलिपि की आत्मा के साथ भी पूरा न्याय नहीं किया। सम्पादक ने लेखक के इरादे के साथ भी छेड़छाड़ की। उदाहरण के लिए ट्रेस्सेल्ल के उपन्यास का अन्त आशावादी था, जबकि सम्पादक ने उपन्यास के बीच से एक पैरा निकालकर वहाँ रखा दिया, जिसमें नायक ओवेन को आत्महत्या पर उतारू दिखलाया गया। कई घटनाओं को पूरी तरह हटा दिया गया। बैरिंग्टन नामक समाजवादी चरित्र, जिसकी मूल पांडुलिपि में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी, प्रकाशित पुस्तक से पूरी तरह गायब था।

मई 1918 में अपेक्षाकृत और भी छोटा संस्करण निकाला गया। "संक्षिप्त संस्करण" के नाम पर 1914 के संस्करण के मुकाबले ग्यारह अध्याय कम रखे गए। 1940 में पेंगुइन ने भी "संक्षिप्त संस्करण" ही प्रकाशित किया। मूल पांडुलिपि को ढूँढ़कर बिना काट-छाँट के सम्पादित कर लारेंस एंड विशार्ट से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशित कराने का श्रेय एफ.सी. बॉल को ही जाता है। जैसा कि हम कह चुके हैं, बॉल ने ट्रेस्सेल्ल के सम्बन्ध में बड़े परिश्रम से अनेक तथ्यों को जुटाकर प्रकाशित किया। बॉल द्वारा सम्पादित पुस्तक में ट्रेस्सेल्ल द्वारा लिखी गई भूमिका भी दी गई है।

यह भूमिका काफी महत्त्वपूर्ण है। ट्रेस्सेल्ल बतलाते हैं कि "इस पुस्तक को लिखने में उनका इरादा एक रुचिकर कहानी के रूप में श्रमजीवी वर्ग के जीवन का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करना था, विशेषकर उन मजदूरों के जीवन का जो इंग्लैंड के दक्षिणी भाग के एक छोटे-से नगर में भवन-निर्माण में लगे थे।" वे मजदूरों और मालिकों के परस्पर सम्बन्धों, एक दूसरे के प्रति दृष्टिकोण और भावनाओं, साल के विभिन्न मौसमों के दौरान मजदूरों की स्थिति, रोजगार और बेरोजगार होने पर उनकी दशा में अन्तर, उनकी खुशी, उनके गम, उनके बौद्धिक दृष्टिकोण, उनकी धार्मिक एवं राजनीतिक राय और आदर्शों का वर्णन करते हैं।

कहानी बारह महीनों से थोड़ी अधिक अवधि के दौरान घटित होती है, किन्तु तस्वीर की सम्पूर्णता के लिए वह आगे-पीछे भी जाती है। कहानी के चरित्रों में हर उम्र के मर्द और औरतें शामिल की गई हैं।

ट्रेस्सेल्ल के ही शब्दों में सुनिए : "मैंने उपन्यास की रूपरेखा गरीबी और बेरोजगारी से उत्पन्न स्थितियों को दिखाने; उनसे निबटने के लिए उठाए गए कदमों की निरर्थकता का पर्दाफाश करने तथा यह इंगित करने के उद्देश्य से बनाई कि, जैसा मेरा विश्वास है, सबका एक ही असली इलाज है— समाजवाद। मेरा इरादा यह स्पष्ट करना था कि समाजवादी 'गरीबी' शब्द को कैसे लेते हैं। मेरा उद्देश्य गरीबी के कारणों के समाजवादी सिद्धान्त को परिभाषित करना, और यह स्पष्ट करना था कि समाजवादी गरीबी का उन्मूलन कैसे करना चाहते हैं।"

ट्रेस्सेल्ल ने रेखांकित किया कि समाजवाद पर अनेकानेक विद्वतापूर्ण ग्रन्थों के मौजूद होने के बावजूद उन्होंने यह उपन्यास इसलिए लिखा कि न सिर्फ बहुसंख्यक लोग समाजवाद विरोधी हैं, बल्कि अधिकतर लोगों को पता ही नहीं है कि समाजवाद वस्तुतः है क्या। बड़े-बड़े राजनेता भी समाजवाद को लेकर अँधेरे में तीर चलाते हैं। इसलिए समाजवाद को सरल, सपाट शब्दों में प्रस्तुत करने की जरूरत है। इसी को ध्यान में रखकर उन्होंने एक पठनीय कहानी लिखी है, जो मानव अभिरुचि से सराबोर तथा दिन-प्रतिदिन के जीवन की घटनाओं पर आधारित होने के साथ ही उसमें समाजवाद की चर्चा प्रसंगवश ही हो।"

अन्त में, ट्रेस्सेल्ल के अनुसार, उनको अपने मिशन में कितनी सफलता मिली है, इसके सम्बन्ध में पाठकों का जो भी फैसला हो, "इस कृति की कम-से-कम एक खूबी है कि वह सच्ची है। मैंने अपनी कल्पना से कुछ भी नहीं जोड़ा है। कहानी में ऐसे कोई दृश्य या घटनाएँ नहीं हैं जिनको मैंने देखा अथवा जिनके लिए निर्णायक सबूत नहीं हैं।"

याद रखने की बात है कि ट्रेस्सेल्ल का निधन बोल्शेविक क्रान्ति से छः वर्ष पहले हुआ। इस प्रकार उपन्यास की रचना ही नहीं बल्कि उसका प्रकाशन भी अक्टूबर क्रान्ति के काफी पहले हुआ।

17 अप्रैल 1870 को आयरलैंड की राजधानी डब्लिन में जन्मे ट्रेस्सेल्ल मात्र 41 वर्ष भी जिन्दा नहीं रह पाए। 1881 में अपनी पढ़ाई छोड़ दक्षिण अफ्रीका गए, जहाँ उन्होंने रंगरोगन करने तथा साइनबोर्ड लिखने का काम सीखा। वहीं वे श्रमिक आन्दोलन से जुड़े और ट्रांसवाल फेडरेटेड बिल्डिंग काउंसिल के सचिव चुने गए और इसी हैसियत से मई 1899 में इंटरनेशनल लेबर पार्टी की स्थापना के लिए हुए सम्मेलन में शामिल हुए। इंग्लैंड आने के बाद वे मार्क्सिस्ट सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन से जुड़ गए।

सोवियत संघ के विघटन और मार्क्सवादी साहित्य में लोगों की रुचि कम होने के बावजूद "द रैग्गेड ट्राउजर्ड फिलान्थ्रोपिस्ट्स" में लोगों की दिलचस्पी बरकरार है। इसका एक सबूत यह है कि इंटरनेट पर एक से अधिक जगह पर पूरा-का-पूरा उपन्यास उपलब्ध है। और 2004 के अगस्त के पहले हफ्ते में उसका एक नया संस्करण पेंगुइन क्लासिक्स के अन्तर्गत छपा। इस संस्करण के भूमिका लेखक ट्रिस्ट्राम हंट ने "गार्जियन" (7 अगस्त 2004) में छपे एक लेख में इसे "गरीबी से जुड़े तिरस्कारों, ओवरसियर के आतंक, बर्खास्तगी के निरन्तर डर और मजदूरी में कटौती का एक महान् साहित्यिक चित्रण" बतलाया। उनके अनुसार रूमानियत से ओतप्रोत मजदूर जीवन से सम्बद्ध अधिकतर उपन्यासों से वह अलग है। याद रहे कि हिन्दी में ऐसे रूमानियत से भरे श्रमिक आन्दोलन से जुड़े उपन्यासों की कमी नहीं है। यथार्थ से दूर इन सब उपन्यासों के लेखक मध्यवर्गीय रहे हैं, जो अपनी जवानी के दिनों में रूमानियत के कारण मार्क्सवाद की ओर झुके। ट्रेस्सेल्ल ने श्रमिक जीवन को गहराई से देखा और जिया था। अन्य लेखकों की तरह उनका ज्ञान मात्र किताबी या अखबारी नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3

उपन्यास की शुरुआत "द केव" नामक एक पुरानी इमारत के अभिनवीकरण से होती है। इस काम का ठेका रूश्टन एंड कम्पनी, बिल्डर्स एंड डेकोरेटर्स ने लिया है और उसने भाँति-भाँति के कौशल से सम्पन्न 25 मजदूर लगाए हैं। उपन्यास का नायक फ्रैंक ओवेन भी उन्हीं में से एक है जिसका धन्धा रंगरोगन करने तथा साइनबोर्ड लिखने का है। अभिनवीकरण का काम जोखिम भरा है। दीवारों से पुराने कागज और पलस्तर उतारने के क्रम में चारों ओर धूल, रोगों के कीटाणु तथा गन्दगी फैलती है, जिससे कामगारों के स्वास्थ्य को खतरा बना रहता है।

मजदूर समय की पाबन्दी बरतें और ठीक से काम करें इसके लिए मालिक रूश्टन ने एक ओवरसियर तथा उसके नीचे सहायक के तौर पर एक मजदूर को रखा है, जो कामगारों पर निरन्तर निगाह रखते हैं और तनिक भी गलती करने पर मजदूरी में कटौती करते या बरखास्त कर देते हैं।

भोजनावकाश या चाय के लिए मिलनेवाली छुट्टी या फिर काम से वापस जाते समय अनेक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक समस्याओं को लेकर उनके बीच दिलचस्प बहस होती है, जिसका वर्णन उपन्यास में विस्तार से किया गया है। ओवेन के विचार आमतौर से लीक से हटकर होते हैं।

अन्य मजदूरों के विचार प्रायः रूढ़िवादी हैं, जिनको बदल पाना आसान नहीं है। ओवेन इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि लोगों के एक छोटे-से वर्ग के पास अपार समृद्धि और ऐशो-आराम की हर चीज की प्रचुरता है। यह वर्ग इन वस्तुओं का उत्पादन स्वयं नहीं करता। इनका उत्पादन मजदूर वर्ग करता है। समाज के बहुसंख्यक येन-केन-प्रकारेण अपनी जिन्दगी की गाड़ी को घसीट रहे हैं। उनमें भी एक हिस्सा ऐसा है जिसे पालने से लेकर कब्र तक की अपनी यात्रा में दोनों जून भोजन भी नसीब नहीं होता। इनमें से कई भुखमरी के शिकार हो जाते हैं या निर्धनता से तंग आकर अपनी और अपने बच्चों की जान लेकर उससे मुक्त होने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार परिश्रम करनेवाले दुःख और निठल्ले सुख भोगते हैं। अपने अनुभव और चिन्तन के आधार पर ओवेन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूरी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था ही सड़ी हुई है और उसको आमूल-चूल बदले बिना शोषण, उत्पीड़न और विषमताओं को नहीं मिटाया जा सकता। यही निष्कर्ष उन्हें समान विचारवाले विद्वानों की पुस्तकों में भी दिखा है।

ओवेन के सहकर्मी उनसे सहमत नहीं हैं। वे मानते हैं कि उनका दिमाग खराब है। वस्तुतः उनके सहकर्मियों के दृष्टिकोण पर समाज में प्रचलित विचारों और प्रचार माध्यमों ने गहरा प्रभाव डाला है। समाचार पत्र "ऑब्सक्युरर" ने मनगढंत आँकड़ों से रेखांकित करने की कोशिश की है कि मुक्त व्यापार और विदेशी मजदूरों के धड़ल्ले से इंग्लैंड आने से देशी मजदूरों की हालत खराब हुई है। "द क्रॉनिकल ऑफ क्राइम" और "डेली क्लोरोफॉर्म" का भी मजदूरों पर कम प्रभाव नहीं है। जनसंख्या में वृद्धि, राजकोषीय नीति से लेकर शराब पीने की आदत को मजदूरों की गरीबी और दुरवस्था का मूल कारण बतलाया जाता है। आम मजदूर ओवेन के इस विचार से सहमत नहीं हैं कि मद्यपान या आलस्य गरीबी का मूल कारण नहीं है। ओवेन सवाल करते हैं कि अधिकतर मद्यपान से कोसों दूर रहने और लगन से काम करनेवाले मजदूर क्यों जिन्दगी भर विपन्नता से त्रस्त रहते हैं ? अगर किसी चमत्कार के तहत सभी पियक्कड़ और काहिल पूर्णतया बदल जाएँ, तो भी विपन्नता से निजात नहीं मिलेगी, क्योंकि वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत बेरोजगारी में कमी नहीं आएगी और न ही मजदूरी की दर में पर्याप्त वृद्धि होगी। वस्तुतः पियक्कड़पन, सुस्ती और अकुशलता को गरीबी के मूल कारण के रूप में रखनेवाले सिद्धान्तों को जान-बूझकर गढ़ा गया है कि मजदूर अपनी वर्तमान विपन्न स्थिति के मूल कारणों को देख न पाएँ। इन सिद्धान्तों के पीछे निहित स्वार्थवालों का हाथ है, जो वर्तमान अन्यायपूर्ण व्यवस्था को बरकरार रखना चाहते हैं।

ओवेन की बात का जब अन्य मजदूरों ने मजाक बनाने की कोशिश की तब वे हतोत्साहित नहीं हुए, क्योंकि उन्हें मालूम था कि उन पर रूढ़िवादी विचारों और प्रचार का गहरा असर है। ओवेन ने बड़े ही तार्किक ढंग से बतलाया कि गरीबी क्या होती है। मुद्रा का अभाव गरीबी की आमतौर से अभिव्यक्ति होता है, मगर एक निर्जन द्वीप में जहाज के दुर्घटनाग्रस्त होने के बाद पहुँचे यात्रियों की हालत एक जैसी होती है, भले ही किसी के पास पैसे हों या न हों। वैसे जो व्यक्ति सिर्फ नोटों की गड्डी बचाकर लाया है उसको जान के लाल पड़ेंगे, जबकि बिस्कुट का पैकेट और पानी की बोतल बचाकर लाए हुए व्यक्ति की हालत बेहतर होगी, भले ही उसके पास पैसे न हों।

ओवेन के शब्दों में, "मैं उस स्थिति को निर्धनता कहता हूँ, जिसमें लोग सभ्यता के फायदों को प्राप्त न कर सकें यानी जरूरी वस्तुओं और सेवाओं, आराम के सामानों, जीवन के आनन्द और परिष्कृतियों, अवकाश, पुस्तकों, थिएटरों, चित्रों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगीत, छुट्टियों, पर्यटन, अच्छे और सुन्दर घरों, बढ़िया कपड़ों, अच्छे और आनन्ददायी भोजन से वंचित रहें।''

ओवेन का यह कथन सुनते ही उसके सहकर्मी हँस पड़े। क्या पागलपन है कि वे मजदूर अब मालिकों के जैसे रहने का सपना देखेंगे ! मगर ओवेन के अनुसार सभ्यता किसी एक वर्ग की मिल्कियत नहीं, बल्कि सबकी साझी विरासत है और उसकी उपलब्धियों पर सबका समान रूप से अधिकार है। ''ऐसा क्यों है कि हम न सिर्फ अपनी विरासत बल्कि सभ्यता के सभी फायदों से वंचित हैं बल्कि हमारे बच्चे भी जिन्दा रहने के लिए आवश्यक चीजें नहीं जुटा पाते।'' याद रहे कि ''इन सब चीजों का उत्पादन मजदूरों ने किया है। चूँकि हम अपने हिस्से का काम पूरी ईमानदारी से करते हैं, इसलिए हमें श्रम द्वारा उत्पन्न चीजों में पूरा हिस्सा मिलना ही चाहिए।''

उपन्यास में गरीबी और उसके कारणों को स्पष्ट करने के लिए प्रस्तुत किए जानेवाले सभी सिद्धान्तों की बखिया उधेड़ी गई है। मसलन माल्थसवादी सिद्धान्त की कि गरीबी अत्यधिक जनसंख्या का परिणाम है। चूँकि मजदूर वर्ग अपने बच्चों की संख्या पर लगाम नहीं लगाता इसलिए गरीब है यानी गरीबी के लिए वे स्वयं जिम्मेदार हैं, उत्पादन व्यवस्था और सम्बन्ध नहीं। दूसरा सिद्धान्त है कि बाहर से धड़ल्ले से माल आने तथा श्रम आव्रजन के कारण बेरोजगारी और नतीजतन गरीबी बढ़ती है। तीसरा, अपनी अशिक्षा और अज्ञानता के कारण मजदूर अन्धविश्वास, जुए तथा शराब के चंगुल में फँसकर अपनी कमाई बर्बाद कर देते हैं, जिसका परिणाम होता है गरीबी।

आगे चलकर ओवेन पूछते हैं : ''साजोसामान, कच्चे माल और उपकरण की प्रचुरता, श्रम की विपुलता तथा मशीन की बहुतायत के बावजूद लोग अभाव से क्यों त्रस्त हैं ?''

उपन्यास के पन्द्रहवें अध्याय में गरीबी सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का विस्तार से मगर रोचक ढंग से विश्लेषण है। धीरे-धीरे जब सहकर्मियों को यह लगने लगता है कि ओवेन की बातों में दम है तब वे लंच के समय आए दिन ओवेन से अपनी बातों को विस्तार से समझाने का आग्रह करते हैं। ओवेन ब्रह्मांड के उद्भव और मानव जाति के विकास को वैज्ञानिक दृष्टि से स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं, जिससे मजदूर अनेक अन्धविश्वासों से बाहर आ सकें। उनके अनुसार विश्व का कोई नियन्ता नहीं है और वह सतत परिवर्तनशील है।

कामगारों की दयनीय स्थिति को विस्तार से स्पष्ट करते हुए ओवेन कहते हैं कि इसके पीछे मूल कारण वह ''मकान'' है जिसमें वे रहते हैं। यह मकान है—''मुद्राप्रणाली'' जिसमें रहने पर गरीबी नामक बीमारी से ग्रस्त होना वैसे ही लाजिमी है जैसे कि किसी नमी वाले, बदबूदार घर में रहने वाला बीमार होता है, जहाँ शुद्ध वायु और स्वच्छ पेयजल का अभाव होता है। इधर-उधर मरम्मत करने या सुधार की कोशिश से स्थिति में कोई टिकाऊ बदलाव नहीं आ सकता। ''गरीबी को समाप्त करना है तो हमें उसके कारणों को खत्म करना होगा; कारणों को खत्म करने के लिए हमें पूरी व्यवस्था को नष्ट करना ही होगा।'' उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को समाप्त करना होगा।

गरीबी न तो बच्चों की संख्या बढ़ने के कारण है और न ही मशीनों के बढ़ते इस्तेमाल से। इस प्रकार ट्रेस्सेल्ल ओवेन के जरिए माल्थस और मशीन-भंजकों को गलत बतलाते हैं। साथ ही शराबखोरी और काहिली को गरीबी के कारण के रूप में खारिज करते हैं। गरीबी का मूल कारण है : उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व और मुनाफे को अधिकतम बनाने के उद्देश्य से उत्पादन।

उपन्यास में रेखांकित किया गया है कि ओवरसियर हंटर हो या कम्पनी का मालिक रूश्टन या फिर शहर के अन्य सम्भ्रान्त लोग, उनकी धर्मगुरुओं से मिलीभगत है। वे धर्म का इस्तेमाल अपने शोषक-उत्पीड़न चरित्र को छिपाने के लिए करते हैं। अपने द्वारा लूटे गए पैसों से धर्मगुरुओं और संस्थानों का पोषण करने के साथ मजदूरों की जेब से भी धर्म के नाम पर पैसे निकालते हैं। ओवेन मजदूरों को बतलाने की कोशिश करते हैं कि धर्म उनका कोई कल्याण नहीं कर सकता, उनकी गरीबी और बेरोजगारी, जहालत और बीमारी को दूर नहीं कर सकता।

रूश्टन सहित सारे धनवानों ने मिलकर मग्सबोरो शहर पर अपना दबदबा कायम कर रखा है। वे नगरपालिका के जरिए गैस एवं पेयजल की आपूर्ति की ऐसी तिकड़मी व्यवस्था रखते हैं कि नागरिकों को यथासम्भव लूट सकें। ट्रेस्सेल्ल ने पूरा ब्यौरा दिया है कि कैसे वे यह सब कुछ कर पाते हैं। वे सार्वजनिक सम्पत्ति को चुराने में नहीं हिचकते।

रूश्टन और ओवरसियर हंटर आज के भारतीय ठेकेदारों और निजी भवन निर्माताओं से कतई भिन्न नहीं हैं। वे निविदा भरने और ठेका प्राप्त करने के लिए हर तिकड़म करते हैं। भवन निर्माण या मरम्मत में घटिया सामान इस्तेमाल करते हैं। सीमेंट और पेंट की तयशुदा मात्रा नहीं लगाते और जहाँ तीन बार पुताई करने का करार हुआ है वहाँ एक या दो बार ही पुताई की जाती है। सारे धन्धे में झूठ और फरेब की प्रधानता होती है। यथासम्भव मजदूरी घटाने की कोशिश होती है। जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मौसम के हिसाब से धन्धा मन्दा होता है तब मजदूरों पर कम मजदूरी लेकर काम करने के लिए दबाव बढ़ाया जाता है। श्रम संगठन के अभाव में मजदूरों की प्रतिरोध की शक्ति इतनी कमजोर होती है कि वे घुटने टेक देते हैं, अन्यथा उनका परिवार भूख और बीमारी से नहीं लड़ पाएगा। ट्रेस्सेल्ल ने मजदूरों के जीवन में झाँककर यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत करने का प्रशंसक प्रयास किया है। ओवेन के मुख से कहलवाते हैं कि यह या वह पूँजीपति विशेष खराब या उत्पीड़क नहीं है बल्कि पूरी व्यवस्था स्वभावतया शोषक और उत्पीड़क है। पूँजीपति विशेष को हटाने से काम नहीं बनेगा बल्कि पूरी व्यवस्था को ही बदलना होगा।

मजदूरों के ऊपर धर्म और बचपन से ग्रहण किए गए संस्कारों का इतना दबदबा है कि वे वास्तविकता को देख पाने में काफी कठिनाई महसूस करते हैं। ओवेन उन्हें समझाने की कोशिश करते हैं कि स्वार्थपरता व्यवस्था की देन है और व्यवस्था बदलने पर ही वह जाएगी, भले ही हृदय परिवर्तन के लिए कितने भी प्रवचन क्यों न दिए जाएँ।

ओवेन कई बार निराशा में डूब जाते हैं। उन्हें चिन्ता है कि क्या उनका बेटा भी उन्हीं की तरह सारी जिन्दगी भूख, बीमारी और गरीबी से जूझते हुए मर जाएगा। मगर दूसरे ही क्षण वे संघर्ष के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। व्यवस्था को बदलने के लिए संघर्ष करना होगा, जिसके लिए पहली शर्त है : मजदूरों को जागरूक बना संगठित करना। वे संकट के समय मजदूरों की हर प्रकार मदद करते हैं। उनके साथ झगड़ते नहीं, बल्कि सहानुभूतिपूर्वक पेश आते हैं, जिससे उनका विश्वास जीत सकें।

अधिकतर मजदूर परिवार क्षय रोग के चंगुल में हैं। ट्रेस्सेल्ल ने ऐसे परिवारों की दशा का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि जो लोग क्षय रोग को रोकना और उससे ग्रस्त लोगों को छुटकारा दिलाना चाहते हैं वे पाखंडी या मूर्ख हैं, क्योंकि वे उसके मूल कारण गरीबी को खत्म करने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते। गरीबी के कारण ही मजदूर परिवार आए दिन भूखे रहते हैं, उनके कपड़े गन्दे और अपर्याप्त तथा आवास अस्वास्थ्यप्रद होते हैं।

ब्याज की ऊँची दरों से और जरूरी वस्तुओं के दाम बढ़ाकर मजदूरों की मेहनत की कमाई को हड़पने की कोशिश होती है। इस तथ्य को ट्रेस्सेल्ल ने विस्तार से रखा है। एक आदमी की कमाई और आए दिन बेरोजगारी के हमले से त्रस्त परिवार के अन्य सदस्यों को भी कमाने की जुगत लगानी पड़ती है। अगर दो कमरे हैं तो सारा परिवार एक कमरे में सिमटकर रहता है और दूसरा कमरा किराए पर चढ़ा दिया जाता है। औरतें दूसरों के नौकरानी का काम करती हैं और बच्चे पढ़ाई छोड़ मेहनत-मजदूरी करने लगते हैं।

ट्रेस्सेल्ल ने यह तथ्य उजागर किया है कि मजदूरों को संगठित करना आसान नहीं होता। बचपन से ग्रहण संस्कार, धर्म, मालिकों का पाखंड और उनके पक्षधर अखबारों के गुमराह करनेवाले प्रचार आड़े आते हैं। ट्रेस्सेल्ल ने समाचार पत्रों को "ॲब्सक्यूरर", "क्लोरोफॉर्म", "एनानियास" (मिथ्या-भाषी) आदि नाम दिए हैं जो उनके चरित्र को उजागर करते हैं। परोपकार के "उद्देश्य" से बनी अनेक संस्थाओं का मकसद भी मजदूरों को संगठित होने से रोकना है। इसके लिए अनेक झूठे सिद्धान्त प्रचारित-प्रसारित किए जाते हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था में आए दिन अत्युत्पादन के कारण अनबिके मालों का अम्बार लग जाता है और मालिक कारखाने बन्द कर देते हैं या उत्पादन में कटौती करते हैं। दोनों ही स्थितियों में ढेर सारे श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं। वे फटे-पुराने कपड़ों और जूतों में दिखते और भोजन के लिए तरसते हैं, क्योंकि कपड़ों, जूतों और खाद्य पदार्थों का उत्पादन उनकी माँग की तुलना में कहीं अधिक हो गया है। कपड़ों, जूतों और खाद्य पदार्थों की कोई कमी नहीं होती, मगर मजदूर और उनके परिवार के सदस्य उनके लिए तरसते हैं। इस स्थिति के लिए व्यवस्था ही मूलतः जिम्मेदार है, जिसे बदले बिना "प्रचुरता के बीच अभाव" की स्थिति से नहीं बचा जा सकता। व्यवस्था में बदलाव लाने के लिए सबसे बड़ी शर्त यह है कि भूखे, नंगे, बेहाल मेहनतकश होश में आएँ और शोषक-उत्पीड़क पूँजीवाद की पूजा-अभ्यर्थना करना तथा उसकी वेदी पर अपने बच्चों की बलि चढ़ाना छोड़ें। इस धारणा को त्यागें कि पूँजीवाद विकल्प, विहीन, सबसे सुन्दर व्याख्या है। वस्तुतः पूँजीवाद चोरी, लूट और धोखाधड़ी पर आधारित है। यह व्यवस्था हर जगह, हर समय, ठगी को प्रोत्साहन देती है। ठेकेदार घटिया सामग्री इस्तेमाल कर काम को जैसे-तैसे निबटाते हैं। इसी तरह मजदूर भी काम से जी चुराते, धीरे-धीरे काम करते या किसी तरह उसे निपटा देते हैं। इस तरह हर जगह ठगी का आलम होता है। सतही तौर पर मजदूरों को सब प्रकार की स्वतन्त्रता होती है। वे चाहें तो काम करें और न चाहें तो बैठे रहें। मगर पेट की आग ऐसी है जो काम करने के लिए मजबूर करती है। इसी मजदूरी के परिणामस्वरूप मजदूर उजरती गुलाम बन जाते हैं, और, जिसे अर्थशास्त्री श्रम बाजार कहते हैं वह वस्तुतः उजरती गुलामों की खरीद-फरोख्त का स्थान बन जाता है। इस प्रकार पूँजीवाद में भी दासता तो है, मगर एक नए रूप में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरानी दास प्रथा के युग में गुलाम आजाद नहीं थे, मगर उन्हें भूखे मरने के लिए छोड़ना मालिक के हित में नहीं होता था। आज उजरती गुलाम हर तरह से आजाद है, यहाँ तक कि मरने के लिए भी। उसको जिन्दा रखना किसी की भी नैतिक जिम्मेदारी नहीं होती।

ट्रेस्सेल्ल ने इस तर्क का भी जोरदार खंडन किया है कि पूँजीपति और मजदूर के बीच मुख्य अन्तर इस कारण होता है कि जहाँ पूँजीपति दिमाग से काम करते हैं वहीं मजदूर केवल शारीरिक शक्ति से। अगर यह सही है कि शारीरिक श्रम के लिए दिमाग की कोई जरूरत नहीं होती, तो हम बौड़म लोगों को पागलखाने क्यों भेजते हैं ? उन्हें उन कामों में क्यों नहीं लगाते जिनके लिए दिमाग की जरूरत नहीं होती ? वे तो कम मजदूरी पर भी काम करने को तैयार हो सकते हैं। उन्हें निर्वाहयोग्य मजदूरी देने की भी क्या आवश्यकता है ? मालिकों का यह कहना भी तर्क से परे है कि वे मजदूरों के नियोक्ता से बढ़कर उनके मित्र हैं। वस्तुतः वे मजदूरों के मित्र नहीं हो सकते, क्योंकि उन्हें व्यवसाय में अन्य प्रतिद्वन्द्वियों से मुकाबला करना होता है, इसलिए लागत में कटौती कर उनसे अपेक्षाकृत कम कीमत पर अपना माल बेचने का प्रयास करना होता है। इस क्रम में कम-से-कम मजदूरी देने का प्रयास करते हैं। मजदूरों से मित्रता और मजदूरी में यथासम्भव कटौती एक साथ नहीं चल सकती। स्पष्ट है कि मजदूर और मालिक के हित कभी समान नहीं हो सकते। मालिक कम-से-कम मजदूरी देकर अधिक से मात्रा में उच्च गुणवत्ता का उत्पादन चाहता है। इसके विपरीत मजदूर कम-से-कम काम कर अधिक मजदूरी तथा सुविधाएँ लेना चाहता है। इस प्रकार उनके बीच रस्साकशी चलती रहती है। इसे ही वर्गसंघर्ष के रूप में देखा जाता है। साँप और नेवले की तरह उनके बीच भी संघर्ष जारी रहता है।

ट्रेस्सेल्ल के उपन्यास में बैरिंग्टन नाम का भी एक चरित्र है, जो हमेशा शान्त रहता है। अन्य मजदूर उसकी पृष्ठभूमि से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। अन्ततः मालूम होता है कि वह एक समृद्ध परिवार का पढ़ा-लिखा व्यक्ति है, जो मजदूर बनकर श्रमिक जीवन को नजदीक से देखना और जीना चाहता है। वह ओवेन के साथ मिलकर समाजवाद के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिए उसकी तर्कपूर्ण विवेचना करता है।

वह अपने एक भाषण के क्रम में भारत की चर्चा करते हुए कहता है कि "भारत एक धनी और उत्पादक देश है। हर साल वहाँ के लोग करोड़ों पाउंड की सम्पदा पैदा करते हैं, मगर पूँजीपति और अधिकारी वर्ग "मनी ट्रिक" के जरिए उसे हड़प लेते हैं। उसके अध्यवसायी बेटे-बेटियाँ कभी शराब नहीं छूतीं, फिर भी वे भयंकर गरीबी में डूबी हुई हैं। उनकी विपन्नता के पीछे उनकी सुस्ती, फिजूलखर्ची या मद्यपान नहीं है। वे उसी वजह से गरीब हैं, जिससे हम गरीब हैं। कारण है : हम दोनों का ही लूटा जाना।"

कहना न होगा कि अंग्रेज और भारतीय श्रमजीवी एक ही दुश्मन के चंगुल में हैं। वह है : इंग्लैंड का पूँजीवाद, जो भारत को उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद के रूप में त्रस्त कर रहा है। स्पष्ट है कि ट्रेस्सेल्ल को पूँजीवाद की क्रिया-विधि की गहरी समझदारी थी। उन्होंने उसे भोगा था। दक्षिण अफ्रीका में उसके साम्राज्यवादी रूप को भी नजदीक से देखा था। संयोगवश, गांधीजी ने भी उसी समय उसको वहाँ व्यवहार में देखा और भोगा था।

ट्रेस्सेल्ल समाजवाद के पक्के हिमायती हैं, क्योंकि वही पूँजीवाद का एकमात्र विकल्प हो सकता है। वह शोषण-उत्पीड़न को समाप्त करने के साथ ही धरती पर हर जगह शान्ति लाएगा तथा सम्पूर्ण मानवजाति के बीच भाईचारे का बीज बोएगा।

उपन्यास में ब्रिटिश संसद के चुनाव की भी चर्चा है। अपनी सब कोशिशों और प्रचार के बावजूद ओवेन और बैरिंग्टन मजदूरों को सही रास्ते पर लाने में सफल नहीं होते। मजदूर अपने शोषकों और उत्पीड़कों को वोट देकर उनके प्रति अन्धभक्ति दिखलाते हैं। अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारकर भी अपने वर्ग शत्रुओं के हित में काम करते हैं। अजीब विडम्बना है कि वे अपने हितों को तिलांजलि देने के साथ ही अपने बच्चों के भविष्य की भी कोई चिन्ता नहीं करते। लगता है कि वे जड़बुद्धि हैं।

बैरिंग्टन मोग्सबोरी क्रिसमस के समय छोड़कर चला जाता है। जाते समय एक अच्छी-खासी रकम ओवेन और अपने सहकर्मियों के लिए उपहार में दे जाता है। बैरिंग्टन का पत्र पढ़कर ओवेन जब खिड़की से बाहर मजदूर बस्ती की ओर देखते हैं तब थोड़ी देर के लिए ही सही स्थिति बड़ी ही भयावह और अन्धकारमय दिखती है, मगर अगले ही क्षण उन्हें लगता है कि काली रात समाप्त होने ही वाली है। मानव जाति गुलामी और शोक की लम्बी रात से निकलकर शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार और सब प्रकार के भेदभाव से मुक्त नई समाज व्यवस्था बनाएगी, जिसमें सच्चा भाईचारा, परस्पर विश्वास और आनन्द व्याप्त होगा। "समाजवाद के नवोदित सूर्य की किरणें समस्त विश्व में सुख का स्वर्णिम प्रकाश बिखेरेंगी।" इन्हीं शब्दों के साथ छः सौ तीस पृष्ठों का मानवीय संवेदना और आशावादिता से सराबोर यह उपन्यास समाप्त होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4

ट्रेस्सेल्ल के निधन और उपन्यास के प्रकाशन के लगभग सौ साल होने ही वाले हैं, फिर भी उनका महत्त्व नहीं घटा है। पूँजीवाद व्यवहार में कैसे काम करता है, इसकी जितनी अच्छी एवं सहज समझदारी इस उपन्यास से प्राप्त होती है उतनी शायद ही किसी अन्य स्रोत से आम आदमी को मिल सकती है। वह पूँजीवाद को अपने सभी आयामों के साथ प्रस्तुत करता है।

साथ ही वह समाजवाद की रूपरेखा भी सामने रखता है, जो प्रेरणादायक है। कहना न होगा कि वह कठमुल्लापन और संकीर्णता से कोसों दूर है। उसमें अफसरशाही के छा जाने का कोई खतरा नहीं दिखता। ऐसा समाजवाद निश्चित रूप से मानव पहल के लिए मार्ग प्रशस्त करेगा।

ट्रेस्सेल्ल जनतान्त्रिक तरीके से शान्तिपूर्वक पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद को प्रतिष्ठापित करने की सम्भावना से इन्कार नहीं करते। इसीलिए बैरिंग्टन 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में क्रान्तिकारी समाजवादियों का बहुमत बनाने की बात करता है। ध्यान से पढ़ें तो पाएँगे कि मार्क्स ने भी शान्तिपूर्वक व्यवस्था परिवर्तन की सम्भावना को खारिज नहीं किया था।

आशा की जानी चाहिए कि यह महत्त्वपूर्ण उपन्यास हिन्दी पाठकों को निकट भविष्य में उपलब्ध हो पाएगा। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्मशती : एक

सज्जाद ज़हीर : 1936 : 2005

खगेन्द्र ठाकुर

इतिहास में पहल करने का बड़ा महत्त्व है। पहल किए बिना कोई व्यक्ति या समुदाय नेतृत्व करने का महत्त्वपूर्ण अवसर नहीं पा सकता। पहल करने का अर्थ कोई काम पहले करना या किसी काम की शुरुआत करना भर नहीं है। पहल करने का वास्तविक अर्थ शुरुआत करने के साथ ही अगुआई करना भी है। इतिहास की इस सच्चाई को हम बड़ी गहराई और आत्मीयता से सज्जाद ज़हीर के प्रसंग में महसूस करते हैं। प्रगतिशील आन्दोलन के इतिहास के प्रसंग में सबसे पहले और सबसे अधिक याद किए जाते हैं सज्जाद ज़हीर; क्योंकि उन्होंने इसके लिए पहल की और इसकी अगुआई भी की। जिन दिनों उन्होंने यह काम किया, उन दिनों इस आन्दोलन का रास्ता आरामगाह से निकलकर जेल की ओर जाता था। फैज़ के शब्दों में—

मुकाम फैज़ कोई राह में जँचा ही नहीं
जो कू-ए-यार से निकले तो सू-ए-दार चले

सज्जाद ज़हीर ने यह रास्ता अपनाया। उनके पिता घनाढ्य परिवार के तो थे ही, अंग्रेजी राज में ऊँचे अधिकारी भी थे। इसी आधार पर तो वे बैरिस्टरी पढ़ने इंग्लैंड भेजे गए थे। लेकिन सज्जाद ज़हीर का हाल यह था बैरिस्टरी पढ़ लेने के बावजूद ध्यान कहीं और था। इंग्लैंड में रहते हुए देश की आजादी के लिए, साथ ही जनतन्त्र और मनुष्यता के लिए, बोलने और लिखने की आजादी के लिए दुनियाभर में चल रही लड़ाइयों में दिलचस्पी लेने लगे, कम्युनिस्ट बन गए और जीवन का नया रास्ता खोजने लगे। स्वदेश लौटने पर 1935 के दिसम्बर में इलाहाबाद में अपने अब्बा के बंगले में उन्होंने लेखकों की एक बैठक बुलाई, जिसमें प्रेमचन्द के साथ मुंशी दयानारायण निगम भी थे। इस प्रसंग में सज्जाद साहब लिखते हैं—"वह (निगम जी) हमारे ड्राइंग रूम के कालीन की तारीफ करते हुए मेरी तरफ आँख मारकर बोले—'भाई अगर हमारे पास भी ऐसे बढ़िया कालीन होते तो हम भी मजदूरों और किसानों के राग अलापते।' उनके इस तड़ाक से कसे हुए फिकरे पर सब हँस पड़े और मैं काफी शर्मिन्दा हुआ।" (रौशनाई, पृ. 31) सज्जाद ज़हीर का शर्मिन्दा होना कुछ यों ही नहीं था; क्योंकि वे समझ चुके थे कि बंगला-कालीन और किसान-मजदूरों का राग एक साथ ज्यादा दिन नहीं चलने वाले हैं। वे "यादें" में लिखते हैं—"सन् 1935 अंग्रेजी साल था। मैं उस जमाने में लन्दन में अपने विद्यार्थी जीवन के आखिरी दिन गुजार रहा था। विद्यार्थी जीवन क्या था, वह जिन्दगी जिसमें कुछ ही महीनों के बाद मैं पड़नेवाला था, एक तरह से पूरी

'क्षितिज', जनशक्ति कॉलोनी, राजीव नगर, पटना-800024 (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गई थी। कानून, जिसे पढ़ने मैं लन्दन में ठहरा था, मेरे लिए एक छोटी-सी चीज होकर रह गया था, बिलकुल गैर मामूली, गैर जरूरी और अहमियत से खाली। असली बात तो यह थी कि मेरी आँखों के सामने यूरोप में खास तौर पर और आम तौर पर सारी दुनिया में जो दिन-ब-दिन परिवर्तन हो रहे थे, यह तो मालूम होता था कि एक जमाना मिट रहा है और एक दूसरी जिन्दगी के पैदा होने के लक्षण हैं, इसका नक्शा हर घड़ी रहता था।" (रोशनाई, पृ. 327) उस जमाने में अपने देश में बैरिस्टर होना बड़ी बात थी, लेकिन जब सज्जाद जहीर की चेतना इतिहास की प्रक्रिया से जुड़ गई, तो बैरिस्टरी उनकी नजर में छोटी चीज हो गई। इससे स्पष्ट है कि उनकी मनोदशा कैसी हो गई थी और उनके जीवन का उद्देश्य क्या हो गया था। वे लन्दन में रहते हुए ही इतिहास का निर्माण करने के संघर्ष में शामिल होने का दायित्व अंगीकार कर चुके थे। उनकी नजर परिस्थिति और इतिहास में हो रहे परिवर्तन पर थी। वह परिवर्तन अपने आप नहीं हो रहा था, उसके लिए भयानक संघर्ष छिड़ा हुआ था। जर्मनी में हिटलर की नाजी पार्टी सत्ता पर कब्जा कर चुकी थी और तानाशाही कायम कर चुकी थी। जो कोई भी उसके रास्ते में आता, उसका निर्ममतापूर्वक सफाया किया जा रहा था। कम्युनिस्टों और तमाम जनतन्त्र प्रेमियों का बर्बर दमन किया जा रहा था। "फासिज्म के जुल्म की दर्द भरी कहानियाँ हर तरफ सुनाई देती थीं। जर्मनी में स्वाधीनता-प्रेमियों और कम्युनिस्टों को पूँजीपतियों के गुंडे तरह-तरह के शारीरिक कष्ट पहुँचा रहे थे। वह हौलनाक खबरें जिनमें जनता-जनार्दन के प्यारे नेताओं की पीठ और कूल्हे कोड़े के निशानों से काले पड़े हुए दिखाई देते थे। वे हौलनाक घटनाएँ जो समय-समय पर जल्लाद के हथौड़े से किसी बड़े कम्युनिस्ट लीडर के सरकलम होने के बारे में अखबारों में छपतीं, वह विषादपूर्ण अँधेरा जो ज्ञान और विज्ञान की उस चमकदार दुनिया से, जिसका नाम जर्मनी था, फैलता हुआ सारे यूरोप पर अपनी डरावनी परछाइयाँ डाल रहा था। इन सबने हमारे दिल-दिमाग की भीतरी निष्ठा और चैन को लोप दिया था।" (रोशनाई, पृ. 328) जाहिर है कि सज्जाद ज़हीर एक संवेदनशील व्यक्ति थे और उनकी संवेदना का दायरा अत्यन्त व्यापक था, उसमें अपने देश की स्वतन्त्रता से लेकर दुनिया के तमाम राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और अपने देश की शोषित-पीड़ित जनता से लेकर पूरी दुनिया की शोषित-पीड़ित जनता के जीने के अधिकारों तथा अपने और तमाम लेखकों और बुद्धिजीवियों के सोचने, बोलने और लिखने के अधिकारों की रक्षा को वे अपना दायित्व मानने लगे। मानने ही नहीं लगे, उनकी रक्षा की कार्रवाई करने को बेचैन भी होने लगे। इसी बेचैनी ने उन्हें महान् ऐतिहासिक प्रक्रिया में शामिल कर दिया।

सज्जाद ज़हीर की इस बेचैनी के उन दिनों में एक तरफ साम्राज्यवाद था, जो दुनिया के अधिकतर राष्ट्रों को गुलाम बनाकर उनका शोषण कर रहा था, तो दूसरी तरफ आजादी के लिए लड़ाई भी चल रही थी। यह असल में दुनिया को बदलने की लड़ाई थी। जर्मनी, इटली, जापान जैसे विकसित पूँजीवादी राष्ट्र दुनिया के बाजार पर अपना कब्जा जमाने के लिए उपनिवेशवादी राष्ट्रों (अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस आदि) से लड़ने की तैयारी में थे। दूसरे विश्वयुद्ध के बादल दुनिया पर मँडरा रहे थे। उधर सोवियत संघ था, जो समाजवादी निर्माण के रास्ते पर तो दृढ़ता से बढ़ ही रहा था, एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में और स्वतन्त्रता एवं जनतन्त्र की लड़ाई के भरोसेमन्द मददगार के रूप में भी उभर रहा था। यूरोप के विभिन्न देशों में जनतान्त्रिक समाजवाद का सिद्धान्त और नारा उछालने वाले सोशलिस्ट लोग तो कहीं साम्राज्यवाद के साथ और कहीं फासीवाद के साथ हो रहे थे। इंग्लैंड की समाजवादी पार्टी (लेबर पार्टी) ने तो भारत का साम्राज्यवादी शोषण किया ही। यही कारण था कि उस दौर में बड़े पैमाने पर लेखक, बुद्धिजीवी, जनतन्त्र प्रेमी और स्वतन्त्रता के दीवाने मार्क्सवाद और कम्युनिस्ट आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए। स्टीफेन स्पेंडर जैसे लेखक ने साफ-साफ लिखा है कि उनके जैसे लेखक ने अनुभव किया कि फासीवाद के खिलाफ लड़ाई में कम्युनिस्ट अत्यन्त निष्ठावान तो थे ही, वे जनतन्त्र की रक्षा और फासीवाद से लड़ते हुए कुर्बानी दे रहे थे। इसी तरह इंग्लैंड के कम्युनिस्ट ब्रिटिश अभियान चला रहे थे। डॉ. राममनोहर लोहिया ने इस बात को दर्ज किया है कि भारत से जो लोग पढ़ने इंग्लैंड जाते थे, वे कम्युनिस्ट बनकर लौटते थे, उनमें कोई सोशलिस्ट बनकर नहीं लौटा। स्वयं सज्जाद ज़हीर लन्दन में रहते हुए जो अध्ययन-गोष्ठी चलाते थे, उनमें राल्फ फॉक्स, डेविड गस्ट, मॉरिस कार्नफोर्थ जैसे मार्क्सवादी लेखक और विद्वान आया करते थे। वहीं रहते हुए अपने अध्ययन के क्रम में सज्जाद ज़हीर ने अनुभव किया था कि टी.एस. इलियट की कविताएँ कुंठा फैला रही थीं, जो मनुष्य के पुरुषार्थ के प्रतिकूल थीं। इन सबने सज्जाद ज़हीर को लेखकों से लेकर आम जनगण को संगठित करने के दायित्व से लैस कर दिया। ध्यान देने की बात है कि 1935 में पेरिस में संस्कृति की रक्षा के लिए लेखकों का जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, उसके संयोजकों में रोमाँरोला, मैक्सिम गोर्की जैसे लेखक थे, जो किसी कुंठा के शिकार नहीं थे और समझते थे कि आम जनता की लड़ाई से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग होकर लेखक अपने मूल्यों, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और मानवीय संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकते। उसी क्रम में सज्जाद ज़हीर ने भी महसूस किया कि "साहित्य का सबसे बड़ा उद्देश्य राष्ट्र में मानवता और स्वतन्त्रता की भावना और एकता पैदा करना है। अत्याचार का विरोध करना है। मेहनतकश अवाम की तरफदारी करना है, जनतन्त्र की स्थापना के प्रयास करना है, और अज्ञानता, रूढ़िवाद व अबौद्धिकता को समूल नष्ट करना है।" (रौशनाई, पृ. 31) "करना है" यह वाक्यार्थ लेखकीय प्रतिबद्धता को क्रियाशील बनाता है, संकल्प को व्यावहारिक रूप देता है। कबीर ने कथनी और करनी की एकता की जो बात कही थी, उसे चरितार्थ करता है। हमारे देश की परिस्थिति भी उन दिनों यूरोपीय अनुभव के बिना भी यही माँग कर रही थी। और यह परिस्थिति भारतेन्दु के समय से ही स्पष्ट हो गई थी। भारतेन्दु से शुरू हुई लेखकीय परम्परा केवल लिखने से सन्तुष्ट होने की नहीं, बल्कि लेखक के उद्देश्य को सरजमीन पर उतारने की रही है। जनता और लेखक के बीच गहरा सम्बन्ध कायम करने की रही है। सज्जाद जहीर उर्दू के साथ-साथ हिन्दी-साहित्य की इस महान् परम्परा से परिचित थे।

प्रेमचन्द का इस राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय अभियान में शामिल होना कुछ आकस्मिक नहीं था। उल्लेखनीय है कि सन् 1936 में ब्रुसेल्स में विश्वशान्ति सम्मेलन आयोजित था, जो युद्ध-विरोधी सम्मेलन था। उसके भी संयोजकों में रोमाँरोलां थे। हेनरी बारवृज भी थे। उस सम्मेलन में प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रामानन्द चट्टोपाध्याय, नन्दलाल बसु, प्रफुल्ल चन्द्र राय, जवाहरलाल नेहरू जैसी हस्तियों के हस्ताक्षर भारतीय प्रतिनिधि के रूप में उसमें शामिल भी हुए थे। उपर्युक्त अपील में कहा गया था—"महायुद्ध की प्रेतछाया सारी पृथ्वी पर मँडरा रही है। फासिस्ट तानाशाही खाने के बदले अस्त्र-संग्रह करके और संस्कृति के सुयोग के बदले साम्राज्य गठन के प्रलोभन को पकड़कर अथवा सैनिकवादी रूप दिखला रही है। बड़ी-बड़ी साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता और परस्पर विरोध, संकीर्ण राष्ट्रीयतावादी मनोवृत्ति को मनचाहा बढ़ावा, लड़ाई के सामानों में तेज वृद्धि—ये सब संकटमय परिस्थिति की पूर्वसूचना की ओर से दूसरे देशों के जनसाधारण के स्वर में स्वर मिलाकर कहना चाहते हैं कि हम युद्ध से घृणा करते हैं और चाहते हैं कि युद्ध का रास्ता छोड़ा जाए, युद्ध में हमारा कोई भी हित नहीं है। किसी भी साम्राज्यवादी युद्ध में भारतवर्ष के योगदान के हम घोर विरोधी हैं, क्योंकि हम जानते हैं आगामी युद्ध में सभ्यता का विध्वंस हो जाएगा।" (**प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य-रेखा अवस्थी**—में उद्धृत, पृ. 10) भारत के इन देशभक्त लेखकों, बुद्धिजीवियों और नेताओं की अपील में भारतीय स्वाधीनता-संग्राम और मजदूर-किसान आन्दोलन से निकली हुई आवाज मुखरित हुई है। सज्जाद ज़हीर और मुल्कराज आनन्द जैसा युवा लेखक पेरिस के सम्मेलन में जिस संस्कृति-चेतना को स्वीकार करते हैं, और यूरोप में फासीवाद के उदय को देखकर जिस चिन्ता से बेचैन थे, वही चिन्ता और बेचैनी हम भारत-भूमि से उपर्युक्त लेखकों के द्वारा जारी की गई अपील में पाते हैं।

अपने देश में स्वाधीनता संग्राम लगातार अधिकाधिक गहरा होता गया और वह फैलता भी गया। प्रथम महायुद्ध के बाद से एक तरफ जनता की हालत खराब होती गई, किसानों को भी आर्थिक मन्दी और साम्राज्यवादी शोषण की मार झेलनी पड़ी। स्वाधीनता-संग्राम के साथ किसान-मजदूर-आन्दोलन भी संगठित होने लगे। 1925 में कानपुर में देश के विभिन्न मजदूर-केन्द्रों में पनपे कम्युनिस्ट-जत्थों को मिला था। कम्युनिस्ट ट्रेड-यूनियन कांग्रेस की स्थापना 1920 में ही हो गई थी। पंजाब, उत्तर प्रदेश बिहार, तमिलनाडु आदि राज्यों में किसान-आन्दोलन छिड़ रहे थे और जहाँ-तहाँ संगठन भी बन रहे थे। क्रान्तिकारी आन्दोलन भी भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि के नेतृत्व में एक बार फिर नए उभार की ओर बढ़ा। ब्रिटिश सरकार ने उन सबका बर्बर दमन भी किया। जेल-सेल, फाँसी आदि के दरवाजे खुल गए। इन सबका सम्मिलित आग्रह यह था कि देश की नई पीढ़ी पर, राष्ट्रीय आन्दोलन का, स्वयं राष्ट्रीय कांग्रेस पर वामपन्थी दृष्टिकोण का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा था। सन् 30-37 के नमक-सत्याग्रह के विफल हो जाने के बावजूद जनता की संघर्षशीलता बढ़ती गई। यह आकस्मिक नहीं था कि सन् 34 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया गया और उन्हीं दिनों राहुल जी ने 'साम्यवाद ही क्यों' और जयप्रकाश नारायण ने 'समाजवाद क्यों' नाम की पुस्तकें लिखीं। दिनकर जी ने यों ही नहीं लिखा था—

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर, फिरा हमें गांडीव, गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

देश की तत्कालीन मनोदशा को समझने वाले आसानी से समझ सकते हैं कि युधिष्ठिर और भीम-अर्जुन के निहितार्थ क्या हैं। उर्दू के युवा कवि फैज़ ने भी उन्हीं दिनों लिखा था—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न माँग।'

साहित्यकारों की रचनाओं से यह नई आवाज सुनाई पड़ रही थी, जो जन-चेतना को ही व्यक्त कर रही थी। यही आवाज थी जो सन् 1936 में कांग्रेस-अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू के भाषण में भारत में समाजवादी समाज के निर्माण के उद्घोष के रूप में सुनाई पड़ी। उसी वर्ष किसान सभा की स्थापना स्वामी सहजानन्द की अध्यक्षता में हुई। इन सबके सांस्कृतिक प्रतिनिधि के रूप में लेखकों ने, राष्ट्रीय विवेक के प्रवक्ताओं ने अपने आपको संगठित कर अपनी नई भूमिका निर्धारित की, जिसका ऐतिहासिक रूप है प्रगतिशील लेखक संघ।

जिस आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना सज्जाद ज़हीर की पहल पर हुई, उसे उन दिनों अनेक गम्भीर रचनात्मक एवं वैचारिक प्रश्नों से उलझना पड़ा। खुशी की बात यह है कि 'रौशनाई' को पूरी तौर पर पढ़ने से यह अनुभव होता है कि सज्जाद ज़हीर उस युवावस्था में भी न केवल समर्थन और सहानुभूति का भाव रखनेवाले, बल्कि विसंघियों की ओर से भी उठानेवाले प्रश्नों के बारे में कतई उलझन में नहीं थे। साहित्य और उसके प्रगतिशील आन्दोलन की समस्याओं और प्रश्नों के उत्तर के लिए उन्होंने अच्छी तैयारी की थी, ऐसा लगता है। उसके साथ भारत के इतिहास और परम्परा का भी अध्ययन उन्होंने किया था।

आज जब हम सज्जाद ज़हीर की जन्मशती के उपलक्ष्य में उनके कर्तृत्व और कृतित्व पर विचार कर रहे हैं, तो परिस्थिति बुनियादी तौर पर बदल गई है। समस्याएँ बदल गई हैं, नए-नए प्रश्न उठ रहे हैं। हमें उन पर नए सिरे से सोचना है। लेकिन एक यह बात हम याद करते हैं और लेखक मित्रों तथा बुद्धिजीवियों के सामने पेश करना चाहते हैं—"पहले तो यह कि प्रगतिशील साहित्यान्दोलन का रुख देश की अवाम की और मजदूरों, किसानों और मध्यवर्ग की ओर होना चाहिए। उन्हें लूटनेवालों और उन पर अत्याचार करनेवालों का विरोध करना, अपने साहित्यिक प्रयासों से अवाम में चेतना, सक्रियता, कर्म का उत्साह और एकता का भाव उत्पन्न करना। उसके साथ ही साथ उन तमाम प्रवृत्तियों का विरोध करना जो जड़ता, प्रतिगामिता और पराजयबोध को जन्म देती हैं, हमारा पहला फ़र्ज ठहरा—"प्रगतिशील साहित्यकार के मन में मानव मात्र के प्रति अनुराग और गहरी हमदर्दी जरूरी है। मानव-मैत्री, भक्ति-आकांक्षा और जनवादी सोच के अभाव में प्रगतिशील साहित्यकार होना सम्भव नहीं है। इसीलिए हम खुलकर और जानबूझकर प्रगतिशील साहित्यान्दोलन का रिश्ता, आजादी और जनतन्त्र की तहरीकों से जोड़ना चाहते थे। हम चाहते थे कि प्रगतिशील लेखक, बुद्धिजीवी मजदूरों, किसानों और गरीब व शोषित अवाम से मिलें। उनके राजनीतिक और सामाजिक जीवन का हिस्सा बने।" (रौशनाई पृ., 70) आधुनिक युग के प्रारम्भ के साथ साहित्य में जो नई शुरुआत हुई थी वह और विकसित हुई और उसे सुसंगत वैचारिक एवं सैद्धान्तिक रूप प्रगतिशील आन्दोलन के दौर में दिया जा रहा था। इस प्रयत्न के साथ आन्दोलन को कई साहित्येतर समस्याओं और कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा था। सरकार इस आन्दोलन पर खुफिया नजर रखे हुए थी। इससे भय और आतंक का वातावरण बनाकर लेखकों को आन्दोलन से अलग करने की कोशिश की जा रही थी। समाज के प्रतिगामी और रूढ़िवाली लोग प्रगतिशील आन्दोलन के खिलाफ जेहाद छेड़े हुए थे। इसे राजनीतिक आन्दोलन की संज्ञा देकर लेखकों को इससे अलग रहकर अपने को साहित्य तक सीमित रखने की बात प्रचारित की जा रही थी। इस आन्दोलन को परम्पराविरोधी और मजहब-विरोधी बताकर आम जनगण को उससे अलग रखने का अभियान चलाया जा रहा था। पूँजीवादी घरानों के अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा भी प्रगतिशील आन्दोलन के खिलाफ अभियान तेज कर दिया गया था। इन अभियानों के द्वारा जो बातें प्रचारित की जा रही थीं, उनका सार-तत्त्व यह था कि प्रगतिशील लेखक-आन्दोलन असल में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की साजिश है, इसके जरिए वह भारत के बुद्धिजीवियों को अपने जाल में फाँसना चाहता है। इसका उद्देश्य फसाद फैलाना, हुकूमत का तख्ता पलट करना, देश में घृणा फैलाना और मजहब धर्म तथा नैतिकता को नष्ट करना है। भारत की आध्यात्मिक परम्परा का तकाजा है कि इस आन्दोलन को यहाँ न पनपने दिया जाए। उस दौर में प्रगतिशील आन्दोलन को इन समस्याओं का सामना करना पड़ा। इस संघर्ष में परिस्थिति ने, राष्ट्रीय आन्दोलन में वामपन्थ के बढ़ते हुए सम्मान ने साम्राज्यवादी दमन-उत्पीड़न से पैदा हुई ऊब में और हिटलरी फासीवादी आतंक के प्रभाव में प्रगतिशील आन्दोलन की मदद की। बेशक सोवियत संघ की तत्कालीन भूमिका भी उसमें मददगार थी, क्योंकि भारत के तमाम बड़े लेखक सोवियत संघ का स्वागत कर चुके थे, उनमें विश्वकवि रवीन्द्रनाथ, सुब्रह्मण्यम भारती, प्रेमचन्द आदि शामिल थे। डॉ. इकबाल के विचार प्रगतिशील आन्दोलन की मान्यताओं से मिलते थे। दिनकर जी ने अपने एक निबन्ध में रवीन्द्रनाथ के भाववादी विचारों की तुलना में डॉ. इकबाल के यथार्थवादी विचारों का पक्ष लिया है। न डॉ. इकबाल मार्क्सवादी थे और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न दिनकर, लेकिन यथार्थ अन्तर्वस्तु को अधिक महत्त्व देते थे। इसका मतलब यह कि प्रगतिशील आन्दोलन के माध्यम से यथार्थवाद का जो पक्ष लिया गया, वह समाज और साहित्य दोनों के विकास-क्रम की उपलब्धि है।

आज सन् 2005 में प्रगतिशील लेखक संघ के आदि संगठनकर्त्ता सज्जाद जहीर को जब हम उनकी जन्मशती के उपलक्ष्य में याद कर रहे हैं, तो वास्तव में यह एक व्यक्ति को नहीं, बल्कि उनके बहाने एक ऐतिहासिक प्रक्रिया को याद करना है। इस प्रसंग में सबसे पहले जो बात मेरे ध्यान में आती है, वह यह है कि प्रगतिशील आन्दोलन की शुरुआत करते हुए सज्जाद ज़हीर उस समय देश में विभिन्न भाषाओं के बड़े लेखकों के हस्ताक्षर घोषणा-पत्र पर पाने की कोशिश कर रहे थे, और प्रेमचन्द, मौलाना हसरत मोहानी, रवीन्द्रनाथ, डॉ. इकबाल जैसे बड़े लेखकों का समर्थन पाकर उन्होंने आन्दोलन को ताकत और प्रतिष्ठा दिलाई। ऐसा समर्थन देश भर में उन्हें मिला। लेकिन आज हम जब उलटकर देखते हैं, तो इस बात से गौरवान्वित होते हैं कि खुद प्रगतिशील आन्दोलन ने फैज़ अहमद फैज़, जोश मलीहाबादी, फिराक गोरखपुरी, मजाज, अली सरदार जाफरी, गुलाम रब्बानी ताबाँ, साहिर लुधियानवी, कैफी आज़मी, कृशन चन्दर, सआदत हसन मंटो, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, यशपाल, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ. भगवत शरण उपाध्याय, शिवदान सिंह चौहान, डॉ. नामवर सिंह जैसे बड़े व्यक्तित्व उपलब्ध किए। बंगला में ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, माणिक बन्द्योपाध्याय, विष्णु दे, सुभाष मुखोपाध्याय आदि अनेक बड़े लेखक सामने आए। इसी तरह भारत की सभी भाषाओं में प्रगतिशील लेखकों की कतार है, जिन्होंने साहित्य के इतिहास को गौरवान्वित किया है। ऐसे लेखकों ने भारतीय साहित्य की मुख्यधारा का निर्माण किया। आधुनिक युग में साहित्य की यही मुख्यधारा है, जिसने भारतीय साहित्य की प्राचीन अथवा मध्यकालीन परम्परा का नवीकरण किया और उसे समृद्ध भी किया। इसी धारा की रचनाशीलता है, जिसकी उपलब्धियों ने गोर्की, मायकोव्यस्की, शोलोखोव, नाज़िम हिकमत, लोर्का, पाब्लो नेरूदा, लू शुन, रोमाँरोलां, रिल्के आदि के साथ अन्तरराष्ट्रीय बिरादरी का निर्माण किया। साहित्य के पाठकों को यह महसूस करने का अवसर दिया कि लेखकों की विरासत पूरी मनुष्यता की होती है।

प्रगतिशील आन्दोलन के इतिहास और विरासत को याद करते हुए हम देख रहे हैं कि राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिदृश्य आज विस्मयकारी ढंग से बदल गए हैं। सज्जाद ज़हीर के जीवन-काल में इस आन्दोलन में अनेक उतार-चढ़ाव आए, फिर भी आन्दोलन सक्रिय रहा। यह दुखद और आश्चर्यजनक है कि हमीं से छिटककर अलग हुए हमारे कुछ साथी वर्ग-दुश्मन से लड़ने के लिए लश्कर मुहैया करने के बदले प्रगतिशील लेखक संघ को ही विसर्जित एवं विघटित घोषित एवं साबित करने में लग गए। यहाँ मैं उनकी कोशिश का जवाब देने की जगह नहीं घेरना चाहता, लेकिन उनसे इतना जरूर कहना चाहता हूँ कि इतिहास को वस्तुगत ढंग से देखें, आत्मगत ढंग से या इच्छापूर्ति के साधन के रूप में नहीं। यह प्रगतिशील लेखक संघ की सक्रियता है, ऐतिहासिक विरासत को विकसित करने का रचनात्मक एवं वैचारिक संघर्ष है, लगातार आनेवाले नए लेखकों से उसका गहरा लगाव है कि प्रगतिशील लेखक संघ को विसर्जित या विघटित घोषित करनेवाले संगठन पनप नहीं सके। मैं यहाँ उनकी कार्यनीति के बारे में कुछ नहीं कहना चाहता, लेकिन उन्हें भी इतना तो देखना ही चाहिए कि जनता की चेतना को प्रगतिशील या जनवादी स्वरूप देने के रास्ते में बाधक बननेवाले संगठन सम्प्रदायवाद, रूढ़िवाद, सनातनवाद, ब्राह्मणवाद, जातिवाद, उत्तर-आधुनिकतावाद आदि का प्रचार भले कर लें, लेकिन किसी महत्त्वपूर्ण और बड़े लेखक को अपने साथ नहीं कर पाए, पैदा करने का तो उनके लिए प्रश्न ही नहीं है। वह भी ध्यान देने योग्य है कि पूँजीवादी घरानों और दक्षिणपन्थी और प्रतिक्रियावादी संगठनों की पत्र-पत्रिकाएँ प्रगतिशील लेखकों के लेखन और व्यक्तित्व को अपने हमले का मुख्य निशाना बनाते हैं। यह हमारे काम और सिद्धान्त के दुरुस्त होने का एक प्रमाण है।

सज्जाद ज़हीर की जन्मशती का आयोजन जिस दौर में हो रहा है, वह सोवियत संघ के विघटन के बाद का दौर है। सन् 1917 में रूसी क्रान्ति के बाद के दौर को लेनिन ने एक नए युग का प्रारम्भ कहा था और उसे परिभाषित करते हुए पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण का युग कहा था। 24 दिसम्बर 1991 की रात बारह बजे गोर्बाचेव ने तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति को फोन करके कहा—"मैंने अपना धर्म पूरा कर लिया है", और अगली सुबह वे क्रेमलिन से बाहर हो गए अथवा येल्तसिन के द्वारा बाहर कर दिए गए, तो युग की प्रक्रिया उलट गई। रूस में उसके बाद से समाजवाद से पूँजीवाद की ओर अन्तरण का दौर शुरू हो गया। युग का यह प्रतिगमन 1917 की क्रान्ति से अधिक विस्मयकारी है। इतिहास में उलट जाने के कारणों की खोज करते हुए अब तक बहुत लिखा गया है, आगे भी यह खोज जारी रहेगी और सम्भव है विस्मयकारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथ्य भी सामने आएँ, लेकिन इतना तो तथ्य है कि सोवियत संघ के रहते हुए दुनिया में विश्व पूँजीवाद और विश्व समाजवाद का जो अन्तर्विरोध और टकराव था, वह आज नहीं है। इस दौर को आज साम्राज्यवाद की भाषा में शीतयुद्ध के बाद की दुनिया कहा जा रहा है। मैं समझता हूँ कि शीतयुद्ध आज भी जारी है। बीसवीं सदी की दुनिया के शक्ति-सन्तुलन के अनुभवों के आधार पर शीतयुद्ध के निम्नलिखित चार पहलू देखे गए थे–(1) वैचारिक नफरत, (2) राजनीतिक अविश्वास, (3) खुफियागिरी और (4) सैनिक प्रतिस्पर्धा या हथियारों की होड़। अब सोवियत संघ और वारसा-संधि-संगठन का अस्तित्व समाप्त हो गया है। इसलिए साम्राज्यवादी देशों, खासकर अमेरिका और सोवियत संघ के बीच जो हथियारों की होड़ थी, वह नहीं है। लेकिन हथियारों के बूते पर आर्थिक, राजनीतिक और वैचारिक वर्चस्व कायम करने का साम्राज्यवादी अभियान समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि कुछ ज्यादा ही आक्रामकता से जारी है। हथियारों का व्यापार भी जारी है। साम्राज्यवादी स्वार्थों पर चोट करनेवाले विचारों के प्रति नफरत फैलाना साम्राज्यवादी एजेंसियों का काम है। राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक हस्तों के जरिए अविश्वास फैलाकर उन्हें लड़ाते रहना अमेरिकी साम्राज्यवाद की राजनीति का प्रमुख अंग आज भी है। भारत-पाक सम्बन्धों में सुधार नहीं हो पाने का एक बड़ा कारण यह है। खुफियागिरी तो साम्राज्यवादी कूटनीति का केन्द्रीय तत्त्व है ही। फर्क इतना ही पड़ा है कि ये सारे अभियान आज तमाम स्वतन्त्र राष्ट्रों के खिलाफ चल रहे हैं। उन राष्ट्रों के खिलाफ खासकर जो किसी भी तरह अमेरिकी दादागिरी को कभी चुनौती दे सकते हैं। गोर्वाचोव के ग्लासनोस्त और पेरेस्त्रोइका ने अपनी भूमिका पूरी कर ली, समाजवादी विश्व समाप्त हुआ और उदारीकरण तथा भूमंडलीकरण का दौर शुरू हो गया; जो वास्तव में वित्तीय पूँजी का विश्व-विजय का अभियान है। यह दौर कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के परित्याग का है। उत्पादन की प्रक्रिया और बाजार तन्त्र से मनुष्य और उसके श्रम के निष्कासन का दौर है। इस प्रक्रिया ने मनुष्य को या तो यन्त्र बना दिया है या मात्र उपभोक्ता। उसकी रचनात्मक और सृजनशील मेधा एवं क्षमता की आवश्यकता न तो आज के अर्थतन्त्र को है और न राजसत्ता को। राजसत्ता के स्वार्थ ने इतिहास का निर्माण करनेवाली और जनतन्त्र को जन्म देनेवाली जनता को मात्र मतदाता बनाकर छोड़ दिया है। जनता को विचारधारा, मानव-मूल्य, भविष्य की रचनात्मक कल्पना एवं योजना आदि से मुक्त अथवा वंचित कर देने का अभियान चलाया जा रहा है।

हम अपने देश पर नजर डालते हैं या अपने जीवन के अनुभवों पर गौर करते हैं, तो देखते हैं कि उपर्युक्त बातें तो यहाँ हैं ही, और भी खतनाक बातें घटित हो रही हैं। देश पर, सत्ता के भीतर या बाहर, जो राजनीतिक शक्तियाँ होती हैं, वे देश को अमेरिका के पीछे ले जाकर खड़ा कर देने को उतावले हैं। यह असल में हमारे देश के इजारेदार पूँजीवाद के स्वार्थ की राजनीतिक अभिव्यक्ति है। देश के अर्थतन्त्र और बाजार पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। इस तरह तीसरी दुनिया के राष्ट्रों का भारत समेत, नव उपनिवेशीकरण हो रहा है। यह वास्तव में वाशिंगटन-सहमति के कार्यान्वयन का दौर है। इस दौर में हमारी राष्ट्रीय सम्प्रभुता खतरे में है, संसद की सर्वोच्चता का अवमूल्यन हो रहा है। यह वास्तव में तानाशाही का नया दौर है।

"वित्तीय पूँजी और बाजार तन्त्र की इस व्यवस्था की रक्षा का उपाय वे सिद्धान्त और विचार करते हैं, जो वर्गीय चेतना एवं वर्ग-संघर्ष से दूर ले जाते हैं। फुकुयामा जब इतिहास के अन्त के बारे में लोगों को समझाते हैं और नव उदारवाद अथवा उदार जनतन्त्र की महिमा का गुणगान करते हैं, तो वास्तव में यह प्रचलित कर रहे होते हैं कि मानव-समाज के विकास का भाग अब निर्णायक रूप से अमेरिकी पूँजीवादी व्याख्या और उसी की राजनीतिक प्रणाली के मार्ग में पहुँच गया है और उसके आगे अब कोई राह नहीं है। यह यथास्थितिवाद है, यह पूँजीवाद को, नवउपनिवेशवाद को विकल्पहीन बताना है, इस प्रकार यह एक नए प्रकार की तानाशाही के स्वागत की मानसिकता तैयार करता है। यह है बुद्धि पर, सोच-विचार की प्रक्रिया पर पूर्णविराम लगाना। यानी इतिहास के अन्त को स्थापित करने के लिए विचार और विचारधारा ही नहीं, चिन्तन का ही अन्त कर दिया जाए, यह प्रयत्न है। यह है उत्तर आधुनिकता का सार-तत्त्व, जिसका शोर इन दिनों हमारे देश में है।" (लेखक की पुस्तक–'आज का वैचारिक संघर्ष और मार्क्सवाद' से, पृ. 167) यह है परिवर्तन की प्रक्रिया को रोक देने का प्रयत्न, परिवर्तन के इतिहास का अन्त कर देना। कार्ल मार्क्स ने शोषण के इतिहास का अन्त कर देने की योजना बनाई थी, जिसे रूसी क्रान्ति और द्वितीय विश्वयुद्ध में फासीवाद की पराजय ने कार्यान्वित करने के ऐतिहासिक अवसर किए थे। अब उस प्रक्रिया को उलटकर उसे ही शाश्वत बनाने का प्रतिगामी संघर्ष जारी है।

सज्जाद ज़हीर जब काम कर रहे थे, तब यूरोप में फासीवाद का प्रभुत्व कायम हो रहा था और वह यूरोप से निकलकर दुनिया भर के लिए खतरा बना हुआ था। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे अपने देश में फासीवादी शक्तियाँ मानवीय सभ्यता, संस्कृति और जनतन्त्र के लिए खतरा बनी हुई हैं। अभी पाँच-छह वर्षों तक केन्द्रीय सत्ता में रहकर उन्होंने फासीवादी योजना को क्रियान्वित करने की कोशिश की। अभी सत्ता से हटा दिए जाने के बाद भी फासीवादी शक्तियों की आक्रामकता कम नहीं हुई है। बीसवीं सदी के चौथे-पाँचवें दशक में अमेरिका, इंग्लैंड, फ्रांस आदि फासीवाद के खिलाफ थे। उन्होंने फासीवाद के खिलाफ सोवियत संघ से मोर्चा भी बनाया था। तमाम राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन फासीवाद के खिलाफ था। आज फासीवाद ने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण कर लिया है और अमेरिका उसका सरगना है। वह फासीवाद का निर्यात करता है। नए आजाद देशों यानी तीसरी दुनिया के देशों पर दबाव डाला जा रहा है कि वे सभी राष्ट्र अपनी अर्थव्यवस्था और कानून-व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय मापदंड यानी अमेरिकी मापदंड के अनुसार बना लें। वित्त, व्यापार, टैक्स आदि के नियम-कानून शिथिल करने हैं। उन्हें अपनी राजनीति और संचार माध्यमों को भूमंडलीकरण यानी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के स्वार्थों के अनुसार मोड़ लेना है। राष्ट्रीय एवं स्थानीय शासन को भी इसी तरह ढाल देना है। देश की शिक्षा-पद्धति, संस्कृति, सोच-समझ आदि को भी भूमंडलीकरण की जरूरत के मुताबिक बदलना है। हेनरी किसिंगर ने अपनी पुस्तक 'द डिप्लोमेसी' में लिखा है कि भाषा और क्षेत्रीय विशिष्टता के आधार पर सांस्कृतिक पहचान की बात करना पिछड़ापन है। उन बातों की पृष्ठभूमि में परेशानी यह है कि आज संस्कृति की रक्षा का कोई अन्तर्राष्ट्रीय अभियान नहीं है, कोई राष्ट्रीय भक्ति आन्दोलन नहीं है। हमारे लिए परेशानी की बात यह है कि हमारे देश में जो जनतान्त्रिक शक्तियाँ समझी जाती रही हैं, वे भीं भूमंडलीकरण की प्रक्रिया को विकल्पहीन मानकर देश को उधर ही ले जाने की कोशिश कर रही है। इसलिए सुसंगत जनतन्त्र और मानवीय संस्कृति की रक्षा के लिए फासीवाद के खिलाफ लड़नेवाली शक्तियाँ देश में भी कमजोर हुई हैं। ध्यान देने की बात यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था में जो जनतान्त्रिक अन्तर्वस्तु और मूल्य कभी महसूस होते हैं, तो जनता के संघर्षों के कारण, मजदूरों और किसानों के संघर्षों के दबाव के कारण, देशभक्त और प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के संघर्षों के कारण, शोषितों, पीड़ितों और दलितों के सिर उठाने के कारण। लेकिन आज स्थिति यह है कि यह जनता कहीं सम्प्रदायवाद के चँगुल में, कहीं राजनीतिक जातिवाद के चँगुल में, कहीं रूढ़िवाद और पुनरुत्थानवादके चँगुल में है, इसलिए पूँजीवादी राजनीति में अधिनायकवादी रुझान मजबूत हुए हैं। इस रुझान को अफसरशाही और राजनीति में अपराधकर्मियों का बढ़ता हुआ दखल मजबूती प्रदान कर रहे हैं।

समाज में अराजकता की प्रवृत्ति बढ़ी है। जनता की संघर्षशीलता खासकर के वर्गीय दृष्टि से कमजोर पड़ी है। सभी राजनीतिक दल एक जैसे हैं, यह समझ मजबूत हुई है, जिससे विकल्प की प्रक्रिया कमजोर पड़ी है। उग्रवादी गतिविधियों और आतंकवादी कार्रवाइयों के कारण जनतान्त्रिक संगठन और जनतान्त्रिक आन्दोलन कमजोर हुए हैं। लाभ-हानि की दृष्टि से हर काम को तोलने से जीवन बड़े उद्देश्य और मूल्य से मुक्त हो गया है। सत्ता की ओर से फैलाया गया प्रलोभन का जाल उनको भी लुभा रहा है, जो क्रान्ति का कारवाँ लेकर चले थे। जीवन जीने की कठिनाइयों और राजनीतिक अस्थिरता ने मध्यवर्ग को या तो तात्कालिक चेतना में बाँध दिया है या फिर से अतीतवादी बना दिया है। ये सारी बातें समाज में ऐसा वातावरण बना रही हैं, जिसमें सामान्य जनतान्त्रिक, बौद्धिक या सांस्कृतिक कर्म बहुत मुश्किल हो गया है। हमारा आज का साहित्यिक माहौल भी इससे प्रभावित है। दलितवाद, स्त्रीवाद अथवा ऐसे ही अन्य सवाल, जो वर्गीय चेतना और व्यापक सामाजिक चेतना को खंडित करते हैं, प्रगतिशील, जनवादी सर्जनात्मक चेतना को कमजोर करते हैं। ऐसी ही परिस्थिति में आज प्रगतिशील आन्दोलन काम कर रहा है। वह काम कर रहा है, यह अवश्य बड़ी बात है। लेखक आज के इन प्रश्नों से जूझ रहे हैं। प्रगतिशील लेखक आज भी देश भर में संघर्षशील हैं। आज के रचनाकारों का लेखन साम्राज्यवाद, सम्प्रदायवाद, रूढ़िवाद आदि के खिलाफ बड़े पैमाने पर संवेदनशील और विचारोत्तेजक सामग्री दे रहा है। लेकिन गौर करने और समझने की जरूरत है कि केवल लेखक-आन्दोलन अपने बूते पर समाज को बदलने का काम नहीं कर सकता, उसे जनता के संगठनों और संघर्षों का साथ तो अवश्य ही लेना-देना है।

ऐसा नहीं है कि दुनिया वीर-विहीन हो गई है। आज भी दुनिया में संघर्ष जारी है, 'एक दूसरी दुनिया सम्भव है' का नारा गूँज रहा है। यह नारा आज किसी सरकार का नहीं, बल्कि आम जनता का है। प्रगतिशील आन्दोलन को सुगबुगाती हुई जनता की चेतना से बल मिल रहा है, आगे भी मिलेगा। लेकिन राजनीतिक आन्दोलन के मजबूत आधार के बिना प्रगतिशील चेतना का आन्दोलन आगे नहीं बढ़ सकता। हमारा इतिहास गौरवपूर्ण है, हमारी उपलब्धियों का कोष समृद्ध है, हमारी विरासत स्पष्ट और आकर्षक है। उन सबको लेकर हम आगे बढ़ें। जनता की बेचैनी में हमारी शक्ति का स्रोत है। हमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति पाने के लिए उस स्रोत में डूबकर निकलना होगा, राह दिखाने के लिए आगे चलना होगा। जनतन्त्र और संस्कृति की लड़ाई लड़ने के लिए हमें कबीर के शब्दों में "काम क्रोध मद लोभ मोह ते जूझना, मचा घमसान तन खेत माहिं।" इस लड़ाई के बिना हम प्रगतिशील आन्दोलन के योग्य वारिस नहीं बन सकते। फैज़ अहमद फ़ैज़ की एक नज्म का यह टुकड़ा पेश करते हुए मैं अभी अपनी बात समाप्त कर रहा हूँ—

चलो फिर से मुस्कराएँ
चलो फिर से दिल जलाएँ
जो गुजर गई हैं रातें
उन्हें फिर जगा के लाएँ
जो बिसर गई हैं बातें
उन्हें याद में बुलाएँ
चलो फिर से दिल लगाएँ
चलो फिर से मुस्कराएँ

बड़े उद्देश्य और ध्येय में संचालित कोई आन्दोलन जनता का उत्सव होता है, इसलिए वह आन्दोलनकर्ताओं के होठों पर मुस्कराहट लाता है। लेकिन आन्दोलन संघर्ष है, उसमें कष्ट होता है, व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं को दबाना पड़ता है, कष्ट झेलना पड़ता है। उसमें दिल जलता है। कबीर ने तो घर ही जलाने की घोषणा कर दी थी। आज यह बड़ा मुश्किल काम है। अक्सर लोग सुविधाओं के कारण दुविधा में रहते हैं और दुविधा में उलझा मानस आन्दोलन नहीं खड़ा कर सकता है। हम तो देख रहे हैं कि हमारे प्रगतिशील या जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन के अनेक मित्र साक्षात्कार अभियान और एन.जी.ओ. (गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठन) के कार्यक्रम में ज्यादा दिलचस्पी ले रहे हैं। और ये स्वयंसेवी संगठन सरकारी अथवा विदेशी धन से अपनी सेवा ज्यादा करते हैं और बड़े पैमाने पर लोगों में व्यक्तिगत स्वार्थ पैदा करते हैं, इस तरह आज के पूँजीवाद के लिए नया जनाधार बनाते हैं। यों, यह भी सही है कि इतनी साजिशों के बावजूद लड़नेवालों की कमी नहीं हुई है। हकीकत तो यह है कि आज एक साथ दुनिया भर से आवाज उठ रही है। इस आवाज में जो ताकत है, वह प्रगतिशील आन्दोलन के लिए महत्त्वपूर्ण है। नए सिरे से इन प्रश्नों, समस्याओं और आज के यथार्थ के अन्तर्विरोधों पर विचार करने की जरूरत है। हम तो यह भी देख रहे हैं कि संघर्ष और बदलाव की आवाज में वे भी अपना स्वर मिला रहे हैं, जो वास्तव में बदलाव के खिलाफ हैं। रावण ने तमाम पौधों के नीचे दीप जला दिया है, ताकि कोई हनुमान संजीवनी बूटी को पहचान नहीं सके। पौराणिक हनुमान की तरह पूरा पहाड़ उठाने के बदले पौधों और दीपों में सही और गलत का फर्क करने का विवेक विकसित करना होगा। यह विवेक यथार्थवादी लेखकों के पास होता है। इस विषम परिस्थिति में भी कुछ सकारात्मक पहलू हैं, जैसे—(1) आम जनता बदलाव चाहती है, वह उसके लिए परेशान है, (2) आम जनता, खासकर शिक्षित जनता में सांस्कृतिक प्रदूषण के प्रति, मानव-मूल्यों के ह्रास के प्रति, अपनी सांस्कृतिक परम्परा के मिटते जाने के प्रति गहरी चिन्ता में है, (3) अमेरिकी साम्राज्यवाद की हरकतों के प्रति जनता में विरोध और प्रतिरोध की भावना है, (4) जनता की दृष्टि में राजनीतिक नेतृत्व की साख गिर जाने के बावजूद संस्कृतिकर्मियों और लेखकों एवं बुद्धिजीवियों की साख बची हुई है। इन बातों को पकड़कर आज हमारा आन्दोलन आगे बढ़ सकता है। आज तो हमारे पास फैला हुआ संगठन है, एक समृद्ध परम्परा है, उसकी प्रशंसा करनेवाले लोग हैं। घर से अकेले निकलकर कारवाँ नहीं बनाना है, कारवाँ बना हुआ है। उसे आगे ले चलने की जरूरत है। सज्जाद ज़हीर या प्रेमचन्द या फैज़ या राहुल सांकृत्यायन जैसों को याद करने का मतलब ऊपर की जवाबदेही कबूल करना है। कबूल तो हमने किया ही है, उसे सरजमीन पर उतारना है। फिर फैज़ के शब्दों में—

यूँ ही हमेशा उलझती रही है जुल्म से खल्क
न उनकी रस्म नई है न अपनी रीत नई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वज़ीर मंज़िल

[नूर ज़हीर की पुस्तक 'मेरे हिस्से की रौशनाई']

अरुण कुमार

ये वज़ीर मंजिल थी, लखनऊ की राजनैतिक चहल-पहल का केन्द्र। लखनऊ कांग्रेस और मुस्लिम लीग की कई बैठकें इसी वज़ीर मंज़िल में हुई थीं। प्रगतिशील लेखक संघ की नींव भी इसी जगह पड़ी थी। अब इस जगह के निशान भी शायद ही साबुत मिलें। ग़ालिब के बल्लीमारां, नज़ीर के आगरा और बलराज साहनी के मुहल्ले की तरह यह वज़ीर मंजिल भी बेवफा हो गई। बहुत लम्बे समय तक घनिष्ठ रहने और नूर बाज़ी और उनके परिवार के अभिभावकत्व-स्नेह के कुछ छींटे आज तक मेरे दिल-ओ-दिमाग पर छाए रहे हैं। किस्सा वज़ीर मंज़िल का, नूर बाज़ी (नूर ज़हीर) की कलम थम गई। मंजिल के बिकने के बाद श्रीमती नूर की कलम जैसे बेजान हो चुकी, हृदय की गति कहीं थम गई है। जिस आवेश से सब्र टूटा था, वही कहीं खो गया था। नूर जी की किताब 'मेरे हिस्से की रौशनाई' में ऐसे कुछ मुकाम हैं जो बिना कुछ कहे, अधखुले रह जाते हैं। शायद सज्जाद ज़हीर की सुपुत्री नूर ज़हीर के मन में अपने पिता के समय का इतिहास लिखने की इच्छा रही हो। पूरी किताब जहाँ से शुरू होती है, खत्म होने का सिलसिला कहीं और खो जाता है। संस्मरण या जीवन वृत्त या रेखाचित्र की शक्त में यह किताब मन के कई कपाटें खोलती हैं। असाधारण लगनेवाली घटना से साक्षात्कार होने पर बस एक आश्चर्यजनक अनुभूति रह जाती है, ऐसा भी होता है। सज्जाद ज़हीर के पिता सर वज़ीर हसन बैरिस्टर और अवध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश थे। उन्हें नाईट की उपाधि मिली थी। उनके बच्चे ज़हीर अली, सज्जाद ज़हीर और बाकी तीन पुत्र विदेश में ही पढ़े। सज्जाद ज़हीर ने भी ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय (लन्दन) से बी.ए. ऑनर्स किया। सज्जाद ज़हीर की माँ लेजिस्लेटिव काउंसिल (यू.पी.) की सदस्य थीं। उस खानदान के चिराग के लिए कोई भावना खानदान से ऊपर थी–देश को स्वाधीन करने की भावना। वकालत को नमस्कार किया और असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। आगे की यात्रा तो कहीं थमी नहीं। ब्रिटेन में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन के इंडिया सेल के सक्रिय सदस्य बने। 1932 में लन्दन में प्रगतिशील लेखक संघ का गठन किया। 1940 में गिरफ्तार हुए, फिर रिहा हुए। फिर 1951 में पाकिस्तान में गिरफ्तार हुए। नूर ज़हीर (मेरे हिस्से की रौशनाई) के शब्दों में, "इन्तजार करने की अम्मी की तो आदत थी और यह आदत अब्बा ने ही डलवाई थी। एक साल का वादा करके पाकिस्तान से साठ साल बाद लौटकर आए।" सज्जाद ज़हीर की पत्नी और उर्दू की प्रसिद्ध कथाकार रजिया सज्जाद ज़हीर राय बहादुर रज़ा हुसैन की सुपुत्री थीं। सज्जाद ज़हीर के विवाह होने के

आर.एल.एस.वाई. कॉलेज, राँची विश्वविद्यालय, राँची-834008 (झारखंड)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद उन्होंने उर्दू में एम.ए. किया था। वह ठेठ अवधी मिजाज की थीं। अवधवालों के लिए अरहर की दाल का कुछ और लुत्फ है। लोक साहित्य की बड़ी शौकीन। बनारस के कवि घाघ उन्हें पसन्द थे, "अरहर की दाल और जड़हन का भात/गलगल निंबुआ और घेऊ तात।" सज्जाद ज़हीर धर्म के विरोधी रजिया धर्म को जीवन का अंग मानती थीं। उनकी कहानियों में ईद, होली, दशहरा का रंग रहा है। सज्जाद ज़हीर भी ईद, और होली पूरे दिलकश अन्दाज में मानते थे। रजिया भारतीय समाज के रंग से बिल्कुल अलग नहीं थी। उनके लिए समाज के परिवर्तन की रूपरेखा उसके भीतर से ही तैयार होनी चाहिए। इसे लेकर सज्जाद ज़हीर के मन में कहीं द्वन्द्व था। कई बार वे रस्म-ओ-रिवाज को महज औपचारिकता समझते थे। "पिघला नीलम" (काव्य-संकलन) की कुछ पंक्तियाँ हैं, "अरथी उठती हैं, चिताएँ सुलगती हैं/चराग़ जलते हैं/लेकिन ये तो/तन्हाई के भयानक मकबरे में/दायमी कैद है/जिनके मोल गुम्बद से/अपनी चीखों की भी/बाज़गश्त नहीं आती/कभी-कभी बेहद डर लगता है।" दोनों के लिए धर्म परिवर्तन का पुख्ता हथियार नहीं रहा। परन्तु, जनता की इस पूँजी से रजिया खुद को अलग करने में विश्वास नहीं रखती थीं। वे समझती थीं कि सज्जाद ज़हीर और उनकी तरह के अनगिनत बुद्धिजीवी किसान-मजदूरों को एकजुट करने में लगे थे। सज्जाद ज़हीर को फाँसी लगने की आशंका से भी बुलन्द रजिया बोलीं, उनकी गोद में अभी तीन सज्जाद ज़हीर हैं।

रजिया अपने अतीत से अलग किसी नई रजिया की मोहताज नहीं थी। ठेठ अवधी मिजाज। अवधी समाज का लोक रंग उनकी कहानियाँ में छाया रहा है। एक कहानी है, "रावण जला नहीं।" उनकी कुछ पंक्तियाँ हैं, "पानी प्रिया कीच, वह भी समुन्दर बीच/कुरता पहना टाट का, वह भी रुपए साठ का।" कहानी 'अमरजोत' की पीड़ा अपने पुराने घर, अपने वतन छोड़ने की है। सभी घर छोड़कर चले गए। रह गई केवल घर की बूढ़ी मालकिन। वज़ीर मंजिल के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। सज्जाद ज़हीर के भाइयों ने घर बेचने का फैसला किया। उनकी पत्नी रजिया का प्रस्ताव था कि उन्हें आउट हाउस में रहने दिया जाए। बाकी भाइयों को वज़ीर मंजिल के बड़े-बड़े बंगले मिले हुए थे। भाइयों ने तय किया कि सभी मिलकर सज्जाद साहब को दस-दस हजार रुपए देंगे। उन्हें यह प्रस्ताव मंजूर नहीं हुआ। घर उस समय तक नहीं बिका। कम्युनिस्ट होने की उन्हें सजा मिली। पति-पत्नी बच्चों सहित दिल्ली आए। किराए का मकान लिया। सज्जाद ज़हीर की मृत्यु के समय भाइयों की चिन्ता कुछ और थी। शव के करीब बैठी रजिया जी से सज्जाद ज़हीर के बड़े भाई बोले, वज़ीर मंजिल का मामला खटाई में पड़ गया।

श्रीमती नूर ज़हीर के हिस्से में सज्जाद ज़हीर के जीवन का एक बड़ा हिस्सा रोशन हुआ है। उनके लिखने के अन्दाज़ में आत्म-विज्ञापन नहीं है, कोई दस्तावेजी सिफारिश नहीं है। जैसे बरसों-बरस से एक-एक धागे को संजोकर रखा हो उन्होंने। नूर बाज़ी की किताब में सज्जाद ज़हीर कोई इतिहास नहीं हैं, कोई डायरी या जीवनी नहीं है कि हर चीज को समेटा जाए। सज्जाद ज़हीर और रजिया के कुछ दैनिक अनुभवों से कहानी शुरू होती है और कहीं पड़ाव या ठिकाना पाने की फुर्सत की परवाह किए बगैर मंज़िल धीरे-धीरे रौशन होती है। जीवन का उद्देश्य कहाँ है और क्यों है, ऐसे प्रश्नों का हल स्वतः मिल जाता है। ऐसे लेखन को कोई उद्देश्यपरक या सोद्देश्यपूर्ण लेखन कह सकता है। परन्तु तब लेखिका के अनुभव से गुजरना पाठकों के लिए अतिरिक्त पढ़ने जैसा होगा। यानी अगर इस किताब के उद्देश्य को सतही ढंग बता दिया जाए तो भी कोई साधारण पाठक दिनचर्याओं की तह में जाने की ज़हमत करेगा ही। सुखद यह है कि पूरी किताब में कहीं भी नूर ज़हीर कोई फतवा, कोई बयान नहीं देती हैं। बड़े संयत ढंग से अतीत के पन्नों को सहेजती हैं। उससे पाठक कुछ मक़सद निकाल ले, जीने का मक़सद निकाल ले, यह उसके हिस्से की बात है। इसलिए किताब में अपने समय का समाज बिखरे रूप में भी जिन्दा है। बिखराव का सौन्दर्य और उनकी अनुभूति का सहज अनुशासन मिलेगा यहाँ। ये नहीं कि महज शब्दों से खिलवाड़ किया जाए। एक ही बात को कहने के लिए कई नए रास्ते तलाशे जाएँ। इस किस्म की घेराबन्दी में लिखने की एक शर्त अपनी भावना को बहने से रोकना है। कहीं-कहीं नूर की कलम ठहर जाती है। ऐसे क्षण का अहसास कितना नाजुक होता है कि शिवरानी (प्रेमचन्द की पत्नी) ने पाठक से क्षमा माँग ली, अब नहीं लिखा जाता है। कलम जहाँ विराम लेती है, वहाँ सज्जाद ज़हीर और रजिया प्रतीक-चिह्न से हैं। है तो केवल एक औरत का संघर्ष, उसकी जद्दोजहद जो रजिया के बहाने पाठकों तक पहुँचती है, "अजमेर में एक रजिया हुई जिसने अपने वजूद को अपने साथी के रंग में ऐसे ढाल लिया था जैसे गिरधर में मीरा समा गई थी।" रजिया सज्जाद के लिए थीं लेकिन कुछ खास भी था। सज्जाद ज़हीर जेल में थे, तब उन्होंने एम.ए. किया था। प्रगतिशील लेखक संघ के हर काम में उनकी शिरकत होती थी। उनकी सुपुत्री के ब्यौरे में शामिल अनेक घटनाएँ इसकी गवाह हैं। एक छोटे-से मकान से चार लड़कियों की परवरिश करते हुए लेखक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघ के हर काम में उनकी खुली हिस्सेदारी से परिवार और उसके बाहर की दीवार ढह चुकी थी। डॉ. कमला प्रसाद के शब्दों में, ''दोनों ही रौशनाई में उँगलियाँ डुबोते हैं, चित्र आँकते हैं। ज़िन्दगी इन चित्रों में झाँकती-डूबती है।'' विवरण की तह से गुजरने के बाद लेखिका के मन में यह प्रश्न सिमट गया हो, औरत का जीवन किसके लिए ? जवाब में स्त्री की सीमा, उसकी विवशता कुछ शब्दों में विन्यस्त हुई है। कुछ अधखुला-सा रह जाता है। कुछ छूटने-भूलने जैसा। उपन्यास लिखते समय ऐसा होना अनहोनी नहीं है, लेकिन जीवन-वृत्त या कुछ ऐसा ही लिखते कुछ छोड़ने और शामिल करने का चयन थोड़ा कठिन होता है। वहाँ कई बार अपना परिवार ही दीवार बनकर खड़ा हो जाता है। अपने परिवार का किस्सा बयान करने के खतरे भी कम नहीं हैं। जिस निठुरता से सज्जाद ज़हीर और रजिया परिवार से अलग कर दिए गए, जिसका कारण न आर्थिक था और न व्यक्तिगत, उनकी वापसी या उसका साया पुनः आनेवाली पीढ़ी पर न पड़े, किसी भी संजीदा के लिए ऐसा सोच स्वाभाविक है। परिवार की संरचना लोकतान्त्रिक तरीके से नहीं होती है। मानव वैज्ञानिक मॉर्गन के ब्यौरे से स्पष्ट है कि स्त्री अपहरण और पूँजी के हस्तगत होने से परिवार बनता है। इसलिए पूँजी का असर भी दिखाई पड़ता है। अली ज़हीर ने अपने छोटे भाई (सज्जाद ज़हीर) को ईद के मौके पर बुलाया। उनकी बड़ी भाभी बोलीं, ''भई, रजिया तो सस्ती-से-सस्ती चीज भी लाजवाब पकाती है।'' नूर के शब्दों में, ''अब ये तारीफ थी या तंज़–यह तो वही बेहतर जाने।'' सज्जाद ज़हीर कांग्रेस में शामिल होनेवाले, असहयोग आन्दोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेनेवाले अपने खानदान के विरले चिराग थे, जो आगे चलकर कम्युनिस्ट पार्टी में सक्रिय हुए। बड़ा संसार था उनका, लेखकों का संसार। नामवर जी, मुल्कराज आनन्द, फैज़, क़ैफी उनके प्रिय मित्रों में रहे हैं। उस संसार की खासियत थी, सबको ले चलनेवाली। शिमला समझौता (1971) के समय वे भारतीय प्रतिनिधिमंडल में बुलाए गए थे। उन्होंने पाकिस्तान के प्रतिनिधि मंडल के सामने एक प्रश्न रखा, ''क्या आप लोग वाकई समझते हैं कि बातचीत से कोई नतीजा न निकालना, एक और जंग से ज्यादा नुकसानदेह है ?'' नूर लिखती हैं, ''अब जो ऐसे अड़ियल पड़ोसी को मना ले सकता है, वह बड़े भाई को तो मना ही लेगा।'' लेकिन काश ऐसा होता। इस सपन में दिल की अगन अचानक बुझ जाती है। नूर की कलम नहीं बुझती। आगे फिर वह नए संसार की उछल-कूद, उसके सुख-दुःख को शब्दों में बाँधने लगती हैं। निश्चय ही नूर जी की यह कृति उपन्यास नहीं है, रेखाचित्र और संस्मरण की मिली-जुली मिठास है, गठे कथानक वाले उपन्यास जैसा। ■

(नूर ज़हीर, मेरे हिस्से की रौशनाई; मेधा बुक्स, दिल्ली, मूल्य 150/-)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी भाभी बोलीं,
लाजवाब एकाती
या तंज़–यह तो
शामिल होनेवाले,
लेनेवाले अपने
र कम्युनिस्ट पार्टी
खकों का संसार।
नके प्रिय मित्रों में
ो ले चलनेवाली।
य प्रतिनिधिमंडल
तिनिधि मंडल के
ई समझते हैं कि
और जंग से ज्यादा
जो ऐसे अड़ियल
को तो मना ही
में दिल की अगन
बुझती। आगे फिर
ुःख को शब्दों में
ह कृति उपन्यास
ी मिठास है, गठे

दिल्ली, मूल्य 150/-)

विमर्श : एक

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : कुछ विचार

निरंजन कुमार

दलित साहित्य आज हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख और स्थापित धारा के रूप में स्वीकृत हो चुका है। दलित साहित्यिक विमर्श में इसके सौन्दर्यशास्त्र पर भी खूब चर्चा हुई है। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र अथवा आस्वादन के क्या प्रतिमान हो सकते हैं ? इस पर काफी विवाद रहा है। अनेक दलित और गैर दलित विद्वानों ने दलित साहित्य के लिए नए सौन्दर्यशास्त्र अथवा नए प्रतिमानों की आवश्यकता को स्वीकारा है। लेकिन यह प्रतिमान क्या होंगे ? इसके लिए कोई सम्यक और व्यवस्थित कार्य नहीं हुआ है। प्रस्तुत आलेख दलित सौन्दर्यशास्त्र की इसी आवश्यकता की पूर्ति का एक विनम्र प्रयास है। यहाँ बताना जरूरी है कि इस सन्दर्भ में हिन्दी में दो पुस्तकें भी आईं, लेकिन उनसे कोई ठोस चीज निकलकर नहीं आती। एक तो ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' और दूसरी मराठी लेखक शरण कुमार लिम्बाले की इसी नाम की पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'। वाल्मीकि जी की पुस्तक में सौन्दर्यशास्त्र पर कोई गम्भीर और व्यवस्थित विवेचन नहीं मिलता है, बल्कि पूरी पुस्तक को पढ़कर एक निराशा-सी होती है। सौन्दर्यशास्त्र से ज्यादा इस पुस्तक में अब तक दलित साहित्य में क्या हुआ ? इसके कौन-कौन-से आयाम हैं ? और विभिन्न विद्वानों के उन पर क्या मत हैं ? इसी की चर्चा है। यह पुस्तक एक तरह से विभिन्न विद्वानों के विचारों का संकलन है। इसमें एक गम्भीर विवेचन और विश्लेषण की कमी खटकती है। रही बात सौन्दर्यशास्त्र की, तो कुछेक बिन्दुओं के अतिरिक्त इसका कोई सम्यक विवेचन नहीं है। शरण कुमार लिम्बाले की पुस्तक इस सन्दर्भ में बेहतर प्रयास है। यद्यपि उनकी पुस्तक में भी सौन्दर्यशास्त्र पर केवल एक अध्याय भर है, लेकिन यह अपेक्षाकृत गम्भीर है और अन्य अध्यायों में भी दलित साहित्य को लेकर एक गम्भीर विवेचन-विश्लेषण मिलता है। दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र की कतिपय कसौटियाँ भी उन्होंने निर्धारित की हैं, लेकिन यह चर्चा भी इस रूप में अपूर्ण है कि इसमें दलित साहित्य के गत्यात्मक और विकसनशील स्वरूप को ध्यान में रखा गया है।

दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र क्या हो इसके पहले ये समझना जरूरी है कि दलित साहित्य अथवा काव्य के लिए जो अलग सौन्दर्यशास्त्र की माँग होती है इसके पीछे क्या कारण हैं ? क्यों दलित साहित्यकार बार-बार यह बात करता है कि दलित काव्य को परम्परावादी सौन्दर्यशास्त्रीय मानदंडों के आधार पर नहीं समझा जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर कुछ-कुछ शिवकुमार मिश्र की इन पंक्तियों में मिलता है–"जिस काव्यशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र द्वारा

प्रोफेसर लेक्चरर, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्धारित प्रतिमानों से रस लेकर सदियों—सहस्त्राब्दियों से भारतीय रचनाशीलता विकसित और पल्लवित होती रही है, महान रचनाकारों की विश्वविख्यात रचनाएँ जिसकी कीर्तिपताका फहरा रही हैं, वह काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र भी अन्ततः उसी कुलीन मानसिकता की देन है, जो हमारे सामाजिक विधान की भी स्रष्टा है। इस काव्यशास्त्र में अभिजनोचित रुचियों, रुझानों, संस्कारों और सौन्दर्यबोध का ही तो वर्चस्व है। उच्च कुलोत्पन्न, धीरोदात्त व्यक्ति ही इसमें नायकत्व का अधिकारी कहा गया है। सौन्दर्य के प्रतिमानों और भावों का गाम्भीर्य तथा उज्ज्वलता भी यहाँ अभिजनोचित रुचियों के आधार पर तय की गई है और देखी गई है।''[1]

दरअसल, हिन्दी में वैसे तो कोई विकसित सौन्दर्यशास्त्र है नहीं, और जो है उसके पीछे एक ओर संस्कृत के काव्यशास्त्र की परम्परा है, तो दूसरी ओर पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाव। ये कसौटियाँ दलित साहित्य, जो प्रतिरोध और संघर्ष का साहित्य है, के मूल्यांकन में अक्षम साबित होती हैं। क्योंकि पहले का आधार जहाँ ब्राह्मणवादी और सामन्तवादी दृष्टिकोण है, वहीं दूसरे का सामन्तवादी और पूँजीवादी। ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं ''कला और साहित्य में सौन्दर्यबोध जहाँ संस्कारजन्य होता है, वहीं परिवेशगत भी। पसन्द-नापसन्द, जीवनमूल्यों का आधार बनती है। दलित साहित्य एक साहित्यिक आन्दोलन भर नहीं है। दलित समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक आकांक्षाएँ साहित्य की भाषा में व्यक्त हो रही हैं। इसीलिए वह हिन्दी की मुख्यधारा के उस सौन्दर्यशास्त्र के वर्चस्व से मुक्त है, जो संस्कृत के काव्यशास्त्र से जुड़ा है।[2] दरअसल, प्रेमचन्द ने ऐसी स्थितियों को बहुत पहले ही भाँप लिया था। उन्होंने यह महसूस करना शुरू कर दिया था कि साहित्य को समझने और उसके आस्वादन के लिए नए मानदंडों की जरूरत है, सुन्दरता की परम्परागत कसौटियाँ ज्यादा उपयोगी नहीं रह गई हैं, जबकि उस समय 'दलित साहित्य' का उदय भी नहीं हुआ था। प्रेमचन्द ने कहा था कि हमें सुन्दरता की कसौटी बदलनी होगी और हमें निश्चय ही विलासिता के मीनार से उतरकर उस बच्चोंवाली काली रूपवती का चित्र खींचना होगा, जो बच्चे को खेत की मेंड़ पर सुलाकर पसीना बहा रही है। दरअसल, कला नामक संकल्पना अस्थिर और परिवर्तनशील होती है। कला का स्वरूप असीमित और व्यापक होने के कारण उसकी एक निश्चित कसौटी देना सम्भव नहीं है। बदलती संस्कृति और समाज के साथ साहित्य भी बदलता है। लेकिन यदि इनके साथ-साथ ये कसौटियाँ नहीं बदलती हैं तो साहित्य और समीक्षा दोनों का रिश्ता टूट जाएगा। विश्व स्तर पर हो चाहे भारत में, आस्वाद के भिन्न-भिन्न स्तर और प्रक्रिया बहुविध हैं। एक को जो आस्वादपरक लगता है, वह दूसरे को भी आस्वादपरक लगे यह जरूरी नहीं है। इस बात को यों समझा जाए कि यूरोपीय देशों में शारीरिक सुन्दरता के जो पैमाने थे वे गोरों (कॉकेशियन रेस) को ध्यान में रखकर गढ़े गए थे। उदाहरण के लिए सुन्दर नाक का पैमाना तीखी और नुकीली नाक है, ऐसा इसलिए था कि कॉकेशियन रेस के लोगों की नाक नुकीली होती है, जिसके पीछे भौगोलिक और आनुवंशिक दोनों कारक हैं। इसलिए कलाकार/कवि की कल्पना भी ऐसे नाकों वाले स्त्री-पुरुष को रचते रहे। दूसरी ओर अश्वेत अथवा नीग्रोइड रेस के लोगों की नाक चौड़ी और फैली होती है। भौगोलिक कारणों (उष्ण जलवायु में हवा के गर्म होने से फैली-चौड़ी नाक में इसके प्रवेश करते-करते इसकी गर्मी कम हो जाती है, जो शारीरिक दृष्टि से उनके लिए जरूरी है) और तत्पश्चात् आनुवंशिक कारणों से यह अनुकूलक है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जब लगभग सभी अश्वेतों (नीग्रोइड रेस) के लोगों की नाक चौड़ी होती है, तो सुन्दरता के पैमानों में नाक के सुन्दरता की कसौटी क्या होगी ? क्या नुकीली और तीखी नाक की कल्पना बेमानी नहीं होगी ? फिर अश्वेतों में तो कोई सुन्दर ही नहीं होगा। मानवशास्त्र की भाषा में बात करें तो यह निहायत एक नृतत्त्वकेन्द्रिक भाव (ethnocentric bias) होगा। जबकि उचित दृष्टिकोण सांस्कृतिक सापेक्षवाद (cultural relativism) का होगा, जिसके अनुसार किसी समाज, संस्कृति अथवा उसके तत्वों को उसी समाज/संस्कृति के परिपेक्ष्य में देखा और समझा जाना चाहिए। फिर सुन्दरता और सौन्दर्य की कसौटियाँ उसी समाज अथवा संस्कृति से निःसृत होना चाहिए न कि बाहर से आरोपित। यही बात दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र पर भी लागू होती है। इस साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व अथवा आस्वादन के पैमाने हमें दलित साहित्य में ही ढूँढ़ने होंगे, न कि परम्परागत प्रतिमान इसके साथ न्याय कर पाएँगे। शरण कुमार लिम्बाले के शब्दों में ''किसी के लेखन को साहित्य कहना है तो उस पर हमारे साहित्य की कसौटियाँ ही लागू होंगी, ऐसी भूमिका लेना सांस्कृतिक तानाशाही का लक्षण है। साहित्य की कसौटियाँ सभी कालों में स्थिर नहीं रहतीं। बदलते काल के साथ साहित्य भी बदलता है और उसकी समीक्षा में भी बदलाव की सम्भावना होती है। रूढ़ साहित्यिक कसौटी के आधार पर नई साहित्यिक धारा का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।''[3]

इस प्रकार एक नए सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन नया सौन्दर्यशास्त्र निर्धारित करना भी कोई आसान कार्य नहीं है। अपनी पुस्तक 'नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में मुक्तिबोध लिखते हैं कि "कोई भी नई साहित्यक प्रवृत्ति साधारणतः अपरिपक्व ही होती है। उस साहित्यिक प्रवृत्ति की आलोचक अपरिपक्वता की भर्त्सना करने की बजाय, उसके अधिकाधिक विकास में योग देकर उसे अधिक परिष्कृत करने की आवश्यकता है।"...वे आगे लिखते हैं..."युग परिवर्तन के साथ ही, साहित्य क्षेत्र में जो नए विषय अवतीर्ण होते हैं उनकी सहज कलात्मक अभिव्यक्ति दीर्घ साधना का फल होता है। यह साधना एक व्यक्ति की नहीं, वरन् कई पीढ़ियों द्वारा की गई होती है। जब उन विषयों को लेकर, कई पीढ़ियाँ खप जाती हैं तब कहीं कला विलक्षण उत्कर्ष को प्राप्त होती है।"[4] भारतेन्दु युग में खड़ी बोली के साहित्य का क्या स्तर था ? जब खड़ी बोली में बड़े पैमाने पर कविताएँ लिखा जाना शुरू हुआ, तब ब्रजभाषा वालों ने 'कलात्मकता' के नाम पर ही उनका विरोध किया था। इस सन्दर्भ में मैनेजर पांडेय के विचार भी प्रासंगिक हैं। उनका कहना है कि "सौन्दर्यशास्त्र एक दिन में नहीं बनता। प्रतिरोध और विकल्प का सौन्दर्य तो और भी नहीं। वैसे तो हिन्दी में कोई विकसित सौन्दर्यशास्त्र नहीं है, लेकिन जो है उसके पीछे एक ओर संस्कृति के काव्यशास्त्र की लम्बी परम्परा है, तो दूसरी ओर पश्चिम के सौन्दर्यशास्त्र का प्रभाव। स्वयं पश्चिम में सौन्दर्यशास्त्र का विकास कई सदियों में हुआ है। जो लोग कहते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र का जाति, वर्ग और विचारधारा से क्या लेना-देना, वे या तो बेवकूफ हैं या बदमाश। सौन्दर्यशास्त्र कला की अलौकिक अनुभूति नहीं है। वह कलात्मक सौन्दर्य के बोध और मूल्यों का शास्त्र है, और बोध की प्रक्रिया तथा मूल्यों के निर्माण में जाति, वर्ग और लिंग से जुड़ी विचारधाराओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है...इसीलिए दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र का विकास दलित समाज, उसकी चेतना, संस्कृति, विचारधारा पर निर्भर है, जो एक लम्बी प्रक्रिया में होगा।"[5]

यह तो सही ही है कि दलित साहित्य अभी अपने शैशवावस्था में है। अभी हिन्दी में दलित साहित्य उतना नहीं लिखा गया है, इसलिए इसकी रूपरेखा या विशेषताएँ पूरी तरह से नहीं उभरी हैं, लेकिन फिर भी दलित साहित्य के सौन्दर्य के कुछ पैमाने निर्धारित किए जा सकते हैं। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि केवल रूप अथवा कलागत आधारों पर ही दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र निर्भर नहीं करेगा। यद्यपि यह सही है कि दलित सृजन श्रेष्ठ साहित्य के रूप में पहचाना जाए, इसके लिए इसे अपने रूपगत आयामों के प्रति भी सावधान रहना होगा, लेकिन साहित्यिकता की कसौटी केवल शिल्पगत नहीं होती उसके भाव अथवा संवेदन अथवा वस्तु पक्ष की भी उतनी ही महत्ता है। केवल शिल्पगत अथवा रूपगत आधारों पर ही निर्भर किया जाए तो प्रगतिवादी काव्यान्दोलन को भी खारिज किया जा सकता है। आश्चर्य होता है कि जिन मार्क्सवादी आलोचकों ने साहित्य के मूल्यांकन में अन्तर्वस्तु और रूप के द्वन्द्व में साहित्य की श्रेष्ठता के लिए अन्तर्वस्तु को प्रधानता दी, वही आज दलित साहित्य के सन्दर्भ में अलग सुर में बोल रहे हैं। क्या यह मानसिकता दलितों की इस आशंका को पुष्ट नहीं करती कि गैरदलित दलित साहित्य को न समझ सकते है और न उसके साथ पूरा न्याय कर सकते। जिन लोगों ने एक समय (नई कविता के दौर में) कविता के नए प्रतिमानों की जरूरत को मानते हुए रस से आगे बढ़ते हुए नए प्रतिमान गढ़े, उन्हें यह स्वीकार करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि आज दलित साहित्य अथवा कविता अपने लिए नए प्रतिमानों की माँग कर रही है और यह प्रतिमान केवल शुद्ध रूपगत अथवा कलागत नहीं हो सकते।

जो लोग साहित्य-शिक्षा-कला आदि के परम्परागत रूपों से सदियों से वंचित रहे हैं उनसे वैसे सृजन की अपेक्षा रखना बेमानी होगा। दूसरे शब्दों में, दलित साहित्य के सौन्दर्य के तत्त्वों में शिल्पगत पक्षों के साथ-साथ भाव पक्ष को भी समुचित स्थान देना पड़ेगा। वैसे भी साहित्य अथवा कविता की नई चिन्तन धाराओं में भाव अथवा वस्तु और शिल्प अथवा रूप को अलग-अलग करके नहीं समझा जाता है। नामवर सिंह 'कविता के नए प्रतिमान' में लिखते हैं "किसी काव्यकृति के आयत्तीकरण की इस प्रक्रिया में कथ्य से अलग शब्दों और बिम्बों की सुन्दरता का सवाल ही नहीं उठता। वहाँ कथ्य के आलोक में शब्द-बिम्ब-लय आदि की सार्थकता का प्रश्न मुख्य होता है। इसलिए मूल्य-निर्णय समग्र होता है।"[6] दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र से कुछ तत्त्वों को आगे निरूपित करने का प्रयास किया गया है। इस निरूपण में उपरोक्त बातों के अतिरिक्त रामविलास शर्मा के निम्नलिखित कथन को भी ध्यान में रखा गया है—"सौन्दर्यशास्त्र और मानव-जीवन का गहरा सम्बन्ध है। सौन्दर्यशास्त्र का विवेच्य विषय साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के अतिरिक्त प्रकृति और मानव-जीवन का सौन्दर्य भी है। सौन्दर्य और उसकी अनुभूति का विवेचन उत्सुकता की शान्ति के लिए ही नहीं है; उसका उद्देश्य हमारी सौन्दर्य चेतना को उत्तरोत्तर विकसित करना, मानव-जीवन और उसके सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश को और सुन्दर बनाना है।"[7]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व

समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व और न्याय–इन जीवन मूल्यों को दलित साहित्य के सौन्दर्य तत्त्व का कोर (केन्द्र) माना जा सकता है। स्वतन्त्रता, समानता और न्याय आदि ऐसे मूल्य हैं जिनकी ओर मनुष्य अनायास आकृष्ट होता है और यह अकारण नहीं है कि मानवता के इतिहास में लाखों-करोड़ों लोगों ने इसके लिए कुर्बानियाँ दी हैं अर्थात् मनुष्य को कला-मूल्य के समान ही बल्कि उससे भी अधिक सामाजिक मूल्य प्राणप्रिय नजर आता है। अर्थात् मनुष्य के लिए ये सामाजिक मूल्य किसी भी कलागत-साहित्यिक मूल्यों से ज्यादा मूल्यवान हैं। दरअसल समता, स्वतन्त्रता, न्याय और प्रेम आदि व्यक्ति और समाज की मूलभूत भावनाएँ हैं। यही दलित साहित्य की शक्ति है और उसका सौन्दर्य भी। शरण कुमार लिम्बाले लिखते हैं "दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र (i) कलाकारों की सामाजिक प्रतिबद्धता, (ii) कलाकृति में जीवन मूल्य, (iii) पाठकों के मन में जागृत होनेवाली समता, स्वतन्त्रता, न्याय और भ्रातृत्वभाव की चेतना जैसे मूल तत्त्वों पर टिका रहनेवाला है।"[8]

यातना, वेदना और **बेचैनी** दलित साहित्य की एक अन्य विशेषता है। पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र का स्थायी भाव आनन्द है और जिसके अनुसार आनन्द का साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य है। जबकि दलित साहित्य प्रमुख रूप से यातना और वेदना का साहित्य है। सदियों से शोषण, दमन और अन्याय के तले पिसते हुए लोगों की यातना और उनकी वेदना को स्वर देनेवाला है दलित साहित्य। और ऐसे साहित्य को पढ़कर आनन्द की जगह बेचैनी का अनुभव होता है। यह बेचैनी कुछ सोचने को विवश करती है और प्रेरित भी करती है। एक ओर जहाँ यह सोए हुए दलितों को जगाने का कार्य करती है, दूसरी ओर गैर दलितों को भी मानवीय होने की प्रेरणा देती है, ताकि ऐसे समाज की रचना हो सके जो समानता, स्वतन्त्रता, बन्धुत्व एवं न्याय पर आधारित हो। इसका अर्थ हुआ कि जो साहित्यिक रचना अथवा कलाकृति पाठक की चेतना को जितना अधिक जागृत करेगी वह साहित्यिक कृति उसी अनुपात में सुन्दर और परिणामतः स्तरीय होगी। लिम्बाले के शब्दों में "जो कलाकृति अधिकाधिक दलित चेतना" जागृत करेगी, वह कलाकृति सर्वश्रेष्ठ होगी।"[9] यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी है कि यह वेदना एक ही नहीं वरन पूरे बहिष्कृत समाज की वेदना है। इसलिए इस वेदना का स्वरूप सामाजिक बन गया है।

दलित कविता/साहित्य नकार, विद्रोह और प्रतिरोध का साहित्य है। प्रश्न उठता है कि इस प्रतिरोध और नकार का साहित्यिक मूल्य क्या है ? प्रतिरोध और नकार एक नकारात्मक चेतना मानी जाती है, लेकिन दलित कविता में प्रतिरोध और नकार केवल नकारात्मक मूल्य नहीं है। इस प्रतिरोध और नकार के पीछे एक संकल्प है, स्वप्न है, विजन है। यह स्वप्न है नए समाज के निर्माण का। ऐसे समाज को बनाने का; जो समानता, स्वतन्त्रता, भाईचारा, न्याय और मानवता पर आधारित होगा। प्रतिरोध और नकार यहाँ वर्णव्यवस्था, जातिभेद, ऊँचनीच, सामन्ती सोच, ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण तथा सामाजिक-आर्थिक विषमताओं के प्रति है। वह भाग्य और भगवान, हिन्दू धर्मशास्त्रों एवं हिन्दू संस्कृति की पहचान रखनेवाले मिथकों, प्रतीकों और विचारों को नकारता है, प्रतिरोध करता है। लेकिन इस नकार के पीछे जो उद्देश्य और आदर्श है, वह है ऐसे समाज की सृष्टि जो समन्वय, सामंजस्य और सह-अस्तित्व पर आधारित हो। उनका नकार और प्रतिरोध निहिलिस्टों की तरह का नहीं है। उनका प्रतिरोध उन्हीं व्यवस्थाओं, विश्वासों और मान्यताओं के प्रति है, जो समाज और मानवता के हित में अनुपयोगी व अशुभ हैं। राजेन्द्र यादव का भी मानना है–"जो नया सौन्दर्यशास्त्र बनेगा वह संघर्ष से शुरू होगा, उस यातना से शुरू होगा, चाहे वह उसको रिअलाइज करने अथवा उस यातना को, उसकी तकलीफ को, उसके भेदक रूप को समझने के रूप में हो, और उसके बाद बदलने की मानसिकता के रूप में हो, जिसे हम संघर्ष कह सकते हैं।"[10]

अनुभूति की प्रामाणिकता दलित साहित्य का अत्यन्त आकर्षक और प्रबल वैशिष्ट्य है। नई कविता और नई कहानी के दौर में प्रामाणिकता की खूब चर्चा थी, लेकिन दलित साहित्य की प्रामाणिकता उनसे बहुत कुछ भिन्न है। चाहे तो कह सकते हैं गुणात्मक रूप से भिन्न है। नई कविता आदि में यह प्रामाणिकता कवि या लेखक के वैयक्तिक जीवन की अनुभूति से जुड़ी होती थी, उसके लिए यह आग्रह नहीं था कि वह सामूहिक अथवा सामुदायिक भी हो। जबकि दलित साहित्य में अनुभूति की यह प्रामाणिकता स्पष्ट रूप से सामूहिक और सामुदायिक है और इस कारण वस्तुगत है। यहाँ यह बता देना जरूरी है कि ऐसा नहीं कि यह अनुभूति व्यक्तिगत स्तर पर नहीं होती, लेकिन इस बात को समझने की जरूरत है कि दलित साहित्य में अनुभव के सन्दर्भ व्यक्तिगत होने के साथ अथवा बावजूद वस्तुगत और इसी तरह वैयक्तिक होने के साथ या बावजूद सामूहिक हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दलित कवि का 'मैं' 'हम' की अभिव्यंजना बन जाता है। इसी को शम्भू गुप्त इन शब्दों में व्यक्त करते हैं "दलित रचनाकार का व्यक्तिगत 'मैं' व्यक्तिवादी इकाई नहीं बल्कि सामूहिक 'हम' हैं। इन रचनाओं में बोलता हुआ 'मैं' जैसे इनका पूरा समाज है। यहाँ 'मैं' की वेदना, भावना, विक्षोभ और दग्धता रूपान्तर से उसके पूरे समाज की वेदना, यातना, विक्षोभ और दग्धता है। प्रगतिशील साहित्य की तरह यह प्रातिनिधिक वर्ग चरित्र का मामला नहीं है बल्कि यहाँ व्यक्ति ही समाज है।" यहाँ यह उल्लिखित करना जरूरी है कि अनुभूति स्वानुभूत के साथ-साथ परानुभूत भी हो सकती है। हाँ ! यह सही है कि स्वानुभूति ज्यादा मर्मस्पर्शी होगी, लेकिन परानुभूति भी पूरी संवेदना और ईमानदारी से की जाए तो कृति की श्रेष्ठता कम नहीं होगी। टाल्सटॉय का उदाहरण दिया जा सकता है, जिन्होंने एक रेल दुर्घटना में मृत औरत को देखा था और उस पूरी अनुभूति का कलात्मक रूपान्तरण 'अन्नाकरेन्निन्ना' जैसी महान कृति में हुआ। रिल्के इसे ही अन्तःविचक्षण (inseeing) कहते हैं।

दलित साहित्य बेचैनी का साहित्य तो है, लेकिन आनन्द और सौन्दर्य से भी वह मुख नहीं मोड़ता है। शरण कुमार लिम्बाले जब यह कहते हैं कि "मनुष्य केवल आनन्द और सौन्दर्य के लिए दीवाना नहीं होता, वो समता, स्वतन्त्रता, न्याय और प्रेम के लिए भी दीवाना होता है...।"[11] तो इसमें यही अन्तर्निहित है अथवा ध्वनित हो रहा है कि वह उसे साहित्यिक मूल्य के रूप में स्वीकार कर रहे हैं चाहे अप्रत्यक्ष ही। बात सही भी है। क्या दलित व्यक्ति अपने बच्चे को गोद में लेकर आह्लादित नहीं होता ? क्या बच्चे की मुस्कान से दलित माँ आनन्दित नहीं होती। क्या दलित युवक और युवती के मन में प्रेम की कोंपल नहीं फूटती ? यहाँ यह देखना जरूरी है कि इस आनन्द, सौन्दर्य और प्रेम की अभिव्यक्ति किन सामाजिक सन्दर्भों में हो रही है। वस्तुतः संघर्ष के दौर में आनन्द और सौन्दर्य का स्वरूप पारम्परिक नहीं रह जाता। सन्दर्भ बदलते हैं, लेकिन विकट-से-विकट क्षणों में भी इस मनःस्थिति की कल्पना की जा सकती है। युद्धभूमि जैसी स्थिति में सैनिक भी इसका अहसास करता है, प्रकृति के प्रति संवेदनशील होता है। कीटस और राबर्ट ब्रुक की युद्ध कविताओं में यह द्रष्टव्य है, आदिवासी कवि हरिराम मीणा और दलित कवि ओमप्रकाश वाल्मीकि और धर्मवीर की कविताओं में भी यदा-कदा यह विद्यमान है। यहाँ सौन्दर्य का स्रोत कल्पना, स्वप्न अथवा भावनावादी चिन्तन नहीं बल्कि विषमताओं, अन्तर्विरोधों और अन्याय से मुक्त समाज होगा। यहाँ आनन्द संघर्ष और कर्म में है, परम्परागत रसिकवृत्ति में नहीं, जहाँ साहित्य को पान की मीठी गिलौरी की तरह धीरे-धीरे चबाकर आनन्द लिया जाता हो। दलित कवि एन. सिंह की निम्न पंक्तियाँ कुछ ऐसा ही आशय व्यक्त करती हैं–

"शब्द क्या पान है कि मुँह में रखो और धीरे से चबा लो
बिना कर्म के शब्द जो निजधार खो कुंठित हुए उन्हें धार दो।"

डॉ. धर्मवीर ठीक ही लिखते हैं–"वास्तव में यह अभिशाप को कायम रखनेवाली बात है कि दलित साहित्यकार प्रेम, सौन्दर्य और जीवन की समग्रता और पूर्णता के गीत नहीं गा सकता।"[12] यह अवश्य है कि सौन्दर्य, आनन्द और प्रेम यहाँ जीवन संघर्षों और कर्म की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्त होगा, जो मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा में सहायक होगा। जैसा कि कंवल भारती की कविता 'प्रीत की रेखाएँ' में देखा जा सकता है–

वह चन्दन-सी उसकी महक
खिलखिलाते मोतियों-सी मुस्कान
गुलाबी होठ और उभरे वक्षों का स्पर्श
मैं अब भूल गया हूँ।
हाँ, मैं भूल गया हूँ
क्योंकि एक अदद सहज-सरल जीवन
मेरे पास नहीं था।
मेरे पास संतप्त जिजीविषाएँ थीं
अभाव-चक्र से उत्पन्न विद्रूपताएँ थीं
और मैं एक टुकड़ा सुख जीने के लिए भी
टुकड़े-टुकड़े हो रहा था।

यों, मैं अब भी चूम लेता हूँ
उसके होठ, जो काले पड़ गए हैं
आलिंगन में भर लेता हूँ
उसकी समर्पित देह को
जिसमें अब मिट्टी का सौंधापन
भर गया है।

दलित साहित्य पर आरोप लगाया जाता है कि यह अनगढ़ है। लेकिन देखा जाए तो यही अनगढ़पन/अनगढ़ता उसका सौन्दर्य है। तराशे हुए और व्यवस्थित पौधों, गमलों से भरे बगीचे के मुकाबले बेतरतीब पौधों, पेड़ों से भरा हुआ जंगल कम आकर्षक नहीं लगता, बल्कि कई बार यह अनगढ़ जंगल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यादा सम्मोहक लगता है, साँप की आँखों की तरह। मुक्तिबोध की तर्ज पर दलित साहित्य पुराने मठों और गढ़ों को तोड़कर एक नए अनगढ़ तरह का साहित्य रचना चाहता है। और यह अनगढ़ता बनावटी नहीं है। जो लोग सदियों से बोलने से वंचित रहे हैं, शिक्षा और साहित्य से जिनको दूर रखा गया; उनकी अभिव्यक्ति सुर-ताल में हो, यह अपेक्षा करना बेमानी है। स्वाभाविक रूप से उनकी अभिव्यक्ति अनगढ़ होगी। यह अनगढ़ता उनकी एक विशिष्टता भी है। हाँ ! यह जरूर देखना होगा कि इस अनगढ़ अभिव्यक्ति के द्वारा दलित साहित्य जिस स्वतन्त्रता, समानता, मुक्ति की कामना और मानवता की प्रतिष्ठा करना चाहता है, उस उद्देश्य की पूर्ति हो रही है या नहीं ? अनगढ़ होने के बावजूद दलित साहित्य ने अपनी संवेदना को पूरी शिद्दत से व्यक्त किया है और यही इसका सौन्दर्य है।

दलित साहित्य पर **सपाटबयानी** का भी आरोप लगाया जाता है। देखा जाए तो सपाटबयानी मुक्तिबोध जैसे हिन्दी के श्रेष्ठ समझे जानेवाले कवियों में भी मिलती है। नामवर सिंह अपनी पुस्तक 'कविता के नए प्रतिमान' में लिखते हैं ''काव्य भाषा के लिए प्रायः बिम्बयोजना हानिकार सिद्ध हुआ है। बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अक्सर दूर रही है, बोलचाल की सहज लय खंडित हुई है, वाक्यविन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अन्तर्गत क्रियाएँ उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य कथ्य की ताकत कम हुई है। इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही कविता में तथाकथित सपाटबयानी अपनाई जा रही है, जिसमें फिलहाल काफी सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती है।''[13] यह सपाटबयानी प्रगतिवादी कवियों में हुई है। 'धरती' के कवि त्रिलोचन के बारे में शमशेर लिखते हैं–

तुमने 'धरती' का पद्य पढ़ा है ?
उसकी सहजता प्राण है।

नई कविता में तो सपाटबयानी एक विद्रोह के रूप में आता है, लेकिन दलित साहित्य में सपाटबयानी एक सकारात्मक रूप में उपस्थित होता है। दलित साहित्य का मूल उद्देश्य दलित समाज को जागृत करना और उसे उठ खड़ा होने के लिए प्रेरित करना है, जो अशिक्षित, अर्धशिक्षित अथवा नव साक्षर है। इसलिए दलित साहित्यकार ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जिसमें भटकाव या उलझन नहीं हो, एक सरलता और स्पष्टता हो अर्थात् वह सम्प्रेषणीय हो। जो सन्देश वह समाज को देना चाहता है वह वहाँ तक उसी रूप में पहुँचे। जयप्रकाश कर्दम इस सम्प्रेषणीयता को दलित साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण बताते हुए इसे दलित साहित्य के सौन्दर्य का एक पक्ष मानते हैं। कुसुम वियोगी की निम्न पंक्तियाँ सपाटबयानी के स्वर में ही कितने मार्मिक तरीके से तनाव की अभिव्यंजना करती है–

''शब्द चेतना है
शब्द अन्याय के विरुद्ध
भँवरी की न्यायिक वेदना है
शब्द किसी निर्गुण सन्त के कानों में गूँजता हुआ
अनहद नाद है
शब्द वर्तमान में
महज दलित संवाद है
शब्द चेतना है
शब्द वेदना है
शब्द नाद है
शब्द संवाद है।''

स्पष्ट है सपाटबयानी और सम्प्रेषणीयता दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के महत्त्वपूर्ण आयाम हैं।

आक्रोश और **प्रहार** अन्य तत्त्व हैं जिसे दलित साहित्य के सौन्दर्य शिल्प में रखा जा सकता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत दलितों की जो दशा/स्थिति है उसे लेकर सजग दलित कवि बहुत ही क्षुब्ध है। यह क्षोभ उसके जीवन और लेखन दोनों ही में दिखाई पड़ता है। लेखन में यही क्षोभ आक्रोश के रूप में ढलकर व्यक्त होता है। कवि का आक्रोश इस व्यवस्था से है, व्यवस्था के नियन्ताओं से है। इसीलिए कवि अपना आक्रोश कविता में व्यक्त करते हुए सीधे प्रहार की मुद्रा में आ जाता है। वह चोट करता है व्यवस्था, समाज और साहित्य की दुरभिसन्धियों और दुष्चक्रों पर। एन. सिंह लिखते हैं कि ''दलित साहित्य का शब्द सौन्दर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही सड़ी-गली परम्पराओं पर बेदर्दी से चोट करता है। वह शोषण और अत्याचार के बीच हताश जीवन जीनेवाले दलित को लड़ना सिखाता है, वह सिर पर पत्थर ढोनेवाली मजदूर महिला को उसके अधिकारों के विषय में बतलाता है।...उसके लिए जिस शाब्दिक प्रहार क्षमता की आवश्यकता है, वह उसमें है और यही दलित साहित्य का शिल्प सौन्दर्य है।''[14] एन. सिंह की ही पंक्ति है–

''सुनो हर शब्द एक तीर है,
इसे अर्थ के विष में बुझा लो।''

दलित साहित्य में यह आक्रोश और प्रहार सचमुच हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Harid

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य में एक अनोखी बात है। इस आक्रोश और प्रहार द्वारा शोषणकारी व्यवस्था की वह चूलें हिला देना चाहता है। तिलमिलाकर रख देता है वह इस सामाजिक-साहित्यिक व्यवस्था-परम्परा के नियामकों को। एन.आर. सागर की निम्नलिखित पंक्तियों में इसी आक्रोश और प्रहार को स्वर देता है–

"यदि तुम्हारी बहनों-बेटियों को
सर्वथा निर्वस्त्र कर घुमाया जाए,
गली-गली नचाया जाए
कसे जाएँ गन्दे फिकरे
किया जाए बलात्कार
सड़कों-चौराहों पर
सामने तुम्हारे
तब तुम्हें कैसा लगेगा ?

दलितों की यातना और बेचैनी, उनका विद्रोह और संघर्ष, सब कुछ उलट-पलटकर देने की इच्छा, उनका आक्रोश और प्रहार की मुद्रा एक तनाव उत्पन्न करती है। यह तनाव साहित्य में भी अपने को अभिव्यक्त करता है। यद्यपि तनाव को नामवर सिंह ने पहले ही कविता के नए प्रतिमानों में घोषित कर रखा है, लेकिन तनाव को जैसी अभिव्यंजना यहाँ मिलती है वह थोड़ा अलग है। एक ओर अज्ञेय जैसे कवियों का तनाव 'मानसिक' ज्यादा है। शमशेर के यहाँ भी तनाव "एक अटका हुआ आँसू" और "पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता" के रूप में वैयक्तिकता के घेरे में ही है। दूसरी तरफ मुक्तिबोध के यहाँ तनाव दोनों स्तरों पर है एक स्वयं के अन्दर और दूसरी ओर अपने परिवेश के साथ। यहाँ दोनों परस्पर सम्बन्धित भी हैं, लेकिन यहाँ जो तनाव है वह 'डीक्लास' होने का है। कवि को वर्णव्यवस्था की अमानुषिक पीड़ा का दंश नहीं लगा है, जो कि दलित कवियों ने झेला है। दलित कवियों के यहाँ जो तनाव है, वह सामन्ती वर्णव्यवस्था की अमानुषिकता को लेकर है। वे अपने परिवेश से बार-बार टकराते हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, कुसुम वियोगी, जयप्रकाश कर्दम, एन. सिंह, पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, श्योराज सिंह बेचैन, कँवल भारती आदि की कविताओं में इस तनाव को देखा जा सकता है। वाल्मीकि की निम्न पंक्तियों को देखा जाए–

"ओ मेरे अज्ञात, अनाम पुरखो
तुम्हारे मूक शब्द
जल रहे हैं
दहकती राख की तरह
राख, जो लगातार काँप रही है
रोष में भरी हुई।"

इसी तरह जयप्रकाश कर्दम की निम्न पंक्तियाँ देखिए–

मैं
उबलते पानी की
भाप हूँ
पानी नहीं आग हूँ

उपरोक्त पंक्तियाँ सपाटबयानी का आभास देते हुए भी एक तीखे तनाव को अभिव्यक्त करती हैं।

दलित कविता अपने सामाजिक परिवेश की कविता है। जिन सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों में दलित व्यक्ति का जीवन उलझा है, जिन यातनाओं–संघर्षों से वह गुजरता है, सामाजिक-शोषण की जिन व्यवस्थाओं से उसका सामना होता है, दलित कविता में वह पूरी तल्खी से व्यक्त हुआ है। यह सामाजिक परिवेश कवि का तो है ही, पाठक का भी है। उस पाठक वर्ग का; जिसे अपनी कविता/साहित्य द्वारा वह जगाना चाहता है, जिसमें क्रान्ति का संचार करना चाहता है। साथ ही उस पाठक वर्ग को भी सम्बोधित है, जो इस अमानवीय व्यवस्था के लिए जिम्मेदार है। दलित कवियों की इन कविताओं पर 'अखबारी' होने का आरोप भी लगा है। दरअसल 'परिवेश' को साहित्यिक मूल्य के रूप में नामवर सिंह ने पहले ही कविता के नए प्रतिमानों में जगह दे दी थी। 'नई कविता' के कवि भी अपने परिवेश से जुड़े थे, लेकिन दलित कवि तो अपने सामाजिक परिवेश की ही उपज है, उसी में रचा-बसा है और उनका काव्य इसी सामाजिक परिवेश को प्रतिबिम्बित करता है। अखबारी होने का आरोप 'नई कविता' के कवियों पर भी लगा था। लेकिन नामवर सिंह ने विश्वसनीय तरीके से इस बात को समझाया है कि 'अखबारी गन्ध' अथवा 'पार्श्व में अखबार' होने के बावजूद यह सार्थक और वर्तमान की सही पहचान करनेवाली कविताएँ हैं। वह सवाल उठाते हैं "क्या यह खबर इस कविता में केवल एक सपाट खबर है या इसमें कोई गहरी विडम्बना का अर्थ उभारा गया है ?"[15] वह आगे स्वयं उत्तर देते हैं–"ऐसी कविताओं की रचनाशीलता यदि नहीं दिखाई पड़ती तो इसलिए कि परिवेश अति परिचित है और हम समझते हैं कि कवि ने अपने ओर से कुछ नहीं किया है, बल्कि परिवेश को ज्यों-का-त्यों उठा लिया है।...जो इस परिवेश से परिचित नहीं है उनके लिए यही वास्तविक परिवेश नाटकीयता के लिए निर्मित एक कल्पित वातावरण भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकता है।''[16] दलित कविता के साथ यह बात और भी प्रासंगिक है। पूरी दलित कविता जिस परिवेश को रच रही है, भारतीय समाज और संस्कृति से अपरिचित व्यक्ति के लिए तो यह कल्पित छोड़िए, कल्पना से परे की वस्तु होगी। वहाँ इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि किसी की छाया पड़ जाने से भी दूसरा व्यक्ति अपवित्र हो जाएगा, भले ही उनके यहाँ शोषण की अन्य व्यवस्थाएँ हो सकती हैं।

दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के उपर्युक्त तत्वों का निर्धारण दलित साहित्य/कविता के अब तक की यात्रा के आधार पर करने की एक कोशिश है जो अपने आप में अन्तिम नहीं है। इसमें अनेक परिवर्तन/परिवर्धन की गुंजाइश हो सकती है। यह हमारे आज के और आनेवाले समय की एक चुनौती है, जिसमें दलित-गैर दलित साहित्यकारों और चिन्तकों को रू-ब-रू होना ही पड़ेगा। आ

सन्दर्भ

1. शिवकुमार मिश्र—दलित साहित्य का आन्दोलन और हिन्दी क्षेत्र, नया पथ, अंक 24-25, 1997, पृ. 95
2. ओमप्रकाश वाल्मीकि—दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2001, पृ. सं. 51
3. शरण कुमार लिम्बाले—दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, 2000, पृ. 105
4. मुक्तिबोध—नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1971, पृ. 102-103
5. मैनेजर पांडेय—युद्धरत आम आदमी, दलित चेतना—सोच (सं. रमणिका गुप्ता), नवलेखन प्रकाशन, हजारीबाग, 1998, पृ. 10
6. नामवर सिंह—'कविता के नए प्रतिमान' राजकमल प्रकाशन, 1997, पृ. 36-37
7. रामविलास शर्मा—संकल्प का सौन्दर्यशास्त्र, सम्पादक मन्नू भंडारी एवं अजित कुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1997, पृ. 86
8. शरण कुमार लिम्बाले—दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, 2000, पृ. 116
9. वही, पृ. 114
10. राजेन्द्र यादव—युद्धरत आम आदमी (सं. रमणिक गुप्ता), अंक 41, 1998, पृ. 128
11. शरण कुमार लिम्बाले—दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, 2000, पृ. 115
12. डॉ. धर्मवीर—दलित साहित्य (सं. जयप्रकाश कर्दम), 2000, पृ. 58
13. नामवर सिंह—कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, 1997, पृ. 125
14. एन. सिंह—मेरा दलित चिन्तन, कंचन प्रकाशन, 1998, पृ. 40
15. नामवर सिंह—कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, 1997
16. नामवर सिंह—वही, पृ. 198

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दलित साहित्य : नई सदी की दहलीज पर

शरण कुमार लिम्बाले

९, कुसुम कुंज, सर्मतनगर, नवी, सांगवी, पुणे-411027 (महा.)

'दलित साहित्य' का प्रवाह मात्र मराठी में नहीं, वह भारतीय स्तर पर स्थापित हो चुका है। भारतीय और वैश्विक स्तर पर दलितों की अभिव्यक्ति की जो चर्चा हो रही है और विश्व के शोषितों के साहित्य के नाते दलित साहित्य की ओर देखा जा रहा है। इसका आने वाले कल के दलित साहित्यकारों पर प्रभाव निश्चित ही पड़ेगा। कल तक 'दलित साहित्य' की चर्चा मात्र मराठी और महाराष्ट्र के सीमा के अन्दर होती थी। अब इस सीमा को पार कर दलित साहित्य की चर्चा हो रही है। इस कारण महाराष्ट्र के मूल 'दलित साहित्य' को अब 'मराठी दलित साहित्य' का विशेषण लगाया जाता है। हिन्दी दलित साहित्य, तमिल दलित साहित्य, गुजराती दलित साहित्य और कन्नड़ दलित साहित्य ऐसा विभाजन हो रहा है। इसमें मराठी दलित साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं की तुलना में समृद्ध है, यह मान्य करना होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मराठी का दलित साहित्य और दलित लेखक ही महत्त्व के हैं। मराठी से भी स्तरीय दलित साहित्य निर्मिति अन्य भारतीय भाषाओं में हो रही है। यह मेरी चर्चा का विषय है।

कल तक हम दलित साहित्य के योगदान के सन्दर्भ में कौन-सी चर्चा करते थे ? दलित साहित्य ने मराठी साहित्य को नई परिभाषा दी है, नई अभिव्यक्ति दी, नया नायक दिया। मराठी अभिरुचि को अन्तर्मुख किया। मराठी समीक्षा का क्षितिज विस्तारित हुआ। अब यह स्वर बदलना पड़ेगा। मराठी दलित साहित्य ने भारत के दलित को लिखने की प्रेरणा दी। भारतीय दलित साहित्य के आन्दोलन को जन्म दिया। भारत के अन्य राज्य के दलित महाराष्ट्र के दलित आन्दोलन को और दलित साहित्य को आदर्श मानकर कार्य करने लगे। ऐसा क्यों हुआ ?

महाराष्ट्र के दलित युवकों ने 'दलित पन्थर' नाम का विद्रोही संगठन स्थापित किया (सन् 1972)। यही दलित साहित्य के उदय का कालखंड है। दलित पन्थर ने दलितों के अन्याय के विरुद्ध आन्दोलन किया। उसकी प्रतिध्वनि देश के हर हिस्से में गई और अन्य राज्यों में भी दलित युवक एकत्र हुए। मराठवाड़ा विश्वविद्यालय को डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर का नाम देने के लिए इन युवकों ने नामान्तर की लड़ाई पन्द्रह वर्ष तक लड़ी। इसका परिणाम अन्य राज्यों में भी हुआ। नामान्तर की लड़ाई ने देश के दलितों को भावनात्मक स्तर पर एकत्र करने का काम किया। इसी समय महाराष्ट्र और केन्द्र सरकार ने डॉ. अम्बेडकर का अप्रकाशित साहित्य प्रकाशित करना शुरू किया। शासकीय यन्त्रणा के कारण अम्बेडकर साहित्य का प्रसार अधिक गति से हुआ। भारत के अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्यों में बाबासाहेब अम्बेडकर के साहित्य की माँग होने लगी। भारतीय स्तर पर अम्बेडकरी विचार का जैसे-जैसे प्रसार होने लगा, उसी परिमाण में भारतीय दलितों के मन में ऊर्जा संचारित होने लगी। भारतीय दलितों ने आपने विचार का प्रसार करने के लिए अपनी मासिक पत्रिका, साहित्य संस्था, प्रकाशन संस्था, सम्मेलन और ग्रन्थ वितरण की व्यवस्था की शुरुआत की। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय स्तर पर दलित साहित्य के निर्माण की शुरुआत हुई।

गौतमबुद्ध, कबीर, 'पेरियार', ई. व्ही. रामस्वामी नायकर, सन्त बश्वेश्वर, महात्मा फुले, राजर्षि शाहू महाराज और डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर इनके विचारों के साथ चार्वाक और मार्क्स के विचार भी सामने आए। सम्यक क्रान्ति के रसायन की निर्मिति शुरू हुई। कांशीराम के कार्य के कारण उत्तर में फुले, शाहु और अम्बेडकर के विचारों का प्रचार और प्रसार शुरू हुआ। दलितों के साथ-साथ 'बहुजनवाद' की स्थापना होने लगी। ब्राह्मण विरोधी आन्दोलन की शक्ति बढ़ने लगी। भारतीय राजनीति के सूत्र बदलने लगे। चुनाव की राजनीति में दलितों का महत्त्व बढ़ गया। ब्राह्मण व्यवस्था के प्रतीक 'राम और रामायण' पर प्रहार होने लगे। पेरियार ने तो रामायण पर काफी प्रहार किए। प्रो. अरुण काम्बले ने 'रामायण में संस्कृति संघर्ष' पुस्तक लिखी। इसके पहले राजा ढोले के 'साधना' में लिखे लेख 'काला स्वतन्त्रता दिवस' ने महाराष्ट्र में हलचल मचा दी और दलितों की नई पीढ़ी में विद्रोह का तूफान निर्माण हुआ।

फुले-अम्बेडकर अंग्रेज समर्थ थे ऐसा हिन्दुत्ववादी संगठन कहने लगे। इस बहाने पुराण काल का संस्कृति संघर्ष आधुनिक रूप में तीव्र होने लगा।

दलित-बहुजन और अल्पसंख्यक ऐसा त्रिवेणी संगम होने लगा। दलित-मुस्लिम ऐक्य के प्रयत्न भी हुए। ख्रिस्ती साहित्य, मुस्लिम और आदिवासी साहित्य का प्रवाह निर्माण हुआ।

दलित, शोषित, अल्पसंख्यक को एकत्र लाने की चर्चा होने लगी। इसी समय ''मंडल आयोग'' की राजनीति शुरू हुई। मंडल आयोग के लिए देश भर में आन्दोलन हुआ। इसके परिणामस्वरूप दलित और ओ.बी.सी. समाज एकत्र आने की प्रक्रिया शुरू हुई। महाराष्ट्र के बहुजन समाज ने फुले, शाहु और अम्बेडकरी विचारों को स्वीकार किया। यह प्रयोग प्रस्थापित व्यवस्था के लिए कठिन लगने लगा। परम्परावादी व्यवस्था ताकतवर करने के लिए मंडल विरोधी भावना निर्मित की जाने लगी। आरक्षण के विरोध में आन्दोलन तीव्र होने लगे। आरक्षण के विरोध से दलित बहुजन ऐक्य होगा यह देखते ही मुस्लिम विरोध में वातावरण तैयार किया गया। बाबरी मस्जिद गिराई गई। राम मन्दिर का प्रश्न राष्ट्रीय बनाया गया। इससे हिन्दू विरोधी मुस्लिम प्रचार अधिक तीव्र किया गया। कश्मीर के अन्दर चल रहे दहशतवाद के कारण हिन्दुत्ववादी आन्दोलन को समर्थन मिलने लगा। मुम्बई का बम विस्फोट और उसके बाद हुआ हिन्दू-मुसलमान दंगा अथवा गोधरा हत्याकांड के बाद हुआ हिन्दू-मुसलमान दंगा हो—ये सभी दंगे हिन्दू-मुस्लिम समाज में अधिक रोष पैदा करनेवाले थे। हिन्दू-मुस्लिम दंगा किसी-न-किसी बहाने होने लगे। देश का सामाजिक जीवन संशय और असुरक्षा का निर्माण हुआ।

हिन्दुत्ववादियों को 'दलित और मुस्लिम' समान शत्रु होने के कारण बहुजन जाति हिन्दुत्ववाद की ओर आकर्षित होने लगी। प्रतिगामी हिन्दू के साथ-साथ पुरोगामी हिन्दू भी दलित आन्दोलन से दूर जाने लगे। एक ओर दलित आन्दोलन अकेला पड़ने लगा, तो दूसरी ओर उस आन्दोलन में अलग-अलग हिस्से होने लगे। इसका फायदा हिन्दुत्ववादी आन्दोलन ने लिया। गोलवलकर गुरुजी और अम्बेडकर की एक ही पालकी में शोभा यात्रा निकाली। हिन्दू समाज एकत्र रहना चाहिए यह भूमिका लेकर हिन्दुत्ववादियों ने 'समरसता मंच' की स्थापना की। आगे समरसता सम्मेलन की शुरुआत हुई। शिवसेना जैसे उग्र राजकीय आन्दोलन ने शिवशक्ति-भीमशक्ति एकत्र आनी चाहिए यह भूमिका ली। भाजपा ने उत्तर प्रदेश में दो बार मायावती को सत्ता पर बिठाकर दलितों की सहानुभूति ली। आज देश में हिन्दुत्ववादी संगठन एकत्र होने लगे हैं। मुस्लिम विरोधी भावना तीव्र होने लगी है और दलितों में खेमेबाजी बढ़ गई है। इसी पार्श्वभूमि पर राष्ट्रीय स्तर पर दलित साहित्य का निर्माण होता है। यह ध्यान में लेना चाहिए। इस कारण देश का समकालीन राजनीतिक जीवन समझना आवश्यक है।

भारत में अनेक राज्य हैं। इन राज्यों की भाषा भी अलग-अलग है। प्रत्येक राज्य की भौगोलिक परिस्थिति और सामाजिक जीवन में अन्तर है। मिजोरम-नागालैंड के मनुष्य के चेहरे और रंग में और तमिल, केरल के मनुष्य के चेहरे और रंग में एकरूपता नहीं है। हर राज्य में जातियाँ अलग-अलग हैं। उनकी प्रथा-परम्परा अलग हैं। प्रत्येक राज्य का अपना चेहरा अलग है। प्रत्येक राज्य का शिक्षा प्रसार का प्रमाण अलग-अलग है। इसका प्रत्येक राज्य के दलित साहित्य के स्वरूप पर परिणाम होनेवाला है।

भारतीय दलित साहित्य की प्रेरणा 'अम्बेडकरी विचार' है। बावजूद इसमें प्रदेश और स्थानीय क्रान्तिकारी विचार का प्रभाव भी बढ़ने लगता है। उत्तर की चर्मकार जाति सन्त रैदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Hari

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का जय-जयकार करते हैं। आदिवासी, घुमन्तु बिरसा मुंडा, लक्ष्मण भील और उमाजी नाईक को अपना पुराण पुरुष के नाते स्वीकारते हैं। मातंग समाज लहुजी उस्ताद की जय-जयकार करता है। क्या दक्षिण में 'पेरियार' का विचार टाला जा सकता है? बाबासाहेब अम्बेडकर के विचारों के साथ आगे अन्य दलित सन्दर्भ निर्माण हो सकते हैं। विदेश में भी अम्बेडकरी विचार वहाँ के स्थानीय सन्दर्भ के परिवेश में निर्माण हो सकता है। अम्बेडकरी विचार की भारतीय तथा वैश्विक स्तर पर स्थापना की जाएगी। इससे भारतीय दलित साहित्य के विकास की रूपरेखा स्पष्ट होगी। मराठी का दलित साहित्य भारतीय स्तर पर ले जाने का पूरा श्रेय मराठी साहित्य के अनुवादों को है। मराठी दलित साहित्य के अनुवाद के कारण सबसे पहले हिन्दी में दलित साहित्य की चर्चा हुई। 1980 की शुरुआत में मध्य प्रदेश साहित्य परिषद ने चन्द्रकान्त पाटिल की मदद से एक राष्ट्रीय स्तर की संगोष्ठी मराठी दलित कविता पर आयोजित की थी। उसमें हिन्दी के त्रिलोचन, प्रयाग शुक्ल, ज्ञानरंजन, चन्द्रकान्त देवताले, कमलाप्रसाद, भगवत रावत के साथ अनेक प्रतिष्ठित कवि उपस्थित थे। दलित साहित्य को उन्होंने समझ लिया। बाद में मराठी दलित कविता का संकलन "सूरज के वंशधर" नाम से 1982-83 में प्रकाशित हुआ। यह संकलन चन्द्रकान्त पाटिल ने सम्पादिक-अनूदित किया था। उसमें मराठी के दलित साहित्य की निर्मिति के कारणों की चर्चा की है। इसके माध्यम से नामदेव ढसाल हिन्दी में और हिन्दी से अन्य भारतीय भाषा में विशेषतः मलयाली, बंगाली, पंजाबी, असम भाषा में चर्चा में आए। दलित आत्मकथा भी मराठी से हिन्दी में और हिन्दी से अन्य भाषाओं में अनूदित हुई। साम्यवादी साहित्य के बढ़ते प्रभाव के कारण और निग्रो-रेड इंडियन साहित्य के तथा सबआल्टर्न अभ्यास के कारण दलित साहित्य को साहित्य ज्ञाताओं में प्रतिष्ठा मिली। दलित साहित्य में चित्रित दलित शोषितों के दुखों की तीव्र अभिव्यक्ति के कारण आम जनता ने भी दलित साहित्य को तुरन्त स्वीकार किया। इसी पद्धति से एक दशक में ही मराठी का दलित साहित्य भारतीय दलित साहित्य का प्रेरणास्रोत बन गया। इसी दशक के अन्त में नोबेल विजेता व्ही.एस. नायपॉल ने अपने भाषा विषयक तीसरी पुस्तक में नामदेव ढसाल के सम्बन्ध में 10-12 पन्नों का लेख लिखा। सन्दर्भ में दलित साहित्य की चर्चा मराठी दलित साहित्य को विश्व स्तर पर लेकर गई। अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्पैनिश भाषा के पाठकों की भी इस साहित्य में रुचि होने लगी। अभी-अभी प्रकाशित हुआ "समुद्रा" का दलित साहित्य विशेषांक और रमणिका गुप्ता का कार्य पाठकों को ध्यान में लेना चाहिए। अनुवाद ने संवाद की भूमिका निभाई, इसमें चन्द्रकान्त पाटिल, दामोदर खडसे, डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे, निशिकान्त ठकार, दिनकर सोनवलकर महत्त्वपूर्ण है। इन अनुवादकों ने मराठी का दलित साहित्य विश्वस्तर पर रखा। कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव और महीप सिंह ने दलित साहित्य का समर्थन किया। मोहनदास नैमिशराय, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मलखानसिंह और सूरजपाल चौहान जैसे दलित लेखक राष्ट्रीय स्तर पर प्रकाशित हुए। सोहनपाल सुमनाक्षर ने दलित आन्दोलन को गति दी। मराठी के दया पवार, लक्ष्मण माने, लक्ष्मण गायकवाड, बेबी काम्बले, शंकरराव खरात, प्र. ई. सोनकाम्बले, किशोर काले, माधव कोंडविलकर, दादासाहेब मोरे जैसे लेखक हिन्दी में गए। इनमें से दो-तीन नाम ही राष्ट्रीय स्तर पर गए।

सवर्ण समाज दलित साहित्य पढ़ रहा है। समझ रहा है। अभ्यास कर रहा है। उस पर संशोधन कर रहा है। परन्तु दलित मनुष्य के सम्बन्ध में तथा उसके जीवन विषय के बारे में उदासीन है। वह बेचैन करनेवाला चित्र है।

वैश्वीकरण के कारण विश्व के नजदीक आने की प्रक्रिया शुरू हुई है। उसमें "इलेक्ट्रॉनिक मीडिया" और मल्टी नेशनल कम्पनी को महत्त्व प्राप्त हुआ है। मल्टी नेशनल कम्पनी दलित साहित्य की पुस्तकें छाप रही है। दलित साहित्य की काफी माँग है। मराठी दलित आत्मकथा पुस्तक रूप से अन्य भाषा में अनूदित हुई है। रामानाथ चव्हाण का "वामनवाड़ा" और दत्ता भगत का "वाटा पलवाटा" इन नाटकों का अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

लक्ष्मण माने, लक्ष्मण गायकवाड़ और दया पवार इनकी आत्मकथा विदेशी भाषाओं में प्रकाशित हुई है। शरणकुमार लिम्बाले, किशोर काले, वसन्त मून और नरेन्द्र जाधव इनके पुस्तकों का अंग्रेजी अनुवाद हुआ है। दलित लेखकों का साहित्य अन्य भाषा में अनूदित हो रहा है। इस बहाने अन्य भाषा के तुलना में मराठी दलित साहित्य ने मराठी साहित्य के प्रति रुचि बढ़ाई है। यह ध्यान में लेना चाहिए।

दलित लेखक अपनी व्यथा-वेदना स्पष्ट करने के लिए लिखता रहता है। अपना दुख, अपने प्रश्न लोगों को समझना चाहिए यह उसकी भूमिका है। अब विश्व का पाठक यह साहित्य पढ़नेवाला है। इस कारण दलित लेखकों के लेखन अभिव्यक्ति का महत्त्व आनेवाला है। दलित लेखक के प्रश्न जाति व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। आगे स्थानीय और वैश्विक दो अलग-अलग विभाग निर्माण होनेवाले हैं। वैश्विकता का स्थानीय पर सतत आक्रमण होनेवाला है। भविष्य में वैश्विक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक बाजार और लोगों की रुचि पकड़ना लेखकों के लिए जरूरी है। एक भाषा की मर्यादा में लिखना और विचार करने की आदत बदलनी पड़ेगी। मराठी चित्रपट जगत जैसी स्थिति कल मराठी साहित्य को आनेवाली है। इस पर मराठी लेखकों को विचार करना चाहिए। दलित साहित्य का प्रवाह प्रस्थापित हुआ है। यह प्रवाह प्रस्थापित करनेवाली कलाकृतियों की संख्या कितनी है, यह महत्त्वपूर्ण होता है। उसके लिए कम-से-कम पचास कलाकृतियों की आवश्यकता होती है। प्र. ई. सोनकाम्बले—यादों के पंछी, दया पवार-बलुन्त, लक्ष्मण माने-उपरा, लक्ष्मण गायकवाड-उठाईगीर, शरणकुमार लिम्बाले-अक्करमाशी यह आत्मकथा महत्त्वपूर्ण हैं। नामदेव ढसाल-गोलपीठा, वामन निंबालकर-गावकुसाबाहेरच्या कविता यह काव्य संग्रह महत्त्वपूर्ण है। आभाऊ साठे-फकीरा, उत्तम बंडु तुपे-झुलवा, नामदेव काम्बले-राघववेल यह उपन्यास महत्त्वपूर्ण है। बाबुराव बागूल-जेव्हा भी जात चोरली होती, वामन होवाल-यलकोट, ये कहानी संग्रह महत्त्वपूर्ण है। गंगाधर पाणतावणे-विद्रोहाचे पाणी पेटले आहे, अर्जुन डांगले-दलित साहित्य : एक अभ्यास, बाबुराह बागूल-दलित साहित्याचे क्रान्तिशास्त्र—ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इन पुस्तकों ने मराठी दलित साहित्य को समृद्ध किया है।

दलित साहित्य के उदय का कारण भारतीय समाज व्यवस्था में छिपा हुआ है। भारतीय समाज व्यवस्था तीव्र गति से पश्चिमी अनुकरण कर रही है। देश में अनेक मार्ग से विदेशी संस्कृति, साहित्य, मनोरंजन के साधन, सिनेमा, ज्ञान भाषा और तन्त्र आ रहा है। साथ ही पोशाक, पदार्थ, प्रथा, परम्परा और जानकारी आ रही है। इस कारण देश की अभिरुचि बदल रही है। आज की पीढ़ी के विचार और भाषा व्यवहार में बदल रहे है। एक ओर आधुनिकता का आक्रमण बढ़ रहा है तो दूसरी ओर अपनी सनातन संस्कृति बनाए रखने के लिए प्रयत्न चल रहे हैं। देश में मन्दिरों की संख्या बढ़ रही है। और मन्दिरों के सामने भीड़ भी बढ़ रही है। इस भीड़ का स्वरूप पिकनिक का है। मन्दिर पर्यटन स्थल बन गए हैं। ये बदलती मानसिकता ध्यान में लेनी चाहिए। पूरी समाज व्यवस्था बदलने लगेगी तब दलित साहित्य का समाजशास्त्रीय आधार कम होने लगेगा। साक्षरता प्रचार के समान जाति-व्यवस्था विरोधी प्रचार अगर होता तो अपनी समाज व्यवस्था बदल गई होती।

दलितों को जाति-व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करते समय उसे जागृतिकीरण के विरुद्ध लड़ाई लड़नी होगी। जागृतिकरण की प्रक्रिया में जाति-व्यवस्था मजबूत होगी या समाप्त होगी इसका शोध लगानेवाला है। इस कारण आगे प्रश्न समाप्त होनेवाले या बढ़नेवाले हैं। इन प्रश्नों पर कितने दलित साहित्यकारों ने विचार किया है। जागृतिकरण के कारण दलितों के आरक्षण का धोखा है, ऐसा प्रचार किया जा रहा है। जागृतिकरण केवल दलितों का आरक्षण नष्ट करने नहीं आ रहा है। उसका यहाँ के सम्पूर्ण जीवन पर प्रभाव होनेवाला है। परराष्ट्र की संस्कृति और साहित्य जितने वेग से यहाँ आएगी, उतने ही वेग से यहाँ की सनातन व्यवस्था में बदलाव होगा। सनातन व्यवस्था बदलना यहाँ के दलितों के हित में है। आज के दलित लेखक को इस परिवेश का ज्ञान होना आवश्यक है। इसके बिना लेखन को गति नहीं मिलेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमर्श : तीन

दलित विमर्श का इतिहास चक्र

व्रजकुमार पाण्डेय

साहित्य, धर्म और राजनीति में दलित विमर्श वैदिक काल से ही होता आया है। कभी यह विमर्श उग्र हुआ है तो कभी ठंडा पड़ा है। लेकिन इसकी निरन्तरता बनी रही है। वैदिक काल में दलित धर्म में आत्मसात नहीं थे। वे वेद-बाह्य थे और समस्त धर्म और संस्था से बाहर थे। वे समाज से स्वतन्त्र रहकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उनकी समस्या उस काल में समाज से अलगाव की थी। समाज दो भागों में विभक्त था। एक ओर दास थे तो दूसरी ओर आर्य थे। आर्यों ने दासों को बहिष्कृत किया था। लेकिन यह बहिष्कार बहुत दिनों तक नहीं चल सका। दास भी आर्यों के साथ घुल-मिल गए। एक मिश्रित समाज बनने लगा, चातुर्वर्ण्य सिकुड़ने लगा और समाज अनगिनत जातियों में बँटने लगा। दास आर्य संस्कृति में समाहित हो गए। आर्यों और दासों के संघर्ष के परिणामस्वरूप एक आचार प्रधान या यों कहें चरित्र प्रधान धर्म का जन्म हुआ। इस धर्म में आदमी पेशा या वृत्त से श्रेष्ठ माना गया। विदुर और वेदव्यास को इस काल ने अपना नेता माना। इन दोनों ने दास और आर्य के धार्मिक अलगाव को दूर किया। दोनों के भेद को मिटाकर एक धर्मशास्त्र रचा गया जिसकी मुख्य मान्यता थी—आदमी की पहचान, मर्यादा और श्रेष्ठता उसके चरित्र से होती है न कि आर्य होने से। ऐसा माना गया कि चरित्रवान दास चरित्र भ्रष्ट ब्राह्मण से अच्छा है।

आर्यों और दासों के संघर्ष से वैदिक धर्म समाप्त हो गया और उसकी जगह पौराणिक धर्म ने ले ली। इस धर्म में दलित चातुर्वर्णिक समाज में शामिल कर लिए गए। उन्हें भक्ति, आत्म ज्ञान और मोक्ष का अधिकारी माना गया। इन्हें समाज में कारीगर का दर्जा मिला तथा इन्हें अन्य कलाओं और विधाओं के ज्ञान का अधिकार भी मिल गया। एक कोरी ने राजा भोज से कहा था कि हे राजन ! मैं कविता करता हूँ, बुनता हूँ और जाता हूँ (कवयामि, वयामि, यामि)।

पौराणिक हिन्दू धर्म ने धार्मिक दृष्टि से समतामूलक समाज बनाने का प्रयास किया। एक ही परमात्मा को सबका पिता कहा गया। व्रत, पर्व-त्यौहार, तीर्थ और नदियाँ सभी हिन्दुओं के लिए समान रूप से स्वीकार की गईं। भारत का भूगोल और इतिहास सभी के लिए समान रूप से पवित्र माना गया। राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, हनुमान और गणेश सभी के लिए पूज्य थे। पौराणिक धर्म की ऊपर वर्णित मान्यताओं ने दलितों की धार्मिक समस्या को खत्म कर दिया। लेकिन जिस समय दलितों की धार्मिक समस्या का समाधान हो रहा था—उसी समय इस्लाम धर्म का प्रादुर्भाव भारत भूमि पर हुआ। इस्लाम धर्म के मौलवी-मुल्लाओं और धर्म प्रचारकों ने दलितों

सत्ता कॉलोनी, हाजीपुर, वैशाली-844101 (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को शेष समाज से अलगाने और पृथक करने का अभियान चलाया और बहुत सारी दलित जातियों को इस्लाम धर्म में दाखिल भी किया।

लेकिन इस्लाम में दाखिला से दलितों की धार्मिक समस्या हल नहीं हो सकी। कबीर इस धार्मिक समस्या के ज्वलन्त प्रमाण थे। उनका परिवार इस्लाम में नवदीक्षित था। कबीर उच्च कोटि के सन्त थे। उनका आध्यात्मिक विकास सर्वोच्च शिखर पर था। लेकिन इस्लाम धर्म के मुल्लाओं ने उनकी महत्ता को स्वीकार नहीं किया। उनके लिए कबीर सिरदर्द बन गए थे। इस्लाम अपने धर्म में दीक्षित व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता या स्वतन्त्र चिन्तन का अधिकार नहीं देता था। इस्लाम में दाखिल मुसलमानों को वह गूँगा और अनुयायी बनाकर रखना चाहता था।

इस तरह इस्लाम धर्म में दलितों के दाखिला से उनकी धार्मिक समस्या हल नहीं हो सकी। अन्ततः दलितों का इस्लाम धर्म में धर्मान्तरण रुक गया।

2

भारत में पहली सामाजिक क्रान्ति बुद्ध और महावीर के विचारों और सिद्धान्तों से हुई थी। गौतम बुद्ध ने वेदों के प्रामाण्य को वैदिक कर्मकांड को, वैदिक हिंसा को चुनौती दी थी। बुद्ध के प्रहार से पुरानी ब्राह्मणवादी व्यवस्था बदली थी। अहिंसा, करुणा, जीवदया, लोकभाषा आदि की प्रतिष्ठा हुई थी। कालक्रम में बौद्ध विद्रोह भी एक व्यवस्था में जम गया। तब शंकराचार्य के नेतृत्व में ब्राह्मण व्यवस्था फिर लौटी। लेकिन तब तक तन्त्र-मन्त्र और शुभ लाभ की प्रवृत्ति हिन्दू, बौद्ध सबमें व्याप गई थी। देश का अन्दरूनी रसायन सूख रहा था। इस्लाम की बाह्य चुनौती को यह न पचा सका। बाह्य इस्लाम धर्म और राज्य कायम हुआ। देश घोर मकड़जाल में फँस गया। इस मकड़जाल से देश को उबारने में भक्ति आन्दोलन ने अहम् भूमिका अदा की। इसलिए भक्ति आन्दोलन को भारत में सामाजिक क्रान्ति का दूसरा पड़ाव मानते हैं।

भक्ति आन्दोलन के दो फलक थे। सगुण और निर्गुण दो धाराएँ अलग-अलग प्रवाहित हो रही थीं। दोनों में वैचारिक टकराव था—दोनों में विचार के दंगल हो रहे थे, कोई शारीरिक टकराव नहीं था। यह बौद्धिक व्यायाम था और वह भी एक ऊँचाई पर।

निर्गुण भक्ति की लगभग सभी परम्पराएँ निम्न जातीय शिल्पियों से सम्बद्ध थीं। कबीर जुलाहे थे। सन्त सेना नाई जाति में पैदा हुए थे। रैदास चमार थे। सन्त कमाल जुलाहे कबीर के पुत्र थे। धर्मदास बनिया जाति में उत्पन्न हुए थे। दादू दयाल बनिया जाति में जन्मे थे। सन्त बखना मीरासी थे। दादू साहब कुर्मी थे और सन्त गुलाब साहब हलवाई का काम करते थे। दीन दरवेश लोहार थे। बिहारवाले दरिया दास मुसलमान थे। सन्त त्रिलोचन वैश्य थे। कश्मीर की महिला सन्त लल्ला मेहतर जाति की थी, जबकि महाराष्ट्र के नामदेव छीपी नामक जाति में पैदा हुए थे। निर्गुण सन्तों की पूरी जमात इस प्रकार निम्न वर्णी और निम्न वर्गीय थी जिनका व्यापक प्रभाव शिल्पी जातियों और श्रमिक वर्ग पर पड़ा था।

ऊपर वर्णित सन्तों ने सन्तमत का प्रवर्तन किया। यह सन्तमत पौराणिक हिन्दू धर्म का विकास था। इसमें वही अद्वैतवाद था, वही आचार प्रधान धर्म, वही भक्ति का सिद्धान्त, वही वैष्णव मत—जो पुराणों में मिलता था। किन्तु पौराणिक हिन्दू धर्म ने वैदिक चातुर्वर्ण्य के स्थान पर जाति-पाँति की व्यवस्था की थी जिसे इन सन्तों ने जाति-पाँति तोड़ने का विधान बनाया। इन्होंने ही अछूतों को पहले-पहल हरिदास या हरिजन कहा जिसे गांधी जी ने व्यापक आयाम दिया। भक्ति आन्दोलन मुख्यतः जाति प्रथा पर आधारित भेदभाव और छुआछूत के खिलाफ संघर्ष था। इस प्रसंग में मध्यकालीन निर्गुण सन्त रैदास लिखते हैं :

पराधीनता पाप है, जानु लेहु रे मीत।
रविदास दास प्राधीन सों कौन करै है पीत॥
ऐसा चाहों राज मैं, जहाँ मिले सबन को अन्न।
छोटा बड़ो सम सम बसैं, रविदास रहै प्रसन्न।

यहाँ रविदास सामाजिक विषमता और भेदभाव की आधीनता को पराधीनता कहते हैं। दूसरों का प्रेम पाने के लिए स्वाधीनता अनिवार्य है। स्वाधीनता के लिए ऐसी राजसत्ता चाहिए, सबके लिए अन्न यानी जीने के साधनों का इन्तजाम करे। सबको समान भाव से जीने के साधन मिलें, तभी समाज में सभी समान भाव से रह सकते हैं। और ऐसा होने पर ही रैदास सन्त प्रसन्न होते हैं।

सन्तमत का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। इसने आन्दोलन का रूप लिया। इस आन्दोलन ने उच्च कोटि के ज्ञानी सन्तों को जन्म दिया। इन सन्तों ने अपनी मातृभाषा में उच्च कोटि के साहित्य लिखे। उन्होंने अपने शिष्यों के नैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक मान को ऊँचा उठाया। इन सन्तों पर हम आज भी गर्व करते हैं। उनके द्वारा रचे गए साहित्य, जो गुणात्मक और परिणात्मक दोनों ही दृष्टियों से वृहदाकार हैं—उसे देखकर और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पढ़कर लगता है कि उनका उस युग में साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास कितना ऊँचा उठा हुआ था। कभी-कभी इस विकास का जब हम मूल्यांकन करते हैं, तो लगता है कि दलितों का स्वाभाविक विकास उनकी मातृभाषा और उनके द्वारा स्थापित सन्तमत से ही हो सकता है।

दलितों के प्रमुख दुर्गुणों में सुरापान, मांसाहार, नशा सेवन तथा इन्द्रिय निग्रह का अभाव माना गया है। मध्ययुग में कबीर, रैदास आदि सन्तों ने दलितों के बीच शौचाचार, शाकाहार, इन्द्रिय-निग्रह और मद्यनिषेध का केवल प्रचार ही नहीं किया, बल्कि उनमें से अधिकांश को भगत भी बनाया। इस तरह सन्त धर्म दलितों के जीवन का उत्थान कर रहा था। उस समय यह धारणा प्रचलित थी कि वैष्णव चाण्डाल शाक्त ब्राह्मण से अच्छा है क्योंकि वैष्णव शौचाचार, शाकाहार, मद्यनिषेध तथा इन्द्रिय-निग्रह करता था और शाक्त मांस, मदिरा, मत्स्य, मैथुन तथा मुद्रा के पंच मकारों का सेवन करता था। कबीर ने लिखा है—

साषत बाभंण मति मिलै, बैसनौं मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेटिये, मानो मिले गोपाल॥

किन्तु भक्ति आन्दोलन के दौर में जन्मे सन्तमत की भी अपनी सीमा थी। उनके लक्ष्य हकीकत नहीं बन सके—उनके संघर्ष भावानात्मक और वैचारिक सीमा को तोड़ नहीं सके। वे जीवन की क्षणभंगुरता के सिद्धान्त के प्रभाव से अलग नहीं हो सके। वे यह नहीं समझ सके कि सामाजिक विषमता और सामाजिक अन्याय के कारण प्रभुत्वमूलक सामाजिक-राजनीतिक वर्गों में निहित होते हैं। भक्ति और उपासना के समान अधिकार के लिए संघर्ष उस समय सामाजिक समानता के लिए संघर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण रूप था। यही कारण है कि मध्यकाल तक सामाजिक असन्तोष की अभिव्यक्ति मुख्यतः धर्म साधना के विभिन्न रूपों में हुई। मध्यकालीन जागरण ने सामाजिक रूप से मनुष्य के पुरुषार्थ को जगाने की कोशिश की, लेकिन उस पुरुषार्थ को जब किसी अदृश्य शक्ति के सामने समर्पित कर दिया गया तो सामाजिक अन्याय को उससे कोई खतरा नहीं रह गया।

दूसरी ओर इस्लाम और ईसाई दोनों धर्मों ने दलितों का हिन्दू धर्म से धर्मान्तरण कराकर उनकी न तो धार्मिक और न ही सांस्कृतिक समस्या को ही हल किया। वे तो दलितों के इतिहास, संस्कृति और मातृभाषा को मिटाकर अपने इतिहास, संस्कृति और भाषा को लाद रहे थे। इस्लाम और ईसाई मत में धर्मान्तरित दलितों की न तो आर्थिक समस्याएँ हल हुईं और न ही उनकी सामाजिक समस्याएँ ही। वे जिस जाति से धर्मान्तरित हुए थे—उसी जाति के होकर रह गए। नाई-नाई ही रहा, मोची-मोची ही रहा और मेहतर मेहतर ही रह गया।

3

भक्ति आन्दोलन के बाद दलित विमर्श का दूसरा महत्त्वपूर्ण पड़ाव उपनिवेशवादी भारत का था। उपनिवेशवादी भारत का सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश मुख्यतः परिवार एवं गोत्र मूलक संस्थाओं से बना था, जो धार्मिक एवं जातीय अस्थिरता से जनमानस को निश्चित रूप देते थे। सभी पारम्परिक प्रथाएँ एक पीढ़ी से दूसरी को इन संस्थाओं के माध्यम से विरासत में मिलती थीं। आरम्भ में, आधुनिक शिक्षा का सतही प्रभाव ही भारत पर पड़ा। उपनिवेशवादी राज्य के अधीन समुचित सांस्कृतिक स्रोतों और विचारधारात्मक अभिकरणों का अभाव देखते हुए अन्ततः अंग्रेजों ने, लार्ड मैकाले जैसे व्यक्तियों के नेतृत्व में अपने प्रयासों को भारतवासियों का ऐसा समुदाय तैयार करने की दिशा में लगाया जो उपनिवेशवादी संस्कृति एवं विचारधारा के संवाहक हों—अपने रंग-रूप में तो भारतीय, लेकिन रुचियों में अंग्रेजियत से प्रभावित।

ये विशेष स्थितियाँ जैसी भी रही हों, आधुनिक विचारों के प्रभाव के अधीन भारत में धार्मिक सुधार आन्दोलनों की एक समूची शृंखला सामने आई। इन आन्दोलनों ने "पारम्परिक संस्कृति के पिछड़े तत्वों के विरुद्ध संघर्ष" का रूप लिया, जिसका महत्त्वपूर्ण आयाम था जातिवाद का विरोध। ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज जैसे आन्दोलनों ने जातिगत विभेद खत्म करने का समर्थन किया। इसी क्रम में आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन जैसे धार्मिक सुधार आन्दोलन उभरे। इन आन्दोलनों के दृष्टिपथ का प्रधान बिन्दु-अस्पृश्यता के दृष्टिकोण और व्यवहार पर भरपूर चोट करने का था। जाति-विरोधी आन्दोलन को सशक्त बनाने में अग्रणी भूमिका का निर्वाह ज्योतिबा फुले, श्री नारायण गुरु, रामास्वामी नायकर ने किया। इसी कड़ी में ही बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर, महात्मा गांधी और जगजीवन राम के प्रयासों को जोड़ा जाना चाहिए।

ज्योतिबा फुले

19वीं सदी के महाराष्ट्र में जन्मे एक निचली जाति से आए समाज सुधारक ज्योतिबा फुले ने भारतीय समाज-व्यवस्था और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू धर्म की एक सम्यक समीक्षा प्रस्तुत की है। भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। उन्होंने इसके दैवी निर्धारण के विचार को चुनौती दी। उनके विचार से, निचले वर्णों को छलने के लिए ही ऐसा दावा किया जाता था। चूँकि वे दावे हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर किए जाते थे, उन्होंने इन ग्रन्थों के खोखलेपन का पर्दाफाश करने का फैसला किया।

इन ग्रन्थों की व्याख्याओं के लिए फुले समकालीन सिद्धान्तों और अपनी रचनात्मकता पर निर्भर करते थे। इस प्रकार उनका यह विश्वास बना था कि आर्य रूप में जाने जानेवाले ब्राह्मण कुछ हजार वर्षों पहले सम्भवतः ईरान से उत्तर भारत के मैदानी क्षेत्रों में आए थे। आक्रमणकारियों के रूप में आकार उन्होंने इस क्षेत्र के मूल निवासियों को पराजित किया। आरम्भ में वे गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों में बसे और बाद में देश के अन्य भागों में फैल गए। जन समुदाय पर पूर्ण नियन्त्रण रखने के लिए उन्होंने वर्ण जाति सम्बन्धी मिथक गढ़े तथा अमानवीय—निर्मम नियमों की रचना की। पुरोहिती-व्यवस्था की प्रतिष्ठा करके उन्होंने सभी कर्मकांडों में ब्राह्मणों को प्रमुख स्थान दे दिया। शूद्रों और अति शूद्रों को घृणा का पात्र माना गया। न्यूनतम मानवीय अधिकार भी उनको प्राप्त नहीं थे। उनके स्पर्श अथवा उनकी काया को भी दूषित माना गया था। फुले ने हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थों की पुनर्व्याख्या करके दिखाया कि मूल निवासियों को आर्यों ने पराधीन कैसे बनाया। उसी काल से ही ब्राह्मण शूद्रों को दास बनाए हुए हैं, जो पीढ़ियों की जंजीर ढोते आ रहे हैं।

फुले ने ब्राह्मणों द्वारा स्थापित दासता की तुलना अमेरिका की दास प्रथा से की है और दिखाया है कि शूद्रों को अमेरिकी अश्वेतों की तुलना में बहुत अधिक यातनाएँ झेलनी पड़ी है। उनके विचार से, स्वार्थगत अन्धविश्वास एवं कट्टरता पर आधारित यह व्यवस्था ही भारतीय समाज में बाह्य जड़ता और युगों पुराने दुराचार के लिए जिम्मेदार है।

फुले बताते हैं कि ब्राह्मण शूद्रों का शोषण उनके जन्म काल से मृत्यु तक करते रहे थे। धर्म की आड़ लेकर ब्राह्मणों ने शूद्रों के प्रत्येक क्रियाकलाप में हस्तक्षेप किया। ब्राह्मण एक पुरोहित के रूप में ही शूद्रों का शोषण नहीं करते थे, बल्कि अन्य रूपों में भी। अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त स्तर के कारण प्रशासन, न्यायपालिका, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक संगठनों के पदों पर उनका एकाधिकार-सा था। शहर हो या गाँव, ब्राह्मण ही सर्वेसर्वा होता था। वही स्वामी और शासक होता था।

यहाँ यह ध्यान देना जरूरी है कि माली-शूद्र-जाति से सम्बन्धित फुले शूद्रों के लिए नहीं, बल्कि अति शूद्रों, अछूतों के लिए भी चिन्तित थे। इसीलिए, उन्होंने ब्राह्मण वर्चस्व के विरुद्ध निचली जातियों और अछूतों के संगठन और समता मूलक समाज के लिए उनके प्रयास का पक्ष पोषण किया। यह आश्चर्य की बात नहीं कि डॉ. अम्बेडकर फुले को अपना गुरु मानते थे।

बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर

अम्बेडकर एक राजनेता और समाज सुधारक ही नहीं थे वे एक विद्वान और विचारक भी थे। उन्होंने विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर व्यापक पैमाने पर लिखा। जाति विनाश, शूद्र कौन थे, अस्पृश्य, बुद्ध और उनका धर्म उनकी अधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। उनका चिन्तन समानता और स्वतन्त्रता के लक्ष्य की गूढ़ आस्था पर आधारित था। उनके राजनीतिक विचार उनके कानूनी दृष्टिकोण से भी प्रभावित थे। इस प्रकार अम्बेडकर के स्वयं के अनुभव, उनकी बुद्धिमता और समाज के पददलित अस्पृश्य समुदाय के लिए समानता लाने की समस्या आदि उनके चिन्तन और लेखनी के आधार थे।

अम्बेडकर ने अस्पृश्यता के उन्मूलन और अस्पृश्यों की भौतिक प्रगति के लिए अथक प्रयास किए। वे 1924 से जीवनपर्यन्त अस्पृश्यता का आन्दोलन चलाते रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि अस्पृश्यता के उन्मूलन के बिना देश की प्रगति नहीं हो सकती। अम्बेडकर का मानना था कि अस्पृश्यता का उन्मूलन जाति-व्यवस्था की समाप्ति के साथ जुड़ा हुआ है और जाति व्यवस्था धार्मिक अवधारणा से सम्बद्ध है। इसलिए जाति-व्यवस्था के विश्लेषण के अपने प्रयासों के तहत उन्होंने हिन्दू धर्म दर्शन का परीक्षण किया और इसकी आलोचना की।

अम्बेडकर का मुख्य संघर्ष जाति-व्यवस्था से था। जाति ने हिन्दू समाज को स्थैतिक बना दिया है। जाति-व्यवस्था के कारण ही हिन्दू समाज बाहर के लोगों को अपने में समायोजित कर सकने में अक्षम है। यह विभिन्न जातियों का एक समूह है, जाति राष्ट्रीय भावना के विकास में एक प्रमुख बाधा है। मुख्यतया जाति व्यवस्था का प्रहार निम्न जातियों पर अन्याय के रूप में होता है। निम्न जातियों को मानहानि के अलावा कुछ नहीं मिलता। इसके परिणामस्वरूप निम्न जातियों का नैतिक पतन हो गया है। अन्याय की मार विशेष रूप से लगातार अस्पृश्यों पर पड़ती है। उन्हें शिक्षा, अच्छे जीवन-यापन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय गरिमा से वंचित कर दिया जाता है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था ने उन्हें सम्पूर्णतया अमानवीय कृत कर दिया है। एक मानव द्वारा दूसरे मानव को छूने मात्र से उसके अशुद्ध हो जाने का विचार जाति-व्यवस्था की निम्नतम स्तर पर व्याप्त अमानवता और बर्बरता दर्शाता है। इसीलिए अस्पृश्यता के उन्मूलन का संघर्ष मानव अधिकारों और न्याय के संघर्ष में रूपान्तरित हो जाता है।

अम्बेडकर जानते थे कि अस्पृश्यता निवारण हिन्दूवाद के सम्पूर्ण परिवर्तन के द्वारा सम्भव है जिसमें लम्बा समय लगेगा। इसलिए आधारभूत परिवर्तन के इस प्रभाव के साथ ही उनका अन्य तरीकों से अस्पृश्यों के उत्थान पर भी आग्रह बराबर बना रहा। परम्पराओं के प्रभाव में अस्पृश्य उच्च जातियों के प्रभुत्व के सम्मुख पूर्ण समर्पण कर चुके थे। उन्होंने लड़ने और प्रयास करने की स्वयं की सम्पूर्ण भावना भी खो दी। अन्तर्निहित शुद्धि के भ्रम ने भी अस्पृश्यों के दिमाग को निर्धारणीय रूप से प्रभावित किया। इसलिए उनके आत्म-सम्मान को जागृत करना आवश्यक है। अस्पृश्यों को चाहिए कि वे स्वयं को हिन्दू जाति के समकक्ष समझें। उन्हें अपने बन्धनों को फेंक डालना चाहिए।

ई.वी.आर. नायकर

ई.वी.आर. नायकर ने तमिलनाडु में उदित हो रही शक्तियों का प्रतिनिधित्व किया था। वे उपनिवेशवादी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करने के गांधीवादी तरीकों के पक्के समर्थक थे। किन्तु साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और वर्णाश्रम धर्म पर उनके गांधीजी और कांग्रेस से भिन्न विचार थे। अतः उन्होंने कांग्रेस को छोड़ दिया। आत्मसम्मान आन्दोलन एक नई बात थी और समाज के वर्णों में कृत्रिम विभाजन के विरुद्ध क्रान्ति थी। इस आन्दोलन ने अछूत समझे जानेवाले जनसमुदाय को आकर्षित किया तथा इसकी अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध लड़ने का संकल्प किया। आन्दोलन का इससे भी अधिक सुदृढ़ पक्ष तमिल भाषा और संस्कृति की उन्नति करना था। कुछ जाति-बन्धन समाप्त हुए और नागरिक सेवाओं में गैर-ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हुआ जिसके लिए ई.वी. आर. ने निरन्तर संघर्ष किया था। किन्तु इसका नकारात्मक पहलू भी था। इसके कारण विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किए गए जातीय सिद्धान्तों को बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया गया। इसकी वजह से ब्राह्मणों की युक्तियों और प्रभाव से समाज में असमानता पैदा हुई। इस साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण उन्होंने कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन को ब्राह्मण प्रभावित बताया। वे मुस्लिम लीग में शामिल होने और द्रविनाड़ की माँग करने की सीमा तक चले गए। किन्तु आखिर तक उनका मत यह था कि वे ब्राह्मणों के विरुद्ध नहीं हैं, किन्तु वर्णाश्रम धर्म और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विरुद्ध हैं।

महात्मा गाँधी

महात्मा गांधी के लिए अस्पृश्यता-निवारण आस्था और विश्वास का प्रश्न था। बचपन से ही व्याप्त कुरीतियों के खिलाफ उनके अन्तर्मन में एक विरोध की भावना जन्मी थीं, हालाँकि उनमें अपनी माँ, जो वैष्णव महिला थीं, के प्रति असीम आदर का भाव था, फिर भी अस्पृश्यता के प्रश्न पर उनके साथ कोई समझौता नहीं हो सका। गांधी की दृष्टि में यह असहनीय था कि किसी को नीचा मात्र इसलिए करार दिया जाए, कि उसका जन्म एक तथाकथित नीची जाति में हुआ है। गांधीजी वैसे लोगों को जो अस्पृश्यता को बनाए रखने के लिए शास्त्रों का हवाला देते हैं—उन्हें वे शास्त्रों के साथ बलात्कार करते हुए पाते हैं। अस्पृश्यता को एक सामाजिक बुराई समझते हुए उसके निवारण के समर्थक तो गांधी थे ही, मगर इसका निवारण जोर-जबर्दस्ती बल प्रयोग द्वारा नहीं, अपितु हिन्दुओं को समझा-बुझाकर, हृदय परिवर्तन द्वारा करना चाहते थे। अस्पृश्यता निवारण में अपने प्राणों की आहुति तक को वे छोटी कुर्बानी मानते थे तथा समझते थे कि अगर इसका निवारण न किया गया तो हिन्दू धर्म भी विकास और तरक्की नहीं कर सकता।

अस्पृश्यता के प्रति गांधीवादी धारणा मानवीय बन्धुत्व के सिद्धान्त पर आधारित थी। उन्होंने कहा : "प्रत्येक धर्म बताता है कि भगवान दोस्तविहीनों के दोस्त, असहायों के सहाय और कमजोरों के रक्षक हैं। सम्पूर्ण दुनिया और खासकर भारत में अछूतों से बढ़कर दूसरा कौन दोस्तविहीन असहाय और कमजोर है ? गांधी ने अछूतों को भगवान के आदमी 'हरिजन' कहा—एक शब्द जो उन्हें सम्मान देता है तथा हिन्दुओं को उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का बोध भी कराता है।

भंगी कर्म के सम्बन्ध में गांधीजी ने लिखा हैं "न मैं मोक्ष चाहता हूँ, न पुनर्जन्म की कामना करता हूँ। लेकिन यदि मुझे जन्म लेना पड़े, तो मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की बजाय एक अति शूद्र के यहाँ जन्म लेना चाहूँगा, ताकि मैं स्वयं उनकी यातनाओं तथा अपमानजनक परिस्थितियों का अनुभव कर सकूँ और उनकी मुक्ति का उपाय खोज सकूँ। मुझे भंगी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य से प्रेम है।''

ऊपर मैंने फुले, अम्बेडकर, नायकर और गांधी के विचारों को, जो दलितोद्धार के लिए प्रयोग में लाए गए—उनका उल्लेख किया। फुले, अम्बेडकर नायकर ये दलित मनीषी असाधारण गुणों से सम्पन्न थे। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध अपनी विद्रोही और क्रान्तिकारी भूमिका के बावजूद इन दलित उद्धारकों में भारतीय देशभक्त का स्पन्दनशील हृदय मौजूद था और वे आजादी, जनतन्त्र और देश की एकता के प्रति अपने-अपने तरीके से समर्पित थे। चूँकि अधिकांश लोगों ने इन मनीषियों को गलत ढंग से समझा—इसलिए इनके सार्वजनिक जीवन के इस पक्ष को विशेष रूप से समझना जरूरी है।

यह दावे के साथ कहा जा सकता है; यदि राष्ट्रीय आन्दोलन को गांधी ने सामूहिक आयाम और नैतिक उद्देश्य दिए, जवाहरलाल नेहरू ने आर्थिक और समाजवादी आयाम प्रदान किए तो फुले, अम्बेडकर और नायकर ने उसे गूढ़ सामाजिक सारांश और चुनौतीपूर्ण सामाजिक जनतान्त्रिक लक्ष्य देकर सँवारा। भारत की भावी पीढ़ियाँ उस सामाजिक क्रान्ति के आन्दोलन को शुरू करने के लिए उन सबों का आभारी रहेंगी जिसकी सफलता भारतीय राष्ट्र को एकताबद्ध करने के लिए और हमारे देश में एक वास्तविक और टिकाऊ जनतान्त्रिक व्यवस्था निर्मित करने के लिए अनिवार्य है।

4 (क)

दलितों की धार्मिक समस्या मोटा-मोटी हल हो चली है, यद्यपि दलित विमर्श से जुड़े दलित विचारक और लेखक अपने लिए अभी भी एक धर्म और अलग जीवन दर्शन की तलाश में हैं। ऐसी तलाश से किसी को एतराज भी नहीं है। अनुभव बतलाता है कि ऐसे दलित जिन्होंने इस्लाम, ईसाई या बौद्धधर्म को उपयुक्त समझा था अपने-अपने मतों का प्रयोग कर लिया है। उनके प्रयोग से न तो दलितों को उनकी स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार धर्म मिला है और न उनकी सामाजिक और आर्थिक दुर्दशा में सुधार हुआ है। अब तक धर्म से दलितों की धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक समस्या का हल नहीं हुआ है। दलित राजनीति का शुभारम्भ अलगाव की राजनीति से हुआ था। सन् 1932 ई. में इंग्लैंड के प्रधानमन्त्री रैमजे मैकडोनाल्ड ने एक साम्प्रदायिक पंचाट (कम्युनल एवार्ड) की घोषणा की, जिसमें हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों, भारतीय ईसाइयों और दलितों के पृथक्-पृथक् निर्वाचक मंडल की व्यवस्था की। निर्वाचक मंडलों को अपने-अपने प्रतिनिधि केन्द्रीय विधानसभा में भेजने के इनके द्वारा दलितों को हिन्दुओं से भिन्न मानकर अलग निर्वाचन और प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया गया था। उन्हें अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में स्वीकार किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य हिन्दू समाज में फूट पैदा कर राष्ट्रीय आन्दोलन के वेग को रोकना था। गांधीजी पर इस निर्णय की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। 18 अगस्त 1932 को उन्होंने निश्चय किया कि इस घोषणा के विरुद्ध आमरण अनशन करेंगे और इसकी सूचना ब्रिटिश प्रधानमन्त्री को दे दी। उन्होंने अपने आमरण अनशन के संकल्प को उचित बतलाते हुए कहा, ''मैं नहीं चाहता हूँ कि अछूत पृथक् वर्ग के रूप में परिगणित किए जाएँ, सिख इस प्रकार की चिरन्तनता में रह सकेंगे, उसी प्रकार मुसलमान और यूरोपियन भी ? मैं चाहूँगा कि हिन्दू मर जाएँ वनिस्पत कि अस्पृश्यता बनी रहे।''

8 सितम्बर को गांधीजी के पास एक पत्र आया, जिसमें सरकार ने उन पर यह दोष लगाया था कि वे दलित जातियों के प्रति शत्रुता का भाव रखते हैं।

गांधीजी के आमरण अनशन की घोषणा से देश के नेताओं में खलबली मच गई। वे गांधीजी से मिले और पूना में बैठकर एक समझौता किया, जिसे पूना पैक्ट कहा जाता है। इस समझौते में अम्बेडकर भी थे जो दलितों के पृथक् निर्वाचक मंडल की माँग कर रहे थे। किन्तु इस समझौते में सर्वसम्मति से तय हुआ कि दलितों का पृथक् निर्वाचक मंडल न बनाया जाए और उनके लिए हिन्दुओं के स्थानों में से कुछ स्थान सुरक्षित कर दिए जाएँ, जिससे केन्द्रीय विधायिका में दलितों का भी प्रतिनिधित्व रहे। यह समझौता इंग्लैंड की संसद को मंजूर हुआ और इसके अनुसार साम्प्रदायिक निर्णय का संशोधन किया गया। इस संशोधन के साथ केन्द्रीय विधानसभा का निर्वाचन हुआ। इस प्रकार महात्मा गांधी ने दलितों की राजनीति को शेष हिन्दुओं की राजनीति से अलग नहीं होने दिया। उन्होंने दलितों के लिए अलगाव की राजनीति का बहिष्कार किया। परिणामतः एक नई दलित राजनीति पैदा हुई, जो आज तक चल रही है। इस राजनीति के अनुसार लोकसभा और राज्यों की विधान सभाओं में दलितों के स्थान सुरक्षित रखे गए हैं। यद्यपि गांधीजी के प्रयासों के कारण दलित राजनीति को शेष समाज की राजनीति से अलग नहीं किया जा सका, लेकिन आजादी के बाद कतिपय दलित नेताओं ने दलितों की अलग राजनीति पार्टी बनाने का प्रयास बदस्तूर जारी रखा। दक्षिण के दलित नेताओं ने एक पृथक देश या राज्य अर्थात् द्रविड़ स्थान की माँग के लिए जोरदार आन्दोलन भी रचाया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दलित नेताओं ने दलितों को सत्ता में प्रतिष्ठित करने के नाम पर द्रमुक, अन्नाद्रमुक और रिपब्लिकन नाम की पार्टियाँ भी बनाई। यह सब आजाद भारत में अलगाव की राजनीति का अंग था।

दलित आन्दोलन में समाज सुधार के नजरिए से अपनाए गए आन्दोलन की भूमिका अभूतपूर्व थी। इस आन्दोलन को राजनीतिक माँगों की ओर मोड़ने का पूरा श्रेय डॉ. अम्बेडकर को था। लेकिन दलित आन्दोलन के राजनीतिकरण करने की पूरी भूमिका कांशीराम ने तैयार की, जिसे ऊँचाई तक पहुँचाने में भी उन्हीं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 1964 में सरकारी नौकरी से इस्तीफा देने के बाद रिपब्लिकन पार्टी, बामसेफ, डी.एस.-4 और बहुजन समाज पार्टी तक के सफर में कांशीराम ने दलितों को एकताबद्ध कर अत्याचारों का प्रतिरोध करने तथा समाज में न्यायोजित स्थान पाने के लिए जिस तरह तैयार किया है, उसी के कारण सचेतन दलित उनको 'साहब' या 'मान्यवर' के नाम से याद रखता है। 1973 में स्थापित बामसेफ (बैकवर्ड एंड माइनारिटीज इम्प्लाइज फेडरेशन) को बाबा साहब के जन्म दिवस के अवसर पर 6 दिसम्बर, 1978 को सशक्त बनाया गया। बामसेफ द्वारा काँशीराम ने दिल्ली, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में दलित कर्मचारियों का मजबूत संगठन बनाया। बामसेफ ने 'चलते-फिरते अम्बेडकर मेले' द्वारा उत्तर भारत में दलितों की स्थिति तथा अम्बेडकर विचार के महत्त्व को उजागर किया। बामसेफ ने 'मैन, मनी एंड माइंड पावर' को संगठित करने का प्रयास किया तथा दलित कर्मचारियों द्वारा 'समाज को वापस देने' की अवधारणा प्रस्तुत की। संगठन का मानना था कि आरक्षण के कारण सरकारी नौकरियों में पहुँचे दलित कर्मचारियों को अपने पिछड़े भाइयों को ऊपर उठाने और दलित आन्दोलन को मजबूत करने में अपना योगदान करना चाहिए। इन प्रयासों के बहुत अच्छे परिणाम सामने आए। दलित कर्मचारियों को संगठित करने के बाद एक सामाजिक-राजनीतिक मंच की आवश्यकता महसूस हुई जिसके कारण 6 दिसम्बर, 1981 को दलित शोषित समाज संघर्ष समिति (डी.एस.-4) की स्थापना की गई। काँशीराम ने 'टू वोट एंड टू व्हील' का नारा दिया, जिसके अन्तर्गत 15 मार्च, 1983 को साइकिल मार्च का आयोजन किया गया। चालीस दिन तक कुल 3000 किलोमीटर चली यह साइकिल यात्रा सात राज्यों के 53 महत्त्वपूर्ण केन्द्रों से गुजरी और इसमें मान्यवर कांशीराम सहित 100 लोगों ने भाग लिया। हिन्दू वर्ण व्यवस्था से पीड़ित लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए जन-संसदों का आयोजन किया गया तथा कांशीराम ने नारा दिया—'ठाकुर, ब्राह्मण, बनिया छोड़, बाकी सब हैं डी.एस.-4'।

बाबा साहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर की 83वीं जयन्ती पर बहुजन समाज पार्टी की स्थापना की गई। कांशीराम ने भारतीय समाज में कुल 85 प्रतिशम संख्या वाले दलितों, पिछड़ों और अल्पसंख्यकों को 'बहुजन' नाम दिया। कांशीराम के विचार से समाज के इन 15 प्रतिशत लोगों को चुनौती देते हुए बसपा ने अनेक नारे दिए—जैसे, 'वोट हमारा राज तुम्हारा, नहीं चलेगा नहीं चलेगा', 'वोट से लेंगे पी.एम./सी.एम., आरक्षण से लेंगे एस.पी./डी.एम.', 'जिसकी जितनी संख्या भारी, उसकी उतनी भागदारी।' इन नारों से बसपा का संसदीय लोकतन्त्र में पूरा विश्वास झलकता है। आज बसपा को राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा प्राप्त है और प्राप्त मतों के प्रतिशत के आधार पर वह केवल भाजपा और कांग्रेस से ही पीछे है।

बहुजन समाज पार्टी ने दलित आन्दोलन को नई ऊँचाइयाँ दी हैं। एक दलित महिला का अपने दम पर उत्तर प्रदेश का मुख्यमन्त्री पद प्राप्त करना ही ऐतिहासिक घटना है। मायावती को दलितों के पक्ष में मजबूती से डटे रहने और नौकरशाही को सीमाओं में रखने के कारण 'आयरन लेडी' कहा गया। उनके शासन काल में प्रदेश के सर्वोच्च पदों पर दलित अधिकारियों के आने, दलित नायकों ने नाम पर पार्क, चौराहे, सड़कें और जिले बनाए जाने से दलितों में नया विश्वास और ऊर्जा पैदा हुई। दलित नायकों के नाम पर मेले आयोजित करने और प्रचुर मात्रा में दलित प्रतीकों को जनता के मन में बिठाने में सफलता प्राप्त हुई। इससे सदियों से चली आ रही परिभाषित छवि टूटी है, जो बहुजनों के हित में है। बसपा के सत्ता में आने, दलित नेतृत्व के उभार से सवर्ण जातियों के वर्चस्व को तोड़ने में भी काफी सीमा तक सफलता मिली है।

कांशीराम की बहुजन समाज पार्टी के तर्ज पर ही रामविलास पासवान ने लोक जनशक्ति पार्टी की स्थापना की है। पार्टी बनाने के बहुत पहले उन्होंने अम्बेडकर सेना बनाई थी और उसी के माध्यम से पासवान और दुसाध जाति के दलितों को संगठित करते आ रहे थे। आज उन्होंने बिहार में दलितों, अत्यन्त पिछड़ी जातियों और मुसलमानों को अपने साथ लाने का प्रयास किया है और बनाने के लिए अथक प्रयास कर रहे हैं। मायावती ने इधर अगड़ी जातियों को भी अपने साथ लाने का प्रयास किया है और मायावती ने जैसे उत्तर प्रदेश की राजनीति में जगह बनाई है वैसी जगह वे बिहार की राजनीति में बनाने के लिए अथक प्रयास कर रहे हैं। मायावती ने इधर अगड़ी जातियों को भी अपने साथ लाने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास किया है। रामविलास का बिहार की राजनीति में अगड़ों को अपने साथ लाने का प्रयास असफल हो गया है।

4 (ख)

दलित आज राजनीति, प्रशासन और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हस्तक्षेप करने लगे हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे राज्यों में तो प्रशासन के महत्त्वपूर्ण पदों पर उन्हें बिठाया भी गया है। दलितों के साथ अत्याचार न हो, इसके लिए सरकार ने अधिकांश थानों में दारोगा से लेकर पुलिस विभाग के उच्चतम पदों पर दलित अधिकारियों को पदस्थापित भी किया है। दलित अधिकारियों और कर्मचारियों ने अपने हित स्वार्थ के लिए दलित अधिकारियों और कर्मचारियों की ट्रेड यूनियनें भी कायम कर रखी है। दलित नेताओं ने अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं और इच्छाओं की पूर्ति के लिए पार्टियाँ भी बना ली हैं और सेनाएँ भी खड़ी की हैं। यहाँ तक कि अलग-अलग दलित जातियों की अलग-अलग सेनाएँ हैं। दलित कर्मचारी और अधिकारी आरक्षण का लाभ पाकर प्रशासन के बड़े पदों पर कम दिनों में ही प्रोन्नति पाने में सफल भी हो रहे हैं। ये दलित राजनीतिकर्मी, मन्त्री, विधायक, सांसद, प्रशासक और कर्मचारी जब कभी कोई सभा, सम्मेलन या जयन्तियाँ आयोजित करते हैं—उस अवसर पर वे अपने भाषणों में जातिवाद, वर्णवाद, जातिनीति, मनुस्मृति, मनुवाद, ब्राह्मणवाद, आर्य-अनार्य, पूजा-पाठ, तीर्थ-दान, पुरोहिती, अन्धभक्ति और सबसे बढ़कर हिन्दू धर्म में दलितों की दुर्दशा पर जोर-जोर से बहसें करते हैं, तर्क देते हैं और इन्हें मिटाने का संकल्प भी करते हैं। ये अपने भाषणों में जो तर्क देते हैं—उसमें दम भी रहता है। इन्हीं सवालों को लेकर डॉ. अम्बेडकर जीवन भर लड़ते रहे। एक बार उन्होंने हजारों की भीड़ में मनुस्मृति को खुलेआम जलाया भी था। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि 'हिन्दू धर्म' में, जन्म लेना मेरे वश की बात नहीं थी, लेकिन इस धर्म में नहीं मरना मेरे वश में है और उन्होंने मरने के पहले बौद्ध धर्म में अपने को दीक्षित कर लिया था। उन्होंने समझा था कि बौद्ध धर्म समानता और भाईचारा पर आधारित धर्म है। ये नेता और प्रशासक अपने भाषणों में डॉ. अम्बेडकर का नाम जरूर लेते हैं और यह कहना नहीं भूलते हैं कि उनके रास्ते पर चलकर ही उनके सपनों को साकार किया जा सकता है और दलितों का उद्धार हो सकता है।

हम सभी जानते हैं कि डॉ. अम्बेडकर को अम्बेडकर होने के रास्ते में कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ी थीं। स्कूली जीवन से लेकर आफिसों तक में अछूत होने के कैसे-कैसे दंश उन्हें झेलने और भोगने पड़े थे। अम्बेडकरवादी दलितों से, जो आज बड़े-बड़े ओहदों पर विराजमान हैं, जो अम्बेडकर के रास्ते पर चलने की कसमें खाने से नहीं चूकते हैं यह नहीं पूछा जा सकता है कि मजबूत दलित समाज के निर्माण के लिए सभी तरह के दलितों, यहाँ तक कि दलितों के अन्तिम व्यक्ति का विकास होना जरूरी नहीं है ? आरक्षण का लाभ क्या दलित समाज के सबसे कमजोर तबके के लोगों को नहीं मिलना चाहिए। आज दलितों के बीच का अत्यन्त पिछड़ा जिनकी संख्या अस्सी-पचासी प्रतिशत के लगभग है—उनके दुःख-दैन्य में कहाँ कोई फर्क आया है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि आजादी के बाद बननेवाली केन्द्र और राज्य की सरकारों और सवर्णों ने तो दलितों की उपेक्षा की ही—इन्हें उपेक्षित करने में पढ़े-लिखे आरक्षण के लाभ से लाभान्वित ओहदेदार दलितों ने अम्बेडकर के मिशन के साथ और कमजोर दलितों के साथ कम दगा नहीं दिया है।

यह कोई छिपी बात नहीं है कि आजादी के छह दशक बीत जाने के बाद भी न तो सभी दलितों को आरक्षण का सही लाभ मिल सका है और न ही उनके लिए सम्पूर्ण सामाजिक विकास का सार्थक प्रयास ही हो पाया है। विडम्बना तो यह है कि आज तो पढ़े-लिखे, अच्छी नौकरी पेशा से जुड़े अभिजन दलितों का नया वर्ग बन रहा है जिसने अस्सी-पचासी प्रतिशत अपढ़, कमजोर, शोषित-पीड़ित बदरंग दलितों से अपना नाता तोड़ लिया है। इस अभिजन वर्ग को अपने माता-पिता से सम्बन्ध और सम्पर्क भी उनकी मान-मर्यादा और स्टेटस में बाधा बन रहा है। यह ऐसा वर्ग है जो अपने बीच के कमजोर, लाचार, फटेहाल भाइयों से नफरत करता है। अपने गाँव का रास्ता भूल गया है। शहरों की आलीशान कॉलोनियों में अपना घर बसा लिया है और द्विजों का रहन-सहन, खान-पान, ऐशो-आराम के सारे साधन जुटाकर आज की भोगवादी संस्कृति का सारा मजा लूटने में मशगूल है। ये अपने समकक्ष दलित अधिकारियों के साथ उठना-बैठना, प्रेम-मुहब्बत तो रखते ही हैं और सलाम- बन्दगी भी होती रहती है। समकक्ष द्विजों को भी उनके साथ उठने-बैठने में कहाँ कोई परहेज है। लेकिन गाँव के दरिद्र दलितों से ये मिलने-जुलने से परहेज ही नहीं करते हैं, बल्कि इनके साथ अछूत के समान व्यवहार भी करते हैं।

दलित द्विजों का यह तबका मनुवाद, पुरोहितवाद और मनुस्मृति को गाली देते-देते रास्ता भटक गया है और अब उसी मनुवाद एवं पुरोहितों की शरण चला गया है तथा उन्हीं की राग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे और वैदिक विधि से शादी-विवाह आदि संस्कार करने-करवाने लगा है। ये व्रत, तीज-त्यौहार उसी तरह करने लगे हैं जैसे द्विज करते हैं। ज्योतिष में भी इनकी आस्था बढ़ी है। ये ज्योतिषियों की राय से ग्रह-नक्षत्रों के निवारणार्थ तरह-तरह के ताबीज और रत्न-जड़ित अँगूठियाँ धारण करने लगे हैं।

इन दलित द्विज नेताओं और प्रशासकों के लिए अपने बचपन में की शादियों के अतिरिक्त दूसरी शादियाँ रचाना, दो-चार अवैध पत्नियाँ और उप-पत्नियाँ रखना आम बात हो गई है। बेटे-बेटियों की शादी में ये भी नए सामन्तों की नकल करने लगे हैं। शादियाँ और बारात इस नए अभिजन वर्ग या नव सामन्त वर्ग का सबसे आडम्बरपूर्ण कारनामा है।

दलितों की हो रही नृशंस हत्याओं और उनकी बहू-बेटियों के साथ किए जा रहे बलात्कार की घटनाएँ जो प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही हैं—उनके प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं मालूम पड़ती है। सभाओं और गोष्ठियों में ये अम्बेडकरवादी दलित द्विज दलितों के हाथों में हथियार पकड़वाने की वकालत करते हैं। ये भूल जाते हैं कि डॉ. अम्बेडकर ने दलित हित की जो भी लड़ाई लड़ी थी—उसमें सफल होने के लिए उन्होंने कहीं भी हिंसा का सहारा नहीं लिया था। कलम-किताब की बदौलत ही उन्होंने दलित हित की सारी लड़ाइयाँ जीत ली थीं। उनका नारा था—"शिक्षित बनो, संगठित हो और संघर्ष करो।" लेकिन ये दलित द्विज अपने भाइयों के हाथों में कलम के बदले में बन्दूक रखना चाहते हैं, क्योंकि ये बन्दूक उनके वोट लूटने के काम भी आएँगी। ये अपनी ईमानदारी की कमाई और गलत कमाई का छोटा हिस्सा भी इनकी शिक्षा या इनके हित में खर्च नहीं करना चाहते हैं। आज तरह-तरह के घोटालों में दलित अधिकारियों के नाम भी आते रहते हैं, ये इन घोटालों में जेल भी जाते हैं, लेकिन बाबा साहब के सपनों का भारत बनाने का नारा लगानेवालों की अगली पंक्ति में भी दिखाई पड़ते हैं। एक तरफ गलत-सही कमाई से दलितों का एक तबका सभी तरह की भौतिक सुख-सुविधाओं को हासिल कर सुख-चैन की नींद सो रहा है, तो दूसरी ओर दलितों का बड़ा हिस्सा रोटी के अभाव में तड़प-तड़प कर प्राण त्यागने के लिए मजबूर हो रहा है।

डॉ. अम्बेडकर के आदर्श महात्मा बुद्ध, सन्त कबीर और सबसे बढ़कर ज्योतिबा फुले थे। इनके व्यक्तित्व पर इन महापुरुषों का अभूतपूर्व प्रभाव था। ज्योतिबा फुले ने सामाजिक बदलाव की जो लड़ाई लड़ी था—उसने बाबा साहेब के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया था। महात्मा फुले ने महाराष्ट्र और उसके आस-पास के क्षेत्रों में स्त्रियों एवं समाज के कमजोर लोगों के लिए अनेक शैक्षणिक संस्थान खोले थे। वे जीवन पर्यन्त शिक्षा के प्रचार-प्रसार में लगे रहे। फुले के प्रभाव की परिणति थी कि बाबा साहेब ने महाराष्ट्र में सर्वाधिक स्कूल और कॉलेज खोले, ताकि दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार तेजी से हो सके। बाबा साहेब द्वारा संचालित प्रत्येक आयोजन के पीछे मूल रूप से दलितोद्धार की भावना छिपी रहती थी। लेकिन आज के ये तथाकथित अम्बेडकरवादी दलित द्विजों को अपनी समृद्धि; अपने बाल-बच्चों और रिश्तेदारों की समृद्धि के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है। ये आरक्षण के लाभ को अपने परिवार तक ही सीमित रखना चाहते हैं। जीवन के हर व्यापार में इनको अपना ही हित नजर आता है। सरकारी, अर्द्धसरकारी और निजी उद्यमों में लाखों की संख्या में अच्छी स्थिति में दलित मिल जाते हैं, जो अपने लिए तो वातानुकूलित गाड़ी से लेकर वातानुकूलित घर तक की व्यवस्था कर लेते हैं, लेकिन अपने दूसरे दलित भाइयों के लिए कोई व्यवस्था करने का नाम तक नहीं लेना चाहते हैं।

बाबा साहेब के जीवन का एकमात्र लक्ष्य था—दलित समाज का कल्याण और उद्धार। वे कहा करते थे—मेरी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं दलित वर्ग में पैदा हुआ हूँ और दलितों के हक और अधिकार की लड़ाई लड़ रहा हूँ। बाबा साहेब अपने समय में जिस दलित वर्ग की लड़ाई लड़ रहे थे—वह विगत हजारों वर्षों से सोया हुआ समाज था। ऐसे मूक, बधिर और अन्धे समाज का नेतृत्व करना बड़ा कठिन काम था। हजारों वर्षों से सामाजिक जड़ता की जंजीर को तोड़ना एक मुश्किल प्रयास था। उन्होंने दलितों की मुक्ति के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया। न तो कभी अपने प्रयास से विचलित हुए, न किसी प्रकार के अवसरवाद में फँसे और न अपने हित में दलित आन्दोलन के साथ विश्वासघात ही किया। लेकिन बाबा साहेब की लड़ाई का फल भोगनेवाले आरक्षण के लाभ से लाभान्वित ये दलित द्विज उनके जीवन काल से ही विपथगामी हो गए थे और उनको धोखा देने से भी बाज नहीं आए।

वैचारिक स्तर पर भी उनकी सोच में दलितों की दरिद्रता दूर करने की कोई योजना इनके यहाँ नहीं है। इनके सभी प्रकार के संगठन मजदूरी के लिए होनेवाले आन्दोलन अथवा जोत की जमीन हासिल करने की लड़ाई से अपने को बहुत दूर रखना चाहते हैं। इनके पोस्टर, पर्चों, पुस्तिकाओं आदि में शोषित-पीड़ित दलित जन की सामाजिक-आर्थिक हक-हकूक का कोई उल्लेख नहीं होता है। इनमें केवल आरक्षण सम्बन्धी चर्चाएँ रहती हैं। सबसे बड़ा आश्चर्य तो तब होता है—जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनकी बैठकों और सभाओं में हिंसा, अत्याचार या बलात्कार की कोई चर्चा नहीं होती है। ऐसे तमाम संगठनों की चिन्ता और चिन्तन का एकमात्र विषय है—'राजसत्ता में भागदारी।' उनकी मान्यता है कि 'राजसत्ता में भागदारी' ही एकमात्र एजेंडा दलितों के लिए होना चाहिए, बाकी बातें उनके सामाजिक उत्थान में व्यवधान हैं। ये दलितवादी नेता इस सन्दर्भ में डॉ. अम्बेडकर और डॉ. लोहिया को अपनी सोच के समीप पाते हैं। उनकी समझ है कि डॉ. लोहिया और डॉ. अम्बेडकर ही ऐसे भारतीय राजनेता और विचारक हैं जिन्होंने पिछड़ी जातियों और दलितों में सम्पत्ति के प्रवेश के लिए राज्य सत्ता में भागीदारी की वकालत की है।

5

हिन्दी पट्टी में दलित विमर्श मराठी लेखकों के प्रभाव का परिणाम है। या यों कहें कि हिन्दी में दलित सवाल बहुत देर से उठा। मराठी और दक्षिण भारतीय भाषाओं में दलित प्रश्न बहुत पहले उठ गया था। उसका बड़ा कारण है कि महाराष्ट्र और दक्षिण के कुछ राज्यों में ब्राह्मणवादी अवधारणाओं के खिलाफ राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलनों की एक सशक्त परम्परा रही है। डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक अभियान और तमिलनाडु में रामास्वामी पेरियार के सांस्कृतिक हस्तक्षेप से कौन परिचित नहीं है। हिन्दू-व्यवस्था विरोधी चिन्तन और प्रतिरोध इस देश में होता तो रहा है, लेकिन जिस तरह से अम्बेडकर, पेरियार ने व्यवस्था-विरोधी विचारधारा और आन्दोलन की शुरुआत की थी उसके पहले कभी नहीं हुआ था। कुछ विचारक यह मानते हैं कि जिस तरह डॉ. अम्बेडकर ने इस समस्या को उठाया वैसा इतिहास में कभी नहीं था। उनके द्वारा हिन्दू व्यवस्था विरोध के सैद्धान्तिक पक्ष खोजे गए। हिन्दू धर्म और धर्मशास्त्रों की तर्कसम्मत आलोचना की गई। हिन्दू व्यवस्था वर्ण और जाति व्यवस्थाओं पर आधारित बहुजन के शोषण की व्यवस्था प्रमाणित की गई। सामाजिक न्याय की प्राथमिकता के पक्ष में जो तर्क रखे गए थे, वे आज भी प्रासंगिक हैं।

ज्योतिबा फुले ने दलितों और स्त्रियों को शिक्षित करने का आन्दोलन चलाया था। ब्राह्मणों ने कहा जो लड़की उनके स्कूल में पढ़ने जाएगी विधवा हो जाएगी। सवर्णों ने उनके स्कूलों को बार-बार फूँका। अंग्रेज अधिकारियों ने उसकी रक्षा की। शिक्षा जैसे सांस्कृतिक आन्दोलन में अवरोध सवर्ण ही उत्पन्न करते थे। डॉ. अम्बेडकर राजनीतिक शक्ति में मुक्ति का रास्ता देखते थे। दलितों के हाथों में जब तक राजनीतिक शक्ति नहीं आएगी, उसका शोषणमुक्त होना कठिन है। रामास्वामी पेरियार ने आत्म-सम्मान आन्दोलन चलाकर ब्राह्मणवादी व्यवस्था और संस्कृति का उग्र प्रतिरोध किया। यहाँ से उस चेतना का निर्माण होता है जो आज दलित साहित्य के रूप में सम्प्रेषित हो रही है।

हिन्दी वाङ्मय के राजनीतिक परिदृश्य में पिछड़ों की राजनीति की शुरुआत डॉ. राम मनोहर लोहिया ने 60 के दशक में की थी। किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से वे पूर्णतः ब्राह्मणवादी मिथकों और ग्रन्थों के समर्थक थे, इसलिए पिछड़ों को लेकर वे वैसा अर्थवान और प्रभावी काम नहीं कर पाए जितना पेरियार ने किया था।

उत्तर भारत में पिछड़ों की चेतना में परिवर्तन की प्रक्रिया रामस्वरूप वर्मा के अर्जक संघ, डी.एस.-4, बामसेफ और ललई सिंह यादव के संगठनों ने किया। इन लोगों ने साफ किया कि चूँकि हिन्दुओं के सभी धर्मग्रन्थ और मिथक पिछड़े, दलित और आदिवासियों की अस्मिता के विरुद्ध हैं और उन्हें कोई भी सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकार नहीं देते। इसलिए ये सभी दलित, पिछड़े और आदिवासी हिन्दू नहीं हैं। उनकी सभाओं में आज भी यह नारा खुलकर लगता है—मारेंगे मर जाएँगे, हिन्दू नहीं कहाएँगे। रामस्वरूप वर्मा और पेरियार ललई सिंह यादव ने इस दिशा में जुझारू और क्रान्तिकारी संघर्ष चलाया है।

दलित-साहित्य के पैरोकारों का मूल मन्तव्य इस बात में निहित होता है कि दलित साहित्य का लेखन केवल दलित कर सकते हैं। सवर्णों द्वारा दलितों के जीवन पर लिखा गया दलित-साहित्य नहीं माना जा सकता है। मोटे तौर पर दलित साहित्य को लेकर जो बहस चल रही है—उसकी मुख्यतः दो धाराएँ हैं—एक धारा दलितेतर लेखकों का है, जो मानते हैं कि संवेदना के धरातल पर दलितों के साथ हैं, पक्षधर हैं, उन्होंने अपनी जाति और वर्ग से अपने को च्युत किया है। अतः वे दलित लेखक हैं। दलित लेखन का अर्थ है—दलितों के बारे में लेखन। उन पात्रों से तदाकार लेखन। दूसरी धारा है—दलितों में से उभरे दलित लेखक। उसका दावा है कि उनकी पीड़ा का जो गहरापन है, उसकी जो कसक है, जो घाव है, वह सब संवेदना से नहीं, जीवन के योग से जाना जाएगा। यह ऊपर से नीचे देखने का नहीं, यह नीचे-से-नीचे का सच है। यह यथार्थ अपने वस्तुरूप का सच है। इस वस्तु की अपनी ऐन्द्रिकता है। इस ऐन्द्रिकता का रसायन ही अलग है। पाक बहुत कड़वा है। गैर-दलितों की संवदेना कोमल और नाजुक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस संवेदना की ज्वाला को सहने की उनमें शक्ति कहाँ ? इन दोनों धाराओं का तीखा विभाजन है।

इस सन्दर्भ में समाजशास्त्रियों द्वारा स्वानुभूतिपरकता, परानुभूतिपरकता और सहानुभूतिपरकता का विचार द्रष्टव्य है। अभी तक का समाजशास्त्रीय अध्ययन अधिकांशतः परानुभूतिपरक रहा है। यूरोपियनों द्वारा अपने द्वारा बनाए गए औपनिवेशिक देशों के आदिम जातियों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और यह साबित करने का प्रयास किया गया है कि यूरोप की संस्कृति महान है, शेष सब कमतर और पिछड़ी संस्कृति के लोग हैं। उन्हें सभ्य बनाना सफेद नस्ल का बोझ है। मुद्दा यह उठा हुआ है कि आँकड़े किसके प्रामाणिक हैं। किसी भी संस्कृति को श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं माना जाता। हर संस्कृति 'सापेक्ष संस्कृति' है और स्वानुभूति के आँकड़े विश्वसनीय हैं। दूसरा मुद्दा यह उठा है कि ऊपर/बाहर से दिखनेवाले आँकड़े और स्वानुभूति से प्राप्त आत्मपरक आँकड़ों में कौन विश्वसनीय है। समाज वैज्ञानिकों का मत स्वानुभूतिपरक आँकड़ों के पक्ष में है। यूरोप में आज उसी की बात सुनी जाती है जिसके पास कुछ कहने का अधिकार होता है। सहानुभूतिपरक तथाकथित दलित साहित्य के पास अधिकार नहीं है।

इन मानवशास्त्रीय अवधारणाओं से अगर दलित साहित्य की परख की जाए तो तीनों स्वानुभूतिपरक, परानुभूतिपरक और सहानुभूतिपरक साहित्य सृजन का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। यही प्रश्न नारी साहित्य के बारे में भी उठा है। जिसमें नारी देह, सेक्स, प्रजनन और नारी उत्पीड़न जिसने नहीं झेला, उनके पास सहानुभूतिपरकता का अधिकार नहीं है। आज साहित्य में भी आँकड़ों की प्रामाणिकता का प्रश्न उठा हुआ है। कोरी काल्पनिक रचनाएँ खारिज मानी जाती हैं। प्रश्न दलित साहित्य की प्रामाणिकता है। प्रश्न दलित साहित्य की पक्षधरता का नहीं है। सहानुभूतिपरक साहित्य दलित पक्षधर हो सकता है। इस कमी को स्वीकार करना यथार्थ को स्वीकार करना है। यह बहस सार्थक नहीं है।

दलित लेखकों का सवर्ण दलित साहित्य लिखनेवालों के विरुद्ध तर्क है कि प्रेमचन्द और निराला दोनों दलितों मूल्यों के लेखक नहीं थे, उनके लेखन में दलित ज्यादातर 'आब्जेक्ट' रहे हैं 'सबजेक्ट' कम ही बने हैं। मूलतः दोनों लेखक दलित चेतना के नहीं 'हरिजन चेतना' के लेखक रहे हैं। दरअसल दलित चेतना की कई परतें हैं, जिसे न प्रेमचन्द समझ पाए न ही उनके तथाकथित वारिस।

प्रेमचन्द जिस समय लेखन कर रहे थे उस समय सोवियत रूस की दुनिया में धमक थी। गांधी दर्शन के आगे कोई भी बात एक दुस्साहस थी और सवर्ण प्रभुत्ववाद का घोर आतंक था। प्रेमचन्द इन तीनों से पूरी तरह आतंकित थे, इसलिए वह चाहकर भी शायद इसका अतिक्रमण नहीं कर पाए। अगर प्रेमचन्द दलित चेतना, जिसे सही अर्थों में हरिजन चेतना की दूसरी परत ही कहा जा सकता है, को उखाड़ते तो बहुत बड़ा कार्य कर जाते—साहित्य के लिए भी और राजनीति के लिए भी। लेकिन क्योंकि प्रेमचन्द गांधीवाद से पूरी तरह आतंकित थे, इसलिए उन्होंने हरिजन चेतना से दो कदम भी आगे बढ़ना उचित नहीं समझा और फलतः गांधी की हरिजन चेतना का प्रतीक जगजीवन राम आज भी अपनी यात्रा कर रहा है। आज इस यात्रा के दुष्परिणाम साहित्य और राजनीति दोनों में देखे जा सकते हैं।

दलितवादी लेखकों के तर्क के विरुद्ध तर्क है कि जिस प्रकार दलित राजनीति के पैरोकार राजनीति में स्थिरता, नैतिकता और प्रजातान्त्रिक मूल्यों की अवहेलना कर गाहे-ब-गाहे शिखर नेताओं की भर्त्सना करते रहे हैं, उसी प्रकार दलित लेखक शीर्ष साहित्यकारों को खरी-खोटी सुनाने में परहेज नहीं करते हैं। जैसे गांधी, नेहरू या दूसरे नेता दलितवादी राजनीति के निशाने पर रहते हैं, ठीक वैसे ही प्रेमचन्द्र, निराला या नागार्जुन सरीखे लेखक दलितवादी लेखकों के लिए कोई खास महत्त्व नहीं रखते। यह स्थिति बहुत खतरनाक है और प्रतिक्रिया के बूते पर सृजनशीलता की स्वस्थ परम्परा को जीवित नहीं रखा जा सकता। यह ठीक है कि अनुभूति का अपना महत्त्व है, पर अनुभवाश्रित संवदेना को भी झुठलाया नहीं जा सकता। यह दिलचस्प तथ्य है कि दलित राजनेता और लेखक अपने आचरण में उसी परम्परा का अनुसरण करते आ रहे हैं जो सवर्णों द्वारा घोषित हैं। यह दूसरे प्रकार का सवर्णवाद है, जो हाशिए पर रहनेवाले लोगों के लिए कुछ भी करने के लिए कोई रुचि नहीं लेता। दलितवादी राजनेताओं को जैसे सवर्णों की तरह रहने और सम्मान पाने की हड़बड़ी है, वैसे ही दलित लेखक अपने लिए ऐसे सुरक्षित स्थान खोजने में व्यस्त हैं, जहाँ उनके सिक्के के चलने में कोई गतिरोध न पैदा हो। खेद की बात है कि राजनीति और साहित्य में उन लोगों को प्रतिनिधित्व हासिल नहीं है जो सचमुच शोषित और उत्पीड़ित हैं। सरकारी सेवाओं में आरक्षण का लाभ सामान्य दलित को नहीं मिल पाता। राजनीति में सामान्य दलित की भागीदारी एक सपना है, तो सामान्य दलित लेखक की दलित साहित्य में कोई पूछ नहीं है। इस स्थिति में हाशिए पर रहनेवाली जनता की दुर्दशा में कोई सुधार होगा, इसमें सन्देह है।

साहित्य में दलितवादी दृष्टि का दुःखद पक्ष यह है कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी भी सर्वण द्वारा लिखित रचना या आलोचना को स्वीकार नहीं करती। उसके लिए प्रेमचन्द की कहानी 'कफन' दलित विरोधी रचना हो जाती है, तो निराला की 'कुकुरमुत्ता', 'कुल्ली भाट' या दूसरी रचनाएँ दयाभाव की उपज मात्र। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा किया गया कबीर का मूल्यांकन गलत करार दिया जाता है, तो आचार्य शुक्ल के अधिकतर निष्कर्ष झूठे कहलाते हैं। ऐसे में यह समझना कठिन हो जाता है कि सही मायने में दलितवादी लेखन का लक्ष्य क्या है। इस दृष्टि का सीधा तर्क है कि दलितों द्वारा लिखित साहित्य ही दलित साहित्य है। दूसरे व्यक्ति द्वारा लिखित दलित रचना इसलिए दलित साहित्य नहीं हो सकती, क्योंकि वह दया या सहानुभूतिवश लिखी गई है। उसका यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आधार पर अगर निर्णय होने लगे तो साहित्य के हश्र का अनुमान करना कठिन नहीं रह जाता। यह सर्वमान्य तथ्य है कि हिन्दी साहित्य में दलित लेखन की पुष्ट परम्परा रही है। इस परम्परा में दलित और दूसरे लेखकों की भागीदारी होती आई है, जिससे साहित्य की निरन्तर श्रीवृद्धि हुई है, पर जो हाल के वर्षों में स्थिति पैदा हुई है उससे साहित्य को खेमों में बाँटना साहित्य को खंड-खंड करना है और उनकी मूल चेतना को ध्वस्त करना है।

दलितवादी लेखक यह तर्क देते नहीं थकते कि पहले का साहित्य, जो दलित पर उपलब्ध है, वह दलित साहित्य नहीं है...सही मायने में वह अब शुरू हुआ है। इस घोषणा में प्रतिक्रिया और घृणा का इतना जबर्दस्त जोर है कि यह तय करना कठिन हो रहा है कि दलितवाद के लिए गांधी दर्शन और मार्क्सवाद दोनों व्यर्थ के दर्शन हैं। उसके लिए अम्बेडकर का दर्शन सर्वोपरि है, क्योंकि वही ऐसा दर्शन है जिसमें वर्णवाद के समूल नाश का, समाज-व्यवस्था के विखंडन का और एक राष्ट्र के रूप में दलितों को मान्यता देने का विचार निहित है। यह दर्शन पहले भी अंग्रेजों की गुलामी से अधिक खतरनाक ब्राह्मणवाद को मानता रहा है और परम्परा के उत्स को नकारता रहा है।

सवर्ण लेखकों की दलितों पर लिखी रचनाओं को जिस हड़बड़ी में 'तटस्थ' या 'सहानुभूति' जैसे जुमले उछालकर उन्हें दरकिनार करने की कोशिश होती है, उसमें भी यह भावना सम्प्रेषित होती है कि अपने बन्द किले में इस धारा को किसी के झाँकने की भी अनुमति नहीं है। साहित्य जैसे एक वर्ग विशेष का खेल हो, जिसे खेलने का अधिकार स्वयं उसी वर्ग के व्यक्ति को हासिल हो। यह प्रवृत्ति खतरनाक है और इससे अन्ततः इस आन्दोलन को कोई फायदा पहुँचनेवाला नहीं है।

दलित लेखकों द्वारा लिखित साहित्य को ही दलित-साहित्य मानने का आग्रह दलित लेखकों का है। इसका अर्थ यह हुआ कि दलित वर्ग के बारे में दलित ही लिखें, कोई दूसरा नहीं। मोहनदास नैमिशराय कहते हैं—'हम गांधी और प्रेमचन्द को कब तक ढोते फिरेंगे और क्यों ?' प्रश्न बहुत वाजिब है। यदि तुम्हें ढोना पड़े तो प्रश्न सटीक है। हम उसको क्यों ढोएँ ? हम ढोते तो उस वस्तु को हैं, जो खुद चल नहीं सकती। लेकिन हमारे सामने अपना समय है, हमारे पास अपना अनुभव है, हमारे पास अपने संकल्प और उद्देश्य हैं, तो हम अपने किसी पूर्ववर्ती विचारक या लेखक को क्यों ढोएँ ? फिर बात यह भी है कि दूसरों को ही हम ढोते रहेंगे तो खुद की रचना कब और कैसे करेंगे। किसी रचनाकार को दूसरे का बोझ ढोने का काम नहीं करना चाहिए।

हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श के सवाल को लेकर लेखक तीन भागों में विभक्त हैं। एक तो स्वयं दलित लेखक हैं, जिन्होंने दलितेतर लेखकों के लिए दलितों पर लिखने के लिए लक्ष्मण रेखा खींच दी है जिसमें दूसरों का प्रवेश वर्जित है। दूसरे वे हैं जो कट्टरता के साथ दलित लेखकों की स्थापनाओं का समर्थन ही नहीं करते हैं बल्कि वकालत भी करते हैं। डॉ. मैनेजर पांडेय लिखते हैं : "सारी सहानुभूति, करुणा, सहृदयता और परकाया प्रवेश की कला के बावजूद गैर-दलितों द्वारा दलितों के बारे में लिखे गए साहित्य में कला चाहे जितनी हो, परन्तु अनुभव की वह प्रामाणिकता नहीं होती, जो किसी दलित द्वारा अपने समुदाय के बारे में स्वानुभूति की पुनर्रचना से उपजे साहित्य में होती है।" (वसुधा, अंक 58, पृ. 287) तीसरी कोटि ऐसे लेखकों की है जो दलित और गैर-दलित लेखकों द्वारा दलितों पर लिखे साहित्य का सही मूल्यांकन करने का प्रयास करते हैं।

निःसन्देह दलित विमर्श हिन्दी साहित्य में आज के दिन प्रतिक्रिया का साहित्य है, जो गैर-दलितों द्वारा दलितों पर लिखे साहित्य को नकारता है। यह विधायिका और प्रशासन में अनुसूचित जातियों को दिए गए आरक्षण की तरह साहित्य में भी आरक्षण चाहता है। इसके लिए वह पूर्व के इतिहास, संस्कृति और साहित्य सबको नकारता है।

दलित विमर्श साहित्य की अगुआई आज के आला अधिकारी कर रहे हैं जिसमें धर्मवीर और पंचमलाल जैसे दलित प्रशासक-लेखक शामिल हैं—जिनकी दिनचर्या के 24 घंटों में शायद ही कभी दलित याद आते हैं। ये दलितों के दुःख-सुख से कोसों दूर हैं। उनको अपने माँ-बाप-भाई, सम्बन्धियों और पड़ोसियों की शायद ही कभी याद आती है। कभी दलित और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछड़े संस्कृतिकरण की लड़ाई लड़ा करते थे। वे द्विज बनने के लिए, ब्राह्मण और क्षत्रिय के वंशज होने के लिए शास्त्रों और संस्कृत ग्रन्थों से प्रमाण जुटाते थे। आज अपने नाम के साथ अपनी जाति का नाम लिखने में गर्व महसूस करते हैं। ब्राह्मण की माया उन्हें जो न करवाए।

फुले, अम्बेडकर, पेरियार जैसे दलित उद्धारकों को अपने आन्दोलनों को चलाने में समाज के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता था। वे डिफेंसिव होकर अपना आन्दोलन चलाते थे। लेकिन आज राजनीति हो या साहित्य दलितों का तेवर ही आक्रामक है। गैर-दलित साहित्यकार तो डिफेंस में खड़े नजर आते हैं। डॉ. सोहनपाल सुमनाक्षर को 'रंगभूमि' को जलाकर वर्णजीवन विरासत से पल्ला झाड़ने में कितनी सफलता मिली है वह तो वे ही जानते होंगे लेकिन उनके पक्ष में दलित लेखकों की जमात खड़ी हो गई और उनके द्वारा तरह-तरह की प्रतिक्रियाओं से एक खौफ पैदा करने का प्रयास भी किया गया। वे आक्रामक होकर कहने लगे—"प्रेमचन्द अम्बेडकर विरोधी थे, सवर्ण दृष्टिबोध वाले लेखक थे, हिन्दू थे और देश के मूल निवासियों के विरोधी थे। मूलचन्द सोमकर नामक एक लेखक फरमाते हैं—प्रेमचन्द से उनकी यह शिकायत है कि उन्होंने जाति सूचक सन्दर्भ में चालीस बार 'चमार' शब्द का प्रयोग किया है, जो किसी भी संवेदनशील दलित के 'व्यक्तित्व का मूल्यांकन' बन जाता है। ऐसा लगता है कि दलित विमर्श का प्रस्थान बिन्दु गांधी और प्रेमचन्द हैं। इनसे लड़े बिना उनकी अपनी गतिमुक्ति नहीं दिखती है।

दलित शास्त्र के सिद्धान्तकारों में आज एक बड़ा नाम डॉ. धर्मवीर का उभरा है, जो केरल काडर के आई.ए.एस. अधिकारी हैं। इनकी एक किताब हाल ही में 'प्रेमचन्द : सामन्त का मुंशी' नाम से छपी है। उन्होंने सबसे पहले हजारी प्रसाद द्विवेदी पर हमला किया था। द्विवेदी जी का दोष यही था कि उन्होंने जाति के ब्राह्मण होकर कबीर पर लिखने की जुर्रत की थी। अब उनके निशाने पर कायस्थ प्रेमचन्द हैं।

धर्मवीर मानते हैं कि हर सवर्ण अनिवार्य तौर पर जार कर्म का अभ्यस्त होता है। जार का मतलब यौन अपराध से है। धर्मवीर की कल्पना में 'कफन' कहानी की बुधिया के पेट में जो बच्चा पल रहा था, वह माधव का नहीं, बल्कि किसी सवर्ण के जार कर्म की देन था। इसीलिए प्रेमचन्द यह नहीं पकड़ पाए कि घीसू माधव ने बुधिया को मरने देकर या उसके कफन के लिए जुटाए गए रुपयों को शराब में उड़ाकर सवर्णों के 'जार कर्म' का नैतिक प्रतिवाद किया था। धर्मवीर के अनुसार 'कायस्थ' प्रेमचन्द भला इसे कैसे समझ पाते, क्योंकि वे खुद भी 'रखैल' रखकर जार कर्म के अभ्यस्त थे।

अम्बेडकरवादी धर्मवीर बुद्ध को भी भला-बुरा कहने से नहीं चूकते। त्रिपिटक के पन्द्रह ग्रन्थों में प्रसिद्ध थेरीगाथा को, जिसे नारी स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति का पहला ग्रन्थ कहा गया है—उसे धर्मवीर ने 'बदचलन' औरत 'बदमाश' पुरुषों की कहानियों का संकलन कहा है। धर्मवीर बुद्ध को क्षत्रिय बताकर—यह कहना चाहते हैं कि बुद्ध क्षत्रिय होने के कारण जार कर्म को जायज मानते थे।

डॉ. धर्मवीर ने मातृसत्ता, पितृसत्ता और जार सत्ता नाम से एक पुस्तक शृंखला प्रकाशित कराई है जिसमें उन्होंने भारत के सामाजिक विकास के इतिहास में एक नई सत्ता 'जार सत्ता' की खोज की है। वे भारत के इतिहास को यौन अपराधों का इतिहास बतलाते हैं। समाज को वे दो वर्गों में बाँटते हैं—जार कर्म करनेवाले और जार कर्म नहीं करनेवाले।

भारत के प्राचीन इतिहास के बारे में धर्मवीर की मान्यता है कि उसमें जार कर्म के अलावा कुछ नहीं था और भारतीय समाज की यही वह कमजोरी थी जिसके कारण भारत विदेशी ताकतों के हाथों गुलाम बना रहा।

धर्मवीर फतवा जारी करना चाहते हैं और दलितों को भारत के इतिहास और भूगोल का नया पाठ पढ़ाकर भारत की प्रगतिशील विरासत को और ज्ञान-विज्ञान की विकसित शाखाओं के जो आख्यान हैं सबके सबको झूठा और निरर्थक बताने की साजिश रच रहे हैं। इससे उनको कितना फायदा हो रहा है—वे जानें। मेरी समझ में उनकी स्थापनाओं, उनके कुतर्कों और उनकी फतवेबाजी को देश ने हँसी में उड़ा दिया है।

सन्दर्भ

1. भारतीय चिन्तन परम्परा, के. दामोदरन, पी.पी.एच. (प्रा. लि.) नई दिल्ली-55
2. गुलामगीरी, ज्योतिबा फुले (1873)।
3. हरिजन समस्या, व्रजकुमार पांडेय, प्रलेस प्रकाशन, पटना, 1974।
4. दलित समस्या की राजनीति, व्रजकुमार पांडेय, अभिधा प्रकाशन, 2003।
5. हरिजन समस्या : कल और आज, संगम लाल पांडेय, क,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ख, ग, अप्रैल 1965।
6. ई.वी. रामास्वामी का राजनीतिक जीवन, ई.एस. विश्वनाथन, (1920-1949)।
7. अछूत : कौन और कैसे, डॉ. अम्बेडकर।
8. मानव समाज, राहुल सांस्कृत्यान, लोकवाणी प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982, छठा संस्करण।
9. जाति-भेद का उच्छेद, डॉ. अम्बेडकर।
10. सोशल एंड पॉलिटिकल आईडियाज ऑफ बी.आर. अम्बेडकर, भारती चन्द्रा, जयपुर 1977।
11. अम्बेडकर—लाइफ एंड मिशन, वीर धनंजय, मुम्बई 1961।
12. प्रेमचन्द : जीवन-दृष्टि और संवेदना, सम्पादक डॉ. कृष्ण कुमार सिंह/कुमार निर्मलेन्दु, संकल्प बलिया प्रस्तुति-2005।
13. दलित समस्या की राजनीति की भूमिका जिसे डॉ. खगेन्द्र ठाकुर ने लिखी है; अभिधा प्रकाशन, दिल्ली।
14. दलित साहित्य के कुछ सैद्धान्तिक पक्ष, डॉ. हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, कथाक्रम, नवम्बर 2001।
15. साहित्य में दलितवाद की प्रासंगिकता, डॉ. ज्योतिष जोशी, कथाक्रम, नवम्बर 2000।
16. दलित चेतना के कुछ रचनात्मक प्रश्न, डॉ. खगेन्द्र ठाकुर, कथाक्रम, नवम्बर 2000।
17. दलित चिन्तन या वितंडावाद, अरुण माहेश्वरी, जनसत्ता अक्टूबर 2005।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यांकन : एक

विजयदान देथा की दुनिया

कर्मेन्दु शिशिर

लोककथाओं का आदिम रूप, जो लोक परम्पराओं में रच-बस जाता है और थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ, कालान्तर में वह लगभग लोकमिथक की शक्ल ले लेता है। सृजन की दृष्टि से उसमें अक्षय रचनात्मक सम्भावनाएँ होती हैं। इस बात को जिस शिद्दत से विजयदान देथा ने महसूस किया और अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति से उसे जैसा उत्कर्ष दिया, वैसा किसी और भारतीय कथाकार का उदाहरण नहीं मिलता। इन अर्थों में वे भारतीय कथा परम्परा के अनोखे कथाकार हैं। हम उनकी कहानियों को सिर्फ लोककथाओं का सृजनात्मक रूपान्तरण नहीं मान सकते, क्योंकि उनके लोक चरित्र अपने समय-समाज से निरपेक्ष नहीं होते। वे उनके सहारे मनुष्य के भीतर कहीं गहरे उतरकर, एक अन्वेषण की प्रक्रिया से गुजरते हैं। इस तरह वे कथा की परम्परित शैली में ऐसी नई उद्भावनाएँ पैदा करते हैं, जिससे समाज में मौजूदा मनुष्य के वैविध्यपूर्ण जीवनानुभव और प्रवृत्तियाँ उद्घटित होती हैं। ऐसा करते हुए वे घटनाओं और चरित्रों में निहित तनावों की, संवेद्यता के साथ मोहक प्रस्तुति करते हैं। हम उनकी कहानियों को पढ़ते हुए बाजदफा मिथकीय अविश्वसनीयता को भूल जाते हैं।

विजयदान देथा के पास लोककथाओं के पुनर्लेखन और सृजनात्मक रूपान्तरण का विशाल वाङ्मय है। इसमें कुछ कहानियाँ ऐसी जरूर हैं, जिसमें वे निजी मूल्यबोध का अन्तर्लीनी कर, उसे सार्वदेशीय मूल्यबोध के रूप में विकसित करते हैं। इस तरह उनकी कुछ कहानियों में व्यंजित मूल्य, समकालीनता का अतिक्रमण कर शाश्वत मूल्य बन जाते हैं—जो किसी भी देश या काल के मनुष्य के लिए सत्य होते हैं। यहाँ उनकी स्थानीयता पीछे छूट जाती है। यह बात भी ध्यान देनेवाली है कि मानवीय जीवन के शाश्वत और वैश्विक बोध के लिए वे किसी दर्शन या विचारधारा का सहारा नहीं लेते। इसे वे मानव जीवन के सहज-स्वाभाविक व्यापार में ही सम्भव करते हैं। इसमें मनुष्य का उदात्त ही नहीं, उसका अपोदात्त भी शामिल है। खासतौर से मानवीय मूल्यों के विचलन या विघटन के प्रसंगों में तो यह बात ज्यादा प्रभावशाली रूप में सामने आती है। उनकी कहानियों में ऐसे अनेक स्थल चिन्हित किए जा सकते हैं, जहाँ यह बात मुखर या मौन रूप में साधारणीकरण के स्तर पर व्यक्त हुई है। उसकी अर्थ छवियों को क्या बच्चे, क्या बूढ़े और क्या बौद्धिक या अनपढ़—सभी समान रूप से देख सकते हैं। कोई सामान्य पाठक भी उनका पाठ-सुख ले सकता है। कोई अनपढ़ हो, तो भी वह सुनकर सिक्त हो सकता है। यह बात उन्हें तमाम दूसरे भारतीय कथाकारों से हिगराती है।

अ-3, न्यू पुनाईचक, शास्त्रीनगर, पटना-800023 (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह बात स्पष्ट है कि विजयदान देथा लोककथा की औपन्यासिक शैली के विस्तार को आधुनिक कहानी के विशिष्ट लाघव में विनियोग करते हैं। ऐसा करते हुए वे अपनी अद्भुत प्रवाह वाली भाषा-शैली से उन लोककथाओं को एक सर्वथा नई शक्ल देते हैं। जिन कहानियों में आधुनिक मूल्यबोध या जीवन की निहित विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति होती है, वहीं उनका सर्वोत्तम कलात्मक उत्कर्ष भी दिखाई पड़ता है। खास तौर से दुविधा, उलझन, दोहरी ज़िन्दगी, दूजो कबीर, नाहरगढ़- जैसी कई और कहानियों में। यह बात लोककथाओं में आधुनिक कहानी जैसी नई उद्भावनाओं को सम्भव करने से ही बनती है। लेकिन इससे अलग भी उन्होंने अनेकों हिटलर जैसी दुर्लभ कहानी भी रची है, जिसमें किसी लोककथा की पृष्ठभूमि नहीं है। लोककथाओं के तो वे निर्विवाद रूप से सिद्ध कथाकार हैं।

विजयदान देथा परम्परित आख्यान विधि में नाटकीय प्रयोगों और कथावाचक की विशिष्ट उपस्थिति से कहानी के स्थापत्य या उपाकृत्ति को खड़ा करते हैं। वे अपनी ओर से बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं करते। बस, किसी दक्ष कुम्हार की तरह उँगलियों का हल्का स्पर्श देकर, लोककथाओं को अभिनव कहानी की शक्ल दे देते हैं। उनकी कहानियों के पाठकीय आकर्षण के पीछे कथा-संघ के गठन के साथ-साथ विरल कथारस की अहम भूमिका है। भाषा-शिल्प के स्तर पर उनकी उक्तियों पर ध्यान दें, तो पाएँगे कि एक ओर अचानक एक झटके से वे पूरे प्रवाह को उद्वेलित कर देते हैं, तो दूसरी ओर परस्पर विरोधाभास के कलात्मक सन्तुलन से चकित। ऐसे अनेक साक्ष्य उनकी कहानियों में भरे पड़े हैं। पात्रों के भीतर उतरकर, उसके पल-प्रतिपल के मनोभावों को अंकित करते समय उनकी भाषाई सूक्ष्मता देखते बनती है। वर्णन की ऐसी ही बारीक कताई से वे मनुष्य के अदीठ को प्रत्यक्ष करते हैं। लेकिन साथ में यह भी सही है कि उनके स्थलों पर जीवन की मामूली घटनाओं के ब्यौरों का किंचित् विस्तार और भाषा में कहीं-कहीं ढीला-ढालापन भी है। दरअसल लोक की प्रकृति में ही विस्तार, तफसील और दीर्घता शामिल होती है। 'लोक' के आसंग में देथा सधे भी हैं, और पारखी भी। शायद इसीलिए वे लोककथाओं में मौजूद आदिम बास को बनाए रख, उसके रूपान्तरण प्रक्रिया में जबर्दस्त कौतूहल पैदा करते हैं। यहाँ ध्यान देनेवाली बात यह है कि परम्परित कथा-शैली की नई प्रासंगिकता से बनी पाठकीयता ऊपर से जितनी सहज और आसान लगती है वास्तव में वैसी है नहीं। जिन कहानियों में लोककथाओं का पुनर्लेखन मात्र हुआ है, वहाँ हम महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं मान सकते। लेकिन देथा के विपुल लेखन में इस सीमा का अतिक्रमण करती कई कहानियाँ हैं। देथा की उन कहानियों में, जहाँ लोककथाओं का पुनर्लेखन मात्र सीमित है, वहाँ भी यह बात माननी पड़ेगी कि पाठकीय आस्वाद की तीव्रता कायम रख, वे ऐसी कहानियों को भी महत्त्वपूर्ण बना देते हैं।

कथा कहने की अद्भुत कला तो कोई देथा से सीखे। यह कला अपनी पूरी नाटकीयता के साथ उनकी कहानियों में रची-बसी है। उन्होंने लोककथाओं की मूल मिट्टी से बेहिसाब मूर्त्तियाँ गढ़ी हैं। लेकिन इसके बावजूद यह भी सच है कि जहाँ वे समकालीन मनुष्य के मन और सोच को परम्परित लोकचरित्रों में प्रतिबिम्बित करते हैं, वहाँ लोककथाओं की भूमिका बहुत ही सीमित हो जाती है। रचना-प्रक्रिया के ऐसे प्रसंगों में, उनके भीतर जीवन और मृत्यु का एक शाश्वत बोध बराबर बना रहता है। देथा ने बेशक अपनी निकटता वामपन्थियों से बनाई, लेकिन उनके भीतर एक आध्यात्मिक संस्पर्श हमेशा मौजूद रहा। वे मानते भी हैं कि उनके लिए जीवन की सबसे बड़ी पीड़ा—आध्यात्मिक पीड़ा है। आप पाएँगे, मृत्यु या जीवन के गम्भीर सवालों के बीच, मनुष्य की त्रासदी को, वे बार-बार चित्रित करते हैं। मनुष्य के भीतर की निर्ममता को वे जिस तटस्थता से व्यक्त करते हैं, वहाँ उनके मानस की परख होनी चाहिए। मनुष्य की तमाम दुर्बलताएँ- लालच, ईर्ष्या, क्रूरता, हिंसा, चोरी, कृपणता, छल या स्त्रियों के प्रति कमजोरी—ये सारी मनोवृत्तियाँ उनके रचनात्मक भूगोल के भीतर आती हैं, जिसे वे नाटकीयक घटनाक्रमों और चरित्रों से खड़ी ही नहीं करते, बल्कि अपनी मोहक भाषा से चाक्षुष भी बना देते हैं। यहाँ हम फिर इस बात को दुहराना चाहेंगे कि उनकी अनेक कहानियाँ एकरसता और चरित्रों की एकरूपता के कारण थोड़ी ऊब भी पैदा करती हैं। बात घूम-फिरकर वहीं आती है कि कथा कहने की सिद्धि पर्याप्त नहीं होती, उसे समय और समाज के आसंग में पुनर्सृजित करना पड़ता है। सृजनात्मक स्तर पर जहाँ ऐसा सम्भव हुआ है, वहाँ देथा अप्रतिम हैं।

विजयदान देथा की कहानियों में आए चरित्रों को, खासतौर से स्त्री-चरित्रों को देखें तो उनके अन्तरमन के अन्वेषण की बात समझ में आती है। ऐसा लगता है, जैसे देथा अपने चरित्रों के अदीठ और अन्दरूनी गहरों की जासूसी कर रहे हों ! उनके मन की बारीक परतों को उकेरने में वे पूरा कौशल लगा देते हैं। उनके रचे चरित्रों में सेठों या सामन्तों दरबारों के चापलूसों के चित्र अविस्मरणीय हैं। वे राजस्थान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिट्टी में उगे हैं, इसलिए उनके लेखन में पूरे राजस्थान का लोक जीवन मौजूद है। वहाँ के वणिक समाज का ऐसा ऐतिहासिक साक्ष्य शायद ही कहीं और मिले। चापलूसी, सामन्ती समाज की क्रूरता या दासता की ही देन है। राजस्थान के जीवन का पूरा सांस्कृतिक ताना-बाना उनके लेखन में सजीव हो उठा है। यह अकारण नहीं कि देथा की भाषा में जातीय परम्परा अपने पूरे वैभव के साथ प्रस्तुत हुई है। वहाँ के महल, कोठियाँ, झोंपड़ियाँ, ऊँट, अपनी प्रकृत ध्वनियों के साथ स्थानीय पक्षी, अपने रंग, रूप और गन्ध के साथ फूल और वनस्पतियाँ, अपने स्वाद के साथ ढेर सारे फल—सारा कुछ अपनी प्रकृत हलचलों के साथ प्रस्तुत हुआ है। उनकी भाषा तो कहावतों, मुहावरों, लोकोक्तियों और कथन की चुटीली उक्तियों से अँटी पड़ी है। कहीं ऐसी मार्मिक अभिव्यक्तियाँ, गोया पूरे वाक्य-विन्यास का ही नाटकीय रूपान्तरण हो गया हो। 'नज़र सुलग उठे, ऐसी धूप !' विभिन्न प्रकार की ध्वनियाँ, व्यंजनाएँ, बिम्ब या प्रतीक, भाषा में जगह-जगह बिखरे मिल जाते हैं। वे प्रकृति, मनुष्य, पशु-पक्षी की तमाम हलचलों को हू-ब-हू अंकित करने के आग्रही हैं। भाषा का वाग्वैदग्ध ऐसा कि पाठकीय कौतूहल अन्त तक बना रह जाता है, क्योंकि उनकी भाषा में एक तरह का सम्मोहन है।

अब विजयदान देथा की कहानियों के विस्तृत भूगोल में भटकते हुए, एक सर्वथा भिन्न दुनिया देख सकते हैं। 'दुविधा' कहानी में भूत का सेठ की बहू के सात्विक सौन्दर्य की आभा से इस कदर गहरे प्रभावित होना कि उसके भीतर का संकल्पित व्यक्तित्व डोल जाए, और वह गहरे द्वन्द्व में पड़े। 'उसके मन में इस तरह की दया तो पहले कभी नहीं आई थी, इस रूप को कष्ट देने की बजाय तो सुख-दुःख उठाना कहीं अच्छा है।' भूत के भीतर का द्वन्द्व उसके मन का ऐसा परिष्कार कर देता है कि वह अन्दर से उदात्त हो उठता है। जैसा शूर्पनखा के प्रसंग में राम को देखकर खर-दूषण को हुआ था—'बध लायक नहीं सुरूप अनूपा।'

'प्रीत करने के बाद तो भूतों का मन भी धुल जाता है।'×××

'तुम्हें न बताने पर प्रीत के मुँह पर कालिख पुत जाती।'×××

'तुम्हारी प्रीत की वजह से मेरे हृदय का ज़हर, अमृत में बदल गया।'×××

'औरत के रूप और मर्द के प्रेम की यह तो सर्वोत्तम मर्यादा है।'×××

'अगर वो सच्चा पति होता तो व्यापार के लालच में औरत की यह माया छोड़ सकता था।'×××

'भूत होकर भी मैंने सच्ची प्रीत की। छल करते हुए दिल काँपता है।'×××

पूरी कहानी में रात की सघन पृष्ठभूमि बार-बार आकर प्रतीकात्मकता को गाढ़ा करती है। भूत और असली सेठ युवक—जो व्यवसाय के सोम में नई-नवेली दुल्हन के दिलकश रूप पर आसक्त नहीं हो पाता। धन की आसक्ति और उसकी व्यर्थता का द्वन्द्व एक साथ रूपायित हुआ है। 'हिसाब और व्यापार का सुख ही सबसे बड़ा सुख है, बाकी सब झमेले। स्वयं भगवान् भी पक्का हिसाबी है। हरेक की साँस पूरा हिसाब रखता है।'×××'इंसान दौलत की खातिर है कि दौलत इंसान की खातिर ! फकत इसी हिसाब को अच्छी तरह समझना है।' पूँजी किस तरह मनुष्य के काव्यात्मक रिश्ते को खत्म कर देती है ! धन की आसक्ति में युवा से जिस नवेली पत्नी से उदासीन रहता है, उसी का सम-रूप भूत उसकी प्रीत में बावला है। मनुष्य और भूत की भावनाओं का रूपान्तरण—इन दोनों के विरोधाभास में समकालीन जीवन की बहुत बड़ी विडम्बना छुपी हुई है। प्रीत और पैसे की प्राथमिकता के चयन की विडम्बना !

जैसा मैंने पहले कहा—विजयदान देथा चरित्रों को लेकर अत्यन्त संवदेनशील हैं। कई कहानियाँ तो सिर्फ चरित्रों के भरोसे अपनी जगह हासिल करती हैं—जैसे—'केंचुली' कहानी ! इसमें गुजरी का चारित्रिक परिवर्तन अत्यन्त प्रभावशाली है। गुज्जर से भोज़ा तक, न जाने और कितने रिश्ते—मगर गुजरी के भीतर इन दोनों से जुड़ा अनिर्णय बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसका द्वन्द्व इतना त्रासद है कि वह अपने शोषण और प्रतिकार—दोनों से ही निःसंग हो गई है। फिर भी, बात यहीं तक नहीं रुकती। वह ज्यादा बड़े खतरे का वरण करती है और अनिश्चय के बावजूद, पूरे साहस से गन्तव्य की खोज में आगे बढ़ती है। संस्कारों और रूढ़ियों की छूट गई केंचुल के बाद, एक नई गुजरी सामने आती है। उसके व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। उसके पाँवों में थकान के बावजूद अब भी असाधाण ताकत है। इसके बाद जमींदार के प्रति उसके सशक्त प्रतिरोध की अभिव्यक्ति कहानी को उत्कर्ष तक ले जाती है। चरित्रों को लेकर विजयदान देथा की दक्षता कई रूपों में सामने आती है। स्त्री मन और लोकश्रुति का तिरिया चरित्र अपने पूरे वैशिष्ट्य के साथ उनकी कई कहानियों में आया है। 'साक्येती' की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सियारिन में स्त्री चरित्र का अनूठापन एक नया ही गवाक्ष खोलता है। देथा की सहज-सरल दिखती कहानियों की बारीकी से छानबीन करके हम उनकी कलात्मक उपलब्धियों और रचनात्मक वैविध्य को परख सकते हैं।

विजयदान देथा ने ऐसी विपुल कहानियाँ लिखी हैं। जाहिर है कि विपुल मात्रा में लेखन की भी अपनी सीमाएँ हैं। उनकी भाषा, शैली और कहानी कहने के अन्दाज में एकरसता भी है। पूर्व निश्चित कथा शैली की आवृत्ति भी होती है। कभी-कभी तो पूरी कहानी को बिना पढ़े ही पाठक अन्त का अनुमान कर लेता है। मतलब कहानी अन्दरूनी रचनात्मक प्रक्रिया में विकसित नहीं होती। देथा चेखव को अपना गुरु मानते हैं और उनके प्रभाव को स्वीकार भी करते हैं। आप सार्थक अर्थ संकेतों वाली 'दबदबा' कहानी को देखें। लगता है पूरा स्वरूप पूर्व निश्चित है। यह चेखव की 'गिरगिट' कहानी से प्रभावित लगती है। देथा 'दबदबा' कहानी के अन्त में एक परम्परागत सन्दर्भ देकर व्यंग्य की क्षिप्रता को मद्धिम कर देते हैं। उसका नुकीलापन खो जाता है। जबकि 'गिरगिट' कहानी की नाटकीयता में उभरता व्यंग्य अन्त में पाठक को अवाक् कर देता है। मन पर गहरा आघात पड़ता है। कभी-कभी देथा को कमजोर कर देते हैं—जैसे 'अनेकों हिटलर' जैसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी ही देखें। इस कहानी में आधुनिक सामन्ती का ढंग तो बदला है, मगर उनके भीतर की पाशविकता यथावत कायम है। इस कहानी में ट्रैक्टर से पीछा करते नवकुलकों ने अन्दर ही अन्दर, आगे बढ़ने की जुर्रत करनेवाले साइकिल सवार युवक को कुचलने का निश्चय कर लिया। ठीक इसके पूर्व देथा ने एक बहुत ही प्रभावशाली प्रतीक का प्रयोग किया है। आकाश में मँडराती चील एकाएक बड़े वेग से खेत में उतरती है और एक झटके से चूहे को लेकर उड़ चली जाती है। कहानी के भीतर प्रसंग की तार्किकता में यह प्रतीक वाकई प्रभावशाली है। चील के लेकर उड़ते समय उस चूहे का आर्त वातावरण को और मार्मिक कर देता है। लेकिन देथा ने चूक यह की है कि उन्होंने इस प्रतीक की आवृत्ति की है या विस्तार दिया है। इससे प्रतीक के प्रभाव की तीव्रता कमती है। फिर भी, यह बहुत बड़ी कहानी है। किसी भी कथाकार के उत्कर्ष के साक्ष्य उसकी सर्वोत्तमम कहानियों में ही मिलते हैं। निःसन्देह विजयदान देथा के विपुल लेखन में इसके पर्याप्त साक्ष्य मौजूद हैं। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बस गई एक बस्ती है

अष्टभुजा शुक्ल

इन दिनों हिन्दी के सर्जनात्मक लेखन में जिस झोंक के साथ गद्याचार का विकास और विस्तार हुआ है वह कबीर की 'ग्यान की आँधी' से कुछ कम नहीं है। गद्य की महावृद्धि से विधाओं की क्यारियाँ फूट-फूटकर बह रही हैं। इस स्वच्छन्द प्रवाह में परम्परागत विधाओं को भी ठेस लगी है। कहानी और उपन्यास जैसी विधाओं की चमक भी आत्मकथाओं, संस्मरणों, रिपोर्ताजों, रेखाचित्रों के प्रसार और लोकप्रियता के आगे फीकी पड़ गई है। भ्रम की टाटी उड़ गई है, दुचित्तेपन की थूनियाँ गिरी हैं, मोह की बँड़ेर टूट चुकी है, बहुत कुछ उखड़-पुखड़ चुका है। नग्न यथार्थ के सम्मुख बने बनाए प्रतिमान लाचार, नतशिर और ध्वस्त हुए हैं और सच आदिम सच की तरह आने को बेताब हुआ है। बस, मजबूत हुआ है तो माया का बन्धन अर्थात् पूरी कोशिश और निष्ठा के साथ जीवन जीने की नैसर्गिक इच्छा।

एक वास्तविक और निराकरण जीवन जीने की कामना के नाते ही विधाओं के बन्धन ढीले हुए हैं, गो कि गद्य उफान पर है। गद्य की इस चपलता और वाचालता ने, जीवन वैविध्य और भुक्तभोग की कटु अभिधा ने कुछ चीजों को नए सिरे से पुनर्भव किया है। सामाजिकता की नकली रट में बिला गए व्यक्ति और समुदाय की अस्मिता को रचना में पूरी शिद्दत के साथ जगह मिली है। मसलन, जहाँ कहानी या उपन्यास में पात्रों की पहचान के लिए अटकल लगानी पड़ती थी, वहाँ इन अटकलों पर विराम लगा है और इन विधाओं में लेखक तो स्वयं खुलकर उपस्थित है ही, साथ ही साथ उसके द्वारा चित्रित चरित्र, समुदाय, घटनाएँ अथवा चित्र इसी समाज के जीते-जागते और चिह्नित चरित्र हैं। वे जैसे भी हैं, हमारे ही बीच के भोक्ता अथवा भुक्त हैं और मनुष्य के नानार्थ व्यंजक स्वभाव तथा बहुरंगी अर्थच्छवियों के नमूने हैं। वास्तव में यही लौकिकता ही किसी रचना का अर्थ है। पर इस अर्थ के आगे की उधेड़बुन, लेखकीय कल्पना, प्रयोजनीयता, प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ, स्मृतिबोध आदि मिलकर ही सृजन की शर्तों को पूरी करते हैं। इस दृष्टि से गद्गद्मना साहित्य के पारखी और 'तीसरी कसम' के मार्मिक व्याख्याकार विश्वनाथ त्रिपाठी के स्मृति आख्यान 'नंगातलाई का गाँव' से गुजरते हुए ही जाना जा सकता है कि वे कौन-सी अपरिहार्यताएँ और रचनात्मक तन्तु हैं, जो प्रचलित विधाओं की सीमा में न अँटकर आख्यान की सरणियों में प्रवाहित होने के लिए बेकल रही हैं और आख्यानेतर विधाओं से भिन्न प्रभाव और संहति उत्पन्न करनेवाली सिद्ध हुई हैं।

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह आख्यान बस्ती (अब

[illegible] महाविद्यालय, चित्राखोर, पो. बरहुआ, बस्ती-272123 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धार्थ नगर) जिले के बिसकोहर गाँव का है, जहाँ लेखक बिसनाथ का नार गड़ा और जहाँ की जीवन शैली, परम्पराएँ और लोग, अपने-पराए और भूली-भटकी अटक-अटककर आती हुई स्मृतियाँ लेखक के मनोदेश में अड्डा जमाए हुए हैं। बल्कि बिसकोहर जैसी आबादी को गाँव की अपेक्षा कस्बा कहना ही ज़्यादा ठीक है, क्योंकि सामान्यतः किसी गाँव में कई-कई टोले, चाय-पान-मिठाई की दुकानें, आजादी के दिनों के सामाजिक आन्दोलनों की भनक और उत्तेजना, बेड़ियों और कुजड़ों, बनियों और विभिन्न समुदायों की बस्ती की कल्पना 1940-50 के बीच नहीं की जा सकती। इस तथ्य को लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है—"बिसकोहर जैसे कस्बे में छह-सात पोखर थे। तालाब तो और ज़्यादा रहे होंगे।" (पृ. 13) बहरहाल, नेपाल से सटे हुए इस बिसकोहर से बिसनाथ एक ओर अभिभूत और आभारी हैं, तो दूसरी ओर कहीं-न-कहीं गहरे आहत और विक्षुब्ध भी। इसी लोभ और वितृष्णा के वशीभूत वे भूयो-भूयो गाँव आते-जाते, रमते और उचट जाते हैं। 'हर्षचरित' में अपना जीवन वृत्त प्रस्तुत करते हुए बाणभट्ट ने बारम्बार अपने पहाड़ी गाँव प्रीतिकूट लौटने का उल्लेख करते हुए लिखा है—सहज स्नेह पाशग्रन्थिबन्धनाश्च बान्धवभूता दुष्त्यजा जन्मभूमयः। अपने जन्मस्थान और परिवेश के प्रति यही नाभिनाल सम्बन्ध ही लेखक की स्मृतियों में उमड़ता-घुमड़ता रहता है और दास्तान बनकर पाठक को चुम्बकीय शक्ति से आकर्षित करता है। कहने को तो यह दास्तान आंचलिक नहीं बल्कि स्थानिक है, किन्तु यह अवधी क्षेत्र के उस हर बस्ती की दास्तान बन जाता है जिसमें बोली-बानी के दीगर रंगों से लेकर सौहार्द्र, प्रेम, सौन्दर्य, सामाजिक रगड़, ढकोसले और खोखलेपन, उत्सर्ग और स्वाभिमान के जाने कितने अभिराम और विद्रूप दृश्य खुलते चले ही जाते हैं। ऐसी रम्य किन्तु अनलंकृत रचना के पीछे है एक अकुंठ, प्रफुल्ल, संवेदनशील और निश्छल मन। ऐसे बालखिल्य मन का चोर पकड़ में आता है लेखक विश्वनाथ के इस कथन में—"आदमी की किस उमर का सौन्दर्यबोध सबसे विश्वसनीय होता है—इस पर विचार करना चाहिए" (पृ. 49)। जाहिर-सी बात है कि लेखक बचपन के सौन्दर्यबोध को ही सबसे अधिक प्रामाणिक मानता है। यह इस कृति के चप्पे-चप्पे से ज्ञात है कि इस दास्तान की स्मृतियाँ प्रायः बचपन या अधिक-से-अधिक किशोरावस्था की ही हैं। इस अवस्था का बोध इतना निर्विकार, अदुष्ट, मुग्धकारी और अमिट है कि कमाल का प्रतीत होता है। इसका प्रथम और मुखर प्रमाण इस आख्यान के सम्बोधनों में निहित है। पद-पुरान ही गाँवों-कस्बों की सबसे प्रामाणिक संस्कृति है। सम्बोधनों के सम्बन्धों की इस कड़ी में कोई वर्गभेद, जातिभेद, लिंगभेद या साम्प्रदायिक विभेद कथमति नहीं। यह आत्मीयता की ऐसी विरल भूमि है जो समाज को अधिकाधिक कौटुम्बिक बनाकर अपनापे की सान्द्र अनुभूति कराती है। इसी न्याय से 'नंगातलाई का गाँव' के स्मृत चरित्र अपने कच्चे-चिट्ठे, खूबियों और खामियों सौन्दर्य और विद्रूपताओं के साथ आने के बावजूद बिसनाथ के बाबा, अइया, बुआ, फूफा, काका, काकी—सब लगते हैं। अवधी क्षेत्र की इसी खूबी और अदा के बल पर लेखक अपने समाज की मानवीय दुर्बलताओं का अभिनन्दन भी करता है, उसकी खाल भी खींचता है, अवलेह भी लेपता है तथा प्रतिहिंसा और अवज्ञा के स्वरों की भी सृष्टि करता है। मासूमियत, मानवीय आर्द्रता, नैतिक साहस और दो टूकपने के इस विचित्र बंकिम आख्यान में बिसनाथ स्वजन, परिजन, पुरजन, अपने आपको, अपने बाप को ही नहीं बल्कि सात पुश्त को भी नहीं बख्शनेवाले। यह 'भोलू' अपनी सजी-सँवरी बड़ी बहन (चन्द्रप्रभा जी) को "सुग्गन जान पतुरिया की तरह सुन्दर" बताने के एवज में चाँटे खाकर भी नहीं समझ पाता कि उसका बाल-अपराध क्या है ? अपने पूर्व कैशोर्य युग में बढ़नी में तुर्रा तथा बिसकोहर में उपलब्ध आकाश, चाँदनी और सुगन्धि से भरपूर सुन्दरी से शरमाते-शरमाते अपनी भावना इस प्रकार व्यक्त करता है—"जे तुम्हें पाइ जाइ ते जरूरै बौराय जाय" और इससे आगे उस सुजान का प्रत्युत्तर—"बस बाबू को लोग देख लेही तो हम कहूँ मुँह देखावै लायक नाही रहब।" (पृ. 38)। आधा समझने और आधा न समझने की उलझन में बिसनाथ को यह बाललीला बताने में कोई हिचक या शर्म नहीं।

इस स्मृतिलेखा में बिसनाथ अपनी वंशावली की खोज-खबर भी उसी अल्हड़ता के साथ लेते हैं जैसी कि दूसरों की। 'हर्षचरित' में बाणभट्ट ने भी अपनी शूद्र माता से जन्मे चन्द्रसेन और मातृसेन नामक जुड़वाँ भाइयों का निस्संकोच जिक्र तथा विद्याव्यसनी पूर्वजों का गौरवगान किया है। कबीर ने कहा था—आपन जाँघ उघारि के अपनी कमी न जाय। लेकिन यह वही मध्यकालीन मनोदशा है जो बिसकोहर के जनजीवन में बिसनाथ बार-बार लक्षित करते हैं। उनका आधुनिक बोध और नैतिक साहस उन्हें कबीर से भी आगे ले जाता है और इसकी चपेट में लेखक के परबाबा तिरबेनी तिवारी खुद आ जाते हैं। बजरिये डूडू बाबा—"मजा तिरबेनी तिवारी—गोड़-मूड़ करने के लिए सौनारिन, तिरबेनी चौके में तिवराइन, धरम नेम से रहे और गद्दा साफ, ऊपर से चादर दकादक।" (पृ. 52)। यह रघुकुल-रीति (लेखक की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़के काका और लक्खा बुआ में प्रणय–कलह चल रहा था'' (पृ. 52) से सत्यापित होकर पिताश्री के चरित्र-चित्रण में प्रकाशित होती है–''दादा पहलवान थे, कुश्ती लड़ते थे। लेकिन तेवारी खानदान की परम्परा के पुरुष थे। यानी लँगोट के ढीले थे।'' (पृ. 130)। वास्तव में यह लेखक के बालमन पर टंकित ऐसी मनोव्यथा है जिसका दंश औरतों को झेलना पड़ा है, खासतौर से उस ममतामती माँ को जिसके स्तन की दौलत चुकाना असम्भव है। वही अपने अकिंचन बालक से फरियाद करने लगती है तो स्थिति और दारूण हो जाती है– ''अम्मा अकेले में सुबुक-सुबुककर रोतीं, कभी बिसनाथ से कहतीं–का बाबू ऊ सुन्दर है कि हम ? (पृ. 129)। ऐसी स्वीकारोक्तियाँ, आत्मव्यंग्य, अपने को इस तरह रेशा-रेशा खोलकर सार्वजनिक तौर पर रखने का दुर्लभ साहस बिना किसी नैतिक, निश्छल और भोल-भाले मन के सम्भव ही नहीं !

बालक बिसनाथ बिसकोहर के अवयस्क नागरिक नहीं हैं। वे यथेष्ट प्रगल्भ हैं और उनका मन इतना संवेदनशील है कि बचपन में खुद देखी-सुनी और जनश्रुतियों, किंवदन्तियों तथा वाचिक उपाख्यानों की स्पष्ट-अस्पष्ट कार्बन कॉपी करता हुआ चलता है। अपनी फुलवारी (बड़ी बाग) में रेंगता और होश सँभालता हुआ बच्चा प्रकृति, वनस्पति, जन्तुओं और लोगों के रंग-रूप-गन्ध को मन में बसाता हुआ अपने ही ढंग से विकसित होकर अनुभव–संसार से समृद्ध होता जाता है। सुधियों के इस खेत में पहाड़ पर लगी दावाग्नि का दृश्य है, गाँव भर का ऋतानुकूलित विश्रामालय इमली का छतनार पुरातन पेड़ है, बच्चों के खेलकूद और शैतानियाँ हैं, पास-पड़ोस और टोलों की चौकों पर हो-हो, खी-खी करनेवालों की दिलचस्प जमात है, तीज-त्यौहार हैं, पेशे और परिस्थितियाँ हैं, माँ का नैसर्गिक वात्सल्य स्नेह है, बिसकोहर और आसपास के जनजीवन का बहुलतावादी समाज है, साझी संस्कृति है तथा कभी झरोखे बैठकर और कभी उस परिवेश के साक्षात् भोक्ता के रूप में सबका मोजरा लेते और आपबीती बखानते बकलम-खुद बिसनाथ हैं। इस सारे वितान में लेखक बिसनाथ अहोभाव से अभिभूत हैं, जबकि चिन्तक विश्वनाथ सर्वथा विचलित। बिसनाथ बार-बार अपनी उस बस्ती के हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कभी भी साम्प्रदायिक तकरार न होने, पर्वों को सोल्लास मनाने, मर्सिया की करुणा को धरोहर की तरह जीजोने, ताजिया के जलसे में हिन्दुओं के बढ़-चढ़कर हिस्सा लेने और रामलीला के आयोजन की व्यवस्था मुस्लिम प्रधान बुद्धू द्वारा करने का जिक्र करते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों की तकरार भी किस तरह दिलचस्प सामाजिक मनोरंजन में तब्दील हो जाती है और मनोमालिन्य जिस अनोखे ढंग से छँट जाता है, वह मौलवी के वाज (धर्मोपदेश) के अवसर पर देखने ही लायक है–

''बिराहिम मौलवी सबको शान्त करते हुए बोले–आहा हा वाह-वाह धन्न भाग बिसकोहर के। दो-दो कलावन्त मौजूद। एक स्कूल बीच चौक में खुलै बच्चों को पादने की तमीज सिखानेवाला। हेड मुअल्लिम मौलवी साहब। उसी के सामने, दूसरा स्कूल खुले, बच्चों को नूनी पकड़ने की तमीज सिखाने का, इसके हेड मुअल्लिम जगदम्बा पंडित। दोनों स्कूल आमने-सामने अपना इल्म बख्शें। हम कहते हैं बिसकोहर का नाम होल इंडिया में रोशन न हो जाए तो बिराहिम को मारौ सौ गिनौ एक।'' (पृ. 47)

हर तरह के कठमुल्लेपन से अलग यह है बिसकोहरी संस्कृति और भाषा जिसमें बिसनाथ जन्मे, पले, बढ़े और जिये हैं। सिन्नी बँटने के ऐसे मौजूँ वातावरण में बड़े हुए बिसनाथ जब धर्म को साम्प्रदायिक उन्माद में बदलते और जीवनोत्सव के पर्याय पर्वों–त्यौहारों को ऐश्वर्य के लम्पट प्रदर्शन में रूपान्तरित होते हुए अपनी आँखों से देखते हैं तो चीखकर, तथाकथित हिन्दू धर्म की विकृतियों, पाखंडों और अतिचारों पर कठोर टिप्पणी करने से भी नहीं चूकते। यह किसी तरह का दुराग्रह नहीं, क्योंकि उनका धर्मनिरपेक्ष स्वभाव मुस्लिम समाज की कमियों पर भी उँगली रखने से नहीं हिचकिचाता–''उनके बच्चे बहुत होते। डेढ़ साल में दो बच्चे हर कुजड़िन के होते। बच्चियाँ सात-आठ साल तक नंगी घूमतीं। बच्चों की करीब पाँच साल की उमर में मुसलमानी होती।'' (पृ. 32)।

बिसकोहर और आसपास के इस बहुलतावादी समाज में देह-व्यापार करने और महफिलों को रंगीन बनानेवाली बेड़िनों का डेरा है, जो ताजिए का व्रत रखती हुई बिसनाथ को शुभ्रवस्त्रावृता देवियाँ प्रतीत होती हैं; निष्ठुर और अत्याचारी जमींदार है जिन्हें रिआया मार डालती है या किसी गम्भीर व्याधि से मर जाते हैं अथवा आत्मघात से; तहजीबों में पले और सलीके से रहनेवाले मुसलमान हैं; दरिद्रता के मारे भोजचटुल ब्राह्मण हैं; कुँजड़े और बनिये हैं और निम्न श्रेणियों और समूहों के अनेक संकुल हैं। इतने बहुरंगी और मिश्रित समाज में किसी तरह की आत्यन्तिक शुचिता के लिए कोई जगह नहीं हो सकती। ऐसे समाज में थोथे बाह्याचार कदापि स्वीकृत नहीं हो सकते। बिसकोहर ऐसे ही संक्रमित समाज का प्रतिनिधि उदाहरण है जहाँ भाषा, संस्कार, रहन-सहन, परम्पराएँ और सम्बन्ध–सब कुछ सतह पर और खुले-खुले हैं। इसी गड्डमड्ड में बिसकोहर का अनोखा और बेढब सौन्दर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। जहाँ कुछ दबा, तोपा और ढँका है वहीं वीभत्स और विडम्बनात्मक है। दबे-खुले स्वैराचार और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के आदिम झमेले बिसकोहर की कुंडली में हैं और वे किसी ग्रन्थि की तरह नहीं, बल्कि मानव की दैहिक-जैविक लालसाओं के सम्पूरक एवं जीवन-प्रवाह को गतिशील रखने के स्वीकृत अनुबन्ध जैसे प्रतीत होते हैं। ऊपर-ऊपर से गर्हित या चटखदार दिखनेवाली इन प्रेम-लीलाओं के पीछे जैसी गहन आसक्ति, समर्पण और कारुणिक परिणतियाँ हैं, वे झकझोर देनेवाली हैं। छोटी-छोटी परिघटनाओं के नेपथ्य में कई-कई महागाथाएँ निहित हैं। विश्वनाथ जी के इस आख्यान की विलक्षण विशेषता यह है कि वे मनुष्य की इस आसक्ति और विपर्यय को बघारकर सुस्वादु बनाने की बजाय विडम्बनाओं का सौन्दर्य रचकर पाठक को एक मर्मान्तक करुणा के प्रदेश में असहाय छोड़ देते हैं। दिलचस्पियाँ उदास हो जाती हैं, रोमांस स्तब्ध और ऐन्द्रिकता सुन्न। मोह, जुगुप्सा और करुणा की प्रतिसृष्टि करनेवाले अनेकों चरित्र बिसकोहर की इस बस्ती में मौजूद हैं—चाहे वे किन्नी बाबा, नैपाल जैसे पुरुषों से तृप्त होनेवाले स्त्रैण दर्जनों लोग हों या लक्खा बुआ, जनकदुलारी काकी और जगदम्बा पांडे 'जगेश' जैसे विशिष्ट पात्र। साफ-सुथरे, गोरे और सम्भ्रान्त दिखनेवाले माने, चीकट से रहनेवाले नैपाल पर इस कदर फिदा हैं कि उनकी यारी और सहसम्बन्ध को अब्दुल अजीज—"क्या में 'क' और 'य' ऐसे मिले रहते हैं जैसे नैपाल और माने मिले रहते हैं (पृ. 68)।" द्वारा व्यंजित करते हैं। बिसनाथ के घर नैपाल की मृत्यु पर वही माने फूट-फूटकर ऐसे रोने लगते हैं जैसे कि विधवा हो गए हों—"दुलहिन सुन्यो, बुढ़ऊ नाहीं रहे (पृ. 66)।" बरबस याद आते हैं कालिदास—भिन्नरुचिर्हि लोकः। जीवन की इहलीला में प्रेम के प्रति प्रतिबद्धता, कुछ संवेदनशील और कोमल क्षणों की शर्तों पर कठिन-से-कठिन यातनाओं का वरण, स्त्री-जीवन की दिलेरी और लाचारी के अनेकों बिम्ब बिसकोहर में झिलमिलाते हैं। सामाजिक व्यवस्था के निष्ठुर त्रास और खोखले आदर्श, अतिकथन और मारक यथार्थ; प्रेम, सम्मान और अपमान की अचम्भित कर देनेवाली शैली, विपन्नता, व्यक्तिक्रम एवं जड़ बना देनेवाली संवेदनशीलता गाँवों और कस्बों की अपनी पहचान है। जैसा कि उल्लेख हुआ है बिसकोहर में प्रेम के लिए—दो पल के सुकून के लिए—बड़ी-से-बड़ी प्रतारणा अंगीकार है। प्रमाण हैं गौरीशंकर महाराज—"बाबू मारौ चाहे खाल खिंचवा लो। हम लक्खा को नहीं छोड़ सकते। एक-एक लाख की तो उसकी एक-एक आँख है" (पृ. 53)। थोथी मर्यादा के इस ग्रामीण प्रपंच में काली कलम्मा बुआ अपने ही खसम से मिलने पर दंडित की जाती हैं, किन्तु—"बाबू जाय देओ, अरे चाहे जौन भवा, चाहे मारी गयेन, चाहे काटी गयेन लेकिन पहुना आये, तनी जिउ तो आन हो गया" (पृ. 65)।

अवध—क्षेत्र के ग्राम्यांचल में जुअे के दूसरी ओर नाथ जानेवाले बैलों जैसी मानवीय श्रम-शक्ति है, घरों को जलाकर स्वाहा कर देनेवाली सर्वनाशी ईर्ष्या है, दबंगता के आगे मिमियाती और दयनीयता का उपहास करनेवाली निर्मम जीवन शैली है, पेड़ों से गिरकर मर जाने और कुएँ में गोताखोरी करते बर्तन और डूबते लोगों का बचानेवाली निर्मोही और साहसिक विचित्रता है, प्रतिरोध एवं सम्मानजनक अपमान की अनोखी अदा है और पीढ़ियों की टकराहट है। एक ओर तो—"गौरीशंकर महराज का बाबू साहब ने पैरागी की" (पृ. 52)। तो दूसरी ओर बाबू साहब का निहोरा—"बांभन पड़ि गए नाहीं तो मारे जूतन के खोंपड़ी गंजी करि देते, हाँ" (पृ. 53) अदब और अपमान के एक साथ ऐसे उदाहरण और कहाँ मिलेंगे? इससे भी लुभावना लोकजीवन का न्याय यहाँ दृष्टिगोचर होता है—"जनकदुलारी काकी पहचानकर बोलीं—अरे ई तो हमारे पहेलकू (पहले पति) के मामा हैं। भइया इनकी खातिरदारी ठीक से करो। अब दोनों मामाओं के मुँह में दो पेड़ा ठूँसा जाता और दो जूता लगाया जाता।" (पृ. 121) सम्भ्रान्त को चुनौती देनेवाले निम्न समूहों के प्रतिरोध के स्वर भी बिसकोहर में उभरते हैं—"देखौ हम हन कुँजड़ा, घर माँ घुस-घुस के मारब—सारी भलमनसाहत घड़ी भर माँ निकार लेब" (पृ. 82)। गाँवों का असंगठित समाज जब कोई सही नेतृत्व पर जाता है तो तथाकथित कायर भी अगियाबैताल हो जाते हैं। बकौल जनकदुलारी काफी—"बिसनाथ बाबू ई जानत हो कि लखाँसी गाँव में हिजड़े रहते हैं। सच मानो बाबू वे भी पुलिस को खदेड़ने लगे। दौड़े तो उनकी साड़ियाँ फसर-फसर इधर-उधर हों" (पृ. 119)। इन्हीं चरित्रों के बीच पानी साहब दर्जी हैं जो बकरों की पीठ पर हाथ फेरते हुए बोले—"देखते हो बिसनाथ। कुर्बानी के दिन, बकरीद के दिन हम ही इनके गरदन पर छुरी फेरब—कहते-कहते रोने लगे" (पृ. 99)। तो दूसरी ओर शकील हैं जो—"हम सोचित हैं हो कि हमरे वालिद साहेब हैं इनके जो दाढ़ी न रहत तो इनका चेहरा कैसा लागत? हियाँ बिसकोहर माँ केतना दाढ़ीवाले मौलवी लोग हैं?" (पृ. 102)। ऐसे खुले सहिष्णु और उदार मुस्लिम समाजवाले बिसकोहर में जन्मे बिसनाथ तथाकथित हिन्दूवादी दृष्टि को धिक्कारते हैं तो अकारण नहीं। विविधताओं से भरे इसी समाज में बहुतेरे निस्संवेदन लोग भी हैं—जिन्हहिं न व्यापति जगत गति। जो अपने में ही लीन कोल्हू के बैल हैं। चाहे वे पाँच-छः साल के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...के गिर जाने पर पहले बिना एक रुपया हाथ में लिए कुएँ में न उतरनेवाले डूडू बाबा हों या गांधीजी की मृत्यु पर भी दुकान न बन्द करनेवाले नाथे बनिया—"काहे दुकान बन्द करब ? दुकान तब बन्द करब, जब हम मरब। हम तो अभी जिन्दा हैं" (पृ. 73)। स्पष्ट है कि ऐसी मानसिकता के मूल में ...बी और अशिक्षा ही है।

स्मृतियों की इस आवाजाही में कुछ चरित्र हैं जो अपने ...यों और कथानकों से ही बिसकोहर का ऐसा रेखाचित्र ...ते हैं जो अविस्मरणीय बन जाते हैं। झलकी भर मिलनेवाले ...ये कथानकों के नेपथ्य में महागाथाएँ निहित हैं—चाहे वे बिसकोहर की सामाजिक हलचलों में व्याप्त रहनेवाले जगदम्बा ...पांडेय 'जगेश' हैं, लक्खा बुआ और जनकदुलारी काकी जैसे ...ले चरित्र हों, सवर्ण-अवर्ण समाज हो या लेखक के अम्मा-...पा हों। बिसकोहर की नगर वधू समझी जानेवाली लक्खा ...का के भीतर सीता-निर्वासन की अथाह पीड़ा छिपी है जिससे ...नाथ करुणा का पहला पाठ सीखते हैं। वही लक्खा बुआ ...की दुकान पर—"ज्यादातर लोग प्रयोजनातीत कला की ...आनन्द-साधना के लिए आते (पृ. 51)।" एक ऐसी टीप ...जिससे लक्खा के व्यक्तित्व, बिसकोहर के समाज और कला, ...ला के लिए वाले साहित्यिक सिद्धान्त पर एक साथ रोशनी ...ती है। वही काजल—मिसरी वाली छैल-छबीली लक्खा बुआ ...लियन बनने पर—"लोग देखते रह जाते—ये वही लक्खा ...? सर पर बोझा उठावैं। खाद ढोएँ। धान काटैं, गेहूँ काटैं, ...कर्द करैं, ओसावैं। लक्खा बुआ सिंगार-पाट भूल गईं। पक्की ...किसानिन बन गईं (पृ. 54)।" और अन्त में बिसकोहर की ...गना की जीवन लीला ग्रामीण समाज की उसी निस्संवेदन ...ता का शिकार हो जाती है। अनाथों के नाथ बननेवाले कुछ ...ये कुटिल और स्वार्थी लोग गाँवों में पाए जाते हैं, जो ...डावटी सहानुभूति के चारे से उसका सब कुछ हड़प लेते ...। "बिसकोहर के आस-पास एक विशेष प्रकार की प्रेम-पद्धति ...। कोई मालदार विधवा है। बाभन, ठाकुर या अहीर उस ...विधवा से प्रेम कर लेते हैं। माल अपने नाम करवा लेते हैं (पृ. 55)।" ऐसी ही प्रेम-पद्धति की बलिवेदी पर चढ़ जाती हैं ...बिसकोहर की त्रिपुर सुन्दरी लक्खा बुआ। जनकदुलारी काकी ...म और साहस की अद्भुत मिसाल हैं। घुट्ठी तिवारी के साथ ...जाती हैं तो भी सीना तानकर—"ए तिवारी ! हिम्मत है तो ...कुलिल पर आगे हत्था पर बैठाकर सरेआम ले चलो। जैसे ...सेना में होता है, नाहीं तो कहाँ बिसकोहर और कहाँ लखाही (पृ. 120)।" ऐसी दिलेरी की हिम्मत भी गोदान के धनिया ...ती है—"हम उहै जनकदुलारी हैं जे थानेदार पर गँड़ासा मारा था। वै बचि गए, तू लोग न बचबौ (पृ. 121)।"

जगदम्बा पांडेय 'जगेश' बिसकोहर के प्रतिनिधि चरित्र हैं। सक्रिय और बहुचर्चित। मंचों की शोभा और पत्नी-परायण। परम्परावादी ब्राह्मण और बेड़िनों के घर भी कथा बाँचनेवाले। अतिकृपण होते हुए भी गिलट का एक रुपया बिसनाथ को इस निमित्त दे देते हैं, ताकि उनकी पढ़ाई बाधित न हो। वही बिसनाथ जब तुलसीदास पर छपी अपनी पुस्तक जगेश जी को देना चाहते हैं तो पत्नी-वियोग कातर जगेश का उत्तर हतप्रभ कर देता है—"सुनौ बिसनाथ। किताब लिखा ठीक किया। चिऊंटी के आंख देखि सकित है, लेकिन अच्छर नहिं देखि पाइत (पृ. 48)।" इस निम्न और मध्यवर्गीय समाज के ही समानान्तर बिसकोहर में उच्चवर्गीय जमींदार, ब्राह्मण और मुसलमान हैं जो किसी-न-किसी रूप में बिसनाथ के घर से सम्बन्धित हैं अथवा स्वयं बिसनाथ उनसे सम्बन्धित। वहाँ हिन्दू जमींदार तपे हुए अत्याचारी हैं, जबकि मुस्लिम जमींदार अपेक्षाकृत उदार और कठमुल्लेपन से मुक्त। ईद के अवसर पर मुसलमानों के घर से बिसनाथ के घर गेहूँ, गोश्त, मिठाई वगैरह की सौगात बराबर आती है। इसी तरह दीपावली-होली जैसे पर्वों पर बिसनाथ के घर भी मुसलमानों को भोज दिया जाता है। पारस्परिकता की इसी कड़ी में किंवदन्ती बन चुके चेतिया के बूढ़ननाथ तिवारी भी हैं, जिनका दबदबा और रईसी सुदूर तक कायम थी, तो दूसरी ओर जालिम घिराऊ पांडे और लक्ष्मीनिवास पांडे जैसे लोग भी। ज्वाला बाबू, पंडू, बाबू, गिरिजा बाबू जैसे विचित्रमति ठाकुर जमींदार हैं, जिनकी समूची वंशावली पर तपेदिक (टी.बी.) प्रेत की छाया की तरह मंडराती है। और ब्राह्मण वर्ग प्रायः दरिद्रमना, बुभुक्षु, लोभी और परान्नभोजी है। पर बिसकोहर के चश्मदीद गवाह बिसनाथ इस बात को बड़ी ही बारीकी से लक्ष्य करते हैं कि वर्ग के अनुसार ज्यों-ज्यों नीचे आते हैं त्यों-त्यों वर्ण, जाति और मजहबी भेद ग्रामीण-कस्बाई समाज में अदृश्य होते जाते हैं। जीवन स्तर के समान होने से वैचारिक और सामाजिक समानता बहुत कुछ करीब आ जाती है।

इस स्मृति आख्यान में स्मृतियाँ तो विश्वनाथ जी की हैं जबकि आख्यान बिसकोहर का। पर विश्वनाथ जी ऐसे स्मृतिकार हैं जो कोई नई-पुरानी सामाजिक व्यवस्था कायम करने की बजाय अपने ही जिए और भोगे समाज को अत्यन्त निर्मल आत्मीयता के साथ उसके श्वेत-श्याम को, उसके ऊँच-नीच को, राग-विराग को, आह और वाह को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करते हैं। यह लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हुए वे किसी दौरे पर आए या भेजे हुए प्रतीत होते हैं, जो अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज की हर धड़कन को कान लगाकर सुननेवाली और आँख खोलकर देखनेवाला नागरिक है। ऐसे ही ऊटपटाँग भारतीय समाज के अंग और उपज हैं विश्वनाथ जी। वहाँ का सब कुछ उनके रक्त में बहता है, चाहे विभोर कर देनेवाली नारी की इन्द्रधनुषी छवि और मार्मिक करुणा हो चाहे पेड़, पोखरे-तालाब हों, चाहे लोकजीवन के वर्णक्रम। यहाँ कुछ रचा नहीं, बल्कि सब कुछ रखा ही गया है पर इतनी तटस्थता, अकिंचनता और निर्मलता के साथ कि रखना ही रचने से अधिक विशिष्ट बन गया है। इस तरन्नुम में रूद्र काशिकेय, उग्र, रेणु, हजारी प्रसाद, अज्ञेय, परसाई को भी पाया जा सकता है और प्रचलित विधाओं का समांगा विलयन भी। बिसकोहर के हर द्वार से विश्वनाथ जी कुछ-न-कुछ लेकर आते हैं—खट्टा, मीठा, तीखा, पर हर हाल में पाचक और रुचिकर। यह आख्यान अपने कुछ में ही इतना आलोचनात्मक है कि पाठकीय सम्भाव्यता और आलोचकीय असम्भाव्यता का अनूठा उदाहरण बन जाता है। यहाँ उस अपठित का पाठ है और अरचित को रचा गया है जहाँ अकथ्य कुछ भी नहीं, सब कुछ वाच्य है। मुहावरे व्यंजना में होते हैं पर विश्वनाथ जी ने उन्हें अभिधा में बदल देने का कमाल पैदा किया है। भूमंडलीकरण के इस चहल-पहल और यातायात में भी एक जागरूक नागरिक किसी-न-किसी रूप में अब भी अपनी जन्मभूमि का ऋण चुकाना चाहता है। इस उऋणता के लिए विश्वनाथ जी ने अपने स्वर्गादपि गरीयसी बिसकोहर को याद करके, उकेर करके, चित्रित कर और तिरा करके उसके प्रति अपना हक अदा कर दिया है। आ

(नंगातलाई का गाँव, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, 175 रुपए)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनोद कुमार शुक्ल की कविताएँ

जब पिता मार डाला गया
तब पिता की गोद में जाने को लालायित
बच्चा भी।
माँ भी मारी गई तब
जब बच्चे को पिता की गोद में दे रही होगी
कि वह भाजी काट ले
बच्चे को धोखे से चाकू लग जाता तो–
तभी चाकू से सब मारे गये
कि भाजी की तरह काटे गये लोग।

यह सब गुजराती में कहा जाता
छत्तीसगढ़ी में कहने से मुझे डर लगता है
परंतु राष्ट्रभाषा में कहा गया।

2

एक प्रकृति दक्षिण कोशल थी
बल्कि सभी कौशल से इस दक्षिण में
कि प्राकृतिक छत्तीसगढ़
जिसमें एक गढ़ सूर्य
एक गढ़ जंगल
मैदान
एक गढ़ बिखरे पहाड़, डोंगरी
एक गढ़ नदी, महानदी
कोयला, हीरा, सोने का खनिज
एक गढ़ धान।
बहुत संक्षिप्त है इतिहास
बीतने वाले भविष्य के साथ–
भाग्य रेखा नहीं है वह पगडंडी
जिस पर एक ग्रामीण परिवार सब कुछ पीछे छोड़
गृहस्थी समेटे, कमाने चला जा रहा है–
राज्य आला पण छत्तीसगढ़ गेला

डी-२१२, शैलेन्द्र नगर, रायपुर (छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रवीन्द्र स्वप्निल प्रजापति की कविताएँ

बरगद जैसी भाषा का कवि

भाषाओं के स्मारकों में बरगद की तरह खड़ा
मैं बड़ी और ज्यादा बोलने वाली भाषा का कवि हूँ
शाखाओं और जड़ों का साम्राज्य फैलाए हुए

मैं कभी कभी दहाड़ उठता हूँ
अपने आकार पर खड़े होकर बौने पेड़ों को देखता हुआ
तब तमाम लोग मातृभाषा में बदहवास बोलने लगते हैं
मैं उन्हें समझाता हूँ—सबके जीने में मेरा जीना है

मैंने अपने चारों तरफ बहुत से पेड़ों वाला पार्क बनाया है
ताकि बोलियाँ और भाषाएँ झाड़ियों की तरह उगती रहें
मैं कभी कभी उनको बाँहों में समेट लेता हूँ
आखिर वे हमारी छोटी भाषाएँ हैं और मेरी गोद बड़ी है
मैं बरगद जैसी भाषा का कवि हूँ और मेरा आकार विशाल है

मैं बोलियों के विकास के तहत अपनी छाया फैला रहा हूँ
दक्षिण के पठार और उत्तर पश्चिम की पहाड़ियों से लेकर
पूरब की लालिमा तक फैली है मेरी जड़ें
मुझे डर नहीं लगता जब छोटी झाड़ी
मेरे आसपास अपना अधिकार जमाती है
मजा ये है कि इस तरह उनका मेरे आसपास आना
मेरी सीनरी को परिपूर्ण ही बनाता है

मैं चाहता हूँ बहुत सी कोयलें आकर बोलें मेरी शाखाओं में
तमाम प्रांत ही मेरी शाखाओं का विस्तार बनें
हवाएँ और रोशनियाँ मेरी आँखों का विस्तार हो जाएँ
नदियों और बाँधों में लहराती लहरें मेरा मन हो जाएँ

मैं पीली पत्तियों को उड़ाता जंगली पवन की तरह
मैं विश्व के उपवन में बरगद जैसी भाषा का कवि हूँ
मेरे हिलने से हिलते हैं पौधे झाड़ियाँ पेड़ घास
मेरी शाखाओं पर छाई लाताओं जैसी दुनिया की तमाम भाषाएँ
भाषाओं के जंगल में पत्तियों की तरह शब्द मेरे चारों ओर...

221, आर. एम. पी. नगर, विदिशा (म.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास का कोरस

विकास के मंगल गान में मेरा आफिस सितार की तरह बज रहा है
देशी कम्पनियाँ भी अपना वादन शुरू कर चुकी हैं
सरकार प्रायोजित कीर्तनों में सरकारी स्वर की तरह गा रहा है

सरकार ने निवेश विकास और उत्पादन के बैनरों से
देश को बहुराष्ट्रीय घोड़ों के रथ में जोत दिया है
जिसे मेरी कम्पनी बता रही है यह कृष्ण का रथ है
और युद्ध के लिए एक माडल गीता का विज्ञापन कर रही है

आयातित किए गए हैं विदेशी बेशरमी के हैलमेट
जिन पर मतदान की बूँदें असरहीन हो रही हैं
और साथ ही वे किसी भी चोट को सहनीय बना रहे हैं।
सरकारी कांट्रेक्ट पर मेरी दूसरी कम्पनी बता रही है
मतदान क्यों निरर्थक हो गया है और अब क्या किया जाना चाहिए

जनप्रतिनिधि होने के नाम पर जो लोग
मतदान केंद्र से संसद तक जाने के लिए अधिकृत किए गए थे
बच्चों की तरह रास्ते में लोकतंत्र की क्रिकेट खेल रहे हैं
जिसमें नहीं चाहने पर कोई आउट नहीं होता
बिना दौड़े रन बनते हैं
चौकों छक्कों के लिए
जहाँ गेंद गिरती है वहीं बाउंड्री हो जाती है
जो बल्ला पकड़ता है वही अम्पायर होता है
टीम का साथी भी आपको आउट करवाता है

चयनित लोकतांत्रिक खिलाड़ियों ने विधान और संसद भवन को
अपनी जुगाड़ तुगाड़ का ड्रेसिंग रूम बना लिया है
इस मैदान में जो घास है वह देश की जनता है
शहर की अस्पतालों अदालतों और आफिसों में
डाक्टरों वकीलों और अफसरों के लिए विकास की प्रतीक
इस देश की मुद्रा क्रिकेट की टिकट नजर आती है
कांट्रेक्ट पर काम कर रही मेरी कम्पनी और मैं यह बात जानते हैं

दोस्तो यह सीन कहीं से तार्किक नहीं हो सकता
मेरी कम्पनी बनाकर बताए या कोई नेता भाषण में कहे
काम के लिए भटकते युवाओं को रनों के लिए शोर करते
दर्शक कहना
उखड़ी हुई सड़कों को पिच कहना कैसे न्यायसंगत ठहराया जा
सकता है
और कम्पनी कोई भी अपने कांट्रेक्ट को ही पूरा करती है
वह लोकतंत्र की क्रिकेट का प्रचार हो
या गीता के किसी श्लोक को भाषण में बदलने का काम...

पुल पर खड़ी आत्मा जैसी लड़की

पुल के दोनों किनारे बह गए हैं
और एक लड़की पुल पर अकेली खड़ी है
यह मेरी कल्पना हो सकती है और मेरा सच भी
कि पुल के हर तरफ पानी है

लड़की पुल पर टहलती है थोड़ा इधर-थोड़ा उधर
मेरी दमित कामनाओं की प्राकृतिक अभिव्यक्ति की तरह
मैं निर्जन किनारे की तरफ से देखता हूँ
दूसरी तरफ है शहर और सारा संसार
जहाँ नदी का पानी अंतिम हद को छूता है
कुछ लोग खड़े हैं—मुड़ रहे हैं
कुछ ऊँची नजरों से देख रहे हैं

सब किनारों पर खड़े होकर
अपने आपको अभिव्यक्त कर रहे हैं—
कितना साहस भरा काम है—दोनों ओर बहते पानी में
दोनों ओर से कटे पुल पर—एक लड़की का अकेले होना
पुल से वह संसार में कैसे आएगी !
उसके शरीर में कोई हड़बड़ाहट नहीं
हवाओं में खुले बालों के साथ
वह टहलती है थोड़ा इधर, थोड़ा उधर।

मेरा मन

मेरा मन चाँदी की प्लेट है
जिसमें दुनिया का (लाल) सूरज चमक रहा है
मैंने संसार के प्यार में आँखें बंद कर ली हैं
फिर भी मुझे सब कुछ दिख रहा है
दुनिया का सूरज
मेरे सीने में रोशनी का समुद्र भरता है
जिसमें से वक्त का जहाज गुजरता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोशनी का यह समुद्र कहीं लाल है—
कहीं सुनहरा,
मेरे मन के समुद्र में
वक्त का जहाज इस तरफ से उस तरफ जा रहा है।

खराब हो चुका टिफिन

तुम्हारे हाथों से बना टिफिन
सारे दिन मेरे साथ घूमता रहा
और मैं व्यस्तताओं की सड़कों पर
काम की गर्म दोपहर खींचता रहा

मेरी व्यस्तताओं से त्रस्त तुम्हारे चेहरे की तरह
टिफिन में गितखी की सब्जी खराब होती रही
रोटियों ने दुःखी भावनाओं की तरह लोच खो दिया

व्यस्तताओं की क्रूरता में तहस-नहस रिश्तों की तरह
टिफिन मेरे सीने में टीस की तरह उभर आता है

ट्रेन में मूँगफली के छिलके, कागज, कप आदि

छिलके समय के टुकड़े हैं
अक्सर ट्रेन में गिरते रहते हैं सफर के दौरान
तेल लगे अखबार के टुकड़े पर छपी कोई घटना
और प्लास्टिक के मुड़े कप में चाय का सूखते रहना

सोचता हूँ—इस अखबार में घटना पहले है
अथवा इसमें रखा समोसा...

किसी का इन सबको कुचलते हुए निकल जाना
किसी का उनमें ही बैठ जाना
किसी का कप को देखकर बिदक जाना
और देखना एक कप में पूरी सरकार और उसका ब्रह्म

समय की गैलरी

मेरे अंदर समय-गैलरी है
आँखें बंद करके कभी-कभी चला जाता हूँ
जिसमें हजारों प्रकोप बन चुके हैं और कई
बंद हैं और कई अब खुलते नहीं

जितना अंदर जाता हूँ
सुनहरे, काले, सफेद, नीले और तांबई रंगों के अहसास
तितलियों और चमकीली झिल्लियों की तरह मिलते हैं
रंग कहीं महत्वहीन हो जाते कहीं जीवंत
एक कोना फूलों और तितलियों से लहरा रहा है
एक कोना उजड़ते सूखे गाँव की धूल से भरा है
एक फ्रेम में बच्चे खेलते हुए जहाँ मैं भी हूँ
बहता हुआ नाला, छोटी-छोटी मछलियाँ, विल्लू, केंकड़े
झींगे और गोंचें चिपकी हैं
गिलाव के खिलौने और कागज की नाव रखी है

मंदिर, पाखर की छाँव और गुसाईं बाबा का प्रसाद
ऊधमी बच्चों के लिए बाबा की गुटान
कीर्तन, कथा, झाँकी और अखण्ड रामायण के आयोजन
यादों के फ्रेमों में सब टँगा हुआ है
स्कूल में सर पढ़ा रहे हैं—टाट पट्टी पर रखे बस्तों से
उनकी बातें पिघल पिघलकर बह रही हैं
मैंने समय के साथ उन्हें सहेजने की क्षमता खो दी है
बस उन्हें देख रहा हूँ और गुजर रहा हूँ

कई चित्र और प्रकोष्ठ धूल मिट्टी से ढक चुके हैं
कुछ मौतों की परछाइयों में बदल गए
उनके चेहरे घनश्या-ककाजी, भउआ-कक्का, मरदन-बब्बा
बऊ और ग्यारबा-चचाजी जैसे हैं
ये सब मेरे सामने पैदल चलकर गए और
अपनी मौत के बहाने गैलरी के चित्र बन गए

शैतान, भैरोसिंह, बृजबाला, रूपेश और जलील
दौड़ते हुए आकर गैलरी में फ्रीज हो गए
ये जीवित भी हो सकते हैं और मृत भी
लेकिन मैं उनसे बात नहीं कर सकता—मुस्कुरा नहीं सकता

इसके बाद अर्थियों का लम्बा सिलसिला है
बचपन के निगेटिव में साफ-साफ दिख रहा है
रमजानी और करीम चाचा मुँह उघाड़कर कहना चाहते हैं
हे तुमारी की ! हमें गाँव से बाहर कों ले जा रहे हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक चित्र जो अब राजनैतिक मुहावरे का प्रतीक हो गया
मिलाजी कह रहे हैं—समाचार सुनने से अकल आती है
रेडियो पर गानों के अलावा समाचार सुनना भी जरूरी है
डेन-घर के अलावा बस स्टेण्ड पर घूमने जाना चाहिए

कई चाँदनी रातों के छोटे-छोटे मिनिएचर टँगे हैं
जिनमें मैं खुले आसमान में सो रहा हूँ
रजाई के अंदर रेडियो पर न जाने किसका
लय ताल में निबद्ध तबला वादन और

याद नहीं वे कवि सम्मेलन जिनमें मैंने कविताएँ सुनी
संगीत के अखिल भारतीय कार्यक्रम में—पं. रविशंकर का
सितार वादन
अब ये सब चित्र हैं और इनमें और आवाज नहीं आती

मेरी गैलरी का विस्तार अभी बंद नहीं हुआ
जिंदगी से अलग होता हुआ समय का हर टुकड़ा
सूखकर गैलरी में समाता चला जा रहा है। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोदान और विचारधारा

रघुवंश मणि

'गोदान' एक लेखक केन्द्रित उपन्यास है। अंग्रेजी में जिसे कहते हैं 'ऑथर ऑम्नीशियेंट नावेल'। यहाँ उपन्यास के घटनाक्रमों और पात्रों पर उपन्यासकार की प्रमुखता है। वह उपन्यास की घटनाओं का अपनी तरह से बयान करता है, अर्थात हर जगह लेखक की उपस्थिति। इसे प्रेमचन्द की एक सामान्य और प्रतिनिधि शैली कहकर नजरंदाज किया जा सकता है, मगर *गोदान* में इस शैली का महत्व असंदिग्ध है। यह उपन्यास एक 'आर्केस्ट्रा' की तरह है जिसकी घटनाओं और पात्रों को उपन्यासकार वाद्यकों की तरह निर्देशित करता है। इसी कारण *गोदान* में विचार और विचारधारा का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है। वैसे भी प्रेमचन्द के सिलसिले में इधर विचारधारा का महत्व बढ़ा है।

प्रेमचन्द पर उठे तात्कालिक विवाद जिस दिशा में संकेत करते हैं वह यह है कि किसी भी लेखक की विचारधारा सर्वाधिक महत्व की सिद्ध होती है। चाहे वे दलित विमर्श से जुड़े विवाद हों या फिर स्त्री-विमर्श से। यहाँ मेरा मंतव्य यह नहीं है कि किसी लेखक, विशेषकर सर्जनात्मक रचनाकार के शिल्प-रूप को अनदेखा किया जाय। निश्चित रूप से कोई भी विचार किसी न किसी शिल्प में आता है और उसके बिना विचार सम्भव भी नहीं। कथ्य और शिल्प एक-दूसरे से इस प्रकार गुँथे-बिंधे होते हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखना एक आलोचक की बहुत बड़ी भूल होगी। पर किसी बड़े लेखक की ऐतिहासिक भूमिका उसकी विचारधारा तय करती है। इसका एक जीवन्त प्रमाण यह है कि जब साम्प्रदायिक शक्तियों ने प्रेमचन्द का भगवाकरण करने की चेष्टा की तो उनके वे विचारात्मक लेख काम आये जिसमें उन्होंने सीधे-स्पष्ट वक्तव्यों में साम्प्रदायिकता की कटु आलोचना की है। यह स्वाभाविक ही था कि साम्प्रदायिक उन्माद के काले दौर में प्रेमचन्द की कहानियाँ या उपन्यास सबसे महत्वपूर्ण नहीं रह गये। केन्द्र में आ गये प्रेमचन्द के विचारात्मक निबन्ध, जिनमें विचार ज्यादा महत्वपूर्ण थे।

उपन्यास की यह लेखक-केन्द्रीयता *गोदान* की संरचना में पात्र की केन्द्रीयता को अपदस्थ करती है। हिन्दी जगत में यह लगभग सर्वस्वीकृत है कि होरी *गोदान* का नायक है और सभी पात्रों के बीच उसकी केन्द्रीयता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। मगर *गोदान* में समय-समय पर अन्य पात्र भी केन्द्र में उतरते रहते हैं और कभी-कभी तो लम्बे समय तक 'नैरेशन' को अपने तक सीमित रखते हैं। यह कहना गलत होगा कि इन पात्रों में प्रेमचन्द की दिलचस्पी कुछ कम है।

उपन्यास की इसी लेखक-केन्द्रीयता के चलते किसी एक पात्र

365, इस्माइलगंज, अमानीगंज, फैजाबाद (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विचार को प्रेमचन्द का विचार मान लेना एक आलोचनात्मक त्रुटि होगी। उदाहरण के लिए डा. धर्मवीर, डा. मेहता के स्त्री लेखक विचार को प्रेमचन्द के विचार मान लेने की भूल करते हैं। वे मानते हैं कि प्रेमचन्द विवाह के बंधन को प्रो. मेहता के समान ही अटूट मानते थे। यदि ऐसा था तो फिर प्रेमचन्द केवल विवाह और विधवा-विवाह के बारे में क्यों लिखते हैं ? ऐसी गलतियाँ अन्य आलोचकों से भी हुई हैं।

गोदान में उपन्यास की प्रकृति के अन्तर्गत विचारधाराओं का टकराव दिखलाई पड़ता है और विभिन्न पात्र अलग-अलग विचारों को लेकर उपस्थित होते हैं। उन्हें उन विचारसरणियों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। मगर कई पात्रों में और उनकी वैचारिक अवस्थितियों में कथावस्तु के आगे बढ़ने के साथ परिवर्तन भी होते रहते हैं। ई. एम. फास्टर के शब्दों का प्रयोग करना हो तो वे 'राउण्ड करैक्टर्स' है। उदाहरण के लिए मेहता, राय साहब, मालती, मातादीन आदि परिवर्तनशील पात्र हैं। अतः विमर्श में सावधानी की आवश्यकता है।

गोदान मूलतः एक उपन्यास है। अतः उसकी औपन्यासिक संरचना में ही विचारधारा की खोज सम्भव है। यहाँ लेखकीय वक्तव्य तो हैं, मगर प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की तुलना में विचारधारात्मक लेखकीय वक्तव्य कम हैं। *गोदान* में प्रेमचन्द पाठक के विवेक और बुद्धिमत्ता पर सर्वाधिक विश्वास व्यक्त करते हैं। स्पष्ट हैं कि उन सभी वजहों से *गोदान* के ऐतिहासिक महत्व का एक कारण उसकी विचारधारात्मक अवस्थिति के बनते है।

2

प्रेमचन्द को अक्सर भारतीय राष्ट्रवाद और स्वतंत्रता आन्दोलन से जोड़कर देखा जाता रहा है। आलोचकों द्वारा उन्हें गांधीवाद और विचारधारा से प्रभावित बताया जाता रहा है। निश्चय ही अपने लेखकीय जीवन के एक दौर में वे इन बातों से प्रभावित थे। ऐसा भी नहीं कि वे *गोदान* लिखते समय इन विचार-सरणियों को त्याग चुके थे। मगर स्वतंत्रता आन्दोलन की राजनीति के एक अंधकारमय पक्ष को वह देखने लगे थे। *गोदान* में फैली निराशा का यह एक बहुत बड़ा कारण है।

गोदान में राय साहब अमरपाल सिंह के चरित्र में हम स्वतंत्रता आन्दोलन के पक्ष विशेष को देखते हैं। उपन्यास में राय साहब एक जमींदार हैं और किसानों, मजदूरों का शोषण भी करते हैं। मगर वे हैं स्वतंत्रता-संग्राम सेनानी। वहाँ से भी उन्हें प्रतिष्ठा और ताकत चाहिए। सब कुछ ठीक है जब तक अपने हितों पर आँच न आवे।

'पिछले सत्याग्रह संग्राम में राय साहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल चले गये थे। तब से उनके इलाके के असामियों को उनसे श्रद्धा हो गयी थी। यह नहीं कि उनके इलाके में असामियों को कोई खास रियायत की जाती हो, या डाँड़ या बेगार की कड़ाई कुछ कम हो। मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर पर जाती। राय साहब की कीर्ति पर कोई कलंक न लग सकता था। वह बेचारे तो उसकी व्यवस्था के गुलाम थे। जाब्ते का काम तो जैसे होता चला आया है, वैसे ही होगा। राय साहब की सज्जनता उस पर कोई असर न डाल सकती थी, इसलिए आमदनी और अधिकार में जौ भर भी कमी न होने पर भी उनका यश मानो बढ़ गया था।'

राय साहब पर प्रेमचन्द की भाषा का व्यंग्य बड़ा चुटीला हो जाता है जब वे उनकी तुलना ऐसे सिंह से करते हैं जो मीठी बोली बोलता है, जिसके चलते उसे आसानी से शिकार प्राप्त हो जाते हैं। वे यह बताना भी नहीं भूलते कि राय साहब राष्ट्रवादी होने के बाद भी हुक्काम से मेलजोल तो बनाए ही रखते हैं। वे साहित्य के शौकीन हैं और नाटक भी लिखते हैं।

प्रेमचन्द, राय साहब के चरित्र के माध्यम से स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रवेश करते सामंती तत्वों को रेखांकित कर रहे थे। ये प्रतिगामी तत्व स्वतंत्रता आन्दोलन के उपरांत भी भारतीय राजनीति में हावी रहे और आज वे जाति और धर्म की राजनीति पर इस्तेमाल कर रहे हैं। यह बात दीगर है कि आज ये प्रतिगामी तत्व आधुनिक तकनीकों से लैस हैं। इन सामंती तत्वों के ढोंग को प्रेमचन्द रेखांकित करते हैं। चतुर और धूर्त राय साहब की आत्मालोचना एक ऐसा ही ढोंग है।

'दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं। हमारे पास इलाके, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, कर्ज, वेश्याएँ क्या नहीं है, लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं, अभिमान नहीं, वह और चाहे जो कुछ हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद नहीं आती हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नहीं कहता। वह तो संसार का सबसे अभागा प्राणी है।...मुफ्तखोरी ने हमें अपंग बना दिया है, हमें अपने पुरुषार्थ पर लेश मात्र भी विश्वास नहीं। केवल अफसरों के सामने दुम हिला-हिलाकर किसी तरह उनके कृपापात्र बने रहना और उनकी सहायता से अपनी प्रजा पर आतंक जमाना ही हमारा उद्यम है।'

राय साहब के इस कथन की भंगिमा विचारणीय है। राय साहब अपनी आलोचना में भी आध्यात्मिकता को होरी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर फेंक रहे हैं। यह आध्यात्मिकता लम्बे समय तक गरीब तबके को सामंती तंत्र में बाँधे रखने के तर्क के रूप में कार्य करती रही है। यदि फटे चीथड़े पहनने वाला स्वयं को सुखी मान ले तो फिर उसकी तरफ से किसी विद्रोह का संकट ही कहाँ खड़ा होगा ? कल्पना की जा सकती है कि होरी को राय साहब की इन बातों पर कितना गर्व हुआ होगा। सीधा-साधा होरी अपनी गरीबी पर फूल कर कुप्पा हो जाता है। होरी घर आकर राय साहब की बात के सार को धनिया से कहता भी है।

'हम लोग समझते हैं, बड़े आदमी बड़े सुखी होंगे; लेकिन सच पूछो तो वह हमसे ज्यादा दुखी हैं। हमें अपने पेट की चिन्ता है, उन्हें हजारों चिन्ताएँ घेरे रहती हैं।'

गोदान में दूसरी पीढ़ी विचारधारात्मक रूप से अधिक सचेत है। गोबर अपने पिता होरी की बात को सहज स्वीकार नहीं कर लेता, वह प्रतिरोध करता है। राय साहब के ढोंग को गोबर की टिप्पणी बेपर्दा करती है :

'तो फिर अपना इलाका हमें क्यों नहीं सौंप देते। हम अपने खेत, बैल, हल, कुदाल सब उन्हें देने को तैयार हैं। करेंगे बदला ? यह सब धूर्तता, है निरी मोटी चालाकी। जिसे दुख होता है, वह दरजनों मोटरें नहीं रखता, महलों में नहीं रहता, हलवा-पूरी नहीं खाता और न नाच-रंग में लिप्त रहता है। मजे से राज का सुख भोग रहे हैं, उस पर दुखी हैं।'

लेकिन होरी स्वयं सामंती मूल्यों को किस प्रकार स्वीकार करता है ? वह उसे *मरजाद* के रूप में स्वीकार करता है। प्रेमचन्द सामंती मूल्यों के इस आभ्यंतरीकरण को मरजाद के रूप में दिखाते हैं। विचारधारा का यह आभ्यंतरीकरण ऐसा विसंगतिपूर्ण है कि सामंत के लिए एक मर्यादा है और किसान के लिए दूसरी। होरी स्वयं उसके पक्ष में तर्क देता है। वह झुँझलाकर गोबर को जवाब देता है :

'अब तुमसे बहस कौन करे भाई ! जैजात किसी से छोड़ी जाती है जो वही छोड़ देंगे। हमीं को खेती से क्या मिलता है ? एक आने नफरी की मजदूरी भी तो पड़ती। जो दस रुपये का नौकर है वह भी हमसे अच्छा पहनता है; लेकिन खेतों को छोड़ा तो नहीं जाता। खेती छोड़ दें तो करें क्या ? नौकरी कहीं मिलती है ? फिर मरजाद भी तो पालना ही पड़ता है। खेतों में जो मरजाद है वह नौकरी में तो नहीं है। इसी तरह जमींदारों का हाल भी समझ लो। उनकी जान को भी सैकड़ों रोग लगे हुए हैं, हाकिमों को रसद पहुँचाओ, उनकी सलामी करो, अमलों को खुश करो। तारीख पर मालगुजारी न चुका दें तो हवालात हो जाय, कुड़की हो जाय। हमें तो कोई हवालात नहीं ले जाता। दो-चार गालियाँ-घुड़कियाँ ही तो मिलकर रह जाती हैं।'

लुई आल्थूसर विचारधारा को यथार्थ से व्यक्ति के काल्पनिक संबंधों के प्रतुतीकरण के रूप में देखते हैं। इस संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि होरी सामंती विचारधारा और मूल्यों को कभी दैवी नियम के नाम पर, कभी पिछले जनम के पुण्य प्रताप के नाम पर, कभी नियति के नाम पर, कभी मजबूरीवश, तो कभी मरजाद का हवाला देकर स्वीकार करता है। कभी-कभी चेतना के अभाव में शोषित व्यक्ति स्वयं शोषण को वैधानिकता प्रदान करता है, तो कभी एक बौद्धिक व्यवस्था के तहत। यह विचारधारात्मक राजतंत्र की एक विशेषता है कि उससे नकारात्मक रूप से प्रभावित व्यक्ति भी उसका समर्थन करता है। राय साहब सत्ता वर्ग के हैं अतः वे होरी पर अपने विचारों को प्रक्षेपित करने की स्थिति में होते हैं। पढ़े-लिखे मिस्टर मेहता सिद्धांत की आड़ में राय साहब के इस आत्मालोचन के ढोंग की आलोचना करते हैं। वे सिद्धांत और व्यवहार के भेद को सामने रखते हुए राय साहब की आलोचना करते हैं।

'आप कृषकों के शुभेच्छु हैं, उन्हें तरह-तरह की रियायतें देना चाहते हैं, आप जमींदारों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं, बल्कि आप उन्हें समाज का श्राप कहते हैं, फिर भी आप जमींदार हैं, वैसे ही जमींदार जैसे हजारों और जमींदार हैं। आपकी धारणा है कि पट्टे लिख दें, बेगार बंद कर दें, इजाफा लगान को तिलांजलि दे दें, चरावर जमीन छोड़ दें। मुझे उन लोगों से जरा भी हमदर्दी नहीं है जो बातें करते हैं कम्युनिस्टों की-सी, मगर जीवन है रईसों का-सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।'

गोदान में राय साहब की चुनाव यात्रा आज की संवैधानिक राजनीति के विषबीज की खोज है। चुनाव जीतने के लिए क्या-क्या नहीं किया जाता। जनता और जनसमर्थन की बात तो बहुत दूर की चीज लगती है। *गोदान* में राय साहब कौंसिल का चुनाव लड़ते हैं। प्रेमचन्द लिखते हैं कि चुनाव 'सोने की हँसिया थी जिसे न उगलते बनता था, न निगलते।' चुनाव का खर्चा लाखों था जिसमें राय साहब को दो-दो बार एक-एक लाख की चपत लगी थी। चुनाव में धनशक्ति का महत्व ऐसा है कि वे एक वोटर को एक हजार देने का निर्णय ले लेते हैं। चुनाव के पीछे की राजनीति कुछ ऐसी है कि निर्दल तन्खा उन्हें खड़े होने और फिर एक लाख की थैली लेकर बैठ जाने के लिए कहते हैं। वास्तव में उन दिनों कौंसिल के चुनाव समिति वोटों के आधार पर होते थे। लेकिन उन चुनावों में भी भ्रष्टाचार बुरी तरह हावी था। 1936 तक चुनाव की राजनीति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के स्वतंत्रता आन्दोलन की भावना को कमजोर कर दिया था और धीरे-धीरे उसे शक्ति और स्वार्थ के गलियारे में उलझा दिया था। *गोदान* में स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति *कर्मभूमि* जैसा उत्साह नहीं है और न ही *गबन* जैसा महिमा-मंडन। यह आगे आने वाली राजनीति का क्रिटीक अवश्य है।

3

राय साहब की ढोंग भरी आत्मालोचनाओं पर गोबर की टिप्पणी नये उभरते विवेक के विद्रोह को दर्शाती है। एक तरफ होरी का पुराना सामंती पृष्ठभूमि का विवेक है कि अमीर-गरीब भगवान के यहाँ से बनकर आये हैं और यह सब पूर्वजन्म का फल है। दूसरी तरफ गोबर का विवेक है कि किसान-मजदूरों के शोषण से ही जमींदारों का सब कुछ चलता है; भजन-भाव, दान-पुण्य सब।

गोबर का विरोध नई पीढ़ी का विद्रोह है। लेकिन नई पीढ़ी को इस ज्ञान का अधिगम कैसे हुआ होगा, यह स्पष्ट नहीं। सम्भवतः यह अनुभवजन्य अथवा बहस-मुबाहिसे से प्राप्त हो क्योंकि उपन्यास में होरी के परिवार के आसपास शिक्षा का प्रकाश नहीं दिखाई देता। अवांतर प्रसंगों से भी पढ़ने-लिखने की बात सामने नहीं आती। यह भी एक गहरा अंधकार है। मगर शहर जाने के बाद गोबर के लिए जीवन के अधिगम ही विचार ग्रहण के स्रोत हैं जो उसे दो चरणों में बदलते हैं। पहली बार वह एक गर्वीले युवा विद्रोही के रूप में सामने आता है, पर दूसरी बार यह गहरी सोच-समझ वाले प्रौढ़ होते व्यक्ति की तरह है।

गोदान में सहुआइन, मंगरू, पटेश्वरी, झिंगुरी सिंह, दातादीन पंडित की उपस्थिति उस पुरानी सामंती व्यवस्था के आर्थिक पक्ष को प्रस्तुत करती है जिसके एक प्रभु प्रतिनिधि राय साहब स्वयं हैं। होरी का इस व्यवस्था में फँसा होना इस बात से प्रकट होता है कि वह सच्चाई से कोरा अपरिचित भी नहीं।

कुछ विचारकों का यह मानना है कि विचारधारा का ज्ञान, विचारधारा को तिरोहित कर देता है। लेकिन इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता क्योंकि विचारधारा के तंत्र के होते कोई उसकी गिरफ्त से मुक्त नहीं हो सकता। होरी भी अपने शोषण के तथ्य से अनभिज्ञ होने के बाद भी उस तंत्र से मुक्त नहीं होता। *गोदान* में बारंबार उपस्थित होने वाला शब्द मरजाद एक सामंती प्रत्यय है। होरी और धनिया दोनों इसके शिकार हैं। सोना के विवाह के प्रसंग में दहेज देने को वह *मरजाद* से जोड़ती है। *मरजाद* वास्तव में एक प्रत्यय मात्र नहीं है, इसके पीछे सामंती व्यवस्था के सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों का एक जाल है जिसकी गिरफ्त में होरी जैसा किसान फँसा हुआ है।

सामंती विचारधारा और उसकी जीवन में उपस्थिति को *गोदान* प्रस्तुत करता है। सामंती व्यवस्था के अन्तर्संघर्ष भी यहाँ उपस्थित होते हैं। इस प्रकार *गोदान* प्रत्यक्षतः उस पूरी सामंती व्यवस्था और सोच का एक 'क्रिटीक' है जो कृषक जीवन पर पूरी तरह हावी थी। प्रेमचन्द इसी अर्थ में हिन्दी में कृषक जीवन के सबसे बड़े रचनाकार हैं।

4

बौद्धिक तबके के चित्रण में प्रेमचन्द ने *गोदान* में विशिष्टता दर्शायी है। उपन्यास में उपस्थित पात्रों में ओंकारनाथ सम्पादक, मिस्टर मेहता प्रोफेसर, मालती आधुनिका डाक्टर, चन्द्रप्रकाश खन्ना व्यवसायी, श्याम बिहारी तन्खा वकील, कामिनी खन्ना उर्फ गोविन्दी घरेलू महिला, और मिर्जा खुर्शेद जूते के दूकानदार हैं। ये सभी पात्र होरी की मुख्य कहानी से कटे हुए हैं। प्रारंभ में होरी की राय साहब के यहाँ इन पात्रों से मुलाकात के अतिरिक्त होरी से इन पात्रों का कोई विशेष संपर्क नहीं होता। बाद में गोबर, मिर्जा खुर्शेद और मालती के सम्पर्क में आता है, मगर आगे इन पात्रों का होरी की कथा से कुछ विशेष जुड़ाव नहीं बनता। कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द ने इन पात्रों को अलग से स्थान दिया है, जो निरुद्देश्य कतई नहीं।

गोदान उपन्यास में प्रेमचन्द ने दो विश्व रखे हैं। एक गाँव का संसार है जिसमें सामंती मूल्य जड़ जमाये बैठा है और जहाँ होरी जैसे किसान का जीना मुश्किल है। दूसरी तरफ सुसभ्य बौद्धिकों का जीवन है जहाँ विचार-विमर्श तो बहुत है, आदर्श की बातें हैं, मगर व्यवस्था में कुछ खास नहीं। प्रेमचन्द इस जीवन को थोड़ा दुख, थोड़ा व्यंग्य, और कड़ी आलोचनात्मकता के साथ देखते हैं। देखें तो *गोदान* की दो दुनिया वही हैं जिन्हें हम इधर इण्डिया और भारत कहते हैं।

मिस्टर मेहता, जिन्हें बहुत से आलोचक प्रेमचन्द का प्रतिनिधि पात्र कहते हैं, अन्तर्विरोधों से घिरे हैं। एक तरफ वे कहते हैं कि या तो हम साम्यवादी हैं या नहीं। लेकिन दूसरी तरफ वे समानता के विचार का विरोध भी करते हैं। कभी-कभी तो वे वैचारिक खिलंदड़पन करते लगते हैं, जिसके चलते वे आस्कर वाइल्ड के उपन्यास 'ए पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' के पात्र हेनरी के आसपास आ टिकते हैं। स्त्री के विषय में उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार पुरातनपंथी लगते हैं। ऐसे में उन्हें प्रेमचन्द का प्रवक्ता कैसे माना जा सकता है ?

मालती की आधुनिकता वहाँ कमजोर दिखाई पड़ती है जहाँ एक वनवासिनी के प्रति उसमें ईर्ष्याभाव दिखलाई देता है। इन दोनों पात्रों की अधूरी आधुनिकता प्रेमचन्द के लिए आलोचना का विषय है। मेहता और मालती के प्रेम-प्रसंग की परिणति मालती के ही पक्ष में जाती है जो वैवाहिक सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में अपनी आधुनिकता बरकरार रखती है। बाद के हिन्दी साहित्य में वास्तविक आधुनिकता और छद्म आधुनिकता की बहस चलती है। प्रेमचन्द के लिए यह तथ्य *गोदान* में समालोचना का विषय है।

मिस्टर खन्ना और कामिनी खन्ना उर्फ गोविन्दी के सम्बन्धों में भारतीय समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक विचारधारा स्पष्ट रूप से सामने आती है। यह पितृसत्तात्मकता अपने वर्चस्वी रूप में मिस्टर खन्ना की अपनी पत्नी के प्रति अतिवादिता के रूप में सामने आती है। वे आधुनिका मालती की तरफ आकर्षित होते हैं तो उसके रूप के कारण। समाज में प्रचलित और वर्चस्वी पितृसत्तात्मकता अपने नग्नरूप में सामने आती है। उपन्यास की संरचना में ही इस पितृसत्तात्मकता की आलोचना भी निहित है। आज यह पितृसत्तात्मकता स्त्रीवादियों में आलोचना का विषय है। प्रेमचन्द के यहाँ यह 1936 में ही आलोचना की विषयवस्तु बन गयी थी।

यह एक रोचक प्रश्न हो सकता है कि *गोदान* में कामिनी खन्ना आधे उपन्यास के बाद एकाएक गोविन्दी क्यों हो जाती है ? विचारधारा की दुनिया में इसे संबोधनों में प्रकट होने वाला विचारधारात्मक तत्व कहा जाता है। प्रेमचन्द के यहाँ नामों की यह राजनीति समाज से सीधे आती है और इसके गहरे अर्थ हैं। उदाहरण के लिए होरी, धनिया, गोबर जैसे नामों की तुलना में मिस्टर खन्ना, प्रोफेसर मेहता, मालती जैसे नाम अधिक चमकदार और सम्मानजनक लगेंगे। यह एक तरह का विचारधारात्मक छुद्रीकरण है जो समाज में बहुत समय से चला आ रहा है। इसलिए कामिनी खन्ना का गोविन्दी में बदल जाना अपने विचारधारात्मक निहितार्थ रखता है।

5

गोदान में शहरी जीवन एक बार गोबर के साथ भी प्रवेश करता है। गोबर शहर जाता है : पहली बार अकेले और दूसरी बार झुनिया के साथ। वह खोंचा लगाता है और चीनी मिल में मजदूरी करता है। शहर की परिस्थितियों में वह शराब पीने लगता है और झुनिया से मारपीट करता है। मजदूर राजनीति में उलझकर सीधा-साधा गोबर पिट जाता है। शहर के क्रूर वातावरण में चुहिया जैसा चरित्र ही रौशनी की एक लकीर है।

आधुनिक पूँजीवादी सभ्यता की श्रम को न्याय न दिला पाने की असफलता का संकेत गोबर के शहर प्रवास में मिलता है जहाँ उसकी समस्याएँ कम नहीं होतीं। झुनिया से उसका प्रेम शहरी यथार्थ से टकराकर कसैला हो जाता है। गरीब को न शहर में मुक्ति है न गाँव में। महानगरों में यह सामान्य आदमी का, विशेषकर श्रमिक का विमानवीकरण है। यह एक रोचक तथ्य है कि हिन्दी में इस विषयवस्तु पर आज भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं।

6

स्वातंत्र्योत्तर भारत में कृषि क्षेत्र में हुए तमाम सुधारों के पीछे हम प्रेमचन्द को खड़ा पाते हैं। उदाहरण के लिए जमींदारी उन्मूलन, काश्तकारी सुधार इत्यादि। *गोदान* के पाठ के सिलसिले में इस तथ्य को आलोचकों द्वारा अक्सर भुला दिया जाता है कि होरी की बरबादी का अन्तिम कारण वह ऋण है जिसकी सरकारी, यानी कि कचेहरी के स्तर पर वसूली के लिए उसकी गन्ने की खेती कुर्क की जाती है। इसी के कारण वह मजदूर में बदलता है और अन्त में अकाल कालकवलित हो जाता है। लाला पटेश्वरी और मंगरू साह द्वारा यह कार्य कचेहरी के स्तर पर होता है, जिसे कुर्क अमीन अंजाम देता है। यहाँ प्रेमचन्द सरकारी तंत्र की इस निरपेक्षता की ओर संकेत करते हैं।

इधर बाराबंकी से लेकर पंजाब और दक्षिण भारत में किसानों द्वारा की गयी आत्महत्याएँ इसी ओर संकेत करती हैं कि सरकारी और बैंकिंग के स्तर पर दिए जाने वाले ऋण किसानों की समस्याओं के प्रति निरपेक्ष हैं। प्रेमचन्द अपने निबंधों में किसानों के प्रति मानवीय दृष्टिकोण अपनाने की बात करते हैं। पंजाब के कृषि सम्बन्धी अनुभव यह बताते हैं कि कृषि से निरंतर लाभ की आशा करना ठीक नहीं, कृषकों को अन्ततः संरक्षण की जरूरत पड़ेगी ही।

7

गोदान का एक सामान्य पाठ भी निराशा की ओर ले जाने वाला है। गहराई से उपन्यास को पढ़ने पर यह अँधेरा और गहरा है। उपन्यास के अंत में पात्रों में आए सकारात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाव भी बहुत आशा नहीं बँधाते। वे पात्रों के दुख द्वारा
होने जाने का परिणाम लगते हैं। लेकिन इससे व्यवस्थापरक
भी बदलने की बहुत सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती। शहरी
ने भी बहुत आशाएँ नहीं हैं। राजनीति से मोहभंग
की बुद्धिजीवियों की भूमिका के महत्व की ओर ले
है। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के मंच पर से वे
हैं कि साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल है।
साहित्य को राजनीति के बरक्स रखने के गहरे निहितार्थ

गोदान में बुद्धिजीवी वर्ग से होने वाली निराशा के बाद
लगता है कि प्रेमचन्द के लिए आशा का स्रोत यही वर्ग है
विचारों की उथल-पुथल है। अमृतलाल नागर जी ने कहा
कि प्रेमचन्द सबसे बड़े आशिक थे। निश्चित रूप से
प्रेम में उनकी गहरी निष्ठा ही उन्हें उपन्यास के
आशाजनक बिन्दुओं पर उपन्यास समाप्त करने का
देती है। वर्चस्वी विचारधाराओं के समक्ष प्रेमचन्द का
प्रतिरोध महज गांधीवादी नहीं।

यदि विचार करें तो *गोदान* उपन्यास का महत्व इस कारण
है कि यह किसी एक विचारधारा का प्रतिनिधि उपन्यास
होकर अपने समय की विभिन्न विचारधाराओं की समालोचना
रूप में उपस्थित होता है। साथ ही यह क्रिटीक प्रेमचन्द के
वर्षों में उनकी वैचारिक अवस्थिति को भी उजागर
है। जिन बौद्धिक विमर्शों तक लोग बहुत बाद में पहुँचे,
प्रेमचन्द वहाँ पहले से उपस्थित लगते हैं। संसदीय और
परक राजनीति से मोहभंग वहाँ 1936 के आसपास ही
दिखाई पड़ता है जबकि हिन्दी साहित्य में यह एक प्रमुख स्वर
के रूप में 1950 के बाद ही उभरता है।

गोदान उपन्यास के पाठ की प्रकट आलोचनात्मकता के
पीछे एक विचारधारा कार्यरत है। हम सभी जानते हैं कि
आलोचनात्मकता की ही तरह आलोचनात्मकता भी शून्य की भित्ति
पर सम्भव नहीं। इस आलोचनात्मकता के पीछे सक्रिय
विचारधारा की खोज असम्भव नहीं क्योंकि प्रेमचन्द ने इसके
पीछे बहुत से स्रोत छोड़ रखे हैं—विशेषकर अपने निबंध। यह
एक स्वीकृत तथ्य है कि अपनी आर्यसमाजी पृष्ठभूमि से
निपटकर वे कांग्रेस की राष्ट्रवादी विचारधारा से प्रभावित थे
जिसकी प्रकट अभिव्यक्ति बीच के कालखण्ड में लिखे गये
उनके साहित्य में होती है। पर अन्तिम दौर में प्रेमचन्द की
प्रखर समालोचनात्मकता के लिए जिम्मेदार वह प्रगतिशील
पृष्ठभूमि थी जो वामदृष्टि से प्रभावित थी और जिसने उन्हें
महाजनी सभ्यता जैसे निबंध के लेखन की ओर उन्मुख किया।

विचारधारात्मक अभिव्यक्तियों के पीछे अप्रकट आकांक्षाएँ
कार्यरत होती हैं और उन्हें रेखांकित करने के तर्क सीधे नहीं
प्राप्त होते। *गोदान* में होने वाले सकारात्मक चारित्रिक बदलावों
में हम प्रेमचन्द की आकांक्षाओं को प्रत्यक्षतः फलीभूत होता
पाते हैं। वे प्रेम, विवेक और मानवीय समझदारी की जयकामना
करते हैं। बहुतों के लिए यह एक आदर्शवादी की विशफुल
थिंकिंग लगेगी। लेकिन यह एक लेखक का स्वप्न तो है ही।

इन प्रकट आकांक्षाओं के अतिरिक्त प्रेमचन्द की रचनाओं
में कहीं-कहीं अप्रकट आकांक्षाएँ अवचेतन स्तर पर और
विपरीत ढंग से काम करती हैं। *गोदान* में प्रेमचन्द होरी को
एकाएक ज्वर से पीड़ित दिखाते हैं और उसकी मृत्यु हो जाती
है। लगता है यह मृत्यु ज्वर से न होकर प्रेमचन्द की अंदरूनी
पीड़ा की अभिव्यक्ति है। इस पीड़ा में परोक्ष रूप से एक ऐसी
व्यवस्था की आकांक्षा है जिसमें होरी जैसों का ठीक तरह से
जीना सम्भव हो सके। इसी प्रकार *गबन* में वे जोहरा और रतन
को अकाल मृत्यु का शिकार बना देते हैं। वह दुखद प्रसंग भी
लेखक की इस अवचेतन आकांक्षा की अभिव्यक्ति है कि ऐसी
समाज व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें रतन जैसी विधवाओं और
जोहरा जैसी वेश्याओं को जीने का न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त हो
सके।

इस प्रकार *गोदान* अपने प्रकट औपन्यासिक रूप में
प्रेमचन्द के समय की विचारधाराओं की कड़ी समालोचना है।
लेकिन यह अप्रकट रूप में प्रेमचन्द की अपनी विचारधारात्मक
अवस्थिति की अभिव्यक्ति है जिसमें चेतन और अवचेतन स्तर
पर प्रेमचन्द की आकांक्षाएँ भी सामने आती हैं। ■

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार और व्यवहार

कृष्णमोहन

'गोदान' को फिर से पढ़ते हुए पहली अनुभूति तो यही होती है कि धर्म के नाम पर लोगों को बरगलाकर अपना उल्लू सीधा करने वालों के प्रति प्रेमचन्द की घृणा, व्यंग्य की सान पर चढ़कर और पैनी हो गई है। डा. नामवर सिंह इसे ही उनकी विचारधारा का अंग बन जाना कहते हैं। गांधीवाद के साथ भी प्रेमचन्द के रिश्ते पर चर्चा हुई है। इस संदर्भ में देखें तो गांधी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में धर्म की केन्द्रीय भूमिका की स्थापना के लिए भी याद किए जाते हैं। उन्होंने सदैव धर्म की सकारात्मक सामाजिक भूमिका की खोज की, जबकि प्रेमचन्द ने सम्भवतः अपवादस्वरूप भी ऐसी कोई कोशिश नहीं की। समाज की बहुस्तरीय संरचना में, धर्म, पुनर्जन्म, भाग्य और भगवान जैसे अनेक माध्यमों से सामान्य लोगों को फँसाने के लिए धर्म का मकड़जाल कितनी कुशलता से बुना हुआ है, इसका उद्घाटन प्रेमचन्द को विशेष प्रिय था, और *गोदान* में उन्हें इस कार्य में सर्वाधिक सफलता मिली थी। *गोदान* की लोकप्रियता का यह एक प्रमुख कारण है।

फिर भी, यह एक ऐसा विषय है जिस पर पर्याप्त विचार किया जा चुका है, और सम्भवतः कोई मतभेद भी नहीं है। इसलिए थोड़ा रुककर सोचने पर जो दूसरी बात सामने आती है वह विचारधारा के व्यवहार यानी उसके कलात्मक रूपांतरण से सम्बन्धित है।

गोदान में सम्भवतः पहली बार प्रेमचन्द ने अपने निजी विचारों को बहुत मुखर होने का मौका नहीं दिया है, न किसी पात्र को अपना प्रवक्ता बनाया है। उपन्यास के सभी पात्र अपनी-अपनी परिस्थितियों में क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं और उनके घात-प्रतिघात से ही कथा-परिदृश्य उभरता है। दूसरी बात यह है कि उपन्यास के शुरू से अंत तक विचार और व्यवहार की एकता का प्रश्न उठता रहता है, और इसकी एक प्रमुख विषय-वस्तु के रूप में सामने आता है।

डा. नामवर सिंह ने होरी के सामने, अपने वर्ग की दुर्दशा के बारे में राय साहब के लंबे वक्तव्य पर जैनेन्द्र की आपत्ति का जिक्र किया है। सम्भवतः ऐसी ही आपत्तियों से प्रेरित होकर निर्मल वर्मा ने होरी के रूप में कुछ औपनिवेशिक किसान के चित्रण का तुक्का छोड़ दिया होगा। जहाँ तक मेरी जानकारी है, इन दोनों महानुभावों ने अपनी रचनाओं में ग्रामीण जीवन की अपनी समझ का कोई उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। ज़मींदारों के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी के अभाव में बहुत सम्भव है कि ये उन्हें भी ब्रिटिश नौकरशाही की तर्ज पर 'रिज़र्व' रहने वाला और आम लोगों से यथासम्भव दूरी बनाकर रखने वाला मान बैठे हों जबकि वास्तविकता इसके विपरीत थी। हर तरह के शोषण और उत्पीड़न के बावजूद भारत की

193-बी, सेनानी विहार, प्रतापगढ़-230001 (उ.प्र.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति तो यही होती
लाकर अपना उ
व्यंग्य की सान पर
तंह इसे ही उनकी
पीवाद के साथ
में देखें तो गांधी
भूमिका की स्थापना
धर्म की सकारात्मक
चन्द ने सम्भवत
माज की बहुस्तरीय
जैसे अनेक माध्यमों
मकड़जाल कितनी
न्द को विशेष प्रिय
सफलता मिली थी।
ण है।
र्याप्त विचार किया
है। इसलिए थोड़ा
है वह विचारधारा
सम्बन्धित है।
अपने निजी विचारों
सी पात्र को अपना
अपनी परिस्थितियों
घात से ही कथा-
स के शुरू से अंत
ठता रहता है, और
आता है।
वर्ग की दुर्दशा के
आपत्ति का जिक्र
होकर निर्मल वर्मा
चित्रण का तुलना
न दोनों महानुभावों
ी समझ का कोई
में प्रत्यक्ष जानकारी
श नौकरशाही की
से यथासम्भव दूरी
रता इसके विपरीत
ावजूद भारत की

अनुदायिक ग्राम व्यवस्था में सामंत और रिआया के बीच वैसी दूरी कभी नहीं रही। उपन्यास के आरंभ में ही एक साधारण आसामी से राय साहब को घुल-मिलकर बात करते दिखाकर प्रेमचन्द ग्राम्य जीवन में सदियों से चली आ रही पारस्परिकता का संकेत करते हैं, और लगान के लिए राय साहब की सख्ती देखकर श्रम की कोई गुंजाइश भी नहीं छोड़ते। सोचने की बात यह है कि औपनिवेशिक विचारों से ग्रस्त कौन है, प्रेमचन्द या उनके ये आलोचक।

रहा सवाल इस बात का कि राय साहब अपने विचारों के प्रति सच्चे नहीं हैं, तो यह एक ऐसी समस्या है जिसका सामना उपन्यास के ज्यादातर प्रमुख पात्र समय-समय पर करते हैं। मेहता राय साहब की इसी प्रवृत्ति पर चोट करता हुआ कहता है—

'अगर आपकी धारणा है कि कृषकों के साथ रियायत होनी चाहिए, तो पहले आप खुद शुरू करें—काश्तकारों को सूद नजराने लिए पट्टे लिख दें, बेगार बंद कर दें, इजाफा लगाने को तिलांजलि दे दें, चरावर जमीन छोड़ दें। मुझे उन लोगों से ज़रा भी हमदर्दी नहीं है, जो बातें तो करते हैं सम्पुनिस्टों की-सी, मगर जीवन है रईसों का-सा, उतना ही विलासमय, उतना ही स्वार्थ से भरा हुआ।' (प्रेमचन्द रचनावली, भाग 6, जनवाणी प्रकाशन, पृ. 54)

इसके जवाब में रायसाहब जो कुछ कहते हैं उससे उनकी पूरी विचारधारा के साथ-साथ हमारे कृषक समाज की मूल्य प्रणाली का भी उद्घाटन होता है।

'मैं उस वातावरण में पला हूँ, जहाँ राजा ईश्वर है और जमींदार ईश्वर का मंत्री। मेरे स्वर्गवासी पिता आसामियों पर कितनी दया करते थे कि पाले या सूखे में कभी आधा और कभी पूरा लगान माफ कर देते थे। अपने बखार से अनाज निकालकर आसामियों को खिला देते थे, मगर उसी वक्त तक, जब तक प्रजा उनको सरकार और धर्मावतार कहती रहे, उन्हें अपना देवता समझकर उनकी पूजा करती रहे। प्रजा को पालना उनका सनातन धर्म था, लेकिन अधिकार के नाम पर एक कौड़ी का एक दाँत भी फोड़कर देना न चाहते थे। मैं उसी वातावरण में पला हूँ, और मुझे गर्व है कि मैं व्यवहार में चाहे जो कुछ करूँ, विचारों में उनसे आगे बढ़ गया हूँ और यह मानने लगा हूँ कि जब तक किसानों को यह रियायतें अधिकार के रूप में न मिलेंगी, केवल सद्भावना के आधार पर उनकी दशा सुधर नहीं सकती। स्वेच्छा अगर अपना स्वार्थ छोड़ दे तो क्या कहना है।' (पृ. 55)

सिद्धांत और व्यवहार की एकता के आधुनिक प्रश्न का सामना करते हुए राय साहब ने अपनी सीमा स्पष्ट कर दी। कम से कम इस मामले में उन्हें ईमानदार माना जा सकता है। उसके बाद बारी खुद प्रो. मेहता की आती है जो समानता के सिद्धांत के ही विरोधी हैं। उनका कहना है—

'मैं उस सिद्धांत का समर्थक हूँ कि संसार में छोटे-बड़े हमेशा रहेंगे, और उन्हें हमेशा रहना चाहिए। इसे मिटाने की चेष्टा करना मानव-जाति के सर्वनाश का कारण होगा। मुझमें और आपमें अंतर इतना ही है कि मैं जो कुछ मानता हूँ उस पर चलता हूँ। आप लोग मानते कुछ हैं, करते कुछ हैं।' (पृ. 56)

मेहता सिद्धांत और व्यवहार की एकता का ढोल जोर-जोर से पीटते हैं और कुछ दूर तक उसे निबाहते भी हैं, लेकिन आगे चलकर मिसेज खन्ना की दुखकथा सुनकर विगलित हो जाते हैं और जैसे मालती को उनके रास्ते से हटाने के लिए खुद मालती के सामने प्रेमी का स्वाँग करने को तैयार हो जाते हैं। प्रेमचन्द टिप्पणी करते हैं—

'उन पर नशा-सा छा गया, जैसे बालक काठ के घोड़े पर सवार होकर समझ रहा हो, वह हवा में उड़ रहा है। काम जितना असाध्य है, दूसरी सुधि न रही। अपने सिद्धांतों की कितनी हत्या करनी पड़ेगी, बिल्कुल ख्याल न रहा।' (पृ. 184)

मेहता के घर का बजट ठीक करने के क्रम में भी यह प्रसंग आता है, जब पात्र-अपात्र का ध्यान रखे बिना छात्रों को पैसा देने की उसकी आदत पर मालती उससे बहस करती है और दान-प्रथा को आलसी तथा मुफ्तखोर बनाने वाली प्रथा कहती है। मेहता इस बात पर जब अपनी सहमति जाहिर कर देता है तो वह पूछती है—'तो विचार और व्यवहार में इतना भेद क्यों ?'

मेहता निरुत्तर हो जाते हैं, लेकिन जब उनकी सहमति के मुताबिक कुछ छात्रों की मदद में कटौती हो जाती है तो उन्हें मालती के व्यवहार से निराशा होती है। जाहिर है कि उनकी भावना उनके विचार का साथ नहीं देती। दूसरी तरफ़ मालती उनके मामले में तो उनके विचारों को लागू करती है, लेकिन अपना कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य खुद तय करती है। इसीलिए जब मेहता उससे प्रणय-याचना करते हैं तो वह उच्चतर लक्ष्य के लिए इसे ठुकरा देती है और स्त्री-पुरुष बनकर रहने की अपेक्षा मित्र बनकर, बिना एक दूसरे को आक्रांत किए प्रेमपूर्वक साथ रहने को बेहतर मानती है। इस आदर्श पर मतभेद हो सकता है, लेकिन विचार और व्यवहार की एकता के मालती के लक्ष्य पर उँगली नहीं उठाई जा सकती।

ओंकारनाथ जैसे कमज़ोर पात्र तो मज़ाक में ही अपने घोषित नैतिक विचारों को भूलकर विपरीत आचरण करते हैं और उपहास के पात्र बनते हैं। अपने पद का इस्तेमाल लोगों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ब्लैकमेल करने के लिए करके आसानी से अपनी पोल खोल देते हैं, लेकिन मि. खन्ना को इसके लिए काफ़ी कीमत चुकानी पड़ती है। अग्निकांड में जब उनकी मिल जलकर राख हो जाती है, तब उन्हें यह अहसास होता है–

'आप नहीं जानते मि. मेहता, मैंने अपने सिद्धांतों की कितनी हत्या की है। कितनी रिश्वतें दी हैं, कितनी रिश्वतें ली हैं। किसानों की ईख तौलने के लिए कैसे आदमी रखे, कैसे नकली बाट रखे।' (पृ. 267)

गाँव के सूदखोर, उत्पीड़क पात्रों के सामने यह समस्या खड़ी ही नहीं होती। वे बड़ी आसानी से दीन-धरम की बातें करते हुए दूसरों का गला काटने में लगे रहते हैं। वे सचेत रूप से इन पाखंडी विचारों का इस्तेमाल अपना स्वार्थ साधने के लिए करते हैं। यह पाखंड हमारे समाज में बद्धमूल ऐसी सचाई है, जो प्रायः स्वाधानिक स्थिति की तरह हमारे सामने मौजूद रहती है और प्रतिक्रिया तो दूर, कोई आश्चर्य तक पैदा नहीं करती। इस सचाई के बरक्स देखें तो शहर के इन पात्रों के मन में उठने वाला यत्किंचित द्वंद्व भी एक दृश्यांतर की रचना करता हुआ दीख पड़ेगा। दूसरी अनेक वजहों के साथ यह भी एक वजह है कि *गोदान* में शहर का जीवन न केवल कथा के लिहाज से, बल्कि कलात्मक अन्विति के लिए भी अपरिहार्य है। न जाने कैसे जैनेन्द्र इसे गाँव बनाम शहर की कथा के रूप में पढ़ते हैं। सच तो यह है कि नैतिक और आत्मिक स्तर पर दोनों ही हिस्सों में एक ही मनुष्यता के दर्शन होते हैं।

बहरहाल, विचार और व्यवहार की एकता का सबसे बड़ा उदाहरण होरी प्रस्तुत करता है। उसके व्यक्तित्व की यही विशेषता उसे हमारे साहित्य का एक अविस्मरणीय चरित्र बनाती है। उसके सामाजिक आदर्श अत्यन्त पिछड़े हुए हैं। भाग्यवाद और कर्म-पुनर्जन्म समेत वह हमारे समाज की लगभग हर सामंती बुराई में विश्वास करता है। इसके अलावा परिवार, जात-बिरादरी, धरम-मरजाद के सदियों पुराने आदर्शों में उसका भरोसा इतना प्रबल है कि वह हर अपने-पराये के ताने-उलाहने का शिकार होकर भी प्राणपण से उनकी रक्षा करता है। यथार्थ के धरातल पर वह शुरू से अंत तक एक हारी हुई लड़ाई लड़ता है और इसे बखूबी जानता भी है। इसीलिए उपन्यास में कहीं भी योद्धा की तरह लड़ता हुआ नहीं दीखता। उसका वास्तविक संग्राम भारतीय किसान के उस सामुदायिक महास्वप्न को बचाने और यथार्थ में उतार लाने का है जो औपनिवेशिक पूँजीवाद के आघात से छिन्न-भिन्न हो चुका है। प्रेमचन्द की कला की यह महान सफलता है कि वे ऐसे असम्भव और विराट स्वप्न से संचालित, दुर्घर्ष संग्राम में उतरे हुए उस महायोद्धा को हाड़-मांस का ऐसा पुतला बनाने में कामयाब रहे, जिसकी व्यावहारिक दुर्बलता और निरीहता को लोगों ने देखी, लेकिन उनकी शक्ति, उसका जीवट और हौसला प्रायः नहीं देख पाए। दुनियावी स्तर पर हुई उसकी पराजय से ग़मगीन तो हुए, लेकिन अपनी विजय पर उसका उल्लास नहीं देख सके। क़दम-क़दम पर चोट खाने और फिर उठकर उसी तत्परता से, अपनी ज़द्दोजहद में लग जाने वाला होरी जब रूपा के ब्याह के बाद एक बार फिर गाय खरीदने के लिए मजदूर के रूप में दिन-रात एक कर रहा था कि उसका वही सहोदर भाई हीरा उससे आ मिला, जिसने उसकी गाय को ज़हर दे दिया था।

होरी के मन में प्राथमिकताओं का क्रम बिलकुल साफ़ है। गाय का महत्व चाहे जो हो, लेकिन उसको लेकर भाई पर कोई आँच नहीं आनी चाहिए। यहाँ तक कि अपने जवान बेटे की झूठी कसम भी अगर भाई को बचाने में सहायक बनती है तो उसमें भी कोई हर्ज नहीं। अपना परिवार भूखों मरे तो बला से, लेकिन भाई के बेसहारा परिवार को नहीं छोड़ा जा सकता। वही वर्षों का भूला, माँ जाया भाई जब आकर उसका आभार व्यक्त करता है, तो होरी का जीवन चरितार्थ हो जाता है। प्रेमचन्द के शब्दों में–

'होरी प्रसन्न था। जीवन के सारे संकट, सारी निराशाएँ मानो उसके चरणों पर लोट रही थीं। कौन कहता है, जीवन-संग्राम में वह हारा है। यह उल्लास, यह गर्व, यह पुलक क्या हार के लक्षण हैं ? इन्हीं घरों में उसकी विजय है। उसके टूटे-फूटे अस्त्र उसकी विजय-पताकाएँ हैं। उसकी छाती फूल उठी है। मुख पर तेज आ गया है। हीरा की कृतज्ञता में उसके जीवन की सारी सफलता मूर्तिमान हो गई है।' (पृ. 326)

एक क्षण को ही सही, लेकिन इस परम उपलब्धि को पा लेने के बाद होरी के लिए जीवन में कुछ बाकी नहीं बचा था। अब उसकी मृत्यु अपरिहार्य थी। जीवन में पहली बार वह 'निर्द्वन्द्व' हुआ था। मौत आई और उसके साथ एक बार फिर धर्म के ठेकेदार गिद्धों की तरह आ जुटे। धनिया ने बीच में उनका 'गोदान' करके उनसे पीछा छुड़ाया। उसकी भूमिका होरी के पूरक और उसकी सहधर्मिणी की थी। जहाँ होरी अपने कर्त्तव्य से विचलित दिखा, चाहे वह झुनिया को घर में रखने का मामला हो या सोना की शादी में खर्च करने का, धनिया ने उसे राह दिखाई। जहाँ वह मज़बूत दिखता था, धनिया की व्यवहार-बुद्धि जाग उठती थी और उससे थोड़ा बहुत लड़खड़ाता यह उसे संतुलित कर देती थी।

अंत में, उपन्यास के नाम के बारे में दो शब्द। होरी की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लघु में बीस आने की छोटी-सी राशि से हुए 'गोदान' की घटना को याद दिलाने के कारण यह नाम कुछ विद्वानों को अनुचित लगता है। लघुमानव अच्छा लगता है, लघु घटना अच्छी नहीं लगती। वे यह भूल जाते हैं कि *गोदान* का केवल नाम हुआ था, गाय वहाँ नहीं थी। हाँ, गाय की अभिलाषा थी, जिसे मन में ही लिए होरी विदा हो चुका था। होरी का आत्मिक स्वप्न सफल हो गया था, लेकिन उसकी एकमात्र दुनियावी चाहत अधूरी रह गई थी। प्रेमचन्द के कलाकार को यह मंजूर नहीं था। वे जानते थे कि होरी के आदर्शों की पराजय निश्चित है, इसलिए वहाँ उसका समर्थन कदापि नहीं करते। अपनी महाकाव्यात्मक लड़ाई लड़ने के लिए वे होरी को अकेला छोड़ देते हैं। लेकिन उसकी यह छोटी-सी भौतिक अभिलाषा तो पूरी हो ही सकती है। इसकी राह उन्होंने रूपा के माध्यम से निकाली। अपनी समृद्ध ससुराल जाकर रूपा होरी के लिए एक गाय खाना कर देती है। वह गाय अभी रास्ते में ही थी। अगर वह पहुँच गई होती तो धनिया को सचमुच का गोदान करना पड़ता और पौरोहित्य की सफलता का संकेत मिलता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। बीस आने से लेखक ने उसी पुरोहिती व्यवस्था को ठेंगा दिखाया है। और एक वैकल्पिक सम्भावना की रचना की है जिसमें धनिया, गोबर, झुनिया और मंगल, गाँव या शहर में कहीं भी, सुखपूर्वक रह सकेंगे और उनके पास एक गाय भी होगी। उपन्यास के नाम में इन सम्भावनाओं की भी अनुगूँज है, इसलिए यह नाम पूरी तरह से सार्थक है।

रामविलास शर्मा ने मेहता को उपन्यास में प्रेमचन्द के विचारों का प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र माना है। इस मान्यता का तनिक परीक्षण आवश्यक है। मेहता के विचारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मानव-जीवन को प्रकृति से पूर्ण सामंजस्य की अवस्था में देखना चाहता है। यहाँ तक कि प्रकृति से संघर्ष करते हुए मनुष्य ने जिस सभ्यता-संस्कृति का निर्माण किया है, वह उसे भी नकारने की हद तक चला जाता है। महिलाओं द्वारा स्थापित स्त्रियों की संस्था में भाषण देते हुए वह कहता है :

'महात्माओं और धर्म-प्रवर्तकों ने संसार में रक्त की नदियाँ बहाने और वैमनस्य की आग भड़काने के सिवा और क्या किया, योद्धाओं ने भाइयों की गर्दनें काटने के सिवा और क्या यादगार छोड़ी, राजनीतिज्ञों की निशानी अब केवल लुप्त सभ्यताओं के खंडहर रह गए हैं, और आविष्कारकों ने मनुष्य को मशीन का गुलाम बना देने के सिवा और क्या समस्या हल की ? पुरुषों की इस रची हुई संस्कृति में शांति कहाँ है ? सहयोग कहाँ है ?' (पृ. 151)

कहने-सुनने में ऐसा लगता है कि मेहता संस्कृति की पितृसत्तात्मकता का विरोध कर रहा है, लेकिन वास्तव में इसकी समस्त मानवीय, वैज्ञानिक और न्यूनतम लोकतांत्रिक उपलब्धियों का भी विरोधी है। वह आगे कहता है :

'क्या आप समझती हैं, वोटों से मानव-जाति का उद्धार होगा, या दफ्तरों में और अदालतों में जबान और कलम चलाने से ? इन नकली, अप्राकृतिक, विनाशकारी अधिकारों के लिए आप वह अधिकार छोड़ देना चाहती हैं, जो आपको प्रकृति ने दिए हैं ? वोट नए युग का मायाजाल है, मरीचिका है, कलंक है, धोखा है, उसके चक्कर में पड़कर आप न इधर की होंगी, न उधर की।' (पृ. 152)

मेहता के इन विचारों का उत्स उसके प्रकृति-प्रेम में है। इसके अतिरेक में वह प्राणजगत के नियमों को मानवजाति पर लागू करना चाहता है। पुरुष-स्त्री के सम्बन्ध को वह नर-मादा संबंध से अधिक कुछ भी मानने को तैयार नहीं है। प्रेम में किसी संभावित प्रतिद्वंद्वी का सामना होने पर अपना कर्तव्य उसके सामने बिलकुल स्पष्ट है :

'नहीं मालती, इस विषय में मैं पूरा पशु हूँ और उस पर लज्जित होने का कोई कारण नहीं देखता।...प्रेम सीधी-सादी गऊ नहीं, खूंखार शेर है, जो अपने शिकार पर किसी की आँख भी नहीं पड़ने देता।' (पृ. 286)

दूसरे शब्दों में मेहता मानव-समाज में जंगल का कानून लागू करना चाहता है। इसीलिए वह मनुष्यों के बीच असमानता की वकालत करता है। व्यवहार में इसका एकमात्र अर्थ है 'योग्यतम की उत्तरजीविता' या 'सरवाइवल ऑव द फिटेस्ट'। सारी दुनिया के नस्लवादी फासिस्टों का यह प्रिय सिद्धांत है। प्रेमचन्द को इन विचारों का प्रवक्ता मानना तो सम्भव नहीं है, ज्यादा सम्भावना इसी बात की है कि बताने वाला खुद कहीं गहरे, इन विचारों से प्रभावित हो। विचारों की वास्तविक कसौटी व्यवहार होता है। भारत की साम्प्रदायिक-फासिस्ट शक्तियों के लिए प्रेमचन्द आज भी घृणा के पात्र हैं, लेकिन रामविलास जी के बारे में यही बात नहीं कही जा सकती। अपने ख़ास किस्म के मार्क्सवाद के बावजूद, या कौन जाने उसके चलते ही, उन्होंने हिंदुत्ववादियों में जो लोकप्रियता अर्जित की है, उसकी छानबीन का अवकाश तो फिलहाल यहाँ नहीं है, लेकिन मेहता के बारे में उनका आकलन निस्संदेह ग़लत है। ■

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'स्वराज' और 'सोराज' के संघर्ष का जीवंत दस्तावेज़

श्रीराम त्रिपाठी

कबीर की तरह प्रेमचन्द भी ऐतिहासिक परिस्थितियों की उपज थे। मार्क्सवादी चिंतन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखता है। समाज में वर्ग हैं तो उनका संघर्ष भी होगा और उनकी जड़ें भी अपनी परम्परा से जुड़ी होंगी। भौतिक परिस्थितियाँ उनके रूप को निर्धारित करेंगी। हमें उन कारणों की गहराई से छानबीन करनी होगी, जिनके कारण प्रेमचन्द को 'गोदान' और 'गऊदान' लिखना पड़ा। 'गोदान' देवनागरी में है और तत्सम प्रधान है, इसलिए हिन्दी है। और 'गऊदान' फ़ारसी लिपि में है और अरबी-फ़ारसी शब्दों से युक्त है, इसलिए उर्दू है। 'गोदान' हिन्दुओं को सम्बोधित है और 'गऊदान' मुसलमानों को। इस तरह की सोच छिछली ही नहीं, अत्यंत भयानक और चिंतनीय है। रचनात्मक भाषा का निर्माण लेखक की जीवन-व्यवहार की भाषा, विषय और श्रोता की भाषा के संघर्ष और संयोजन से होता है। कबीर की भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया, तुलसी की भाषा को परिनिष्ठ अवधी और जायसी की भाषा को ग्रामीण अवधी। जबकि जायसी की भाषा बोलचाल की अवधी, कबीर की भाषा बोलचाल की हिन्दी और तुलसी की भाषा तत्समीकृत अवधी है। भारतीय समाज में तत्समीकरण और तद्भवीकरण का संघर्ष सतत चलता रहा है। गाँव में रहनेवाला गँवार और नगर में रहनेवाला नागरिक। सत्ताधारी नागर संस्कृति ने गँवार का मतलब मूर्ख, कुरूप, असभ्य दिया और संस्कृत का मतलब, बुद्धिमान, सुन्दर और सभ्य। चूँकि सत्ताधारी वर्ग के विचार ज़्यादा प्रभावशाली होते हैं, इसलिए गँवार के मतलब का सामान्यीकरण हो गया, मूर्ख, कुरूप, असभ्य। समय-समय पर चेतनासम्पन्न रचनाकार इस सामान्यीकरण से टकराते रहे। तोड़ने की कोशिश करते रहे। कबीर अकारण ही ज्ञान पर आश्रित शक्ति को नहीं अपनाते। विश्वास की जगह पर ज्ञान की स्थापना नहीं करते। सत्ताधारी वर्ग बाह्य रूप से जितना ही फैलता है, अंदर से उतना ही संकुचित होता जाता है। इसीलिए वह समाज को टुकड़ों में करके देखता है, जबकि कर्मशील जनता जोड़कर देखती है। वह बाहरी रूप और अंदरूनी रूप दोनों में समान फैलती है। इसीलिए सघन होती है। कबीर और प्रेमचन्द इसी के नुमाइंदे हैं। अकारण ही दोनों हिन्दू-मुस्लिमों, दोनों में समान रूप से नहीं अपनाये जाते। कबीर के आधुनिक रूप हैं प्रेमचन्द। सही मायने में कबीर के वारिस। क्या नहीं लगता कि ज्ञानाश्रयी शाखा मध्यकाल में यथार्थवादी पद्धति थी और सगुण भक्ति छायावाद की मध्यकालीन पद्धति। गँवई संस्कृति की पहचान है, विषम से विषम परिस्थितियों में भी संघर्ष। पलायन के लिए वहाँ न तो समय है, न जगह।

ए-67, तेजेन्द्र प्रकाश-1, खोडियार नगर, अहमदाबाद-382 350 (गुज.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक नागरिक संस्कृति की विशेषता है। प्रेमचन्द, इसी 'देहाती' संस्कृति की रक्षा करने के साथ-साथ उसे विकसित करने में जुटे हैं। 'गोदान' तत्समीकरण का परिणाम है और 'गऊदान' तद्भवीकरण का। ऐसा क्यों है ? यह एक अत्यंत गम्भीर और ज़रूरी प्रश्न है, मगर यहाँ इसका जवाब ढूँढ़ने का न अवकाश और अवसर, दोनों नहीं है। बावजूद इसके इतना कहे बिना नहीं रहा जाता कि तत्समीकरण ने सबसे ज़्यादा लहूलुहान प्रेमचन्द और कबीर को किया। 'गऊदान' और 'गोदान' की युद्धभूमि में तद्भव और तत्सम का संघर्ष है। यह संघर्ष ही वास्तविक आज़ादी की राह है।

मुझे 'स्वाधीनता' शब्द में ही तत्समीकरण की बू आती है इसलिए इस शब्द के प्रयोग से मैं बचना चाहूँगा। क्योंकि 'स्वाधीनता-आन्दोलन का अर्थ अंग्रेज के झंडे को हिन्दुस्तान के बाहर करना समझा जाता था।' ऐसा समझनेवाले तत्समी संस्कृति के पोषक थे। 'गोदान' में तद्भवी संस्कृति की स्थापना की कोशिश है। साहित्य में विचार और दर्शन संस्कृति के माध्यम से व्यक्त होते हैं। मैं यहाँ 'गोदान' को नहीं, 'गऊदान' को आधार बनाकर अपनी बात पेश कर रहा हूँ। 'गबन' में देवीदीन रमानाथ से कहता है, ''इन बड़े-बड़े आदमियों के किये कुछ न होगा। इन्हें बस रोना आता है, छोकरियों की भाँति हिचकने के सिवा इनसे और कुछ नहीं हो सकता। बड़े-बड़े देशभगतों को बिना विलायती सराब के चैन नहीं आता। उनके घर में जाकर देखो, तो एक भी देसी चीज न मिलेगी।...सब के सब भोग-विलास में अंधे हो रहे हैं, छोटे भी और बड़े भी। उस पर दावा यह है कि देस का उद्धार करेंगे। अरे तुम क्या देस का उद्धार करोगे ! पहले अपना तो उद्धार कर लो। गरीबों को लूटकर बिलायत का घर भरना तुम्हारा काम है।'' वह आगे कहता है, ''एक साहब बहादुर खड़े होकर खूब उछले-कूदे, जब वह नीचे आये, तब मैंने उनसे पूछा—साहब, सच बताओ, जब तुम सुराज का नाम लेते हो, तो उसका कौन-सा रूप तुम्हारी आँखों के सामने आता है ? तुम भी बड़ी-बड़ी तलब लोगे; तुम भी अंग्रेजों की तरह बँगलों में रहोगे, पहाड़ों की हवा खाओगे, अंग्रेजी ठाठ बनाये घूमोगे, इस सुराज से देस का क्या कल्यान होगा। तुम्हारी और तुम्हारे भाई-बंदों की जिन्दगी भले आराम और ठाठ से गुजरे पर देस का तो कोई भला न होगा।'' रमा भद्र-समाज पर यह आक्षेप न सुन सका। आखिर वह भी तो भद्र-समाज का ही एक अंग था। क्या यह बताने की ज़रूरत है कि देवीदीन 'स्वराज' नहीं चाहता, 'सोराज' चाहता है, क्योंकि वह तद्भवी संस्कृति का पक्षधर है और बड़े तथा भद्र-समाज के लोग 'स्वराज' चाहते हैं, जो तत्समी संस्कृति के पोषक हैं। इनके प्रभाव के कारण कुछ छोटे यानी, तद्भवी भी इनके साथ हो लिये हैं। 'देस का तो भला न होगा।' फिर किसका भला होगा ? बिदेस का।

भोजपुरी में 'स्वभाव' और 'सुभाव' का 'सोभाव', 'सुहागिन' का 'सोहागिन', 'सुपारी' का 'सोपारी', 'गुड़ाई' का 'गोड़ाई', 'सुहाती' का 'सोहाती', 'स्वनाम' और 'सुनाम' का 'सोनाम', 'स्वच्छंद' और 'सुछंद' का 'सोछंद' हो जाता है। फ़ारसी में 'स्वराज', 'सुराज' और 'सोराज' एक ही जैसा लिखा जाता है। देबीदीन को 'सोराज' चाहिए, जिसमें 'स्व' और 'सु' दोनों निहित हैं। अपना होने के साथ-साथ सुन्दर। जबकि तत्समियों को अपना राज चाहिए, जो परायों यानी अंग्रेज़ों के द्वारा छिन गया था। इस वक़्त वे पराधीन थे, इसलिए अब वे स्वाधीन होना चाहते थे। तुलसी ने इसी का प्रयोग किया है, ''पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'' 'फ्रीडम' का अर्थ 'स्वतंत्रता' करनेवाले तत्समी लोग हैं। 'इंडिपेंडेंस' का अर्थ 'स्वाधीनता' ज़रूर है। 'फ्रीडम' का तद्भवी अर्थ तो 'सोराज' ही होगा। *गोदान* में 'स्वराज' और 'सोराज' का संघर्ष है, जिसमें तात्कालिक रूप से 'स्वराज' विजयी होता है। जैसा कि 15 अगस्त 1947 को हम इंडिपेंडेंट हो गये और तब से इस तारीख़ को इंडिपेंडेंस डे के रूप में मनाते हैं और जिसमें तद्भवी लोगों की कोई रुचि नहीं होती। 'गऊदान' के अंतिम हिस्से में गोबर प्रौढ़ होकर सामने आता है। 'स्व' और 'नगरीय' की चकाचौंध से वह प्रभावित होकर तत्समियों से भी ज़्यादा तत्समी हो जाता है। मगर अंत में वह सब कुछ समझ जाता है, तब ही तो उसका व्यवहार बदल जाता है—''इसमें पाप की तो कोई बात नहीं है, दादा ! हाँ, रामसेवक के रुपये अदा कर देना चाहिए। और तुम करते क्या। मैं किसी लायक नहीं, तुम्हारी खेती में उपज नहीं। उधार कहीं मिल नहीं सकता। महीने भर के लिए भी घर में अनाज नहीं। ऐसी हालत में तुम कर ही क्या सकते थे ?...औरों की तरह तुमने भी दूसरों का गला दबाया होता, उनका रुपया मारा होता, तो तुम भी भलेमानुस होते। तुमने कभी धरम को नहीं छोड़ा। ये उसी का दंड है। तुम्हारी जगह मैं होता, तो या तो जेल में होता, या फाँसी पा गया होता। मुझसे ये कभी न सहा जाता कि मैं कमा-कमाकर सबका घर भरूँ और अपने आप बाल-बच्चों के साथ मुँह में जाली लगाये बैठा रहूँ।''

इसके तुरन्त पहले 'होरी की हालत रोज़ ब रोज़ अबतर होती जा रही थी। ज़िन्दगी की जद्दोजहद में उसे हमेशा शिकस्त मिली, मगर उसने कभी हिम्मत न हारी। हर शिकस्त गोया उसे क़िस्मत से लड़ने की ताक़त दे देती थी। मगर अब वह उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आख़िरी हालत में पहुँच गया था, जब उसमें खुद एतिमादी भी न रह गयी थी। अगर वह अपने धरम पर अटल रह सकता, तो भी कुछ अश्कशुई हो जाती।'' उसका धरम था निर्माण करना, रचना। ''मुसीबत की चीज़ लेना पाप है। मुसीबत में पड़े हुए को मदद करना। इस पर वह अटल नहीं रहा। तत्समी संस्कृति की मदद लिया। 'उसने नीयत भी बिगाड़ी, अधर्म भी कमाया, कोई ऐसी बुराई न थी, जिसमें वह न पड़ा हो। फिर भी ज़िन्दगी की कोई ख़्वाहिश पूरी न हुई और अच्छे दिन सराब की तरह दूर ही होते चले गये। यहाँ तक कि अब उसे धोका भी न रह गया था।'' ''भाग में सुख बदा होता, तो लड़का क्यों हाथ से बेहाथ हो जाता ?'' अगली पीढ़ी का 'बेहाथ' होना उसे निराश कर देता है। भविष्य तारीक़ी में गर्क़ है। मगर अगली पीढ़ी को जैसे ही मज़बूत और समझदार पाता है, वैसे ही उसकी निराशा ख़त्म हो जाती है। ''होरी खुश था। ज़िन्दगी की सारी तकलीफ़ें और सारी मायूसियाँ उसके क़दमों पर लोट रही थीं। कौन कहता है कि ज़िन्दगी की जद्दोजहद में वह हारा है ? यह खुशी, यह गुरूर, यह हौसला क्या हार की अलामत है ? ऐसी ही शिकस्तों में उसकी फ़तह है। उसके टूटे हुए हथियार उसकी फ़तह के झंडे हैं। उसका सीना फूल उठा है और चेहरे पर चमक आ गयी है।'' इसलिए कि हीरा, उसका भाई, जिसने पलायन किया था, तत्समियों में मिल गया था, उसका बेटा गोबर, जो बेहाथ हो गया था, दोनों लौट आये हैं। बेटा ज़्यादा समझदार होकर लौटा है। इनका लौट आना ''उसके बखारे में सौ दो सौ मन ग़ल्ला भरा होता, उसकी हाँडी में हज़ार-पाँच सौ रुपये गड़े होते'' से ज़्यादा खुशी देनेवाला है। वह फिर से काम में लग जाता है। अबकी बार गाय ख़रीदना रुतबा बढ़ाने के लिए नहीं है। इसीलिए नीयत नहीं बिगाड़ी जा रही। मंगल, जो उसके बेटे का बेटा है, इस संघर्ष का नवजात सिपाही, उसे मज़बूत बनाने के लिए वह दिन-रात मेहनत करता है। दिन में रास्ता बनाता है और रात में धनिया के साथ सुतली कातता है। निर्माण और सृजन ही उसका धरम है। अनायास कबीर याद आ जाते हैं। मंगल उसकी ख़्वाहिश है कि तद्भव का भविष्य में मंगलमय हो। निर्माण और सृजन की संस्कृति मंगलमय हो। धनिया, उसकी लड़ाई में बराबर की साथी रही है। होरी, अबकी बार दो ख़्वाहिशों को पूरा करने के लिए जी-जान से जुटा था। जान चली गयी, मगर इच्छाएँ पूरी नहीं हुईं। पहली इच्छा थी, रामसेवक के रुपये लौटाना और दूसरी इच्छा थी, मंगल के लिए गाय लाना।

होरी मर रहा है। ऐसे में हीरा कहता है, ''भाभी दिल कड़ा करो, गऊदान करा दो, दादा चले।'' धनिया ने उसकी तरफ़ हिक़ारत से देखा, ''क्यों ? इसलिए कि गऊ का हत्यारा गऊदान की नसीहत देता है।'' तत्समीकरण की प्रवृत्ति निर्माण की न होकर ध्वंस की होती है। यह तो 'रोटी खानेवाले' से भी ख़तरनाक है, जो रोटी से खेलता है। ''अब वह जी को कितना कड़ा करे ?'' अपने सामने अपने शौहर को मरते देख रही है, उसे बचा नहीं पा रही। ऐसी ही स्थितियों में उसका शौहर उसकी मदद करता था। अब वह अकेली है। ''अपने शौहर के साथ उसका जो धरम है, क्या यह उसको बताना पड़ेगा ?'' नहीं ! तो फिर शौहर के साथ उसका क्या धरम है ? साथी की अधूरी साधों को पूरी करना, जिसकी साधना में वह उसके साथ जुटी थी। वह अधूरी साध है, मंगल के लिए गाय लाना, मगर यहाँ तो 'गऊदान' की बात कही जा रही है। सुतली कात रहे थे दोनों। भविष्य का सूत तैयार कर रहे थे। ''धनिया मशीन की तरह उठी। आज जो सुतली बेची थी, उसके बीस आने पैसे लायी और होरी के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े हुए दातादीन से बोली—महाराज ! घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गऊदान है।'' 'गऊ' की जगह पर 'पैसा'। क्या यह 'गऊदान' है ? सामंतवाद में तो मरनेवाले से गऊ का दान लेती थी और पूँजीवादी व्यवस्था पैसे का दान। ये पैसे गऊ लेने के लिए थे, यही होरी की अंतिम साध थी, जिसे उसकी साध के ख़िलाफ़ ख़र्च करना पड़ा। अकेली धनिया की परवशता है। ऐसा करने के बाद भला वह कैसे होश में रह सकती थी ''और ग़श खाकर गिर पड़ी।'' उसका गश खाकर गिरना पाठक को झिंझोड़ देता है। यह अंत 'पूँजीवाद' की क्रूरता को बेनक़ाब कर देता है। सामंतवाद से भी घृणित और क्रूर है यह व्यवस्था।

आइए, फिर चलें 'सोराज' पर और देखें कि धनिया इसे कैसे समझा रही है, प्रसंग है, गाय के मरने के बाद दारोगा गुंडासिंह की गुंडई। ''...सूद-बियाज, डेढ़ी-सवाई, नजर-भेंट, घूस-रिसवत जैसे हो गरीबों को लूटो। इस पर सोराज चाहिए। जहल से सोराज न मिलेगा। सोराज मिलेगा, धरम से, नेयाय से।'' 'जहल' का मतलब होता है, बेवकूफ़ी, अज्ञान, नासमझी, असभ्यता। यानी दातादीन, पटेशोरी, झिंगुरी सिंह, नोखेराम और गुंडासिंह बेवकूफ़ हैं। नामसमझ हैं। असभ्य हैं। तत्समी संस्कृति चालाकी को जीवनमूल्य मानती है, जबकि तद्भवी संस्कृत ज्ञान और समझ को। सहकार और मदद को। तत्समी संस्कृति कितनी आकर्षक है कि जिन पूर्वजों से हमने देखना-बोलना, समझना सीखा, वे भी इसका शिकार होने से नहीं बचे। डॉ. रामविलास शर्मा को उदाहरण के रूप में लेते हुए उनके दो कथन प्रस्तुत हैं—''होरी और गोबर की बातचीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक पिछड़े हुए किसान और अपने अधिकारों को पहचाननेवाले आगे बढ़े हुए एक नये किसान की चेतना की टक्कर है। यह टक्कर दिखाकर प्रेमचन्द सूचित करते हैं कि राय साहब की मीठी बोली का असर सभी किसानों पर एक-सा नहीं पड़ता और नई पीढ़ी उनकी हकीकत पहचानने लगी है।'' (प्रेमचन्द और उनका युग, पृष्ठ 101) इस टक्कर के पहले के इस वाक्य पर, ग़ौर फ़रमाइए—''इस वक़्त यही ख़्यालात होरी के दिल में भी आ रहे थे। मगर लड़के के बाग़ियाना जज़्बे को दबाना जरूरी था।'' यह नादान गोबर है। किशोर गोबर है। तद्भवी संस्कृति की मिठास से अनजान। ''गोबर, साँवला, लम्बा इकहरे बदन का नौजवान था, जिसे इस काम से दिलचस्पी न मालूम होती थी। चेहरे पर खुशी की जगह बेइत्मिनानी और बेदिली थी। वह इसलिए काम में लगा हुआ था कि वह दिखाना चाहता था कि उसे खाने-पीने की कुछ फ़िकर नहीं है।'' ऐसी कच्ची और दिखावेबाज उम्र के युवक में शर्माजी को 'नई पीढ़ी' आशा के रूप में दिखती है। जो गोबर सोच रहा है, वही होरी भी सोच रहा है। फ़र्क़ केवल इतना है कि होरी अनुभवी किसान है और गोबर अनुभव और जिम्मेदारी दोनों से हीन है। इसलिए 'बाग़ियाना जज़्बे' को दबाने के लिए अपने ख़यालात के उलट बोलता है। आप कह सकते हैं कि किसान और होरी की यह कमज़ोरी है, मगर मैं इसे उसकी 'पुख़्तगी' मानता हूँ। ज़मीन उसकी बेड़ी बन गयी है, वह ज़मीन जिस पर उसका अस्तित्व टिका है।'' ''होरी गँवार था।...वह बुज़दिल न था। मरना और मारना दोनों ही जानता था।'' उसे धनुष यज्ञ में माली का रोल दिया गया था, मगर वह सिपाही का रोल निभाता है। ''होरी उनके सीने पर चढ़ बैठा।'' जवाँमर्दी के इम्तहान में सारे 'भलेमानुस फेल हुए थे, केवल गँवार होरी पास हुआ था।'

दूसरा उदाहरण है, ''गोदान में होरी-धनिया, जो हिन्दी में बोलते हैं, वह उनकी गाँव की बोली के बहुत नज़दीक है। उनकी भाषा के इस रूप में 'गोदान' में यथार्थवाद निखरता है। उसका अनुवाद उर्दू में कर दीजिए, तुरत यथार्थवाद फीका पड़ जायेगा।'' (प्रेमचन्द, पृष्ठ 29) साफ़ है कि शर्माजी ने 'गऊदान' को नहीं पढ़ा है। उर्दू के बारे में उनकी भी मान्यता सामान्यीकृत है। वे आगे लिखते हैं, ''जितना ही उनमें यथार्थवाद का विकास होगा, उनमें किसान और मजदूर सहज भाव से बोलेंगे, उतना ही उनके बीच का फासला कम होगा और कुछ समय बाद जैसे बोलचाल की भाषा एक है, वैसे ही साहित्य में हमारी जातीय भाषा एक होगी।'' (वही) इस कथन में मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धतिं से भटकाव को साफ़ देखा जा सकता है। जब 'बोलचाल की भाषा एक है', तब 'उनके बीच का फासला' का सवाल ही कहाँ उठता है ? 'साहित्य में हमारी जातीय भाषा एक' न होने के कारण क्या हैं ? वही तत्समी संस्कृति, जिसे अंग्रेज़ों की भी मदद मिल गयी। हिन्दू-मुसलमान दोनों में तत्समी संस्कृति के पोषक थे। उन्होंने आपस में बँटवारा कर लिया। मारी गयी कर्मशील जनता। घायल हुई तद्भवी संस्कृति, जो जोड़ती और जुड़ती है। सहअस्तित्व के बिना जो जी ही नहीं सकती। क्योंकि निर्माण और सृजन, धारण करने की क्षमता और जीवन के लिए ज़रूरी माहौल के बिना मुमकिन ही नहीं। इसीलिए एक रचनाकार सांस्कृतिक जीवन प्रस्तुत करता है। ऐसा वह उस जीवन को जज़्ब किये बिना नहीं कर सकता। रचना में चरित्र क्रमशः विकसित होते हैं, अपनी भूल-ग़लतियों से सबक़ लेते हुए। 'गऊदान' में डॉ. मेहता 'स्वराज' से 'सोराज' की ओर गति करते हैं। ऐसे ही चरित्र हैं, मिर्ज़ा खुरशीद और मिस मालती। डॉ. मेहता फ़िलास्फ़र हैं। वे कहते हैं, ''जिसे दुनिया रंज कहती है, वही शायर के लिए राहत है। दौलत और शोहरत, हुस्न और ताक़त, इल्म और अक़्ल, ये बरकतें दुनिया को ख़्वाह कितना ही फ़रेफ़्ता कर लें, मगर शायर के लिए उनमें ज़रा भी कशिश नहीं है। उसकी कशिश व मसर्रत की चीज़ तो मरी हुई उम्मीदें, मिटी हुई यादगारें और टूटे दिलों के आँसू हैं। जिस दिन इन चीज़ों से उसे मोहब्बत न रहेगी, उस दिन वह शायर न रह जायेगा। फ़लसफ़ी ज़िन्दगी के इन भेदों से सिर्फ़ खेलता है, मगर शायर इनमें जज़्ब हो जाता है।'' जो जज़्ब हो सकता है, वही जज़्ब कर सकता है। धरती जज़्ब हो सकती है, इसीलिए जज़्ब करती है। धरती, औरत और रचनाकार इसी अर्थ में समान हैं। देस की आज़ादी में अंग्रेज़ ही बाधक न थे, तत्समी भी बाधक थे। अगर कबीर और प्रेमचन्द के नज़रिये से देखें, तो भक्ति और तत्सम एक-दूसरे के धुर विरोधी हैं। भक्ति का मतलब है एकात्म हो जाना। यह एकता मन और जिस्म की है, कार्य और व्यक्ति की है। एकात्म की प्रक्रिया तद्भवीकरण की प्रक्रिया है, सृजन की प्रक्रिया है। आज़ाद होने का मतलब है एक हो जाना। बाधक का मतलब है, दूसरा। एकात्म हुए बिना बाधा दूर नहीं होती। हर निर्माण इंसान को और आज़ाद करता है। क्रिया से एकात्म हो जाना ही सबसे ज़्यादा सुन्दर है। ऐसा इसलिए है कि उसी समय वह सचमुच का आज़ाद होता है। कबीर का पूरा संघर्ष कर्मशीलों को तत्समी संस्कृति से मुक्त कराना और कर्म की संस्कृति की स्थापना था। 'गऊदान' में भी यही होता है। भोला तत्सम में रँग गया है। तब ही तो गोबर से कहता है, ''होरी से कहो कि अब बैठकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम राम जपें।'' जबकि होरी कर्मशील है। तद्भव है। इसीलिए ''राम राम जपकर वह जी भी तो नहीं सकता। उसे तो फावड़ा और कुदाल चाहिए। राम के नाम की माला फेरकर उसके दिल को सुकून न होगा।'' मिलाएँ गांधी के 'रामराज्य' से। गांधी की आज़ादी की कल्पना 'रामराज्य' है, जिसका आधार तुलसी का ज्ञानविरोधी विश्वास है, जबकि प्रेमचन्द की आज़ादी की कल्पना कर्मशील संस्कृति की स्थापना है जिसके मूल में समझ है, चालाकी नहीं।

ज्यों-ज्यों होरी की हालत अबतर होती जाती है, त्यों-त्यों राय साहब की हालत अबतर होती जाती है। होरी की एक भी ख़्वाहिश पूरी नहीं हुई, जबकि ''राय साहब का सितारा बुलंद था। उनके तीनों मंसूबे पूरे हो गये थे।'' कैसे ? चालाकी से। मगर अंदर से और भी कमज़ोर और दुखी हो गये हैं। उपन्यास में उनका ज़िक्र इकत्तीसवें अध्याय के इस वाक्य से समाप्त होता है, ''यही उनकी सबसे बड़ी शिकस्त थी।'' छत्तीसवें अध्याय में होरी की मौत पर 'गऊदान' ख़त्म होता है। होरी की मौत कितनी शानदार है। निर्माण करते हुए उसकी मौत होती है। गोबर, अब इस लायक हो गया है कि उसके अधूरे कार्य को पूरा करेगा। होरी को प्रमाण मिल गया है। जबकि राय साहब मरे नहीं हैं, ज़िन्दा हैं। कैसी ज़िन्दगी है उनकी ? आइए देखिए—''मुश्किल यह थी कि इबादत और रियाज़त में भी उन्हें शान्ति न मिलती थी। वह मोह को छोड़ना चाहते थे, मगर मोह उन्हें छोड़ता न था और इस कशमकश में पड़कर उन्हें ज़िल्लत, अफ़सोस और इज़्तराब से छुटकारा न मिलता था और जब दिल में सुकून नहीं तो जिस्म कैसे ठीक रहता ? सेहत क़ायम रखने की तदबीर करने पर भी एक न एक रोग लगा रहता था। रसोई में सभी तरह के लज़ीज़ खाने पकते थे, मगर उनकी तक़दीर में तो वही मूँग की दाल और फुलके थे।'' इसी को देसी भाषा में 'घुरुच-घुरुच कर मरना' कहते हैं। बेटे और बेटी के रहते हुए भी उनका निरवंस हो गया, कोई वारिस न रहा, जो उनके द्वारा कमाए हुए को सहेजता। अधूरे कार्यों और इच्छाओं को पूरा करनेवाले की तो बात ही कहाँ ? राय साहब 'स्वराज' पाकर भी सुखी हुए ? नहीं। सुखी तो कर्मशील ही हो सकता है, तद्भव ही हो सकता है, तत्सम नहीं। चालाकी से धन मिल सकता है, बाहरी सत्ता मिल सकती है, मगर सुख नहीं। होरी हारकर भी जीत गया और राय साहब जीतकर भी हार गये। होरी की संस्कृति का वारिस है, जबकि राय साहब की संस्कृति का नहीं।

इस प्रकार 'गऊदान' में 'स्वराज' और 'सोराज' का जीवंत संघर्ष है। यह संघर्ष अत्यंत जटिल और बहुआयामी है। अक्सर हम अपनी और अपने राष्ट्र की बदहाली का ठीकरा अंग्रेज़ों पर फोड़ते हैं। एक रचनाकार में एक ममतामयी और समझदार माँ होती है, जो अपनी संतान में एक भी ख़ामी नहीं रहने देना चाहती। उसे निर्दोष और मज़बूत बनाने की हर मुमकिन कोशिश करती है। ठीक प्रेमचन्द भी यही करते हैं, क्योंकि उनकी संतानों में ही आलस, निकम्मापन और बेदरकारी कुंडली जमाए बैठी है जो तत्समियों की चीज़ है। इसलिए अपनी संतानों में से इन बुराइयों को न केवल ख़त्म करना है, बल्कि कर्मशील बनाना है। कर्मशीलता ही इंसान को मज़बूत और सुखी बनाती है। चालाकी नहीं, समझ ही इंसान को सचमुच की आज़ादी दिलाएगी। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिल्म उद्योग में प्रेमचन्द

सव्यसाची भट्टाचार्य

यह अनुसन्धानपरक आलेख अपने मूल रूप में 'कंटेम्परेरी इंडिया' के पहले खंड में जनवरी-मार्च 2002 में प्रकाशित हुआ था। सवाक् फिल्म निर्माण के प्रारम्भिक काल में बम्बई के सिने उद्योग से प्रेमचन्द को एक आमन्त्रण मिला। जैनेन्द्र से इस पर परामर्श माँगते हुए उन्होंने यह भी बताया, "मुझे तो कोई हर्ज नहीं मालूम होता, अगर वेतन सात-आठ सौ मिले। साल-दो साल करके चला आऊँगा। मगर मैंने अभी जवाब नहीं दिया है। उसके दो तार आ चुके हैं। प्रसाद जी की सलाह है आप बम्बई न जाएँ। तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरी जी कहते हैं जरूर जाइए, और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है, चलो।" बहरहाल आगे जो भी हुआ, उसका ब्योरा 'कलम का सिपाही' के चौंतीसवें अध्याय में 538 पृष्ठ से 558 पृष्ठों में अमृतराय ने दिया है। किन्तु यह अपर्याप्त विवरण है। सव्यसाची भट्टाचार्य के इस आलेख में अद्यतन खोजबीन और सामग्री के आधार पर विश्लेषण किया गया है। हिन्दी पाठक समुदाय के लिए यह सामग्री उपलब्ध नहीं रही है, अतः इसे प्रस्तुत किया जा रहा है :

बाम्बे क्रॉनिकल नामक दैनिक अखबार में अगस्त 1934 में एक छोटी-सी खबर छपी। आज उस खबर में लोगों की रुचि हो सकती है, लेकिन उस समय फिल्मी दुनिया के एक मामूली संवाददाता की वह चलती रिपोर्ट ही मानी गई।

'अजन्ता सिनेटोन ने अब यह तय किया है कि भविष्य में समसामयिक विषयों पर फिल्में बनाएगा। उसकी इच्छा है कि फिल्म दर्शकों में जो शिक्षित और अशिक्षित हैं उन दोनों तक कोई-न-कोई सामाजिक सन्देश पहुँचाया जाए। इसके लिए...कम्पनी ने मुंशी प्रेमचन्द को रखा है जो मशहूर हिन्दी उपन्यासकार हैं। इसलिए भविष्य में अजन्ता की सारी फिल्मों की कहानियाँ प्रेमचन्द लिखित होंगी।'[1]

अगस्त 1934 में 'बोलनेवाली फिल्में' नई चीज थीं। पहली भारतीय सवाक फिल्म 'आलमआरा' बस तीन साल पहले ही मार्च 1931 में रिलीज हुई थी। जब भारत में पहली मूक फिल्म, डी.जी. फाल्के की 'राजा हरिश्चन्द्र' (मई 1913), बनी थी तब जनाब धनपतराय श्रीवास्तव अभी लेखक मुंशी प्रेमचन्द के रूप में मशहूर होना शुरू ही हुए थे। जब सवाक फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ तब तक साहित्यिक जगत में वे स्थापित हो चुके थे। एक विशेष संयोग के चलते सम्भवतः अनिच्छापूर्वक वे सवाक फिल्म निर्माण की दुनिया में आए। वे बनारस से साहित्यिक पत्रिका निकालते थे।

समाज विज्ञान संस्थान, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-67

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रिका निकालने में लगातार पैसा लगाना पड़ता था। जब यह खर्च उनकी आमदनी से लगातार अधिक होता गया तभी अजन्ता सिनेटोन कम्पनी के मालिक श्री भवनानी ने एक फायदेमन्द प्रस्ताव किया। प्रेमचन्द की कुछेक जीवनियों में फिल्मी दुनिया के साथ उनकी टकराहट का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इन वर्णनों में मुख्य जोर इस पर रहता है कि कैसे उन्होंने स्वयं द्वारा स्थापित साहित्यिक पत्रिका को जिन्दा रखने के लिए बहादुराना संघर्ष किया।[2] बहरहाल, कुछ अन्य पहलुओं पर भी ध्यान देना जरूरी है, जो अब तक अनाविष्कृत सामग्री के आलोक में उभर आए हैं। यह सामग्री सरकारी संग्रहालयों, उस समय के अखबारों आदि में सुरक्षित है। जिन पहलुओं पर खासकर ध्यान देना चाहिए, वे हैं : प्रेमचन्द ने मिल मजदूरों की जिन्दगी और उनके संघर्ष के बारे में जिस फिल्म की कहानी लिखी उसका ऐतिहासिक सन्दर्भ, इस फिल्म को किस तरह उद्योग जगत ने दबाया, और इसके कारण इस सृजनात्मक लेखक को फिल्म उद्योग से कैसा मोहभंग हुआ। घटना की अवधि बहुत छोटी है—प्रेमचन्द 21 मई 1934 से 4 अप्रैल 1935 तक बम्बई रहे और फिल्मों के लिए लेखन किया। इस संक्षिप्त अनुभव से प्रेमचन्द को यकीन हो गया कि "सिनेमा में किसी सुधार की उम्मीद करना बेकार है। यह धन्धा शराब विक्रेताओं जैसे पैसेवालों के हाथ में है।"[3] इसका दूसरा प्रमाण 26 दिसम्बर 1934 को "धनपतराय, बी.ए., 168 सारस्वत सदन, दादर" से अपने दोस्त इन्दरनाथ मदान को लिखी चिट्ठी से मिलता है : "साहित्यिक आदमी के लिए सिनेमा में कोई जगह नहीं है। मैं इस लाइन में आया क्योंकि मुझे लगा कि पैसे रुपए की तंगी दूर होगी और आर्थिक आजादी हासिल होगी लेकिन अब मुझे लग रहा है कि वह सब भ्रम था। मैं साहित्य की दुनिया में वापस लौट रहा हूँ।"[4]

टॉम्स गुतिसरिज एलिया ने एक किताब में 1988 में लिखा था :

'शुरू के दिनों में यथार्थ की गतिशील छवियों को पकड़ने और दिखानेवाली मशीन का आविष्कार बस ऐसा ही था जैसे मेलों-ठेलों में बिकनेवाले अनगढ़ खिलौने। इससे दर्शक अपनी जगह से हिले बगैर सुदूर जगहों की यात्रा कर लेते थे। जल्द ही यह खिलौना मेलों-ठेलों से ऊपर उठ गया लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि इसकी हैसियत बढ़ गई। इसका विकास वास्तविकता के प्रदर्शन उद्योग में हुआ और इसने ऐसे व्यापारी का भारी पैमाने पर उत्पादन शुरू किया जो दुनिया के हरेक कोने में अपनी सत्ता को विस्तारित करने के इच्छुक पूँजीवाद के दबदबे वाले समाज की आकांक्षाओं को प्रोत्साहित करता था और उसकी रुचियों को सन्तुष्ट करता था। शुरू से ही सिनेमा का विकास दो रास्तों पर हुआ : एक, यथार्थ के कुछ पहलुओं की 'सच्ची' तस्वीर उतारना और दूसरा, जादुई कल्पना के पीछे लोगों को भगाना। हमेशा से फिल्म इन्हीं दोनों ध्रुवों के बीच झूलती है : सच्चा दस्तावेज और काल्पनिक तस्वीर।'[5]

उपर्युक्त अंश में एलिया ने सारतः उस समस्या का संकेत कर दिया है जो प्रेमचन्द के जीवन के इस दौर का केन्द्र-बिन्दु है और फिल्म उद्योग के इतिहास का विस्मृत अध्याय भी। यह घटना सिनेमा के औद्योगिक स्वरूप और फिल्म निर्माण में सृजनात्मकता की टकराहट को व्यक्त करती है। इस घटना पर मेरा ध्यान 1980 दशक के शुरुआती दिनों में गया था जब मैं बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में बम्बई के मजदूर वर्ग पर शोध कर रहा था। मेरा शोध संग्रहालय के दस्तावेजों और तदयुगीन प्रकाशित सामग्री तक सीमित था; चूँकि जिस फिल्म की पटकथा प्रेमचन्द ने लिखी थी वह श्रम और पूँजी के आपसी सम्बन्ध पर थी और 1928-29 में बम्बई की व्यापक मिल हड़तालों के तुरन्त बाद बनी थी इसलिए मैंने इस किस्म की तलाश की।[6] सत्यजित राय, फिरोज रंगूनबाला और पुणे स्थित फिल्म आर्काइव के सहयोग के बावजूद मैं फिल्म ढूँढ़ने में कामयाब नहीं हो सका। मेरी जानकारी के मुताबिक अब भी फिल्म मिली नहीं है।

फिल्मी दुनिया में प्रेमचन्द के दुस्साहसिक प्रयास का महत्वपूर्ण पहलू फिल्म के विषय का चुनाव था। जिस फिल्म की पटकथा उन्होंने लिखी उसका नाम अलग-अलग जगहों पर *मिल या मजदूर* के बतौर उल्लिखित है। फिल्म का मजदूर नाम प्रेमचन्द के बेटे अमृतराय ने दिया है; लेकिन बाम्बे क्रॉनिकल में फिल्म का नाम *मिल* बताया गया है। इसी नाम से उसे जाना जाता है। 'क्रॉनिकल की रिपोर्ट के मुताबिक इस फिल्म का निर्देशन श्री भवनानी कर रहे थे; "दृश्य योजना का निर्देशन प्रेमचन्द करेंगे," और कि "यह फिल्म आदर्श युक्त होगी"। "इसका आदर्श बम्बई के संकटग्रस्त मिल उद्योग में मालिकों और मजदूरों के बीच बेहतर समझदारी की स्थापना होगा।"

बहरहाल जो भी हो, प्रेमचन्द ने लेखक के बतौर अपनी प्रतिभा जिस फिल्म में लगाई वह प्रतिबन्धित हो गई और निर्माता कम्पनी अजन्ता सिनेटोन दिवालिया हो गई। वर्तमान स्थिति यह है कि फिल्म गुमशुदा है। इस फिल्म के बारे में हम केवल उनकी चिट्ठियों, उनके मित्रों और पंजाब (इस सूबे में फिल्म प्रतिबन्धित नहीं थी) के अखबारों में छपी समीक्षाओं के जरिए ही अन्दाजा लगा सकते हैं। हमें उस फिल्म के एक अभिनेता, ललित कुमार, का संस्मरण मिला जो प्रेमचन्द की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुति पर फिल्म में लिए गए थे। "यह पहली (फिल्म) थी जिसमें ईमानदारी के साथ और जोरदार तरीके से एक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्या को पेश किया गया था—मिल मालिक और मिल मजदूर के बीच लगातार चलनेवाला टकराव। प्रेमचन्द ने अपना हृदय और अपनी आत्मा इसमें डाल दी थी...। मिल मालिकों की अर्थलिप्सा, निर्दयता और घमंड उसी तरह साफ-साफ उभरे थे जैसे मजदूरों, उनकी पत्नियों और बच्चों की प्रचंड दरिद्रता...।"[8]

यहाँ एक सवाल खड़ा होता है। प्रेमचन्द की कहानी और दृश्यांकन के मामले में आजादी की ? अमृतराय की मानक जीवनी के अनुसार कहानी फिल्म कम्पनी ने दी थी और प्रेमचन्द ने महज संवाद और दृश्य लिखे थे;[9] रॉबर्ट ओ. स्वान ने प्रेमचन्द की साहित्यिक जीवनी[10] में इसी बात की पुष्टि की है। हो सकता है उस जमाने के आम चलन के मुताबिक यह सही हो और सम्भव है प्रेमचन्द ने इस फिल्म के अलावा कुछ अन्य फिल्मों में भी सहयोग किया होगा। बहरहाल, ललित कुमार के भागीदार सर्वेक्षक के बतौर *द मिल* नामक फिल्म के बारे में प्रकाशित संस्मरण से ऐसा लगता है कि फिल्म की विषयवस्तु के चुनाव में प्रेमचन्द की भूमिका महत्वपूर्ण थी। कहानी की रूपरेखा का ही पता चलता है।[11] एक उदार मिल मालिक की मृत्यु के बाद उसकी बेटी और बेटे में झगड़ा शुरू हो जाता है। बेटा अय्याश और पियक्कड़ है, जबकि बेटी आदर्शवादी महिला है और मिल मजदूरों की देखरेख करती है। वह अपनी सुरक्षा में उस आदमी को रखती है जो अत्यधिक शोषक प्रबन्धकों के खिलाफ मिल मजदूरों के आन्दोलन का नेतृत्व करता है। उसका भाई प्रबन्धन का मुखिया है। वह हिंसा की शुरुआत करता है और अन्ततः मिल बन्द हो जाती है। (यहाँ तक कि फिल्म की कहानी अविश्वसनीय नहीं है। इस कहानी की प्रेरणा अहमदाबाद मिलों की बहुप्रचारित घटनाओं से मिली होगी। विगत दशक में साराभाई परिवार की एक बेटी प्रबन्धन के विरुद्ध मजदूरों को संरक्षण देती बताई गई थी। उसे गांधी का नैतिक समर्थन प्राप्त था)।[12] नायिका मजदूरों के सहयोग से मिल को दुबारा चालू करती है और अन्ततः वह मजदूर-नेता से शादी कर लेती है ! कहना मुश्किल है कि ऐसी कहानी किस हद तक प्रेमचन्द की हो सकती है। विषयवस्तु का चुनाव तो उन्हीं का प्रतीत होता है (इस समय वे *गोदान* उपन्यास लिख रहे थे जिसमें मजदूर जीवन के कारुणिक चित्र हैं) लेकिन हम उन्हें फिल्म के समापन के लिए जिम्मेदार नहीं ठहरा सकते। दरअसल, सम्भव है इसी कारण उन्होंने सिनेमा और साहित्य पर कटूक्तियाँ की होंगी, यह भी सम्भव है कि फिल्म कम्पनी के निरन्तर हस्तक्षेप के कारण वे मनपसन्द कहानी न लिख पाए हों।

इस बात के कुछ संकेत तो मिलते हैं कि प्रेमचन्द फिल्म के लिए लेखन की समस्या से बौद्धिक तौर पर जूझ रहे थे। बम्बई से प्रेमचन्द ने इन्दर मोहन को लिखा था : "मैंने कभी गम्भीरतापूर्वक नाटक नहीं लिखा। एकाध प्लॉट तो मेरे दिमाग में आए थे जिनके बारे में मैंने सोचा था कि नाटक में इनका बेहतर उपयोग होगा। लेकिन नाटक का मंचन न हो तो उसका महत्व खत्म हो जाता है। भारत में खासकर हिन्दी और उर्दू में कोई अच्छा रंगमंच नहीं है। रंगमंच के नाम पर बस पारसी थिएटर है जिसके नाम से ही मुझे हौल आता है।"[13] बहरहाल, फिल्म में प्रेमचन्द का मन लगने का एक और प्रमाण है : उन्होंने इस फिल्म में एक छोटी-सी भूमिका निभाने की हामी भरी थी। भूमिका किसी ग्रामीण वृद्ध की थी।[14] (इस वजह से फिल्म का न मिलना अतिशय दुखद है)। इसके अतिरिक्त जब वे मिल मजदूरों की जिन्दगी पर इस फिल्म की कहानी लिख रहे थे, उसी समय बाहर की शूटिंग के दौरान छुट्टी होने पर *गोदान* उपन्यास भी लिख रहे थे। इस उपन्यास में भी उन्होंने इस विषय को उठाया है।[15] कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि शुरू में जनाब भवनानी की फिल्म कम्पनी ने प्रेमचन्द को सामाजिक रूप से प्रासंगिक फिल्में लिखने के काम में लगाया था। इसी तरह की खबर भी छपी थी। बाद में समय बीतने पर निर्माताओं ने फिल्म में हेरफेर करने के लिए इस कदर दखलन्दाज़ी शुरू की कि प्रेमचन्द को गहन असन्तुष्टि हो गई। उन्होंने अपने मित्र जैनेन्द्र को लिखा : "(फिल्म में) मेरा तो कुछ बचा ही नहीं रह गया है।"[16] कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि सारतः फिल्म श्रम और पूँजी के टकराव पर केन्द्रित थी और मालिक वर्ग की आलोचना करती थी। इसका सर्वोत्तम प्रमाण यह है कि मालिकों ने मिल या मजदूर नामक इस फिल्म को दबाने और प्रतिबन्धित कराने के लिए सारी कोशिशें कीं।

ऐसा करने में वे सफल कैसे हो सके ? बम्बई मिल मालिक एसोसिएशन के अध्यक्ष स्वयं सेंसर बोर्ड में थे। उन्होंने पश्चिमी भारत में फिल्म पर प्रतिबन्ध की गारंटी कर दी। संयुक्त प्रान्त, अर्थात वर्तमान उत्तर प्रदेश, तथा सेंट्रल प्राविंसेज में भी फिल्म प्रतिबन्धित कर दी गई। कारण यह था कि कानपुर और नागपुर जैसे औद्योगिक क्षेत्र इन्हीं प्रान्तों में थे। कुछ दिनों तक लाहौर में यह चली, लेकिन वहाँ भी इसके प्रदर्शन की अनुमति रद्द कर दी गई। एक सूचना के मुताबिक, 1923 के आल इंडिया कांग्रेस कमिटी के बम्बई अधिवेशन में इसके प्रदर्शन की योजना थी, लेकिन प्रदर्शन की अनुमति रद्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाने से इस योजना पर पानी फिर गया।[17]

सेंसर प्रणाली की महत्वपूर्ण भूमिका पर ध्यान देने की जरूरत है। प्रेमचन्द की फिल्म प्रभुत्वशाली व्यावसायिक हितों के विरुद्ध थी। उनकी इस फिल्म पर जो प्रतिक्रिया थी वह अत्यन्त प्रभावी कार्यवाही में सेंसरशिप सम्बन्धी भारत की ब्रिटिश सरकार के कानूनों में प्रदत्त निर्णय प्रक्रिया के कारण ही बदल सकी। 1919 में संशोधित 1918 के इंडियन सिनेमाटोग्राफ ऐक्ट में प्रान्तीय सरकारों को बोर्ड ऑफ सेंसर गठित करने की इजाजत थी। (इस कानून के तहत इन प्रान्तीय बोर्डों में से किसी एक द्वारा जारी प्रमाणपत्र भारत के सभी हिस्सों के लिए वैध था। अगर कोई अन्य प्रान्तीय बोर्ड अपने सेंसरशिप के अधिकारों का प्रयोग करते हुए इस प्रमाणपत्र को रद्द कर दे तो बात दूसरी होती। इसी वजह से कोई फिल्म बम्बई में प्रतिबन्धित हो सकती थी, लेकिन बंगाल या पंजाब में उसका प्रदर्शन कानूनी था)। 1918 का कानून प्रथम विश्वयुद्ध के कारण लागू हुआ था। मई 1918 में लन्दन से भारत के गृह सचिव ने चिट्ठी लिखकर युद्धकालीन प्रचार के सम्बन्ध में उपाय करने की चिन्ता जाहिर की थी; उसी समय गठबन्धन की सेनाओं की ओर से थोड़ा बहुत प्रचार भारत में शुरू हुआ अर्थात युद्ध सम्बन्धी ब्रिटिश फिल्मों का प्रदर्शन।[18] उस समय भारतीय नौकरशाह जनमत बनाने में फिल्म माध्यम के उपयोग के प्रति खास जागरूक नहीं थे। उदाहरण के लिए सेंट्रल इंटेलिजेंस डिपार्टमेंट के तत्कालीन निदेशक ने लिखा कि "इन चीजों पर बहुत ध्यान देने की जरूरत नहीं है।"[19] कुछेक साल पहले के "सिनेमाई मनोरंजन पर नियन्त्रण सम्बन्धी" उपाय मुख्य रूप से सुरक्षा नियमों, प्रदर्शन की शर्तों आदि पर केन्द्रित थे।[20] 1918 के कानून में संशोधन करके 1919 का XIIIवाँ कानून बनाया गया। इसकी अधिसूचना गृहसचिव ने ('युद्ध' शीर्षक शाखा में उपाय के बतौर) जारी की। इसके तहत प्रान्तीय सेंसर बोर्डों के गठन में "सैनिक हितों" का एक प्रतिनिधि, "शैक्षिक हितों" का एक सदस्य और इसके अलावे "गैर सरकारी सदस्य" शामिल किए जाने थे।[21] ब्रिटेन की संसद में एक सवाल पूछा गया था कि क्या सिनेमाटोग्राफिज ऐक्ट का इस्तेमाल फिल्मों को सेंसर करने के लिए हो रहा है। भारत की सरकार ने इसका उत्तर देते हुए कहा था कि इस सम्बन्ध में आवश्यक इन्तजाम मई 1920 से लागू हो जाएँगे।[22] 1920 के बाद बम्बई सेंसर बोर्ड में पुलिस कमिश्नर, कस्टम कलक्टर, भारतीय शिक्षा सेवा का एक सदस्य थे। ये तीनों अधिकारी थे जो आम तौर पर यूरोपीय ही होते थे। इसके अलावा तीन अन्य गैर यूरोपीय, गैर सरकारी सदस्य थे। 1934 में टाइम्स ऑफ इंडिया में छपा : "वैसे तो किसी भी विषय या प्रस्तुति के तरीके पर कोई खास प्रतिबन्ध नहीं है। बस यह है कि बोर्ड द्वारा निर्धारित मर्यादा के नियमों का उल्लंघन न हो।"[23] 1927-28 की भारतीय सिनेमाटोग्राफ कमिटी ने बोर्ड ऑफ सेंसर की अपार शक्ति का उल्लेख किया था, क्योंकि बहुत कुछ कानून के तहत सेंसर बोर्ड के "विवेक" पर छोड़ दिया गया था।

इन्हीं परिस्थितियों में बम्बई की सेंसर बोर्ड के एक सदस्य जीजी भाई ने प्रेमचन्द द्वारा मिल हड़ताल पर लिखी गई फिल्म का गला घोंटने में सफलता पाई। ये सज्जन बम्बई मिल मालिक एसोसिएशन के भी अध्यक्ष थे।[24] 1928-29 में दो आम हड़तालें हो चुकी थीं। उसके बाद इस विषय पर फिल्म काफी खतरनाक हो सकती थी।

1930 के दशक के मध्य में बम्बई का व्यवसायी वर्ग ऐसी फिल्म के प्रभाव को लेकर काफी संवेदनशील था। क्योंकि व्यवसायी क्षेत्र का मुख्य उद्योग, सूती उद्योग, संकट में था। 1928-29 की मिल हड़ताल के दौरान मजदूरों की चेतना में काफी बढ़ोत्तरी आई थी।[25] हड़ताल के कम्युनिस्ट नेताओं, एस.ए. डांगे, बी.टी. रणदिवे और अन्य लोगों, की मेरठ षड्यन्त्र में गिरफ्तारी और उन पर मुकदमा चलाने से भी बम्बई के मिल मजदूरों के विक्षोभ को नियन्त्रित नहीं किया जा सका था। खासकर 1934 में जब *द मिल* में श्रम और पूँजी के बीच टकराव की कहानी फिल्माई जा रही थी तब अहमदाबाद में यह टकराव चरम पर था। दिसम्बर 1934 में अखबारों में खबर छपी कि अहमदाबाद में मिल-मालिक एसोसिएशन और लेबर एसोसिएशन के बीच बातचीत टूट गई है। एसोसिएटेड प्रेस ने खबर दी "पता चला है कि मिल-मालिक एसोसिएशन ने गत रात्रि लेबर एसोसिएशन द्वारा आम हड़ताल की घोषणा के मद्देनजर परिस्थिति से निपटने के लिए एक युद्ध समिति का गठन किया गया है।"[26] यही पृष्ठभूमि थी जिनमें पश्चिमी भारत के व्यवसायी वर्ग ने प्रेमचन्द की फिल्म की विषयवस्तु पर प्रतिकूल प्रतिक्रिया जाहिर की। अगर फिल्म माध्यम के कारण व्यावसायिक हितों पर चोट पड़ती दिखाई पड़े तो इस माध्यम का गला घोंटना आवश्यक हो जाता है।

अगर हम 1930 दशक के मध्य की आर्थिक स्थितियों के सन्दर्भ में न देखें तो 1934 में प्रेमचन्द के हस्तक्षेप के महत्व और व्यवसायी वर्ग की प्रतिक्रिया को ठीक से नहीं समझ सकेंगे। 1929-30 में शुरू हुई विश्वव्यापी मन्दी का असर खत्म नहीं हुआ था। जरूरत भर मजदूर रखने और बाकी की छँटनी का काम सूती वस्त्र उद्योग में जारी था। टैरिफ बोर्ड रिपोर्ट के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ाधिक बम्बई की सभी मिलों ने 1932 में मजदूरी की रकम ...17 से 20 प्रतिशत की कमी कर दी। खासकर बुनाई विभाग ...मशीनों की संख्या बढ़ा दी गई, एक मजदूर कई मशीनें ...लाना था। 1930 से 1933 तक की अवधि में 100 करघों ...के लिए आवश्यक मजदूरों की संख्या बम्बई की मिलों ने 94 ...घटाकर 61 कर दी।[27] मजदूरों और काम की शिफ्टों में ...टौती के बावजूद कुछ मिलें बन्द हो गईं; खासकर करीमभाई ...मूह की अनेक मिलें 1933-34 में बन्द हो गईं। एस.डी. ...लेकर के अनुमान के मुताबिक 61,000 मजदूरों का रोजगार ...छिन गया।[28] 1931 से 1934 के दौरान मजदूरी में कटौती का ...असर 42 मिलों के मजदूरों पर पड़ा। फलस्वरूप मजदूरों के ...विरोध की घटनाएँ तेजी से बढ़ीं; हड़ताल या तालाबन्दी के ...फलस्वरूप 1932 में 19 लाख मानव कार्य दिवसों की क्षति हुई ...थी, 1933 में यह संख्या बढ़कर 22 लाख हो गई और 1934 ...में 48 लाख। इसका विशेष प्रभाव सूती मिलों पर पड़ा : ...शोलापुर में फरवरी से मई 1934 तक हड़ताल रही, नागपुर ...में मई से जुलाई 1934 तक तथा इसी समय बम्बई में 1934 ...की मशहूर हड़ताल हुई, जिसमें 90,000 मिल मजदूर शामिल ...थे। इन हड़तालों को न सिर्फ लाल झंडे की गिरनी कामगार ...यूनियन के क्रान्तिकारी सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट नेताओं का ...समर्थन हासिल था बल्कि एन.एन. जोशी और आर.आर. ...बाखले जैसे बुजुर्ग "वामपन्थी" नेताओं की भी इनमें प्रत्यक्ष ...भागीदारी रही।[29] अहमदाबाद के मिल उद्योग में आम हड़ताल ...इसलिए नहीं हो सकी क्योंकि मजदूर महाजन यूनियन गांधी ...द्वारा स्थापित समझौता-वार्ता के नियमों से बँधी हुई थी; मिल ...मालिक एसोसिएशन के साथ अनन्तकाल तक चली दीर्घकालीन ...समझौता-वार्ता के फलस्वरूप छँटनी और कुछेक बन्दिशों के ...साथ मजदूरी में कटौती की शर्त के साथ समझौता हुआ। इसके ...लिए अहमदाबाद के मजदूरों के नाम गांधी के पत्र के अनुमोदन ...की जरूरत पड़ी जिसमें गांधी ने मजदूरों से कहा कि "मिल ...मालिकों ने अपनी पूँजी लगाई है, आपकी पूँजी आपकी मेहनत ...है। इनमें से कोई भी दूसरे के बगैर बेकार है।"[30] 1934 के ...अन्तिम हफ्तों में ही यह समझौता सम्पन्न हो सका।

इसीलिए सन् 1934 में प्रेमचन्द ने फिल्म की जो विषयवस्तु चुनी वह तात्कालिक रूप से प्रासंगिक थी—इतना अधिक प्रासंगिक कि इसे मिल मालिकों ने खतरनाक माना। ऐसा लगता है कि उस समय दर्शकों का एक वर्ग ऐसा था जो सामाजिक रूप से प्रासंगिक विषयों का स्वागत करता था। उदाहरण के लिए, ट्रिब्यून में खबर छपी थी कि दिसम्बर 1934 में लाहौर में मोशन पिक्चर सोसाइटी की बैठक में कई वक्ताओं ने कहा कि फिल्म माध्यम में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति होनी चाहिए और इसे पौराणिक कथाओं तक महदूद नहीं रहना चाहिए।[31] टाइम्स टॉफ इंडिया में सम्पादकीय[32] छपा कि "सिनेमा न केवल सांस्कृतिक बल्कि उन सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को भी उठा सकता है कि जिन्हें किसी अन्य माध्यम के जरिए प्रस्तुत करना बेहद मुश्किल है...।" आम तौर पर सामाजिक प्रासंगिकता सम्बन्धी संवेदना में बढ़ोत्तरी के साथ इसकी प्रतिक्रियास्वरूप समाज की प्रभुतासम्पन्न शक्तियों के बीच इस माध्यम को नियन्त्रित करने की सजगता भी बढ़ती है। मिल मालिकों द्वारा हस्तक्षेप करके *मिल* नामक इस फिल्म को प्रतिबन्धित कराना ऐसे नियन्त्रण का सर्वोत्तम उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त, प्रेमचन्द जैसे लोग फिल्म उद्योग में निर्णय लेने के मामले में हाशिए पर थे। अजन्ता सिनेटोन कम्पनी ने दिसम्बर 1934 में घोषित किया कि *द मिल* फिल्म ने उत्तर भारत में काफी मुनाफा बटोरा है; और कि "मुंशी प्रेमचन्द अजन्ता की ओर से 1935 में बननेवाली फिल्मों की कहानी लिखने में व्यस्त हैं।"[33] आगामी फिल्में कौन-सी थीं ? निर्माणाधीन तीन फिल्मों में से एक सांगीतिक फिल्म "दर्दे दिल" थी जिसकी पृष्ठभूमि में समरकन्द था; दूसरी फिल्म "मेसोपोटामिया पर कोई प्रहसन" थी जिसका नाम "आजादी के दीवाने" था; तीसरी "प्यार की मार" नामक भावनाप्रधान फिल्म थी। इन फिल्मों में, फिल्मी पत्रकारों के मुताबिक, "अजन्ता सिनेटोन की 'हसीना' नायिका" अमीना और दो अन्य नर्तकियाँ थीं। इनमें से एक तो "लोलिता ही थी जो नॉटी गर्ल में परदे पर आई थी।"[34]

इस स्थिति में फँस जाने पर प्रेमचन्द ने अपने नजदीकी साहित्यिक मित्र जैनेन्द्र को लिखा : "सामाजिक कहानियों" में किसी की रुचि नहीं है और "निर्माता जिस तरह की कहानियों पर जैसी फिल्में बनाने के आदी हैं उससे जौ भर भी नहीं हिलेंगे।"[35] इसी समय 1934 के अन्त में प्रेमचन्द ने इन्दरनाथ को चिट्ठी लिखी कि हालाँकि वे बम्बई की फिल्मों में निर्वासित हैं लेकिन उनकी निष्ठा साहित्य के प्रति है। "असल में मैंने कभी साहित्यिक कर्म बन्द नहीं किया क्योंकि मैं उसे अपनी जिन्दगी का लक्ष्य मानता हूँ। सिनेमा तो मेरे लिए महज वकालत जैसी चीज है। इससे मैं स्वास्थ्य अर्जित कर रहा हूँ।"[36] अप्रैल 1935 में प्रेमचन्द ने बम्बई छोड़ दी। जब उन्होंने बम्बई छोड़ी तो कहते हैं उनके हाथ में कुल बचत महज 1400 रुपए थे।[37] धन का अभाव ही उन्हें बम्बई खींचकर ले गया था क्योंकि *हंस* और *जागरण* जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें 200 रुपए मासिक घाटा उठाना पड़ रहा था। "इसे निकालने (जागरण) की बेवकूफी कर लेने के बाद विवेक ही इसे बन्द करने से मुझे रोके हुए है। दूसरे लोग हँसेंगे और मजाक उड़ाएँगे !"[38] जो धन वे 1935 में बम्बई से अपने साथ लाए थे वह अत्यन्त कम था। "आर्थिक मामलों में मैं असफल रहा हूँ। धन्धा करना मुझे नहीं आता और अभाव कभी दूर नहीं होते।"[39] सितम्बर 1935 में यह चिट्ठी उन्होंने इन्दरनाथ को लिखी थी। इसके कुछ ही महीनों बाद प्रेमचन्द की मृत्यु हो गई।

फिल्मी दुनिया के साथ प्रेमचन्द की संक्षिप्त टकराहट की कहानी में उनके विचारणीय विषय अन्तर्निहित हैं। सतह के सबसे करीब जो विषय है उसे प्रेमचन्द ने स्वयं अपने साहित्यिक मित्रों को लिखी चिट्ठियों में गहराई से उठाया है। वह है "कला" और "उद्योग" में असंगति, सृजनात्मक साहित्य और फिल्म निर्माण के उद्योग में तालमेल न होना। प्रेमचन्द को इस असंगति की जो अनुभूति हुई उसका आधार क्या था ? जब हम परिस्थितियों की विशेषता को गौर से देखते हैं तो यह असंगति स्पष्ट होती जाती है। अजन्ता सिनेटोन कम्पनी की व्यावसायिक रणनीति में "सामाजिक तौर पर प्रासंगिक" कहानियों में बस उल्लेख होता था, लेकिन इसी के साथ उसका दोमुँहापन तब साफ हो जाता है जब हम उसी कम्पनी को "दर्दे दिल" जैसी "फार्मूला फिल्में" बनाते देखते हैं जिनमें कामुक नर्तकियाँ होती थीं और समरकन्द या ऐसी ही विचित्र जगहों पर प्रसहन बनाते देखते हैं। प्रेमचन्द ने अपनी आँखों से देखा कि कैसे निर्माता ऐसे लाभदायक अवसरों से मुनाफा बटोरते हैं जबकि उनकी मजदूर चल नहीं पाती—इसके बावजूद कि सेंसर बोर्ड और निर्माता कम्पनी की सन्तुष्टि के लिए पटकथा में ढेर सारे परिवर्तन कर दिए जाते हैं। ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द ने कुछ दिनों तक लिखित शब्दों को दृश्य छवियों में बदलने की समस्या पर सोचा था, उन्होंने फिल्म के माध्यम के मुताबिक नाटक या कहानी लिखने की चेष्टा की थी। इसके बावजूद सबसे बड़ी जिस समस्या ने उन्हें परेशान किया था वह है सामाजिक यथार्थ की प्रस्तुति और इसके विपरीत फिल्म उद्योग की बिकनेवाली चीज के बारे में बद्धमूल धारणा।

अब हम टॉमस एलिया द्वारा पूर्वोद्धृत विषय पर वापस लौट सकते हैं। एलिया के मन में जिस यथार्थवाद की बात थी स्पष्टतः वह इतालवी "नव यथार्थवाद" था (एलिया ने महान उपन्यासकार गैब्रिएल गार्सिया मार्क्वेज के साथ रोम एक्सपेरिमेंटल फिल्म सेंटर में 1952 से 1955 तक पढ़ाई की थी)। या शायद वह आइजेंस्टाइन की शुरुआती फिल्मों के बारे में कर रहा था। पूँजीवादी समाज में माल के बतौर फिल्म की उसकी धारणा उसी सैद्धान्तिक परम्परा का अंग है जिसमें वह शामिल है। लेकिन फिल्म के माल बनने के तर्क को बहुत दूर तक खींचा जा सकता है। इस सम्बन्ध में हमें सावधान करते हुए कार्ल पलान्यी के समर्थक सांस्कृतिक मानव शास्त्री जॉर्ज मार्कस कहते हैं, "बाजार के हाथों किसी भी मानव संसाधन में महज माल बन जाने का तर्क अनिवार्य रूप से अधूरा है" क्योंकि इस तर्क में श्रम के "मानव प्रक्रिया" होने का तथ्य उपेक्षित हो जाता है।"[40] शायद यह बात फिल्म निर्माण में सृजनात्मक तत्व डालने के मौके पर खास तौर से लागू होती है। यह बात तब समझ में आती है जब हम फिल्म निर्माण के काम को व्यापक सन्दर्भ में रखकर देखते हैं। इस व्यापक सन्दर्भ में बाहरी सीमाओं की बहुतायत दिखाई पड़ती है। उदाहरण के लिए राज्यतन्त्र अपनी शक्ति सेंसर के नियमों के जरिए आजमाता है और पूँजी निवेश के दौरान पूँजी की ताकत भी अपना असर दिखाती है। इस दबाव को हम प्रेमचन्द की कहानी में 'सुखद अन्त' सम्बन्धी परिवर्तन के जरिए समझ सकते हैं। (वैसे यह किसी टिपिकल भारतीय फिल्म की अच्छी शुरुआत भी हो सकती है। मजदूर आन्दोलन का नेता वही आदमी है जिसने मालिक की बेटी प्यार करती है और शादी कर लेती है।) पूँजीवादी व्यवस्था की समग्र संरचना में छोटे स्तरों पर इस तरह के हरेक बन्धनकारी हस्तक्षेप को सीधे संरचना से सरल तरीके से निःसृत नहीं मान लेना चाहिए। इसमें बहुत कुछ मौका और संयोग पर निर्भर होता हे। इसी तरह यह व्यवस्था एकीकृत बनी रहती है।

मिल या मजदूर में मौजूद "सामाजिक यथार्थवाद" जितना भी कम रहा हो, क्या वह अप्रासंगिक था और दर्शकों की चाहत से पूरी तरह अलग था ? हमने प्रामाणिक तौर पर देखा कि फिल्म का विषय न सिर्फ बम्बई के हड़ताल प्रभावित सूती वस्त्र उद्योग के सामाजिक-आर्थिक परिदृश्य के लिहाज से प्रासंगिक था—दरअसल यह इतना अधिक प्रासंगिक था कि मिल मालिकों की शान्ति में खलल पड़ गया; वरन् मध्यवर्गीय दर्शकों में भी ऐसे तबके का प्रत्यक्ष विकास हुआ जो फिल्म माध्यम में 'सामाजिक रूप से प्रासंगिक' फिल्मों के निर्माण की माँग करते थे (मसलन, पूर्वोल्लिखित लाहौर का फिल्म दर्शक एसोसिएशन)। इसलिए इस सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि दर्शकों का ऐसा समुदाय था जो ऐसे यथार्थवाद का स्वागत करते थे जैसा प्रेमचन्द ने अपनी फिल्म में प्रस्तुत किया था। तब फिर प्रेमचन्द के सपने के बिखरने की वजह क्या थी ? पहले ही हमने बताया है कि 1930 दशक के पूर्वार्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की विशेष परिस्थितियाँ इसके लिए एक हद तक उत्तरदायी हैं : 1929 से शुरू हुई विश्वव्यापी मन्दी, बम्बई के मुख्य उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग, में मजदूरों की छँटनी और मजदूरी में कटौती, जिसके फलस्वरूप श्रम और पूँजी के बीच बढ़ता टकराव, व्यावसायिक हितों के लिए खतरनाक मानी गई फिल्म का गला घोंटने के लिए बड़ी पूँजी का हस्तक्षेप, ऐसे कानूनी सुधार जिनके चलते ब्रिटिश भारतीय सेंसरशिप कानूनों का इस्तेमाल किया जा सका आदि। इन सांयोगिक कारकों के अतिरिक्त फिल्म निर्माण की व्यावसायिकता का अन्तर्निहित तर्क तो था ही। प्रेमचन्द का सपना इन्हीं कठोर चट्टानों से टकराकर बिखर गया। फिर उसका कोई अता-पता बचा ही नहीं। उथल-पुथल भरे इस यथार्थ पर टुकड़े-टुकड़े करते हुए लगा कि इस फिल्म की कहानी को संग्रहित किया जाना चाहिए और उस पर शोध होना चाहिए। लेकिन इस तरह के आत्मानुसन्धान के क्षण भारतीय फिल्म उद्योग में शायद ही कभी आते हैं। ■

हिन्दी अनुवाद : **गोपाल प्रधान**

सन्दर्भ और टिप्पणियाँ

1. द बाम्बे क्रॉनिकल, 11 अगस्त 1934।
2. प्रेमचन्द के बम्बई के दिनों पर, मदन गोपाल (1964), मुंशी प्रेमचन्द : एक साहित्यिक जीवनी, बम्बई, पृष्ठ 386-402, और सर्वाधिक अधिकृत जीवनी, अमृत राय (1982), एच. त्रिवेदी का अनुवाद, दिल्ली, प्रेमचन्द : एक लाइफ, कलम का सिपाही, इलाहाबाद, 1962, अध्याय 31 तथा रॉबर्ट ओ. स्वान (1969), मुंशी प्रेमचन्द ऑफ लमही विलेज, दरहाम। बहरहाल, मानव जीवनियों और मूल्यांकनों में प्रेमचन्द के बम्बई प्रवास के अनुभवों पर कम ही ध्यान दिया गया है। उदाहरणार्थ कमल किशोर गोयनका (1989), प्रेमचन्द अध्ययन की नई चिरागें, दिल्ली; धर्मध्वज त्रिपाठी (1994), प्रेमचन्द कथा साहित्य : समीक्षा और मूल्यांकन, दिल्ली; रत्नाकर पांडे (1979), प्रेमचन्द और 'हंस', दिल्ली; इन्द्रमोहन कुमार सिन्हा (1975), प्रेमचन्द युगीन भारतीय समाज, पटना; अशोक प्रसाद (1972), प्रेमचन्द के उपन्यासों में समसामयिक परिस्थितियों का प्रतिपादन, इलाहाबाद। इस सम्बन्ध में मुझे सबसे अधिक सहायता प्रेमचन्द की चिट्ठियों से मिली जिन्हें चिट्ठी-पत्र, भाग 2, इलाहाबाद, 1962 में संग्रहित किया गया है।
3. प्रेमचन्द, चिट्ठी-पत्री, भाग 2, पृष्ठ 161-62, अनुवाद राबर्ट ओ. स्वान, पूर्वोद्धृत।
4. धनपत राय (प्रेमचन्द) की चिट्ठी इन्दरनाथ मदान को, 26 दिसम्बर 1934, इन्दरनाथ मदान (1946), प्रेमचन्द, लाहौर में, पृष्ठ 164। टॉमस गुएतिरेज एलिया (1988), द व्यूअर्स डायलेक्टिक, हवाना, "लैन्चर एंड रपचर : रिडिसकवरिंग आइजेंस्टाइन एंड ब्रेख्त" शीर्षक में इन्द्रनील चक्रवर्ती इत्यादि (संपा.) (1998), द न्यू लैटिन अमेरिकन सिनेमा में पुनः प्रकाशित, जमशेदपुर, पृष्ठ 188-237।
5. अमृत राय, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 315; द बाम्बे क्रॉनिकल, 11 अगस्त, 1934।
6. वही, पृष्ठ 9
7. हंसराज (1957) 'रहबर', प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व, दिल्ली, पृष्ठ 127।
8. अमृत राय, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 315।
9. रॉबर्ट ओ. स्वान, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 30-2।
10. कहानी की रूपरेखा, ए. राजाध्यक्ष और पी. विलमेन (संपा.) (1999), एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इंडियन फिल्म्स, ब्रिटिश फिल्म इंस्टीच्यूट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस; उन्होंने लेखक, इलाहाबाद, 1935 में प्रकाशित प्रेमचन्द, 'सिनेमा और साहित्य' का हवाला दिया है। फिल्म के सिनेमाटोग्राफ बी.सी. मित्र और संगीतकार बी.एस. हूगन थे। इस सूचना के लिए मैं कलकत्ता स्थित सत्यजित राय फिल्म इंस्टीच्यूट के श्री इन्द्रनील चक्रवर्ती का आभारी हूँ।
12. सुजाता पटेल (1987), द मेकिंग ऑफ इंडस्ट्रियल रिलेशंस, बाम्बे। इस दौर में मजदूर समस्या के प्रति गांधी के दृष्टिकोण के लिए, सव्यसाची भट्टाचार्य (1988), "स्वराज एंड द कामनार : द कांग्रेस एंड द बाम्बे वर्किंग क्लास," आर. सिसन और स्टैनली वोलपर्ट (संपा.), कांग्रेस एंड इंडियन नेशनलिज्म, बर्कले, पृष्ठ 223-49।
13. प्रेमचन्द की चिट्ठी इन्दरनाथ को, 26.12.34, मदान, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 164।
14. हंसराज 'रहबर', पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 127-28।
15. अमृतराय, पूर्वोद्धृत, अध्याय 31।
16. प्रेमचन्द की चिट्ठी साहित्यिक मिल जैनेन्द्र को, मदन गोपाल, पूर्वोद्धृत, में पृष्ठ 391 पर उद्धृत। इस चिट्ठी से अन्य सूत्रों की इस बात की पुष्टि होती है कि फिल्म कम्पनी द्वारा "मिल/मजदूर" फिल्म की कहानी में 'हेर-फेर से प्रेमचन्द "नाराज" थे।
17. मदन गोपाल, वही।
18. भारत सरकार, गृह विभाग, पब्लिक ब्रांच, अगस्त 1918, संख्या ए-384-446 (नेशनल आर्काइव्स ऑफ इंडिया, इसके बाद एन.ए.आई.)।
19. सी.आर. क्लीवलैंड की 24.5.1918 की चिट्ठी, सी.आई.डी., भारत सरकार, होम (पब्लिक), अगस्त 1919, संख्या 384-446 (एन.ए.आई.)।
20. भारत सरकार, होम (पब्लिक), अगस्त 1910, संख्या ए-5-8 (एन.ए.आई.)।
21. भारत सरकार, होम (वार), फरवरी 1920, ए-138-154। अधिसूचना संख्या 152 (वाद), 31 जनवरी, 1920, 1919 के कानून XXII के सम्बन्ध में (एन.ए.आई.)।
22. भारत सरकार, होम (वार), अप्रैल 1920, ए-154-155 (एम.ए.आई.)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

23. 'प्रोब्लेम ऑफ सिनेमा : हाउ द फिल्म सेंसर्स वर्क', टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 अगस्त 1934 और 21 अगस्त 1934। यह लेख और 25 जुलाई 1935 का *टाइम्स ऑफ इंडिया* का सम्पादकीय बताता है कि फिल्म माध्यम का महत्व समझा जाने लगा था। 1934 में "फिल्म ग्रुप ऑफ सेंट्रल लेजिस्लेचर" का गठन हुआ ताकि "भारतीय फिल्म उद्योग को सुरक्षा प्रदान की जाए और उसे बढ़ावा दिया जाए", "भारतीय फिल्म निर्माताओं, वितरकों, हाल मालिकों और कलाकारों के हितों की देखभाल की जाए" और "राष्ट्रीय संस्कृति की फिल्मों के जरिए भद्दी तस्वीर प्रस्तुत करने का प्रचार रोका जाए" (देखें, सर फिरोज सेठना पेपर्स, कतरनों की फाइल, नेहरू मेमोरियल म्यूजियम)। इसी समय "मोशन पिक्चर सोसाइटी ऑफ इंडिया" ने वायसराय की कौंसिल के वित्त मन्त्री के पास प्रतिनिधिमंडल भेजा था (बाम्बे क्रॉनिकल, 8 नवम्बर 1934)।

24. अमृत राय (पूर्वोद्धृत, अध्याय 31) में थोड़ा बहुत कहा गया है कि "सेंसर बोर्ड पूँजीपतियों से भरा हुआ था" क्योंकि कुल 6 सदस्यों में से महज एक पूँजीपति सदस्य था। बहरहाल, उस एकमात्र सदस्य, बाम्बे मिल मालिक एसोसिएशन के अध्यक्ष की आपत्ति ही सेंसर द्वारा फिल्म को प्रतिबन्धित करवाने के लिए काफी थी। जीजीभाई परिवार 22 कम्पनियों का मालिक थार सूती उद्योग के सबसे धनी पाँच लोगों में था।

25. सव्यसाची भट्टाचार्य (1986), "द कोलोनियल स्टेट, कैपिटल एंड लेबर इन बाम्बे, 1919-1931", रोमिला थापर और एस. भट्टाचार्य (संपा.) सिचुएटिंग इंडियन हिस्ट्री, दिल्ली, पृष्ठ 171-93।

26. एसोसिएटेड प्रेस ऑफ इंडिया, अहमदाबाद, 17 दिसम्बर 1934, द ट्रिब्यून, 20 दिसम्बर 1934।

27. ए.के. बागची (1972), प्राइवेट इनवेस्टमेंट इन इंडिया 1900-1939, कैम्ब्रिज, पृष्ठ 243; एस.डी. मेहता (1954), कॉटन मिल्स ऑफ इंडिया 1854-1954, बाम्बे, अध्याय XII, पृष्ठ 179 छँटनी और कटौती के बारे में। और भी, सव्यसाची भट्टाचार्य (1885), "कैपिटल एंड लेबर इन बाम्बे सिटी, 1928-29", डी.एन. पाणिग्रही (संपा.), इकोनामी, सोसाइटी एंड पालिटिक्स इन माडर्न इंडिया, एन.एम.एस.एम.एस., दिल्ली, पृष्ठ 42-60।

28. एस.डी. पुनेकर (1948), ट्रेड यूनियनिज्म इन इंडिया, बाम्बे, पृष्ठ 99।

29. आर.एस. चन्दावरकर (1981), " 'वर्कर्स पालिटिक्स' एंड द फिल्म डिस्ट्रिक्ट्स इन बाम्बे बिट्वीन वार्स", माडर्न एशियन स्टडीज, 15, 3; और (1994) ओरिजिन्स ऑफ इंडस्ट्रियल कैपिटलिज्म इन इंडिया : बिजनेस स्ट्रेटेजीज एंड द वर्किंग क्लासेज इन बाम्बे 1900-40, कैम्ब्रिज; एस. सेन (1977), वर्किंग क्लास ऑफ इंडिया, कलकत्ता; सुनील कुमार सेन (1994), वर्किंग क्लास मूवमेंट्स इन इंडिया, 1885-1975, दिल्ली; बी. शिव राव (1939), द इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया, लन्दन।

30. अमृत बाजार पत्रिका, 19 जनवरी 1934, एस. सेन, पूर्वोद्धृत में पृष्ठ 332 पर उद्धृत।

31. द ट्रिब्यून, 28 दिसम्बर 1934; 25 दिसम्बर 1934 की सभा में एस. शाहनवाज खान, डॉ. के.सी. खन्ना, और सरदार प्रताप सिंह के वक्ता थे।

32. द टाइम्स ऑफ इंडिया, 26 जुलाई 1935।

33. द बाम्बे क्रॉनिकल, 1 दिसम्बर 1934, 15 दिसम्बर 1934।

34. बाम्बे क्रॉनिकल, 10 मार्च 1934।

35. प्रेमचन्द, चिट्ठी पत्री, भाग 2, पृष्ठ 51, स्वान, पूर्वोद्धृत, द्वारा पृष्ठ 32 पर अनुवाद।

36. प्रेमचन्द की चिट्ठी इन्दरनाथ को, 26 दिसम्बर 1934, इन्दरनाथ मदान, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 164।

37. आर.ओ. स्वान, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 43।

38. प्रेमचन्द की चिट्ठी (दिनांक नहीं), बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा भूमिका, हंसराज 'रहबर', पूर्वोद्धृत में उद्धृत, पृष्ठ V।

39. प्रेमचन्द की चिट्ठी इन्दरनाथ को, 7 सितम्बर 1935, इन्दरनाथ मदान, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 168।

40. जॉर्ज ई. मार्कस (1986), "एथनोग्राफी इन द माडर्न वर्ल्ड सिस्टम", जेम्स क्लिफोर्ड और जॉर्ज ई. मार्कस (संपा.), राइटिंग कल्चर : द पॉलिटिक्स एंड पॉलिटिक्स ऑफ एथनोग्राफी, बर्कले, पृष्ठ 175-[illegible]

(कंटेम्परेरी इंडिया, वाल्यूम 1, नम्बर 1, जनवरी-मार्च 20[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेमचन्द की आवाज़ : मूल स्वराघात

नवलकिशोर

प्रेमचन्द को हम क्यों याद कर रहे हैं ? वे न एक ऐसे राजनेता थे, जिनकी स्वाधीनता-संघर्ष में कोई प्रत्यक्ष और स्मरणीय भूमिका रही हो, न ऐसे समाज-सुधारक जिन्होंने कोई बड़ा आन्दोलन चलाया हो और न ऐसे विचारक जिन्होंने भारतीय चिन्तन की दिशा को दूर तक प्रभावित किया हो। वे केवल एक लेखक थे—एक बड़े लेखक, न केवल हिन्दी के अपितु आधुनिक भारतीय कथा-साहित्य के एक बड़े लेखक। एक बड़े लेखक को उसका समकालीन पाठक-समाज क्यों आदर देता है और क्यों पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह पूजा जाता है ? इसलिए कि वह न केवल अपने समय में लोगों के सोच पर जबर्दस्त असर डालता है, आने वाले समय में भी मुड़-मुड़कर देखने वालों के लिए एक मंत्रदाता ऋषि बन जाता है, जिससे न केवल उसकी भाषा और उसके देश के लोग सलाह लेते हैं, उसमें दिलचस्पी लेने वाले दुनियाभर के पाठकों के लिए उसके पास मनुष्य-संदेश होता है। प्रेमचन्द एक ऐसे ही बड़े लेखक थे और अपने लेखन द्वारा ही उन्होंने स्वाधीनता-संघर्ष में एक शानदार भूमिका निभाई, समाज सुधारों को प्रेरित किया और राजनीतिक स्वतंत्रता को मानवीय समानता से अविभाज्य मानने वाली विचारधारा पर बल दिया। इस तरह वे स्वतंत्रता-सेनानी, समाज सुधारक और विचारक भी हुए। वे एक पराधीन देश के ऐसे कथाकार थे, जिन्होंने साम्राज्यवादी दमन के विरोध तक ही अपने को सीमित नहीं रखा, बल्कि अपने यहाँ के सामन्ती समाज में किसान के उत्पीड़न की जोरदार ख़िलाफत की, अपने समय के अपने अज्ञानग्रस्त व रूढ़िवादी समाज के हाथों मार खाते निरीह के दर्द को समझा, मर्दवादी समाज में मर्द को औरत पर जुल्म ढाते देखा, जातिवाद के अन्तर्गत दलित दमन को बगावत की हद तक नंगा किया—थोड़े में कहें तो वे मूक और अपढ़ अवाम की आवाज़ बने। लेकिन प्रथमतः और अन्ततः वे थे एक लेखक ही और किसी भी स्मरण-समारोह में उनके लेखकेतर सरोकारों-वैचारिक पक्षों को बहुत-बहुत कहते-सुनते भी हमें एक रचनाकार के रूप में उनकी देन को फिर-फिर जाँचना-परखना चाहिए—हो सकता है कि उसमें हम कुछ नया भी जोड़ सकें।

एक अच्छा लेखक भाषा की समृद्धि में कुछ-कुछ योग देता ही है। लेखक सामान्यतः एक संवेदनशील प्राणी होता है और इसलिए उसमें दुखी के प्रति एक बुनियादी सहानुभूति होती ही है। तब भी हमारे ज़माने में ऐसे साहित्यकार और कलाकर्मी होते रहे हैं जिन्होंने मानवता विरोधी शक्तियों का या तो साथ दिया है या उनके बारे में चुप रहे हैं। ताजा उदाहरण के लिए दो ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त लेखकों का उदाहरण लिया जाए—गुजराती के कवि राजेन्द्र शाह और

ए-6, सेक्टर 5, उदयपार्क, हिरणमगरी, उदयपुर-313002 (राजस्थान)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाल ही दिवंगत हुए हिन्दी के गद्यकार निर्मल वर्मा का। निर्मल वर्मा ने गुजरात के साम्प्रदायिक जनसंहार के प्रति कलाकारों के देशव्यापी विरोध में शामिल होने से इन्कार किया था और शाह की एक असंवेदनशील टिप्पणी को लेकर तो उनके बहुतेरे प्रशंसक तक विक्षुब्ध हो गए थे। लेकिन इस कारण साहित्य में उनके योगदान को अस्वीकार करना या उन्हें उनके ऊँचे स्थान से बेदखल करना बहुत गलत होगा—ऐसा कर हम कलाकार की वैचारिक और रचनात्मक स्वतंत्रता के विरुद्ध तो जाएँगे ही—21वीं सदी के इस आरम्भिक दशक में भी 20वीं सदी के कलाकार-यातना के इतिहास के काले साये में ही अपने को पाएँगे। हम मानते आए थे कि तानाशाही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को कोई कानूनी मान्यता नहीं देती, लेकिन पिछले कुछ अर्से से हमने यह तीव्र अनुभव किया है कि उसे लोकशाही में भी बाधित किया जा सकता है—जैसा कि हमारे यहाँ धर्म, संस्कृति, परम्परा और जाति के नाम पर प्रायोजित भीड़ द्वारा उसे किया जा रहा है। सत्ता पर काबिज कोई राजनीतिक दल भी अपने एक छिपे एजेंडे के तहत उसे प्रतिबन्धित कर सकता है—प्रेमचन्द जैसा अपरम्परावादी लेखक सत्ताधारी वर्ग के लिए कैसे अग्राह्य हो गया था—यह पिछले दिनों हमने देखा ही है। किन्तु अभिव्यक्ति की आज़ादी की हमारी वकालत का मतलब यह नहीं है कि हम लेखकों के बारे में विचारधारात्मक निर्णय ही न लें। यह सावधानी बरतते हुए कि हम किसी अच्छे या बड़े लेखक के साहित्यिक अवदान को कहीं नकार न रहे हों, उसके विचारों पर प्रतिकूल टिप्पणी का पूरा-पूरा हक भी रखें। आलोचना के स्वास्थ्य के लिए वैचारिक विवाद एक अनिवार्य शर्त है। ऐसे विवाद जब शब्द के भीतर की साहित्यिक सृष्टि और शब्द-निर्मित बाह्यसृष्टि अर्थात वास्तविक दुनिया को समझने और बदलने के भाव से उठाए जाते हैं तो वे संवाद की ओर ले जाते हैं, लेकिन जब वे चालू लोकप्रियता अथवा 'राजनीतिक रूप में सही' होने की तात्कालिकता के दबाव में खड़े किए जाते हैं तो वे पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों के रूप में संवाद-अवरोधक बन जाते हैं। हमारा साहित्य-चिंतन मुझे लगता है इधर संवादहीनता के संकट में है। अतीतावलोकन के नाम पर हममें कुछ नवजागरण के पुरस्कर्ताओं की सीमाओं के उल्लेख से ही सन्तोष नहीं कर रहे, उन्हें संदिग्ध और इकतरफा तर्कों के आधार पर वर्णवादी और हिन्दुत्ववादी घोषित कर रहे हैं। दलित नारी आदिवासी को लेकर 20वीं सदी के अन्तिम चरणों में हमारी भाषा में जो नए विमर्श शुरू थे, उन्होंने साहित्य को एक सर्वथा नए आलोक में देखने की दृष्टि दी, लेकिन अब कुछ सम्पादकों-लेखकों का यह एक शगल हो गया है कि स्थापित लेखकों के महत्त्व का न केवल विखंडन करें, अपितु उन्हें प्रतिगामी भी सिद्ध करें। आप जानते ही हैं कि प्रेमचन्द की दलित-पक्षधरता को भी कुछ दलितवादियों ने विवाद का विषय बनाया है। धर्मवीर की पुस्तक 'प्रेमचन्द : सामन्त का मुंशी' से आप बखूबी परिचित होंगे। इस पुस्तक पर एक उत्तर-आधुनिकतावादी आचार्य की प्रशस्ति पढ़कर मैं दंग रह गया, क्योंकि उनकी प्रशस्ति से अधिक वह हिन्दी पाठकों के प्रति अपमानजनक टिप्पणी थी—उसमें कहा गया था कि हिन्दी का अधिकांश पाठक वर्ग सवर्ण मानसिकता वाला है और इसलिए विक्षुब्ध है कि एक दलित आलोचक ने उसके प्रिय कथाकार की महिमामयी छवि को विदूषित कर दिया है। यह भाषा विमत से बहस की नहीं, उसके प्रति गाली की है और इसलिए दम्भ पर आसनी जमाए बैठे ऐसे गालीवादी आचार्य के इस वक्तव्य को हँसी में उड़ाना ही इसका ठीक प्रत्युत्तर होगा। यों दलितवादी साहित्य-विवेक भी अब नकारवाद से काफी आगे बढ़ चुका है—प्रेमचन्द निन्दा का तीव्र प्रतिवाद अनेक दलित लेखकों की ओर से ही हुआ है और 'रंगभूमि-दहन' से वे कम शर्मसार नहीं हुए हैं। संस्कृति के इतिहास में कोई परमपूज्य है तो वह है मनुष्य की बौद्धिक स्वतंत्रता, जो बड़े-से-बड़े पुरुष को भी आलोचना का विषय बना सकती है—कोई कालसिद्ध लेखक भी इतना वंद्य नहीं होना चाहिए कि उसका प्रशंसक या पाठक उसकी आलोचना सुनते ही भड़क उठे। फिर प्रेमचन्द तो एक बनती भाषा के पहले बड़े कथाकार थे—उनकी बहुत सीमाएँ हैं, जिनका उल्लेख होता आया है और होता रहेगा। हमें उन्हें जानने के लिए समुत्सुक भी बने रहना चाहिए ताकि हम अपनी पाठकीय समझ का संस्कार भी करते रहें। *लेकिन अगर हम ऐसे पाठक हैं जो साहित्य में जन-पक्षधरता को बहुमान देते हैं तो हमें प्रेमचन्द के उस बड़प्पन की रक्षा के लिए सन्नद्ध भी रहना चाहिए जिसके कारण हम उन्हें अपनी भाषा के प्रवर्तक कथाकार से बढ़कर बड़े मानवीय सरोकारों का एक बड़ा लेखक भी मानते हैं।* प्रेमचन्द के सरोकार अमूर्त मानवता की आराधना के नहीं हैं—वे ठोस देशकाल में स्पंदित जीवित मनुष्य की भलाई को लेकर हैं। एक उपनिवेश की प्रजा की प्रथम कामना आज़ादी की होती है—प्रेमचन्द की भी यही थी और इसलिए प्रत्यक्ष नहीं तो एक लेखक के रूप में उन्होंने स्वाधीनता-संघर्ष में भाग लिया। उनकी कृतियों में हम पाते हैं कि उनका आज़ादी का सपना केवल राजनीतिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं था—वे 'विदेशी प्रभु जॉन' की जगह किसी 'स्वदेशी प्रभु गोविन्द' को बैठे देखना नहीं चाहते थे—वे देश के दरिद्रतम की खुशहाली चाहते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उनका साहित्य मनुष्य के प्रति मनुष्य के अत्याचार और शोषण के विरोध का साहित्य है, अभावमुक्त और समानता पर आधारित समाज के स्वप्न का साहित्य है, धार्मिक भेदभाव से ऊपर उठ इन्सानी भाईचारे के आह्वान का साहित्य है, जन्म से आदमी को अभागा बना देने वाले ब्राह्मणवाद की आलोचना का साहित्य है, स्त्री पर पुरुष के दमन के लम्बे क्रम को उजागर करने वाला साहित्य है—समग्रतः कहें तो प्रेमचन्द-साहित्य हर तरह के जुल्म से मनुष्य के छुटकारे की आकांक्षा का साहित्य है—मानवमुक्ति के चिरकाल-संचित यूटोपिया का साहित्य है। हमें इस साहित्य के इस अन्याय-विरोधी स्वर को विविध अध्ययनों के विविध स्वरों के बीच भी कभी मन्द नहीं पड़ने देना चाहिए।

प्रेमचन्द के अनुवर्ती हमारे कुछ बड़े कथाकारों तक ने उनकी प्रशंसा करते हुए भी अपने ख़ास रचनात्मक आग्रहों में कैसे इस स्वर को मद्धिम कर दिया है, इसके कुछ उदाहरण लें :

जैनेन्द्र ने लिखा है कि यदि वे 'गोदान' लिखते तो *"जो मेरी भाग्य के सामने अकेला जूझता हुआ फिर भी निरुपाय-सा दिखाया गया है, मैं उसको तो न छूता और ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता, फिर भी भाग्य को तात्कालिक परिस्थितियों अथवा व्यक्तियों से परिभाषा देने का प्रयत्न न करता कि जैसे मेरी शिकार हो, शिकारी दूसरे हों, मेरी कोशिश होती है कि दिखाता कि सब जैसे शिकार ही हैं और वृथा ही एक-दूसरे को शिकार बनाने का प्रयत्न करते हैं, असल में शक्तियाँ निर्वैयक्तिक हैं और उनमें सत् के साथ रहने और असत् के साथ लड़ने के लिए सहानुभूतियों का बँटवारा करने की ज़रूरत नहीं है।"* यह दृष्टि अमूर्त मानवता के प्रेम की है, जो आततायी और पीड़ित में अंतर को तिरोहित कर देती है; जबकि गोदानकार की दृष्टि जीते-जागते आदमी से लगाव की है। अज्ञेय प्रेमचन्द को परवर्ती प्रगतिवादियों से इसलिए श्रेष्ठ बताते हैं कि *'उनका मानव से सम्बन्ध सिद्धान्त का नहीं, राग का है, इसलिए वे अपने हर पात्र को सहानुभूति दे सके हैं।'* लेकिन वे यह नहीं देखना चाहते कि यह सहानुभूति प्रेमचन्द को जुल्मी को जुल्मी दिखाने से नहीं रोकती। निर्मल वर्मा के अनुसार प्रेमचन्द ने जो अन्तिम सत्य पाया वह यह कि 'पैसा अपने में पाप है'—*"महाजनी सभ्यता का भयानक और विषैला सत्य, जिसे एक बार देख लेने के बाद प्रेमचन्द की दुनिया पहले जैसी नहीं रही। न्याय, धर्म, संस्कार और जातीय दायित्व में उनके भोले विश्वासों पर एक काली, लम्बी छाया-सी आ पड़ी; वही छाया मनुष्य की आत्मा के बीचोंबीच खिंची हुई अँधेरी खाई, जिसकी क्रूर किन्तु अत्यन्त शक्तिशाली अभिव्यक्ति हमें 'गोदान' और उससे भी अधिक 'कफ़न' जैसी कहानियों में दिखाई देती है...प्रेमचन्द के आदर्श नहीं बदले, सिर्फ यथार्थ से उनका सम्बन्ध बदल गया। वह अब भी मनुष्य की अच्छाई में विश्वास करते थे—लेकिन इस अच्छाई के सामने उन्होंने पहली बार बुराई या पाप से भी साक्षात्कार किया—जिसे हम 'ईविल' कह सकते हैं। पैसा अपने में पाप है...।"* उनके अनुसार *"प्रेमचन्द ने भारतीय किसानों की 'ऐतिहासिक विकृति' को देखा था—किन्तु उस चीज का मूल सांस्कृतिक टेक्सचर अपने गैर-ऐतिहासिक रूप में क्या था—जो विकृत हुआ था, उसकी अन्तर्दृष्टि प्रेमचन्द में नहीं मिलती। प्रेमचन्द अक्सर उस पक्ष को अनदेखा कर देते हैं, जिसमें भारतीय किसान की सांस्कृतिक विरासत छिपी थी—यह विरासत उसके व्यावहारिक, सामाजिक 'धर्म' से कहीं ज्यादा गहरी और महत्त्वपूर्ण थी—एक शब्द में कहें—तो उसकी आध्यात्मिक विरासत।"* निर्मल जी के ये कथन अपने भाषायी व्यामोह में हमें बहा ले जाते हैं—लेकिन अगर हम अपने सोच को स्तब्ध-स्थगित न रहने दें तो पाएँगे कि निर्मल वर्मा ने प्रशंसा और आलोचना दोनों में प्रेमचन्द के उस मुक्तिकामी स्वर को अनसुना कर दिया है, जिस पर बराबर कान दिए जाने की बात हम कर चुके हैं।

प्रगतिशील आलोचना ने प्रेमचन्द को अपना आद्य महान लेखक तो माना, पर इस पर अफसोस भी जाहिर किया है कि उन्होंने अपना अधिकांश कथा-लेखन गांधी के प्रभाव में किया और उस प्रभाव से निकलने में बहुत वक्त लगा दिया। लगभग सभी प्रगतिशील आलोचकों ने उनके आदर्शवाद को गांधीवाद की फलश्रुति बताते हुए माना है कि 'गांधीवाद से मोहभंग' के बाद ही वे अपनी अन्तिम यथार्थवादी अतः श्रेष्ठ रचनाएँ—'गोदान' जैसा उपन्यास और 'कफ़न' जैसी कहानी दे पाए। उनके इस दृष्टिकोण से लगता है कि वे प्रेमचन्द की गांधी-निष्ठा को बुनियादी तौर पर गलत मानते हैं। दरअसल साम्यवादी विचार-जगत में लम्बे समय तक महात्मा गांधी को आज़ादी के लिए संघर्षरत एक प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ नेता से अधिक सम्मान नहीं दिया गया था। मास्को में 1952 से 61 तक भारतीय राजदूत रहे श्री के.पी.एस. मेनन की डायरी के साक्ष्य पर प्रसिद्ध समाजशास्त्री पी.सी. जोशी ने इस सम्बन्ध में जो टिप्पणी की है उसे यहाँ प्रमाण के रूप में उद्धृत किया जाए : *"वैचारिक तंगनज़री और कट्टरता (डागमैटिज्म) महान देशों और नेताओं को भी कितना मतान्ध और यथार्थविमुख बना देती है इसकी सबसे बड़ी मिसाल है स्तालिनवादी नेतृत्व द्वारा महात्मा गांधी का एकदम चौंकानेवाला नजरिया तथा मूल्यांकन जो पूरे स्तालिन युग में प्रभावी रहा।...'ग्रेट सोवियत*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एनसाइक्लोपीडिया' में प्रस्तुत महात्मा गांधी का मूल्यांकन इस प्रकार है—'एक प्रतिक्रियावादी (रिएक्शनरी) जो जाति से बनिया है...जिसने अपनी जनता से विश्वासघात किया और उसके विरुद्ध साम्राज्यवादियों का पक्ष लिया...संन्यासियों की नकल की...जनता की भावनाओं को उभारकर भारत की स्वतंत्रता के समर्थक और ब्रिटिश राज के शत्रु होने का ढोंग किया...साथ-ही-साथ धार्मिक रूढ़ियों का अनुचित लाभ उठाया।'' मास्को जब तक साम्यवाद का मक्का रहा, दुनियाभर का प्रगतिशील चिन्तन सोवियत विचारधारा का दूर तक मुखापेक्षी बना हुआ था। भारतीय साम्यवादी दल ने स्वतंत्रता-संघर्ष में गांधीजी का नेतृत्व भले ही स्वीकारा हो, गांधीवाद को एक सुधारवादी विचारधारा से अधिक महत्त्व कभी नहीं दिया। प्रगतिशील साहित्य-दृष्टि तब के भारतीय मार्क्सवादी सोच के अनुसार गांधी विचार को क्रान्ति का अवरोधक मानती थी। प्रेमचन्द के सम्बन्ध में उससे गलती यह हुई कि उसने उन्हें गांधी के अनुयायी के रूप में लिया। लेकिन प्रेमचन्द गांधी के एक सामान्य अनुयायी होकर कभी नहीं रहे, एक स्वाधीनचेता बुद्धिजीवी के रूप में वे एक साथ गांधी के प्रवक्ता और आलोचक दोनों थे। त्याग और सेवा की भावना उस समय देशप्रेम को परिभाषित करने वाली सचाई थी और तब जनसाधारण को समर्पित संस्थाएँ भी क्रियाशील थीं—स्वयं गांधी जी ने राजनीतिक आन्दोलनों का संचालन अपने आश्रमों से किया था। इसलिए लम्बे अर्से तक प्रेमचन्द अगर यह भ्रम पाले रहे कि सबल के नैतिक विवेक को जागृत कर उसे निर्बल पर जुल्म ढाने से रोका जा सकता है तो इसमें इतना ताज्जुब भी नहीं होना चाहिए। उनका यह भ्रम सत्य के जीवनगत साक्षात्कार से टूटा। नेहरू ने तो गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को नितान्त अव्यवहार्य माना था, तब भी उनकी गांधी के नेतृत्व में निष्ठा कम नहीं थी। प्रेमचन्द का हृदय परिवर्तन के गांधीवादी सिद्धान्त से मोहभंग हो गया तो इसका अर्थ यह नहीं है कि गांधीजी के प्रति उनकी निष्ठा भी खंडित हो गई। प्रेमचन्द ने *ज़माना* के सम्पादक दयानारायण निगम को लिखे एक पत्र में राउंड टेबल कान्फ्रेंस के समय दिए नेहरू के उस भाषण को एक गैर-जिम्मेदाराना बयान माना था, जिसमें अगले आन्दोलन की तैयारी का आह्वान था क्योंकि उससे 'गांधी-इरविन समझौते' से पैदा शान्ति का माहौल बिगड़ सकता था।

प्रेमचन्द ने अपना लेखनारम्भ अपने समय की सुधारवादी प्रेरणाओं के प्रभाव में किया था और इसलिए आदर्शवाद उनकी रचनाशीलता का आधार बना। लेकिन ज्यों-ज्यों यथार्थ से उनका साक्षात्कार तीव्र होता गया उनके आदर्शवादी भ्रम भी टूटते गए। इस प्रक्रिया में उनके रचनाकार का भी उन्नयन होता गया। वे समस्याओं के काल्पनिक समाधान देने से विरत होते गए और उनकी रचनाओं का संसार अधिकाधिक विश्वसनीय होता गया। अब तक वे यथार्थ का चित्रण करते हुए उसे आदर्शोन्मुख दिशा देते आए थे अर्थात बुराई को दिखाते हुए भी जीत भलाई की दिखाते थे। मनुष्य की मौलिक सद्वृत्ति में उनका विश्वास अखंडित रहा, पर अब वे असत् के सच से मुँह नहीं मोड़ रहे थे। 'गोदान' का होरी शुरू से आखिर तक एक भला आदमी बना रहा है, फिर भी उसको सताने वालों के दिल नहीं पसीजते—'होरी' की कथा के जरिए वे त्रासद सामन्ती-महाजनी व्यवस्था की अमानवीयता को निर्मम भाव से उजागर कर पाए हैं। इसलिए उनके आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर प्रयाण को 'गांधीवाद से मोहभंग' के रूप में नहीं, उनकी सृजन-यात्रा की उपलब्धि के रूप में देखा जाना चाहिए। यथार्थवाद उपन्यास का एकमात्र या अन्तिम प्रतिमान नहीं है, लेकिन प्रेमचन्द-प्रसंग में वह बहुत संगत है।

आज एक खास तरह की राजनीति से जुड़े 'भारतीयवाद' से प्रेमचन्द को बचाने की चिन्ता भी हमें करनी चाहिए : एक ऐसे ही भारतीयवादी प्रेमचन्द विशेषज्ञ के अनुसार, *''प्रेमचन्द के भारतीय समाज को उसकी समग्रता में केवल भारतीयवादी मूल्यांकन पद्धति से ही समझा जा सकता है, जो उनके समग्र साहित्य को आधार बनाती है, जो अमृत और विष, स्वर्ग और नरक, धर्म और अधर्म तथा आदर्श एवं यथार्थ को जीवन का अंग मानती है—भारतीयता जिसकी प्राणशक्ति है।''* इसमें प्रेमचन्द के 'मनुष्य-मुक्ति' के लक्ष्य को स्पष्ट ही गोल कर दिया गया है। प्रेमचन्द के ऐसे अपहर्ता उन्हें समाजवाद-विरोधी सिद्ध करना चाहते हैं। वे यह नकार देना चाहते हैं कि प्रेमचन्द ने रूसी क्रान्ति का स्वागत किया था और समाजवाद से उनका गहरा परिचय भले ही न हुआ हो, उसके समानता के आदर्श को अपने देश में फलीभूत होते अवश्य देखना चाहते थे।

इस बात पर फिर जोर दें कि प्रेमचन्द एक रचनाकार थे। उनकी रचना-यात्रा अपने आपमें कितनी महनीय थी—इसे जैनेन्द्र के इन शब्दों से अधिक अच्छे शब्दों में शायद ही कहा जा सके, *''प्रेमचन्द जब साहित्य में आए तो वह साहित्य सर्वथा नहीं तो अधिकांश रूप में अवश्य, व्यक्ति के लिए एक शगल था, मनोविनोद का एक साधन और व्यवसाय था। प्रेमचन्द जी आरम्भ में...इसी धारणा पर साहित्य में प्रविष्ट हुए। शनैः शनैः ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव उत्तरोत्तर गम्भीर और पवित्र होते गए। अपने साथ-साथ वे हिन्दी पाठकों को भी उस प्रकार*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोवृत्ति में उठाते चले गए...मनोविनोद से उठते-उठते हम साहित्य के प्रति एक मिशन-भाव, एक पूजाभाव तक आ गए और प्रेमचन्द जी ने हिन्दी पाठक-लेखक के इस मानसिक उत्थान में महत्त्वपूर्ण योग दिया है...जब और जिस तरह की जिज्ञासा, नई माँग पाठक में जगी तब प्रेमचन्द भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दिखे। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं।'' इस तरह प्रेमचन्द की साहित्य-साधना और कहानी को एक ऊँचे दर्जे की सरस्वती-आराधना बना दिया है।

देखा जाए तो प्रेमचन्द के साथ उपन्यास की अवधारणा बदल जाती है। गांधीजी ने जैसे गाँव को राजनीति के केन्द्र बनाकर स्वाधीनता आन्दोलन को देश के करोड़ों लोगों तक पहुँचाया और उसे सम्पूर्ण भारतीय जनता का मुक्ति-संग्राम बना दिया वैसे ही प्रेमचन्द ने गाँव को अपनी कथा-रचना का विषय बनाकर उस संग्राम में योगदान के लिए साहित्य का एक सशक्त मोर्चा खोला। उन्होंने हिन्दी-उर्दू उपन्यास को अपने आरम्भिक दौर में ही सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसान अर्थात भारत की गरीब जनता के संघर्ष की महागाथा बना दिया। पश्चिम में उपन्यास का उद्भव और विकास मध्यवर्ग से जुड़ा हुआ है। हमारे यहाँ भी वह नए शिक्षित मध्यवर्ग के उदय के साथ पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत अस्तित्व में आया, किन्तु उसका विकास स्वातंत्र्य-संघर्ष के साथ होता है। ग्रामीण जीवन के चित्रण से जुड़कर उपन्यास ने अपनी एक नई पहचान बनाई। किसान-जीवन को लेकर कथा-लेखन की शुरुआत उड़िया के फकीर मोहन सेनापति (1843-1918) कर चुके थे, पर उसका यथार्थ-चित्रण इतनी व्यापकता के साथ पहली बार प्रेमचन्द द्वारा ही किया गया। प्रेमचन्द ने उपन्यास को मध्यवर्ग की क़ैद से आज़ाद किया और उसे देश की दरिद्र जनता के सुख-दुख से जोड़ा। प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी में मनोरंजक उपन्यास के अलावा मध्यवर्गीय कथा वाले अनूदित बंगाली उपन्यासों का चलन था—प्रेमचन्द ने उसे बदल दिया। इस तरह उन्होंने न केवल हिन्दी-उर्दू उपन्यास को, अपितु भारतीय उपन्यास को भी एक और पहचान दी।

प्रेमचन्द ने अपने भाषा-प्रयोग के द्वारा खड़ी बोली के हिन्दी और उर्दू रूपों के बीच की खाई को पाटने का भी महत् कार्य किया—भाषा का एक सहज सामान्य रूप तैयार किया। खड़ी बोली की क्षमता को उन्होंने भव्य ऊँचाई दी : (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में) *''पहली बार हिन्दी भाषी जनता को ऐसे यथार्थ जीवन का विश्वसनीय शैली में उपस्थान नसीब हुआ। इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रेमचन्द की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने खड़ी बोली में प्रत्यक्ष और यथार्थ जीवन का हृत्स्पंदन मुखरित किया।''* इस तरह वे साहित्य-निर्माता ही नहीं, आज जिस भाषा को हम लेखन-व्यवहार में अधिकतर लाते हैं, उसके पुरस्कर्ता भी हैं।

जन-पक्षधरता प्रेमचन्द के संवेदनामूलक और विचारप्रेरित स्वभाव में थी, लेकिन एक रचनाकार के रूप में उनके लक्ष्य में थी—कला-सिद्धि। देश-विदेश के अनेक नामी कथाकारों को उन्होंने न केवल पढ़ा था, जब-तब साहित्यिक प्रश्नों और सौन्दर्यगत समस्याओं पर अपनी मान्यताओं का विवेचन भी किया था। हम उन्हें अपने कला-कर्म को निरन्तर निखारता पाते हैं—उनकी सृजन-यात्रा में कमतर-बेहतर का अन्तराल एक उत्कर्ष-क्रम में ही अधिक मिलता है। 'सेवासदन' जैसे आदर्श-प्रधान उपन्यास से 'गोदान' जैसे यथार्थप्रधान उपन्यास तक और 'पंचपरमेश्वर' जैसी नीति-निर्देशक कहानी से 'कफन' जैसी नीति विडंबना-गर्भित कहानी तक की उनकी कथायात्रा कम विस्मयकारक नहीं है। 'गोदान' में फिर भी एक-सा कथाविन्यास नहीं है—उसकी श्रेष्ठता का जितना आधार होरी-धनिया की त्रासद जीवन-कथा है उतना अवान्तर कथाएँ नहीं, इसलिए वह खंड-कलानुभव में ही एक महत् रचना है; जबकि 'कफ़न' मानवीय त्रास के एक अखंड कलानुभव की महत् रचना है; केवल इसलिए नहीं कि वह कहानी के लघु कलेवर में है, बल्कि इसलिए कि लेखक के कम-से-कम बोलने पर भी वह रचना इतना बोलती है कि बहुत सारे सच उजागर होते चलते हैं। अपने समाज के संतप्त निम्नजन से साक्षात्कार में एक तपःपूत कलाकर्मी की कलम से जाने-अनजाने एक ऐसी कला-निर्मिति हुई है, जो अद्भुत-अपूर्व है। इस कहानी के निहितार्थ के स्तर-पर-स्तर उद्घाटित किए जा चुके हैं : 'भूख से सताए मनुष्यों के अमानुष बनने की एक दास्तान, एक विषम समाज में अभिशप्त निर्धनों के शाश्वत दुर्भाग्य का एक आख्यान, प्रतिफल से वंचित कर्मिकों के अपने श्रम से दारुण बिलगाव का एक उदाहरण, वर्णवादी व्यवस्था के अन्तर्गत दलित-दोहन के विरुद्ध दलित-प्रतिवाद की एक कल्प-कथा, पुरुषसत्तात्मक समाज में नारी की सदा तिरस्कृत स्थिति का एक दृष्टान्त, हिन्दी-साहित्य में समाज-स्वाधीन 'व्यक्ति' के जन्म का पहला घटना-समारोह...आदि, आदि।' इस कहानी को लेकर जो विवाद अब तक खड़े किए गए हैं, वे उसके 'कुपाठ' को ही ज़्यादा सामने लाए हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि किसी कृति का वही पाठ ग्राह्य हो सकता है जो कृतिकार की लक्ष्यमान सृजन-दिशा और व्यक्तमान जीवन दृष्टि से संगति में हो। यह एक महत् रचना है और इसलिए हर महत् रचना की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह उसके किसी नए निर्वचन की संभावना बनी ही रहती है। उदाहरण के लिए इन पंक्तियों के लेखक को इस कहानी का अंत कुछ अतिरिक्त कहता लग रहा है। *''हाँ बेटा, बैकुंठ में जाएगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं, मरते-मरते हमारी ज़िन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गई। वह न बैकुंठ जाएगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जाएँगे जो ग़रीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप धोने के लिए गंगा में नहाते हैं और जल चढ़ाते हैं : XX क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह मायाजाल से मुक्त हो गई, जंजाल से छूट गई। बड़ी भाग्यवान थी जो इतनी जल्दी माया-मोह के बंधन तोड़ दिए।'' और दोनों खड़े होकर गाने लगे—'ठगिनी क्यों नैना झमकावे, ठगिनी।'*...यहाँ प्रेमचन्द पाप-पुण्य निर्धारक उस धर्मानुशासन पर सीधी चोट करते हैं जो 'मोटे-मोटे लोगों को गरीबों को दोनों हाथ लूटने' की नैतिक अनुमति देता है और उस अध्यात्म-परम्परा पर प्रच्छन्न प्रहार करते हैं जो मनुष्य को संसार को मायाजाल मानने और अपने को जनम से ही उसमें आबद्ध समझने की मानसिकता देती है। तदनुसार जब आदमी दुनिया में आया ही दुख भोग के लिए है तो दुख कैसा भी हो—भले वह दारिद्र्य दुख ही हो—उसे झेलना ही है। अपने समय के जन-सामान्य में बद्धमूल (आज भी व्याप्त) उक्त विश्वास को, जो अन्याय के प्रति विरोधभाव को ठंडा करता है, कथाकार एक खामोश धक्का देता है—एक अदीखता पर जबर्दस्त झटका। 'माया ठगिनी' वाला वैराग्य-गीत एक ऐसे समाज के लिए शोक-गीत ही हो सकता है, जिसमें घीसू-माधव जैसे बेशुमार लोग जिन्दगीभर पेट की मार सहने के लिए ही जन्मते हैं और बुधिया जैसी अनगिनत औरतें अकाल मौत मरने के लिए ही पैदा होती हैं। लेकिन शोकगीत बनाने के बजाय प्रेमचन्द इसे व्यंग्य-गीत में तब्दील कर देते हैं—कफ़न से कमाई 'माया' से क्षुधापूर्ति का उत्सव मनाते उनके कथापात्र जैसे इस मायानिन्दक भजनोपदेश का ही मखौल उड़ा रहे हों। यह अन्त कहानी में एक ऐसे हास्य की सृष्टि भी करता है जो विषाद-संयुक्त है—मदहोश बाप-बेटे की परलोक-चिन्ता के हास्य से फर्ज़ अदा न कर पाने की मजबूरी से उपजा दुख—पापबोधजन्य विषाद।

इस तरह यह कहानी बड़े इन्सानी सरोकारों को अपने में समेटे बारीक बुनावट वाली ऐसी बड़ी रचना है, जो वक्त-वक्त पर नई नज़रेसानी को न्यौता देती रहेगी। प्रस्तुत टिप्पणी भी हमारे उस राजनीतिक माहौल के खिलाफ कहानी-प्रेरित एक प्रतिक्रिया है, जो धार्मिक पुराणपंथ को नया खाद-पानी दे रहा है।

ऊँचे दर्जे का लेखक एक तरह से एक बेचैन आत्मा होता है। इन बेचैनों में बहुत-से रचनाकार साहित्य की दुनिया में जितनी हलचल मचाते हैं, उतना साहित्य के बाहर की दुनिया को प्रभावित नहीं कर पाते और बहुत-से रचनाकार साहित्य की दुनिया में उतनी धूम मचाते नहीं लगते, जितना उनका असर बाहर की दुनिया में होता है। ऐसा नहीं कि भाषा और विचार के अभिनवन के लिए विशेष सक्रिय लेखक आदमी की फिक्र नहीं करते या मनुष्य-भाग्य के प्रति विशेष विचलित शब्दकार अपने माध्यम के प्रति उदासीन होते हैं, लेकिन यह सच है कि जब भी हम अपने ज़माने के उलझन भरे इन्सानी मसलों को समझने के लिए साहित्य की तरफ रुख करते हैं तो उन अदीबों को ज्यादा याद करते हैं, जिन्होंने उन समस्याओं को खासतौर पर उठाया होता है जिनसे सामाजिक जीवन प्रभावित होता रहा है। प्रेमचन्द एक ऐसे ही अदीब हैं जो दुनिया को आदमी के रहने लायक एक बेहतर जगह बनाने की जद्दोजहद में बहुत याद आते हैं। उन्होंने साहित्य की जो कसौटी अपने सामने रखी वह थी—*''हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, जो हमें सुलाए नहीं, अब और सोना मृत्यु का लक्षण है।'' अपनी रचनाओं को उन्होंने इसी आदर्श पर गढ़ा और अपने बे-आवाज मज़्लूम देशभाइयों को आवाज़ दी। इसलिए साहित्य से न्यायचेतना-प्रेरणा की आशा रखनेवाले हिन्दी पाठक और वैसी आशा रखने वाले अन्यभाषी साहित्यप्रेमी भी उनके पास बराबर जाते रहेंगे।* आज तो प्रेमचन्द और प्रासंगिक हो गए हैं जब पूँजीवादी उदारीकरण के इस नए दौर में अरबपति-कुल की विस्तारित माया में करोड़-करोड़ गरीब-छायाएँ ओझल हो गई हैं और विकास के नारों के निनाद में कर्ज़ तले दबी सैकड़ों किसान-आत्माओं की चीख खो गई है। प्रेमचन्द इस मायाजन्य व्यामोह के पीछे के सच को देखने और इस निनाद-बाधित चीख को सुनने में हमें खूब मदद करते हैं। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैनेन्द्र का सच और 'मुक्तिबोध'

प्रभाकर श्रोत्रिय

कहा जाता है कि जैनेन्द्र ने हिन्दी कथा-साहित्य की स्थूल प्रत्यक्षता को मनोवैज्ञानिक दृष्टि दी और स्फीति की जगह संक्षेप या सांकेतिकता की राह दिखाई। कदाचित् इसी कारण आधुनिक जीवन के बड़े और जटिल प्रश्नों से जूझती उनकी कथाकृतियाँ प्रायः आकार में छोटी हैं।

परन्तु यथार्थ में गुँथे हुए मनोविज्ञान या मनोविज्ञान में गुँथी आधुनिकता तक ही जैनेन्द्र नहीं ठहरते। जो चीज उन्हें अन्य कथाकारों से या विगत—यहाँ तक कि—आगत से भी किसी हद तक अलग करती है और अद्वितीय बनाती है, वह है यथार्थ संश्लिष्ट मनोविज्ञान में दार्शनिक सत्यान्वेषण या तत्त्व-दृष्टि का समावेश, जो कई बार दृश्यमान यथार्थ के पूरे ढाँचे को ही अन्दर से पलट देता है। इस स्तर पर यथार्थ एकायामी नहीं रहता, अनेकार्थी हो जाता है। जो दिख रहा है वही अंतिम सत्य नहीं है, उसके भीतर अनेक परतें हैं और इन परतों में सत्य वैसे ही गुँथा है जैसे एक जलबिन्दु में असंख्य परमाणु। परन्तु वे अपनी बहुरंगी सचलता में झिलमिलाते तभी हैं जब उनमें सूर्य किरण प्रवेश करती है। जैनेन्द्र के यथार्थ में तत्त्व-दृष्टि का स्पर्श ऐसी ही बहुरंगी, बहुमुखी सक्रियता पैदा करता है। प्रत्यक्ष को अंतिम, अद्वितीय और अजेय मानने की स्थिरता के बदले निरंतर संशय को जन्म देने वाली प्रज्ञा उनकी जिज्ञासा के मूल में है।

यह कहना शायद अति नहीं होगी कि जैनेन्द्र से हिन्दी में वह बहस सही अर्थों में प्रारम्भ होती है जिसमें आलोचक और पाठक के मन-बुद्धि-चेतना-संवेदन-प्रेक्षण आदि एक साथ सक्रिय होते हैं। इसी जगह प्रेमचन्द का आस्वाद और जिरह जैनेन्द्र से अलग होती है।

वैसे मनोविज्ञान के समावेश से ही विषयवस्तु और रूप की एकायामिता खत्म हो जाती है, परन्तु जब एक कलाकार की तत्त्व-दृष्टि रचना को परिचालित करती है तो पाठक का दृष्टि-विस्तार होता है, आत्मा के खिड़की-दरवाजे खुलते हैं, बद्धताओं के घेरे टूटते हैं; जिज्ञासा जागती है, संदेह जन्म लेता है और विचारों का द्वन्द्व दृश्य के भीतर छिपे अंतःकरण की तलाश करता है, नतीजे में कई बार दृश्यत्व बदल जाता है। यही तो है सत्य का अन्वेषण-लेखक और पाठक दोनों के लिए।

जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की कोटि को लेकर फिलहाल यहाँ बहस नहीं करना है, सिर्फ कहना यह है कि जैनेन्द्र हिन्दी कथा साहित्य में तत्त्व-दृष्टि का समावेश करने वाले अगुआ लेखक हैं। सत्यान्वेषण के लिए जोखिम उठाने का साहस, यथार्थ और सत्य के सूक्ष्म-जटिल अंतर्संबन्ध और विभेदीकरण का कौशल, क्षुरधार जैसी

ए-601, जनसत्ता सहकारी आवास, सेक्टर-9, वसुंधरा, गाजियाबाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रखरता, हिन्दी पाठक ने पहली बार जैनेन्द्र के कथाकार में जानी।

यों तो आधुनिक साहित्य की मूल प्रतिज्ञा शिव और सुंदर की अपेक्षा सत्य है, जैसी दर्शन और विज्ञान की है। इस दृष्टि से साहित्य यथार्थ अथवा स्मृति से संबद्ध अनुशासनों से थोड़ा अलग हो जाता है। उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र, राजनीति जैसे यथार्थ विज्ञानों या इतिहास, पुराण, पुरातत्त्व, नृतत्त्वशास्त्र वगैरह स्मृति शास्त्रों से। इस कथन का दूरारूढ़ या इकहरा अर्थ खोजने की जरूरत नहीं है। मतलब सिर्फ यह है कि साहित्य का 'सत्य' उसे दर्शन और विज्ञान से जोड़ता है, जबकि यथार्थ और स्मृति उसकी प्रयोगशाला बनती है, अपने में बाँधने का उपकरण नहीं।

भारतीय साहित्य और साहित्यशास्त्र में इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सत्यान्वेषण उसके केन्द्र में रहा है। रस-निष्पत्ति को लेकर कितनी बहसें चली हैं ? कालिदास का पुराने और नए में सब कुछ अच्छा या सब कुछ खराब मानने का विरोध इसी कामना से उपजा है। मूल्य और विवेक के प्रश्नों का यही केन्द्रबिन्दु है। परन्तु यह सब कविता के क्षेत्र में हुआ है और उसके तत्त्व-चिंतन पर प्रायः आध्यात्मिक दार्शनिकता का प्रभाव रहा है। परन्तु एक तो आधुनिक कथा साहित्य का जन्म यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है, और दूसरे यह समझ लिया गया है कि सत्य का प्रश्न यथार्थ में ही निहित है या यह कि यथार्थ ही सत्य है। इस दृष्टि से रचा साहित्य कम महत्व का नहीं है, परन्तु यहाँ प्रश्न तुलना का नहीं है, उस नए समावेश का है जो जैनेन्द्र के माध्यम से हिन्दी कथा साहित्य में हुआ। परम्परा से यह इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें आध्यात्मिक न होकर वैज्ञानिक और व्यावहारिक तत्त्व-दृष्टि है।

जैनेन्द्र की प्रारंभिक कथाकृतियों को तत्कालीन पाठकों और आलोचकों ने उत्साह और ताजगी के अहसास से लिया। परन्तु पाठ संबंधी असुविधा भी उन्हें महसूस हुई; कथा, चरित्र और कथ्य में अटपटापन लगा क्योंकि वे आस्वाद और स्फीति की भिन्न धारा के अभ्यस्त थे। फिर स्वयं जैनेन्द्र के लिए भी यह अन्वेषण का दौर था। लगता है कि अभिव्यक्ति के पहले वे भीतर-भीतर अपने संसार से इतना जूझ चुके होते थे कि वह उनका परिचित और स्वाभाविक संसार बन जाता था। और जब वे उसे अभिव्यक्त करते थे तो इस तरह, मानो पाठक भी उन सवालों से जूझ चुका हो और वह दुनिया उसकी भी परिचित हो। यह वैसा ही था जैसे कोई निष्णात वकील उस व्यक्ति को कानूनी धाराओं की संख्या और क्रम बताता हो जो उसके सामने अपनी परेशानी या वाद लेकर आया है। हो सकता है कि यह उपमा यहाँ ठीक उसी तरह लागू न हो, क्योंकि साहित्य और कानून में मौलिक अन्तर है। लेकिन तब *सुनीता, परख, त्यागपत्र* आदि को लेकर ऐसे सवाल उठते थे, मानो जैनेन्द्र किसी अपरिचित कथा और अस्वाभाविक पात्रों या घटनाओं को उठा लाए हों। परन्तु रचना इतनी ताज़गी और विशिष्टता से भरी होती थी कि पाठक और आलोचक को उत्खनन के लिए उकसाती थी और वह प्रश्नों, चरित्रों, घटनाओं के साथ ही रचना-प्रक्रिया से जूझने को भीतर से बाध्य हो जाता था और जैसे-जैसे पाठक के आगे अमूर्त दृश्यत्व खुलने लगता था, वैसे-वैसे मूर्त दृश्यत्व उसे स्वाभाविक और परिचित लगने लगता था।

फिर जैनेन्द्र भी अपनी तात्त्विक चिंताओं, प्रश्नों और अभिव्यक्ति के अनोखेपन के साथ अपने बड़े पाठक और आलोचक समुदाय के बीच जीवन भर खुले रहे हैं। निर्गंथ होकर वे पीढ़ियों, विचारों और आघातों के बीच, मौजूद रहे हैं। सत्य के अन्वेषण की ऐसी निष्कपट और साहसपूर्ण उत्कटता इधर कम ही देखी गई है।

ऊपर हमने जैनेन्द्र में मनोविज्ञान से संश्लिष्ट यथार्थ में दर्शन या तत्त्व-दृष्टि के समावेश की बात कही है। उसे व्यावहारिकता की कसौटी पर परखने के लिए हम उनका बाद के काल में लिखा एक अल्पचर्चित उपन्यास लेते हैं–'मुक्तिबोध'। जिसके शीर्षक से ही एक ज़िरह शुरू हो जाती है। क्योंकि 'मुक्ति' एक अध्यात्ममूलक दर्शन का शब्द है और बोध अपेक्षाकृत मनोलौकिक जगत का। मुक्ति संसार-बंधन से 'मुक्त' होना है लेकिन यह उपन्यास मुक्ति को उस अर्थ में लेता है जिस अर्थ में दर्शन बंधन को लेता है। यहीं से अर्थ की जटिल और बहुस्तरीय संरचना दिखना शुरू हो जाती है।

मनुष्य का आत्म द्वन्द्व बाह्य-निरपेक्ष नहीं होता, वह आमतौर पर बाहरी संसार की अपने भीतर की गई व्याख्याओं अथवा वास्तविक विघ्नों या कई बार काल्पनिक भयों, विपत्तियों और अनिश्चयों से भी उत्पन्न होता है। रूसो कहता है कि 'आदमी आजाद पैदा हुआ है, लेकिन वह हर कहीं जंजीरों में जकड़ा हुआ है'–यानी वह बाहर से आबद्ध है तो बहुत हद तक भीतर से भी है। फर्ज कीजिए कि द्वन्द्व बाहर और भीतर का है, तो ये दोनों अपनी ताकत और घनत्व के परिमाण से एक दूसरे को प्रभावित या आंदोलित करते हैं। यदि बाहरी संसार सघन और ताकतवर है, तो वह भीतरी संसार में विक्षोभ उपस्थित करता है, और यदि भीतरी संसार ताकतवर है तो वह बाहरी संसार के खिलाफ डट जाता है। विरोधी मुद्रा में बाहर और भीतर की दुनिया का आमने-सामने खड़ा होना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के भीतर तनावों को जन्म देता है। यह संघर्ष जितना जाता है और इसमें अंतर्द्वन्द्व और बाह्यद्वन्द्व के भी अपने बनते जाते हैं तो यह और अधिक जटिल और पेचीदा होता है। ऐसे में क्या किया जाए पलायन ? या उन स्थितियों को स्वाभाविक मानकर जीवन-समर में उतर जाया ?

इन्हीं सवालों को लेकर 'मुक्तिबोध' की रचना हुई, के भीतर 'सत्य' की खोज लगातार सक्रिय रहती है। अब देखिए। मुक्तिबोध का कथानायक सहाय केन्द्रीय पर राजनेता है। उसकी उम्र इस समय 54 वर्ष हो गई है। का मन राजनीति से उखड़ गया है। वह एक 'शान्त' और रहित जीवन जीने की कोशिश में 'बेचैन' है। उसकी मूल बाह्य संघर्षों में उलझने की रही है, यानी वह मूलतः मुखी है। इसलिए मन में उत्पन्न विराग से पहले तो अपने स्तर पर उसे लड़ना पड़ता है। उसका मन विभाजित है। चैन से सोने नहीं देती। उसके व्यवहारों में अन्तर्द्वन्द्व के परिवर्तन आ गया है।

लेकिन सहाय का द्वन्द्व इतना भीतरी और निजी भी नहीं उसने जो दुनिया खुद रची है, वही आज उसके पैरों की बन गई है। उससे जुड़े संसार की पहेली यह है कि वह के भीतरी विप्लव को बाहरी कारणों से जोड़ता है। यहाँ तक सहाय की पत्नी राजश्री भी समझती है कि वह पुत्र की में घुल रहा है। वह इसके अलावा कुछ सोच भी नहीं क्योंकि कभी उसने सहाय के मुँह से पीछे हटने या कर्म होने की बात नहीं सुनी। दूसरी बात यह है कि सहाय प्रपंच से परे हटना चाहता है, उससे उसका स्व-रचित हटने नहीं देता। अजीब तरह की आबद्धता है ? यानी से मुक्त होना है, वह खुद अपने प्रपंच में बँधा है ! द्वन्द्व और बाहर के दो जटिल वृत्तों में बँट गया है जो अपने भी द्वन्द्वरत हैं। यहाँ चरम-त्रासदी यह है कि उसकी 'स्वायत्तता' अकेली छूट गई है। इस हद तक कि यह 'स्वायत्तता' ही स्वायत्त नहीं रही है।

सहाय के सामने मंत्री बनने का प्रस्ताव रखा गया है जिसे अस्वीकार करना चाहता है। इधर प्रसंगवश कामराज योजना लागू हुई है जो बड़े नेताओं से आग्रह करती है कि वे से उतरकर जनता के बीच जाएँ, ताकि कांग्रेस की साख शक्ति बढ़े। सहाय कामराज योजना में पद-मुक्त होने की इच्छा रखता है। पर वह, उसके लिए सिर्फ एक आड़ है, एक बहाना। यानी इस 'मुक्ति' के बारे में वह कांग्रेस की भाषा में नहीं, अपने 'अनुवाद' में सोचता है। फलस्वरूप फैसला नहीं कर पाता कि उसके मन में यह आसन्न जन्मी भावना पारिस्थितिक है या स्वैच्छिक है ? या...क्या है ? इधर सहाय को ये प्रश्न उद्वेलित किए हुए हैं और उधर उसके स्वजन अपनी समझ के आधार पर उसकी मनःस्थिति को निराशा, पलायन, कुंठा, जिद, ढोंग जैसे शब्दों में निरूपित करते हैं। सहाय की पुरानी प्रेमिका नीलिमा उससे सवाल करती है :

"और तुम कह सकते हो कि देश का नंबर एक बनने की तुम्हारी स्पृहा नहीं रही ? मैं कहती हूँ ये शब्द हार के हैं नीति-अनीति। हार को अपनाने के लिए, तुम इन शब्दों को टटोल लाए हो, और मेरे सामने ऊँचा उठा रहे हो।"

सहाय इस आरोप का खंडन नहीं कर पाता। उधर स्वयं उसका बेटा, उसके मुँह पर नीलिमा से कहता है :

"इनका यह ढोंग है कि पद नहीं चाहिए। पद के लिए तो सारा त्याग-तपस्या का यह रूप है। ऊपर जो है नखरा है। इसलिए कि आग्रह-अनुरोध और हो, और जाहिर कर सकें कि पद ने नहीं, इन्होंने पद पर कृपा की है।"

यह सुनकर सहाय स्तब्ध रह जाता है। लेकिन इस बात को काटने के लिए भी उसके पास कोई तर्क नहीं है। क्योंकि वह स्वयं ऐसे प्रश्नों से भीतर जूझ रहा है और अपने इस आकस्मिक परिवर्तन को किसी निर्णय से जोड़ नहीं पाता।

सहाय से जुड़े तमाम लोग उस पर ऐसा निष्करुण हमला क्यों कर रहे हैं ? अधिकार पाने की इच्छा का विरोध तो हो सकता है लेकिन अगर कोई स्वेच्छया अधिकार त्यागना चाहे तब उसे इस इच्छा से विरत करने के लिए हल्ला क्यों मचाया जा रहा है ? क्या सहाय देश की अनिवार्यता है ? क्या सहाय का कोई विकल्प नहीं है ? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर है– नहीं। वी. पी. के पास विकल्प हैं। सहाय के बिना देश डूबा भी नहीं जा रहा है। वह तो वास्तव में अपने इर्द-गिर्द घिरी दुनिया की स्वार्थी जरूरत है। बेटी अंजलि का यह क्रुद्ध वाक्य : "आपका मन भर चुका होगा पर हमें तो अभी सब कुछ पाना है। आप क्या अपने लिए रहेंगे कि कुछ आए तो चाहें लें चाहें न लें।" या बेटे वीरेश्वर का यह सवाल : "आपकी अच्छी-अच्छी बातों से तो मेरे हाथ नहीं भर जाते ?" या चुनाव के सहायक ठाकुर महादेव सिंह की यह दिक्कत : "हमने तुम्हें नेता बनाया। तुम्हारे बिना दल हमारा बिखर जाएगा।"

क्या इन बातों से जाहिर नहीं होता कि सहाय के पद न लेने से उसके सीमित संसार के स्वार्थ को नुकसान पहुँचेगा ! यही जानकर सहाय को महसूस होता है कि लड़ाई खुद उसे अपने से ही नहीं लड़नी है, बल्कि उसका एक और प्रतिपक्ष है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो उसके बाहर है; जिसे सीढ़ियाँ बनाकर उसने अपनी राजनीतिक उच्चाकांक्षा को पाया है। या जिसे उसने स्वयं अपने देह, मन, प्राण से जन्म दिया है। सहाय का अर्जुन-मन अगर इन्हें प्रतिपक्ष में खड़ा देखकर संशयग्रस्त हो जाए तो अचरज क्या है ? उसकी बाहरी लड़ाई, शायद इसी वजह से मानसिक चिंता में बदल जाती है :

"स्वतंत्रता क्या सचमुच कोई चीज होती है ? जब तक अपने से इतर अनेकों (अनेक) मौजूद हैं, तब तक स्व का अपना कोई तंत्र शायद नहीं चल सकता। अजब मालूम होता है कि एक अनेक से किस तरह बँधा है ?"

अगर सहाय कोई एकांतिक आत्म-साधना करता तो जो सिद्धि उसे प्राप्त होती उसे स्वीकारने या त्यागने के लिए वह स्वाधीन होता। लेकिन उसे जो कुछ हासिल हुआ है उसमें बाहरी संसार का काफी कुछ सहयोग रहा है। इसके अतिरिक्त वे लोग भी हैं जो सहाय के पद, अधिकार और सम्भावना के कारण उससे जुड़े हैं। ये सब उसे कैसे मुक्त कर सकते हैं ? सहाय की संबद्धता और विवशता ने स्वयं ही अपने चयन का अधिकार खो दिया है। अब उसकी नियति का निर्णय एक चक्राकार संबद्ध दुनिया ही कर सकती है।

जैनेन्द्र ने इस तथ्य पर ठीक बल दिया है कि आज की राजनीति एक संकुल अभेद्य व्यूह में बदल गई है। राजनीति अभिमन्यु की भाँति स्वार्थ सिद्धि के लिए व्यूह में धँसने को तो धँसता चला जाता है, यहाँ तक कि वह इसके केन्द्र में पहुँच जाता है, लेकिन उससे निकल नहीं पाता। सहाय का यह भ्रम ही है कि उसे ऊँचाइयों पर अकेला छोड़ दिया है। क्योंकि आत्म-साधना के शिखरों पर आरोहण करते हुए ऊँचे और ऊँचे चढ़ते हुए तो व्यक्ति अवश्य ही अकेला छूट जाता है, लेकिन राज-पद के शिखरों पर ऊँचे चढ़ते हुए उसके संलिप्त संसार का काफिला बढ़ता ही जाता है। यानी राजनीतिक शिखरों की जितनी ऊँची यात्राएँ व्यक्ति करता है उतना ही वह संबद्ध संसार में धँसता चला जाता है। सहाय को जिन लोगों की उपेक्षा के कारण अकेले छूटने का भ्रम हुआ है, वे तो वास्तव में उसकी कथित मुक्ति-कामना के प्रति अपने-अपने स्वार्थ की हानि के भय से, संगठित विरोध प्रकट कर रहे हैं। अन्यथा पद स्वीकारते ही वे क्यों उसके अनुकूल हो जाते ?

ठाकुर महादेव सिंह, भानुप्रताप, कुँवर आदि उन किस्म-किस्म के परस्पर विरोधी चरित्रों के प्रतीक हैं, जिनके माध्यम से एक राजनीतिक अपने को स्थापित करता है और प्रभामण्डल का विस्तार करता है। तब वह प्रतिदान के स्तर पर कैसे मुकर सकता है ? सहाय की पद-मुक्ति की चाह में प्रच्छन्न रूप से उन्हें प्रतिदान से भागने का संदेह होता है—जिसके खिलाफ ये सब, जो अपने व्यक्तित्वों में परस्पर विरोधी हैं एकजुट खड़े हैं।

जो लोग सहाय को घेरे हैं, उनकी भी कुछ जायज दिक्कतें हैं। आज गुणों या मूल्यों की तो कोई पूछ है नहीं, केवल उन्हीं की पूछ है जिनमें लाभान्वित करने की क्षमता है। इसीलिए आज व्यक्ति ऐसे ही लोगों से संबंध बनाने के लिए परेशान दिखता है या इससे वह अपने को सुरक्षित और सुदृढ़ महसूस करता है। राजनीतिज्ञ भी इस शक्ति का उन्हें बराबर अहसास कराते रहते हैं। ऐसी हालत में यदि वह व्यक्ति स्वेच्छा से लाभान्वित करने वाले पद से नीचे उतरना चाहे तब सहायता करनेवाले अपने परिश्रम को व्यर्थ कैसे जाने दे सकते हैं ? वीरेश्वर की परेशानी वस्तुतः ऐसे समस्त संबद्ध लोगों की परेशानी है :

"इनका नाम है और मैं इनका बेटा समझा जाता हूँ। और बाहर सब इनके नाम के हिसाब से मुझे नापते हैं और मैं छोटा बन जाता हूँ।"

संबंधों का यह हिसाब-किताब बड़ा विचित्र है ! कोई बड़े संबंधों से अनायास छोटा बन जाता है और फिर छोटा बनने की कीमत माँगता है, जबकि इसमें आरोपित व्यक्ति का कोई हाथ नहीं है। जैसे पिता-पुत्र होना राजनैतिक संबंधों की तरह अर्जित नहीं है। दरअसल बड़े आदमी के पुत्र की पीड़ा यह नहीं है कि वह छोटा हो गया है, उसकी पीड़ा यह है कि यदि पिता का नाम बड़ा नहीं होगा तो उसका छोटा होना निरर्थक हो जाएगा !

तो, एक राजनीतिक जीवन के आसपास कितने स्वार्थों, मजबूरियों और महत्वाकांक्षाओं के आवर्त्त हैं ? इन सबके बीच 'मुक्तिबोध' शब्द कितना अजनबी और व्यर्थ है ? आज की राजनीति बोध के स्तर पर होती ही नहीं, वह तो स्वार्थ के स्तर पर होती है। वहाँ सिर्फ मुक्ति का ही नहीं, बल्कि हर प्रकार का बोध पराजित होता है। वह बाहरी घटकों के संयोजन और समायोजन से चलती है। यदि यह नहीं हो पाता तो न केवल राजनीतिक जीवन ध्वस्त होता है, वरन् अपना निजी संसार भी छिन्न-भिन्न हो जाता है।

उपन्यास आज अधिक प्रासंगिक है, क्योंकि आज की राजनीति जन-केन्द्रित नहीं है। वह व्यक्ति और गुट-केन्द्रित है। इस पूरे उपन्यास में जनता कहीं नहीं हैं। नेता है, परिवार है, राजनीतिक एजेंट हैं, स्वार्थी लोग हैं, अखबार-तंत्र है लेकिन जनता एकदम नदारद है। जाहिर है सब कुछ किनके बीच तय होना है ?

राज-मन स्वयं भी मुक्ति जैसे निर्विकल्प, शान्त और सूक्ष्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्थित नहीं रह पाता। वह उसमें एक क्षणिक मनःस्थिति रूप में पैदा होती है। इसे आप श्मशान-वैराग्य की संज्ञा दे सकते हैं। सहाय गांधी की समाधि पर पहुँचकर भले ही कुछ क्षणों के लिए शान्त आध्यात्मिक मनोभावों में लीन हो जाता है लेकिन कार में बैठकर घर लौटते ही उसके आसपास अपनी परिचित दुनिया घिर आती है। यदि वास्तव में सहाय को मुक्ति का सच्चा बोध हुआ होता तो वह पद-विहीन होकर इतना 'मुक्त' नहीं हो जाता :

"यद्यपि मन में निश्चय बढ़ता जा रहा है कि मंत्रित्व कोई काम नहीं होता, तो भी इसके बिना तो इधर मैं और भी अपने को बेकार लग रहा हूँ। तब व्यर्थ ही सही, एक व्यस्तता तो थी। इस सार्थकता की तलाश में एकदम शून्य हुआ बैठा हूँ।"

यह शून्य पिटा हुआ, घिसा हुआ शून्य, जिसे न 'शून्य' कहा दिया जा सकता है न 'मुक्ति'। क्योंकि मुक्ति सम्पूर्णता रिक्तता नहीं; और शून्य एक निर्विकल्प समाधि की अवस्था है। सहाय का अनुभव इस बात का प्रमाण है कि उसका शून्य अपने और अपने जगत में लिथड़ा हुआ, तृष्णा और विवशता से जकड़ा है। उसका मुक्ति-बोध पलायित मन का मुखौटा है। वह दृढ़तापूर्वक न तो बंधनों और अवरोधों से लड़ सकता है, न उसमें पूरे मन-वचन-कर्म से लिप्त हो सकता है। नतीजा यह होता है कि वह जिस शिकंजे से निकल भागना चाहता है वही उसके विभाजित मन को ज्यादा सख्ती से जकड़ लेता है।

'नारी' जैनेन्द्र के सम्पूर्ण साहित्य में उलझावों को सुलझाती है। हर समस्या का समाधान वह अपने मुक्त राग से करती है। जैनेन्द्र के यहाँ नारी परम्परा से उल्टे अर्थों में प्रतिष्ठित है। 'पुरुष मुक्त है और नारी बंधन' जैसा विचार जैनेन्द्र के साहित्य में उलट गया है। यह नारी न सिर्फ स्वयं मुक्त है, बल्कि वह बँधे हुए पुरुष को खोलती है। इस कार्य में वह अपने शरीर को भी कसौटी बनाने में भी नहीं हिचकती। वह किसी भी हद तक जाकर पुरुष को विगलित, विचलित और 'मुक्त' करती है। 'सुनीता' में हरप्रसन्न जब जंगल में अपना मन खोलता है, तो सुनीता अपने कपड़े खोल देती है। उसका उद्देश्य सेक्स का चरम दिखाना नहीं, बद्धता की दीवारें तोड़ना है; अवरोध का ध्वंस करना है। 'मुक्तिबोध' की नीलिमा भी एक खुले मन की स्त्री है। सहाय उसे 'जीवंत लहरीली' कहता है, जो सौ-फीसदी सच है। वह मुक्तप्रवाही आदिमता और स्वच्छंद स्वभाव की स्त्री है। वह सहाय जैसे द्विधा विभक्त और पलातक व्यक्ति को अपने मुक्त साहचर्य, अकुंठ समझदारी और गहरी संवेदना से प्रभावित कर संघर्ष के वास्तविक मार्ग पर लाती है। चाहे सूर्यकुण्ड हो, होटल-बार हो या परिजनों की भीड़—वह सर्वत्र अपनी स्वच्छंद उत्फुल्लता और स्पष्ट वैचारिक संवेदना से काम लेती है।

उसके व्यक्तित्व की अकृत्रिमता, सहाय के मुखौटे उतारती है, दूसरी ओर उसके आसपास के संसार से उत्पन्न नकली तनावों को दूर करने की समझदारी विकसित करती है। वह सहाय के लिए कर्म-जीवन के भीतर मुक्ति का मार्ग खोलती है। नीलिमा के प्रयत्नों का ही यह परिणाम होता है कि सहाय मंत्री पद स्वीकार कर लेता है।

उपन्यास में अंत में ऐसा लगता है कि सहाय ने अपने जमाई को खतरे से बचाने के लिए सौदेबाजी के रूप में मंत्री पद स्वीकार किया है, लेकिन सच है कि नीलिमा ने सहाय के सम्पूर्ण मानसिक अवरोधों को दूर कर उसके भीतर एक संघर्षरत कर्मण्य जीवन का उत्साह उत्पन्न कर दिया है। पद स्वीकारना तो उसकी औपचारिक परिणति मात्र है।

जैनेन्द्र ने एक राजनीतिक व्यक्ति के; जिसे एक बहुत ही निहितार्थी संसार में लिप्त व्यक्ति कहा जा सकता है, विभाजित आत्म का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह व्यक्ति बाहर और भीतर के दबावों के कारण इतना विवश है कि उसकी स्वाधीनता खो गई है, उसका आत्म-निर्णय संभ्रम में बदल गया है, वह अपनी रची दुनिया से (चाहे तो भी) पलायन नहीं कर सकता। पहले से स्वीकृत और स्वयं रचे कर्म-मार्ग से मुक्ति चाहना एक निरर्थक विचार है। जीवन-संघर्ष को एक अवरोध के रूप में नहीं, एक सहज प्रवाहित जीवन-धारा के रूप में स्वीकार करने से ही मनुष्य की मुक्ति होती है। नीलिमा की उपस्थिति कर्म-मार्ग की कुंठा दूर करने और जीवन के मुक्त प्रवाह को सम्पूर्णतः स्वीकार करने की प्रेरणा के रूप में है। 'स्त्री' और 'प्रवाह' का जैनेन्द्र का यही पैटर्न है जो यहाँ राजनीतिक पटल पर रचा गया है। उनका तत्त्व-चिंतक यहाँ भी पूरी तरह मौजूद और सजग है। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साक्षात्कार

चार मुख का राक्षस और कविता : (चन्द्रकांत देवताले से बातचीत)

रमेश राऊत

सी-4, भगीरथ एन्क्लेव, खिंवसरा पार्क, गारखेडा, औरंगाबाद-431005

क्या आपको अब भी अपना गाँव जौलखेड़ा याद आता है?

मेरा गाँव मेरी स्मृति का एक जबरदस्त हिस्सा है। वह मुझसे छूटता ही नहीं। कोई भी दिन ऐसा नहीं जाता होगा जब गाँव की कोई न कोई चीज, जगह, घटना, पेड़, कोई न कोई चेहरा याद नहीं आता होगा। मेरा गाँव जौलखेड़ा बैतूल जिले में है। हम थोड़ा-सा उधर होते तो महाराष्ट्र में होते। थोड़ा-सा इधर हो गए इसलिए मध्य प्रदेश में हैं। वैसे बैतूल मध्यप्रदेश में था ही नहीं। सी. पी. वेरार में था वह। बाद में मध्यप्रदेश में हो गया। बहुत छोटा-सा गाँव था जौलखेड़ा। गाँव से रेलवे स्टेशन बहुत दूर था। स्टेशन पर दस मुश्किल से एक मिनट के वास्ते गाड़ी रुकती थी। जैसे अहसान जता रही हो। इसलिए वहाँ स्टेशन पर हमारा हड़बड़ी में सामान भीतर पटकना अब भी याद आता है। हम इंदौर से आते थे दो महीनों की छुट्टियों में। बस का रास्ता भी गाँव से दूर था। मोही नाम का गाँव था, वहाँ से बस मिलती थी। बैतूल और मूलतापी के बीच में वह गाँव। मूलतापी से नागपुर और अमरावती समान अंतर पर थीं। मेरे पिताजी और माँ दोनों ही जौलखेड़ा के थे। मेरे पिताजी वहाँ काफी दिन रहे। बाद में रेलवे में गुड्स क्लर्क बने। उन्हें सबसे पहले इंदौर में अपॉइंटमेंट मिला। मेरा जन्म भी जौलखेड़ा में हुआ। दो साल का होने तक हर छुट्टी में वहाँ गया। वहाँ काका थे, मौसी थीं, बड़ा परिवार था। हमारी नानी को कोई लड़का नहीं था। इसलिए वहाँ का मकान माँ के हिस्से में आया। माँ और उसकी दो बहनों के हिस्से में। उस मकान को हमारी एक मौसी देखती थी। खेत था। खेत में जामुन के पेड़ थे। जबरदस्त मीठे आम थे। मेरी एक कविता है, 'गाँव तो थूक नहीं सकता मेरी हथेली पर।' उसमें मेरे गाँव और बचपन का बहुत कुछ आपको दिखेगा। जब हम गाँव इंदौर लौटते थे तो मौसी, नानी वगैरा बूढ़ी औरतें मेरा हाथ हाथ में लेती थीं और धीरे से एक-दो बूँद थूकती थीं। मैं पूछता 'क्यों?' तो कहतीं 'इसलिए तू जिंदगी भर हमको याद रखेगा।' गाँव तो नहीं थूक सकता था हथेली पर। लेकिन उसकी याद मेरे अंदर मौजूद है। यह एक विश्वास-सा है। मेरे पैदा होने से दस बरस पहले पिताजी गुड्स क्लर्क की नौकरी पर लगे। मैं चार भाइयों में सबसे छोटा हूँ। मैं जब पैदा हुआ तब तक पिताजी को इंदौर में आए आठ बरस हो चुके थे। मेरी शिक्षा इंदौर में हुई। बाद में पिताजी का तबादला बड़वाह हुआ। मैंने 1952 में वहीं पर अपनी पहली कविता लिखी। तब मैं आठवीं में था। चौथी से आठवीं तक—पाँच साल मैं बड़वाह में पढ़ा। बाद में हाईस्कूल की पढ़ाई के लिए इंदौर आया। इंदौर में हम किराये के मकान में रहते थे। तीन बड़े भाई वहाँ पढ़ते थे। बड़वाह से इंदौर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन घंटे का रास्ता है। बिना टिकट आना-जाना होता था। चूँकि पिताजी गुड्स क्लर्क थे। मैं कहता 'माय फादर इज गुड्स क्लर्क।' टिकट चेकर सिर्फ गर्दन हिलाकर पूछता 'कहाँ ?' तो मैं कहता 'बड़वाह।' बाद में यह अच्छा नहीं लगता था इस तरह से बिना टिकट सफर करना।

आपको सबसे पहले कब अहसास हुआ कि आप कवि हैं ?

1956-57 में ही मुझे अहसास हो गया था कि मैं कवि हूँ। 1954 में 'नई दुनिया' में मेरी कविता छपी थी। तब मैं हाईस्कूल में था। 1953 में हाईस्कूल मैगजीन में मेरी कविता छपी थी। उस कविता का शीर्षक था 'मजदूर'। मुझे खुद आश्चर्य होता है कि नौवीं कक्षा में मैं मजदूरों को इतना नहीं जानता था, फिर भी वह कविता कैसे लिखी। मेरे रिश्ते के एक मामा भंडारी मिल में जाते थे। मेरे ख्याल से वह वक्त ऐसा था कि जो भी ठीक-ठाक कुछ काम कर लेता था वह अच्छे से रह लेता था। दयनीय नहीं होता था। आज तो बड़े-बड़े लोग भी दयनीय नजर आते हैं। उस वक्त सुरक्षा, शान्ति और संतुष्टि बनी रहती थी। वह उस समय की विशेषता थी। तो मैंने मजदूर पर कविता लिखी। मेरे ख्याल से सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की 'भिक्षुक' कविता का मेरे मन पर असर रहा होगा। 1956-57 में मेरी कविता 'ज्ञानोदय' में छपी थी। 'ज्ञानोदय' उस समय की बहुत प्रतिष्ठित पत्रिका थी। उस समय मैं बी. ए. प्रथम वर्ष में था। 'धर्मयुग' में भी एक कविता छपी थी। तब मुझे मालूम पड़ा कि मैं कवि हूँ। 1960 में हिंदी कविताओं का श्रेष्ठ संचयन 'कविताएँ 1957' में मेरी कविता आ चुकी थी। 1961 में मैं हिंदी का व्याख्याता बना। साथ-साथ अपने विद्यार्थी जीवन में मैंने अखबारों में बहुत काम किया। 'नई दुनिया', 'जागरण', 'नवभारत' आदि अखबारों में। मेरे ख्याल से इंदौर के सभी अखबारों में काम किया और हर जगह झगड़कर छोड़ दिया। गवर्नमेंट मैगजीन 'समाजसेवा' में भी काम किया। उसमें सब नागपुर के लोग थे। अनिल कुमार, मनमोहन मदारिया, वामन ठाकरे, वगैरह। सब मुक्तिबोध के साथ रह चुके थे। उन लोगों की वजह से मैं 1957 में मुक्तिबोध के सम्पर्क में आया।

मुक्तिबोध से आप कब मिले ?

अपने अंतिम समय में जब मुक्तिबोध दिल्ली में अस्पताल में भर्ती थे तब मैंने उन्हें पहली बार देखा। नाक में नलियाँ थीं। तब तक उनके ऊपर मेरी दो कविताएँ छप चुकी थीं। मैंने उनकी कविता नागपुर आकाशवाणी पर सुनी थी। लेकिन मैंने उन्हें सिर्फ अचेत अवस्था में देखा। बस उनको देखने के लिए ही गया था।

मुक्तिबोध के प्रभाव से आप कैसे बाहर निकल पाए ?

मुक्तिबोध में बहुत गहरा सोच और चिंतन है। वे एनर्जी और ऊष्मा देते हैं। मैं उनको बहुत बड़ा कवि मानता हूँ। वे मुझे हर मोड़ पर याद आते हैं। मैं गुजरात की बात करूँ, साम्प्रदायिकता की बात करूँ, फरेबी राजनीति की बात करूँ मुझे मुक्तिबोध याद आते हैं। मुक्तिबोध को सिर्फ इमरजेंसी ही नहीं आज के विघटन का भी पूर्वाभास हो गया था। बीसवीं सदी में मुक्तिबोध के बराबर कोई कवि नहीं है।

नहीं, मैं पूछ रहा था कि आप रचना-प्रक्रिया में मुक्तिबोध के प्रभाव से कैसे बाहर आए ?

नहीं, उनका इतना प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा। मेरी एक-दो कविताओं में वह दिखता है। लेकिन मुक्तिबोध ऐसे कवि हैं कि किसी की कविताओं पर उनका प्रभाव हो ही नहीं सकता। उनका अनुकरण किया नहीं जा सकता। उनमें जो फैंटेसी और कल्पना की उड़ान है, जैसा दृश्यावलोक है वह दूसरा कवि चाहकर भी नहीं कर सकता। उनके भीतर जो समुद्र जैसी अनंत बेचैनी थी, उसके बगैर वह हो ही नहीं सकता। मुक्तिबोध का कोई बाहर से अर्जित किया हुआ फॉर्म नहीं है। उनके भीतर की जो तमाम बेचैनियाँ हैं, ह्युमन कन्सर्न है, उसका विस्फोट है। उसका भी कोई अनुकरण नहीं कर सकता। उन्होंने साहित्य और जीवन के प्रश्नों को अलग-अलग बाँटकर नहीं देखा। उनके लिए साहित्य या कविता जुदा सवाल नहीं था। साहित्य का सवाल जीवन का था, जीवन का सवाल साहित्य का था।

आप शुरू से ही मुक्तिबोध के अभ्यासक रहे हैं। इसका कारण क्या है ? क्या आप अपने को उनमें देखते थे ?

उनमें अपने को देखना अति हो जाएगा। क्योंकि उनके जैसा संघर्षपूर्ण जीवन और वह सब तमाम चीजें और किसी में हो ही नहीं सकतीं। और ऐसा कहने को मुक्तिबोध से बराबरी मानी जाएगी। फिर भी, मुझे हमेशा से ऐसा लगता रहा है कि मैं मुक्तिबोध के साथ, उनके आजू-बाजू में खड़ा हूँ। उनके जैसा तो मैं बन नहीं सकता। उनकी छाया में भी नहीं खड़ा हूँ। उनकी छाया का हिस्सा भी नहीं हूँ। पर मैं उनको देखता हूँ। उनके जितना संघर्ष तो मैंने नहीं देखा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्तिबोध की मातृभाषा मराठी थी, आपकी...

मेरी भी मराठी मावसबोली है। मैं मराठी को अपनी मौसी मानता हूँ। मातृभाषा तो हिन्दी है। मुझे बचपन से ही मराठी से बहुत प्रेम है। मैंने जिन्दगी में एक ही नाटक में काम किया है और वह 'कंसवध' नाम का मराठी नाटक था। मैं उसमें चाणूर बना था। हमारे बहुत सारे रिश्तेदार मराठी हैं। अब मैं देवताले हूँ या देवस्थळे हूँ यह कहना भी मुश्किल है।

आप लगभग पैंतीस सालों से कविताएँ लिख रहे हैं...इस दौरान आपकी कविताओं में क्या परिवर्तन हुए ?

आप साठ से गिनो ना। चालीस साल हो गए। और अगर बावन से गिनोगे तो बहुत ज्यादा हो जाएँगे। पचास हो जाएँगे। 62 में तो लगभग हर मैगजीन में मेरी कविता आने लगी थी। मुझे ऐसा लगता है कि इतने सालों से कविताएँ लिखने के बाद भी मैं अपनी बात ठीक से कह नहीं पाया हूँ। और अब ऐसा समय आया है कि किसी भी आदमी के व्यक्तित्व को ठीक से समझ पाना बहुत कठिन हो गया है। बहुत सारे लोग अध्यात्म वगैरह की बातें करते हैं। लेकिन यह अध्यात्म वगैरह मुझे कभी आकर्षित नहीं करता। मुझे नहीं लगता कि यह जो अध्यात्म वगैरह की बातें हैं वह हमें सच्चाई को समझने में मदद करती हैं। अगर कोई बड़ी ताकत दुनिया में है भी तो मैं उसे भी प्रकृति के बाहर नहीं मानता। पेड़ मेरे लिए पेड़ है और निसर्ग की एक बड़ी देन है। लेकिन पेड़ के पत्तों की आवाज में मुझे ईश्वर की आवाज नहीं सुनाई देती, पत्तों की ही आवाज सुनाई देती है। और उसी में मुझे पेड़ की सार्थकता लगती है और अपने मनुष्य होने का विश्वास बना रहता है। अगर ईश्वर की आवाज सुनाई दे रही है तो मुझे समझ में आनी चाहिए। आप मुझसे उम्मीद करते हो कि मेरी कविता आपके समझ में आनी चाहिए। तो वैसे ही ईश्वर की आवाज भी तो मेरी समझ में आनी चाहिए।

आप कह रहे थे कि आप जो कहना चाहते थे वह अब तक कह नहीं पाए...

हमेशा ऐसा ही रहेगा। अंतिम समय तक ऐसा ही रहेगा। और अगर मैं जो चाहता हूँ वो हो जाए तो मेरा कहना बंद हो जाएगा। हम नई परिस्थिति में नया कहना चाहते हैं। मुझे कुछ ज्यादा संतोष नहीं है कि मैंने कोई बड़ा काम किया है। और उसकी जरूरत भी क्या है ? एक कुम्हार अपनी चीजें बनाता रहता है। वह बहुत अच्छा दीया बनाता है, बहुत अच्छी सुराही बनाता है। उसका काम पूरा हुआ।

विष्णु खरे ने 'उसके सपने' की प्रस्तावना में लिखा है कि 'चन्द्रकांत देवताले हमारे जीवन और समय के अद्वितीय कवि हैं।' तो यह बताइए कि आपको यह समय कैसा लगता है ?

यह समय तो बहुत गड्डमड्ड है ! यह समाज मुझे टूटता, बिखरता और एक अंधी दिशा में दौड़ता हुआ दिखाई दे रहा है। जो कानून-कायदे सब जेब में रखते हैं ऐसे पैसेवालों, बड़े लोगों, ताकतवरों और अपराधियों-गुंडों का समय और समाज है। इसमें दीन-हीन, गरीब, सच्चे आदमी के लिए हाशिए पर भी जगह नहीं है। बहुत तरक्की हो गई है ! जरूरत से ज्यादा तरक्की हो गई है ! पहले तो मैं यह समझता था कि राजनीति, पैसा और अपराध का एक दत्तात्रेय जैसा चेहरा बनता है। लेकिन अब उसमें धर्म भी घुस गया है। अब यह चार मुख का राक्षस बन गया है। अगर इस समय को कोई नाम देना हो तो मैं कहूँगा कि यह फासिज़्म के खतरे का समय है। बाजारवाद के खतरे का समय है। जहाँ हमारा मनुष्य होना और भारतीय होना, दोनों खतरे में है। बाजारवाद और फासिज़्म ये दोनों भारतीय और मनुष्यत्व पर हमला कर रहे हैं

इस समय लेखक और कवि अपना दायित्व कितना निभा पा रहे हैं ?

नहीं निभा पा रहे हैं। देखिए, यह कोई छोटा-सा देश नहीं है। यह कोई स्वीडन, फिनलैंड या नार्वे नहीं है। यह देश जर्मनी जैसा भी नहीं है। वहाँ लेखक की एक आवाज और कद होता है। फ्रांस में सार्त्र कुछ बोलता था तो उसका दबदबा होता था। यहाँ तो कितने मुँह हैं। एक आदमी कुछ कहता है तो दस आदमी और ही कुछ कहते हैं। इसलिए कवि या लेखक का कद ही नहीं दिखाई देता। रचनाकार-बुद्धिजीवी का समाज पर पड़ने वाला प्रभाव नजर ही नहीं आता। वह सिर्फ एक खबर बन सकता है। वह एक छोटी-सी खबर बन जाता है और थोड़ी देर के लिए खुश हुआ जा सकता है।

लेकिन आज का कवि-लेखक समाज से जुड़ा हुआ नहीं लगता। वह अब सिर्फ अतिथि के रूप में ही समाज में आता है। उसे नहीं लगता कि उसे भी कुछ करना चाहिए...

नहीं, लगता है लेकिन वह कर नहीं पाता। अब तो खतरा बढ़ गया है। आप कुछ करने जाएँगे तो दस आदमी डंडा लेकर खड़े हो जाएँगे। आप पर अंडे, टमाटर फेकेंगे। अगर इस उमर में मैं कोई अपनी बात कहने के लिए बाहर निकल पड़ा तो जरूरत पड़ने पर मुझे कौन बचाएगा ? और इसके मुझे दो-चार अनुभव हैं। इंदौर में सती का एक स्थान है। महापौर वहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर उत्सव-पूजा-भजन करवा रहे थे। तो हम चार-पाँच लोगों ने अखबारों में बयान दिया कि सती का महिमा मंडन नहीं करना चाहिए। जिलाधिकारी को चाहिए कि यह सब रोके। इसके बाद इतने खराब फोन आए कि पूछिए मत। जान से मारने की धमकी भी दी गई। जब मैं 'भास्कर' में लिखता था तब भी मुझे पाँच-सात बार ऐसे ही फोन आए थे। हालात ही ऐसे हैं। आप अगर सच्चे भी हैं तो भी कह नहीं सकते कि सच्चे हैं। बहुत खराब समय है। यह पाखंड और पांडित्य प्रदर्शन का समय है। सच बोलने का समय नहीं है। आपकी पीड़ा, बेचैनी दिखाने का समय नहीं है। लोग आपको भावुक वगैरह समझते हैं। लोग कहते हैं कि आप अपना काम कीजिए। आपने अपना बयान दे दिया, ठीक है। अब आप पीजिए, खाइए और सोइए। खाना, पीना और सोना—इसके दूर तक मतलब हैं। क्या खाना, क्या पीना, कैसे सोना !

क्या आप मार्क्सवादी हैं ?

कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार होमी दाजी के चुनाव प्रचार में मैं काम करता था। वे विधायक और बाद में सांसद भी बने। मैंने चार-पाँच साल यह सब किया। लेकिन आगे चलके कोई संबंध नहीं रहा। इसका कारण यह भी हो सकता है कि मेरे सत्रह तबादले हुए। उसमें मेरा किसी एक जगह, संस्था या पार्टी से जुड़े रहना और काम करना सम्भव नहीं था। मैं शासकीय महाविद्यालय में अध्यापक था। इसलिए तबादले होते रहते थे। मध्य प्रदेश में अधिकांश महाविद्यालय सरकार के हैं। इसलिए आप अगर छिंदवाड़ा में हैं तो किसी भी समय आपका ग्वालियर तबादला हो सकता है। इसलिए मैं एक जगह तीन-चार साल रहता था। सबसे ज्यादा चौदह वर्ष रतलाम में रहा। उज्जैन में भी तीन बार आया। 1961 में, 1958 में और 1992 में। इसलिए उज्जैन और रतलाम से मेरे संबंध ज्यादा रहे।

रतलाम के दिन कैसे थे ?

बहुत अच्छे दिन थे। वहीं 'आवेग' पत्रिका से जुड़ा। बहुत अच्छे-अच्छे अंक निकाले। चन्द्रकांत पाटिल से मेरा संबंध वहीं से हुआ। वहीं एक बार रात में वह आया। मैंने पूछा 'कौन है ?' तो जवाब मिला, 'चन्द्रकांत पाटिल ! तब तक मैंने उसे देखा नहीं था। तब तक खत वगैरह लिखते थे। हमारी मित्रता को तीस वर्ष हो गए। रमेश बक्शी ने 'आवेग' नाम की पत्रिका निकाली थी। उसमें मेरी कविताएँ थीं और चन्द्रकांत पाटिल को छोटी पत्रिकाओं पर लेख था। उसमें हमारे सबके पते थे। चन्द्रकांत पाटिल ने उस पर से मुझे चिट्ठी भेजी थी। चन्द्रकांत पाटिल ने सबसे पहले मेरी वही कविताएँ—'पत्थरों का राजगढ़' अनूदित की थी। वहाँ से हमारी मित्रता और बंधुभाव हैं। मैं भी उससे मिलने औरंगाबाद गया था। तब वह औरंगापुरा में पुलिस चौकी के सामने रहता था।

आपने औरतों पर काफी कविताएँ लिखी हैं...

आप देखिए, जहाँ भी कोई काम चल रहा है वहाँ औरत दिखाई देती है। मकान बन रहा है तो वहाँ औरतें काम कर रही हैं, कुटाई हो रही है तो औरतें काम कर रही हैं, बगीचे में औरतें काम कर रही हैं, खेत में औरतें काम कर रही हैं। सब तरफ औरतें काम करती हुई दिखाई देती हैं। इसके बावजूद गाती, गुनगुनाती दिखाई देती हैं। वह सब्जी बेचती हैं, चिराग बेचती हैं, आम-जामुन बेचती हैं। औरतें आमतौर पर रबती-खपती और फिर भी प्रताड़ित दिखाई देती हैं। घर में, परिवार में भी। फिर मैं नौ साल महिला महाविद्यालय में प्राचार्य-अध्यापक रहा हूँ। छत्तीस साल मैंने पढ़ाया। हिन्दी एम. ए. में लड़कियाँ हमेशा ज्यादा रहीं और उनमें से कई मुझे अपने निजी सुख-दुख बताती थीं। जब मैं बड़वाह में सातवीं-आठवीं में था तबकी बात है—हमारे पड़ोस में एक पोर्टर रहता था। वह अपनी पत्नी को बहुत पीटता था। बहुत ही माठूचंद किस्म का आदमी था। गब्दू। जैसे काठ का बना हो। वह अपनी पत्नी को बहुत बुरी तरह से पीटता था। उसकी पत्नी युवा थी। कई बार वह पीठ पर मार के निशान दिखाती थी। मेरी माँ उसको थोड़ी-बहुत मदद करती थी। सांत्वना देती थी। वह आदमी इतना खराब था कि कोई सीधे जाकर उसकी पत्नी को मदद भी नहीं कर सकता था। उसे बचा नहीं सकता था। वह उसका व्यक्तिगत मामला था। और कोई भी फटे में पाँव डालना पसंद नहीं करता। लेकिन कवि तो हमेशा फटे में पाँव डालता है। और फटे में पाँव डालने से ही कविता बनती है। यह बात दूसरी है कि बहुत से ऐसे भी कवि हैं जो फटे में पाँव नहीं डालने के बावजूद कवि हैं। फटे में पाँव नहीं डालना भी कुछ कवियों को बड़ा बनाता है। एक काल्पनिक दुनिया में। खैर, तो उस औरत की मुझे बहुत याद आती है। उसकी आवाज अभी भी मेरे कानों में गूँजती है। पचपन साल पहले का उसका चेहरा, उसकी वह हरी साड़ी, उसकी वह उघड़ी हुई पीठ, पीठ पर के निशान मैं अभी भी देख सकता हूँ। मुझे शब्द, पंक्तियाँ याद नहीं रहतीं, लेकिन मैं चेहरे कभी नहीं भूलता। जगह मुझे हमेशा याद रहती है। उसका घर मुझे अभी भी दिखाई देता है। अपनी पुरानी कविताएँ पढ़ता हूँ तो वह सब चीजें मुझे दिखाई देती हैं। हर कविता का एक भूगोल-इतिहास भी होता है, हर कविता की जीवन में अपनी एक जगह होती है। कविता किताबों में से नहीं आती। शब्दों में से भी सुंदर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कविता आ सकती है पर मेरी कविता ज्यादातर जीवन से आई है। कविता का पूरा इतिहास, भूगोल, मुझे दिखाई देता है। उसका उद्‌गम भी। कई बार ऐसा नहीं भी हो सकता है। मैं यहाँ सिर्फ अपनी बात कह रहा हूँ।

कविता का व्यक्तिगत अनुभवों से कितना सम्बन्ध होता है ?

उससे ही तो कविता बुनी जाती है। इसलिए अंदर की कविता और बाहर की कविता यह कृत्रिम विभाजन है। अंदर की कविता भी बाहर की कविता होती है और बाहर की कविता भी अंदर की कविता होती है। अपने प्रिय कवियों की कविता में आप अपनी कविता भी पढ़ सकते हो। मगर उसके लिए आपका अनुभव और संवेदना होनी चाहिए। कम से कम जीवन को देखने की सजग दृष्टि चाहिए। कई लोग लम्बी उमर जीवन को देखे-समझे बगैर भी ठाठ से जीते हैं और मरते हैं। कभी आपने नहीं देखा कि आपके पड़ोस में एक शिक्षक, एक बाबू किस तरह जी रहा है। आपने कभी नहीं देखा कि एक कुत्ता तक किस तरह इंतजार में बैठा रहता है। एक कवि होने के लिए थोड़ा उत्पाती भी होना पड़ता है। एक जासूस की तरह। जब सौ जासूस मरते हैं तब एक कवि पैदा होता है। आपको बहुत कुछ दाँव पर लगाना पड़ता है। दिखाई नहीं देता कि आपने कविता के लिए क्या कुछ दाँव पर लगाया है। कवि एक चीज को हजार नजरों से देखता है।

क्या कवि हमेशा वामपंथी होता है ?

'वामपंथ' के कई सम्भव अर्थ हैं। उनकी रोशनी में दिये गए, थोपे गए पंथ से अलग मार्ग बनाना भी वामपंथ होगा। वर्चस्व और शोषण के विरुद्ध कविता को होना ही पड़ेगा। मनुष्य विकास के जिस रास्ते पर बढ़ा उसमें धीरे-धीरे विषमता बढ़ी। शोषण, अन्याय की विधियाँ विकसित हुईं। साम्राज्यवाद, जातिवाद, ताकतवाद और पूँजीवाद को हमने देखा। अब इनके नये मोहक चेहरे और लुभावने हथियार देख रहे हैं। ये है तो कवि वामपंथी होगा ही। जीवन और धरती के चेहरे को देखकर होगा। मनुष्यता और पर्यावरण के लिए होगा। मार्क्सवाद कब पढ़ता-जानता-समझता है कोई कवि यह अलग सवाल है।

आपने बच्चों पर काफी कविताएँ लिखी हैं...

हाँ। 1971 में 'थोड़े से बच्चे और बाकी बच्चे ' नाम की कविता लिखी थी। रघुवीर सहाय ने यह पूरी कविता 'दिनमान' में छापी थी और इसका एक हिस्सा मुखपृष्ठ पर छापा था। उनको बहुत पसंद थी यह कविता। आदिवासी बच्चे पर एक कविता है। वह कीचड़ में खेलता है। एक नाले में छोटी-सी बाढ़ आती है और उसमें एक भद्र बच्चे की चप्पल छूट जाती है। तो एकदम नाले में कूदकर वह चप्पल उसे लाकर देता है। लेकिन इस बीच उसकी लँगोटी बह जाती है। 'कीचड़ था सब तरफ और कीचड़ में कमल जैसा कुछ नहीं था' नाम की कविता है वह। बच्चे जैसे दुनिया में हैं कविता में भी होंगे ही। उनके बिना कविता कैसी ? कई रूप-रंगों में बच्चे हैं। और अब खून-खच्चर के बाद बच्चों वाली विष्णु खरे की कविता देखी ही है तुमने ?

क्या कविताओं में कवि की आत्मकथा भी होती है ?

'भूखंड तप रहा है' में मेरे जीवन का बहुत कुछ है। आत्मकथा जैसा ही है। गाँव, खेत, रिश्तेदार, तमाम चीजें हैं उसमें। कवि की आत्मकथा का मतलब यह है कि उसके समय की, अनुभव की कथा। वह समय ही कविताओं में आ जाता है। अन्य छोटी-बड़ी कविताओं में भी आपके जीवन का अनुभव होता ही है। और वह सबके जीवन का बनकर व्यक्त होता है। यही कविता की ताकत है। उसमें अपना-पराया नहीं बचता।

क्या आपके पहले आपके घर में किसी को साहित्य में रुचि थी ?

मेरे पिताजी को वेदान्त और धार्मिक ग्रन्थों में रुचि थी। वे मानस का पाठ करते थे। तुलसीदास की रामायण। मैं पाँचवीं-छठी में था तब मेरा एक बड़ा भाई कुछ न कुछ पढ़ता रहता था। उसके कारण बच्चन की कविताएँ, सियारामशरण गुप्त की कविताएँ पढ़ी थीं। सियारामशरण गुप्त की एक कविता थी दलित बच्ची पर। उसे माता उमच आती है। और बुखार आता है। और बुखार में वह कहती है 'मुझे देवी के मंदिर का फूल चाहिए।' बड़बड़ाती है। वह एक जबरदस्त कविता है। न जाने क्यों मैं वह कविता बार-बार पढ़ता था। वह मुझे बहुत बेचैन करती थी। मेरा भाई अच्छी कविताएँ एक नोटबुक में लिखकर रखता था। उसके बाहर जाने के बाद मैं उसकी नोटबुक पढ़ता था। सबसे बड़ा भाई अंग्रेजी के उपन्यास पढ़ता था। लेकिन चूँकि मुझे अंग्रेजी नहीं आती थी, वह मैं तब पढ़ न सका।

लेखक और कवि के लिए बुद्धिजीवी होना कितना जरूरी है ?

देखिए, यह बहुत कठिन प्रश्न है और इसका जवाब देने में बड़ा जोखिम भी है। लेकिन मैं कवि के लिए इंटलॅक्चुअल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्य नहीं समझता। बुद्धिजीवी-इंटलॅक्चुअल होने से लिखने में, समझने में मदद मिल सकती है। लेकिन बगैर भी कवि की जीवनदृष्टि, उसकी रेंज, पक्ष, समझ आपक हो सकती है। एक इंटलॅक्चुअल कवि का जो है, उसका जो एंटिना है, उसके बजाय जीवन को वाले कवि का एंटिना और अर्थिंग ज़्यादा पावरफुल हो है। इसलिए इंटलॅक्चुअल होना कोई कंडिशन नहीं है। एक बौद्धिक आदमी एक अच्छा कवि हो सकता है। भी ऑक्तोवियो पाज ने श्रीकान्त वर्मा से कहा है कि में कोई बुद्धिजीवी वग़ैरह नहीं है ! तुम उनकी बात करो। वह बहुत दांभिक है। सबका अपना-अपना धंधा है वह समझता है कि धंधे के कारण बुद्धिजीवी हो गया है। अब तो और भी दयनीय स्थिति आ गई है। मैं ऐसा नहीं ता कि कोई भी बुद्धिजीवी नहीं है। जो है वह अपवाद है। ने आपको बुद्धिजीवी समझना भी एक फैशन है। यहाँ रूम के बुद्धिजीवी हैं, बीस आदमियों की गोष्ठी के जीवी हैं, अखबारों में बयान-इंटरव्यू देने वाले बुद्धिजीवी हैं, यू देते समय स्मार्ट बनने वाले बुद्धिजीवी हैं इत्यादि-इत्यादि। हक़ीकत में बुद्धिजीवी का एक दबदबा होना चाहिए। की आवाज हो। इसके लिए बहुत कुछ दाँव पर लगाना ता है। जिसका उदाहरण कबीर है। अब जो गिने-चुने हैं वे बाजार-प्रचार-प्रसार की चकाचौंध में खो गए हैं।

आजकल अनेक लेखक बुद्धिजीवी होने को ही ज्यादा ज़ोर देने लगे हैं...

यह एक भ्रम है कि विचार के पीछे करुणा नहीं होती। कर परसाई कहा करते थे कि व्यंग्य का उत्स करुणा है। ना से भावना भी पुष्ट होती है और विचार भी पुष्ट होता। एक भावुक आदमी भी साहित्य के क्षेत्र में अच्छा काम कर ता है और बुद्धिजीवी आदमी भी काम कर सकता है। संपन्न करुणा ज्यादा मानवीय होती है। वैसे बुद्धिजीवी बेहद भ्रामक हो गया है।

कवि का व्यक्तिगत जीवन और उसकी कविताएँ समान्तर चलती रहती हैं ? आपका क्या अनुभव है ?

कवि को साधू, सन्त, सज्जन पुरुष समझना गलत धारणा आम आदमी की शक्ति और कमजोरियाँ उसमें भी होती कवि भी एक आदमी होता है। कवि कविताओं में जितना है उतना अपने जीवन में पाना चाहता है। कविता स्मृति स्वप्न के बीच काम करती है। जीवन, पक्ष, प्रतिपक्ष, सामाजिक यथार्थ, सब कुछ होता है, लेकिन उसके बावजूद कवि स्मृति और स्वप्न के बीच एक तरह का ताना-बाना बुनता है और उससे ही कविता बनती है। यह ताना-बाना ना हो तो सृजन नहीं होता। बहुत सारे लोग अपेक्षा करते हैं कि कवि ने कविता में जो लिखा है वह उसके जीवन में दिखना चाहिए। लेकिन ऐसा असम्भव है। एक अंधा आदमी भी बता सकता है कि यह रास्ता खराब है और तुम इससे बचो। कवि कोई अद्वितीय, असाधारण व्यक्ति नहीं होता। अपनी संपूर्ण संवेदनात्मक दृष्टि और शक्ति के बावजूद वह एक मनुष्य ही होता है। लेकिन किसी भी साधारण आदमी की तरह ही कवि में भी करनी और कथनी में द्वैत नहीं होना चाहिए। इसकी भरसक कोशिश मनुष्य और कवि दोनों ही को करनी चाहिए।

आपकी कविता में आपका जीवन किस तरह से आता है ?

वैसे के वैसे, हू-ब-हू तो नहीं आता। अनेक रंगों-रूपों में आता है। अगर आपकी कमजोरी आती है तो वह मेरे माध्यम से भी आ सकती है। उसमें आप मुझे ढूँढ़ोगे तो धोखा खा जाओगे। मेरी बहुत-सी बातें दूसरे के माध्यम से आ सकती हैं। रघुवीर सहाय जब 'रामदास' लिख रहे थे तब उनको अन्यों की और खुद की भी निःसहायता का बोध हो रहा था। मुक्तिबोध में जो आत्माभियोग स्वर है वह क्या बताता है ? वे बार-बार अपने आपको कोंचते हैं। और अपने आप पर अभियोग लगाते हैं। कवि तो ताजिंदगी एक कटघरे में खड़ा रहता है। वह हमेशा जवाबदेह होता है। दूसरों से ज्यादा अपने आपके प्रति जवाबदेह होता है। वह खुद ही अपने को कटघरे में खड़ा देखता है। कवि के पास इतनी दृष्टि तो होती ही है। उसे कोई दूसरा आदमी क्या बताएगा। उसके द्वैत के बारे में, उसके फाँक के बारे में, उसके चाक होने के बारे में वह खुद जानता है। अपने जीवन से और अपनी कविता की रोशनी या अँधेरे में। सामान्यतः जो कविता के पाठक होते हैं उनके सामने कवि का जीवन ज्यादा नहीं होता। हमारे सामने मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय और श्रीकांत वर्मा थे। उन्होंने क्या किया, कैसा जीवन रहा उनका, यह भी हमें पता है। हमने देखा है। किन्तु बाद में तो उनकी कविता ही सब कुछ कहेगी। आत्ममुग्ध कवि जरूर गफलत में रह सकता है। हमारा अपना अनुभव-संसार ही तो हमारे रचना-संसार में रूपांतरित होता है। बदलकर नए रूप में।

क्या आपका घर, गाँव, घर के, गाँव के अच्छे-बुरे लोग आपकी कविताओं में आते रहते हैं ?

कविता में कवि का समय आता है। और वह दूसरों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय भी हो सकता है। मेरे गाँव में आपका गाँव भी आ सकता है। आप उसको अपने गाँव की तरह देखेंगे। जो मेरे हैं उसमें आपको अपने दिखेंगे। कवि का परिवेश, उसकी स्थानिकता से ही उसकी पहचान होती है। जड़ें तो कहीं होंगी न।

कविता की भाषा कैसे बनती है ?

वह कथ्य पर निर्भर करता है। कवि की व्यग्रता पर भी। बहुत अलंकृत, वक्रतापूर्ण, साज-सज्जावाली भाषा कृत्रिम और ठंडी हो सकती है। दूसरी ओर धूमिल और रघुवीर सहाय की भाषा में ऊर्जा है। सहजता के साथ। मुक्तिबोध की भाषा ऊबड़-खाबड़, तेज, भागती हुई, अंधड़ जैसी भाषा है। उसमें साज-सज्जा, अलंकरण नहीं है। तीन कवियों ने तीन तरह से भाषा को नाथा है। जैसे पेड़ को नाथते हैं, या घोड़े को लगाम लगाते हैं। विष्णु खरे की भाषा शुरू से आखिरी तक निबंध जैसी गद्य-भंगी है। वो इसी गतिभंगी भाषा के जरिए यथार्थ को ताकत के साथ उजागर करता है। बीच-बीच में धारदार कोने भी निकलते हैं। लेकिन दूसरी ओर बहुत सारे कवि कम्प्यूटराइज्ड भाषा में कविताएँ लिख रहे हैं। वह साफ-साफ समझ में आता है। वह भाषा को पकड़ के, उसको काट-छाँट के, कविता करने की कोशिश करते हैं। वहाँ अनुभव और दृष्टि की सीमा साफ-साफ नजर आती है। भाषा का चातुर्य और विन्यास व्यवस्था—जिसे आप भाषिक प्रबंधन कह सकते हो—साफ-साफ नजर आता है। एक बात मैं बार-बार कहता हूँ। वह मुझे बहुत अच्छी लगती है। चेस्लाव मिवोश ने नोबेल प्राइज लेते समय अपने भाषण में कहा था कि इतने 'एक्सपोजर' के समय में, आपके पास इतने माध्यम हैं, इतनी वेबसाइट हैं, इनफॉर्मेशन के इतने सोर्स हैं। थोड़ी-सी कोशिश करके अच्छी कविता जैसी कविता लिखना कठिन नहीं है। लेकिन ऐसे रचना कर्म में बेचैनी नहीं होती। जीवन के प्रति आतुरता, मनुष्य के अपमान के प्रति भीतर तक होने वाले घाव, यह सब उनमें नहीं होता। मुक्तिबोध लगातार चक्कर लगाते थे बीड़ी फूँकते, बिना दूध की चाय पीते, किसलिए ? जीवन के कष्ट-दुःख उनको मथते थे। ठाठदार ढंग से भी कविता लिखी जाती है। शांतचित्त। और सब अपनी-अपनी कसौटियाँ भी बना सकते हैं। किसी को फर्जी कविता की प्रशंसा करनी है तो वह उसके लिए तर्क और शब्द ढूँढ़ सकता है और उसे श्रेष्ठ कविता घोषित कर सकता है। हम एक अजीब खतरनाक समय में से गुजर रहे हैं। कविता की समीक्षा की दृष्टि से, कविता की पहचान की दृष्टि से। और इसमें एक तरह का ब्राह्मणवाद आज भी काम करता है। जिसका वर्चस्व है उसकी सब मानने लगते हैं। जो साहित्य में स्थान देने की क्षमता रखता है उसके आगे-पीछे घूमते हैं। उसे मानने लगते हैं। चाहे वह स्थान थोड़ी देर का ही क्यों न हो। लेकिन यह सब चकाचौंध पैदा करता है, खींचता है, आकर्षित करता है। और अपने निहितार्थ में हास्यास्पद और लज्जाजनक भी है।

आप इतने सालों से कविताएँ लिख रहे हैं। क्या इससे आपके जीवन में कोई परिवर्तन आया ?

जमीन पर पड़ा हुआ छोटे से छोटा आदमी और बड़े से बड़ा आदमी में मेरे लिए कोई फर्क नहीं रह गया है। जो आदमी कुछ नहीं दे सकता वह भी मेरे लिए प्रिय है। उससे मुझे कभी कोई दिक्कत नहीं होती। और मेरे सम्पर्क में जो लोग हैं, उनकी सूची भी कुछ ऐसी ही है। मैंने उज्जैन में एक फंक्शन करवाया था। उस फंक्शन में मैंने एक ऐसे कवि के हाथों से प्रेमचन्द की प्रतिमा पर फूलमाला चढ़वाई थी जिसे कोई नहीं जानता था। उसकी सिर्फ पाँच कविताएँ छपी हैं। मुझे उसकी पाँच कविताओं में आसपास का संसार धड़कता हुआ दिखाई दिया। उस फंक्शन में आए लेखकों को भी आश्चर्य हुआ। लेकिन बाद में सभी को उसकी प्रशंसा करते हुए भी मैंने देखा। मैंने यह बहुत सोच-समझकर नहीं किया था। उस पर नजर पड़ी और मेरे मन में आया कि अरे, इसे प्रतिसाद देना चाहिए। बस, इतना ही। मैं अजनबी और निचले तबके के लोगों से भी आसानी से संवाद कर सकता हूँ। मैं जब प्रिन्सिपल था तब कर्मचारियों से बहुत सम्मान के साथ बर्ताव करता था। उनके नाम के साथ 'जी' लगाकर बुलाता था। मैंने दुखी, बेसहारा छात्रों को जितनी हो सके, मदद की। कविता ने मुझे औरों के दुख-दर्द में शामिल होने की मानसिकता दी। दूसरों को कुछ देना सिखाया। कवि का मन, उसकी बातचीत और उसके व्यवसाय को ध्यान से देखोगे तो वह अलग ही नजर आएगा। वह निराशा से आग, प्रकाश ढूँढ़ता है। लेकिन चालाक, धूर्त, लोभी, पाखंडी, आत्ममुग्ध और स्वयं के प्रचार में सभी सीमाएँ लाँघनेवाले कवि भी होते हैं। इस दुनिया में जिस प्रकार अलग-अलग तरह के लोग होते हैं वैसे ही अलग-अलग तरह के कवि भी होते हैं। इसमें आश्चर्य क्या है। और जो कविताएँ लिखते नहीं या लिख नहीं सकते वह अच्छे लोग नहीं होते, ऐसा भी बिल्कुल नहीं है। मानवता, विनम्रता और दंभमुक्ति के पाठ जीवन और प्रकृति में कदम-कदम पर मिलते रहते हैं। दूसरों के दुख-दर्द में दुखी होने वाले लोग दुनिया में कम नहीं हैं। उनमें कवि भी हैं और कवि नहीं हैं ऐसे भी लोग हैं। ■

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इक्कीसवीं सदी में मार्क्सवाद

महेन्द्र मिश्र

हमारे समय में मार्क्सवाद की प्रासंगिकता नहीं रही, यह धारणा केवल पूँजीवाद और बाजार के अर्थशास्त्र के समर्थकों की ही नहीं है; समाजवाद के समर्थक बुद्धिजीवियों का एक वर्ग भी मार्क्सवाद को लेकर उत्तर-आधुनिक संशयवाद की गिरफ़्त में है। सोवियत संघ और पूर्वी योरोप की तथाकथित साम्यवादी व्यवस्थाओं के विघटन और विखंडन के बाद, फ्रांसिस फुकुयामा ने तो अपनी पुस्तक 'इतिहास का अन्त और आख़िरी आदमी' (एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन—1992) में यह घोषणा विधिवत कर दी कि इतिहास का ही अन्त हो गया है; सदी के अन्त में विचारधाराओं की कोई अहमियत नहीं है; और पश्चिम का उदारवादी प्रजातन्त्र मानव समाज की समृद्धि और सुख-चैन का वह शिखर है जिसके आगे और कुछ नहीं है।

व्यक्तिवादी सामाजिक दर्शन और पूँजीवाद के अर्थतंत्र के पक्षधर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों से ही यह कहते आ रहे हैं कि सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में मार्क्सवाद का महत्त्व ख़त्म हो गया है। मैक्स बेवर के बाद समाजविज्ञान और कीन्स के बाद अर्थशास्त्र, दोनों ही जैसे मार्क्स के प्रभाव से मुक्त हो गए। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जब पश्चिमी योरोप के देशों में संसदीय लोकतंत्र का प्रभाव बढ़ा तो यह समझाने का दौर शुरू हुआ कि मज़दूर और मेहनतकश जब अपने अधिकार चुनाव के माध्यम से हासिल कर सकते हैं तो मार्क्सवाद का सहारा लेने की क्या जरूरत है। जनकल्याण पर आधारित राजनैतिक व्यवस्थाओं (वेलफेयर स्टेट) में ऐसी आर्थिक संरचनाओं की सृष्टि होती है जिनमें पूँजीवादी मालिकों और मज़दूर यूनियनों के बीच संवाद और समझौतों से मजदूर वर्ग न केवल अपने अधिकार और खुशहाली प्राप्त कर सकता है, बल्कि उत्पादन की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका भी निभा सकता है।

जब डेनियल बेल की पुस्तक 'विचारधारा का अन्त' (दि एंड ऑफ आइडियोलॉजी—1962) छपी तो पूँजीवादी अर्थतंत्र के इस प्रचार को एक ठोस आधार मिला। बेल के अनुसार, पचास के दशक में ही राजनैतिक और आर्थिक जीवन में विचारधाराओं की कोई अहमियत नहीं रह गई थी। तब प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री और कूटनीतिज्ञ जॉन गालब्रेथ ने कहा था कि पूँजीवाद और समाजवाद, आधुनिक जगत में दोनों ही निरर्थक हो चुके हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध औद्योगिक समाज से था। गालब्रेथ के मुताबिक सदी के मध्य तक औद्योगिक समाज बनकर टूट भी चुका था। उत्तर-औद्योगिक समाज में किसी भी विचारधारा की कतई ज़रूरत नहीं थी।

ए-5, डी.एल.एफ. सिटी-III, गु. गाँव-122002

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सवाद का विरोध और उसकी प्रासंगिकता के अन्त की बात वही लोग करते रहे हैं जो पश्चिम के पूँजीवादी इतिहास के प्रवक्ता हैं। जिस इतिहास की बात वे करते हैं वह पूँजीवादी देशों का—साम्राज्यवादी देशों का इतिहास है। वे अपनी दुनिया की बातें करते हैं। क्या अफ्रीका, एशिया और लातीनी अमरीका के देशों का भी वही इतिहास है ? तीसरी दुनिया के देश प्राक्-औद्योगिक हैं और औद्योगिक भी; मगर उत्तर-औद्योगिक तो बिल्कुल नहीं हैं। तब मार्क्सवाद की अप्रासंगिकता की दलीलें उन पर कैसे लागू होंगी ?

लेकिन इक्कीसवीं सदी में मार्क्सवाद और उसके भविष्य की पड़ताल के सन्दर्भ में विकसित देशों को छोड़ देना भी उचित नहीं है। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की जनवादी परिकल्पना को इस तरह बाँटकर नहीं देखा जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि वहाँ भी समग्र समाज की खुशहाली का दावा खोखला और झूठा है।

फुकुयामा की पुस्तक में उदार पूँजीवादी प्रजातंत्र को मानव की समृद्धि और सुख का अन्तिम और एकमात्र आदर्श बताया गया है। अमरीका वह महादेश है जहाँ यह आदर्श रूपायित हुआ है। उसी अमरीका के ताज़ातरीन घटनाक्रम को लें। वहाँ लॉइज़ियाना राज्य के न्यू आर्लियन्स शहर और उसके आसपास के इलाके में 29-30 अगस्त 2005 को आया भयंकर समुद्री तूफान 'हेरीकेन कटरीना'। तूफान ने एक झटके में उसके सम्पन्न सुखी समाज की कलई खोल दी। उससे सामाजिक विषमता और विपन्नता एवं शासन की उपेक्षा और अक्षमता की जो तस्वीर सामने आई वह चौंकाने वाली है। अमरीका का यह नया यथार्थ है। ऐसा भयंकर तूफान आ सकता है यह सभी को मालूम था। उससे बचने के लिए सुरक्षा के कौन से मुस्तक़िल और फ़ौरी इन्तज़ामात होने चाहिए थे—उससे भी सरकार और स्थानीय प्रशासन अनभिज्ञ नहीं था। किन्तु उसने बचाव और सुरक्षा के कोई उपाय नहीं किए। यहाँ की आबादी के अधिकांश काले और ग़रीब लोग हैं—आबादी का 84 प्रतिशत। वे सभ्य लोगों के सम्भ्रान्त और सम्पन्न शहरी क्षेत्र के बाहर गंदी ग़रीब बस्तियों में रहते हैं। उन्हें बाढ़ और तूफान से राहत और सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार भी नहीं है। वे अमरीका के लगभग चार करोड़ ग़रीबों (सरकारी आँकड़े) में हैं जिनके स्वास्थ्य का बीमा नहीं है। यहाँ शिशु मृत्यु दर अधिक है; निरक्षरता और बेकारी की दर बहुत ऊँची है। हरीकेन कटरीना से मरनेवालों की संख्या दस हजार से अधिक है, किन्तु सही आँकड़े जानने की परवाह किसी को नहीं है। प्रोफेसर रोजा ब्रुक्स ने सात सितम्बर, 2005 के *लॉस एन्जिलिस टाइम्स* में लिखा, 'आज यहाँ दो अमरीका हैं—धनी और बड़ी कारों का मालिक वर्ग; और अमरीका की तीसरी दुनिया जो नज़र नहीं आती और जिसके बारे में हम सोचते भी नहीं।' प्रिन्स्टन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर कॉर्नेल वेस्ट ने *ऑब्ज़र्वर* (सितम्बर 11) में लिखा, "न्यू ऑर्लियन्स तो प्रकृति से बहुत पहले से ही तीसरी दुनिया का हिस्सा था...लोग उन्हें शरणार्थी कहने में हिचकिचाते नहीं थे, क्योंकि देखने में वे किसी दूसरे देश से आए हुए लोग लगते थे। दरअसल वे ऐसे ही हैं, अमरीका में निर्वासित। उनका मानवीय पक्ष दृष्टि से प्रच्छन्न कर दिया गया था। इसलिए (प्रभंजन के बाद) जब हेलिकॉप्टर आए तो वे थोड़े से सम्पन्न लोगों के लिए। और छतों पर बचाव की गुहार करते लोग, शरण स्थलों में रखे हुए लोग और सड़क के किनारों पर मरते हुए लोग—वे सब काले थे—ग़रीब काले लोग। (अफ्रीका से पकड़कर लाए गए) दासों के जहाजों से सुपरड्रोम की शरणस्थली की यात्रा दर हक़ीक़त कोई लम्बी यात्रा तो नहीं थी।" अमरीका के सम्पन्न वर्ग और सर्वहारा की समानान्तर ज़िन्दगी को जोड़नेवाली कोई चीज़ नहीं है यहाँ—एक राष्ट्रीय झंडे के सिवा। न्यू ऑर्लियन्स के मिट्टी के ढूहों और कीचड़ की तलहटी में जो ग़रीब रहते हैं उन्होंने अमरीकी समृद्धि का सपना भी शायद न देखा हो। वे तो हमेशा उसी भौगोलिक क्षेत्र में होते हुए भी किसी दूसरे देश में ही रहते रहे। श्रीमती बारबरा बुश ने ह्यूस्टन एस्ट्रोडोम के तूफान पीड़ित शरणार्थियों को देखकर कहा कि वे वाक़ई क़िस्मत वाले हैं, "इतने लोग ग़रीब थे तो इससे (इस तूफ़ान से) उन्हें फ़ायदा ही हुआ। मगर मैं जो सुन रही हूँ वह बात डराने वाली है—कि वे सभी अब टेक्सास में ही रहना चाहते हैं।" हरीकेन कटरीना ने टेलीविज़न से अदृश्य एक प्रच्छन्न अमरीका पर से ढक्कन उठा दिया है। वहाँ जो नज़र आ रहा है उसे शासक बुर्जुआ वर्ग अपने इलाके और अपनी ज़िन्दगी में शरीक करने को भी तैयार नहीं है।

2

इक्कीसवीं सदी में मार्क्सवाद की चर्चा की पूर्वपीठिका के रूप में इस सदी के पूँजीवाद के स्वरूप को समझना ज़रूरी है। पूँजीवाद के वर्तमान स्वरूप का नाम है भूमंडलीकरण। यह बीसवीं सदी के अन्त के नव-साम्राज्यवाद की विचारधारा है। वह इस सदी के विभिन्न राजनैतिक और बौद्धिक एजेंडों की केन्द्रीय विचारभूमि है। भूमंडलीकरण का सीधा अर्थ है कि सम्पूर्ण विश्व एक समेकित बाज़ार है जिसके एक सिरे से दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेज़ी तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, पूँजी, प्रौद्योगिकी और सूचना निर्बाध रूप से प्रवाहित होते रहते हैं। समझा जाता है कि राष्ट्रों और भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर, पूँजीवादी विकास के ये घटक एक वैश्विक सभ्यता को रूपाकार दे रहे हैं जिसकी संस्कृति और मूल्यबोध पृथ्वी को एक सार्वभौम ग्राम में तब्दील कर रहे हैं। भूमंडलीकरण के समर्थकों का दावा है कि मानवीय विकास और कल्याण के लिए इससे बेहतर विचारधारा हो ही नहीं सकती।

विश्व के पूँजीवादी वर्ग के इस आर्थिक साम्राज्यवाद की संरचना में 37000 अन्तर्राष्ट्रीय कार्पोरेशन शामिल हैं। विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष और विश्व व्यापार संगठन इसके अभिन्न अंग हैं जो सात विकसित देशों के गुट के साथ इसका संचालन करते हैं। एक सार्वभौम कुलीन तंत्र का उदय हो चुका है जिसके हाथों में शक्ति की वल्गाएँ हैं। बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशनों का कब्ज़ा दुनिया के व्यापार के दो-तिहाई हिस्से पर है। इनमें से 86 विशाल शक्तिमंत उपक्रमों का व्यापार समग्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का 70 प्रतिशत है। प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता की बात झूठी है। आज का अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाज़ार एक विशाल सट्टाबाज़ार है जिसमें प्रतिदिन एक ट्रिलियन डालर के सौदे होते हैं। यह पूरी दुनिया के एक वर्ष के सीधे उत्पादक मुद्रा विनिवेश का छह गुना है।

भूमंडलीकरण का सबसे प्रतिकूल प्रभाव एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के ग़रीब और विकासशील देशों पर पड़ा है। तीसरी दुनिया में श्रमिक और अन्य कार्मिक वर्गों की आय ही नहीं घटी है, उसके कारण बेकारों की फ़ौज तैयार हो गई है। आज से लगभग दस वर्ष पहले, 1995-96 में बारह करोड़ कामगार बेकार हो गए थे। उनमें से साढ़े तीन करोड़ केवल योरोप में थे। 70 करोड़ कामगार ऐसे थे जिनकी कोई निश्चित जीविका नहीं थी। उत्पादन की प्रक्रिया से अलग होने के कारण विकासशील देशों में लगभग 50 प्रतिशत श्रम असंगठित और अपरिभाषित कामकाज के ज़रिये जीने को मजबूर है। इसके अतिरिक्त लगभग आठ करोड़ अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक हैं जो काम की तलाश में एक देश से दूसरे देश तक भटकते रहते हैं।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में आज की प्रौद्योगिकी सामाजिक अलगाव पैदा कर रही है। उसके कारण श्रम का बहिष्कार हो रहा है क्योंकि कम्प्यूटर-सॉफ़्टवेयर और स्वचालन के फलस्वरूप मानवीय श्रम की आवश्यकता कम हो रही है। बीसवीं सदी के अन्त में दुनिया की काम करने के योग्य आबादी के तीस प्रतिशत बेकार थे। पुरानी प्रौद्योगिकी के बड़ी चिमनियों वाले विराट संयंत्र बन्द होते जा रहे हैं; मज़दूरों की विशाल सर्वहारा फ़ौज उत्पादन की प्रक्रिया से बहिष्कृत हो रही है। औद्योगीकृत देशों में जनसंख्या न बढ़ने के कारण उत्पादन क्षेत्र के बेकार एक हद तक सेवाओं के क्षेत्र में रोज़गार पा सकते हैं। अविकसित देशों में शहरी आबादी के तेज़ी से बढ़ने के कारण अकुशल श्रम बढ़ रहा है, किन्तु नई प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत उत्पादन संयंत्रों में उनके लिए जगह उत्तरोत्तर कम हो रही है। आज विकासमान देशों में प्रौद्योगिकी की क्रान्ति और बढ़ती आबादी के बीच टकराव हो रहा है। इन समाजों में एक भयंकर अन्तर्विरोध जन्म ले रहा है; सकल घरेलू उत्पाद बढ़ रहा है तो उसके साथ बेकारी भी बढ़ रही है।

अविकसित या विकासमान देशों के पास उत्पादन के केवल दो घटक हैं—असंख्य मज़दूर और कच्चा माल। इन देशों में जनसंख्या के विस्फोट के कारण करोड़ों युवा श्रम के बाज़ार में शामिल हो रहे हैं। वे किस उपाय से आर्थिक सक्षमता प्राप्त कर सकेंगे ? ये देश 70 करोड़ बेकारों को काम कहाँ से देंगे ? वे 160 करोड़ भूखे-विपन्न लोगों को भोजन कहाँ से देंगे ? इस माहौल में लातीनी अमरीका, एशिया और अफ्रीका के देशों में बाज़ार का सफल अर्थतंत्र और उपभोक्ता समाज कैसे निर्मित होगा अगर वहाँ की 40 प्रतिशत आबादी ग़रीबी की रेखा के नीचे जीने को मजबूर रहेगी ? ग़रीबी की परिभाषित रेखा एक डालर से कम दैनिक आजीविका है। वह कितनी कम है ? वह शून्य भी तो हो सकती है।

तीसरी दुनिया के देशों का तेज़ी से बढ़ता शहरीकरण भी एक बड़ी समस्या है। इक्कीसवीं सदी में मौजूदा शहरों के विस्तार और नए शहरों के उदय से शहरीकरण का एक नया स्वरूप उभर रहा है। अगले बीस वर्षों में तीसरी दुनिया के देशों के बहुत से शहरों की आबादी एक से दो करोड़ होगी। गरीब शहरों का आकार और उनकी जनसंख्या—दोनों ही तेज़ी से बढ़ते रहेंगे। ऐसा अनुमान है कि 2025 से 500 करोड़ लोग या दुनिया की आबादी के 70 प्रतिशत, इन ग़रीब शहरों के निवासी होंगे। उस समय विश्व की आबादी लगभग आठ सौ करोड़ होगी। अविकसित देशों की आबादी हर वर्ष सात करोड़ बढ़ती है और हर साल 3.8 करोड़ युवा रोज़गार खोजने वाली फ़ौज में शामिल होते हैं। भूमंडलीकरण के उस स्वर्णिम भविष्य में 660 करोड़ इन्सान अविकसित और आधे-अधूरे विकास वाले देशों के निवासी होंगे जिनमें 300 करोड़ ग़रीब, 84 करोड़ रोटी को मोहताज और करोड़ों बेकार होंगे। लगभग 250 करोड़ इन्सानों की समुचित रिहायशी व्यवस्था नहीं होगी और 200 करोड़ लोग साफ पानी और बिजली से वंचित रहेंगे। पृथ्वी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सीमान्तवर्ती निवासियों के अधिकांश का निवास 550 से अधिक शहरों में होगा जिनकी आबादी दस लाख से ऊपर होगी। इनमें लगभग 20 विशाल महानगर—मेगासिटी होंगे जिनमें प्रत्येक की जनसंख्या एक करोड़ से अधिक होगी। ये विशृंखल, अव्यवस्थित शहर, घोर प्रदूषण के शिकार होंगे; बेकार मज़दूर और आवारा जरायमपेशा लोगों की पनाहगाह इन शहरों के बड़े हिस्से नागरिक सुविधाओं से महरूम रहेंगे। वहाँ न अच्छी सड़कें होंगी; न पीने का पानी होगा, न बिजली की रोशनी। लीमा, साओ पाउलो, बोगोटा, लागोस, क़ाहिरा, नैरोबी, ढाका और दिल्ली इन भावी शहरों के अग्रदूत हैं।

इस नई शताब्दी में अविकसित और अर्धविकसित देश एक अनजानी ज़मीन पर कदम रख रहे हैं जहाँ विकसित देशों से पूँजी आकृष्ट करने की संभावनाएँ निरन्तर घट रही हैं। इन देशों के पास अकुशल मज़दूरों के अलावा उत्पादन का जो अन्य घटक उपलब्ध है वह है कच्चा माल और खनिज। आज की औद्योगिक क्रान्ति में प्राकृतिक कच्चे माल की माँग घट रही है। खनिज और धातुओं के स्थान पर वैकल्पिक चीजें उत्पादित हो रही हैं। आप्टिक फाइबर के 40 किलोग्राम की संचार-संवहन क्षमता एक टन ताँबे के तारों के बराबर है। सन् 1900 की तुलना में आज कच्चे माल और खनिजों की माँग लगभग एक-तिहाई है। इस सदी के प्रारम्भ में औद्योगिक इकाइयों की कच्चे माल की माँग 1930 की तुलना में केवल 40 प्रतिशत रह गई है। विश्व बैंक के अध्ययनों के मुताबिक मूल खनिजों और कृषि उत्पादों की माँग अगले दस वर्षों में निरन्तर घटती रहेगी। तब कच्चा माल सप्लाई करनेवाले ग़रीब देशों का क्या होगा जहाँ आबादी बढ़कर दुगुनी हो जाएगी ?

बीसवीं सदी के अन्तिम चरण का इतिहास तीसरी दुनिया के देशों के कमज़ोर होने का इतिहास है। हिंसा, सामाजिक टूटन, फिरकापरस्ती, आतंकवाद, धार्मिक कट्टरता और व्यापक मानवीय असहिष्णुता क्या उसी वैश्वीकरण का परिणाम नहीं हैं जिसे वरदान के रूप में विकसित दुनिया तीसरी दुनिया पर थोप रही है ? क्या यही फुकुयामा का उदार प्रजातंत्र है ? राष्ट्र या क़ौम की जो भी परिभाषा हो, तीसरी दुनिया के देश आधे-अधूरे राष्ट्र हैं। आधी शताब्दी तक इन देशों के संभ्रान्त शासक अनेक राष्ट्रीय परियोजनाओं के माध्यम से विकास के मिथक का पीछा करते रहे। कभी यह मिथक राज्य द्वारा नियंत्रित केन्द्रीय विकास योजनाओं के रूप में सामने आया तो कभी समाजवादी क्रान्ति की भूमिका में। आज यह मिथक नव-उदारवादी पूँजीवाद के छद्मवेश में है। फुकुयामा इसी मिथक की महिमा के उद्गाता हैं।

पिछली सदी के आख़िरी तीन दशकों के विकास का प्रतिफल है आर्थिक रूप से विभक्त भूगोल। एक प्लानेट पृथ्वी जिसके उत्तरी गोलार्द्ध में एक छोटा सम्पन्न राष्ट्रों का समूह है। उसे घेरे हैं दुनिया की बहुसंख्यक आबादी वाले, शिद्दत की ग़रीबी के शिकार आधे-अधूरे राष्ट्र। इनमें कृषि के क्षेत्र से निरन्तर पलायन हो रहा है, शहरी आबादियाँ फटी पड़ रही हैं; जहाँ ज़िन्दगी दूभर है और उससे निजात पाने का कोई उपाय नहीं है। इन देशों का अर्थतंत्र बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और कार्पोरेशनों के नियंत्रण में है। उपभोग की आवश्यक और अनावश्यक सामग्री, सेवाएँ, वित्तीय कारोबार, मनोरंजन और प्रकाशन—सभी इनके या इनसे सम्बद्ध उपक्रमों के हाथ में है। भूमंडलीकरण के हाथों बिककर आर्थिक और सांस्कृतिक निर्णयों का इलाका राष्ट्र की प्रभुसत्ता के हाथ से निकल गया है। भूमंडलीकरण प्रजातंत्र का समानार्थक नहीं है। हमारी सदी में सार्वभौम अर्थतंत्र और उसकी सूत्रधार शक्तियाँ—विकसित औद्योगीकृत देश—बाकी दुनिया की ज़िन्दगी के नियन्ता हैं। उन्हें इन देशों की रियाया द्वारा निर्वाचित होने की अपेक्षा नहीं है। संचार साधनों और सूचना प्रौद्योगिकी के विकास और सार्वभौम दूरदर्शन के माध्यम से सम्पूर्ण पृथ्वी पर पाश्चात्य जीवनशैली का विज्ञापन और प्रसार हो रहा है जो असीमित उपभोग, विलासिता की सुविधाओं और मुस्तक़िल मनोरंजन की तस्वीर पेश करता है।

भूमंडलीकरण की प्रकृति और उसके परिणामों के लिए यदि किसी समीचीन शीर्षक की ज़रूरत हो तो उसे हम नव-डार्विनवाद कहेंगे। चार्ल्स डार्विन ने 1859 में अपना सिद्धान्त जीवधारियों की प्रजातियों के सन्दर्भ में प्रतिपादित किया था। उनका निष्कर्ष था कि प्राकृतिक चयन के नियम के मुताबिक जीवधारियों की केवल वे प्रजातियाँ बची रहेंगी जो दूसरों से अधिक सक्षम और समर्थ होंगी और जिनमें स्वयं को बदलते पर्यावरण और जीवनचर्या के अनुरूप बनाने की शक्ति होगी। उन्हें शायद मालूम नहीं था कि 146 वर्ष बाद इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में यह बात मानव-समाजों पर लागू होगी—सार्वभौम बाज़ार और तकनीकी क्रान्ति के काल में। लेकिन एक फ़र्क है। जीवधारियों की अपेक्षाकृत अक्षम प्रजातियों का अन्त होने में लाखों वर्ष लगे। लेकिन भूमंडलीकरण और समुन्नत प्रौद्योगिकी कुछ महीनों के भीतर ही लाखों मज़दूरों को बेकारी और भुखमरी की तरफ़ ढकेल सकते हैं। वे एक-दो साल में प्रतियोगी कम्पनियों को ख़त्म कर सकते हैं; दस साल में वे एक पूरे देश के अर्थतंत्र को बर्बाद कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डार्विन के सिद्धान्त और एडम स्मिथ के अर्थशास्त्र के समन्वय से जिस नए समाज की संरचना और अर्थशास्त्र का उदय हुआ है वह अमानवीय है। यह एक नया बर्बर युग है। यह नव-डार्विनवाद है जो आज के पूँजीवादी भूमंडलीकरण को औचित्यपूर्ण करता है। इसके कोई नैतिक या मानवीय मूल्य नहीं हैं। इस आर्थिक जंगल में अविकसित देश ही वे प्रजातियाँ नहीं हैं जो तकनीकी आधुनिकीकरण में असमर्थ होने के कारण विलुप्त होने के लिए बाध्य हैं। वे सामाजिक समुदाय जो पसंद नहीं हैं और जो नई टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल नहीं कर सकते, वे भी बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकते। वे दुनिया के तीस प्रतिशत लोग हैं। पश्चिम के औद्योगीकृत देशों में ही बच्चों को शामिल कर लें तो यह संख्या 20 करोड़ हो जाएगी। अविकसित देशों में 130 करोड़ ग़रीब हैं। इस सदी के अनुभव के आधार पर यह रोज़-ब-रोज़ स्पष्ट होता जा रहा है। केवल उदारीकरण, स्वच्छन्द आर्थिक प्रक्रिया और निजीकरण पिछड़े देशों की आर्थिक दशा सुधारने की गारंटी नहीं है। डार्विनवादी बाज़ार में प्रौद्योगिकी एक निर्णायक तत्त्व है; वह जिसके पास नहीं है वह स्वाभाविक चयन की प्रक्रिया में पीछे छूट जाता है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप ऊँची चिमनियों वाली बड़ी फैक्ट्रियाँ बंद हो रही हैं, और उनमें काम करनेवाली सर्वहारा फ़ौज बेकार हो रही है। छोटे कम्प्यूटर से नियंत्रित आधुनिक स्वचालित संयंत्र खुल रहे हैं, और सारी दुनिया में सर्वहारा वर्ग की विलुप्ति की प्रक्रिया चल रही है। यह परिवर्तन बड़ी तेज़ी से हो रहा है जो उन्नीसवीं सदी के पूँजीवादी औद्योगिक अभियान से, गुणात्मक रूप में भिन्न है। उस औद्योगिक संरचना को बहुत से मज़दूरों की ज़रूरत थी। उसकी गति भी धीमी थी जिसके कारण कृषिप्रधान समाजों को मशीन युग की अनुकूलता हासिल करने के लिए पर्याप्त समय मिला। उसने रोज़गार की भी विस्तृत संभावनाएँ पैदा कीं। कम्प्यूटर क्रान्ति रोज़गार नष्ट कर रही है, वह भी तेज़ी से।

पारम्परिक पूँजीवादी युग में श्रम संगठन मज़दूरों और अन्य कर्मियों और वेतनभोगियों को संगठित करते थे जिससे कि वे अपने अधिकारों के लिए लड़ सकें। किन्तु जब सर्वहारा वर्ग ही नहीं होगा तो श्रम संगठन कहाँ होंगे। अमरीका में ही यूनियनों से सम्बद्ध मज़दूरों की संख्या एक-तिहाई रह गई है। आज पूरी दुनिया के श्रमिकों में केवल 17 प्रतिशत ही यूनियनों के सदस्य हैं। औद्योगिक क्रान्ति ने सर्वहारा को एक राजनैतिक शक्ति के रूप में उभारा था। आज के उत्तर-औद्योगिक जगत में पूँजी और कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर ही राजनैतिक शक्ति हैं। अब जो बची-खुची श्रम की ज़रूरत है वह लचीली है और बहुत कम। अब श्रम के असंगठित, असहाय और नेतृत्वहीन बाज़ार से जब, जितने चाहो, मज़दूर ले लो और उन्हें जितने घंटे ज़रूरी है उतना काम लो। इस सदी के प्रारम्भ में विश्व की अर्थव्यवस्था के नियंत्रक 40 हज़ार बहुराष्ट्रीय उपक्रमों और उनके 250,000 आनुषंगिक उद्योगों में केवल दो करोड़, बीस लाख श्रमिक और कर्मी दल हैं—उनमें केवल 70 लाख ग़रीब और अविकसित देशों का श्रम है।

इक्कीसवीं सदी में जनवादी क्रान्ति के सशक्त हस्तक्षेप के बग़ैर पृथ्वी नामक ग्रह पर दो तरह के निवासी होंगे—एक तरफ अल्पसंख्यक सम्पन्न वर्ग, और दूसरी तरफ शेष दुनिया—वहाँ लोग शारीरिक मेहनत, नौकरशाही की कृपा और प्राकृतिक सम्पदा की मदद से भूख और अभाव से लड़ते रहेंगे। आज विश्व के 300 चुनिन्दा अरबपतियों के पास जितनी सम्पत्ति है वह विश्व के 270 करोड़ इन्सानों अर्थात दुनिया की 45 प्रतिशत आबादी की वार्षिक आय के बराबर है। इक्कीसवीं सदी में एक नए असंगठित और ग़ैर मुस्तक़िल रोज़गार वाले ग़रीबों का सर्वहारा वर्ग होगा जिसके सीमान्तों पर, ग़रीबी की रेखा के उस पार, भुखमरी के विस्तृत इलाकों में भटकते नेतृत्वविहीन इन्सानों के रेवड़ होंगे।

भूमंडलीकरण के इस दौर में निराशा और अवलम्बहीनता का माहौल बना है। स्थिति की अपरिहार्यता और स्वीकार-बोध का भाव दिखाई देता है। मगर यदि ग़ौर से देखें तो इस स्थिति में अन्तर्विरोध सन्निहित हैं जो प्रतिरोध और सामाजिक परिवर्तन की दिशा में इंगित करते हैं। समाजवादी परिवर्तन एक प्रजातांत्रिक विकल्प प्रस्तुत करता है। पूँजीपति वर्ग जो दुनिया की आबादी का एक-चौथाई है उस सम्पन्नता की रक्षा अधिक समय तक नहीं कर सकता जो तीन-चौथाई आबादी की ग़रीबी और भुखमरी से हासिल की गई है। जनतंत्र और पूँजीवाद में अन्तर्विरोध है। इस अन्तर्विरोध का कारण है पूँजीवाद की दमनकारी प्रवृत्ति। वास्तविकता यह है कि पूँजीवादी जनतंत्र का अस्तित्व वर्ग हितों और वर्ग संघर्ष से अलग नहीं हो सकता। और वास्तविकता यह भी है कि पूँजी की अभिवृद्धि किसी व्यक्तिगत औद्योगिक प्रतिभा की उपलब्धि नहीं होती। वह तो मजदूरों, अनुसंधानकर्ताओं और सभी श्रेणियों के कर्मी दल के श्रम और उद्यम का फल है जिसकी सटीक परिभाषा कार्ल मार्क्स ने की थी। वे ही अतिरिक्त मूल्य पैदा करते हैं सामाजिक उत्पादों में। सामूहिक श्रम का वजूद किसी उद्योगपति के बग़ैर भी होता है और उसकी सहायता के बिना भी सामाजिक समृद्धि का जनक हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3

सोवियत रूस और पूर्वी योरोप के विघटन के बाद जो एकध्रुवीय दुनिया सामने आई है वह सदी के अन्त का नव-साम्राज्यवाद है। अमरीका के नेतृत्व में पश्चिम के पूँजीवादी शक्तिसम्पन्न राष्ट्रों का वर्चस्व और उनकी प्रभुता का विस्तार क्लासिकी साम्राज्यवाद का नया स्वरूप है और भूमंडलीकरण उसका नया शीर्षक है। इसका मुकाबला करने के लिए एक व्यापक, जनवादी एवं प्रगतिशील साम्राज्यवाद विरोधी जन आन्दोलन की ज़रूरत है। इसकी प्रेरणा और इसका मूल मंत्र मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में ही निहित है। यह आस्था या अन्धविश्वास नहीं है। हमारे लिए यह समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि विचारधारा का अन्त नहीं होता, केवल उसका स्वरूप बदलता रहता है। क्लासिकी पूँजीवादी अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की तरह मार्क्सवाद और उसकी मूलधारणाओं का इतिहास भी उन पर आधारित समाजों के गठन से बहुत पुराना है। बुर्जुआ इतिहास हमें बताता है कि मार्क्सवाद का ताल्लुक इतिहास की स्वाभाविक धारा से बिल्कुल नहीं है। कहा जाता है कि मार्क्सवाद का अस्तित्व तब तो स्वीकार किया जा सकता था जब सोवियत संघ था, और योरोप एवं एशिया के दूसरे देश थे जिनकी सरकारें साम्यवादी या मार्क्सवादी थीं। इस प्रचार के मुताबिक आर्थिक और सामाजिक सिद्धान्त या विचार-पद्धति के रूप में मार्क्सवाद का अपना कोई इतिहास नहीं है। वह इतिहास तो सोवियत संघ एवं अन्य साम्यवादी देशों का इतिहास था। उन व्यवस्थाओं के टूटने और बिखरने के बाद उस 'इतिहास का अन्त' हो गया।

मार्क्सवाद की प्रासंगिकता के सन्दर्भ में एजाज़ अहमद ने फ्रांस की 1789 की क्रान्ति का ज़िक्र अपने एक भाषण में किया है। इस क्रान्ति ने हमें तीन नारे दिए—आज़ादी, भाईचारा और बराबरी। नेपोलियन के उदय के साथ फ्रांस की यह क्रान्ति निष्फल साबित हुई और 1830, 1848 तथा 1872 की तीन इन्क़लाबी कोशिशों के बावजूद वहाँ, अथवा योरोप में अन्यत्र कोई ऐसी व्यवस्था क़ायम नहीं हो पाई जिसके मूलमंत्र आज़ादी, भाईचारा और बराबरी रहे हों। किन्तु इस बात को भी नहीं नकारा जा सकता कि इसने अन्ततोगत्वा सामंत तंत्र का विनाश कर दिया। प्रजातंत्र की, समाजवाद की और धर्मनिरपेक्षता की जितनी लड़ाइयाँ फ्रांस की क्रान्ति के बाद लड़ी गईं; और वे लड़ाइयाँ जो आज भी चल रही हैं उनका मूलमंत्र आम इन्सान की आज़ादी, भाईचारा और बराबरी ही है।

मार्क्सवाद के आधार पर भी व्यापक और युगान्तकारी क्रान्तियाँ हुईं। उनके आधार पर गठित समाज एक अरसे तक रहे और उनका समवेत समूह पश्चिम के साम्राज्यवाद का सफल प्रतिरोध करता रहा। लेकिन अपनी भीतरी कमज़ोरियों, सर्वहारा के अधिनायकत्व की राह से भटकने और एक नए अभिजात वर्ग की तनाशाही के कारण वे कालान्तर में साम्राज्यवाद की ताकतों का मुकाबला नहीं कर पाई और टूट गईं। किन्तु इतिहास का यह युग दुनिया पर जो प्रभाव छोड़ गया है वह फ्रेंच रिवोल्यूशन के प्रभाव की तरह मिटाया नहीं जा सकता। यदि मानव समाज की शोषण मुक्ति और उसकी खुशहाली के उद्देश्य से किसी नई विचारधारा का आविर्भाव होता है, और उसके आधार पर समाज को बदलने के क्रान्तिकारी आन्दोलन होते हैं तो वे दर हक़ीकत, यदि सफल नहीं होते तो असफल भी नहीं होते। वे इतिहास का हिस्सा बन जाते हैं। वे एक मानवतावादी दर्शन दे जाते हैं जिसका 'अन्त' तब तक नहीं हो सकता जब तक साम्राज्यवाद है, जब तक असमानता है, जब तक मालिक और दास हैं। मार्क्सवाद ऐसा ही जीवन दर्शन है।

पिछले दो दशकों में नव-साम्राज्यवाद तेज़ी से और निरंकुश रूप में सारी दुनिया में फैला है। उसके ख़िलाफ कोई सुगठित और शक्तिमंत आन्दोलन कहीं दिखाई नहीं देता। चीन और भारत सहित आज कोई भी देश नव-साम्राज्यवाद के प्रभाव और दबाव से मुक्त नहीं है। पुराने साम्राज्यवाद के विनाश के बाद भी एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के देशों की ग़रीबी और पश्चिम के विकसित देशों की अपार सम्पदा और प्रभुता के विस्तार को समझने के लिए हमें जिस विचारधारा से दृष्टि मिलती है वह मार्क्सवाद ही है। उसके माध्यम से ही हम इतिहास के पिछले डेढ़ सौ वर्षों के साम्राज्यवादी इतिहास और उसके नए स्वरूप का सही विश्लेषण कर सकते हैं। तीसरी दुनिया के मेहनतकश शोषित इन्सानों और रोज़-ब-रोज़ भुखमरी की ओर ढकेली जानेवाली खेतिहर रियाया को लामबन्द करने और विश्वव्यापी आन्दोलन गठित करने का एकमात्र वैचारिक और संघर्ष का हथियार है मार्क्सवाद।

वर्द्धमान साम्राज्यवाद और उभरते फ़ासीवाद को मार्क्सवाद से ख़तरा है। साम्राज्यवादी और फ़ासीवादी यह बात समझते हैं और इसीलिए उसके ख़िलाफ एक विश्वव्यापी संघर्ष संचालित कर रहे हैं। इस वैचारिक और राजनैतिक मुहिम के सबसे बड़े प्रवक्ता फुकुयामा हैं। उसके अनुसार उत्तरी अमरीका और पश्चिमी योरोप के देशों का पूँजीवादी अर्थतंत्र और उदार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजातंत्रवादी शासन मानवीय इतिहास के उत्कर्ष की चरम अवस्था है। स्वतंत्र उद्योग और बाज़ार की शक्तियों से परिचालित यह व्यवस्था आदमी की आर्थिक आत्मोत्कर्ष और नूतनशीलता की सभी ज़रूरतों को पूरा करती है। उससे आगे हासिल करने को फिर कुछ रह नहीं जाता। उसकी धारणा है कि प्रजातंत्र एक विचारधाराविहीन, इतिहास के अन्त का वस्तुगत यथार्थ है। यह सदी के अन्त और तदन्तर का यथार्थ है। इसका सीधा अर्थ मार्क्सवाद और इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या का अन्त है। फुकुयामा ने अपनी इस स्थापना को पुष्ट करने के लिए मार्क्स की आस्था का हवाला दिया है। उसने लिखा है कि हेगल और मार्क्स—दोनों का ही विश्वास था कि मानव समाज का विकास उस वक्त सम्पन्न और पूर्ण हो जाएगा जब मनुष्य जाति एक ऐसे मुक़ाम पर पहुँच जाएगी जिसमें उसकी सभी बुनियादी और गम्भीरतम इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी। मार्क्स के लिए सम्पूर्ण समाजवादी समाज की स्थापना ही 'इतिहास का अन्त' था।

फुकुयामा ने तो अमरीका के तथाकथित उदार प्रजातंत्रवादी स्वर्ग में बैठे देवी-देवताओं की तरफ से दैवी उद्घोषणा कर दी, किन्तु विचारधारा के संघर्ष के युग का अन्त नहीं हुआ। वह पवित्र भविष्यवाणी झूठी निकली। तीसरी दुनिया की तो बात ही छोड़िए, पहली और दूसरी दुनिया के दर्मियान भी उत्पादन और बाज़ार के झगड़े भी नहीं थमे। लेकिन फुकुयामा ने इतिहास का अन्त कुछ इस अदा से किया है कि जिरह के लिए गुंजाइश ही नहीं छोड़ी है।

4

बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में मार्क्सवाद की प्रासंगिकता और उसकी पक्षधरता में सबसे सशक्त स्वर है जॉक देरिदा का। देरिदा प्रमुख उत्तर आधुनिकतावादी विचारक हैं और मार्क्सवादी भी नहीं हैं। इसलिए इतिहास के अन्त के ऐलान के ख़िलाफ उनका प्रतिरोध अप्रत्याशित था। देरिदा ने कहा कि इतिहास के स्वयंभू परिभाषाकार समझते हैं कि इतिहास और मानव जाति दो मुख़्तलिफ इयत्ताएँ हैं। यह ग़लत है। आदमी के जीवन और उसकी नियति से अलग कोई इतिहास नहीं हो सकता। देरिदा ने कहा कि हम अपने माज़ी की पैदावार हैं—हम दरअसल उस बीते ज़माने की मानवीय व्याख्या हैं; हम जो आज हैं वह उसी भूतकाल की निरन्तरता में है।

देरिदा मार्क्स और मार्क्सवाद की हिमायत में सामने आए। सोवियत साम्यवादी व्यवस्था के पतन के दो-तीन बरस बाद ही। उनकी पुस्तक 'स्पेक्टर्स ऑफ मार्क्स' 1993 में प्रकाशित हुई (फुकुयामा की पुस्तक के एक वर्ष बाद)। देरिदा के आलोचकों ने व्यंग्य से कहा, अच्छा वक्त चुना तुमने मार्क्स को सलाम करने का !

देरिदा मार्क्सवाद को ज़िन्दगी की बुनावट का एक अविभाज्य रूप से गुँथा हुआ सूत्र मानते हैं। उसका अन्त कैसे होगा ? मार्क्स को हमारी सांस्कृतिक विरासत से अलग नहीं किया जा सकता। अगर ऐसा करने की कोशिश की गई तो वह एक प्रेत की तरह वापस आ जाएँगे। वास्तविकता यह है कि मार्क्स को पाश्चात्य चेतना और चिन्ताधारा से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। देरिदा ने लिखा, "मैंने जब मैनिफेस्टो और मार्क्स के कुछ अन्य महान ग्रंथों को दुबारा पढ़ा तो मैंने समझा कि दर्शन की परम्परा में शायद ऐसी किसी भी रचना की जानकारी मुझे नहीं है जिसके सबक़ आज हमारी फ़ौरी ज़रूरत है।" (देरिदा 13)। मार्क्स इतिहास के अन्त का प्रतीक नहीं हैं; वह ऐसी बहस—ऐसे विमर्श की दीर्घाओं के द्वार खोलते हैं जो हमें भविष्य की दिशाओं में ले जाता है।

देरिदा उदारवादी प्रजातंत्र की आलोचना के लिए मार्क्स की रूह का आवाहन करते हैं। यह सही है कि साम्यवादी समाजों के पतन के बाद पूँजीवादी उदार प्रजातंत्र और साम्यवाद के व्यापक संघर्ष का अन्त हुआ। किन्तु इससे यह तो साबित नहीं होता कि मार्क्सवाद ग़लत था; और न यह कि उसके बाद मानव समाज की ग़रीबी, सामाजिक एवं राजनैतिक शोषण और दमन से मुक्ति हो गई। और यह इतिहास और उसकी नई विचारधाराओं की सम्भावनाओं का भी अन्त नहीं है। हम इतिहास के प्रेतों से तब तक मुक्ति नहीं पा सकते जब तक उनके साथ सुलह न कर लें—उन्हें स्वीकार न कर लें; उनके साथ तादात्म्य स्थापित न कर लें। मार्क्स हमारी विरासत का अविभाज्य अंग हैं। आज साम्यवादी समाजों के अवसान के बाद, मार्क्स की आवाज़ हमें सीधी और स्पष्ट सुनाई देती है।

"मार्क्स को न पढ़ना, दुबारा न पढ़ना और उनके सिद्धान्तों पर विचार-विमर्श न करना हमेशा एक ग़लती मानी जाएगी—बल्कि शास्त्रीय अध्ययन और विवेचन से आगे न जाना भी ग़लत होगा। सैद्धान्तिक, दार्शनिक और राजनैतिक दायित्व से विमुख होने का यह अपराध गहराता ही जाएगा। जब मार्क्सवादी विचारधारा की कठमुल्लापन की मशीन और उसके उपकरण विलुप्त हो रहे हैं, तब हमारे पास ऐसा कोई बहाना भी नहीं है कि हम अपने दायित्व से विमुख हों। इसके बिना कोई भविष्य नहीं हो सकता। मार्क्स के बग़ैर नहीं, मार्क्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बग़ैर कोई भविष्य नहीं; मार्क्स की स्मृति और उनकी विरासत के बिना, एक विशिष्ट मार्क्स के बिना, उनकी जीनियस के बिना, उनकी रूहों में से कम से कम एक के बिना।'' (देरिदा 13)

देरिदा ने फुकुयामा की दार्शनिक बोधहीनता और थोथी भविष्यवाणी का न केवल मखौल उड़ाया है, बल्कि उनकी इस प्रवृत्ति की कड़ी आलोचना भी की है कि वह उदार प्रजातंत्र की प्रशंसा में उसके आदर्श और यथार्थ के वैषम्य और अन्तर्विरोध को भी नज़रअन्दाज कर देते हैं। उन्होंने फुकुयामा पर विश्व की साम्प्रतिक राजनैतिक स्थिति को सम्यक् रूप से न समझ पाने की बड़ी ग़लती का आरोप लगाया है। अपनी पुस्तक के तीसरे अध्याय में देरिदा ने आज के विशृंखल, विषण्ण और वेध्वस्त युग पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि इस नई विश्व व्यवस्था के बारे में यह बात चीख़कर कहने की ज़रूरत है कि दुनिया में हिंसा, विषमता, अलगाव, दुर्भिक्ष एवं आर्थिक दमन और शोषण ने जितने इन्सानों को संत्रस्त किया है उतना पृथ्वी और मानव जाति के इतिहास में कभी नहीं हुआ (देरिदा 85)। यह वह समय है जब बेरोज़गारी, बेघर लोगों की दयनीय हालत, स्वतंत्र बाज़ार का छद्म और विरोधाभास, विदेशी ऋण, जातीय युद्ध, माफिया और नशीली वस्तुओं के व्यापार की एक समानान्तर पूँजीवादी दुनिया और दमनकारी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बहुसंख्यक मानव समाज की ज़िन्दगी दूभर कर रहे हैं (देरिदा 84)। हम इस बात को कभी नहीं भूल सकते कि आज से पहले कोई ऐसा समय नहीं था जब इतने आदमी, औरतों और बच्चों को भूख से मारा गया या उनकी हत्या की गई (देरिदा 85)। मार्क्स के प्रेतों को लौटना ही होगा क्योंकि समस्त मानवता दाँव पर लगी है (देरिदा 44)।

देरिदा आह्वान करते हैं एक 'नए इंटरनेशनल' के गठन का—वामपंथी आन्दोलनों के एकजुट होकर उस अन्याय से संघर्ष करने के लिए जिसने मार्क्स को अपने महान ग्रंथों की रचना करने की प्रेरणा दी थी। उनका विचार है कि मानवीय अपनत्व, संत्रास और आशा एक ऐसी कड़ी है जो मार्क्स और उनके सरोकारों से हमें जोड़ती है। मार्क्स मानव जाति से चुपचाप विदा नहीं लेंगे। ''चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने आज सम्पूर्ण पृथ्वी पर पुरुष और स्त्री जाति, मार्क्स और मार्क्सवाद की उत्तराधिकारी है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि वह हमारी विरासत न हों (देरिदा 91)।''

देरिदा की पुस्तक और उनके मार्क्स से सम्बन्धित विचारों के सन्दर्भ का उद्देश्य उनके हवाले से मार्क्सवाद की प्रासंगिकता साबित करना नहीं है। लेकिन देरिदा द्वारा—एक उत्तर आधुनिकतावादी विचारक द्वारा—मार्क्सवाद की पक्षधरता और नवसाम्राज्यवाद पर वैचारिक प्रहार हमें यह सोचने को मजबूर करता है कि हम एक ऐसी व्यापक जनवादी विचारधारा का स्वरूप समझने और परिभाषित करने की कोशिश करें जो इस शताब्दी में बृहत्तर जन समुदाय को अन्याय और शोषण के विरुद्ध संगठित कर सके।

प्रश्न उठता है कि यदि आज की दुनिया में मार्क्सवाद का महत्त्व है तो क्या यह वही क्लासिकी मार्क्सवाद होगा ? क्या मार्क्स का दर्शन अपरिवर्तनशील है ? क्या मार्क्सवाद की मौलिक अवधारणा और लेनिन एवं अन्य तत्कालीन विचारकों द्वारा उसका निरूपण उपनिषद् की मान्यताओं की तरह एक अपरिवर्तनशील चरम सत्य है ? मिसाल के तौर पर, मार्क्स ने कहा था कि सर्वहारा के नेतृत्व वाली क्रान्तियाँ अपरिहार्य रूप से पश्चिम के औद्योगीकृत देशों में होंगी। किन्तु ऐसा हुआ नहीं। इन देशों में उदार पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मध्यवर्ग की सम्पन्नता बढ़ी, उसका आकार भी बढ़ा। रूस में सर्वहारा का अधिनायकत्व नहीं था; वहाँ पार्टी की तानाशाही थी। स्तालिन के देहान्त के बाद निकिता ख़ुश्चोव ने सोल्झेनित्सिन के उपन्यास 'इवान डेनिसोविच की ज़िन्दगी का एक दिन' का विमोचन किया। प्रतीकात्मक तौर पर ही, यह एक तरह का इंगित था कि स्तालिन के युग में सभी कुछ सही नहीं था। बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में सोवियत संघ और पूर्वी योरोप में जो युगान्तकारी परिवर्तन हुए वह तो अब इतिहास में है। और सत्तर वर्ष के उस विध्वस्त इतिहास की प्रेत छाया में, चीन में आज जिस प्रकार की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था है, वह क्या पूँजीवाद और समाजवाद का समन्वय है या उनका आपसी संघर्ष। इस द्वन्द्वात्मक दौर के बाद चीन में क्या एक प्रजातांत्रिक, समाजवादी और प्रगतिशील महादेश उभरेगा या उदार पूँजीवादी प्रजातंत्र ? ऐसा तो नहीं है कि वह सोवियत गणराज्य की तरह टूटकर बिखर जाए ? तब तीसरी दुनिया के प्रगतिकामी संघर्षशील देशों की क्या नियमित होगी ? समझ के सही परिप्रेक्ष्य क़ायम करने के लिए साम्प्रतिक सन्दर्भों में मार्क्सवाद पर विचार करने की ज़रूरत है। मार्क्सवादी विचारकों, समाजशास्त्रियों और जन नेताओं के बीच इस तरह की बहस पिछली सदी के पहले दशक से ही शुरू हो गई थी जब लेनिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'हॉट इज़ टु बी डन' की आलोचना रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने की थी। लेनिन के समकालीनों जैसे बुख़ारिन, ट्रॉटस्की आदि के बीच खुली बहस चलती रहती थी। वह बहस पूरी शताब्दी भर चलती रही और आज भी चल रही है। आज इस युगव्यापी बहस से सही निष्कर्ष निकालने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ज़रूरत है।

मार्क्सवाद के स्वरूप पर सवाल उठाने वाले और उसकी परिभाषा में नये आयाम जोड़नेवालों में एन्तोनियो ग्राम्शी एक प्रमुख विचारक हैं। मुसोलिनी की जेल में 2848 पृष्ठ लम्बी डायरियाँ उनके क्रान्तिकारी चिन्तन का दस्तावेज हैं। ग्राम्शी ने इन डायरियों में मार्क्स की मौलिक अवधारणाओं की विवेचनात्मक समीक्षा की है। विचारधारा और बुद्धिजीवियों की भूमिका, बिखरे, प्रच्छन्न जन आन्दोलन और अधिनायकत्व, सर्वहारा और किसानों के संगठन और कम्यूनिस्ट पार्टी से उनके द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध—मोटे तौर पर इन नोटबुकों में इन विषयों को लेकर ग्राम्शी ने मार्क्स के सिद्धान्तों को एक मुख़्तलिफ़ नज़रिए से देखने की कोशिश की है। यह बात अब बिना झिझक कही जा सकती है कि अन्धभक्ति और कठमुल्लापन के रास्ते से हटकर उन्होंने उत्तरकालीन जनवादी विचारधारा की पहल की है। वह मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद या विनिश्चयवाद के पक्षधर नहीं थे। मार्क्स का विचार था कि औद्योगिक सर्वहारा वर्ग ही क्रान्ति की प्रमुख शक्ति है—वही समतावादी समाज की स्थापना का ध्वजावाहक हो सकता है। ग्राम्शी ने इस स्थापना पर सवालिया निशान लगाते हुए कहा कि ज़रूरी नहीं है कि श्रमिक वर्ग समाजवादी क्रान्ति की तरफ ही अग्रसर हो। वह फ़ासीवाद के प्रभाव में आकर उसका समर्थक भी बन सकता है।

मार्क्स का विचार था कि ऐतिहासिक परिवर्तन के मूल में आन्तरिक आर्थिक संरचना होती है। संस्थाएँ, धर्म, कानून और संस्कृति हमेशा आर्थिक संरचना के अधीन ही रहते हैं। आर्थिक परिवर्तन ही सामाजिक मूल्यों और बाहरी अधिसंरचनाओं का निर्धारण करते हैं। ग्राम्शी को यह बात पूरी तरह सही नहीं लगी। उनका विचार था कि सामाजिक परिवर्तन बाहर से भी आते हैं—वे विभिन्न विचारों, पारम्परिक सांस्कृतिक मूल्यबोध और प्रचार से भी प्रभावित होते हैं। मतभेद विचारधारा को लेकर भी था। मार्क्स के अनुसार विचारधारा एक मिथ्या चेतना है। विचारधारा क्या है ? परिभाषित करने चलें तो हम कहेंगे कि विचारधारा उन प्रवृत्तियों, मनोभावों, धारणाओं, मूल्यों, विश्वासों, सहज ज्ञान और अनुभूतियों का समुच्चय है जिनके माध्यम से हम बाहरी दुनिया और अपने समाज के साथ पारस्परिक सम्बन्ध को समझते हैं और उसे क़ायम करते हैं। हम अपने आसपास के जीवन और जगत को असंपृक्त-निस्संग नज़रिए से नहीं बल्कि उस नज़रिए से देखते हैं जिसका निर्धारण वे प्रवृत्तियाँ, मूल्यबोध, अनुभूतियाँ और हमारी समग्र मानसिकता करती हैं जिनके बारे में हम सोचते नहीं—जिनसे हम बेख़बर रहते हैं। इसलिए विचारधारा केवल आर्थिक स्थितियों या शक्तियों से निर्धारित नहीं होती; ज़रूरी नहीं है कि वह उनसे प्रभावित भी हो। विचारधारा के विमर्श में ग्राम्शी ने आदमी की अनुभूति और मूल्य बोधजनित चयनशीलता को रेखांकित किया है। किन्तु साथ ही वर्ग संघर्ष की वास्तविकता और अनिवार्यता को नकारा नहीं है। लेकिन विचारधारा इस वर्ग संघर्ष का एक निर्णायक तत्त्व है। विचारों के माध्यम से क्रान्ति हो सकती है; उन्हीं के माध्यम से उसे अवरुद्ध और निष्फल भी किया जा सकता है।

पूँजीवादी बुर्जुआ वर्ग के पास सर्वहारा पर प्रभुत्व कायम रखने के दो ख़ास हथियार हैं। पहला तो है आर्थिक दमन—यानी जीविका ख़त्म करने की धमकी या बल-प्रयोग। लेकिन दूसरा—और अधिक शक्तिशाली और कारगर हथियार है विचारों का—मानसिकता का नियंत्रण, सम्पूर्ण समाज की स्वतः स्फूर्त स्वीकृति। सामान्य जन की मानसिकता में यह धारणा बिठाना आवश्यक है कि जो हो रहा है वह ठीक है—वही उनके लिए कल्याणकारी है, और उसे बदलने का अभियान उनके हित में नहीं होगा।

फ़र्ज करें कि मार्क्स ग्राम्शी के पास आए और उनसे पूछा, 'मुझे बताओ कि तुम्हारे विचार से शासक वर्ग जनता का समर्थन और अपनी विचारधारा की स्वीकृति कैसे हासिल करता है और अपना अधिनायकत्व कैसे स्थापित करता है ?' ग्राम्शी सम्भवतः यह उत्तर देते—

शासक वर्ग द्वारा अधिनायकत्व स्थापित करने के चार प्रमुख साधन होते हैं :

- पहला है, समाज के बहुमत द्वारा जीवन की वह तस्वीर स्वीकार कराना जिसे शासक वर्ग जनसाधारण के सामने प्रस्तुत करता है। यह सम्पन्नता की लुभावनी तस्वीर होती है—सम्भ्रान्त वर्ग के अपने जीवन की तस्वीर। प्रचार माध्यमों द्वारा सामान्य जन को यह समझाया जाता है कि अपनी प्रतिभा और अध्यवसाय से प्रत्येक व्यक्ति सुख और सम्पन्नता के शिखर छू सकता है। इस तरह समाज के बहुसंख्यक सदस्यों की रज़ामंदी हासिल की जाती है कि जीवन का जो चित्र शक्तिमंत वर्ग प्रस्तुत करता है वही सही तस्वीर है।
- इस स्वीकृति के तहत नैतिक और राजनैतिक मूल्यबोध शासकवर्ग के अपने जीवन-मूल्यों पर आधारित होता है।
- इस तरह गढ़ी हुई विचारधारा को उचित व्यावहारिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान मान लिया जाता है। आरोपित चिन्ताधारा को समाज अपनी स्वाभाविक चिन्ताधारा मान लेता है। समाज में उसके विरोधी भी होते हैं जो इस छलावे में नहीं आते। ऐसे विप्लवी अल्पसंख्यक होते हैं।

- जनता की यह रज़ामंदी स्वेच्छा से होती है, और शासक वर्ग उसे धर्म, नैतिकता, ईश्वर, स्वर्ग, पाप-पुण्य और आदर्श सुख की परिभाषाओं और परिकल्पनाओं के माध्यम से शान्तिपूर्वक हासिल करता है। लेकिन आवश्यकता पड़ने पर विप्लवी-सबॉल्टर्न गुटों के ऊपर बल-प्रयोग भी किया जाता है।

अधिनायकत्व का स्वरूप और उसके हथकंडे समय के अनुसार—परिस्थितियों से समझौते के फलस्वरूप—बलदते रहते हैं। शासक और शासित वर्गों के बीच आपसी हित साधन का संवाद होता है। उससे पता लगता है कि अधिकांश जनता क्या स्वीकार करेगी और क्या नहीं। उदाहरण के लिए, जब लगता है कि राजशाही और उत्तराधिकार प्रजा को स्वीकार नहीं है, तो प्रजातंत्र की तस्वीर पेश की जाती है। शासक वर्ग स्वयं को नए डिज़ायनर वेश में पेश करता है। लेकिन दर हक़ीकत राजशक्ति और पूँजी पर क़ब्जा अभिजात वर्ग का ही रहता है।

विचारधारा और अधिनायकत्व (हेज्मनी) के सम्बन्ध को समझना और विचार पद्धति—जीवनदर्शन—के निर्णायक प्रभाव की सही समझ ज़रूरी है। यदि हम संस्कृति, विचारधारा और अधिनायकत्व के पारस्परिक सम्बन्ध को उसके सही परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने में समर्थ हैं तो इससे समाज की श्रेणी विभक्त संरचना और मानव समाज के शोषण और दुरवस्था के सही कारणों को समझने में मदद मिलती है। संस्कृति की सामान्य परिभाषा में वे सब मनोवृत्तियाँ, जीवन-मूल्य और मानदंड आते हैं जिनके फलस्वरूप एक विशिष्ट समाज सुगठित और क्रियाशील रहता है। किन्तु मार्क्स और ग्राम्शी के मुताबिक, उसे नैतिक धरातल पर, निरपेक्ष नजरिए से देखना ग़लत होगा। संस्कृति, वास्तव में, उस विचार-पद्धति की ही अभिव्यक्ति होती है जिसका उद्देश्य एक विशिष्ट वर्ग के हितों की रक्षा, उनकी प्रगति और विस्तार होता है। अधिनायकत्व (हेज्मनी) का काम विचारधारा को संस्कृति के रूप में परिवर्तित करना है। अभिजात शासक वर्ग उसे एक सार्वभौम, सामान्य और स्वाभाविक जीवन पद्धति के रूप में प्रस्तुत करता है जिसे नियंत्रक वर्ग से लेकर नियंत्रित और अधीन वर्ग तक—समाज के सभी सदस्य, स्वेच्छा से स्वीकार कर लेते हैं।

प्रश्न उठता है कि संस्कृति और विचारधारा कैसे हेज्मनी में तब्दील होती है। उसका माध्यम क्या है ? पुराने ज़माने में चर्च और धार्मिक स्थल, सांस्कृतिक संस्थाएँ और शिक्षा पद्धति प्रमुख माध्यम थे। आज की दुनिया में विचारधारा के प्रचार, प्रसार और उसकी जकड़ मज़बूत करने का सबसे व्यापक और ताक़तवर माध्यम रेडियो, टेलीविज़न और समाचार पत्र आदि हैं जिन्हें हम समग्र रूप से मीडिया के नाम से जानते हैं। जनसंचार की विभिन्न संस्थाएँ विचारों का प्रसार करती हैं, शासक वर्ग के कार्यों के औचित्य गढ़ती हैं, और इस तरह उन सभी मनोवृत्तियों और दृष्टिकोणों को सामान्य जन के स्वाभाविक सोच में परिवर्तित कर देती हैं, जिनसे अभिजात वर्ग के प्रभुत्व को मान्यता मिलती है। ग्राम्शी की मान्यता थी कि क्रान्ति और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के सन्दर्भ में, दमनकारी तानाशाहियों के ऊपर संगठित हमले की सफलता शायद सम्भव हो; किन्तु उदारवादी जनतांत्रिक समाजों में संघर्ष लम्बा होगा, क्योंकि वहाँ व्यापक जनमत बनाने और शोषित वर्गों का समर्थन हासिल करने के लिए विचार और भावनाओं की ज़मीन पर काम करने की चुनौती होगी। वहाँ संस्कृति एवं स्वाधीनता की छलना को उजागर करना होगा। ऐसे समाजों में राजनीति और अर्थशास्त्र के वैज्ञानिक विचारों का प्रसार और उसकी स्वीकृति एक सीधी प्रक्रिया नहीं हो सकती।

ग्राम्शी ने समझा कि स्वाधीनता, बराबरी और भाईचारे के घोषित आदर्शों एवं पारम्परिक आदर्शवादी मूल्यबोध के कारण, उदार पूँजीवादी व्यवस्थाओं का स्वरूप अत्यन्त संश्लिष्ट और सीधी परिभाषाओं के परे होता है। इन व्यवस्थाओं में सामान्य जनगण और शक्तिसम्पन्न वर्गों के दरमियान एक अघोषित अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। मार्क्स शायद स्वयं इस बात से असहमत नहीं होते कि ऐसे जटिल समाजों में क्रान्ति द्वारा सर्वहारा का अधिनायकत्व क़ायम करने के लिए एक तवील और मुसलसल संघर्ष का विकल्प नहीं है। ग्राम्शी की अवधारणा का प्रमुख तत्त्व है जीवन और संस्कृति के धरातल को संघर्ष की सही ज़मीन के रूप में पहचानना। उनका विश्वास था कि आर्थिक नियतिवाद से समाजों की आन्तरिक संरचना और मूल्यबोध नहीं बदलते। किन्तु विचारधारा और अधिनायकत्व केवल बुर्जुआ पूँजीपति शासक वर्ग की बपौती नहीं है। हेज्मनी की स्थिति में पहुँचने के लिए सभी शोषित और साधनहीन वर्गों का एकजुट होना आवश्यक है। क्रान्ति तभी सफल हो सकती है जब एक वास्तविक वैकल्पिक दुनिया की तस्वीर हो जिसे वह एकमत से स्वीकार कर ले।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5

...वाद के जानकार ग्राम्शी को 1960 के दशक में नव ...य या आधुनिक मार्क्सवाद को अनुप्राणित करने का श्रेय ...हैं। मार्क्सवाद को समसामयिक परिप्रेक्ष्य में पुनर्परिभाषित ...में उन विचारकों और बुद्धिजीवियों का महत्त्वपूर्ण ...न है जिन्हें हम फ्रैंकफुर्त स्कूल के नाम से जानते हैं। ...के फ्रैंकफुर्त शहर में 1923 में इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल ...की स्थापना हुई थी। इस सामाजिक शोध संस्थान के ...क थे टी.डब्ल्यू. एडोर्नो, वाल्टर बेंजामिन, हरबर्ट मार्क्यूस ...मैक्स हॉर्खीमर। हेबरमास जो उम्र में अपेक्षाकृत छोटे थे ...रल में बाद में शामिल हुए। वे बुनियादी तौर पर ...र्क्सवादी थे किन्तु उनके अनुभव ने उन्हें नई समझ दी थी। ...अनुभव का क्षेत्र भयावह था जिसमें स्तालिन का दमनकारी ...मानुषिक अधिनायकत्व और मार्क्सवाद का विपर्यय और ...भ्रष्टता; इटली में फ़ासीवाद और जर्मनी में नाजीवाद का ...उदय, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यहूदियों की सामूहिक यातना ...संहार, युद्ध के अन्त में, अकारण और शक्ति प्रदर्शन के ...अमरीका द्वारा हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम का ...; शीतयुद्ध और अमरीका की मदान्ध शक्ति का प्रसार ...था। यह एक विश्वव्यापी दीर्घकालीन मानवीय त्रासदी ...दौर था। उससे गुज़रकर—उस अनुभव के आधार पर ...समझा कि श्रमिक वर्ग के नाम पर और उसकी रज़ामंदी ...होनेवाले अमानुषिक अत्याचार, नरसंहार और विध्वंस को ...रिक मार्क्सवाद के माध्यम से सम्यक् रूप से नहीं समझा ...सकता। इटली और जर्मनी में श्रमिक वर्ग और मेहनतकश ...जनों को फ़ासीवाद और नाज़ीवाद से बरगलाया गया। ...में फ़ासीवाद के छद्म और दुष्प्रचार के धोखे में ...शील विचारक भी एक अर्से तक रहे। हॉर्खीमर का विचार ...कि इस विकराल शताब्दी के संत्रास और विनाश के ...के आधार पर मार्क्सवादी वैचारिकी में परिवर्तन की ...थी।

इन बुद्धिजीवियों के विचार समग्र रूप से 'क्रिटिकल ...' के नाम से जाने जाते हैं। पारम्परिक मार्क्सवादियों ने ...'संशोधनवादी' कहा। किन्तु वास्तविकता यह है कि ...और फ्रैंकफुर्त स्कूल ने मानवीय चेतना के आयामों और ...की जटिलता को समझकर यह निष्कर्ष निकाला कि वह ...भौतिक वस्तुमूलक परिस्थितियों पर ही निर्भर नहीं ...। जिन संचार और प्रचार के साधनों पर पूँजीवादियों का ...था; वही उन्हें संचालित करते थे। उसके माध्यम से वे जनसाधारण की मानसिकता पर नियंत्रण रखते थे। मीडिया की सर्वव्यापक मौजूदगी वर्किंग क्लास और सर्वहारा की क्रान्तिधर्मिता को नष्ट करने की क्षमता रखती है। हरबर्ट मार्क्यूस की पुस्तक 'वन डाइमेंशनल मैन'—(एकायामी इन्सान) 1964 में प्रकाशित हुई। मार्क्यूस ने कहा कि संचार और सामूहिक संवाद के साधन, मनोरंजन और समाचार सूचना उद्योग एवं विज्ञापन एक ऐसे समाज की सृष्टि करते हैं जो एक खुशगवार, आरामदेह प्रजातांत्रिक पराधीनता की गिरफ़्त में रहता है। विकसित औद्योगीकृत देशों की यही स्थिति है। प्रचार-प्रसार के साधनों के प्रभाव से अनजाने ही समाज की प्रवृत्तियाँ, आदतें और पसंद-नापसंद निर्धारित होने लगती हैं। बौद्धिक और भावात्मक प्रतिक्रियाओं के द्वारा उपभोक्ताओं के निर्णय को प्रभावित कर उन्हें उत्पादकों और विक्रेताओं से बाँधे रहने की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया बुर्जुआ वर्ग की प्रभुसत्ता को सामान्य जन द्वारा स्वेच्छा से अपनाने का माध्यम है। विचारधारा के इस हथियार द्वारा, परोक्ष रूप से पूरे समाज की व्यवस्था ही नियंत्रित होने लगती है, उपभोग की वस्तुएँ स्वयं ही उपभोक्ताओं में विचारों, धारणाओं और आस्थाओं के बीज बोती हैं। वे उन्हें छल और चालाकी से जीवन की उस तस्वीर की तरफ आकर्षित करती हैं जो बुर्जुआ वर्ग ने उनके लिए बनाई है। वे उस मिथ्या चेतना को उभारती हैं जिसके भीतर के झूठ और छल प्रपंच से आम इन्सान बेख़बर रहता है। इसके फलस्वरूप मनुष्य के एक आयामी आचरण और चिन्ताधारा का उदय होता है।

बुर्जुआ समाज में सत्ताधारी वर्ग द्वारा अपने मूल्यबोध और दृष्टिकोण को शोषित वर्ग के जीवन-मूल्य और दृष्टिकोण में परिवर्तित करने की रणनीति की बात लुकाच ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री एंड क्लास कांशसनेस' में उठाई थी। लुकाच इस बात को लेकर चिन्तित थे कि इतिहास के पूँजीवादी दौर में समाज के सदस्य वस्तुओं में परिवर्तित हो जाते हैं। हर चीज़ विक्रय का सामान बन जाती है। उत्पादन के जगत में तब आदमी अपने को बेगाना और असंपृक्त महसूस करता है। यह एक विरक्ति की—एक अलगाव की स्थिति है।

लुकाच ने संस्कृति की भी एक परिष्कृत नव-मार्क्सवादी धारणा का स्वरूप प्रस्तुत किया। संस्कृति को उन्होंने एक सामाजिक माध्यमीकरण की शक्ति माना—ऐसी शक्ति जो यथास्थिति को नकार सके। लुकाच की रचनाओं ने फ्रैंकफुर्त स्कूल के नवमार्क्सवादियों और तदनन्तर नव-वामपंथियों को प्रभावित किया। लुकाच एक प्रकार के निराशावाद की गिरफ़्त में थे; वह इस बात को लेकर चिन्तित थे कि आधुनिक पूँजीवादी समाज में मानवीय चेतना अपरिहार्य रूप से बाज़ार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दशाओं द्वारा निर्धारित होती है।

फ्रैंकफुर्त स्कूल के विचारकों में मार्क्यूस के अलावा वाल्टर बेंजामिन बाज़ार के सर्वग्राही प्रभाव को सम्यक् रूप से समझने में प्रयत्नशील थे। पूँजीवादी समाज में वस्तुओं के मिथक और उनकी मरीचिका ऐसी आसक्ति पैदा करती हैं जिससे वस्तुएँ ही मुख्य प्रेरक तत्त्व बन जाती हैं। बेंजामिन ने देखा कि आधुनिक महानगर पूँजीवादी संस्कृति की लीला भूमि हैं जहाँ इच्छाओं और लालसाओं का अन्त नहीं है। उन्होंने उपभोग, विलास, शोषण, अन्याय, ग़रीबी, अलगाव और अमानुषिकता जैसे पारस्परिक विरोधी तत्त्वों को स्वयं में समेटे हुए नागरिक जीवन की जटिलता को समझने की कोशिश की। बेंजामिन ने इन शहरों में मनुष्य की खंडित चेतना को देखा। 'आर्केड्स प्रोजेक्ट' में बेंजामिन ने लिखा कि बाज़ार में भटकता हुआ आदमी ख़रीददार नहीं है; वह तो खुद एक वस्तु है। आज के विशाल 'शॉपिंग मॉल' और उनमें होती अपार भीड़ बेंजामिन के इस कथन की याद दिलाते हैं कि आर्केड वे गलियारे हैं जो बाहर की तरफ नहीं खुलते—सपनों की तरह।

एडोर्नो और हॉर्खीमर क्रान्ति के लिए सामाजिक शोध के पक्षधर थे। वे एक नए सिद्धान्त को प्रतिपादित कर रहे थे जिसके माध्यम से क्रान्ति की सम्भावनाओं को समझा जा सके। ऐसे सिद्धान्त का गठन वर्तमान समाजविज्ञानों के समन्वय से हो सकता था। वे चाहते थे कि वैचारिक धरातल पर निर्मित सिद्धान्तों और बुनियादी, अनुभवजन्य सामाजिक शोध और तज्जनित ज्ञान के बीच की खाई पाटी जाए। जनवादी क्रान्ति की विचारधारा दोनों के समन्वय से ही बन सकती थी।

मार्क्यूस और हॉर्खीमर संस्कृति के अधिनायकवादी स्वरूप को लेकर भी चिन्तित थे। संस्कृति के सभी अंगों और स्वरूपों का, बाज़ार में उपलब्ध बिकाऊ चीज़ों के रूप में प्रस्तुतीकरण, और सामूहिक संचार साधनों के विस्तार से सामाजिक क्रान्ति की क्षमता पर तो असर पड़ता ही है, उसे प्रतिक्रियावादी-फ़ासीवादी प्रचार के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकता है। उनका ख़याल था कि मार्क्स ने संस्कृति और विचारधारा की गम्भीरता और उसके व्यापक प्रभाव को गहराई से नहीं समझा। मार्क्स से यदि इस विषय पर सवाल पूछा जा सकता तो उनका उत्तर शायद यह होता :

मेरे ज़माने में जो स्थिति थी, मेरे निष्कर्ष उसी पर आधारित थे। मुझसे यह उम्मीद करना ग़लत होगा कि मैं अगली सदी में आनेवाले मीडिया के व्यापक विकास और प्रचार का पूर्वानुमान लगा सकता था। मैं कैसे समझ पाता कि लोकप्रिय संस्कृति एक विशाल उद्योग बन जाएगा? मैं भविष्यवक्ता तो नहीं हूँ!

मार्क्सवाद के मूल तत्त्वों पर प्रश्नचिह्न लगाने वालों में फ्रांसीसी दार्शनिक लुई एल्थ्यूसर का नाम उल्लेखनीय है। वह संरचनावादी थे। एल्थ्यूसर मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद के साथ उनकी मानववादी धारणा से भी सहमत नहीं थे जिसके अनुसार सामाजिक परिवर्तन बुनियादी तौर पर एक पूर्व निर्धारित मानवीय प्रकृति को ही प्रतिबिम्बित करता है। एल्थ्यूसर क्रान्ति के द्वारा नई संरचनाओं को गढ़ना चाहते थे और जनसाधारण से उम्मीद रखते थे कि वे उनका अनुसरण करें। विचारधारा चेतना का स्वरूप गढ़ती है, और उसका निर्धारण राज्य के विचारधारा के उपकरण जैसे, चर्च, कानून, शिक्षा व्यवस्था और मीडिया करते हैं। लेकिन ये उपकरण सम्पूर्ण रूप से तो राज्य के नियंत्रण में नहीं होते। वे केवल पूँजीवाद के औज़ार ही नहीं होते बल्कि एक सीमा तक स्वायत्त होते हैं। एल्थ्यूसर के मुताबिक आइडियोलॉजी या विचारधारा—अर्थात पूँजीवादी बुर्जुआ अधिनायकत्व वाले समाजों की विचारधारा का स्वरूप व्यक्तियों के अस्तित्व की वास्तविक स्थिति के साथ उनके काल्पनिक सम्बन्धों की दुविधा से ग्रस्त होता है। अधिनायक वर्ग की विचारधारा व्यक्ति को अपने मोहजाल में खींच लेती है। तब व्यक्ति के लिए कायनात को देखने और उसे समझने के किसी अन्य नज़रिए का विकल्प नहीं रहता।

मनुष्य में निर्णय लेने की स्वतंत्र क्षमता नहीं है; और उसे मीडिया के माध्यम से मत आरोपण द्वारा भ्रमित कर उसकी वश्यता और फरमाबरदारी हासिल की जाती है। इन्हीं साधनों के माध्यम से जनसाधारण को क्रान्ति द्वारा नए समतावादी समाज की स्थापना का पक्षधर बनाया जा सकता है। एल्थ्यूसर की यह वैचारिक स्थापना एकांगी है क्योंकि वह मानवीय बुद्धि, विचारशक्ति और विवेक को पूर्णतयाँ नकार देती है। सवाल उठता है कि मानव के हित और सुख की संवाहक समतावादी सामाजिक संरचना कौन करेगा। यह ठेका क्या बुद्धिजीवियों का होगा? इसलिए इस संरचनावाद की आलोचना हुई। लेकिन मीडिया को क्रान्ति के पक्षधर विचारधारा के संघर्ष के हथियार के रूप में अपनाएँ इस बात को भी नकारा नहीं जा सका।

ब्रिटेन के समाजशास्त्री स्टुअर्ट हॉल ने 'बरमिंघम सेंटर फॉर कन्टेम्पोरेरी कल्चरल स्टडीज' में पिछली सदी के साठ और सत्तर के दशक में नवमार्क्सवाद की संशोधित वामपंथी चिन्ताधारा को विकसित किया। ग्राम्शी के 'हेजमनी' और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ल्यूसर के मीडिया के सिद्धान्त के आधार पर हॉल ने
वादी संघर्ष की नई परिभाषा गढ़ी।

नवमार्क्सवाद यह मानकर चलता है कि मनुष्य के
बोध की कोई सीमा नहीं है। चिन्तनशील और तर्कशक्ति
न्न इन्सान में मीडिया के मज़मून को समझने की सामर्थ्य
रहती ही है। पुस्तकें, फ़िल्म, टेलीविज़न के प्रोग्राम या
पनों का विश्लेषण कर हम अपनी समझ के अनुसार
के प्रच्छन्न मक़सद को समझ सकते हैं। हम अपनी
भिज्ञता के आधार पर उसका वैकल्पिक अर्थ भी निकाल
सकते हैं। हम समाचार मीडिया द्वारा पेश की गई सामग्री की
कृत पर सवालिया निशान लगा सकते हैं—उसे अस्वीकार
कर सकते हैं। इसलिए आज की दुनिया में प्रचार-प्रसार के
साधनों पर शासक वर्ग का एकाधिकार नहीं हो सकता।
सर्वहारा और वर्किंग क्लास के विभिन्न समुदाय, नारी
आन्दोलन और अन्य सबॉल्टर्न परिवर्तनकामी जनसमूह भी
सी मीडिया का प्रयोग शासक वर्ग के विरोध और अपनी
चिन्ताधारा के प्रसार के लिए कर सकते हैं; और करते भी हैं।
सवामपंथी पुनर्जागरण का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है औद्योगिक
सर्वहारा वर्ग के साथ सभी संघर्षरत वर्गों को क्रान्ति के
झण्डाबरदार की भूमिका में स्थापित करना। हेबरमास ने
फ्रैंकफुर्त स्कूल की वैचारिक सीमाओं से आगे बढ़कर यह
सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि दुनिया को बदलने और
मानवतावादी, न्यायप्रिय और समतावादी समाज के निर्माण का
माध्यम मनुष्य की तर्कशक्ति और उसकी सशक्त अभिव्यक्ति
हो सकती है। मानव की मुक्ति का जो सामाजिक सिद्धान्त
हेबरमास ने रचा उसके अनुसार मानव जाति की विचारों की
अभिव्यक्ति और संवहन एवं संवाद की क्षमता ही समग्र रूप
से सही सामाजिक समझ पैदा कर सकती है।

6

नवसाम्राज्यवाद के प्रसार में राज्य या राष्ट्रीय सरकारों की
भूमिका पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। एक भ्रामक प्रचार
फैलाया जा रहा है कि भूमंडलीकरण के प्रभाव से राष्ट्र-राज्य
कमजोर हो गया है। कहा जा रहा है कि जब बाज़ार की
शक्तियाँ ही निर्णायक हैं तो राज्य की मशीनरी का देश की
आर्थिक व्यवस्था पर नियंत्रण लगभग ख़त्म हो जाता है। इस
प्रचार के मुताबिक एक नए प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय निज़ाम
अमल ले रहा है जिसमें बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशन, विदेशी मुद्रा और
बाज़ार, राज्य और शासनतंत्र से स्वतंत्र हो गए हैं। ले-देकर
राज्य के नियंत्रण में अगर कुछ रह गया है तो वह है क़ानून
और व्यवस्था।

लेकिन हक़ीकत इसके बिल्कुल विपरीत है। वास्तविकता
यह है कि आज राज्य और शासनतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद के
प्रसार में निर्णायक भूमिका निभा रहा है। हमें यह बात स्पष्ट
रूप से समझ लेना चाहिए कि भूमंडलीकरण के प्रचार का
साधन स्वतंत्र बाजार नहीं है। उसका माध्यम हैं तीसरी दुनिया
की राज्य सरकारें। इसे हम नव-राज्यवाद (neo-statism) की
संज्ञा दे सकते हैं। तीसरी दुनिया के देशों में भूमंडलीकरण इस
नवराज्यवाद की नीतियों के माध्यम से आया है और उसका
प्रसार राज्य के सीधे हस्तक्षेप द्वारा हो रहा है। दरअसल राज्य
की दायित्वमयी और कल्याणवादी भूमिका के विपरीत, उसके
स्वरूप और कार्यसम्पादन में ऐसी नीतिविषयक तब्दीलियाँ की
जा रही हैं जिससे अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों और वित्तीय संस्थाओं
की गतिविधियों में रुकावट न आए। इस उद्देश्य से पुलिस,
सेना और गुप्तचर संस्थाओं को इस तरह सुधारा (?) जा रहा
है जिससे वे संयुक्त राज्य अमरीका की मर्ज़ी के मुताबिक
चलें।

एक तीसरी सामाजिक व्यवस्था के आविर्भाव की बात भी
कही जा रही है। यह है ग़ैर सरकारी संगठन और दायित्व बोध
वाली 'सिविल सोसाइटी' ? इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में
हम एक वर्ग विभक्त समाज में रहते हैं जिसमें सामाजिक और
आर्थिक विषमताएँ बीसवीं सदी के आख़िरी तीन दशकों से
कहीं ज़्यादा हैं। जिसे 'सिविल सोसाइटी' कहकर पुकारते हैं
उसमें अरबपति निवेशक और बैंकों के मालिक भी हैं जो
उद्योगों की ख़रीद-फ़रोख़्त करने, उद्योगों को बन्द करने और
हज़ारों मज़दूरों को बेकारी की तरफ ढकेलने के द्वारा अपार
सम्पदा के मालिक बनते हैं। इस 'सिविल सोसाइटी' में न्याय
और समान अवसर की परिभाषा है व्यापार की स्वच्छन्दता।
यानी बाज़ार में अगर मकई बेचनी है तो ग़रीब किसान और
बहुराष्ट्रीय कम्पनी दोनों को मौक़ा मिलना चाहिए। इस
असमान स्थिति में कार्पोरेशन तो बाज़ार पर क़ब्ज़ा कर लेता
है और किसान भूखा मरता है। न्याय का सीधा अर्थ है निजी
कार्पोरेशनों को अधिकार कि वे सार्वजनिक उद्योग ख़रीद लें,
श्रमिकों को नौकरी से निकाल दें और उत्पादों की क़ीमत बढ़ा
दें।

नवसाम्राज्यवाद की सेवा में एक नई सामाजिक संस्था का
उदय हुआ है। यह है ग़ैर सरकारी संगठन जो विश्व में
एन.जी.ओ. (नॉन गवर्नमेंट आर्गनाइज़ेशन) नाम से विख्यात
है। इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि पुराने ज़माने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में पूँजीपति और सम्पन्न वर्ग अपनी शक्ति, सम्पत्ति और विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए राज्य के अंगों और धार्मिक एवं तथाकथित सामाजिक संस्थाओं पर निर्भर रहा है। क्लासिकी पूँजीवाद के युग में, साम्राज्यवादी शासक वर्ग अपने उपनिवेशों में, ख़ासकर तीसरी दुनिया के देशों में स्थानीय धार्मिक संस्थाओं को धन देते रहे हैं, जिससे वे शोषित जनगण के असन्तोष को धार्मिक और साम्प्रदायिक वैमनस्य और संघर्ष में परिवर्तित करें। साम्राज्यवाद के दाहिने हाथ के रूप में चर्च की भूमिका किसी से छिपी नहीं है। ग़ैर-सरकारी संगठन आज वही काम कर रहे हैं; उसी तरह से विचारधारा की रहस्यमयता का प्रचार करते हैं।

तीसरी दुनिया में आज कम-से-कम पचास हज़ार ग़ैर-सरकारी संगठन हैं जिन्हें दस बिलियन डालर की सहायता प्रतिवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय वित्त संस्थाओं से मिलती है। विशालतम ग़ैर-सरकारी संगठनों के प्रबंधक करोड़ों डालर के बजट संभालते हैं। वे 'जेटयुग' के लोग हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग व्यापार और वित्तीय संस्थाओं की कान्फ्रेंसों में हिस्सा लेते हैं, जिनके नीतिविषयक निर्णयों से सारी दुनिया के करोड़ों ग़रीब लोग, ख़ासतौर पर असंगठित श्रम, और अनौपचारिक उद्योग और सेवाओं के कर्मीदल प्रभावित होते हैं।

आज अधिकांश वामपंथी आन्दोलन, और शोषित—ग़रीब जनगण के प्रवक्ता और पक्षधर अपनी आलोचना का निशाना अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोश, विश्व बैंक, बहुराष्ट्रीय कार्पोरेशनों और प्राइवेट बैंकों को बनाते हैं। यह सही है क्योंकि तीसरी दुनिया के लूट का एजेंडा वे ही निर्धारित और कार्यान्वित करते हैं। किन्तु इन संस्थाओं के हमले से सामाजिक और आर्थिक संरचना पर जो प्रतिकूल असर पड़ता है उससे मज़दूरों, वेतनभोगी कर्मीदलों, किसानों और छोटे व्यापारियों में आक्रोश फैलता है। इसी मुक़ाम पर ग़ैर-सरकारी संगठनों की भूमिका प्रारम्भ होती है। ये संगठन समाजसुधार, ग़रीबी उन्मूलन, शिक्षा और स्वास्थ्य आदि के स्थानीय कार्यक्रमों को आयोजित करते हैं। यह सामान्यजन को शान्त और गुमराह करने का तरीक़ा है जिससे वे सशक्त प्रतिरोधी आन्दोलन संगठित न कर सकें।

विकासमान देशों में ये संगठन महत्त्वाकांक्षी बुद्धिजीवी, पत्रकार और विशेषज्ञ वर्गों के ऊपर उठने का माध्यम बन गए हैं। बहुत से वामपंथी बुद्धिजीवी-विचारक और साहित्यकार—भी इनमें शामिल हो गए हैं। वे भूमंडलीकरण के दानवीय चेहरे को मानवीयता का मुखौटा पहनाकर, स्वयं को अधिकनायकवादी राजसत्ता और बाज़ार के बर्बर पूँजीवाद के बीच 'तीसरे रास्ते' का प्रतिनिधि बताते हैं। वे 'सिविल सोसाइटी' के अलमबरदार बनकर सामने आते हैं और 'वैकल्पिक विकास' की बात करते हैं। लेकिन दर हक़ीकत सिविल सोसाइटी के मुखौटे के पीछे ग़ैर-सरकारी संगठनों का उद्देश्य गम्भीर वर्ग विभाजन, वर्ग शोषण और वर्ग संघर्ष को छिपाना और उसे कमज़ोर करना है। वे सामान्य जनता को क्रान्तिकारी आन्दोलनों से विमुख कर स्वयंसेवी परियोजनाओं की तरफ आकृष्ट करते हैं। उदार व्यापार के अर्थशास्त्र के शिकार लाखों लोग बेकार हो जाते हैं तो ये भूखे लोगों में ख़ैराती भोजन बाँटते हैं; उन्हें निर्वाह के आसान रास्ते सुझाते हैं।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था रखने वाले और सामान्य इन्सान की खुशहाली, न्याय और बेहतर ज़िन्दगी की प्रतिबद्धता वाले ग़ैर-सरकारी संगठनों का अस्तित्व नहीं है। ऐसे दर्जनों संगठन तो हमारे देश में ही हैं; सम्पूर्ण विश्व में तो उनकी संख्या सैकड़ों से भी अधिक हो सकती है। ऐसे अनगिनत सामाजिक कार्यकर्ता और बुद्धिजीवी भी हैं जो नवसाम्राज्यवाद और भूमंडलीकरण के विरुद्ध सशक्त आवाज़ उठाते हैं। नारी-मुक्ति और अधिकार, पर्यावरण, जनजातियों के अधिकार, बड़ी परियोजनाओं द्वारा विस्थापन—और ऐसे अनेक मुद्दे हैं जिनको लेकर आन्दोलन चल रहे हैं। ये संगठन आम इन्सान की पक्षधरता की लड़ाई कई स्तरों पर लड़ रहे हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि वे मौजूदा सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की परिधि में ही अपने उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करना चाहते हैं। मार्क्सवाद के आधार पर सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन के पक्षधर उन संगठनों के योगदान और व्यापक संघर्ष में उनकी सकारात्मक सम्भावनाओं को नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकते। वे एक तरह के सबॉल्टर्न ग्रुप हैं जो हेज्मनी की तरफ अग्रसर अलमबरदार दस्तों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगामी समाज के निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

पारम्परिक श्रम संगठनों का ज़िक्र किए बग़ैर बात अधूरी ही रह जाएगी। आज के दौर में, कुछ अपवादों को छोड़कर, अधिकांश ट्रेड यूनियनों ने स्वयं को नवउदारवाद की नीतियों और आर्थिक जगत के शक्तिमंत गुटों के अनुकूल बना लिया है। ट्रेड यूनियनों के बड़े नेताओं के नए निज़ाम में अपना ओहदा राजशाही में सामंत-अमीर-उमरा जैसा बना लिया है। वे शासनतंत्र के साथ वफ़ादारी निभाते हैं और श्रमिकों के लिए छिटपुट दया के टुकड़े प्राप्त कर अपना नेतृत्व क़ायम रखते हैं। किन्तु ऐसा हुआ कैसे ? दरअसल नई प्रौद्योगिकी उत्पादन के सभी क्षेत्रों में सर्वहारा का अस्तित्व घट रहा है और उसकी पहचान धूमिल होने लगी है। संगठित ट्रेड यूनियनों के सदस्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...कों और कर्मीदलों की संख्या अमरीका में भी आज, पिछले ...शकों की तुलना में, एक-तिहाई रह गई है। अन्य विकसित ...में भी यह तेज़ी से घट रही है। आज पूरी दुनिया में केवल ...प्रतिशत श्रमिक ही ट्रेड यूनियनों के सदस्य हैं। पहली ...द्योगिक क्रान्ति ने एक सशक्त सर्वहारा को जन्म दिया था। ...का राजनैतिक महत्त्व था। आज की प्रौद्योगिकी की क्रान्ति ...सर्वहारा वर्ग का विनाश कर रही है। वह बेकारी और ...हमारी के इलाकों में ढकेला जा रहा है। लेकिन उत्साहवर्द्धक ...यह है कि श्रम के महासंघों के नेतृत्व के बाहर बहुसंख्यक ...मज़दूर और वेतनभोगी प्रतिरोधी आन्दोलनों में शामिल हो रहे ...। इक्कीसवीं सदी का सर्वहारा वर्ग ही सही अर्थ में सर्वहारा ...खोने के लिए उसके पास कुछ नहीं है।

7

बहुत पुरानी बात नहीं है जब दुनिया के करोड़ों इन्सान साम्राज्यवाद के अत्याचार और शोषण से मुक्ति पाने के लिए समाजवादी समाजों की स्थापना करना चाहते थे। आज समाजवादी विकल्प का प्रस्ताव कई सवाल उठाता है। सामान्यतया यह समझा जाता है कि इस दौर की राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थितियाँ क्रान्तिकारी आन्दोलन और संघर्ष संगठित करने के अनुकूल नहीं हैं। वे लोग भी जो नव-साम्राज्यवाद के प्रभुत्व वाली दुनिया के मानव विरोधी और संहारात्मक लक्षणों को स्वीकार करते हैं इस सम्भावना से आश्वस्त नहीं हैं कि वैयक्तिक धरातल पर समाजवादी चेतना का विकास हो सकता है। प्रश्न सफल समाजवादी क्रान्ति की रणनीति का भी है। क्रान्ति विरोधी साम्राज्यवादी ताक़तों के खिलाफ, सार्वभौम पूँजीवादी बाज़ार के सन्दर्भ में क्या समाजवादी क्रान्ति सफल हो सकती है? एक काल्पनिक आदर्श जगत या 'यूटोपिया'—यानी समाजवादी स्वप्न का सृजन समाज के परिवर्तनकामी वर्गों और सर्वहारा का समर्थन नहीं पा सकता।

बुद्धिजीवी वर्ग में समाजवादी चेतना के प्रसार का संशय इस आधार पर पैदा होता है कि पिछले कुछ दशकों में, ग़रीबी और घोर सामाजिक विषमताओं के बावजूद कहीं कोई क्रान्ति नहीं हुई, और इस तरह क्रान्ति के संदेश के सम्प्रेषण के सन्दर्भ नहीं बने। ऐसा समझा जाता है कि आर्थिक रूप से विपन्न और भिन्न वर्गों की विभाजन रेखाओं के धूमिल हो जाने के कारण उनकी अन्तरवर्गीय गतिशीलता बढ़ गई है जिसके फलस्वरूप उनका आचरण सही नहीं है। किन्तु वास्तविकता यह है कि पिछली सदी के अन्तिम दशक से अब तक, तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों की वर्गसंरचना इतनी बदल गई है कि हमारी पहचानी परिभाषाओं में नहीं बँधती। विशाल और संगठित औद्योगिक संस्थानों का श्रम तकनीकी क्रान्ति के बाद निरन्तर घट रहा है। वह नेतृत्वविहीन है और उसकी वर्ग चेतना धूमिल हो चली है। वहीं इन उद्योगों की परिभाषित परिसीमा से बाहर बेकारी के शिकार मज़दूर, काम खोजनेवालों की नई पीढ़ी और असंगठित श्रम का एक नया वर्ग उभर रहा है जिसे नेतृत्व की ज़रूरत है। इक्कीसवीं सदी की समाजवादी क्रान्तियाँ इन्हीं के बीच जन्म लेंगी।

यही तो समय है, यही वह समय है जब मार्क्सवाद के आधार पर दुनिया के मेहनतकश इन्सानों को—सर्वहारा और वर्किंग क्लास को समाजवादी समाज के निर्माण की ओर अग्रसर करने की प्रासंगिकता सम्भवतः सबसे अधिक है। 'दुनिया के मज़दूरो एक हो।'—इस नारे को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में एक आशावादी परिकल्पना की अभिव्यक्ति माना जा सकता था। किन्तु आज जब पूँजीवादी व्यवस्था और बाज़ार के अर्थशास्त्र ने विश्वव्यापी प्रभुत्व हासिल कर लिया है तो उसके विरुद्ध विश्वव्यापी आन्दोलन भी संगठित किया जा सकता है। इक्कीसवीं सदी की सुबह—उसका पहला चरण—दुनिया के मज़दूरों और मेहनतकश इन्सानों के ऐक्यबद्ध होने की प्रबल संभावनाओं के द्वार खोलता है। वैश्विक पूँजीवाद का मुक़ाबला वैश्विक मार्क्सवाद द्वारा किया जा सकता है। यदि विश्व-व्यापार संगठन में तीसरी दुनिया के 110 देश व्यापार में अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए एकजुट हो सकते हैं, तो क्या यह सम्भव नहीं है कि इन देशों की जनता नवसाम्राज्यवाद के विरुद्ध उठ खड़ी हो। आज विश्वव्यापी समाजवादी संघर्ष एक स्पष्ट संभावना बन गया है। यदि उत्पादन और वितरण सार्वभौम स्तर पर फैल रहा है तो इसका अर्थ यह भी तो है कि उत्पादन का सार्वभौम समूहीकरण हो रहा है। तब उत्पादन के साधनों और उत्पादों पर सामाजिक स्वामित्व अगला कदम ही तो है।

समाजवादी संक्रमण से ताल्लुक रखनेवाली दो भ्रान्त धारणाएँ हैं, जो ऊपर से तो सही नज़र आती हैं, किन्तु बुनियादी तौर पर दोनों ही समाजवाद के लिए घातक हैं। राष्ट्र के स्तर पर, आत्मनिर्भरता के आधार पर, समाजवादी व्यवस्था का गठन एक सीधा रास्ता नज़र आता है। किन्तु इक्कीसवीं सदी के सन्दर्भ में 'देशी' समाजवाद की परिकल्पना वास्तविकता से कोसों दूर है। आत्मनिर्भरता के आधार पर 'पूँजी संग्रह' एक मुश्किल काम है। किन्तु इसके विपरीत दूसरी भ्रान्ति है चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का 'मार्केट सोशलिज़्म'। डेंग ने बाज़ार की शक्तियों, निजी स्वामित्व, मुक्त व्यापार और विदेशी विनिवेश को कम्युनिस्ट पार्टी के निर्देश में संचालित कर उन्हें समाजवाद की प्रेरक शक्तियों के रूप में देखा। परिणाम यह हुआ है कि बाज़ार के प्रभुत्व के कारण चीन का मज़दूर वर्ग दुनिया के लिए सस्ते मज़दूरों की जमात बन गया है। वहाँ पार्टी के सदस्य और नेता व्यापारी बन गए हैं जो देश को निजी लाभ के लिए लूट रहे हैं और पर्यावरण का विनाश कर रहे हैं। चीन में एक ऐसा परिदृश्य उभरा है जिसमें अधिनायकवादी राजनैतिक संगठन, पूँजीवाद का बर्बर सामाजिक एवं आर्थिक अन्याय और पर्यावरण का विनाश—तीनों मिल गए हैं।

दूसरी तरफ क्लासिकी साम्यवाद और समाजवादी क्रान्ति की इतिहास के कंकालों से हूबहू बरामद की गई सैद्धान्तिकी और परिभाषाएँ इस बात का सबूत हैं कि हम इतिहास से सबक़ नहीं लेते; हम उसे काल और समाज की संरचना से निरपेक्ष, संदर्भों से कटी हुई व्याख्या के साथ दोहराना चाहते हैं। इस रास्ते के रहबर वे लोग हैं जो बीसवीं सदी के प्रारम्भ की सफल और विराट क्रान्तियों को इक्कीसवीं सदी पर आरोपित करना चाहते हैं। वे विराट समाजवादी क्रान्तियाँ उन्नीसवीं सदी की क्रान्तियों की समीक्षा और उनके गुण, दोषों के आकलन से सबक लेकर आगे बढ़ीं। हमें भी वैसा ही करना चाहिए। दरअसल, आज समाजवादी संक्रमण मौलिक समाजवादी क्रान्तियों की बनिस्बत आसान है, क्योंकि पिछली शताब्दी ने हमें ज्ञान की विराट धरोहर दी है।

राज्य का राजनैतिक स्वरूप समाजवादी संक्रमण की पहली शर्त है। अगर राज्य प्रभुतासम्पन्न है तो वह भूमंडलीकरण का प्रतिरोध करने के लिए सार्वजनिक उपक्रम, स्वप्रबन्धित सहकारी संस्थाएँ और विकेन्द्रीकृत योजना भी तो बना सकता है। वर्तमान कालखंड में राष्ट्र—राज्य की केन्द्रीय और सशक्त भूमिका के आधार पर हम उसकी उन विराट संभावनाओं का अन्दाज़ा लगा सकते हैं जो उसे वैकल्पिक आर्थिक संगठनों का केन्द्र बना सकती है। राज्य की शक्ति श्रमिक वर्ग के स्वप्रबन्धन में, उपक्रमों और उद्योगों के संचालन में, और उत्पादन के लाभ को उत्पादकों के समवेत संगठनों तक पहुँचाने में निर्णायक भूमिका निभा सकती है।

राज्य की शक्ति नए अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की एक बुनियादी कड़ी है। वह एक नए प्रकार का समाजवादी भूमंडलीकरण तैयार कर सकती है। राजनैतिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में, राज्यशक्ति के समन्वय और समवेत प्रयत्न से, विश्व भर में, क्षैतिज स्तर पर, सामान्यजन की पक्षधरता और सृजनात्मकता का प्रसार हो सकता है। राष्ट्र-राज्य ने भूमंडलीकरण के प्रसार में निर्णायक भूमिका निभाई है। इसलिए यह कहना कि राष्ट्रीय सरकारें कमज़ोर हो गई हैं, कि राष्ट्र की विलुप्ति हो रही है, एक ख़ामख़याली है। प्रजातान्त्रिक नेटवर्क में वर्किंग क्लास और मज़दूरों के सशक्त समवेत आन्दोलन से, भूमिहीन किसानों, कर्ज़ में दबे छोटे उत्पादकों, व्यापारियों और दुकानदारों, बेकार मज़दूरों और निम्न मध्यवर्गीय वेतनभोगियों—सभी को लेकर सरकार की नीति पर गुणात्मक प्रभाव डाला जा सकता है। इस काम में प्रगतिशील ग़ैर-सरकारी संगठन जैसे नर्मदा बचाओ आन्दोलन और बहुत से बिखरे हुए सक्रिय संगठन शामिल होकर सम्पूर्ण अभियान को सशक्त बना सकते हैं।

लेकिन इसका अर्थ केन्द्रीकृत नौकरशाही से नियंत्रित राज्यतंत्र के मॉडल को अपनाना नहीं है। समाजवाद के इक्कीसवीं सदी के माडल में न स्वतंत्र बाज़ार होंगे और न सरकारी समाजवाद। नए समाजवादी ढाँचे में राज्य की संरचना, उसके दायित्व और उसकी शक्ति का आधुनिकीकरण शामिल है। इस आधुनिकीरण का अर्थ है प्रशासन का विकेन्द्रीकरण और जनहित की प्राथमिकताओं के अनुरूप संसाधनों का पुनर्वितरण। इस व्यवस्था में प्रभुतासम्पन्न नौकरशाही के लिए जगह नहीं होगी जो निरंकुश तरीक़े से नीतिविषयक निर्णय ले सके।

नए अर्थतंत्र में मज़दूर और कामगार एवं जन प्रतिनिधि ही कार्यस्थलों का नियंत्रण और प्रबंधन करेंगे। किन्तु यहाँ यह बात समझना ज़रूरी है कि संक्रमण की स्थिति अत्यंत नाजुक और अनिश्चय भरी होती है जब पूँजीवादी बाज़ार के बाहरी कलेवर और आन्तरिक समाजवादी सम्बन्धों के बीच अन्तर्विरोध पैदा होता है। ऐसी स्थिति में न केवल आर्थिक प्रक्रिया पर प्रजातांत्रिक नियंत्रण की ज़रूरत होती है बल्कि बुनियादी तौर पर, मज़दूर वर्ग और सम्पूर्ण वर्किंग क्लास का विचारधारात्मक और सांस्कृतिक प्रशिक्षण भी आवश्यक होता है, जिससे वे समानता, सहकारिता और एकता के जीवन-मूल्यों में अपनी आस्था दृढ़ रख सकें और प्रलोभनों में न आएँ। नेतृत्व और जनसाधारण के बीच जो खाई सोवियत रूस में पैदा हुई थी उससे सबक़ लेने की ज़रूरत है। यदि वैसा हुआ तो सर्वहारा का अधिनायकत्व पार्टी के अभिजात अधिनायकत्व में तब्दील हो सकता है।

एक स्वाधीन, समाजवादी और सहकारिता पर आधारित समाज किसी पूर्वनिर्मित आदर्श—किसी शास्त्रीय मॉडल के अनुसार नहीं बन सकता। आंशिक रूप से तो वह एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्धारित लक्ष्य के अनुसार होता है, किन्तु उसके विकास की गति और उसकी परिणति उसमें मुब्तिला वर्गों और सामाजिक घटकों की क्रियाशील और कार्य निष्पादन पर निर्भर करती है। मिसाल के तौर पर परिवर्तन का संक्रमण पूँजी और श्रम की भागीदारी से शुरू हो सकता है किन्तु विनिवेश पर श्रम के नियंत्रण के फलस्वरूप स्वामित्व के परिवर्तन, पुनर्गठन और प्रबंधन में श्रमिक वर्ग के आत्मप्रबंधन में परिणत हो सकता है। आगे चलकर विकेन्द्रीकृत स्वप्रबन्धन देश की सामाजिक इकाइयों को आत्मसात् कर बदल भी सकता है। एक स्थल तक, राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है जिससे क्षेत्रीय असन्तुलन और आर्थिक क्षेत्र की विषमता से बचा जा सके।

साम्राज्यवादी सन्दर्भ में दो समानान्तर प्रक्रियाएँ आगे बढ़ती हैं। पहली, उत्पादकों के बीच एक सामाजिक सहकारिता जिससे कार्यकुशलता बढ़ती है। दूसरी प्रक्रिया है उस सम्पत्ति का केन्द्रीकरण और संचय जो इस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है। ये दो अन्तर्विरोधी स्थितियाँ हैं। दूसरे शब्दों में, उत्पादन तो सामूहिक सहकारिता से होता है किन्तु उसका वितरण नहीं होता। वह निजी अधिकार में चला जाता है। समाजवादी संक्रमण के लिए यह मूल स्थिति है। समाजवाद उत्पादन के समाजीकरण या सामूहिक उत्पादन में अवस्थित है। उससे आगे की स्थिति है उत्पादन के साधन और उत्पादित वस्तुओं पर सामाजिक स्वामित्व। यह स्थिति केवल एक साम्प्रतिक वर्ग चेतना को प्रोत्साहित करने भर से नहीं आती। उसके लिए तो उत्पादन में लगे कर्मीदल को स्वयं ही एक व्यापक संघर्ष करना होगा। यहीं—इसी मुक़ाम पर समाजवादी क्रान्ति की बाह्य शक्तियों और दलित, शोषित एवं सीमान्तीकृत वर्गों में क्रान्तिधर्मी चेतना का—उसके स्तर का प्रश्न उठता है। बाहरी शक्तियाँ तो स्वयं वर्द्धमान साम्राज्यवाद सृष्टि कर रहा है। समस्या आन्तरिक धरातल पर समाजवादी चेतना को लेकर है। पूँजीवादी उत्पादन की प्रक्रिया में मज़दूर बराबर बेकारी की ओर ढकेले जाते हैं; उनमें अधिकांश मुस्तक़िल बेकारों की श्रेणी में शामिल हो जाते हैं। एक बड़ा वर्ग शहरी ग़रीबों का जो पेट भरने के लिए स्वयं ही कोई छोटा-मोटा काम करते हैं। निम्न और मध्य बुर्जुआ वर्ग के लोग भी अपने छोटे उद्योग और व्यापार बड़े उद्योगपतियों और व्यापारियों द्वारा निगल लिए जाने पर दिवालिये होकर कामगार ग़रीबों में शामिल होते रहते हैं। प्रश्न उठता है कि क्या उनकी यह स्थिति उनके अन्दर क्रान्तिकारी चेतना पैदा कर देगी। यहीं पर प्रगतिशील राजनैतिक दलों और बुद्धिजीवियों की भूमिका शुरू होती है। वे जनवादी चेतना के प्रसार में निर्णायक भूमिका निभा सकते हैं। बुद्धिजीवियों और विद्यार्थियों का एक वर्ग सारी दुनिया में फैला हुआ है जो भूमंडलीकरण और नव-साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनवादी आन्दोलन का परचम उठाए हुए है। परागुए हो या ब्राज़ील, कोलम्बिया हो या वेनेज़ुएला, लंदन हो या सिएटल, वाशिंगटन हो या एम्सटर्डम—पृथ्वी के दिशाव्यापी विस्तार पर ये बुद्धिजीवी जनचेतना को संगठित और अनुप्राणित कर रहे हैं। वे समाजवादी संक्रमण की बाह्य स्थितियों और जनचेतना के बीच एक कड़ी का काम कर रहे हैं। यदि हम इन आन्दोलनों और प्रतिरोधों के मुद्दों की सूची बनाना चाहें तो शायद वह होगी :

1. श्रम का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभाजन
2. बाहरी बाज़ारों और वित्त पर निर्भरता
3. भारी कर्ज़ों के भुगतान
4. कुशल श्रम और विशेषज्ञों का प्रव्रजन
5. उच्च और मध्य वर्ग की आयातित वस्तुओं पर निर्भरता
6. राजनैतिक पार्टियों और ट्रेड यूनियनों का यथास्थिति से गठबंधन
7. जन विरोधी मीडिया जो नव साम्राज्यवाद का पिट्ठू है और उसके पक्ष में प्रचार कर रहा है
8. व्यापार और आर्थिक रोक और सैन्य कार्रवाई की धमकी
9. भूमंडलीकरण की अपरिहार्यता का प्रचार
10. पूँजी का विदेशों को पलायन
11. सैन्य कार्रवाई के षड्यंत्र।

8

समाजवादी रूपान्तरण में सूचना प्रौद्योगिकी विराट संभावनाओं के द्वार खोलती है। उसके माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों में समुन्नत प्रौद्योगिकी की जानकारी हासिल की जा सकती है; देश की औद्योगिक और कृषि की संभावनाओं का आकलन किया जा सकता है, और विचारों एवं योजनाओं का प्रसार किया जा सकता है। साम्राज्यवाद की सहयोगी और समाजवाद विरोधी सरकारों की मशीनरी को बुनियादी सामाजिक परिवर्तन की तरफ मुख़ातिब करना एक दुष्कर कार्य है, विशेष रूप से तब जबकि प्रचार-प्रसार के साधन अनिर्बन्धित उपभोग की बहुरंगी तस्वीरें बाँटते रहते हैं।

समाजवाद कम्प्यूटर के सामने बैठकर, इंटरनेट से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानकारी हासिल कर निर्मित किया गया कोई काल्पनिक, अशरीरी स्वर्ग नहीं है। इस विकल्प की सफलता के लिए एक लम्बे और कठिन संघर्ष की आधार भूमि चाहिए। एशिया, भूतपूर्व सोवियत रूस, अफ्रीका और लातीनी अमरीका में भूमंडलीकरण ने आम इन्सान की ज़िन्दगी को दूभर कर दिया है। किन्तु उसने पूँजीवाद को पराभूत कर, मार्क्स के मूल सिद्धान्तों पर आधारित नए समाज के निर्माण का ऐतिहासिक अवसर भी दिया है। इस अवसर को गँवाना एक विराट ऐतिहासिक भूल होगी।

भूमंडलीकरण और नवसाम्राज्यवाद के विरुद्ध लातीनी अमरीका के देशों में जो व्यापक आन्दोलन उभर रहा है वह इक्कीसवीं सदी में विश्वव्यापी महासमर का प्रारम्भ हो सकता है। उनके लिए जो यह सोचकर निराश हैं कि अमरीका का अधिनायकत्व सदा के लिए है, लातीनी अमरीका सार्थक आशावाद का प्रस्थान बिन्दु है। और उन लोगों के लिए जिन्हें यक़ीन है कि संयुक्त राज्य अमरीका की नीतियों को स्वीकार कर, उसका पिट्ठू बनकर चलना ही प्रगति का एकमात्र रास्ता है, लातीनी अमरीका एक चेतावनी है। एक उद्घोषित अन्त के बाद इतिहास का प्रारम्भ या उसकी अन्तहीनता का अभियान इन अप्रत्याशित इलाकों में हो रहा है। लातीनी अमरीका में समाजवादी प्रजातंत्र का व्यापक और अप्रतिहत गति से उभरता स्वरूप, सम्भवतः ब्रितानी–अमरीकी तर्ज के पूँजीवाद का विश्वसनीय और संभावनामय विकल्प है।

बोलिविया में अभी–दिसम्बर 2005 में चुनाव सम्पन्न हुए हैं। वहाँ किसान-मज़दूरों के वामपंथी नेता ऐवो मोरालिस की राष्ट्रपति पद के लिए शानदार जीत हुई है। वह पहले मूल निवासी हैं जो किसी लातीनी अमरीकी देश में चुनाव के माध्यम से राष्ट्रपति बने हैं। उनका कहना है कि वह फीडेल कास्त्रो, ह्यूगो चावेज़ और चे गुवारा के अनुयायी हैं। वेनेजुएला के ह्यूगो चावेज़ अपने देश में इक्कीसवीं सदी के समाजवाद की स्थापना का दावा करते हैं। समाजवाद की ओर अग्रसर यह क्रान्ति केवल वेनेजुएला या बोलिविया तक ही सीमित नहीं है; वह पेरू, ग्वातेमाला, इक्वाडोर और मेक्सिको के कुछ हिस्सों तक पहुँच चुकी है। क्यूबा, वेनेजुएला और बोलिविया की त्रयी अमरीकी साम्राज्यवाद के लिए चिन्ता का विषय बन गई है। आज वहाँ के नेता, सिमोन बोलीवार के आदर्श–महादेश लातीनी अमरीका–लातीनी महासंघ को रूपायित करने की घोषणा कर रहे हैं। मोरालिस कहते हैं, "हम जानते हैं कि पूँजीवाद इस पृथ्वी पर मानवता और संस्कृति का शत्रु है। संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार न हमारी जीवन शैली समझती है और न हमारा जीवन दर्शन।

बोलिविया के दक्षिण में–अर्जेन्टाइना और चिले में वामोन्मुख सरकारें हैं; उत्तर में है ब्राज़ील। ब्राज़ील की दूसरी तरफ क्रान्तिकारी देश वेनेजुएला और क्यूबा हैं। ब्राज़ील के नीचे उरुग्वे एक छोटा देश है जहाँ 200 वर्ष में पहली बार समाजवादी राष्ट्रपति चुने गए हैं। 2006 में ही मेक्सिको और निकारागुआ में चुनाव होनेवाले हैं। मेक्सिको में वामपंथी लोपेज़ लोकप्रिय हैं तो निकारागुआ में सान्दिनिस्ता का प्रभाव है। इक्वाडोर में भी वामपंथी परिवर्तन की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐवो मोरालेस कहते हैं 'फीडेल मेरे दोस्त हैं।' कास्त्रो ने बधाई संदेश में कहा, "अमरीका की नई खोज का समय आ गया है...तुम्हारी विजय से एक नए इतिहास का जन्म हुआ है।"

अमरीकी मीडिया जगत में इस घटनाक्रम से उत्पन्न नाराजगी और घबराहट अभिव्यक्त हो रही है। 23 दिसम्बर को वॉल स्ट्रीट जर्नल ने अपने सम्पादकीय में लिखा, "रविवार को ऐवो मोरालिस का राष्ट्रपति चुना जाना लैटिन अमेरिका में 'लिबर्टी' के लिए बुरी ख़बर है...फीडल कास्त्रो और उनके चेले चावेज़ की, बोलिविया की राजनीति में सक्रिय भूमिका भी कम परेशान करनेवाली नहीं है।" लेकिन अमरीका अभी इस 'बुरी ख़बर' के संभावित परिणाम का जायज़ा ले ही रहा था कि एक और बुरी ख़बर मिली। 15 जनवरी 2006–चिले के चुनाव में मिशेल 53 प्रतिशत से अधिक मतों को प्राप्त कर रिकार्डो लागोस एस्कोबार के स्थान पर राष्ट्रपति बन गईं। उन्होंने मध्य दक्षिण पंथी सेबास्टियन पिनेरा को हराया। मिशेल बैकलेट समाजवादी हैं; एस्कोबार भी समाजवादी थे। वह पेशे से डॉक्टर हैं और देश के इतिहास में पहली महिला राष्ट्रपति हैं। लातीनी अमरीका में अमेरिकी साम्राज्यवाद की लिबर्टी (यानी प्रसार की निर्बाधता) के लिए यह सचमुच बुरी ख़बर है। टाइम मैगज़ीन ने लिखा है कि अमरीका को उनसे अच्छे सम्बन्धों की उम्मीद नहीं है।

ज़ाहिर है कि साम्राज्यवादी डरा हुआ है। बाल्कन देशों में विनाशकारी हस्तक्षेप, तीस से अधिक देशों में सैन्य ठिकाने स्थापित करना, अफ़ग़ानिस्तान, मध्यपूर्व और खाड़ी के देशों में सशस्त्र दख़लन्दाज़ी, इराक़ का विनाश और नरसंहार, तथा दुनिया में सी.आई.ए. और एफ.बी.आई. की घुसपैठ तथा जनतंत्र विरोधी ताक़तों को सहायता और संरक्षण इसी डर का सबूत हैं। लोग पूछते हैं कि साम्राज्यवादी इतना नृशंस क्यों है। वह नृशंस इसलिए है क्योंकि वह भयभीत है। भयभीत साम्राज्यवादी कहता है कि उसने पूरे भूमंडल को सभ्य और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभ्य बनाने का ठेका लिया है। वह सभी देशों को अपनी तरह का मानवतावाद सिखाना चाहता है। क्लासिकी साम्राज्यवाद का घोषित उद्देश्य भी तो तीसरी दुनिया को सभ्य बनाना और उसे अपनी आचारसंहिता सिखाना था। अमरीका ने इस सदी में वह पुनीत कार्य करने का बीड़ा उठाया है और उसके सक्रिय प्रसार का माध्यम नाटो (उत्तर अटलांटिक संधि संगठन) के देशों को बनाया है।

इस वर्द्धमान साम्राज्यवाद का प्रतिरोध विश्व के विस्तृत फलक पर सभी जनवादी ताक़तों को संगठित कर ही किया जा सकता है। लातीनी अमरीका ने जो रास्ता चुना है वह साम्राज्यवादी संक्रमण का प्रजातांत्रिक रास्ता है। उसका मूल उद्देश्य एक व्यापक आन्दोलन की सृष्टि करना है जिससे भूमंडलीकरण और अमेरिका अधिनायकत्व का सशक्त विरोध किया जा सके। यह समय मार्क्सवाद के शास्त्रीय विवेचन और आपस-मुबाहसे का नहीं है। यह समाजवादी आन्दोलन के लिए सभी वर्गों का समर्थन हासिल करने का समय है। भूमंडलीकरण से प्रभावित कोई एक परिभाषित वर्ग नहीं है। कितने ही समुदाय हैं जो सर्वग्राही व्यवस्थाओं के सताए हुए वंचित इन्सान हैं। उन्हें क्लासिकी वर्ग संरचना के चौखटों में रखना मुश्किल है। मिसाल के तौर पर भारत में ही आधी शताब्दी के फलक पर फैली विकास की विशाल परियोजनाओं के विस्थापित हैं जिनकी संख्या लगभग पाँच करोड़ है। विशाल बहुउद्देशीय बाँधों के विस्थापित लगभग साढ़े तीन करोड़ हैं। विस्थापितों में गाँवों की खेतिहर रियाया ही नहीं, लगभग एक करोड़ आदिवासी और जनजाति के लोग हैं। उनके घर, उनके खेत, और आदिम भोजन संग्रह के इलाके और साधन छिन गए। विकास के नाम पर उन्हें मिली खंडित चेतना और घुमंतू मज़दूरी और भुखमरी की नामहीन ज़िन्दगी। सरकार के अपने आँकड़ों के मुताबिक भी उनमें से 74 प्रतिशत को न जीविका मिली न पुनर्वास। किसी की नदी छिनी तो किसी का वन; सैकड़ों गाँव हज़ारों एकड़ उपजाऊ ज़मीन के साथ जलाशयों में डूब गए। यह भी एक सर्वहारा वर्ग है जिसे विकास के प्रतिफल में मिला जीवन का ध्वंस और विस्थापन।

भारत में प्रगतिशील आन्दोलन आज विभक्त और बिखरा हुआ है। रिवायती पार्टियाँ बुर्जुआ पार्लमानी जनतांत्रिक शैली की आड़ में अपनी असमर्थता और सामान्यजन से बढ़ती हुई दूरी को छिपा रही हैं। निम्नमध्यवर्गीय क्रान्तिकारिता के सहारे संवैधानिक दायरे में उन्हें सफलता भी मिली है। वह कोई बुरी बात नहीं है; लेकिन उन्हें अपनी हदबन्दियों से बाहर जाकर अन्य प्रगतिकामी दलों को साथ लेने की ज़रूरत है। हज़ारों प्रतिबद्ध जवान लोग आज भी सशस्त्र क्रान्ति का सपना देख रहे हैं। वे अपने-अपने खेमों में अपने विशिष्ट मैनिफेस्टो के मुताबिक स्थानीय या आंचलिक लड़ाइयाँ लड़ रहे हैं। उन्हें अपने क्षेत्र में समर्थन भी मिल रहा है। लेकिन क्या वे राज्य की शक्ति का मुक़ाबला करने में समर्थ हैं ? क्या वे उसे परास्त कर सकते हैं ? पवित्र आक्रोश और अनिन्द्य प्रतिबद्धता के धनी ये युवा एक समग्र व्यापक जनक्रान्ति की जीवनीशक्ति बन सकते हैं। ग्राम्शी ने कहा था कि हेज्मनी या प्रभुसत्ता पर क़ाबिज हुए बगैर कोई भी राजनैतिक संगठन अपने मैनिफेस्टो को अमली जामा नहीं पहना सकता। शुद्ध मार्क्सवाद के पक्षधरों और बुद्धिजीवी दार्शनिक विचारकों को शायद यह सुनकर ठेस लगे; शायद उन्हें यह बात ग़लत लगे; मगर हक़ीकत यह है कि पुराने जंग लगे हथियारों से इक्कीसवीं सदी की जनवादी क्रान्ति की लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। उसके लिए पुराने हथियारों पर सान चढ़ाने—उनकी धार पैनी करने की ज़रूरत है; और उनके साथ ही नए हथियारों की भी ज़रूरत है जिनमें साम्राज्यवादी से छीने हुए हथियार भी होंगे। लेनिन ने कहा था, "हम यह दावा नहीं करते कि मार्क्स और मार्क्सवादी लोग समाजवाद की राह को पूरी तरह जानते हैं। इसका कोई अर्थ नहीं है। हम इस राह की दिशा जानते हैं। हम जानते हैं कि कौन-सी वर्ग शक्तियाँ इस राह पर आगे बढ़ेंगी, लेकिन ठोस और व्यावहारिक सीखें उन करोड़ों लोगों के अनुभव से ही प्राप्त की जा सकती हैं जो इसका बीड़ा उठाएँगे।" आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स, फूको और गांधी

दमन, उपनिवेशन और नवरूपांतरण की दर्शन भूमियाँ

विनोद शाही

'इक्कीसवीं सदी' अब एक रूपक या प्रतीक-शब्द है। यह प्रतीक इसलिए है क्योंकि आज 'इतिहास' से जुड़ी तमाम चीज़ों को ऐसे प्रतीकों के रूप में समझने की आदत डाली जा रही है, जो अपने वास्तविक अर्थों को, या कहें यथार्थ को, छिपाकर हमें भ्रम और अनिश्चय में डाले रह सकें। भाषा का यह ढाँचा दरअसल 'उत्तर-आधुनिक' है, जो शब्द के उच्चारण के साथ ही हमारे सामने इतने अधिक अर्थों का एक जटिल जाल फैला देता है कि उसके भीतर से हमारा निकलना मुश्किल हो जाता है। इतिहास और यथार्थ को अवरुद्ध या दमित करने की यह चाल बेहद कारगर सिद्ध हो रही है।

अपने प्रतीकार्थों में इक्कीसवीं सदी अपने साथ मुख्यतः भूमंडलीकरण, कंप्यूटरीकरण, आभासी यथार्थ, मीडिया या माध्यम-तंत्र का प्रभुत्व, निजी और सार्वजनिक के बीच दूरी के कम होने से फलता-फूलता सांस्कृतिक उद्योग, वैश्विक परिप्रेक्ष्य वाला प्रजातांत्रिकीकरण, आतंकवाद और उसके प्रतिरोध का अंतर्राष्ट्रीयकरण, वित्तीय पूँजी के संस्थानीकरण का पर्याय बने कारपोरेटों की सत्ता में बढ़ती भागीदारी, संयुक्त राष्ट्र की असहाय और खण्डित नैतिकता जैसे इतने सादे अर्थ लेकर आती है कि हमारे लिए इससे जुड़े ऐतिहासिक विकास के स्वरूप और दिशाओं को तय करना कठिन हो जाता है।

अगर हम इक्कीसवीं सदी की विकासधारा को ज्ञानोदय के साथ उत्तरोत्तर विकासमान (या उत्तरोत्तर पतनशील) होती आधुनिकता का आखिरी चरण मानते हैं, तो हमारे सामने ये सवाल खड़े हो जाते हैं कि यहाँ से उनको अब कहाँ जाना है ? क्यों आधुनिकता अब और विकास करने की सामर्थ्य खो चुकी है ? अथवा क्या वह इस बीच आधुनिकतावाद और उत्तर-आधुनिकता के दो महलों को लाँघती हुई अब किसी अन्य उत्तर-उत्तर-आधुनिकता की ओर बढ़ रही है ? यह सवाल भी खड़ा होता है कि समाजवाद, जो ज्ञानोदय की ही एक शाखा के रूप में प्रकट हुआ, वह रूस के पतन के बाद अब खात्मे की ओर बढ़ रहा है, अथवा उसके पुनर्विकास की स्थितियाँ और सम्भावनाएँ फिर से प्रकट होने लगी हैं ? और क्या यह सम्भावना अब सर्वहारा के अधिनायकवाद की बजाय प्रजातांत्रिकीकरण के किसी नये रूप से जुड़े जा रही है ? और सबसे जरूरी सवाल यह भी है कि इस नये विश्वेतिहास में अब तीसरी दुनिया की कोई भी नुमायाँ और सर्जनात्मक भूमिका होने जा रही है अथवा क्या वह पहले ही की भाँति किसी नये उपनिवेशवाद का शिकार होकर अपनी मुक्ति के लिए इतिहास के किसी अन्य भावी

813/7, हाउसिंग बोर्ड कालोनी, जी. टी. बी, नगर, जालन्धर शहर-144003

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण के प्रकट होने की निराश-असहाय उम्मीदों के साथ जीते रहने की नियति भी भोगती रहने वाली है ?

इतिहास के सवाल, चूँकि बुनियादी तौर पर सत्ता-प्रभुत्व, दमन, प्रतिरोध और मानव-मुक्ति के बुनियादी सवाल होते हैं, इसलिए अमूमन उन्हें सत्तापक्ष द्वारा प्रतीकार्थों के जाल में उलझाकर यथार्थ की बावस्तगी से बेदखल किया या रखा जाता है। परंतु इससे पहले कि हम अपने समय के यथार्थ और मानवजाति की ऐतिहासिक मुक्ति की सम्भावनाओं की बात करें, हमें इरादतन उन चिंताओं-चिंतनप्रणालियों की उन दरारों को देख जाना चाहिए जो उपर्युक्त प्रतीकार्थों की वकालत करते और उनका प्रचार करते अघाते नहीं हैं, मसलन, आज हम अपने आसपास ऐसे उत्तर-आधुनिक चिंतकों को देख रहे हैं जो अपने ही निष्कर्षों के जाल में उलझाकर, उबरने की कोशिश में, या तो आधुनिकता-पूर्व की परंपराओं की ओर पुनः उम्मीद भरी निगाहों से देखने लगे हैं अथवा फिर से समाजवाद की ओर नये रूप में मुड़ते दिखायी दे रहे हैं, इस संदर्भ में हम एजाज़ अहमद की उस गवाही पर भरोसा कर सकते हैं, जिसके तहत वह यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि हमारे सर्वाधिक प्रतिष्ठित उत्तर-आधुनिक चिंतक यानी ल्योतार और मिशेल फूको—ज्ञानोदय से पाई आधुनिकता का विध्वंस करते-करते आधुनिकता-पूर्व की 'प्राकृतिक' या 'हमारे रक्त में बहने वाली' परंपराओं को फिर से उद्बोधित करने की कोशिश में हैं। इसी तरह दूसरी तरफ हम टेरी ईगल्टन और फ्रेडरिक जेमसन जैसे उत्तर-आधुनिक समीक्षकों की इस गवाही को भी गंभीरता से ले सकते हैं कि अब हमारे पास और आगे विकास के लिए समाजवाद की ओर पुनः नये रूप में मुड़ने के सिवा कोई चारा नहीं बचा है। यहाँ एक और गवाही की चर्चा भी बहुत उद्धरणग्रस्तता का पर्याय नहीं होगी कि एडवर्ड सईद जैसे बहुत से ऐसे चिंतक आज उत्तर-आधुनिक चिंतक की प्रमुख शाखा के तौर पर केन्द्रीय बहसों का विषय हो गये हैं, जिन्हें हम बहुत आसानी से नवमार्क्सवादी या मार्क्स का नवविकास करने वाले चिंतक मान सकते हैं।

इस तरह अब हम अपने दौर की बाबत इस पहली समझ की ओर आगे बढ़ सकते हैं कि यह दौर 'आधुनिकता' अथवा उसके विरोध से सम्बद्ध सभी चिंतनधाराओं के अचानक संकटग्रस्त हो उठने का दौर है।

दूसरी बात यहाँ यह ध्यान देने लायक है कि इक्कीसवीं सदी की बाबत जो विविध प्रतीकार्थ प्रचलित-प्रसारित हैं, वे यूरो-अमरीकी सत्ता वर्चस्व और उसके एकाधिकारवादी अहं के भीतर से निकले हैं और इसलिए उन सभी विकास व प्रगति की अवधारणाओं के दोहरे अर्थ हैं। वहाँ विकास और प्रगति के मुखौटे के पीछे एक घिनौना अमानवीय, 'अन्य' का दमन और विनाश करने वाला, नवसाम्राज्यवादी-नवउपनिवेशवादी अँधेरा यथार्थ छिपा पसरा हुआ है और जिसकी बाबत अब यूरो-अमरीकी समाजों के ही अनेक सजग-क्रान्तिधर्मी चिंतक हमें निरंतर आगाह कर रहे हैं। इन दमित-अर्थ-शृंखलाओं को समझने के लिए हम नोम चॉम्स्की से लेकर अरुंधती राय तक अनेक चिंतकों-सृजनधर्मियों के साहस पर भरोसा कर सकते हैं। इस तरह के विवेचनों से यह साबित होता है कि यूरो-अमरीकी यथार्थ वास्तविक और छद्म में विभाजित है, जहाँ छद्म का वर्चस्व है और वास्तविक दमित है, छद्म यथार्थ मुख्यधारा के सत्ता-वर्चस्व की दिखावे की—आदर्श, मानवीय और प्रजातांत्रिक प्रतीक होने वाली राजनीति में निहित स्वार्थों के कारण सहभागी होने के जरिये निर्मित होता है। वहाँ विकास और प्रगति के दिखावे का एक जबरदस्त नाटक खेला जाता है और उसकी आड़ में 'अन्यों' के शोषित और दमित करने के सभ्य और सुसंस्कृत बहाने खोज लिये जाते हैं। इस तरह एक वैज्ञानिक, व्यवस्थित और सभ्य समाज हमें नुमायाँ भूमिका निभाता दिखायी देता है, जिसके पीछे से यूरो-अमरीकी समाज के ही मूल निवासी, मजदूर, अप्रवासी और उपेक्षित सीमान्तीय जनसमूह न्याय, समानता, स्वतंत्रता और मुक्ति की उम्मीद में केवल इंतज़ार करने की असहाय नियति में बँधे झाँकते दिखाई देते रहते हैं।

इस तरह वर्चस्वी मुख्यधारा का सामाजिक यथार्थ-भूमंडलीकरण, वैश्विक प्रजातंत्रीकरण, मुक्त बाज़ार, उपभोक्ताओं के स्वर्ग और नियमों-कानूनों के तंत्र से संचालित सभ्य समाज की वकालत करता हुआ और हमारे मानवाधिकारों के लिए पैरवी और जद्दोजहद तक करता हुआ, हमारी चेतना को अपने गढ़े सांस्कृतिक साँचों और उत्पादों में ढालता दिखाई देता है।

यहाँ जो दिखाई देता है, उसकी बुनियाद सत्ता-वर्चस्वी यूरो-अमरीकी सामाजिक यथार्थ में—बड़े गहरे दमन के साथ एकाकार है। यह दमन इन समाजों में मूल-निवासियों के मुख्यधारा द्वारा सफाये के एक लम्बे इतिहास की स्मृति-गाथा और उससे उपजे परिणाम व पश्चात्ताप के रूप में पूरे समाज की चेतना का हिस्सा बना हुआ है। इन समाजों में ज्ञानोदय, वैज्ञानिक प्रगति और सामाजिक विकास को लेकर जो कुंठा और उसका विविध तरह का विरेचन हमें पूरे आधुनिक दौर में बारम्बार नजर आता है—उसका ताल्लुक इसी दमन से है। इक्कीसवीं सदी के आग़ाज़ के साथ हमारे सामने जो यथार्थ प्रकट हुआ है, उसका चमकीला-उजला चेहरा अपने ही किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुत्सित भोंदे यथार्थ को दमित करने के प्रयास में लगातार—'अपने से आगे' निकल जाने की कोशिश करता है तथा दमित—'अन्य' से निजात पाने के लिए आत्म-रूपांतर की बजाय उस अन्य को अपने समाज से 'बाहर' खोजने की कोशिश करता है। उसका यह जो बाहर वाला 'अन्य' है वह पूर्व-उपनिवेशित समाज या आज की तीसरी दुनिया का समाज है।

यूरो-अमरीकी सामाजिक यथार्थ शेष दुनिया को जब अपने राजनैतिक या आर्थिक उपनिवेश में बदलकर नियंत्रित करने की कोशिश करता है तो दरअसल वह 'अपने' ही 'दमन' के परिणामों को नियंत्रित कर रहा होता है। वह अपने समाज के लिए इतनी पूँजी-संपदा बटोरकर घर ले आने का प्रयास करता है कि 'अपने दमित समाज' की मूलप्रकृति को ही बदल वह दमित की बजाय मुक्त समाज की शक्ल प्रदान कर—सदा के लिए नियंत्रित और अनुकूलित कर ले। प्रकृति को नियंत्रित-अनुकूलित करने के ज्ञानोदय-जनित 'वैज्ञानिक' प्रयासों को अब वह समाज को नियंत्रित-अनुकूलित करने की भूमिका बनाने का प्रयास कर रहा है। उसे यह एक जायज़-सी बातें लगती हैं कि वह दुनिया भर के संसाधनों का शोषण-दोहन करके अपने पूँजी और सत्ता-वर्चस्व के दायरे को बढ़ाता जाए ताकि उसका 'अपना' यूरो-अमरीकी समाज समृद्धि, सभ्यता और स्वतंत्रता का पैमाना बनकर—एक अत्यानुकूलित व्यवस्था की तरह पूरी दुनिया के लिए अनुकरनीय उदाहरण हो सके।

तेल-संसाधनों की प्रतिस्पर्धा में उलझाकर इस कीमती खज़ाने के नियमन-नियंत्रण-संचालन के लिए यूरोप और अमरीका ने पिछले कुछ अर्से में इस्लामी राष्ट्रवाद के प्रतिरोध को अपना मुख्य 'अन्य' बना लिया है। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया है कि यूरोप और अमरीका का 'अपना' सामाजिक यथार्थ सत्ता और दमन के समीकरणों से निर्मित होता है, जब कि उसका फैलाव—जो इस अंतर्विरोध से निजात पाने की कोशिशों का हिस्सा है—सत्ता और उपनिवेशन से संबंध रखता है। यह नव-उपनिवेशन पिछले कुछ दशकों में दो तरह का हो गया है। एक है प्रजातांत्रिकीकरण के फैलाव-प्रसार की आड़ में अपने मनसूबों की पूर्ति के लिए दुनिया भर में कठपुतली सरकारों को ले आने, उन्हें कर्ज़दार और भ्रष्ट बनाने तथा उन पर प्रतिपक्ष की मज़बूती द्वारा दबाव बनाये रखने तथा माफिया की गतिविधियों अथवा पड़ोसी मुल्कों के साथ युद्ध जैसी स्थितियों में धकेले रखने-जैसी अनेक योजनाओं वाले परोक्ष-उपनिवेशन को गहराना और दूसरा जो इसी के भीतर से प्रकट होता है, वह राष्ट्रवादी या धार्मिक-साम्प्रदायिक रूप में प्रतिरोध के अधिक उग्र या कारगर होने की हालत में उनसे जुड़े मुल्कों पर प्रजातंत्र, मानवाधिकार आदि की आड़ में आर्थिक प्रतिबंधों से लेकर खुली जंग तक के द्वारा उपनिवेशन को सफल बनाना है।

इस तरह प्रतिरोध के रूप में तीसरी दुनिया में जो दो मुख्य चीजें इस नवउपनिवेशन से जुड़े सामाजिक-नियंत्रण और अनुकूलन को चुनौती देती हैं—वे हैं राष्ट्र और धर्म से जुड़ी सामूहिकताएँ। आज पश्चिम द्वारा जो यह कहा जा रहा है कि उसकी मुख्य लड़ाई वैश्विक आतंकवाद से है, उसके मुख्य आधार यही हैं—राष्ट्र और धर्म, अब चूँकि ये दोनों ऐसी हैं जिनका ताल्लुक हमारे हज़ारों वर्षों के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास के साथ है, अतः केवल भूमंडलीकरण या प्रजातंत्रीकरण के इरादों के जरिये इन्हें बिखरा देना सम्भव नहीं है। तथापि अब हम जिस चिंतन की ओर बढ़ रहे हैं उसके मुख्य सरोकार यही होने जा रहे हैं कि राष्ट्र और धर्म से जुड़ी हमारी अस्मिताएँ किस कदर प्रगति-विरोधी और अवैज्ञानिक हैं ? अथवा कैसे ये भी केवल चेतनामूलक 'निर्मितियाँ' भर हैं ? अथवा स्वायत्त-स्वतंत्र मनुष्य कैसे राष्ट्र और धर्म का विसर्जन करके ही 'स्व' या 'आत्म' को पाता है ? यह सब करने के लिए अब धर्म और राष्ट्र के ऐसे लचीले, प्रगतिशील रूपों की पूरक या सहायक के तौर पर मदद ली जाएगी, जो हमें अंततः राष्ट्रातिक्रमी और धर्मातिक्रमी चेतना दे सकेंगे।

परन्तु यह सब चूँकि उपनिवेशन की हर एक नयी तथा बेहद गहरी युक्ति ही होगी, इसलिए हम इसके प्रतिरोध के और गहरे तरीके की तलाश में निकलेंगे।

प्रतिरोध के ऐसे नये संगठित रूप न केवल समाजवाद के उपलब्ध रूपों, प्रक्रियाओं और सरोकारों की पुनर्व्याख्या करके उसका पुनर्विकास करेंगे, अपितु प्रजातंत्र का भी एक नया ढाँचा उसी के साथ अनिवार्यतः जुड़े हुए रूप में प्रकट होगा।

इसी दूरगामी, परन्तु हासिल हो सकने लायक, सम्भावनाओं के स्वरूप को समझने के लिए हमें—मेरे विचार में—मार्क्स से आरम्भ करके फूको तक आना होगा और हो सके तो वहाँ से गांधी तक और अब मैं यहाँ जो बात रखने की विनम्र अनुमति चाहता हूँ वह हो सकता है पारम्परिक सोच रखने वाले मार्क्सवादियों और उत्तरआधुनिकतावादियों दोनों को कुछ परेशान करे, परन्तु मेरा मकसद यहाँ उसे सिर्फ विचारणीय बनाना है। भारत में इस बात के विचारणीय होने की सम्भावनाएँ शायद दुनिया भर में सबसे ज्यादा हैं, इसलिए इसे भारतीय जनों से कहने में मुझे और भी सार्थकता लगती है और वह बात यह है कि मार्क्स के चिंतन के ढाँचों के भीतर ही छिपा बैठा फूको हमारे सामने इस रूप में प्रकट हुआ है, जैसे कि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्स में विरोध में हो, ठीक उसी तरह जैसे अमूमन हमारे यहाँ परंपरागत मार्क्सवादियों की समझ यह थी कि गांधी मार्क्स के विरोध में हैं या उसकी चिंतन प्रणाली के ढाँचे की बाहर की चीज़ हैं—हालाँकि असलियत इसके एकदम उलट है। आज फूको की 'स्व की बुनावट' और अस्तित्व के सौंदर्यशास्त्र' की अवधारणाओं की वजह से कोई भ्रमवश भले ही यह समझ सकता है कि फूको से चलकर गांधी तक आया जा सकता है, परन्तु मार्क्स से चलकर गांधी तक आना अभी भी बहुतों को बड़ी दिक्कत में डाल देता है और यह बात ऐतिहासिक रूप में भी कुछ गड़बड़ी कर सकती है—अगर हम यह कहें कि मार्क्स में फूको छिपा है और फूको में गांधी; परन्तु अगर हम सम्भावनाओं की चर्चा करते हैं और यह देख पाते हैं कि मार्क्स जिस सामाजिक दमन को उजागर करता है, फूको उसे वैध बनाने की कोशिश करता है और फूको जिस उपनिवेशन को छिपाता है, गांधी उसे उजागर करता है। तो इस चिंतन-शृंखला में हम यूरोप के चिंतन की सीमाओं और उसके अंतर्विरोधों को समझते और उन पर उँगली रखते हुए, अंततः किसी वैश्विक चिंतन की सम्भावनाओं के प्रकट होने के आसपास आ खड़े होते हैं—निश्चित रूप से गांधी का भी आंतरीकरण करते हुए ही।

मार्क्स ने पूँजीवाद के व्यापक दायरे में यूरोपीय समाज के अर्थ-सम्बन्धों की व्याख्या शोषक-शोषित सम्बन्धों के रूप में की। यहाँ सर्वहारा या कहें सामान्यजन के श्रम का जो शोषण है, वह पूँजीवादी व्यवस्था या तंत्र की निर्मिति है। हम सभी इस बाबत भली-भाँति जानते हैं कि मार्क्स ने बड़ी बारीकी के साथ शोषण की प्रक्रियाओं की व्याख्या की और उनके 'आधार' पर पूँजीवादी मुनाफे के वर्चस्व का अंदरूनी चेहरा बेनकाब किया। यहाँ जो बात ध्यान देने लायक है, वह यह है कि मार्क्स अमूमन शोषण और दमन को एक दूसरे में उलझा देते हैं। वे इस बाबत सजग हैं कि श्रम के शोषण की स्थितियों के नुमायाँ हो जाने के कारण परम्परागत श्रम-रूपों का दमन हो जाता है और यह दमन श्रमिकों के भीतर एक खास तरह के आत्मपरायेपन को जन्म देता है। यहाँ उलझा देने वाली व्याख्या—जो मार्क्स बड़ी शिद्दत के साथ हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं, वह—यह है कि आत्मपरायेपन की असल वजह 'परम्परागत श्रम रूपों का दमित होना' नहीं, अपितु श्रम के शोषण के कारण और संसाधनों पर श्रमिक के अधिकार न होने के कारण, श्रम के उत्पादों का और उनके परिणामों (मुख्यतः मुनाफे) का, श्रमिक के अधिकार से अलहदा होकर पूँजीपति के हाथ में चले जाना है। श्रम और उसके उत्पादों व प्रतिफलों के बीच इस अलहदगी को मार्क्स श्रमिक के अन्यपरायेपन की मुख्य वजह मानते हैं। इस वजह के मुख्य होने या मान लिये जाने के कारण आत्मपरायेपन की असल (ऐतिहासिक) वजह पृष्ठभूमि में चली जाती है, जिसे हमने ऊपर परम्परागत श्रम-रूपों के दमित होने की प्रक्रिया के रूप में रेखांकित किया है। इस अहम उलझाव की ओर—जो कि मार्क्स की पूँजी की बुनियादी धारणाओं की बाबत ही हमारी समझ को आमूलतः बदल देता है—मार्क्सवादियों ने, और खासतौर पर यूरो-अमरीकी मार्क्सवादियों ने एकदम उपेक्षा का परिचय दिया है क्योंकि इससे यूरोपीय बुर्जुवा पूँजीवाद का वह घृणित दमनकारी चेहरा उजागर हो सकता है, जो अन्यथा जरूरी या वैध ठहराए जाने लायक शोषण की प्रक्रियाओं को नुमायाँ बना दिये जाने से छिप जाता है। इस बात को हम इस रूप में और बेहतर तरीके से समझ सकते हैं कि शोषण तो दरअसल पूँजीवाद की ही काली छाया मात्र है, जबकि दमन प्रतिपक्ष या विरोधी-पक्ष के ठोस ऐतिहासिक यथार्थ का सूचक और इसीलिए शोषण का उपचार खोजने से नुमायाँ रूप में जुड़ी समाजवादी क्रांति भी जिस नये समाज का निर्माण करती है, वह मूलतः 'पूँजीवादी' समाज ही रहता है, पूँजीवाद के लक्ष्यों की ही परोक्षतः पूर्ति करता हुआ और इसीलिए विकसित पूँजीवाद के सामने अंततः परास्त होकर घुटने टेकता हुआ। सभी समाजवाद की बाबत ऐसी व्याख्या तक पहुँचना हमारी परंपरागत मार्क्सवादी सोच को गहरा धक्का पहुँचाने वाला लग सकता है। परन्तु अन्य इसे अब सहज ही देख सकते हैं कि समाजवादी रूस ने क्रांति के बाद किस तरह उत्पादन-मूलक पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा में खुद को झोंक कर सामरिक-शक्ति वाला दमनकारी विकल्प ही संसार के सामने प्रस्तुत किया। यानी पूँजीवाद के जिस मुख्यमूलक अंतर्विरोध ने दो विश्वयुद्धों की भूमिका बनाई, उसी के सामाजिक प्रतिरूप (एलोट्रौप) ने रूस को वैकल्पिक महाशक्ति बनने की ओर धकेल दिया। यूरोप और अमेरिका ने पूँजीवाद के शोषणमूलक अंतर्विरोध से उबरने के लिए प्रजातंत्र और कल्याणकारी राज्य के निर्माण की ओर रुख किया तो रूस ने सर्वहारा के अधिकनायकवाद की ओर; परन्तु इन दोनों ही रूपों में पूँजीवाद के मूल चरित्र यानी उसकी दमनवृत्ति से उबरने का कोई सजग प्रयास व्यावहारिक रूप नहीं लेता। पूँजीवादी विकास यानी वैज्ञानिक विकास और प्रगति की कसौटी पर अमेरिका और रूस दोनों ने ही व्यवस्थित-तार्किक राज्य सत्ताओं के अपने-अपने रूपों को वर्चस्वी बनाये रखने के लिए अपने-अपने उन सभी जनसमूहों एवं श्रमरूपों का दमन किया जो व्यवस्था के लिए अराजक-अतार्किक-बर्बाद आदि हो सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। इन जनसमूहों में यूरोप-अमरीका-रूस के मूलनिवासियों से लेकर अल्पसंख्यक समुदायों की श्रम-संस्कृति तक इतना कुछ दमित हुआ है कि अब कहीं जाकर ढक्कन के थोड़ा उठने पर हमें उबाल और भाव के गुबारों का कुछ पता चल पा रहा है। मानवाधिकारवाद, बहुलतावाद, संरक्षणवाद, पर्यावरणवाद और नारीवाद जैसे बहुत से ऐसे नये दर्शन हैं जो अब इस दमन से एकाकार होकर उसे लुभाने और नपुंसक-प्रतिरोधहीन बनाये रखने के लिए पहले से कहीं ज्यादा उत्सुक दिखायी दे रहे हैं। दमन आज पहले से कहीं अधिक व्यवस्थित, संस्थानीकृत और वैधीकृत होता जा रहा है ताकि इस आंतरिक मोर्चे पर दिखावे की व्यवस्था कायम करके यह विकसित पूँजीवाद अपने वैश्विक नव-उपनिवेशन के 'महान' लक्ष्य को हासिल कर सके।

मार्क्स ज्ञानोदय के शिशु हैं—इस बुनियादी स्थिति में मतभेद सम्भव नहीं है। और इसी वजह से हुआ यह है कि उत्तर-आधुनिक चिंतन में ज्ञानोदय पर जितने प्रश्नचिह्न लगाए गए हैं, उनमें से अधिकांश मार्क्स पर भी आयत्त हो जाते हैं। इसका एक नतीजा यह निकलता है कि जब उत्तर-आधुनिक चिंतन ज्ञानादेय की सीमाओं का अतिक्रमण करने का प्रयास करता है तो हमें लगता है कि उसका मुख्य निशाना मार्क्सवाद है। तथापि यहाँ आगे बढ़ने से पहले अगर हम उपर्युक्त धारणा पर कि मार्क्स ज्ञानोदय का शिशु है, पुनर्विचार करें, तो सम्भव है कि हम देख पाएँ कि ज्ञानोदय-काल की उपज होने के बावजूद मार्क्स अपने तरीके से उससे आगे जाने का, कम अज कम 'सिद्धांत' के तल पर, प्रयास अवश्य करता है।

हम इस बात से वाकिफ हैं कि ज्ञानोदय, विज्ञान, आधुनिकता और प्रजातंत्र एक दूसरे से इस कदर गुँथे हैं कि किसी को इनमें से किसी अन्य से जुदा करके देखना-समझना कठिन है। इस दौर की उपलब्धियाँ और सीमाएँ काफी कुछ विज्ञान और उससे जुड़ी तार्किकता, वस्तुनिष्ठता और व्यवस्था से जुड़ी हैं। यहाँ हमें विज्ञान की ही उस बुनियादी स्थिति पर जरा रुककर थोड़ा विचार करना चाहिए। क्या हम देख सकते हैं कि विज्ञान की दुनिया में खुद वैज्ञानिक की केन्द्रीय भूमिका में मौजूदगी सबसे बड़ी अतार्किकता, गैर-वस्तुनिष्ठता और व्यवस्था हेतु संकट की वस्तु नहीं है ?

यानी विज्ञान जो है, वह वैज्ञानिकों द्वारा अपने आपको विसर्जित करते हुए लगातार अपने से बड़े सत्य को खोजने, सत्यापित करने और वैध बनाने की प्रक्रिया है। यह मनुष्य की मनुष्य से बड़े सत्य की इसी तरह की तलाश है, जैसे इससे पहले के युगों में प्रकृति और चेतना (आत्मा एवं ईश्वर) के संदर्भ में की गई थी। इस तरह मनुष्य के मनुष्य से बड़ी सत्ता के परिप्रेक्ष्य में खारिज कर देने के दो ही रूप क्रमिक रूप में अदल-बदल कर प्रकट होते रहे हैं। प्रकृति के रूप में मनुष्य से बाहर के बड़े सत्य बहुदेववाद में अवशिष्ट साफ नज़र आते हैं और भीतर की दुनिया में, अंतःप्रकृति के तौर पर आत्मा और परमात्मा तक के मनुष्यातिक्रमी रूप उसी 'बाहर' में अटक जाने की स्थिति की प्रतिक्रिया जैसे प्रतीत होते हैं, अब विज्ञान ने पुनः वही भूल दोहराई है। उसने मनुष्य से बाहर, भौतिक पदार्थगत वस्तुनिष्ठ अस्तित्व में मनुष्य से बड़े सत्य को खोजने का जो प्रयास किया है, उसी की प्रतिक्रिया में उत्तर-आधुनिक चिंतन चेतना और स्व की ओर पुनः उन्मुख हो गया है। मनुष्य से बड़े सत्यों की तलाश मानवजाति को हमेशा से ही लुभाती आई है। उसके पीछे सत्ता और प्रभुत्व का अहं छिप खड़ा रहता है, ताकि मनुष्य मनुष्य को, उससे भी बड़ी किसी चीज के सहारे, परास्त-पराभूत-दमित-अनुकूलित-अतिक्रान्त-रूपांतरित कर सके। भले की बात यहाँ यह है कि ऐसी ही किन्हीं—बाहरी या भीतरी प्रक्रियाओं में—मनुष्य की मुक्ति, स्वतंत्रता, परिपूर्णता, परमानंद आदि की सम्भावनाओं को तलाशा जाता है। इस तरह मनुष्य का नियमन-नियंत्रण ही नहीं, उसका रूपांतरण और मुक्ति तक परवश प्रक्रियाओं में बदल जाते हैं। यह परवशता ऐसी निरंकुशताओं का ही वह रूप है, जिससे निजात पाने के लिए मनुष्य सदा छटपटाता ही रह जाता है। विज्ञान ने पिछली कुछ सदियों में हमें जो महान निरंकुशताएँ और परवशताएँ दी हैं, उन्हें हम मुख्यतः साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी दमन-उपनिवेशन के पूँजीवादी-समाजवादी (बाजारवादी और सामाजिक) रूपों की तरह देख सकते हैं। हालाँकि समाजवाद के उपलब्ध रूपों में हमें आज निरंकुशताएँ-परवशताएँ उसी रूप में दिखाई दे सकती हैं जैसे पूँजीवादी-साम्राज्यवादी रूपों में, तथापि स्वयं मार्क्स के चिंतन में ऐसे तत्त्व मौजूद हैं जो विज्ञान की उपर्युक्त असंगति का अतिक्रमण करते हैं और इसीलिए ज्ञानोदय की सीमाओं से निजात पाने में हमारे मददगार भी हो सकते हैं। विज्ञान की चिन्तन-प्रणालियों की गहरी छानबीन करने पर हम इस बहुत जरूरी निष्कर्ष-सूत्र को पकड़ सकते हैं कि विज्ञान मूलतः जिस तरह के सापेक्षतावाद का दर्शन है, वह गहरे में हीगेल और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक दर्शनों से भिन्न तरह का है। विज्ञान की कारणिकताएँ (कार्य-कारण शृंखलाएँ) वस्तुनिष्ठता पर अनिवार्यतः ज़ोर देने की वजह से सापेक्ष तो होती हैं, द्वन्द्वात्मक नहीं, इस बुनियादी भेद को स्वयं मार्क्स ने भी बहुत सफाई से रेखांकित नहीं किया, जिनका नतीजा यह निकला कि मार्क्सवाद द्वन्द्वात्मकता को एक नितान्त वस्तुनिष्ठ दर्शन के रूप में पुनरुपलब्ध और सरलीकृत करने में जुट गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए आज हम ये देख पाने में समर्थ हो सकते हैं कि किस प्रकार ज्ञानोदय अपने विज्ञान और उसके सापेक्षतावादी दर्शन के साथ मनुष्य-केंद्रित द्वन्द्वात्मकता के दर्शन में सेंध लगाने के लिए उपस्थित हो गया ?

यहाँ हमारे लिए सापेक्षता और द्वन्द्वात्मकता के बीच के बुनियादी भेद को स्पष्टतः आत्मसात करना जरूरी है। यों तो जो द्वन्द्वात्मक है वह एक अर्थ में सापेक्षिक भी होता है, परन्तु जो सापेक्षिक है, वह ज़रूरी नहीं कि द्वन्द्वात्मक भी हो।

द्वन्द्वात्मकता का पूरा दारोमदार उसकी मनुष्य-केंद्रिकता पर है, जबकि सापेक्षिकता मूलतः पदार्थ का गुणधर्म है। इसी आधार पर कार्य-कारण संबंधों का स्वरूप भी इन दोनों के संदर्भ में भिन्न-भिन्न होता है। चूँकि कारण 'आधार' को तथा कार्य-निर्मितियाँ 'अधिरचना' को संबोधित होती हैं, अतः आधार में अधिरचना के बीज-नक्शों को तथा अधिरचना में आधार से उद्भूत संरचनाओं से रेखांकित करते हुए इन दोनों के बीच के संबंधों की व्याख्या की जाती है। ये संबंध प्रकार्यमूलक दृष्टि से सापेक्षिक होते हैं और स्वरूप-केंद्रित रूप में द्वन्द्वात्मक पदार्थ की जो व्याख्या विज्ञान करता है वह गति या प्रकार्यमूलक है। कोई भी वस्तु अपनी गतिमयता की वजह से 'होती' है और प्रकार्य की वजह से व्याख्यायित या अर्थपूर्ण। उसका रूप भी मूलतः विविध गति-समीकरणों की अस्थायी स्थितियों का नाम होता है। इसीलिए सापेक्षिकता में एक निरंतर-गतिमयता ही है, जिसमें सभी पदार्थ-सापेक्ष संबंधों में बँधे होने के कारण—स्वयं के द्वारा नहीं, 'अन्यों' के द्वारा व्याख्यायित और अस्ति बयान होते हैं और इसीलिए वे अनन्त अन्यताओं में अपनी विशिष्टता को खो देते हैं। वस्तुनिष्ठता का यही अर्थ है कि कुछ भी विशिष्ट नहीं, वह सापेक्ष संबंधों में बँधी सामान्यताओं का पुंज पात्र होता है। इसीलिए वहाँ सब कुछ 'सामान्य' नियमों द्वारा व्याख्यायित होता है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि व्यक्ति-विशिष्टता को (या स्वरूप-विशिष्टता को) खारिज-विसर्जित करने का नाम है। व्यक्तिनिष्ठता की चर्चा जिस चेतना के साथ जोड़कर की जाती है, वह स्वरूप-केन्द्रित वस्तु है और इसीलिए वह सभी पदार्थों को निश्चित-विशिष्ट व्यक्तित्व या स्वरूप प्रदान करती है। चेतना का सारतत्त्व गति या प्रकार्य नहीं, स्थिति या स्वरूप है। मार्क्स हालाँकि द्वन्द्वात्मक दर्शन का मूल खाका या ढाँचा हीगेल से प्राप्त करते हैं, परन्तु उसकी दिशा उलट देने पर अधिक जोर लगाने की वजह से अपने दर्शन की सभी कोटियों की पुनर्व्याख्या करने से चूक जाते हैं।

हीगेल में चेतना और पदार्थजगत के बीच आधार-अधिरचना संबंध हैं तो मार्क्स में पदार्थजगत और चेतना के बीच। दिशा उलट जाने से चेतना पदार्थ-जगत की निर्मिति या प्रकार्य हो जाती है। दिक्कत यहीं से आरंभ होती है। प्रकार्य-निर्मिति होने के बावजूद चेतना की विविध-स्तरीय स्वायत्तताएँ और 'आधार' को प्रमाणित-नियंत्रित करने की विविध सीमित कोशिशें तथा कहीं-कहीं स्वयं 'आधार' जैसा व्यवहार करने की विशिष्ट जरूरतें उसकी प्रकार्यमूलकता द्वारा पूरी तरह व्याख्यायित नहीं हो पातीं। इसका नतीजा यह होता है कि मार्क्स चेतना को भी उसके प्रकार्यों द्वारा आधा-अधूरा व्याख्यायित करके उसके आत्मोन्मुख या स्वरूपोन्मुख पक्ष से खारिज करने का प्रयास करता है। इसके परिणामस्वरूप धर्म, भाषा, संस्कृति, साहित्य, कला, सौंदर्य आदि की मार्क्सवादी-व्याख्याएँ निरंतर संशोधन या पुनर्विचार के संकट का शिकार रहती हैं। इस बात को एक अन्य तरीके से अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है। प्रकार्यमूलक व्याख्याएँ पदार्थ की वैज्ञानिक व्याख्याएँ होती हैं क्योंकि प्रकार्यों की जाँच, सत्यापन, पुनर्परीक्षण वस्तुनिष्ठ तरीके से सम्भव होती हैं। व्यक्ति या कर्ता की वस्तुनिष्ठ भूमिका क्या है—इसकी प्रकार्यमूलक व्याख्याएँ एक तरह के निर्धारणवाद या नियतिवाद को पैदा करती हैं। हम ऐसे निष्कर्षों तक पहुँचते हैं कि मनुष्य इतिहास की शक्तियों का, सामाजिक तंत्र या व्यवस्था का, तकनीक-उच्चतकनीक की नियामकता आदि के द्वारा व्याख्यायित होने वाली वस्तु होता है और इसलिए, जैसा कि अब फूको ज़ोर देकर कहता है कि विविध समाजैतिहासिक (समाज-सत्तामूलक) शक्तियों द्वारा निधारित चेतना वाला मनुष्य इस युग के पलटते ही, इस मनुष्य-रूप में खारिज हो जाएगा। निर्धारणमूलकता या प्रकार्यमूलकता को इस हद तक खींच ले जाने से अंततः होता यह है कि कार्यकारणता का द्वन्द्वात्मक ढाँचा अचानक विसर्जित होकर सापेक्षिक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक ढाँचे में बदल जाता है और मनुष्य-केंद्रिकता को एकदम से खो बैठता है। यही वजह है कि फूको मनुष्य की सत्ता-निर्धारकता को इस हद तक खींच ले जाता है कि अंततः उसे अलग से किसी 'स्व' या 'अस्तित्व' को ले आना पड़ता है। परन्तु यह बात फूको को भी दिखाई नहीं दी होगी कि अगर वह स्व या अस्तित्व को एक सापेक्षिक तार्किक निष्पत्ति की तरह लाता है—द्वन्द्वात्मकता को खारिज करने के बाद, तो वह भी पदार्थ की तरह ही एक बेजान और रूपांतर में अक्षम वस्तु ही है।

इसका अर्थ यह है कि हमारे लिए हीगेल और मार्क्स की द्वन्द्वात्मकता आज भी उतनी ही अहम और अर्थपूर्ण है, जितनी उनके समय में थी। मसला केवल इतना है कि हम मार्क्स की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या उन मार्क्सवादियों की तरह न करें जो मार्क्स के दर्शन में मौजूद उसके सापेक्षिक तत्त्वों को तरजीह देते हुए निर्धारणवादी-नियतिवादी तरीके से करते रहे हैं; अपितु द्वन्द्वात्मकता के वास्तव अर्थों को समझाकर स्वयं मार्क्स का भी मनुष्य-केंद्रित रूप में पुनर्विकास करें।

प्रकार्यमूलक, कार्यकारणिक, वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ, सापेक्षिक तरीके से मनुष्य की जो व्याख्याएँ इस बीच की गईं, उन्होंने मनुष्य का इस कदर पदार्थीकरण किया कि उसका कर्ता-रूप जैसे करीब-करीब खारिज हो गया। ऐसी व्याख्याओं के लिए सभी तरह के निर्धारणवादी चिंतक जिम्मेवार हैं और उनमें आधुनिक-उत्तरआधुनिक चिंतक ही नहीं, बहुतेरे मार्क्सवादी-नवमार्क्सवादी चिंतकों को भी रखा जा सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि 'रैडिकल' प्रतिरोधमूलक या क्रांतिमूलक चिंतनधाराओं में भी धीरे-धीरे ऐसी पूर्व-निर्धारकताएँ आ गईं कि उनमें भी 'कर्ता' मनुष्य की सृजनशीलता के लिए या आत्म-विशिष्टता के लिए मुश्किल से ही कोई जगह बची दिखाई दी। सृजनधर्मिता और वैज्ञानिकता की इस बुनियादी दुश्मनी को टालने के लिए स्वतंत्रता और मुक्ति के सिद्धान्त तो बहुत से आए, परन्तु जल्दी ही यह साबित हो जाता रहा कि हर तरह की स्वतंत्रता और मुक्ति के पीछे गहरे न टूटने लायक ऐसे नियंत्रक-नियामक बंधन हैं जो उनके अर्थों को ही झुठला रहे हैं। इस दुष्चक्र को भेदने के लिए हमने इस बीच अनेक अराजक दर्शनों को भी सिर उठाते देखा है, परन्तु 'प्रतिक्रिया' कभी भी सृजन जैसी मौलिक क्रिया की जगह नहीं ले पाती अतः वे खुद-ब-खुद अपनी मौत मर गए। यहाँ उनके ब्यौरों में जाना बहुत समीचीन नहीं लगता, तथापि यहाँ इतना इशारा अवश्य किया जा सकता है कि ऐसी चिंतनधाराएँ मुख्यतः आधुनिकतावाद और नवमार्क्सवाद के नामों या छायाओं के तले पनपती रही हैं। फिलहाल यहाँ हम मार्क्स के दर्शन की उस द्वन्द्वात्मकता को फिर से नुमायाँ तौर पर उल्लिखित करने का प्रयास कर सकते हैं, जो उसके दर्शन में विविध सूत्रों के रूप में मौजूद थी परन्तु जिसका विधिवत मनोयोगपूर्वक विकास नहीं हो पाया, और जिसके लिए स्वयं मार्क्स भी कम उत्तरदायी नहीं हैं।

मार्क्स के दर्शन में द्वन्द्वात्मकता से जुड़ी पहली बुनियादी अवधारणा है—मनुष्य की चेतना अथवा उसके कर्त्तापन का 'सामूहिकता' के रूप में अंतःसंस्कारित होना और इस वजह से उसका समूह (अथवा वर्ग) रूप में सक्रिय प्रतिरोध या क्रांति के लिए उन्मुख होना। आप देख सकते हैं कि मार्क्स की उपर्युक्त अवधारणा को ज़रा से अर्थान्तर द्वारा प्रकार्यमूलक निर्धारणवाद की शक्ल में ढाला जा सकता है—बस केवल 'कर्ता' को नुमायाँ न रखते हुए उसकी सामूहिक रूप में अंतःसंरचना को नुमायाँ बना देना इसके लिए पर्याप्त होगा। यह अर्थान्तर मार्क्स में भी कुछ हद तक और मार्क्सवादियों में बहुलता में इसलिए मौजूद हो जाता है क्योंकि इसका आधार मार्क्स की दूसरी बुनियादी द्वन्द्वात्मक अवधारणा में है। मार्क्स मनुष्य की समाजैतिहासिक व्याख्या श्रम-संबंधों के रूप में करते हैं, परन्तु पूँजीवादी दौर तक आते-आते उनके लिए भी मनुष्य श्रम-संबंधों के लिए विशिष्ट-रूप अर्थ-संबंधों द्वारा व्याख्यायित होने वाली वस्तु में बदल जाता है। इस बुनियादी 'शिफ्ट' को समझना जरूरी है।

श्रम-संबंध विविध श्रम-व्यवहार रूपों के सामूहिक अभिव्यक्ति से निर्मित होने वाले संबंध होते हैं। विविध श्रम-व्यवहार रूपों की सामूहिक अभिव्यक्तियाँ कबीलाई समाजों में इस तरह की होती हैं कि वे एक साथ सामाजिक रूप में उपादेय (अर्थ संबंधगत) और सामूहिक आनंदाभिव्यक्ति वाली (चेतनामूलक अथवा सौंदर्यात्मक) होती हैं। प्लेखोनोव ने साहित्य की सौंदर्यात्मक अंतःसंरचनाओं को समझने के लिए श्रम-व्यवहार रूपों के इस बुनियादी (कबीलाई) रूप को आधार बनाकर यह इशारा किया है कि पूँजीवादी समाजों में श्रम के व्यवहाररूप आर्थिक संसाधनों के रूप में निर्मित-उत्पादित होने की अनिवार्यता के कारण अपने सौंदर्यात्मक पक्ष से अलहदा हो जाते हैं। इस प्रकार श्रम की सामूहिक अभिव्यक्ति से जो सृजनधर्मी स्वतंत्रता, मुक्ति या अंतःरूपांतरणात्मकता, अनिवार्यतः जुड़ी रहती है, वह निरे या विशुद्ध रूप में 'आर्थिक संबंधों' को 'आधार' मान लिये जाने की स्थिति में नष्ट, स्थगित, उपेक्षित या 'दमित' हो जाती है।

इस तरह से देखने की कोशिश करें तो कह सकते हैं कि मार्क्स के दर्शन में द्वन्द्वात्मकता की जो अपार अंतःसम्भावनाएँ मौजूद हैं, वे पूँजीवाद की व्याख्याओं में सापेक्षिक कारणिकताओं के नुमायाँ हो जाने के कारण 'दमित' हो जाती हैं।

इसी दमित द्वन्द्वात्मकता का पुनरुद्धार, हमारे दौर में, क्रांति और रूपांतरण की अवरुद्ध सम्भावनाओं के दरवाजे खोलने का मुख्य कारण बन सकता है।

अब हम समझ सकते हैं कि पश्चिमी चिंतन में आधुनिक काल का सबसे नुमायाँ आख्यान 'दमन' क्यों है? वह समाज को एकदम वैज्ञानिक-तार्किक-व्यवस्था के साथ मुख्यतः आर्थिक उपादेयता की कसौटी पर कसते हुए 'प्राप्ति' करने की वजह से हुआ है, क्योंकि इस खास तरह की प्रगति के लिए जो कुछ भी इसके रास्ते की रुकावटें हैं—यानी जो कुछ भी अतार्किक, रूढ़ि या परंपराग्रस्त व अराजक हैं अथवा अर्थ की बजाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृजन, आनंद या ऐसी किसी चीज़ को मुख्य आधार बनाने की कोशिश करता है—उसे हटा देना, नष्ट करना या दमित करना जरूरी हो जाता है। यूरोप व अमरीका में वैज्ञानिक प्रगति के इतने तीव्र रूप इसलिए प्रकट हो सके, क्योंकि वहाँ अवैज्ञानिक-असभ्य-बर्बर आदि विशेषणों वाली जनजातियों, समूहों का सत्ता द्वारा बड़ी सटीक और क्रूर व्यवस्था स्थापना के जरिये विनाश और दमन किया गया। मुख्यधारा के समाज के लिए भी ऐसी शिक्षा-व्यवस्था लाई गई कि सृजनधर्मा श्रमरूपों की बजाय उपादेय दक्षतापूर्ण श्रमरूपों को विकसित किया जा सके। वह सब 'आधार' के तल पर हुआ। उस तरह के समाज का मॉडल तैयार हो जाने पर यह देखा गया कि अब स्वतंत्रता या छूट के लिए कहाँ क्या अवसर निकल सकते हैं ? मसलन, आप पश्चिम के अर्थशास्त्रीय चिंतन को देखें, वहाँ मनुष्य की जरूरतों को मौलिक और अवान्तर जरूरतों के रूप में बाह्य तथा आन्तरिक कहकर विभाजित किया गया है, यानी आन्तरिक जरूरतों को अवान्तर कहकर उन्हें सिर की बजाय पैरों पर खड़ा करने की कोशिश की गई है और ये अवांतर-आन्तरिक जरूरतें सत्ता की मर्जी पर आधारित होकर रह गई हैं और आपके लिए तभी मुहैया कराई जाती हैं जब आप दक्षता-उपादेयता का परिचय देते हुए अपनी जान व्यवस्था के लिए पूरे निष्ठापूर्ण तरीके से खपा रहे होते हैं। इस आखिरी सुविधा (अल्टीमेट लग्ज़री) को अबाह्य मसलों आत्म-परिपूर्णता (सेल्फ एक्चुअलाईज़ेशन) चाहता है, अगर हम इस स्थिति के कारण मार्क्स की दर्शन-व्यवस्था में से खोजें तो कह सकते हैं कि यह पूँजीवादी विकास द्वारा परंपरागत सृजनधर्मा श्रमरूपों की सामूहिक अभिव्यक्तियों को नष्ट करने और अथवा दमित करने का परिणाम है।

मार्क्सीय सृजनधर्मा श्रमरूपों की सामूहिक अभिव्यक्ति को दमित करने पर पूँजीवादी समाज व्यवस्था के लिए मुक्ति और अंतःरूपांतर का एक ही तरीका बचता है कि वह ऐसी अभिव्यक्ति की सीमित सुविधा को 'निजी' तौर पर उन्हें उपलब्ध कराए, जो यह सुबूत दे चुके हों कि वे उपादेय-दक्षतापूर्ण श्रमरूपों वाली तार्किकता का मार्ग त्यागकर 'अराजक' व्यवहारों का परिचय नहीं देंगे। सो, पूँजीवादी व्यवस्था, एक तो सृजनधर्मी श्रमरूपों का सामूहिक की बजाय निजी नियंत्रित अभिव्यक्ति में बदलती है और दूसरे उसे संस्कृति अथवा विमर्शों की दुनिया में मगज़ख्यामी की पूरी इजाज़त देती है, ताकि 'बौद्धिक' धरातल पर 'दमन' का 'विरेचन' होता रह सके। इस तरह सृजनशीलता पूँजीवादी व्यवस्था में सत्ता-निर्मिति या सत्ता-उत्पाद का रूप ले लेती है। इसीलिए उसे हम वास्तविक जमीनी और सामूहिक श्रमरूपों में एकदम से अनुपस्थित पाते हैं, परन्तु सुविधा अथवा विमर्श के रूप में अधिकाधिक अमूर्त्त, रहस्यमय या आध्यात्मिक रूपों में अथवा चमत्कारी बौद्धिक उत्तेजनाओं में लगातार शतधारा निर्झरिणी-सा फूटते पाते हैं :

अब जरा आधुनिक दौर की महत्त्वपूर्ण चिंतनधाराओं पर एक नजरसानी कीजिए और देखिए कि जरा सी नुक्ते-निगाह की तब्दीली भर से उनके अर्थ किस कदर बदले हुए दिखाई देते हैं ?

आधुनिक वैज्ञानिक चिंतनधाराओं में आरंभिक दौर में डार्विन का मत इसलिए विचारणीय है क्योंकि वह 'मत' से 'चिंतनधारा' के रूप में विकास करता है। उसके मत में हम दो परस्पर-विरोधी बातों को एक-दूसरे से टकराते पाते हैं। एक ओर वह मनुष्य की व्याख्या जैविक विकासक्रम में अंतिम विकसित चरण के रूप में एक सामाजिक-पशु की तरह करता है, दूसरी ओर योग्यतम के चुनाव के सिद्धान्त द्वारा जीने के लायक होने के लिए पाशविक प्रतिस्पर्द्धा को ही 'सामाजिकता' या 'सामाजिकीकरण' का आधार व कसौटी बना देता है। पाशविकता यथार्थ है और उनका सामाजिकीकरण मनुष्य होने की शर्त है—अतः वह सब जो असामाजीकृत (अराजक यथार्थ) है, उसका दमन डार्विन की व्याख्याओं की अनिवार्य व्यंजना बन जाता है और जिसे फ्रायड आगे चलकर एकदम इसी रूप में पकड़ता है। इस प्रकार फ्रायड में डार्विन के दमन की व्यंजनाएँ सिद्धांत का रूप ले लेती हैं। डार्विन का पशु जैव-यथार्थ होते हुए भी मनुष्य के संदर्भ में उसकी विकास-प्रक्रिया के एक चरण का प्रतीक या रूपक होकर उसे उपलब्ध होता है—जिसे फ्रायड पूरी तरह से अचेतन से सम्बद्ध स्वप्न-प्रतीक की तरह जिस प्रकार ग्रहण करता है, उससे 'पशु' की यथार्थ-सामाजिक-ऐतिहासिक तल पर की मौजूदगी अव्याख्यायित रह जाती है और अमूर्त विमर्शात्मक बारीकियों में खो जाती है।

अतः यह अकारण नहीं है कि उत्तरआधुनिक चिंतनधाराओं में हम अचानक फ्रायड के विविध-अवतारों को एक साथ प्रकट होता देखते हैं।

मार्क्स ने पश्चिमी समाजों के आधुनिककालीन दमन के यथार्थ को परंपरागत सृजनधर्मा श्रमरूपों की सामूहिक अभिव्यक्ति करने वाले जनसमूहों के दमन से जोड़ने के स्पष्ट इशारे पर सूत्र छोड़े हैं। दूसरी ओर फ्रांसीसी क्रांति—जहाँ से आधुनिकता के प्रजातांत्रिक सत्तारूप के विजयाभियान की शुरुआत होती है—की तह में छिपी रूसो और वोल्टेयर की अर्थ एवं निजी संपत्ति से जुड़ी चिंतनधारा की निष्पत्तियाँ हैं, जिनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम आधुनिकता वैज्ञानिकता-प्रजातांत्रिकता की यथार्थ-भूमि या 'आधार' को जन के निजी संपत्ति पर अधिकार के रूप में व्याख्यायित होता पाते हैं। यहाँ स्पष्टतः श्रमरूपों की बजाय अर्थ-सम्पत्ति रूपों की बात नुमायाँ तौर पर उठाई गई है, जिसकी व्यंजनाएँ ध्यान देने लायक हैं। यह पुनर्विचार इसलिए भी लाजिमी लगता है क्योंकि यह 'निजी संपत्ति का जनाधिकार' ही है जो आज उत्तरआधुनिकता के दौर में मुक्त बाज़ार और भूमंडलीकृत उपभोक्ता वाली दुनिया बनाने की ओर बढ़ा जाता है। इसलिए निजी संपत्ति की अवधारणा पर पुनः विचार करने की ज़रूरत आज इस रूप में है कि हम यह देखें कि निजी संपत्ति का जनाधिकार किस प्रकार सामूहिक संपत्ति की अवधारणा और इतिहास का दमन करता है ?

'दमन' के इस आधुनिक महाआख्यान के सामाजिक-ऐतिहासिक यथार्थ की पर्तों को—ज़रा-सी बौद्धिक खुदाई के द्वारा ही—आसानी से उद्घाटित किया जा सकता है। और अगर ठीक से देखें तथा मुख़्तसर तरीके से कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि यह मुख्यतः 'निजी' के द्वारा 'सामूहिक' का दमन है और यही आधुनिकता-उत्तरआधुनिकता की हकीकत या सार है। इसी दमन के कारण 'कर्त्ता' मनुष्य अचानक सामूहिक चेतना से टूटकर व्यक्ति-चेतना का पर्याय हो जाता है और वस्तुनिष्ठता के विरोध में खड़ा 'इतिहास' का कोई अतार्किक- फैसला लगने लगता है।

मनुष्य के इस निजीकरण का फैलाव उसके सामाजिकीकरण, संस्थानीकरण और सार्वजनीकरण में होने लगता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि वह है ही एक सामूहिकता, सार्वजनीनता, सृजनधर्मा शाश्वतता या अंतहीन अंतःरूपांतरणात्मकता। दरअसल मनुष्य के बारे में जो महानतम भ्रम फैलाया गया है और जिस पर हममें से अधिकांश यकीन भी रखने लगे हैं वह यह है कि मनुष्य स्वभावतः अपनी निजता में है, जबकि असलियत इसके एकदम उलट है। मनुष्य की निजता उसकी महानतम विकृतियों में से एक है। मनुष्य कभी निजी नहीं होता, उसे निजी बनाया जाता है, क्योंकि तभी उस पर अधिकार किया जा सकता है। मनुष्य की चेतना बुनियादी रूप में पद या अन्य की ओर मुखातिब होती है, अपनी ओर नहीं। अपनी ओर उसे मोड़ना पड़ता है—उस स्थिति में जब वह पर या अन्य के अधिकार में हो जाता है, परन्तु जो भी आत्मोन्मुख होकर वस्तुतः आत्मोपलब्ध होता है, वही पाता है कि वह कोई 'निजता' नहीं 'सर्वता' है—वह बूँद में समुद्र है या समुद्र में बूँद। निजता एक असम्भावना है, जिसके लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं है—क्योंकि जैसे ही सत्ता के उपकरण हमें 'निजी' बनाते हैं, वैसे ही हम अन्य के बस में पड़कर अपनी निजता को गँवाने की दिशा में पहला कदम उठा लेते हैं। यहाँ इसी संदर्भ में सामाजिकीकरण की प्रक्रिया को भी खोलना आसान है। यह हमें निजी बनाकर परवश बनाने की महान आधुनिक सभ्यता की अनिवार्यतम प्रक्रिया है। आप इस पंक्ति में छिपे व्यंग्य को समझ सकते हैं।

फूको ने आधुनिक-उत्तरआधुनिक पूँजीवादी समाजों में मौजूद सामाजिकीकरण की प्रक्रिया पर बहुत गहराई से विचार किया है। उसे लगता है कि अब यह सामाजिकीकरण सत्तावर्चस्वी शक्तियों द्वारा मनुष्य को अनुकूलित-नियंत्रित करने का खेल बन गया है, जो मनुष्य के सामान्य जैव व्यवहारों-जैसे सेक्सुएलिटी, खानपान या चलने-फिरने के ढंग-तरीकों तक व्याप्त हो सकता है। इस तरह हमारे 'निजी' जीवन का 'सार्वजनीकरण' और 'सामाजिकीकरण' एक तरह से हमारे 'स्व' या 'अस्तित्व' के दमन की वजह बन जाता है। स्व या अस्तित्व सत्ता-प्रतिरोधी चेतना का निष्कर्ष होती है—सहज, अनानुकूलित, गैर-नियंत्रित जैव व्यवहारों की सहजता-नैसर्गिकता की पुनरुपलब्धि की तरह।

मुझे लगता है कि फूको के स्व या अस्तित्व की धारणा के बीज वाल्टर बेंजामिन के मौन की धारणा में मौजूद हैं; परन्तु इन धारणाओं को अस्तित्ववादी अथवा भारतीय वेदान्तवादी व्याख्याओं से मिला देना सन्तुलित नहीं। चिंतन के क्षेत्र में शब्द या धारणाओं के मिलते-जुलते होने से खास भ्रम पैदा हो जाते हैं। हालाँकि ये सभी धारणाएँ किसी न किसी रूप में 'निजता' की भूमि से जुड़ी धारणाएँ हैं परन्तु इन सभी में निजता का स्वरूप और बंधनवादिता के रूप भिन्न-भिन्न हैं। भारतीय वेदान्त में उसके स्रोत वर्चस्वी ज्ञान परंपराओं के बंधनकारी रूप हैं। अस्तित्ववाद में यह स्रोत समाज-सांस्कृतिक परंपराओं के बंधनकारी रूप हैं। दूसरी ओर वाल्टर बेंजामिन इसे पहली दफा वास्तविक यथार्थ सत्ता-समीकरणों (जर्मन फासीवाद) से जोड़ कर देखते हैं और उसके सर्वग्रासी रूपों से निजात के लिए मौन के निजी चेतना का ऐसा कोना तलाशते हैं जो अपने चरित्र में प्रतिरोधात्मक हैं। स्व के रैडिकल-डायनैमिक रूप की ओर उठा यह चिंतन क्षेत्रों का पहला कदम है। फूको में यह प्रतिरोध-पक्ष बहुत प्रबल है और उसका स्व बेंजामिन के 'मौन' की तरह गूँगा नहीं है। अगर ठीक से देखें तो यहाँ हम एक ऐसी ज़मीन पाते हैं, जहाँ उत्तरआधुनिक चिंतन जैसे अपने आखिरी पड़ाव पर पहुँच गया मालूम होता है।

तथापि फूको का यह निजता की भूमि से जुड़ा सत्ता-प्रतिरोधी स्व कितना ही आत्म-रूपांतरणात्मक क्यों न प्रतीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता है—सामाजिक सामूहिक रूपांतरण से अलहदा और लग-थलग पड़ जाने के कारण वह कोई क्रांतिकारी दर्शन हीं, अपितु उसके उलट करीब-करीब प्रतिक्रांति को ही अपनी रम तक गहराने वाला दर्शन बन जाता है।

स्व की निजता से जुड़े जितने भी दर्शन-सामंतीय काल से कर हमारे मौजूदा दौर तक—विकसित हुए हैं, उनकी धारभूमि कबीलाई समाजों की स्व की सामूहिकता के सहज-सर्गिक रूपों से अलगाव के द्वारा निर्मित होती है। आरंभिक मंतीय कालों में यह अलगाव उच्च जातीय कुलीनों का नात्मक (बुद्धि या बोधगत) अलगाव अधिक होता है, जबकि मान्य जनसमाज में स्व की सामूहिकता एक हद तक सुरक्षित नी रहती है। भारत में कुलीन ब्राह्मणवादी सांस्कृतिक ध्यधारा के उलट एक 'दूसरी' परंपरा, जनसंस्कृतियों के विध रूपोंवाली, निरंतर प्रवहमान रहती है। इन समांतर राओं की उपर्युक्त समाजैतिहासिक रूप में पुनर्व्याख्या हमें के बुनियादी भेद को स्व की निजता और सामूहिकता के रूप उजागर करके सहज ही दिखा सकती है। उस दौर के इस तन द्वैत को रामायण-महाभारत में स्पष्टतः अभिव्यक्त होते ा जा सकता है। राम की तीर्थाटनों के बहाने भारत-भ्रमण र फिर वनवास के तहत जनजातियों के साथ गठबंधन की त में आकर रूपांतरित होना—दार्शनिक संदर्भ में—योगवसिष्ठ वैष्णव भक्ति के पूर्वरूपों की ओर विकास करता है। गवसिष्ठ जाति को माया बनाकर आत्मा की निजता के सार ब्रह्मास्वाद के रूप में उपलब्ध कराता है। उसमें वैराग्य को लिए इतना महिमामंडित किया गया है। वह कुलीनों का, जाओं का निजी-आत्मोपलब्धता का दर्शन है, जो राजाओं को ाग्य द्वारा अराजक-अंतर्विरोधग्रस्त जब समाज के मोहमाया बंधनों में छुटकारा दिलाता है और निज में अस्तित्व के वनीत' को स्थापित करता है। इस दार्शनिक अंतर्विकास की मायण में बड़ी दिलचस्प कथा मौजूद है— बेशक उसे अभी क इस रूप में पढ़ा नहीं गया है। वसिष्ठ से छुटकारा राम को व मिलता है, जब पिता उसे विश्वामित्र के साथ भेज देते हैं। म सभी जानते हैं कि विश्वामित्र वसिष्ठ के दुश्मन हैं और सकी व्यवस्था में जिसे प्रलोभन या माया कहा जाता है, उसके ाकर्षणों से बँधकर बार-बार साधना-भ्रष्ट होते हैं वे राम को नक तक ले जाते हैं जो भू-परंपराओं से जुड़ा, भूपुत्री सीता जनक बना हुआ है और कुलीन शैव परंपराओं के भंजन बहाना बनता है। राम की स्व की सामूहिकता को रुपलब्ध करने की दार्शनिक यात्रा अंततः अगस्त्य के आगम जाकर पूरी होती है, जो एक दक्षिणपंथी (दाक्षिणात्य) आचार्य के रूप में मशहूर है और अकेला समस्त उत्तरवर्ती ऋषियों के ज्ञान पर भारी पड़ता है। इसके बाद राम जन को मर्यादित और सामूहिकता में विसर्जित-विलीन-एकाकार चेतना लिये सामूहिक-सामाजिक इतिहास के माध्यम की तरह विचरते हैं और इसीलिए वे इतिहास के महानतम 'कर्त्ताओं' में से एक हो जाते हैं।

वर्चस्वी ज्ञान परंपराओं के जरा स्व की सामूहिकता के दमन को कबीलाई दौर के तुरंत बाद के समाज में हटाकर 'रामराज्य' तक पहुँचना इसीलिए सम्भव दिखाई देता है क्योंकि अभी समाज का एक बड़ा हिस्सा स्व की उस सामूहिकता का भागीदार बना हुआ है। परन्तु उत्तर-सामंतकाल तक आते-आते हम सामाजिकीकरण और दमन को समाज-सांस्कृतिक धरातलों पर गहराते हुए देख सकते हैं। आधुनिक पूँजीवादी समाजों में यह दमन और भी गहरा व व्यापक होकर आर्थिक-राजनैतिक 'आधार' तक व्याप्त हो जाता है। यहाँ हम भारतीय एवं पश्चिमी समाजों के विकास की बाबत इस बुनियादी भेद को अवश्य याद रखना चाहेंगे कि जहाँ भारत में—और अधिकांश तीसरी दुनिया में—सत्तावर्चस्व कभी इतना निरंकुश व क्रूर नहीं होता कि गैर-सामाजीकृत जनसमूहों का उन्मूलन ही कर चले, वहाँ पश्चिमी समाजों में ऐसा उन्मूलन और इसीलिए इस संदर्भ में दमन अधिक उग्र व गहरा दिखाई देता है। दूसरी ओर भारत में बीच-बीच में बौद्ध और भक्ति आन्दोलन से जुड़ी जो सांस्कृतिक क्रांतियाँ हुई हैं, उनके कारण यहाँ मुकाबलतन जनसमूहों का भिन्न प्रकार का सामाजिकीकरण हो सका, जो आत्मसातीकरण और संस्कृतीकरण की भिन्न कोटियों से जाना जाता है। इसलिए हमारे जैसे समाजों में उपनिवेशन दमन के स्थान पर सबसे बड़ा सामाजिक-आख्यान हो गया है। वैश्विक उपनिवेशन की प्रक्रियाओं की व्याख्या करते हुए आज जब अनेक पश्चिमी चिंतक इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि तीसरी दुनिया के देशों में उपनिवेशन के बीज मौजूद थे और इसीलिए यहाँ अधिकांश उपनिवेशन इन मुल्कों की सहमतियों द्वारा हुआ—तो ऐसे निष्कर्षों को एकदम से झुठला देना आसान नहीं है परन्तु यहाँ इस तरह के निष्कर्षों को स्वीकार करने के बावजूद यह बात भी साथ ही रेखांकित करनी आवश्यक है कि पश्चिमी देशों द्वारा जिस तरह का उपनिवेशन तीसरी दुनिया में लाया गया, उसके बीज इन मुल्कों में नहीं थे, अपितु उसकी प्रकृति एकदम भिन्न थी। हमारे यहाँ के उपनिवेशन मूलतः जनसमूहों के आत्मसातीकरण और संस्कृतीकरण से जुड़े थे, जबकि पश्चिमी देशों द्वारा लाए गए उपनिवेशन उनकी दमन-प्रक्रियाओं का विस्तार दमनात्मक उपनिवेशन और आत्मसतात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिवेशन में ज़मीन-आसमान का फर्क होता है और यही वह फर्क है, जिनकी बुनियाद पर विकसित हुआ गांधी का दर्शन हमें एक नये विकल्प की ओर ले चलता है।

भारत के सुदीर्घ समाजैतिहासिक विकास में मुख्यधारा के समाज द्वारा सवर्णों द्वारा—शूद्रों के रूप में अवर्णों के स्वीकार और आत्मसातीकरण की प्रक्रिया निरंतर चलती रही है। अवर्ण जनजातियाँ अपनी कबीलाई सामूहिक अस्मिताओं के साथ—अपने गोत्र नामों के साथ—एक अन्य जातिगत पहचान को भी साथ ही साथ इस रूप में ग्रहण करती रही हैं कि वृहद-जातिगत श्रेणीविभाजनों के बावजूद उनकी मूल कबीलाई सामूहिकता विनष्ट न हो जाए। इसे हम एक खास तरह के समाज-सांस्कृतिक उपनिवेशन के रूप में देख सकते हैं, जिसके तहत शूद्र जनजातियाँ सामाजिक-उपनिवेशों की तरह समाजार्थिक विकास में सहयोग करने के लिए तैयार या विवश तो होती हैं, परंतु सांस्कृतिक रूप में अपनी सामूहिक अस्मिताओं की स्वतंत्र और भिन्न पहचान भी नहीं खोतीं। इसका नतीजा यह निकलता है कि शूद्र समाज में सामूहिक अस्मिताएँ अपनी यथार्थ जमीन से अलहदा होने के कारण लगातार प्रतीकीकृत रूपकों की तरह—मुख्यतः विशेष तरह के कर्मकाण्डों और रीति-रिवाजों की की तरह—भिन्न शक्ल अख्तियार कर लेती हैं। भारतीय समाज में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य जातियों की तुलना में इस तरह का उपनिवेशित शूद्र समाज बहुत बड़ा है। सांस्कृतिक आन्दोलनों के द्वारा खास तौर पर बौद्धों तक भक्तिधारा के द्वारा—यह प्रयास किया गया कि इस उपनिवेशन शूद्र समाज को एक नयी समन्वित सांस्कृतिक चेतना के तहत मुख्यधारा में आत्मसात व संस्कृतीकृत कर लिया जाए। ये प्रयास मुख्यतः सांस्कृतिक धरातल पर हुए, परन्तु इनके समाजार्थिक और राजनैतिक आधार भी थे। इस प्रकार ये सांस्कृतिक आंदोलन एक तरह से गैर-उपनिवेशन की दिशा में किए गए प्रयास बन जाते हैं। बहुत विस्तार में गए बगैर यहाँ इतना संकेत गैरज़रूरी नहीं होगा कि इन सांस्कृतिक आंदोलनों की रूपांतर-प्रक्रियाएँ मुख्यतः दो तरह की रही हैं। एक हिस्सा स्व या आत्म की 'निजताओं' का परिहार व खण्डन करता है। इसके तहत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, अहंकार आदि के चंगुल से बाहर आने का रास्ता दिखाया जाता है। हम साफ-साफ देख सकते हैं कि अहंकार स्व की 'निजता' की महानतम विकृतियों में से एक है, जिसका आधार कुलीनता और उसके जुड़ा सामाजिकीकरण है। दूसरी ओर ये आंदोलन सामूहिकता की भूमियों को आत्मसात करने के लिए अहिंसा और प्रेम को मुख्यतः विकसित और सिंचित करते हैं और उनके आख्यानक रूपों को रामराज्य को वज्रधाम आदि के रूप में जनचेतना का हिस्सा बनाते हैं। गांधी इसी पृष्ठभूमि के साथ समझे जाने और आगे विकास की भूमिका के रूप में रेखांकित करने लायक आधुनिक युग का महानतम चिंतक बनकर उभरता है। पश्चिम के चिंतन को अगर हम मार्क्स से लेकर फूको तक एक खास परिप्रेक्ष्य में समझ सकते हैं, तो, जैसा कि एडवर्ड सईद इशारा करते हैं, हमें उनके द्वारा छोड़ दिये गये औपनिवेशिकता के विवेचनों को आधार बनाकर वैकल्पिक दर्शन को खोजने की जरूरत है। और मुझे लगता है कि गांधी के बहाने हम उस दिशा में बहुत आगे बढ़ सकते हैं।

दार्शनिक अंतर्विकास के लिहाज से अगर हम अपने मौजूदा दौर में गांधी की अर्थ-व्याप्ति और प्रासंगिकता का एक मार्गदर्शक बनाना चाहें तो कह सकते हैं कि नेल्सन मंडेला में गांधी का 'रैडिकल' रूप प्रकट होता है और एडवर्ड सईद में 'उत्तर-तार्किक' रूप अपने 'रेडिकल' रूप में गांधी अहिंसा से सशस्त्र छापामार युद्ध की जरूरत तक विकास करते हैं। और यह कोई अर्थगत असंगति या अंतर्विरोध नहीं है—खास तौर पर अगर हम देख पाएँ कि ठीक इसी रूप में मुक्तिबोध 'अँधेरे में' भी गहरी सामाजिक रूपांतर की सम्भावनाएँ तलाशते हुए गांधी के कंधे पर 'रायफल' और 'भविष्य के शिशु' दोनों को बारी-बारी से सवार देखते हैं। यह जो फर्क है—अहिंसा और सशस्त्र प्रतिरोध की ज़रूरत के बीच यह चरित्रगत या गुणात्मक नहीं, विधिगत और सापेक्षिक है। यह अहिंसा के रूपांतरणात्मक सृजनधर्मा सामूहिक इस्तेमाल का मामला है—ठीक उसी जमीन से जुड़ा हुआ, जहाँ से अहिंसा जन्म लेती है। निजता के रूपांतर के लिए जो अहिंसा एक कसौटी है, सामूहिक रूपांतर के संदर्भ में वह हिंसा का विवेकपूर्ण सृजनशील इस्तेमाल है। इसी बुनियादी फर्क को समझना बराबर ज़रूरी है। पूँजीवादी समाजों में जहाँ निजी का प्राधान्य है—प्रेम, अहिंसा, भाईचारा, स्वतंत्रता, मानवाधिकार आदि रूपांतरणात्मक वस्तुएँ न होकर, सत्ता के इनके एकदम उलट चरित्र को—घृणा, हिंसा, दमन, उपनिवेशन, अनुकूलन, नियंत्रण आदि को छिपाये रखने के लिए ओढ़े गए चेहरों की तरह होते हैं—गांधी इस 'चेहरे' का प्रतिरोधी इस्तेमाल करने का प्रयोगशील इंतज़ार कर रहे थे। वे अपने जनसमूहों को वास्तविक रूप में—अहिंसक जनसमुदायों की तरह प्रस्तुत करके औपनिवेशिक दमन वाले सत्ता-चरित्र को बेनकाब करना चाहते थे। वे एक नैतिक लड़ाई लड़ रहे थे, क्योंकि सशस्त्र सामरिक लड़ाई उन संदर्भों में सामूहिक आत्मघात होती। परन्तु भारत के आज़ाद होते ही कुल दुनिया में जो औपनिवेशिकता-विरोधी लहर उठ खड़ी हुई, उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना का
जाने और
ने लायक
। पश्चिम
एक खास
ईद इशारा
शिकता के
खोजने की
ने हम उस

हम अपने
ता का एक
न मंडेला में
र्ड सईद में
अहिंसा से
ते हैं। और
-खास तौर
बोध 'अँधेरे
लाशते हुए
' दोनों को
अहिंसा और
ा गुणात्मक
ांतरणात्मक
उसी जमीन
के रूपांतर
र के संदर्भ
न है। इसी
ादी समाजों
भाईचारा,
एँ न होकर,
हिंसा, दमन,
ये रखने के
'चेहरे' का
र रहे थे। वे
जनसमुदायों
ा-चरित्र को
लड़ रहे थे,
में सामूहिक
कुल दुनिया
हुई, उसकी

प्रत्यक्ष या परोक्ष मदद से मज़बूती पाकर नेल्सन मंडेला के लिए यह अपेक्षाकृत आसान हो गया कि वे प्रेम-अहिंसा-भाईचारे वाली अपने लोगों की सत्ता के लिए रेडिकल प्रतिरोध की ओर हो–अस्थायी तौर पर–मुड़ जाएँ। नस्लवादी घृणाओं के चरम पर पहुँचने का प्रतिरोध केवल नैतिक दबाव बनाकर करते रहना अब इसलिए भी सम्भव नहीं रह गया था, क्योंकि–जैसाकि कोई भिन्न संदर्भ में इशारा करता है–सत्ता जल्द ही अपने दमन और प्रतिरोध को संस्थानीकृत और आभ्यंतरीकृत करके उनके व्यवस्थापन और नियंत्रण के तरीके सीख जाती है। गांधी भारत में जो कर पाए प्रिटोरिया शासन के नस्लवादी रचनात्मक औपनिवेशन में संस्थानीकृत होकर अधिक गहन और व्यापक हो गया था। संस्थानीकृत होने का मतलब होता है–दमन और प्रतिरोध की सम्भावनाओं के मद्देनजर नियमों, कानूनों की व्यवस्था द्वारा दमन और प्रतिरोध-शमन को 'वैधता' प्रदान करना। नस्ली घृणा की राज्यसंस्थाबद्ध वैधता को गांधी की अहिंसा के रैडिकल रूप की ज़रूरत दिखाई देती है। यह वैसी ही बात है जैसे भारत में आज़ादी के बाद सत्ता के दमनकारी रूपों का संस्थानीकृत वैधता पाना, जिसके खिलाफ मुक्तिबोध की उक्त कविता संबोधित है। यह मार्क्स और गांधी का समन्वय करने का प्रयास नहीं है...जैसा कि अमूमन भ्रमवश समझ लिया जाता है–अपितु यह मार्क्स के भीतर से, उसके सरोकारों से झाँकती एक 'अन्य' पृथ्वी और आकाश को उपलब्ध करके मार्क्स का एक साथ अतिक्रमण और अंतर्विकास करना है। जैसा कि हमने ऊपर दिखाने की कोशिश की है कि मार्क्स पूँजीवाद के रूबरू खड़े उसके दमनपक्ष की बजाय, उसके शोषकपक्ष से अधिक मुखातिब हैं, क्योंकि वही समकालीन-तत्स्थानिक ज़रूरत है। पश्चिम में दमन के शिकार जन-समूहों का इस हद तक सफाया हुआ है कि वे पूरी व्यवस्था' में कहीं मुश्किल से ही दिखाई देते हैं और इसलिए 'दमन' वहाँ इसे जमीनी वस्तु न होकर 'विमर्शी' रूप-अमूर्त, सैद्धांतीकृत, रूपकनिबद्ध रूप-अधिक ग्रहण कर गया है। परन्तु पश्चिम की उपनिवेशक-प्रक्रियाओं में 'अन्य' के दमन का जो विश्वक विस्तार किया है–उनकी वजह से वह दमन अपने औपनिवेशिक रूप में साफ सामने खड़ा दिखाई देता है। इसलिए यह सम्भावना एशिया-अफ्रीका में–गांधी या नेल्सन मंडेला में ही प्रकट हो सकती थी कि वे पूँजीवाद के साम्राज्यवादी दमन का मुकाबला करने के लिए अपने सामूहिक सांस्कृतिक 'आधारों' में झाँकते और वहाँ से सामूहिक चेतना के संवाहकों के रूप में अहिंसा और प्रेम जैसी प्रतिरोधी धारणाओं को ग्रहण करके उनका समाज-राजनैतिक विचारधाराओं की तरह अंतर्विकास करते।

मार्क्स और प्लेखानोव ने कबीलाई सामूहिक श्रमरूपों में आनंद, सृजन, सौंदर्य आदि की जो अंतःसम्भावनाएँ देखी हैं, उनसे सम्बद्ध विकृति-प्रतिरोधी रूप निश्चित ही अधिक गहरे एवं रूपांतरणात्मक हो सकते हैं–बनिस्बत शोषण-भूमियों से उपजे आत्मपरायेपन का प्रतिरोध करनेवाले क्रांतिकारी रूपों के–इसे समझना जरूरी है। शोषण उन सर्वहाराओं, मज़दूरों आदि का होता है जो पूँजीवादी विकास-व्यवस्था के अंतर्गत, उसके हिस्सेदार हो जाते हैं। और जिनका श्रम कोई 'मूल्य' रखता है। बुनियादी सामूहिक श्रम रूपों का ताल्लुक इसके उलट उन जनजातियों-जनसमूहों से है, जो पूँजीवादी व्यवस्था के या तो सीमांत पर ठिठकी हैं, या उससे बाहर पड़ी हैं–उपेक्षित, अपने ही सहारे जीने की प्रकृति-आश्रित हालातों में आप देख सकते हैं कि जनसमूहों की ऐसी कोचिंग आपको यूरोप-अमरीका में नहीं, तीसरी दुनिया में मिलती है। ये हालात, जैसे भारत का उदाहरण लें, तो केवल आदिवासियों, अवर्णों, अछूतों पर ही लागू नहीं होते, अपितु देशज अर्थव्यवस्था के हिस्सेदार कामगारों-दस्तकारों आदि पर भी लागू हो जाते हैं क्योंकि वे नयी आरोपित पूँजीवादी-व्यवस्था में अपने श्रम को कोई खास 'मूल्य' दे पाने में असमर्थ रहते हैं। इनका शोषण नहीं, दमन होता है। जैसे कि औपनिवेशिक काल में कपड़ा-उद्योग से जुड़े कारीगरों का हुआ था, कपड़ा उद्योग से जुड़े लोगों का हुआ था और वे कामकाज गँवाकर, यहाँ तक कि क्रूरतापूर्वक दमन प्रक्रिया में अपने हाथों के अँगूठे तक कटवा कर, भिखारियों की हालत में गाँवों के सीमांतों पर जा टिके थे। औपनिवेशिक पूँजीवाद द्वारा जिस तरह का प्राकृतिक संसाधनों का दोहन होता है, उससे और भी भयानक हालात पैदा होते हैं। जंगलों पर निर्भर जनजातियाँ, आदिवासी तक उससे निराश्रित हो उठते हैं और नयी पूँजीवादी-व्यवस्था की ओर उम्मीद भरी निगाहों से देखते हैं, परन्तु उसके पास 'उन्हें' देने को कुछ नहीं होता।

इस रूप में अगर हम शोषण और दमन के बुनियादी फर्क को आत्मसात कर पाएँ तो समझ सकते हैं कि मार्क्स का यूरोप को मुखातिब दर्शन जिस क्रांतिकारी रूपांतर की ओर आगे बढ़ता है, वह हमारे काम का उतना नहीं है; जितना कि उसका अविकसित रह गया वह विवेचन, जो गांधी-मंडेला आदि के दर्शन की पुनर्व्याख्या के लिए एक तार्किक आधार प्रदान करता है और ऐसे सूत्र भी देता है, जिसके सहारे हम गांधी के पुनर्विकास की बाबत सोच सकते हैं।

एडवर्ड सईद ने पश्चिम की चेतना या सांस्कृतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्मिता की व्याख्या इस रूप में की है कि वह अपने तौर पर व्याख्यायित होने की बजाय अपनी श्रेष्ठता को पूर्व के साथ तुलना के द्वारा पाती है और इस तरह पूर्व नामक 'अन्य' की वजह से उसका 'स्व' सभ्यता-श्रेष्ठता-तार्किकता आदि अपेक्षाकृत बेहतर गुणों का पुंज हो जाता है। 'अन्य' या 'पर' के बिना 'स्व' की व्याख्या का अर्थहीन हो जाना यह साबित करता है कि वह पश्चिम का स्व या आत्म न होकर उसका 'अहं' मात्र है। यही वजह है कि वहाँ के अधिकांश चिंतक पश्चिम को जिस 'चेतन' से तुलनीय मानते हैं, वह फ्रायडियन 'अहं' है और उसका रिश्ता अचेतन के साथ दमन का है—जो अव्यवस्था और अराजकता का पुंज होने के कारण अक्सर उसकी तार्किक-संगतियों वाली व्यवस्था (लॉजिकल ऑर्डर) के लिए खतरा बना रहता है। पूर्व की तुलना इसी 'अचेतन' से की जाती है। यहाँ हम एक बात ध्यान में लें तो एडवर्ड सईद के इस पश्चिम-बेनकाबीकरण का पूरा परिदृश्य खुल सकता है। पश्चिम का दमन 'पूर्व' नाम 'अन्य' के संदर्भ में ही नहीं, अपने समाजों के मूलनिवासियों (नेटिव्ज़) के संदर्भ में भी है। दूसरी बात यह है कि जहाँ 'नेटिव्ज़' वाला मसला वहाँ अधिक ठोस और जमीनी हकीकत से जुड़ा है, वहाँ पूर्व वाला मसला विमर्शात्मक और अकादमिक अधिक है, जिसके परिणामस्वरूप वह सांस्कृतिक संकट से अधिक गहरे में नहीं जाता। वह भी वहाँ इसलिए है क्योंकि आप्रवासी 'डायस्पोरा' में अपनी अस्मिता को वहाँ पहचानने और रेखांकित करने की कोशिशें आरंभ कर दी हैं। इसलिए उक्त दमन के असल रूप को देखने के लिए हमें तीसरी दुनिया के साम्राज्यवादी और अब भूमंडलवादी दमनात्मक उपनिवेशन की ओर देखना पड़ता है और वहाँ सईद नहीं, गांधी और मंडेला हमारे लिए अधिक सार्थक और क्रांतिकारी विकल्पों को खोलने वाले साबित होते हैं।

दूसरे, फूको और नोम चॉम्स्की के जरिये हम पश्चिमी समाजों में सत्ता-वर्चस्व के गहरे सामाजिक, राजनैतिक और जैविक कोटियों के दमनरूपों की बाबत परिचित हो रहे हैं और यह समझ पा रहे हैं कि पश्चिम में जनदमन का मुख्य आधार और उपकरण वैज्ञानिक विकास का राजनैतिक प्रायोजन है, जिसने मेडिकल, जेनेटिक और मीडिज जैसे क्षेत्रों को हथिया कर मनुष्य के दैहिक-जैविक व्यवहारों तथा उसकी चेतना की संरचनाओं तक को सत्ता की 'इंजीनियरिंग' का क्षेत्र बना दिया है। चॉम्स्की की चर्चा यहाँ प्रतिरोध के उस स्तर के प्रतिनिधि के रूप में की जा रही है जो फूको की शब्दावली में ऐसे 'स्व' की मौजूदगी का प्रमाण है, जिसकी प्रतिरोध-वस्तु विवेक और स्वतंत्रता की परिचायक होने के कारण आनंद-वस्तु होने की सम्भावना रखती है। परन्तु चूँकि यह सब 'निजता' की भूमि पर सम्भव होता है और सामूहिक व्यवहारों में उसकी अनुगूँज विमर्शात्मक-प्रतिरोधों से आगे नहीं जाती, अतः यह भी कहा जा सकता है कि पश्चिम अपने प्रतिरोध का भी व्यवस्थापन व संस्थानीकरण करने में सफल हो गया है। जैसे कि वाल्टर बेंजामिन हमें चेताता है कि 'क्रांति' से सम्बद्ध विमर्श भी पश्चिम में बिकाऊ-माल से ज़्यादा हैसियत नहीं रखता।

वैकल्पिक क्रांतिकारी वैश्विक विमर्श के रूप में गांधी का अंतर्विकास हमें पुनः उपनिवेशन की पूर्व-उल्लिखित दमनात्मक और आत्मसातात्मक कोटियों की ओर ले जाता है। गांधी उपनिवेशन के दमनात्मक रूप का विरोध करते हैं और दूसरे आत्मसातात्मक रूप को गहराते हैं। तार्किक दृष्टि से उपनिवेशन और आत्मसातीकरण अंतर्विरोधी हैं, इसलिए भी पूर्व का यह सामाजिक न्याय ज्ञानोदय की तार्किकता से ग्रस्त पश्चिम के लिये एक पहेली की तरह है। गांधी उपनिवेशन की सामाजिक प्रक्रियाओं के एक साथ गहराने से इनका अंतर्विरोध ध्वनित होकर एक नये संश्लेष की ओर स्वतः उन्मुख हो जाता है। यह विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। उपनिवेशन यहाँ प्रकार्यमूलक वस्तु है तो आत्मसातीकरण स्वरूपगत। अधिरचनाएँ तत्त्वतः या सारतः स्वरूपात्मक होती हैं—इस ओर अभी हमारे विमर्शों का ध्यान पर्याप्त मात्रा में नहीं खिंचा है। परन्तु अगर हम इस भेद को ठीक से समझते हैं तो हम द्वन्द्वात्मकता के अर्थ भी सही मायनों में पकड़ सकते हैं और सांस्कृतिक-अधिरचनाओं की व्याख्या अधिक स्पष्टता-सटीकता से करने में समर्थ हो सकते हैं। गांधी चूँकि—विमर्शात्मक धरातल पर—हीगेलियन न होकर मार्क्सवादी अधिक प्रतीत होते हैं, इसलिए वे कट्टर हिन्दूवादियों की समझ में एकदम से नहीं आते, परन्तु वे मार्क्सवादियों की पकड़ और समझ से भी इसलिए 'बाहर' की वस्तु प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके यहाँ प्रक्रियामूलक आधार जिस अधिरचना को जन्म देता है, वह मार्क्सवाद की तरह प्रकार्यात्मक ही नहीं रह जाती, अपितु वास्तविक द्वन्द्वात्मकता के और करीब जाती हुई स्वरूपात्मक होने का परिचय अधिक देती है।

गांधी के दार्शनिक-विमर्शात्मक पक्ष पर उनका महात्मापन या रैडिकल समाज-राजनैतिक कार्यकर्ता वाला रूप इतना हावी रहा है कि उपर्युक्त रूप में उनकी चर्चा कइयों को अचम्भे या हैरानी-परेशानी की चीज़ लग सकती है। तथापि मेरा यहाँ मित्रों से विनम्र अनुरोध है कि वे कृपया अपनी गहन सृजनशील अंतर्दृष्टियों का आश्रय ग्रहण करते हुए गांधी के इस पक्ष व विकास व उसकी व्याख्या में सहयोग दें। हमारी सीमित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिबद्ध निगाहों ने पहले ही अपने प्रतिक्रियावाद या आग्रहवाद द्वारा हमारा बड़ा अहित किया है और आज हम पश्चिम-परस्त विचारशीलताओं के ज़रिये अपने देश, तीसरी दुनिया तथा व्यापक तौर पर पूरे विश्व को जहाँ ले गए हैं, वहाँ हमारी वजह से ही एक बेशकीमती रूपांतर व क्रांति-सम्भावना स्थगित होती चली आई है। इसी पीड़ा से यह आलेख निःसृत और आपसे मुखातिब है।

भारतीय समाजैतिहासिक विकास के सर्वाधिक संकटापन्न काल में गांधी अपने रैडिकल दर्शन के कुछ अधूरे अस्फुट खाचित्र हमारे हवाले करके विदा हो जाते हैं और उस दर्शन को व्यवस्थित-सैद्धान्तिक वर्णक्रमों द्वारा आगे विकसित करने का काम हमारे लिये शेष रह जाता है। यही वह वजह है, जो में गांधी के एक दार्शनिक के रूप में समझने-देखने से रोकती है। उन्हें समझने और सम्यक् व्याख्या-पुनर्व्याख्या की ओर बढ़ने के रास्ते की दूसरी रुकावट है—उनकी चिंतन भाषा पड़ा मध्यकालीन रूपक-निबद्ध सांस्कृतिक कूटों का ऐसा आवरण, जिसे हटाए बिना आप उसके यथार्थ को देखने में असमर्थ ही नहीं हो जाते, कई दफा उन्हें प्रेमवश हिन्दूवादी या हस्यवादी जैसी कोटियों से जोड़कर रद्द या खारिज तक करने की दिशा पकड़ लेते हैं। गांधी का दार्शनिक मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन उतना ही कठिन है, जितना कबीर में आधुनिकता और प्रगतिशीलता को स्पष्टतः देखते हुए भी उसे मध्यकालीनता की धुंध में पूरी तरह बाहर खींच निकालना। इसीलिए गांधी का एक द्वन्द्वात्मक-यथार्थवादी दार्शनिक वाला चिंतन का ढाँचा, जिसे हम वहाँ मौजूद देख तो लेते हैं, हमारे प्रयासों के बावजूद उनकी परंपरा से गहरे में जुड़ी संरचनाओं के असर से कभी पूरी तरह निजात नहीं पाता। परन्तु ज्यों ही हम उन्हें एक रैडिकल दार्शनिकवाली कोटि में रखकर, चिंतन और कर्म की एकता को कसौटी बनाकर, उन्हें समझने की कोशिश करते हैं तो वे भी मंडेला और की तरह और उनकी कोटि वाले चिंतक के रूप में अचानक निर्भ्रान्त रूप में हमारी पकड़ में आने लगते हैं। अतः उनके संबंध में आगे बढ़ने के लिए प्रस्थान-बिंदु वहीं होना चाहिए, जिसे यहाँ ऊपर प्रस्तावित किया गया है—भारतीय समाजेतिहास की सर्वाधिक संकटापन्नता का चरण—जो यहाँ इस वजह से उस दौर में प्रकट होता है, क्योंकि हमारे यहाँ दमनात्मक उपनिवेशन पहली दफा आत्मसातात्मक उपनिवेशन वाली सामाजिकीकरण की सम्भावनाओं को लगातार बिखराता हुआ आत्मसातीकरण को असम्भव तथा उपनिवेशन का एकमात्र वास्तविकता में बदलने का प्रयास कर रहा दिखाई देता है।

भारत में शूद्र समाज के रूप में एक तरह का समाज-सांस्कृतिक उपनिवेशन हमेशा से मौजूद रहा है और उसे सांस्कृतीकरण (एकल्चराइज़ेशन) के द्वारा—जो विविध सांस्कृतिक आंदोलनों के रूप में बड़े व्यापक तौर पर भी गहराया है—आंशिक राहत भले ही मिलती रही हो, परन्तु इसका असल मकसद इस उपनिवेशन समाज का एक हद तक आर्थिक रूप से दोहन-शोषण का रहा है। इसीलिए सांस्कृतिक रूपांतर भी शूद्र समाज की स्थितियों का आर्थिक-सामाजिक रूप में गुणात्मक परिवर्तन करने की हद तक नहीं जा पाते। इस तरह का सांस्कृतिक आत्मसातीकरण तथा आर्थिक-सामाजिक उपनिवेशन भी सवर्णों की मुख्यधारा द्वारा एक बड़े सीमित और ज़रूरी पैमाने पर ही होता रहा है तथा उसकी ज़द से जंगलों-पहाड़ों आदि में जी रहे आदिवासी, मूलनिवासी, अवर्ण तथा अस्पृश्य समझे जाने वाले जनसमूह बाहर ही रहते आए हैं। अंग्रेज अपने साथ साम्राज्यवादी कोटि वाला दमनात्मक उपनिवेशन लाए, जिसने मुख्यधारा, उपनिवेशित जनसमूहों तथा समाज-बाह्य जनसमूहों में भेद वाली व्यवस्था को और भी अधिक संकटग्रस्त बना दिया। जंगलों, भूमिगत संसाधनों, श्रम की पारंपरिक व्यवस्थाओं तथा अन्य उपादेय पूँजीवर्धक कोटियों का अंग्रेजों ने अंधाधुंध शोषण-दोहन आरम्भ कर दिया और इस बात की परवाह नहीं की कि शूद्रों, दलितों, अवर्णों तथा अस्पृश्यों के लिए जीने-लायक हालात के भी शेष न रह जाने पर समाज उनका बोझ कैसे सहेगा ? परंपरागत रूप में भारतीय समाज जिस आत्मसातीकरण द्वारा बड़ी धीमी गति से शूद्रों के लिए बड़ी सीमित सम्भावनाओं के द्वार खोलता था—परन्तु अब अचानक वह मुख्यधारा समाज भी एकदम असहाय और अंग्रेज़-आश्रित स्थिति में पड़ा अपने सामान्यजन को भूख, अकाल और महामारियों जैसे प्रकोपों में चिरवर सामूहिक-आत्मसात करते हुए मूकदर्शक की भूमिका निभाने के सिवा और कुछ नहीं कर पा रहा था। यानी संघर्ष दोहरा था—एक ओर इतनी बड़ी तादाद में समग्र भारतीय समाज के ही एकबारगी समग्र व्यापक आत्मसातीकरण की ज़रूरत और मुख्यधारा समाज की अपनी औपनिवेशिक हालत। इस दोहरी औपनिवेशिकता में सामूहिक विनाश, भयानक व्यापक दरिद्रता का आलम और मुख्यधारा समाज का निरंतर बढ़ता हुआ अंतर्विभाजन—ये वे हालात हैं जो अंग्रेजों को 'फूट डालो-राज करो' का राजनैतिक मंत्र प्रदान करते हैं और भारतीय समाज को साम्प्रदायिकता, आपसी कलह, अतीतजीवी सांस्कृतिक चेतना और राहत के लिए अपने परिपूर्ण पश्चिमीकरण और औपनिवेशिकता की नयी तरह की अनिवार्यता को स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने की ओर धकेलते हैं। इन स्थितियों के विकल्प के तौर पर गांधी का चिंतन दमनात्मक औपनिवेशिकता (साम्राज्यवाद) के खात्मे और आत्मसातात्मक उपनिवेशन को हरिजनोद्धार, दलितवत तामीरी-सेवा अभियान और आत्मशुद्धि के रूप में अपने कुलीनता-भाव के अतिक्रमण (या वर्गान्तरण) द्वारा स्वीकार्य बनाने और गहराने का मार्ग अख्तियार करता है। इस प्रकार भारत जैसे तीसरी दुनिया के किसी भी पूर्व उपनिवेश के लिए गांधी की यह चिंतनप्रणाली एक समग्र औपनिवेशिकता-विरोधी दर्शन की आधारभूमि बन जाती है।

गांधी की रैडिकल औपनिवेशिकता विरोधी दृष्टि की दूसरी बड़ी खासियत है—परंपरागत सांस्कृतिक चेतना का व्यापक आर्थिक-सामाजिक राजनैतिक तब्दीली के लिए—आधुनिक तार्किक प्रतीत होने वाले ढाँचे के रूप में रूपांतर और प्रतिरोधात्मक इस्तेमाल।

ज्ञानोदय से सम्बद्ध पूँजीवाद की वैज्ञानिक, तार्किक, संवैधानिक सिविल समाज और निजी संपत्ति की स्वतंत्रता से जुड़ी प्रजातांत्रिकता और धर्मनिरपेक्षता जैसी चिंतन-प्रणालियों का जो घोर अमानवीय, दमनात्मक-शोषण वाला साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी रूप भारत जैसे समाजों में आता है और यहाँ एक तरह की परजीवी आर्थिकता, पश्चिम-सेवी विकास और प्रगति की एकमात्र सम्भावना और अंतर्विभाजनात्मक 'अन्य'—आश्रित अस्मिताओं को जन्म देता है—वहाँ इस सबके विकल्प के तौर पर हमारे पास यूरोपीय 'ज्ञानोदय' के स्वस्थ मूल-रूपों का अपने यहाँ उद्बोधन एक तरह का अर्थहीन प्रयास है। हालाँकि हमारे अनेक पश्चिमपरस्त चिंतन अपने यहाँ के 'पश्चिमीकरण' को ही अपने यहाँ आई प्रगति का और सामाजिक विकास का एकमात्र उदाहरण मानते हैं और इस तरह 'परजीविता' को अपने विकास का एकमात्र मॉडल बनाए रखने में सहयोग देते हैं। गांधी इस तरह के तर्कों को अपने यहाँ से उखाड़ फेंकना चाहता था। उसकी निगाह में हिन्दूवाद, इस्लामपरस्ती, दलितवाद और यहाँ तक कि कम्यूनिस्टों का मज़दूरवाद भी औपनिवेशिक विभाजनकारिता को गहराने वाली अवधारणाएँ थीं। इनकी बजाय वह भारतीय जन-सांस्कृतिक स्रोतों की ओर मुड़ा तथा जन के रक्त में प्रवाहित वैष्णवभक्ति और रामराज्य जैसी अवधारणाओं को प्रतिरोधी सांस्कृतिक चेतना के रूप में विकसित करने में प्रयासरत हुआ। यह उपलब्ध सांस्कृतिक आत्मसातीकरण की सामाजिक प्रक्रियाओं का नये संदर्भों में नयी तरह का इस्तेमाल था और जिसका एक मकसद था कुलीन चेतना का अंतः रूपांतर और वर्गांतरण—जिसे वह पूँजीपतियों के हृदयरूपांतर की सम्भावना तक विकसित करना चाहता था और दूसरा पक्ष था शूद्रों-हरिजनों की समाजबाह्य अस्पृश्य कोरियों का भी मुख्यधारा समाज में प्रवेश, तीसरी सांस्कृतिक प्रतिरोधी वस्तु उसके यहाँ अहिंसा की है जो सामरिक युद्धलिप्सा वाली साम्राज्यवादी सत्ता की क्रूरता और अमानवीयता के विरोध में एक नैतिक मानवीय चेतना का प्रतिरोधक इस्तेमाल है। वहीं हमारे अपने मानववाद, प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता आदि की आधारभूमि भी मौजूद है। ममता केवल इतना ही है कि हम पश्चिमपरस्त चिंतन की आदतों को पीछे छोड़कर ज्ञानोदय की बजाय अपने सांस्कृतिक स्रोतों के भीतर से अपनी राजनैतिक चेतना को अंतर्विकास की सम्भावनाओं को खोजें और आगे बढ़ें।

और आखिरी बात इस दर्शन के आगे विकास से जुड़ी है। अब हम देख सकते हैं कि अधिरचनाओं के मूलतः स्वरूपात्मक होने का क्या मतलब है? अहिंसा, भक्ति, प्रेम आदि स्वरूपोन्मुख वस्तुएँ हैं। जिनके प्रकार्य स्वयं उनमें दिखाई न देते हुए उनके आधारों में—आर्थिक संबंधों में—प्रकट होते हैं और उन्हीं के द्वारा नियमित-संचालित भी। यही अधिरचनाओं के शाश्वत प्रतीत होने के बावजूद द्वन्द्वात्मक रूप में सापेक्ष होने का रहस्य है। आधार की बहुकारणिकता द्वारा अधिरचनाओं के जिस विखण्डन की बात आज उत्तर-आधुनिक चिंतनों में की जा रही है—वह बात भी इस विवेचन द्वारा स्वतः निरस्त हो जाती है—क्योंकि बहुप्रकार्यता स्वरूप भी अंतःसंरचना भर है—विरूपता नहीं।

सांस्कृतिक अधिरचनाएँ कुछ बीज-अवधारणाओं को अपनी सामान्यभूमि की तरह काम में लाती हैं। मसलन यहाँ हम प्रेम, शांति, अहिंसा, भाईचारे, सहअस्तित्व, स्वतंत्रता, सहानुभूति, करुणा, सत्य, विवेक जैसी विविध सकारात्मक और मानवीय-सारतत्व विधायक सामान्य बातों की स्वरूपोन्मुखता के निजी और सामूहिक रूपों द्वारा अधिरचना को और इनकी बहुप्रकार्यात्मकता द्वारा आधार को समझने व इनके द्वन्द्वात्मक संबंधों पर गौर करने की एक कोशिश कर सकते हैं। आधार का ताल्लुक मूलतः हमारे श्रमरूपों तथा संबंधों से होता है। सामूहिक श्रम व्यवहारों की तरह प्रेम-स्वतंत्रता-आपसदारी-सृजनशीलता-आनंद आदि की अभिव्यक्ति आधार और अधिरचना के ऐसे रिश्तों से जुड़ी है, जिनमें आधार-अधिरचना अखण्ड-अविभेद्य हैं। परन्तु श्रमरूपों और व्यवहारों पर काबिज होने और उनका शोषण-दोहन-दमन करने वाले सत्ता-वर्चस्वियों द्वारा इस प्रेम-आपसदारी-सृजन-आनंद आदि को श्रमरूपी से जुदा करके अमूर्त्त प्रतीक धारणाओं की शक्ल दे दी जाती है और फिर धार्मिक-सांस्कृतिक कर्मकाण्डों आदि के द्वारा इनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक-पुनरुपलब्धियों पर जोर दिया जाता है। श्रमरूपों और संस्कृति-रूपों पर शक्ति-सत्ता तंत्र का एक साथ कब्जा हो जाता है और अधिरचना निजी अनुभव-स्रोतों को 'आधार' के रूप में पुनर्प्रस्तुत करने लगती है। अब यह जो प्रेम-भाईचारा आदि सामान्य नीतिवस्तुएँ (जो मूलतः भाव और श्रमवस्तुएँ होती हैं) अधिरचनाओं के नियामक तत्त्वों की तरह सामने आती हैं—इनकी बहु-प्रकार्यात्मकता या बहुकारणिकता का मतलब होता है—इनकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक निजी-व्याख्याओं को तरजीह देकर इनकी मूल स्वरूपात्मकता को या मूल श्रमवस्तु-तत्त्व को छिपा लेना। यह काम आज उत्तर-आधुनिक चिंतन कर रहा है। प्रेम, स्वतंत्रता, भाईचारा आदि आज विविध राजनीति-विमर्शों के संदर्भ में विविध पाठों के अतिशय अर्थों की शृंखलाओं में बदल गए हैं। तथापि यह बात भ्रमपूर्ण और असम्भव है कि ऐसी बहुप्रकार्यात्मकता द्वारा मूलवस्तु को ही विखण्डित और विसर्जित किया जा सकता है, प्रेम-भाईचारा-सृजन-आनंद आदि अपनी मूलभूत श्रमवस्तुगत स्वरूप-अवस्थिति में मानवीय दृष्टि से अविनश्वर ही होते हैं। गांधी इस स्वरूपोन्मुखता की पुनरुपलब्धि की दिशा में कुछ अधूरे पर मज़बूत कदम उठाकर हमारे लिए नये युग के नये चिंतन की आधारभूमि का निर्माण करता है।

गांधी के सफाई व तामीरी अभियान, सामूहिक चर्खा-चालक, अवज्ञामूलक नमक उत्पादन, उपवास द्वारा भूख के नियमन-नियंत्रण, अंतर्बाह्य दैहिक शुचिता की दैनिक आवृत्तियाँ या साधनाएँ आदि उन मूलभूत श्रम रूपों की ओर उठाए गए ऐसे अधूरे कदम हैं, जिनके अर्थ उनके सामूहिक आचरणों में ही प्रकट होते हैं। कुलीन दमनकारी संस्कृतियों के विरोध में जनसंस्कृतियों की जीवंतता और द्वन्द्वात्मकता को इस विश्व में आगे बढ़ते हुए क्या हम वाकई विकसित नहीं कर पाएँगे ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोम चॉम्स्की की भारत-दृष्टि

कनक तिवारी

चॉम्स्की अप्रतिम विश्व चिंतक हैं। उनकी परिधि का विस्तार संवेदना के हर उस बिन्दु तक व्याख्यायित होता है जो समाजशास्त्र, साहित्य और विज्ञान के बहुविध आयामों में उद्घाटित होती रहती है। इस अर्थ में चॉम्स्की विश्व-नागरिक हैं। उनका वैचारिक लेखन, इंसानी संवेदना के प्रति उनकी जद्दोजहद, साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों की उनकी मुखर आलोचना और उनके संघर्षशील व्यक्तित्व का अभय चॉम्स्की को पूरी मानवता के लिए बेहद भरोसेमंद और दिलचस्प इंसान बनाते हैं। जिनके चुम्बकीय गुण विचारशील लोगों को अन्याय के विरुद्ध लड़ने का हौसला देते हैं। देशों की भौगोलिक सरहदें स्वाभाविक ही चॉम्स्की के लिए बेमानी हैं। यही वजह है कि जो मुल्क किसी भी देश की भौगोलिक सीमाओं में उजड्ड आतंकवादी की तरह घुस जाता है, उसी मुल्क के इस दुर्लभ वैज्ञानिक-विचारक से जुल्म का प्रतिरोध करने की संजीवनी शक्ति भी मिलती है। यह अमरीकी प्रजातंत्र का विचित्र विरोधाभास है कि अमरीकी राष्ट्रपति और नोम चॉम्स्की दो विपरीत ध्रुवों पर खड़े होकर साम्राज्यवादी विस्तार और विरोध की बानगी में इतिहास में अपनी जगह बनाते हैं।

वियतनाम, निकारागुआ, इराक, जापान सहित दुनिया के सभी देशों पर अमरीकी हमले इस महान विचारक की घृणा के केन्द्र में हैं। उनकी सूचनाएँ, जानकारियाँ और सांख्यिकी अंदरूनी विश्वसनीयता से लबरेज़ हैं। भाषाविज्ञान जैसा अछूता विषय उनके दृष्टि-समीकरण में अकूत सम्भावनाएँ उकेरता है। यह चॉम्स्की का कमाल है कि ऐसी अकादेमिक पुरातत्विता का विषय समझ के प्रांजल उपकरण के रूप में तब्दील होता गया है। समाजशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास, दर्शन और तर्कशास्त्र जैसे पारम्परिक महिमामण्डित विषय उनकी मानसिक प्रयोगशाला में ताश के पत्तों की तरह फेंट दिए जाते हैं। जिस अमरीकी बारूद से वहाँ के हुक्मरान हरे-भरे जंगलों में आग लगाते हैं, वही कच्चा माल चॉम्स्की इंसानी ऊष्मा और भविष्यदृष्टि के लिए नए नवाचार का कारण बनाते हैं। दुनिया के सबसे व्यापक और अधुनातन लोकतंत्र होने का ढिंढोरा पीटते महाबली देश को चॉम्स्की इतिहास का यह सच बताने में गुरेज़ नहीं करते कि संवैधानिक और राजनीतिक मूल्यों का अमरीकी प्रोपेगंडा घड़ियाल की पीठ की तरह सख्त बंजर भूमि है। लेकिन यदि उसकी देह को उलट दिया जाए तो छिपाकर रखी गई कमज़ोरी की तरह उसकी नर्म खाल पर 11 सितम्बर, 2002 नामक कैलेंडर के दिन की कील गड़कर उसे इस तरह लहूलुहान कर देती है कि उसकी पूरी राजनीतिक संस्कृति खून की प्यास के लिए मुल्क-दर-मुल्क भटकती

एच-155, पद्मनाभपुर, दुर्ग (छत्तीसगढ़)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहती है। अपने समाजवादी, वामपंथी रुझान के कारण चॉम्स्की में एक प्रयोगशाला परिचालक भी है जो एक-एक अमरीकी अवयव को शुद्धता की काठी पर चढ़ाकर मानक आदर्शों के साथ उन्हें जाँचता चलता है। बरसात के गंदे जल को जब निथारकर साफ किया जाता है तो उसमें अपना चेहरा देखकर अमरीकी सरमाएदार अपने आपसे नफरत करने लगें—इतना भी आत्मालोचन उनमें नहीं बचा है। यह बात भी हमें चॉम्स्की ही बताते हैं। उनका अवदान केवल अमरीकी मूल्यों की आलोचना तक सीमित नहीं है। वे आश्वासन देते हैं कि दुनिया विकल्पहीन नहीं है।

कभी-कभी तो लगता है कि उन जैसे विश्व नागरिक हैं ही कितने ? गांधी, नेल्सन मंडेला, हो ची मिन्ह, आंग सू की जैसे इतिहास चरित्रों के मूल्य-युद्ध जिस अस्तित्व के लिए होते रहे हैं, उसमें स्थानिकता कई चुनौतियों पर विजय पाना चाहती है। देश-काल-परिस्थिति का साधारणीकरण करना कोई सैद्धांतिक परिकल्पना नहीं है। इसलिए चॉम्स्की की यशमयी भूमिका अमरीकी मूल्यों को उनकी औकात बताकर बल्कि उनकी नस्ल सुधारकर यदि उन्हें इतिहाससम्मत बनाने की प्रामाणिकता के तेवर के साथ भी हो, तब भी वह स्वीकार्य और ग्राह्य होगी। दरअसल, देशों की आज़ादी की कहानी बीती सदी की तरह बीत गई है। राजनीतिक आज़ादी अपना अर्थ खो चुकी है। अब देश नहीं दुनिया टूट रही है। अब अधिकारतंत्र ने अपना क्षात्र धर्म धीरे-धीरे खो दिया है।...वैश्वीकरण का तर्जुमा अत्याचारों का वैश्वीकरण हो गया है। शोषक के घर रहकर ही शोषण के षड्यंत्र की परत-दर-परत खुलती दिखाई देती है। कभी-कभी लगता है कि चॉम्स्की यदि अमरीका में नहीं रहे होते, तो शायद इतने प्रखर और प्रगल्भ नहीं होते। चॉम्स्की ने कभी नहीं कहा कि वे विचार की परिधि, परिपाटी अथवा प्रस्थान बिन्दु के अध्येता हैं। उनमें अतीत के अध्ययन का दम्भ और भविष्य की कुंडली पढ़ने का खगोलशास्त्री पोंगापन भी नहीं है। समकालीन दुनिया जटिल अहसासों का समुच्चय है। उसमें एक साथ प्राणपद वायु और सड़ाँध है। वह एटम के विनाश और एटम द्वारा विनाश की दोहरी वाचालता का एक आलाप है। वह खंड-खंड में टूटने के पाखंड के साथ पूरे विचार जगत को मुट्ठी में बंद कर लेने का साहसिक प्रयोजन—समय भी है। वह मनुष्य की मनुष्य के प्रति नफरत का निष्कर्ष और मनुष्य की मनुष्य के लिए करुणा का निकष भी है। ये संकेत सूत्र चॉम्स्की को पढ़ते-पढ़ते उस बियाबान के रास्ता-रहित धरातल पर पड़े मिल जाते हैं, जो बियाबान हमने अपने अन्दर उगा रखा है। ऐसा सोचता हुआ मनुष्य किसी वर्ग, वर्ण या वर्ष का नहीं होता। चिन्तक वही है जिसकी मूर्ति पुष्प वृक्ष की तरह पंखुरियाँ बिखेरे, बल्कि अपनी ठूँठ देह से त्वचा की पपड़ियाँ छोड़ती रहे। लेकिन मनुष्य होने के अपने मूल प्रयोजन का निरन्तर परिष्कार जरूर करती रहे। भारतीय पारम्परिक शब्दावली के प्रयोग से चॉम्स्की का भारतीयकरण भले नहीं होता हो, हमारी शब्दावली की समकालीनता हमें इस महान मनुष्य को समझने की कूवत तो देती है। चॉम्स्की के लिए यह संयोग, ज़रूरत या वांछनीयता नहीं रही होगी कि वे भारत-भ्रमण या भारत-चिन्तन करें। उनके पूरे लेखन में एक देश, प्रजातंत्र अथवा इतिहासकालीन उपस्थिति वाला भारत केन्द्रीय चिन्ता का विषय नहीं है। ऐसा भी नहीं लगता कि समस्याओं को चुनौतीहीन बनाने की दृढ़ हनु लिये चॉम्स्की देशों के गूढ़ तथा रूढ़ इतिहासों को पढ़ना लाज़मी समझते होंगे। लेकिन कोई भी आत्मिक योद्धा सम्भावित खतरों के मद्देनज़र दुश्मन पर वार करने का अग्रिम रिहर्सल नहीं करता। अनागत अमूमन संदिग्ध और अज्ञात आचरण ही करता है। अमरीकी कुटिलता समकालीन दुनिया का नायाब तंत्र है। इस पर ही तो चॉम्स्की की तीखी एय्यार नज़र है। कहते हैं पूरी दुनिया में यदि बाइबिल, शेक्सपियर और कार्ल मार्क्स सहित जो पहले दस विचारक होंगे, जिनकी दुनियावी चिन्तन को ज़रूरत होती है तो उसमें चॉम्स्की का भी शुमार है।

अंग्रेजी कवि ड्रायडन की एक पंक्ति को यदि इस सदी के काम में लाया जाए तो यह कहना अच्छा लगता है कि यदि वीर नहीं होंगे तो गीत गानेवाले मर जाएँगे। चॉम्स्की गायक नहीं हैं। वे एक अन्तहीन निबन्ध हैं। उनका विश्वास अन्त में नहीं अनन्त में है। ऐसे योद्धा विजय की उपादेयता पर थीसिस नहीं लिखते। वे अपने पीछे रोशनी की लकीर छोड़ते जाते हैं। चॉम्स्की महिमामंडन या स्तुतिवंदन के आराध्य नहीं हैं। वे जिबह करनेवालों से जिरह करते दिखाई देते हैं। उनके साथ खड़े होना फौज में भर्ती होने का सैनिक-बोध देता है। वे शब्दों में नहीं कहते, लेकिन उनमें से एक अनुगूँज बार-बार उभरती है कि लड़ाई में लड्डू नहीं बँटते और यह भी कि तैरना सीखने के बाद ही समुद्र में नहीं कूदना चाहिए। उनके बहुत से विचारों, आग्रहों और तर्कों में देशज गंध का भी भान होता है। वे बहुत से इतिहासकारों के साथ कामरेड की मुद्रा में यह सीधे-सीधे मान लेते हैं कि भारत जैसे देश को समझने के लिए औरों की बातों को मान लेने में उन्हें परहेज नहीं है। लेकिन सूचनाओं को वैयक्तिक आदान-प्रदान बनाने के बदले अपने सभी तटस्थ, सामाजिक और ऑब्जेक्टिव तंत्रों से जाँचते जरूर हैं। इसलिए भारत के सुदूर अतीत की संस्कृति और कलागत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्धियों को खँगालना चॉम्स्की की प्राथमिकता नहीं है। हिन्दुस्तान की गरीबी, अशिक्षा, गैरबराबरी और सामाजिक जड़ता पर कटाक्ष करने के बदले चॉम्स्की उस द्वंद्व की गाँठ खोलते हैं, जिसे पहले यूरोप और बाद में अमरीका ने मुश्कों की शक्ल में बाँध दिया था। उनका व्याख्याकार आँसू पोंछने का पक्षधर नहीं है। भारत की बदहाली पर तथ्यों की प्रामाणिकता जुटाकर राग द्वेष सहित निरूपित करते हैं। इस तरह वे एक नए इतिहास शिक्षक बनकर उभरते हैं। उनके लेखन में यह ईमानदारी भी प्रामाणिक है कि भारत सहित अफ्रो-एशियाई देशों की पैरवी करने में चॉम्स्की उनकी कमजोरियों की अनदेखी नहीं करते। अलबत्ता वे पैरवी निःशुल्क ही करते प्रतीत होते हैं। परिमाण की दृष्टि से चॉम्स्की ने भारतीय अस्मिता पर विपुल लेखन नहीं किया है, लेकिन उनका भारत आकलन चॉम्स्की के परिणामधर्मी कन्विक्शन का दस्तावेज है। वैसे तो चॉम्स्की अंतरराष्ट्रीय, सामाजिक और राजनीतिक मुद्दों के यशस्वी विचारक हैं, लेकिन उन्होंने मूलतः दक्षिणपूर्व एशिया (विशेषकर वियतनाम), मध्य और दक्षिण अमरीका, इज़राइल और पश्चिम एशिया तथा पूर्वी तिमोर जैसे क्षेत्रों की विशेषज्ञता हासिल की है।

अमरीकी सरकार विकासशील देशों की कीमत वसूल कर मदद करती है ताकि उन देशों में खुले समाज के रूप में प्रगति हो। चॉम्स्की भारत का उदाहरण भी देते हैं। अपने प्रसिद्ध निबन्ध बुद्धिजीवियों का उत्तरदायित्व (The Responsibility of Intellectuals) में चॉम्स्की बिज़नेस काउंसिल फॉर इंटरनेशनल अंडरस्टैंडिंग की स्थायी समिति के सदस्य राबर्ट मीघर को उद्धृत करते हैं "यदि यह सम्भव हो तो भारत शायद विदेशी कार्पोरेशनों के बदले तकनीकी विशेषज्ञ और ज्ञान आयातित करना चाहेगा। यह सम्भव नहीं है इसलिए भारत एक अनिवार्य बुराई के रूप में विदेशी पूँजी को स्वीकार करता है।" यह टिप्पणी फरवरी 1966 में अर्थात नेहरू युग के तत्काल बाद की गई थी। तब विश्व बाजार मुक्त नहीं था। भारत की समाजवाद के प्रति गहरी प्रतिबद्धता थी। सार्वजनिक उपक्रम औद्योगिक संरचना के मूलभूत उत्तरदायित्वों के साथ उफान पर थे। तब भी अमरीकी राजनयिकों ने यह टिप्पणी की थी कि भारत में निजी अमरीकी पूँजी का निवेश केवल मुंगेरीलाल के हसीन सपने नहीं हैं। विदेशी सहायता की बुनियाद पर ऐसा करना मुमकिन भी हो सकता है और यह भी कि आवश्यकताएँ और परिस्थितियाँ भारत के दृष्टिकोण को ही बदल डालें। चॉम्स्की टिप्पणी करते हैं कि प्रतिरोध और द्वैध तृप्ति से कहीं बढ़कर अब यह भारत में जरूरत के अहसास में बदल रही है। यह टिप्पणी भी चॉम्स्की ने अपनी पुस्तक में 1967 के आसपास ही की थी। जाहिर है वह भी नेहरू युग का उत्तराधिकारी ही था। कांग्रेस के अन्दर सत्ता पर कब्जा करने का दक्षिणपंथियों के गिरोह का प्रयत्न अब इतिहास की बात है। इन्दिरा गांधी के प्रधानमंत्री बनने की पूर्वपीठिका का राजनीतिक निरूपण किए बिना चॉम्स्की कृषि प्रधान भारत की सबसे बड़ी आर्थिक जरूरत पर अपनी टिप्पणी दर्ज करते हैं। उस समय भारत का वार्षिक रासायनिक खाद का उत्पादन 5 लाख टन रहा होगा, जिसमें दुगुना इजाफा करना हरित क्रान्ति की सबसे मुश्किल लेकिन बुनियादी जरूरत थी। विलियम होल्स्ट को उद्धृत करते हुए चॉम्स्की ने इस रहस्य का खुलासा किया कि तब ही अमरीका ने तजवीज की थी कि वह भारत के साथ मिलकर कंसोर्टियम (संघ/संकाय) बनाने को तैयार है। अमरीकियों ने इस योजना के सफल नहीं होने को दुर्भाग्य करार दिया। अमरीकी संयुक्त प्रकल्प में अपेक्षाकृत बड़ी हिस्सेदारी और नियंत्रण चाहते थे, लेकिन तत्कालीन इन्दिरा सरकार ने खुद ज्यादा हिस्सेदारी लेने की जिद की थी। इसके बावजूद चॉम्स्की के अनुसार कुछ ही दिनों में भारत सरकार ने घुटने टेक दिए। उसने यह प्रतिरोध जरूर किया कि अमरीका और विश्व बैंक की आर्थिक दादागिरी के सामने घुटने नहीं टेके जाएँगे, लेकिन धीरे-धीरे भारत ने लगभग सभी शर्तें मंजूर कर लीं। उसमें यह तात्कालिक रूप से शामिल था कि अमेरिकी पूँजीनिवेश के लिए भारत कड़ी शर्तें नहीं रखेगा और यह भी कि उर्वरक कारखानों का प्रबंधन मुख्यतः अमरीकी हाथों में होगा। इन्हीं दिनों इस विषय पर एक प्रमुख समाचार पत्र 'न्यूयॉर्क टाइम्स' ने शीर्षक दिया कि यह भारत का समाजवाद से व्यावहारिकता की ओर झुकाव है। अमरीकी उद्यमी केवल चतुर ही नहीं रहे हैं, बल्कि दुधारी तलवार से भारतीय दुधारू गाय पर हमला भी करते रहे हैं। रासायनिक उर्वरक कारखानों में पूँजीनिवेश करने को उत्सुक अमरीकी उद्योगपति अपने उद्योगों के लिए भारत से बदले में सस्ती दरों पर द्रव अमोनिया खरीदने के आग्रही बनते गए जबकि नाफ्था उनके यहाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। खुर्राट अमरीकी सरकार की बदनीयती पर चॉम्स्की का यही कथन है कि एक ओर अमरीकी सरकार भारत सरकार को पर्याप्त पूँजीनिवेश करने का झाँसा देती रही और दूसरी ओर भारतीयों को यह इशारा भी करती रही कि वे जितनी चाहें निजी अमेरिकी पूँजी उगाहने की कोशिश करते रहें। चॉम्स्की कहते हैं "यह तथ्य है कि भारत में एक युद्धोत्तर स्कैंडल पनप रहा है। भारत की तकलीफों पर अमरीका मानवद्वेषी ढिठाई के साथ फायदा उठाकर भारत के समाजवाद से हटकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावहारिकतावाद की ओर उठे कदमों को अपनी आर्थिक धुरी बनाने के काम में ला रहा है।''

वियतनाम नीति को लेकर चॉम्स्की ने अमरीका पर सर्वाधिक निर्मम प्रहार किए। उनकी दृष्टि में सभी अमेरिकी राष्ट्रपति एक ही थैली के चट्टे-बट्टे रहे हैं। जॉन एफ. केनेडी के कथन को चॉम्स्की अमरीकी-दृष्टि का प्रस्थान बिन्दु मानते हैं। अमरीका किसी भी कीमत पर वियतनाम के कम्युनिस्ट बन जाने के विरोध में रहा है। वियतनाम के हमले को केनेडी ने बर्मा, थाइलैंड, भारत, जापान, फिलिपींस, लाओस और कम्बोडिया की सुरक्षा के लिए खतरा माना था। अमरीका ने पूरी दुनिया को यही बरगलाया कि वह मुक्ति के नाम पर दक्षिण वियतनाम द्वारा कम्युनिस्ट बनने की असहमति का लोकतंत्रीय संरक्षण कर रहा है। यही अमरीका की विदेश नीति का सार है। अलबत्ता घोषणा यही हुई कि एक स्वतंत्र गैर-कम्युनिस्ट दक्षिण वियतनाम बिना किसी सहायता के (अमरीका भी) साम्यवाद से अपनी रक्षा कर सकेगा। घोषणा पत्र में यह फिर दोहराया गया कि यदि दक्षिण पूर्व एशिया में दक्षिण वियतनाम असफल हो गया तो भारत आस्ट्रेलिया और जापान जैसे देशों के लिए खतरा बढ़ जाएगा। अपनी तल्खी में चॉम्स्की 1977 का एक उदाहरण देते हैं। जब दूध और खेतिहर जरूरतों के कारण भारत ने सौ भैंसें वियतनाम भेजीं तो भारत को 'शान्ति के लिए अनाज सहायता' योजना रद्द कर दी गई। यह उपहार था लोकतंत्र के सबसे मजबूत दावेदार देश का, लोकतंत्र के सबसे बड़े पक्षधर देश को। चॉम्स्की ने तो नहीं लिखा, लेकिन यह मान लेना सुरक्षित होगा कि तत्कालीन जनता पार्टी सरकार ने वे भैंसें नहीं भेजी होंगी। चॉम्स्की केवल आरामकुर्सी पर बैठे गाल बजाने वाले अभिव्यक्तिकार नहीं हैं। अमरीका की वियतनाम नीति को लेकर उन्हें जेलों में भी सड़ना पड़ा है। यह पूछे जाने पर कि वे ऐसे खतरे क्यों उठाते हैं, चॉम्स्की ने शालीनता से जवाब दिया कि अपनी आँखों से सुबह देखने के लिए ऐसा करना भी ज़रूरी है।

चॉम्स्की विधिवत इतिहासज्ञ नहीं हैं लेकिन उनकी अचूक इतिहासदृष्टि गवेषणाओं, शोधों और तार्किक व्याख्याओं पर आधारित हैं। वे जॉन मेनराल्ड किंग्स को उद्धृत करते हुए साफ कहते हैं कि ब्रिटेन के विदेशी पूँजी निवेश का स्रोत और शुरुआत ऐसे तत्त्वों के कारण हैं जो महारानी एलिजाबेथ के जमाने में लुटेरे कहे जाते रहे होंगे, लेकिन उनका मौजूदा तर्जुमा आतंकवादी ही होगा। 17वीं सदी के मध्य में सैनिक श्रेष्ठता, राज्य के एकाधिकार और सरकारी संरक्षण के कारण ब्रिटेन ने अपनी व्यापारिक वरीयता की साख जमा ली थी। भारत की विजय से इंग्लैंड को अपरिमित आर्थिक लाभ 18वीं सदी में हुआ। ब्रिटेन के पारम्परिक शत्रु मैदान छोड़ गए थे। यही तकनीक अमेरिका ने बीसवीं सदी में अपनाई जबकि उसकी पूरी सरकार ने अपने संसाधनों और बाजार को भरपूर मदद की। 19वीं सदी के मध्य में जब व्यापार और उद्योग जगत में भारत के दम पर इंग्लैंड की धाक बन गई, तब उसने मुक्त व्यापार का राग अलापना शुरू किया। जैसे ही मुकाबले की दुनिया में बीसवीं सदी के तीसरे दशक में जापान मैदान में उतरा, इंग्लैंड ने सीधे नीतिगत अबाउट टर्न किया। इंग्लैंड ने जान-बूझकर अपने औपनिवेशक गुलाम देशों में औद्योगीकरण को खत्म किया। यहाँ तक कि उसने आयरलैंड को भी नहीं बख्शा। यही काम उसने भारत में सबसे पहले बंगाल में किया। राबर्ट क्लाइव ने प्लासी के युद्ध के समय ढाका के वस्त्र जगत को उतना ही घना, महत्त्वपूर्ण और धनी माना था जितना लंदन का रहा था। 1840 आते-आते ढाका की, 1,50,000 की आबादी घटकर 30,000 हो गई। हाउस ऑफ लार्ड्स में सर चार्ल्स ट्रेवलयान ने बताया कि वह ढाका, जो भारत का मैनचेस्टर था, मलेरिया का आक्रमण झेल रहा है और एक उन्नत शहर से बदलकर घटिया कस्बा रह गया है।

चॉम्स्की दोटूक कहते हैं कि अंग्रेजों का गुलाम होने के पहले भारत का औद्योगिक विकास ईर्ष्या की वस्तु था। भारतीय उद्योग को तरह-तरह के रेगुलेशन बनाकर बर्तानवी हुकूमत ने नष्ट किया। हिस्ट्री ऑन ब्रिटिश इंडिया (1826) में होरैस वेल्सन लिखते हैं कि यदि भारत की ऐसी दुर्दशा नहीं की गई होती तो इंग्लैंड की कपड़ा मिलें दम तोड़ देतीं और उन्हें वाष्प की ताकत के उपयोग से भी पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता था। अंग्रेजी मिलों का निर्माण भारतीय उत्पादकों की बलिवेदी पर ही हुआ। अंग्रेजों ने वस्त्र उद्योग के अतिरिक्त बंगाल की कृषि सम्पदा पर भी डाका डाला और अकाल ने इस तरह तबाही की कि खेतों में फसल के बदले भारतीय किसानों की लाशें बिछ गईं। धान के बदले अफीम की खेती शुरू करवाई गई, जिससे मुनाफाखोरों का पेट भरे। जान-बूझकर भूमि का प्रबंधन सरकार और जमीदारों के चंगुल में रखा गया। यह व्यवस्था बदस्तूर कायम रही। इतिहास का पाठ पढ़ाते-पढ़ाते चॉम्स्की अपने शिष्ट लेकिन कटुतम व्यंग्य में कहते हैं ''अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक के प्रयोग जो मौजूदा सैद्धांतिकों द्वारा रचे गए हैं, पूर्व उदाहरणों के बिना नहीं हैं।''

चॉम्स्की यह भी बताने में कोताही नहीं करते कि ब्रिटिश शासन की भूमिनीति परिणामजनित है। बहुत-से बड़े भूपति अंग्रेजी हुकूमत के बने रहने के पक्ष में थे, क्योंकि इससे गाँवों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उनकी जागीरें पुख्ता होती जा रही थीं। वे कहते हैं कि अंग्रेजों ने भारतीय ग्रामीण व्यवस्था के मदरसों में पढ़ा गया यह पाठ तीसरी दुनिया के हर देश के पाठ्यक्रम में लागू किया और साथ-साथ पूर्वी यूरोप में भी। उनके पास केवल सैद्धांतिकी नहीं है, सांख्यिकी भी है। उन्नीसवीं सदी में भारत ब्रिटेन के व्यापारिक घाटे की 40 प्रतिशत क्षतिपूर्ति कर रहा था। इसके अतिरिक्त वह ब्रिटिश उत्पादकों का बाजार भी था। वह अपनी छाती पर अंग्रेज सैनिकों को भी चढ़ाए बैठा था। चॉम्स्की यह भी बताते हैं कि भारत में जबरिया उत्पादित कराई गई अफीम इंग्लैंड से जहरीले ड्रग्स के रूप में भारत आयायित की जाकर फिर भारतीयों के काम आती थी। बहरहाल आजादी के बाद एक गरीब, कृषिप्रधान और अकाल-मृत्यु झेलता देश अपने पैरों पर उठ खड़ा हुआ। 1950 और 60 के दशकों में भारत की आर्थिक स्थिति तीन गुना सुदृढ़ हुई, लेकिन भारत को अपने से अधिक मजबूत आजाद देशों की दुश्मनी झेलने को भी मजबूर होना पड़ा।

महत्त्वपूर्ण गांधीवादी विचारक और मर्मज्ञ इतिहासकार धर्मपाल ने 18वीं सदी के भारत के विज्ञान और टेक्नोलॉजी पर एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जो 1971 में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में तफसील से खगोलशास्त्र, वेधशाला, हिन्दू बीजगणित, चेचक की बीमारियों की रोकथाम, गारा बनाने की तकनीकी, बर्फ बनाने की विधियों, कागज बनाने की तकनीकों, कृषि उपकरणों के चुनिन्दा उपयोगों, लोहा बनाने की पद्धतियों आदि का विस्तृत और अकाट्य दस्तावेजी उल्लेख किया गया है। धर्मपाल ने उन सभी यूरोपियों के शोध-प्रबन्धों, लेखों, पुस्तकों, पाद-टिप्पणियों आदि का इस्तेमाल किया है जो अंग्रेजी शासनकाल के भारत की वैज्ञानिक और तकनीकी प्रविधियों से सम्बन्धित रही हैं, इनमें सर रॉबर्ट बारकर, प्रो. जॉन फ्लेफेयर, रूबेन बरो, कर्नल थॉमस, डीन पियर्स, हेनरी थॉमस, कोलब्रुक, जॉन, ज़ेफानिया होलवेल, इशाक पाईक, कर्नल अलेक्जेंडर वॉकर, कैप्टन थॉस हालकॉट, डॉ. बेंजामिन हेन, मेजर जेम्स फ्रेंकलिन, कैप्टन जे, कैम्पबेल और डॉ. हेलेनस स्कॉट आदि का उल्लेख है। ये सभी विद्वान, शोधकर्ता लेखक अथवा प्रशासक 18वीं सदी की उत्पत्ति रहे हैं। देश-विदेश के पुस्तकालयों में एक लम्बे अरसे तक शोध करने के बाद धर्मपाल ने भी यही स्थापना की है कि भारत कोई तथाकथित विज्ञान विरोधी देश नहीं रहा है जिसके केवल अध्यात्म का महिमामंडन अंग्रेजी शिक्षा तथा परम्परावादी हिन्दुओं ने हमें सिखाया था। यह सहज देशज और सदियों से छनकर आ रही परम्पराओं से झाँकता ज्ञान एक ऐसी विरासत है जिसे भारतीयों ने केवल अपनी गलतियों से नहीं खोया वरन् अंग्रेज ने डकैती करके सारी सम्पदा ज्ञान-विज्ञान के स्रोतों को विलुप्त करके हमसे छीन लिया।

1950 तक अमरीकियों ने समझ लिया था कि भारत भयंकर दुर्भिक्षों का देश है, जहाँ एक करोड़ से ज्यादा व्यक्ति कभी भी मर-खप सकते हैं। लेकिन इसके बाद भी ट्रूमेन प्रशासन ने अतिरिक्त और फालतू पड़ा गेहूँ भारत को देना मुनासिब नहीं समझा। कुछ अधिकारियों ने इस आधार पर मदद की मुहिम चलाई कि कहीं भारत में अमरीका की आँखों की किरकिरी बने नेहरू से ज्यादा खराब कम्युनिस्ट राज नहीं करने लगें। कोरिया युद्ध शुरू होने पर डीन अचेसन ने भारत को सशर्त सहायता की पेशकश की कि वह बदले में कम्युनिस्टों के खिलाफ अमरीका का साथ दें। जब भारत ने सहायता माँगी तो उसे बदले में कर्ज दिया गया, जिसकी वसूली यदि मुद्रा में नहीं हो सके तो अन्य उत्पादों के जरिए की जाए। भारत में कथित रूप से लोकप्रिय रहे केनेडी भी प्रथमतः और अन्ततः अमरीकी ही थे। अमरीकी सहायता एक देहाती भारतीय कहावत के अनुसार वह गोबर है जो धरती से उठने पर कुछ मिट्टी भी अपने साथ ले लेता है।

भारत के हीरा उद्योग की जानकारी भी चॉम्स्की को है। एक सर्वे के अनुसार 70 प्रतिशत हीरों की कटाई भारत में ही होती है क्योंकि यहाँ श्रमिक सस्ता है और कारीगर कुशल। अमरीकी और यूरोपीय व्यापारी अपने लाभ का वांछित अंश भारत को नहीं देना चाहते। अपनी उपपत्तियों में चॉम्स्की भारतीय और अन्य लेखकों का दाय भी स्वीकार करते चलते हैं। वे दोटूक कहते हैं कि भारत में हीरा उद्योग से जुड़े कर्मी और उनके परिवार भले ही भूखों मरें, लेकिन न्यूयॉर्क की जगमगाती दुकानों में हीरे के हार सस्ते मिलने चाहिए। यही अमरीकी बाजारवाद का लक्ष्य और अनुवाद है। भारतीय दवा उद्योग पर अमरीकी साया भी एक अरसे से मँडरा रहा है। अमरीका ने चतुराई से उत्पाद के बदले प्रक्रियाओं का ही पेटेंट करा लिया है। इससे उसे दवा उद्योग में शोध और परिवर्तन के अधिकार निहितार्थ में मिल गए। अन्य शोधकर्ताओं के लिए ऐसे विदेशियों का मुकाबला करना बौद्धिक और आर्थिक दृष्टि से मुश्किल है। गैट समझौतों में भारत के फँस जाने के बाद एक भारतीय दवा उद्योगपति को उद्धृत करते हुए चॉम्स्की कहते हैं कि भारत खाद्यान्न और स्वास्थ्य जैसे दो महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में अभिमन्यु की तरह चक्रव्यूह में फँस गया है। इससे भारत का दवा उद्योग चौपट हो जाएगा और ऐसे समझौते भारतीय ज्ञान को अवसरों के अभाव में बौना और बाँझ बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देंगे। ऐसी स्थितियाँ संविधान में वर्णित सार्वभौमिकता और मूलभूत अधिकारों के भी खिलाफ हैं। अमरीका की साजिश की तरफ उनका इशारा है कि हर हालत में अमरीकी कार्पोरेशनों को बीज और पौधों की प्रजातियों, दवा और जीवन रक्षा से जुड़े सभी उत्पादों को अपने नियंत्रण में ले लेने चाहिए। ये हथकंडे अमरीका अपने पड़ोसी मुल्क कनाडा में सफलतापूर्वक अपना चुका है।

लातीनी अमरीकी देशों में विदेशी पूँजी के निवेश के लिए पिछले 50 वर्षों से सभी दरवाजे खुले हुए हैं। विश्व बैंक तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की विशेषज्ञ समितियों की ऐसी ही रिपोर्ट है। इसके विपरीत भारत जैसे देश में राज्य द्वारा प्रबंधन तथा संरक्षण आर्थिक स्थिति के ठोस आधार रहे हैं। एक प्रख्यात इतिहासकार पॉल बैरोब के सहारे चॉम्स्की की राय है कि भारत में हुआ अनऔद्योगीकरण उसकी खस्ता माली हालत के लिए जिम्मेदार है। औद्योगीकरण को नेस्तनाबूद करने में भारत के अंग्रेज शासक इतिहास का विशिष्ट उदाहरण हैं। भारत पश्चिम के देशों के उत्पाद के लिए खुला सबसे बड़ा बाजार होकर रह गया है। यह भी कि भारतीय बाजारों में कोई अनुशासन नहीं है, जबकि पश्चिमी आधुनिक बाजारों ने खुद पर अनुशासन का मुलम्मा चढ़ा रखा है। ताजा इतिहास की एक और अवधारणा मुक्त व्यापार की परिकल्पना है। असुरक्षित देशों पर यह लाद दी जाती है। समृद्ध देशों में यह फलती-फूलती है। बाजार का कथित अनुशासन कमजोर देशों के लिए है। धनाढ्य देश अवधारणा के लेखक, निदेशक और अभिनेता हैं। करों में वृद्धि तथा चुस्त-दुरुस्त लोक प्रशासन के जरिए ब्रिटेन ने पूँजी और सेना के दो मोर्चों पर पूरे यूरोप का नेतृत्व किया। 19वीं सदी के मध्य में ही ब्रिटेन ने उदार अन्तरराष्ट्रीयतावाद का चोला ओढ़ा और सभी प्रतियोगियों को पीछे छोड़ दिया। यह सब मसला केवल ब्रिटेन के बूते की बात नहीं थी। उसका 40 प्रतिशत वस्त्र उत्पाद भारत में खपता ही रहा। ब्रिटेन का इस्पात महँगा होने से उसका अमेरिकी बाजार बंद होने लगा। लेकिन यह इस्पात भी भारत सहित अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों में जबरिया खपाया जाता रहा। विरोधाभास यह था कि भारत में 18वीं सदी में पूरे यूरोप के उत्पाद के बराबर इस्पात बनता था। ब्रिटेन के इंजीनियर भारत की अपेक्षाकृत आधुनिक तकनीक का अध्ययन कर रहे थे। अकेला बम्बई शहर रेलवे इंजन का बड़ा निर्माता था, लेकिन मुक्त व्यापार की परिकल्पना के यूरोपीय आग्रह ने भारतीय उद्योग जगत की एक-एक बानगी का चेहरा नोचा और विकृत किया, चाहे वह इस्पात हो या वस्त्र निर्माण अथवा जहाजरानी। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और जापान अपने बलबूते पर यूरोप के नियंत्रण से मुक्त हो गए। जापान ने जब प्रतिद्वंद्वी होने का उत्कर्ष रचा तो इंग्लैंड ने खेल के सारे नियम बदल दिए। जहाँ-जहाँ यूनियन जैक लहराता था, वहाँ-वहाँ जापान के निर्यात पर उसने पाबंदी लगा दी। भारतीय उत्पादकों ने भी इंग्लैंड के विरुद्ध संरक्षण चाहा, लेकिन चॉम्स्की के अनुसार मुक्त व्यापार परिकल्पना में सौभाग्य की अनुपस्थिति सुनिश्चित है।

जिन सामाजिक मानकों के चश्मे से भौतिक प्रगति का अवलोकन किया जा सकता है, उनका बीजगणित भारत और अमेरिका में लगभग एक जैसा है। दोनों देशों की सामान्य जनता को प्रगति का लाभ नहीं मिल रहा है। लेकिन दोनों मुल्कों में करोड़पतियों और अरबपतियों के एक जैसे ठाठ हैं। दोनों देशों में लाखों ऐसे हैं जो दिन-रात मेहनत करके दो वक्त की रोटी जुटाते हैं, लेकिन निठल्लों, निकम्मों और शोषकों की दोनों देशों में एक जैसी नियति और नीयत है। शायद पूरी दुनिया के लिए भी ऐसा ही है। एक इंटरव्यूकार ने चॉम्स्की से सवाल पूछा कि भारत पर वैश्वीकरण का भारी दबाव है तब उसके द्वारा किए जानेवाले प्रतिरोध की कैसी शक्ल होगी ? क्या उसका गांधी की उत्तराधिकारिता से कोई लेना-देना है ? चॉम्स्की ने विस्तृत उत्तर दिया। भारत का समृद्ध और संश्लिष्ट इतिहास रहा है। 18वीं सदी का भारत विश्व का व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्र था। बंगाल में प्रति व्यक्ति औसतन पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन इंग्लैंड के अनुपात में कहीं अधिक था। तभी देश के उद्योग-धन्धों को खत्म किया गया और भारत को दरिद्र ग्रामीण समाज के रूप में चित्रित किया गया। यह अलग बात है कि भारत की समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराएँ रही हैं। ऐसा लगता है कि या तो चॉम्स्की ने गांधी का विस्तृत और गहन अध्ययन नहीं किया है अथवा गांधी पर उत्तर देना उन्होंने जरूरी नहीं समझा। लेकिन यह जरूर कहा कि कांग्रेस पार्टी के नेतृत्व में हुई जनक्रान्ति ने अंग्रेजों को उखाड़ फेंका। ऐसा भारतीय समाज अन्तर्विरोधों के बावजूद सदैव क्रियाशील रहा है। आजादी के बाद आर्थिक स्थिति के सुधार के लिए गम्भीर प्रयत्न हुए। भारत ने भारी उद्योगों और आधुनिक टैक्नोलॉजी पर भरोसा किया। यह दुखद है कि गरीबी के मामले में भारत की तुलना दक्षिण अफ्रीका से की जाती है। चॉम्स्की ने नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन के शोध पर भरोसा किया। खासकर सेन की भारत और चीन की तुलना को लेकर। आजादी के समय दोनों देशों की लगभग एक जैसी स्थिति थी। चॉम्स्की कटाक्ष करते हैं कि भारत ने यद्यपि पूँजीवादी लोकतंत्र को अपनाया, फिर भी उसे समाजवाद कहा जाता है। यह एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मजाक है। इस पूँजीवादी लोकतंत्र का नियंत्रण राज्य के हाथों है। चीन 1979 तक माओ-पथ पर था। अब वह कथित सुधार के रास्ते पर है। 'द ब्लैक बुक ऑफ कम्युनिज्म : क्राइम्स, टेरर, रिप्रेशन' में कहा गया कि साम्यवाद की वजह से दस करोड़ लोग मौत के घाट उतारे गए हैं। इसमें सबसे वीभत्स उदाहरण 1958 से 1960 का चीन का अकाल है, जिसमें कोई तीन करोड़ व्यक्तियों के मरने का अनुमान है। अमर्त्य सेन के अनुसार आजादी के बाद भारत में अकाल मृत्यु का सिलसिला थम गया जो उसके सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और आदर्शोन्मुख विकास के कारण है। भारत कमोबेश लोकतांत्रिक देश है। यहाँ प्रेस की आजादी है। सूचनाएँ निचली सतह से सत्ता के गलियारों तक पहुँचती हैं लेकिन चीन में अभिव्यक्ति की आजादी नहीं होने से जनता-शासक संवाद ही नहीं है।

एक विरोधाभास की ओर भी चॉम्स्की इशारा करते हैं। चीन ने अपने स्वास्थ्य कार्यक्रमों के द्वारा बढ़ती मृत्यु दर पर भारत से बहुत पहले काबू कर लिया है। भारत में अब भी चालीस लाख मौतें हर साल स्वास्थ्यगत कारणों से अकारण होती हैं। चाहे कुपोषण हो या बीमारियाँ या अन्य कोई वजह। प्रश्नवाचक मुद्रा में चॉम्स्की पूछते हैं कि कुल मिलाकर पिछले पचास वर्षों में भारत के अकाल कवलित लोगों की संख्या चीनी अकाल से कहाँ कम है ? जो कम-से-कम दस करोड़ तो होगी ही। केरल का उदाहरण देकर चॉम्स्की कहते हैं कि यह राज्य अमर्त्य सेन के अनुसार क्यूबा के बराबर है। वहाँ जीवन स्तर और स्वास्थ्य सुविधाएँ भारत के अन्य प्रदेशों से बहुत बेहतर हैं, लेकिन उसकी वजह मूलतः कम्युनिस्ट पार्टी के स्वास्थ्य, साक्षरता और स्त्रियों की शिक्षा जैसे लोकप्रिय कारणों के कारण है, जिन्हें चलाते रहने पर गैर-कम्युनिस्ट सरकारों को भी मजबूर होना पड़ा है।

ऐसा प्रतीत होता है चॉम्स्की विश्व व्यापार संगठन द्वारा चलाए जा रहे कुचक्रों के भारतीय विरोध से परिचित हैं। उन्हें नर्मदा बचाओ आन्दोलन के नेतृत्व, जिनमें वंदना शिवा, अरुंधति रॉय और मेधा पाटकर वगैरह शामिल हैं—से भी परिचय है। उनका दोटूक कहना है कि ऐसे बाँध वैश्वीकरण और पश्चिमी ताकतों द्वारा पूरी तौर पर पोषित हैं। इसलिए भारत में इनका पुरअसर विरोध हुआ है। वह विरोध इतना तीखा रहा है कि भारत की संसद विश्व व्यापार संगठन से समझौता कर पाने में असमर्थ रही है। भारतीय दवा उद्योग की विसंगत स्थिति को लेकर भी चॉम्स्की के अपने क्षोभ हैं। नए पेटेंट कानून को लेकर भारत के दवा निर्माताओं की अप्रत्यक्ष सहमति से चॉम्स्की की चिन्ताएँ बढ़ती हैं। वे आरोप लगाते हैं कि पूरी दुनिया के दवा उद्योगों ने हाथ मिला लिया है। मुनाफाखोरी उनका मुख्य मकसद है। इस उद्योग में शिक्षित और प्रशिक्षित कुशल कर्मियों का अभाव नहीं है। ये कम्प्यूटर कर्मियों की तरह अपेक्षाकृत कम वेतन पर उपलब्ध हैं। इसी तरह उद्योग का एकाधिकार फलता-फूलता रहता है।

अमरीका के इस कुलीन, उच्चवर्गीय, शालीनता से ओत-प्रोत विद्रोही व्यक्तित्व को शहरी संस्कृति का प्रतीक समझने वालों की जमात भी है। एक महिला ने उनसे सवाल पूछा था कि इतनी अधिक कर्मठता से विचार-युद्ध में खप जाने के बाद भी चॉम्स्की मौजूदा इतिहास में वह जगह क्यों नहीं बना पा रहे हैं, जिसके वह हकदार हैं ? उनकी पुस्तक 'अंडरस्टेंडिंग पावर' में इसका एक विस्तृत उत्तर तो है, लेकिन उसमें भारत को लेकर एक सुखद संकेत भी गुँथा हुआ है। चॉम्स्की कहते हैं कि उन्हें प्रसिद्धि या प्रचार से कोई लेना-देना नहीं है। इससे हतोत्साहित भी नहीं होना चाहिए। वे समाचार पत्रों या भद्रजनों के क्लबों में वाहवाही लूटने को बड़प्पन नहीं मानते। भारत को याद करते हुए कहते हैं कि वे ऐसे गाँव में गए थे जहाँ लोग स्वशासन में जी रहे हैं। ऐसे लोग चॉम्स्की को अपने बीच पाकर बेहद खुश हुए थे। ऑस्ट्रेलिया के शरणार्थी कैम्प तथा कनाडा के मजदूरों के बीच भी उन्हें ऐसी ही अनुभूति हुई थी। विश्व के बुद्धिजीवियों का यह चहेता नायक उन गरीबों, मुफलिसों, साधनविहीन लोगों के बीच खुद को ज्यादा शक्ति-सम्पन्न और स्वीकार्य मानता है। यह भी उस विचारक का एक आचार है। कभी-कभी यह भी लगता है कि भारत के प्रति चॉम्स्की के रहस्यात्मक आकर्षण का एक कारण कार्ल मार्क्स भी है। मार्क्स पर विचार करते हुए इस विचारक का यह कहना है कि उनके कार्यों में कितना अंश है जिसे बचाकर रखा जाए या संशोधित किया जाए। और कितना हिस्सा है जिसे खारिज कर दिया जाए। मार्क्स की अनेक उपलब्धियों के बीच चॉम्स्की में यह इतिहास दृष्टि शेष है कि वे मार्क्स की उन्नीसवीं सदी के इतिहास की व्याख्या को उपलब्धि मानते हैं। उनका मार्क्स एक उत्कृष्ट पत्रकार है जो अपनी समस्त ऊर्जा की वीर्यता के साथ केवल घटनाओं को दाखिल-खारिज नहीं करता, बल्कि उन्हें इतिहास यात्रा के अलग-अलग पड़ाव बनाकर सही सन्दर्भों में स्थापित करता है। भारत में ब्रिटिश हुकूमतशाही सम्बन्धी मार्क्स का लेखन चॉम्स्की को भारत को समझने की गहरी दृष्टि देता है। उन्होंने इसका खुलासा तो नहीं किया, लेकिन इस बात की कल्पना तो की जा सकती है कि मनुष्य की करुणा के अशेष नायक मार्क्स की चिन्ताओं से संवेदना की बारिश अब तक हो रही है। मार्क्स की स्थापनाओं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपपत्तियों को खँगालकर उन्हें संशोधित या रद्द भी किया जा रहा है, लेकिन अस्तित्व के अर्थशास्त्र का यह अप्रतिम चिंतक अपनी अभिधा और व्यंजना में अप्रतिम ही बना रहने के लिए पत्थर की लकीर है।

अपनी प्रसिद्ध कृति 'द ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में मार्क्स ने 1853 में अपनी स्पष्टवादिता के साथ कहा था "यह सच है कि इंग्लैंड हिन्दुस्तान में एक सामाजिक क्रान्ति कर रहा है जो उसके खुद के निहित स्वार्थों की वजह से है और यह भी कि वह उसे फूहड़ तरीके से लाद रहा है। लेकिन असल सवाल यह नहीं है। यक्ष प्रश्न यह है कि क्या मानवता एशिया की सामाजिक दशा में बुनियादी क्रान्ति के बगैर अपने नसीब के सपनों को पूरा कर सकती है? यदि नहीं तो इंग्लैंड के चाहे जितने अपराध रहे हों वह इस तरह की क्रान्ति की अनजाने में शुरुआत करने वाला इतिहास का एक पुर्जा तो है ही।" इसके साथ-साथ मार्क्स ने यह भी जोड़ा, "भारत के राजनीतिक अतीत का चेहरा चाहे कितना ही बदलता हुआ क्यों न दिखाई दे, उसकी सामाजिक स्थिति उसके सुदूर अतीत से लेकर अब तक बदली नहीं है। कम से कम 19वीं सदी के पहले दशक तक।" मार्क्स की दिमागी बीजगणित के ये सूत्र और साध्य चॉम्स्की की गम्भीर अध्येता दृष्टि को और तीक्ष्ण बनाने के लिए आँख के काजल की तरह लीप लिए गए होंगे। यह एक प्रमुख कारण है जो इस विचारक को बहुत से उन वामपंथी बुद्धिजीवियों से अलग करता है जो भारत का परिचय अन्तरराष्ट्रीय समझ की तश्तरी में उसे एक आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, कलात्मक और मीठा-मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थूक कहने वाले भद्रजन की तरह कराते हैं।

"अंडरस्टैंडिंग पावर' में निःशस्त्रीकरण संधि को लेकर चॉम्स्की का एक उत्तर प्रश्नकर्ता को प्रत्यक्ष में दिया गया था। यह प्रकारान्तर से भारत की हालत पर बेलाग टिप्पणी है। सवाल यह था कि निःशस्त्रीकरण संधि पर भारत हस्ताक्षर कर रहा है क्या ? उसे अमरीका अपनी दादागिरी का विरोध नहीं मानेगा ? तीसरी दुनिया का एक गरीब देश अमरीका को इनकार करके हेकड़ी दिखाएगा तो क्या अमरीका यह सब बर्दाश्त कर पाएगा ? चॉम्स्की का सधा हुआ उत्तर था, तीसरी दुनिया के हर एक देश की तरह भारत का भी अपना सोच है, लेकिन वह खुल्लमखुल्ला कुछ कह नहीं पा रहा कि परमाणु निःशस्त्रीकरण संधि एक घिनौना मज़ाक है। चॉम्स्की का मानना है कि परमाणु निःशस्त्रीकरण संधि शक्तिशाली राष्ट्रों के एकाधिकार का ऐलान है कि ऐसे हथियार वे ही रखेंगे। परमाणु अस्त्रों का ज़खीरा रखना मानवता के प्रति गम्भीर अपराध है। लेकिन क्या यह उक्ति अमरीका के आचरण पर लागू नहीं होती ? क्या अन्तरराष्ट्रीय मंच पर अमरीका की भूमिका भारत से बेहतर रही है ? तीसरी दुनिया के अधिकांश देश इस अमरीकी पाखंड से परिचित हैं, लेकिन कह पाने का साहस कोई जुटा नहीं रहा है। भारत में अलबत्ता लोग इस बात को खुलकर बोलते हैं और इसमें कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि भारत एक स्वतंत्र देश है। भारत तटस्थ राष्ट्रों के आन्दोलनों का मुखिया रहा है। भारत एक बड़ा देश है। आबादी में तो वह चीन को भी पीछे छोड़ने वाला है। यही वह देश है जिसे सबसे पहले उपनिवेश बनाया गया है और औपनिवेशिक ताकतों ने उसे बरबाद भी किया। इसमें भी कोई शक नहीं है कि भारतीय बुद्धिजीवियों का बहुत ब्रेनवाश किया गया है, लेकिन भारत के इतिहास को लेकर लोगों की जानकारी सतही है। भारतीय दृष्टिकोण में अब भी आज़ादी है। नेहरू ऊपरी तौर पर पाश्चात्य और अंग्रेज़ियत से लकदक दिखाई देते थे, फिर भी अमरीकी नेता उनसे नफरत करते थे। अमरीकी दस्तावेजों में नेहरू के खिलाफ कितनी घटिया कहानियाँ प्रकाश में आ रही हैं। कारण यही था कि नेहरू भारत के नेता के रूप में अपनी रीढ़ की हड्डी पर खड़ा होना मुनासिब समझते थे। वह तत्त्व भारत में अब भी ज़िन्दा है। अमरीका का दृष्टिकोण स्वतंत्र भारत के लिए ढुलमुल, पेचीदा और संदिग्ध रहा है। उसके स्वतंत्र दृष्टिकोण को लेकर अमरीका की उससे नाराज़गी थी क्योंकि भारत अपनी स्वतंत्र अर्थनीति और विदेश नीति रच रहा था। इन सबसे गाफिल अमरीका की केन्द्रीय चिन्ता चीन के बढ़ते प्रभाव को भोथरा करने की थी, क्योंकि 1949 की क्रान्ति के बाद चीन की तरक्की रफ्तार पकड़ती जा रही थी। चीन एशियाई मुल्कों का रोल-मॉडल बनने की क्षमता रखता था। यही वजह है कि अमेरिकी कूटनयिकों ने भारत को मदद देने का प्रस्ताव रखा जिससे वे चीन के इस पड़ोसी को दुनिया के सामने बेहतर रोल-मॉडल के रूप में दिखा सकें। एक पूँजीवादी, आर्थिक व्यवस्था और संसद के सहारे भारत को अमरीका का बगलगीर बनाए जाने की अमेरिकी इच्छा समय-समय पर परवान चढ़ती रही है। यह भारत रहा है जिसने अमेरिकी नीतियों का शिकार होना कबूल नहीं किया। आज़ादी के बाद 1950 में भारत में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा जिसमें सवा से डेढ़ करोड़ लोगों के मरने का अनुमान है। अमरीकी अनाज भंडारों में खाद्यान्न की बाढ़ थी, लेकिन एक दाना भी भारत के लिए नहीं था। इस नफरत का मूल कारण नेहरू की आज़ादख्याली थी और तटस्थ देशों को लेकर उनकी भूमिका थी। ले-देकर अमरीका ने आर्थिक सहायता का पीछा छोड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन वह भी कोरिया युद्ध जैसे कई मुद्दों पर अमेरिकी नीति को समर्थन के आधार पर। केनेडी ने अलबत्ता अपेक्षाकृत संशोधित नीतियाँ और उदारता दिखाने की कोशिश की। लेकिन कुत्ते की दुम के किस्से की तरह वही बेढंगी रफ्तार अगले राष्ट्रपतियों के काल में भी कायम रही। 80 के दशक में भारत की विकास दर सबसे तेज़ थी, लेकिन खराब आर्थिक नीतियों के चलते देश कर्ज़दार होता गया। यही वजह है कि भारत को तीसरी दुनिया के मुल्कों की तरह अपने प्रशासनिक प्रबंधन में कई परिवर्तन विकसित देशों के दबाव में स्वीकार करने पड़े। कथित आर्थिक सुधार बहुत क्रान्तिकारी नहीं थे फिर भी उनका देश की जनता पर असर तो पड़ा। चॉम्स्की स्वीकार करते हैं कि मौजूदा आर्थिक नीतियाँ जनता के लिए मलाल करने का कारण हैं। इससे देश में एक गहरी विसंगति की स्थिति बनी। फिर भी भारत मशक्कत कर रहा है कि वह इस दुविधा से कैसे उभरे। मौजूदा शासन ने अमरीका के लिए भारत के सभी दरवाजे खोल दिए हैं। इसलिए अमरीका अब भारत को बेहतर समर्थन कर रहा है। यह टिप्पणी चॉम्स्की ने ऐसे संधि बिन्दु पर की जब नरसिंह राव की सरकार जा रही थी और वाजपेयी की सरकार आ रही थी। चॉम्स्की की पुनः टिप्पणी है कि पुरानी आदत छूटते-छूटते ही छूटती है, भले ही लोग निरस्त्रीकरण संधि के पाखंड के खिलाफ ठीक से बोल नहीं पाते हों।

चॉम्स्की ठहरकर हमसे कानों में फुसफुसाकर कुछ कहना भी चाहते हैं। भारत में कुटिल बर्तानवी राज की सफलता का सारा श्रेय वे अंग्रेजों को नहीं देते। उनका कहना है कि जनता पर हुकूमत तो अंग्रेजों के एजेंट बने भारतीय नौकरशाह ही कर रहे थे। वे सैनिक भारतीय ही थे जो हमवतनों की पीठ पर कोड़े बरसा रहे थे और उनके सिर तोड़ रहे थे। ये भारत के नेता ही थे जो ज्यादा से ज्यादा अमीर और सुविधा-सम्पन्न होते चले गए थे और अंग्रेजी साम्राज्यवाद के एजेंट बने रायसाहब, राय बहादुर, दीवान साहब, खान बहादुर जैसी उपाधियों का कलंक ढोते जनता के प्रति अत्याचार कर रहे थे। यह उनका कटाक्ष नहीं है। बीते इतिहास की एक दुखद परिणति की प्रामाणिक स्वपरीक्षा का प्रयोजन है। यदि ऐसी चुभती बातें भारतीय दशा का एक विदेशी आलोचक करने से परहेज करेगा तो इतिहास की सलवटों को सीधा कर उसका पर व्यवस्थित विचार-दर्शन स्तरीय कैसे रह पाएगा ?

चॉम्स्की बुद्धिजीवियों के बुद्धिजीवी हैं—ऐसा भी नहीं है। उन्हें पूरी दुनिया में व्यापक समर्थन प्राप्त है। 2001 में की गई उनकी भारत यात्रा एक बड़ी घटना के रूप में यादों के तहखाने में सुरक्षित रहेगी। उन्होंने दिल्ली, चेन्नई, तिरुअनंतपुरम, कोलकाता सहित पाकिस्तान के लाहौर और इस्लामाबाद में भाषण और साक्षात्कार दिए। छोटे-छोटे समूहों ने उनसे बातचीत की और उन्होंने सबको संतुष्ट किया। कश्मीर समस्या पर चॉम्स्की ने साफ कहा कि जब तक कश्मीरियों को स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार नहीं मिलेगा तब तक (अमरीका की भूमिका के कारण) समस्या का हल नहीं हो पाएगा। चॉम्स्की ने चेतावनी दी है कि भारत को कश्मीर समस्या के हल के लिए अमरीका पर भरोसा नहीं करना चाहिए। वही अमरीका अगस्त के महीने में भारत की प्रशंसा करता है, लेकिन अचानक अफगानिस्तान पर हमला करते वक्त पाकिस्तान उसका जिगरी दोस्त और बगलगीर बन जाता है। इसी पाकिस्तान को अमरीका ने दुष्ट राज्य कहा होता है, वही अमरीकी हितों के लिए दोस्ती में बदल जाता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने चॉम्स्की को डी.लिट्. की उपाधि उनकी भाषा विज्ञान तथा सामाजिक शास्त्रों के असाधारण अध्ययन के कारण प्रदान की। चॉम्स्की ने अपनी विनम्रता में जवाब दिया कि जिस भाषा विज्ञान के कारण उन्हें जाना जाता है उसकी शुरुआत भारत में 2500 वर्ष पहले पाणिनि के व्याकरण की वजह से हुई। इस बात को पिछले पचास वर्षों में ही दुनिया ने स्वीकार किया है। एशियाटिक सोसायटी ऑफ इंडिया ने चॉम्स्की को रवीन्द्रनाथ टैगोर जन्म शताब्दी प्लेक (फलक) का असाधारण सम्मान दिया जो चॉम्स्की के पहले बर्ट्रेंड रसेल, सी.वी. रमन, सत्येन्द्रनाथ बोस, सत्यजीत रे, नील्स बोर और एस. चन्द्रशेखर जैसे दिग्गजों को दिया गया है। अमिय कुमार बागची ने कहा है कि चॉम्स्की साधारण लोगों और बुद्धिजीवियों के लिए प्रकाश का स्रोत हैं। उनकी तुलना सम्भवतः बर्ट्रेंड रसेल से की जा सकती है। आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़ी असद न हमने गदाई में दिल्लगी

संतोष दीक्षित

प्रायः हर रचनाकार कभी न कभी यह महसूस करता है कि कोई भी विधा जो एक खास रूपाकार या चौखटे में बँधी हुई हो, हर तरह की विषय-वस्तु या जीवन-तत्त्व के साथ न्याय नहीं कर सकती। कुछ का तो भार भी वहन नहीं कर सकती। यदि विधा के साथ-साथ किसी खास तरह की भाषा एवं वाक्य-विन्यास के प्रति भी लेखक की आसक्ति हो, तब तो वह इस संभावना को और भी सीमित करती है। काशीनाथ सिंह में इन सीमाओं को बखूबी आँक लेने और उनका अतिक्रमण करने की विलक्षण क्षमता है। यह काशीनाथ सिंह की कलागत नैतिकता है कि वह अपने सृजन के प्रति पूरी निर्ममता बरतते हुए खुले मन से स्वीकार करते हुए कहते हैं—"सच मानिए, कभी-कभी मुझे लगता है कि मैंने सारा जीवन वह लिखा, जिसे नहीं लिखता तब भी चल जाता, मगर वह नहीं लिखा जो लिखना चाहिए था।" और यह साहस भी उनमें ही है कि वह इस सीमा का अतिक्रमण करते हुए 'स्मरण कथा' जैसी एक नई विधा (या उपविधा?) की नींव 'आछे दिन पाछे गए' के रूप में डालते हैं और इसके दुमहले पर खड़े ठठाकर हँसते नज़र आते हैं (जैसे कोई छोटा, शरारती बच्चा, किसी निरापद जगह पर पहुँच अपने हमजोलियों को चुनौती देता है—"छूकर दिखाओ तो जानें!") आखिर वरिष्ठ कथाकार और चिंतक राजेन्द्र यादव यों ही नहीं लिखते कि काशी के समकालीन कथाकारों में जो साहसिकता दिखाई दी थी, वह अपने सबसे ऊर्जावान रूप में काशी के संस्मरणों में दिखाई देती है।

यों तकनीकी रूप से देखा जाए तो संस्मरण डायरी के कई पृष्ठों की संयुक्ति है। जैसे उपन्यास कई-कई कहानियों की। मगर काशीनाथजी अपने स्वभाव के अनुसार इस तकनीक पर भी दुलत्ती झाड़ देते हैं। वह इन संस्मरणों के रचना-विधान में विविध प्रयोग करते हुए इसे बहुआयामी और गल्पमय बना डालते हैं। 'कलकत्ता में बाँकेलाल' शीर्षक संस्मरण में वह डायरी, पत्र और चरित्र-चित्रण के अपने अनूठे बयानात के सम्मिश्रण के जरिए एक ऐसा पाठ रचते हैं, जिसमें किसी चरित्र का केवल श्वेत-श्याम ही नहीं, जीवन के तमाम रंगीन और धूसर पक्ष भी पूरी तरह से अनावृत हो जाते हैं। ऐसा करते हुए वह तटस्थ तो खैर रहते ही नहीं, और उनका यह मानना भी है कि रचना में तो क्या, जीवन में कभी कोई तटस्थ नहीं रह सकता। लेकिन एक सबसे बड़ी बात कि इन संस्मरणों में वह जगह-जगह पर स्वयं का निर्वैयक्तिकरण करते हुए भी नज़र आते हैं। इन संस्मरणों में, लेखक के ही शब्दों में उनके 'गंड़खुल्ला बालकपन' के दिनों से लेकर 'रेखिया उठान' काल से गुजरते हुए

...ती घाट, दीवान मोहल्ला, पटना-800008 (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनके उस त्रिआयामी व्यक्तित्व की भी ढेर सारी आँकी-बाँकी अदाएँ हैं, जहाँ एक छोर पर हिन्दी विभाग की उनकी प्रोफेसरी है, तो दूसरे छोर पर बनारस और खासकर अस्सी के लोग। तीसरे छोर पर उनका वह लेखकीय व्यक्तित्व है, जिसके बारे में अभी हाल-हाल तक अस्सी के लोगों को नहीं पता था कि अक्सर उनके बीच उठता-बैठता यह 'चमरकिट-सा आदमी' मास्टर के सिवा भी है। और आप हैरत में पड़ जाएँगे कि वह व्यक्ति ठाकुर काशीनाथ सिंह से लेकर यारों का यार कसिया तक है। अपने गुरु और विद्यार्थियों के हेतु निभाने के चलते वह स्वयं 'तमाशा' बनने से भी परहेज नहीं करते। साथ ही अपने गाँव जीयनपुर की बगल के कमालपुर मेले का वह कसिया नाई भी वहीं है, जो हर चिर-परिचित को अपना टुटहा आईना दिखाता हुआ पूछता था—''मालिक! पहचाना? आपका कसिया!''

काशीनाथ के इस आईने में उनके सबसे करीबी लोगों के चेहरे हैं। यह केवल हिन्दी के उस प्राध्यापक का संस्मरण नहीं, जो घर से विश्वविद्यालय के बीच ही हाँफते, दौड़ लगाते जीवन गुजार देता है। इन संस्मरणों के पीछे एक ऐसी पुतली है जो अपने आसपास फैले पूरे संसार का भरसक जायज़ा लेती है। यह पुतली 'लोग बिस्तरों पर' जैसे कहानी संग्रह के सचेत कहानीकार की है, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसी संस्था में रहकर भी कम्युनिस्ट विचारधारा वाले युवा अध्यापक की छवि को मनसः वाचः कर्मनः अपनाता है। वह 'परिवेश' जैसी लघु पत्रिका निकालता है और क्रांतिकारियों के साथ शहर में पोस्टर लगाने के अभियान में तत्पर होता है। इन संस्मरण कथाओं में लेखक के पिता, भाई, पत्नी, गुरु, विद्यार्थी और मित्र के बहाने एक भरे पूरे जीवनवृत्त के तमाम किलोल और कलरव का चित्रण है। साथ ही बनारसीपन की वह छेड़छाड़ भी है, जो मुर्दों तक को 'राम नाम सत्त है...मुर्दा साला मस्त है' जैसे फिकरों से नवाज़े बिना गली से पार नहीं होने देता। अपने इस आईने में उन्होंने जिस जिसका भी अक्स उतारा है, उसका टेढ़ा, बाँका, हँसता, रोता, मुँह बिसूरता, भुनभुनाता, गलियाता...गरज कि तमाम रूप को उघाड़कर रख दिया है। जीवन में रस भले नौ हों पर इनकी अलग-अलग तरह की संयुक्ति से नौ का नब्बे बनाते देर नहीं लगती संस्मरणकार को। इनमें ऐसे भी चरित्र हैं जिनके सर इतने ऊँचे नज़र आते हैं कि उनके पाँव दिखते ही नहीं। तो कुछ चरित्रों के चरण किस-किस धरा को पवित्र करते हैं, यह जानकर ही उनके 'सर' की कल्पना आपको खुद करनी होगी। इसमें एक चरित्र तो ऐसा है जो गुलशनपरस्त (साहित्यप्रेमी) तो है पर उसे गुल (साहित्यकार) ही नहीं पसंद। और इस दिलचस्प चरित्र को इतनी मेहनत से इतने सारे रंगों से नहलाया है संस्मरणकार ने कि अंततः कराहते हुए भी उसे ठहाका लगाना पड़ता है—''साले कहते जिगर का टुकड़ा हो और नहलाते भैंस की तरह हो।'' यही रचनाकार की खूबी है। उसने अपने निकटतम को भी इस साहसिकता के साथ उकेरा है कि उसका असली रूप रंग खुलकर सामने आ गया है। यहाँ तक कि अपने गुरुओं को भी अपने फन की इस उस्तादी से नहीं बख्शा है उन्होंने। बहुतों को काशीनाथ सिंह की यह दुस्साहसिकता नागवार लग सकती है, मगर मुझे तो 'या तरुवर महँ एक पखेरू' पढ़कर खूब हँसी आई। और साथ ही याद आए कबीर। वही कबीर जो खुद का सम्बन्ध कमीनों की जात से बताकर तमाम पाखंडियों की चिमटा बजाकर सुना सकते थे—

''संसकिरित भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो री।
आसा, तृस्णा में बहि गयो सजनी, काम के ताप सहोरी।''

काशीनाथ सिंह की इन स्मरण कथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस भाव, भाषा और भक्ति के साथ वह किसी को अनावृत्त करते हैं, लगभग उसी अंदाज़ से किसी को दुशाला भी ओढ़ा देते हैं। उनकी इस उस्तादी का कमाल 'तीसरे भाई की खोज में प्राण पियारे' में देखने को मिलता है। यहाँ चुहल की भाषा में वह लगातार कई-कई ऐसे प्रसंगों को क्रमवार रखते हैं कि कमला प्रसाद जैसे प्रगतिशील आन्दोलन के वर्तमान के रूहे-रवाँ का सम्पूर्ण व्यक्तित्व सहृदय और साहित्य के साथ पूरी तरह एकात्म होकर एक ऐसे परम ऋषि के पद को प्राप्त करता है, जहाँ कोई मेनका भी साहित्य और संगठन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता से उन्हें डिगा नहीं पाती। और यह सब काशीनाथ सिंह प्रशंसा के एक बोल बोले बिना रच जाते हैं।

'आछे दिन पाछे गए' में भविष्य की भी बानगी है, भूमंडलीकरण की राह पर सरपट दौड़ पड़े भारत के भविष्य की। सन्दर्भ है 'इक्कीसवीं सदी के देश का सफर'। इस महत्त्वपूर्ण स्मरण कथा में उगते सूरज के देश जापान में भूमंडलीकरण के प्रभाव की बहुत सुलझी हुई और साफ तस्वीर है। यह तस्वीर 'अपना मोर्चा' के लेखक की दृष्टि से है, न कि सैर-सपाटे को आए किसी पर्यटक या राजनीतिक ओहदेदार की। इसीलिए यह जापानी जनता के भीतर फैले हाहाकार को साफ तरह से देख पाने की एक बानगी है। केवल पैसे और सेक्स के पीछे पागल एक समाज की झलक। सारा सुख और ऐश्वर्य है वहाँ फिर भी हर जापानी परेशान है। चुप और उदास है। जापान के समाज के बारे में लेखक एक और ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिलचस्प जानकारी देता है, जिसकी वहाँ कल्पना भी नहीं की जा सकती। वहाँ के समाज में 'समुराई' यानी क्षत्रिय हैं तो 'बुराकुमिन' यानी दलित भी। इसमें जापानी समाज-व्यवस्था के प्रति उनके आन्दोलन की भी संक्षिप्त चर्चा है। इसे कहते हैं यथार्थ को भेदकर अति-यथार्थ को पहचानने की दृष्टि। काशीनाथ सिंह अपनी इन स्मरण कथाओं में जगह-जगह अपनी इस दृष्टि से कायल करते दीख पड़ते हैं।

'आछे दिन पाछे गए' का गद्य अपने मन-मिज़ाज से तद्भव है। यह कबीर और निराला की परम्परा को घोंटकर विकसित की गई एक ऐसी भाषा है जिसमें शब्द झूमते, गाते, नाचते नज़र आते हैं तो वाक्य कहकहे लगाते और च्यूँटी काटते दीख पड़ते हैं। जीवन के तमाम कमंदों को खोलती और आलोड़ित करती इस भाषा में एक ऐसा स्वाभाविक स्फुरण और हलचल भी है, जो किसी शान्त जल में कंकड़ मारने जैसी शरारत से उत्पन्न होती है। काशीनाथ सिंह ऐसी भाषिक शरारतों में निष्णात हैं। स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि उन्होंने रूसी लेखकों को पढ़कर उनसे वर्णन कौशल सीखा और हेमिंग्वे से भाषा में शब्दों की क़िफ़ायतदारी बरतने का सलीका। इन तमाम गुणों को बड़ी कुशलता से आत्मसात करते हुए रचनाकार ने वाग्वैदग्ध्य (विट), हास्य और चुहल के प्रयोग से अपनी इस भाषा को इतना प्राणवान और जीवंत बना दिया है कि इनसे गुजरते हुए आप अपनी सुधबुध खो सकते हैं। इतनी बला की पठनीयता है इनमें। एक ऐसा लगाव, खिंचाव या भुलावा कि तुम मेरे पास होते हो गोया जब कोई दूसरा नहीं होता। इन संस्मरणों में कहीं भी सपाटबयानी नहीं है। इनकी पूरी संरचना भी इतनी चाक-चौबंद और चुस्त है कि इन्हें पढ़ते हुए आस्वाद के स्तर पर एक बेहद दिलचस्प और मनोरोचक गल्प का आनन्द मिलता है, तो चेतना और प्रभाव के धरातल पर उतनी ही संवेदनशील और वेधन क्षमता का अहसास होता है। यह काशीनाथ सिंह की विशिष्ट क्षमता है कि वह वहाँ भी दिल्लगी करते दिख जाते हैं, जहाँ जीवन की सबसे कारुणिक और त्रासद स्थितियों का वर्णन वह कर रहे होते हैं और आश्चर्य कि अपनी सम्पूर्ण प्रभावोत्पादकता में वह बेहद सफल दिखते हैं।

अपनी रचना-प्रक्रिया में काशीनाथ सिंह अपने चरित्र को भेदकर उसके अंतर-तल और मर्म तक पहुँचने की भरपूर कोशिश करते हैं। वह उन विरल लेखकों में हैं जो किसी फल के रूप-रंग एवं गूदे का स्वाद बतलाते हुए उसके उस तिक्त और उच्छिष्ट बीज तक पहुँच जाते हैं, जिसमें उस फल को पुनर्सृजित करने की सारी कला अन्तर्निहित है। यही कारण है कि अपनी इन स्मरण कथाओं में वह किसी चरित्र को उसकी समग्रता में आँकते हुए उसे पुनर्नवित भी करते हैं। इसमें दो मत नहीं कि उनके भीतर यह दृष्टि उस द्वन्द्वात्मकता को लेकर विकसित होती है, जहाँ वह किसी भी चरित्र और स्थितियों के वर्तमान की भावुकता में न बहकर उसके तमाम परिवर्तनशील स्थितियों का ठोस आकलन करते हुए अपना मंतव्य स्थापित करते हैं। उनके कहने का ढब निराला है। किस्सागोई की प्रचुरता है। सपाटबयानी की जगह शिल्प का चौकसपन है और किसी प्रस्थान बिन्दु से एक गंतव्य बिन्दु तक पहुँचने के बीच वह कई-कई तरह की आड़ी-तिरछी एवं चक्रीय गति का प्रदर्शन करते हैं। वक्रता, चुहलपन और दिल्लगी इन स्मरण कथाओं का स्थायी भाव है। और इसके लिए जैसी ईमानदारी और साहसिकता की दरकार है, वह काशीनाथ सिंह के कलम की रोशनाई में अच्छी तरह घुली-मिली हुई है। अब इस पर जिनकी भी भौंहें टेढ़ी हों, तो हों। बकौल ग़ालिब–

"जाहिर है कि घबरा के न भागेंगे नकी रैन
हाँ, मुँह से मगर बादः-ए-दोशीनः की बू आए।"

(पुस्तक–आछे दिन पाछे गए, लेखक–काशीनाथ सिंह, प्रकाशक–वाणी प्रकाशन, मूल्य 150 रुपए)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अँधेरे का उजाला

प्रभात रंजन

साहित्य को लेकर एक प्रसिद्ध कहावत है कि साहित्य के अनन्त उपहारों में एक यह भी है कि इसमें किसी लेखक की कल्पना अन्य लोगों की व्यक्तिगत स्मृति का हिस्सा बन जाती है। समकालीन हिन्दी कहानी के प्रमुख रचनाकार अखिलेश के नए कथा-संग्रह 'अँधेरा' की कहानियाँ एक ऐसा ही कथा-संसार रचती हैं, जिनमें हमें अपने परिचित संसार की अनेक छवियाँ दिखाई देती हैं। अखिलेश की कहानियाँ उम्मीद की, आशा की हैं, यद्यपि उनमें व्यवस्था और उसकी इकाइयों के प्रति गहरी निराशा साफ झलकती है। उनमें एक जिजीविषा है, जो यह विश्वास दिलाती है कि आज हम भले मुश्किलों से, परेशानियों से घिर गए हों, पर इससे निकलने की उम्मीद भी है।

'अँधेरा' संग्रह में कुल चार कहानियाँ हैं—'वजूद', 'यक्षगान', 'ग्रहण' और 'अँधेरा'। अखिलेश आमतौर पर लम्बी कहानियाँ लिखते हैं, ये कहानियाँ भी अपने रूपाकार में विस्तृत हैं। अखिलेश की ख्याति ऐसे लेखक के रूप में रही है, जिन्होंने कहानियाँ ही लिखी हैं। यद्यपि वे उपन्यास भी लिख चुके हैं, 'वह जो यथार्थ था' जैसी बालपन की संस्मरणों की पुस्तक भी लिख चुके हैं, लेकिन कहानी की विधा में ही उन्होंने नियमित लेखन किया है। एक तरह से उनकी कहानियाँ अपने समय, अपने समाज पर, उसके बने-बनाए साँचे पर संदेह व्यक्त करतीं, सवाल खड़े करती दिखाई देती हैं।

अखिलेश की कहानियों में राजनीति, व्यवस्था और उसका विद्रूप बार-बार उभरकर आता है। वास्तव में राजनीति और उसके तंत्र ने समाज को कितना छला है, किस प्रकार पिछले पचास-साठ सालों में यह तंत्र लूटपाट के तंत्र में बदल गया है—अखिलेश की कहानियों में यह अक्सर दिखाई देता है। वे यथार्थवादी कथाकार हैं, लेकिन भयावह यथार्थ को उनकी कई कहानियों में व्यवस्था के तंत्र का चित्रण जिस रूप में उभरकर आता है, वह कुछ-कुछ काफ्काई यथार्थ-लोक जैसा लगता है। वास्तविक के भीतर कुछ-कुछ अवास्तविक-सा।

उदाहरण के लिए, 'अँधेरा' कहानी-संग्रह में संकलित कहानी 'ग्रहण' को ही इस संदर्भ में देखा जा सकता है। अमरकान्त की कहानी 'जिन्दगी और जोंक' या उदयप्रकाश की कहानी 'टेपचू' की परम्परा में दिखाई देनेवाली यह कहानी उनसे एक भिन्न अर्थ भी पैदा करती है। जहाँ 'जिन्दगी और जोंक' या 'टेपचू' मानवीय जिजीविषा की कहानियाँ हैं, 'ग्रहण' कहानी का नायक 'राजकुमार उर्फ पेटहगना' लांछन और उत्पीड़न का दंश झेलते-झेलते असली शोषकों की पहचान कर लेता है और उनसे मुक्ति के उपाय ढूँढ़ते-

93, एम्स अपार्टमेंट्स, मयूर कुंज, नजदीक नोएडा चैकपोस्ट, दिल्ली-96

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढूँढ़ते इस तरह गायब हो जाता है कि सब उसे मरा हुआ समझ लेते हैं। जब वह अदृश्य होकर अपने शोषकों से बदला लेने लगता है, तो गाँववाले उसकी पूजा करने लगते हैं।

विपद और बटुली के घर पैदा होनेवाले राजकुमार के पिता यानी विपद में गांधी की छवियाँ दिखाकर लेखक एक तरह से आजाद भारत में गांधी और उनकी राजनीतिक विरासत की बेचारगी को ही दर्शाता है। दूसरी ओर कहानी के अंत में महीपाल बाबा की मजार पर बढ़ते फूलों की संख्या भविष्य की राजनीति का संकेत भी दे देती है। बरसों से भाग्य भरोसे जी रहे जड़ समाज की जड़ता तोड़ने के लिए एक ऐसा व्यक्ति उठ खड़ा होता है, जो बंद गुदा-मार्ग के साथ पैदा हुआ है, इसलिए मल त्याग के लिए डॉक्टर उसके पेट में छेद कर देता है, गाँववाले जिसको 'पेटहगना' कहकर बुलाते हैं—वही व्यक्ति एक दिन शोषण का चक्र तोड़ने के लिए उठ खड़ा होता है। आज विकास की दौड़ में हाशिए पर चले गए समाज में, छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए तरसते समाज में बढ़ते जन-आन्दोलनों और विकास के अपनाए गए साँचों के सन्दर्भ में इसे समझने की आवश्यकता है।

समाज का एक भाग जरूर शहरों की चकाचौंध में फल-फूल रहा हो, आज भले 'भारत गाँवों का देश है' जैसे वाक्य पुस्तकों से गायब होते जा रहे हों। पर सचाई यही है कि समाज का बड़ा तबका आज भी इस चकाचौंध से दूर अँधेरे में जीने को मजबूर है। आज भी समाज की बड़ी जमात उसकी सुविधाओं से दूर है। अखिलेश की कहानियों को पढ़ते हुए इसकी राजनीति समझ में आती है। सलमान रश्दी ने 'टिन ड्रम' जैसे विश्वप्रसिद्ध उपन्यास के रचयिता गुंटर ग्रास के बारे में लिखा है कि यथार्थ के इस राजनीतिक पहलू की ऐसी पकड़ ग्रास में है कि जब वे साहित्य लिख रहे होते हैं, तो पाते हैं कि वे तो राजनीति पर लिख रहे हैं। उसी तरह जब वे राजनीतिक पहलुओं की चर्चा कर रहे होते हैं, तो आदतवश साहित्यिक रूपाकार भी उसमें आ जाते हैं।

'अँधेरा' संग्रह में एक कहानी है—'यक्षगान'। बाजार ने किस तरह व्यक्ति को वस्तु में बदल दिया है, किस तरह इस तंत्र में 'कर्ता का लोप' हो गया है, यह इस कहानी में खूब उभरकर आया है। राजनीति, मीडिया, अपराध, धर्म किस तरह इस तंत्र में एकमेक हो चुके हैं, इसका अच्छा बयान इस कहानी में दिखाई देता है। अपने प्रेमी छैल बिहारी के साथ गाँव से भागनेवाली सरोज पांडे प्रदेश की राजनीति में एक बड़े भूचाल का कारण बनती है। प्रेम के सहारे जिस मुक्ति-मार्ग की तलाश में वह भागती है, वह उसके लिए एक ऐसा गह्वर साबित होती है, जिसमें वह अन्ततः बिला जाती है।

एक दिन के लिए वह जरूर राजधानी में एक महिला नेता के घर प्रेस के सामने प्रकट होती है, लेकिन वह फिर गायब कर दी जाती है। उसके शोषण, उसके होने न होने के सवाल गौण हो जाते हैं और उससे जुड़ी राजनीति हावी होती चली जाती है। यह कहानी यह दिखाने की कोशिश करती है कि राजनीति किस तरह महज सत्ता पाने और उसे भोगने तक सिमटकर रह गई है। लाभ-हानि पर टिकी बाजार की इस राजनीति ने व्यक्तियों को वस्तु में बदल दिया है, सारे संबंध पण्य हो चुके हैं—'यक्षगान' कहानी का प्रभाव शोक-गीत की तरह है।

कुछ बरस पूर्व प्रकाशित इस कहानी ने रूप और वस्तु दोनों ही स्तरों पर अपना प्रभाव जमाया था। वास्तव में अखिलेश की कहानियों की जो जमीन है, उसमें उत्तर-आधुनिक पहलुओं को साफ तौर पर देखा जा सकता है, जिसे उनकी कहानियों में 'लेखकीय हस्तक्षेप' या 'यक्षगान' कहानी में 'कर्ता का लोप' के शिल्प के रूप में देखा जा सकता है या 'ग्रहण' कहानी में जिस तरह से लोककथाओं की शैली का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन यह अखिलेश की रचनात्मक उपलब्धि ही कही जाएगी कि उनकी कहानियों में बावजूद इसके कि शिल्प काफी दुरुस्त रहता है, वह ऊपर से आरोपित नहीं लगता है। पारम्परिक किस्सागोई की शैली में अखिलेश कहानी का ताना-बाना खड़ा करते चले जाते हैं।

अखिलेश की कहानियों को जो गुण, जो पहलू अपने समय में विशिष्ट बनाती है, वह नए-नए कथा रूपों को आजमाने के उनके कौशल में देखा जा सकता है। अखिलेश की हर कहानी पाठकों-आलोचकों के सामने एक नई चुनौती की तरह उपस्थित होती है। आमतौर पर जब किसी लेखक की पाठक समाज में व्याप्ति हो जाती है, मान-सम्मान मिल जाता है, तो वह उसके बाद अपने बनाए एक घेरे में भी बँधने लगता है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं जो बार-बार अपने बनाए दायरों से भी बाहर निकल जाते हैं। अखिलेश की हर कहानी की कथाभूमि भिन्न होती है, कहने की शैली भिन्न होती है, लेकिन सरोकार गहरे होते हैं।

इस संग्रह की पहली कहानी है—'वजूद'। उसमें देश की प्राचीन विद्या आयुर्वेद की राजनीति को लेकर बड़ी रोचक कहानी लेखक ने कही है। कथानायक जयप्रकाश की आयुर्वेद के बाजार में ख्याति हो जाती है, उसका अखबार में फोटो छपता है, जिसे वह पढ़ भी नहीं पाता। इससे यह जरूर होता है कि जो मुक्ति उसे समाज और राजनीति की यह व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं दिलवा पाई, जिसमें घुट-घुटकर उसके पिता की मृत्यु हो गई। उससे बाजार उसे मुक्ति दिलवा देता है। बाजार में उसके इलाज, उसकी दवाओं की धाक जम जाती है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों के प्रतिनिधि उसके खरीदार बनकर आने लगते हैं। जिस वैदजी के घर में उसकी कोई हैसियत नहीं थी, वे बाजार के इन खरीदारों के दलाल बनकर अचानक जयप्रकाश के खैरख्वाह बनकर उसे अपने यहाँ कुर्सी पर बैठने की जगह देते हैं।

दूसरी ओर जयप्रकाश है कि 'उसका यह परम्परागत ऐतबार बार-बार उठ खड़ा हो रहा था कि दवाई का पैसा लेने से पाप होता है। यह तो एक दिक्कत थी। कुछ अन्य मसले भी थे, जो ज्ञान के व्यावसायीकरण का उसका रास्ता रोक रहे थे।' कथा में जयप्रकाश इस द्वन्द्व और लोभ-लालच के जाल से मुक्ति का रास्ता उस बाजार के सामने वैदजी को लात से मारकर उसी तरह लहूलुहान कर देते हैं, जिस तरह से बरसों पहले उसने जयप्रकाश के पिता को मार दिया था। वास्तव में यह जयप्रकाश का अपना बाजार है। यह बाजार उसने अपने कौशल, अपनी विद्या से बनाया है। इसमें वैदजी जैसे लोगों की कोई जरूरत नहीं रह गई है।

अखिलेश की कहानियों के पात्र परिस्थितियों की मार खाते हैं। लुट-पिट जाते हैं, पर मौका मिलते ही उठ खड़े होते हैं। इस मायने में 'ग्रहण' का 'पेटहगना राजकुमार' एक अद्भुत पात्र है। संघर्ष करता रहता है और वह भी बदला ले सकता है, कोई सोच भी नहीं सकता है। 'अँधेरा' के प्रेमरंजन और रेहाना में भी परिस्थितियों से लड़ने, मुश्किलों में न घबराने का अद्भुत माद्दा है। इसी तरह परम्परा को न छोड़ पाने और आधुनिकता को अपनाने का द्वंद्व भी उनकी कहानियों में अक्सर उभरकर आता है।

'अँधेरा' कहानी में इसका संदर्भ प्रेम है और जब मामला विधर्मी प्रेम का हो, तो परिस्थिति और विकट हो जाती है। घृणा और प्रतिहिंसा की बरसों से चली आ रही राजनीति का विकल्प लेखक को प्रेम में दिखाई देता है। उसके प्रेम में प्रेमरंजन अपने पारम्परिक धार्मिक संस्कारों की झिझक को तोड़कर प्रेम के विधर्मी जूठ को चख लेता है। वह प्रेम की शक्ति के सहारे साम्प्रदायिक दंगे के दौरान निहत्था अपनी प्रेमिका रेहाना के साथ प्रेम के लिए एकान्त की तलाश में इधर-उधर भागता फिर रहा है, बार-बार दंगे के दौरान वे दोनों खतरनाक परिस्थितियों में फँसते जाते हैं, पर अपने प्रेम की उत्कटता और साहस के सहारे उसका सामना करते हैं। ऐसे समय में जब घृणा फैलाने को ही राजनीति का सबसे बड़ा सूत्र माना जा रहा हो, प्रेम की यह कथा उस पर एक तरह से सवाल ही खड़ा करती है। समाज में किस हद तक घृणा फैल चुकी है कि दो प्रेमियों को सचमुच प्रेम के मार्ग में जान जोखिम में डालना पड़ रहा है।

अखिलेश की कहानियाँ औपन्यासिक मिजाज की होती हैं, उनमें बदलते समाज, विशेषकर ग्रामीण समाज, कस्बाई समाज की न सिर्फ छवियाँ, बल्कि वहाँ सम्बन्धों के बदलते रूप, बाजार का बढ़ता प्रभाव और सबसे बढ़कर इस सबकी नियामक शक्ति कहलाने वाली राजनीति के टुच्चेपन के कथानक हैं। वे न किसी बने-बनाए कथानक, न ही किसी परिवेश विशेष के रचयिता हैं, बल्कि वे राजनीति और उसके जरिए समाज में पिछले दशकों में आए बदलावों को अपनी कहानियों के माध्यम से अलग-अलग कोणों से देखने का प्रयास करते हैं जिनमें सहज भाव से व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ चलती रहती हैं। एक बानगी देखिए—'राजकुमार के जीवन को यदि सूत्रबद्ध किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि उसका पेट और उसकी बीमारी नाभिनालबद्ध थे'। यह जितना रूपक के रूप में सत्य था, उससे अधिक व्यावहारिक धरातल पर सत्य था। छोटे ऑपरेशन के बाद उसकी बीमारी के खात्मे के लिए एक बड़े ऑपरेशन की आवश्यकता थी, जो सम्भव नहीं दिखाई पड़ रहा था। क्योंकि बड़े ऑपरेशन के लिए काफी पैसों का खर्चा था और वे पैसे एक साथ, एक समय पर चाहिए थे। लेकिन ऐसी चमत्कारपूर्ण घटना राजकुमार के यहाँ मुमकिन नहीं थी। उसकी परम्परा और आधुनिकता दोनों ऐसे अनहोनेपन से वंचित थी।' बिना किसी नाटकीयता के सहज भाव से अखिलेश अपनी बात, अपनी कथा कहते चलते हैं।

उर्दू के मशहूर अफसानानिगार मंटो ने लिखा है...'मैं स्याह तख्ती पर काले चाक से नहीं लिखता। मैं सफेद चाक का इस्तेमाल इसलिए करता हूँ कि तख्ता स्याह की स्याही और स्पष्ट हो जाए।' 'अँधेरा' की कहानियों में फैले अँधेरे को इस रूप में भी समझने की आवश्यकता है। किसी न किसी अँधेरे पहलू को लेकर कथा का ताना-बाना उनके यहाँ दिखाई देता है। पठनीय और रोचक शैली में समाज की एक ऐसी कथा वे कह जाते हैं कि विस्मय हो उठता है। बहरहाल, 'अँधेरा' की कहानियों में भी अँधेरे के रूपक को आसानी से पढ़ा जा सकता है। 'वजूद' कहानी में जंगलों के अँधेरे में आयुर्वेद की ऐसी महक छिपी है, जिसको लेकर बाजार में मोल-भाव चल रहा है। 'यक्षगान' में किस्से-कहानियों के अँधेरे में ही कथा-नायिका गुम हो जाती है। 'ग्रहण' में तो मानो जीवन में ही अँधेरा छाया हुआ है। उसी तरह 'अँधेरा' कहानी का अँधेरा भी है, जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ाखिर में पंक्ति आती है—'अँधेरे में कुछ भी नहीं दिखता, र्फ अँधेरा ही दिखता है।'

वास्तव में, 178 पृष्ठों के इस कथा-संकलन में प्रस्तुत हानियों का अपना विशिष्ट स्वर है, बेबाक, खरा, विश्वसनीय। ी विश्वसनीयता के कारण पाठक समाज में अखिलेश की कहानियों ने अपनी बड़ी जगह बनाई। जिस तरह के सवालों, जिस तरह के सरोकार 'अँधेरा' की कहानियों में उठाए गए हैं, वे सचमुच समाज और राजनीति से जुड़े गहरे सवाल हैं। उनमें सक्रिय होता जड़ समाज है, परिवर्तन की आकांक्षा है और संघर्ष का माद्दा भी।

(समीक्षित पुस्तक : अँधेरा : अखिलेश, राजकमल प्रकाशन, मूल्य : 200 रुपए)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिश्तों के कब्रिस्तान में

रजनी गुप्त

"साहित्य मनुष्य का संश्लिष्ट अंतर्जगत यानी स्वप्न है स्मृति और स्वप्न एक ही छोर के दो सिरे हैं, एक अतीत है, दूसरा भविष्य। एक से होकर हम दूसरे में प्रवेश पा सकते हैं यही इतिहास और साहित्य का अंतर्संबंध है। दोनों विषयों का एव दूसरे के लिए सरोकार और उत्तरदायित्व है। एक दूसरे के लिए नैतिक व अनुशासनिक बाध्यता है।"—प्रियंवद

उक्त पंक्तियाँ अपनी पूरी प्रासंगिकता के साथ अर्थपूर्ण सवाल खड़े करती हैं। साहित्य दरअसल स्मृतियों, अनुभवों, घटनाओं कल्पनाओं और नई-नई फंतासियों के जरिये अपने समय की निर्म सचाइयों व चुनौतियों से टकराता है। भावाकुल मनःस्थितियों जूझता रचनाकार अपनी प्रखर संवेदनाशक्ति के सहारे मनुष्य जीव की बहुआयामी जटिल चेतनाजगत से मुठभेड़ करता है। अपने ढंग से की गई आत्मीय खोज की इस प्रक्रिया में वह पात्रों की विविध अंतरंग छवियों का संधान करता है। उनके सुख-दुख एवं व्यक्ति के अंतर्विरोधों की टोह लेता रचनाकार जीवन के मर्म को अपन चाक्षुष प्राणमयी भाषा के जरिए उद्घाटित करता है।

समीक्षा के कुछ इन्हीं मानदण्डों के फ्रेमवर्क में देखते हैं— समकालीन दौर की महत्त्वपूर्ण लेखिकाओं के नवीनतम उपन्यासों को जिसमें पितृसत्तात्मक व्यवस्था से उपजी विसंगतियों के सघन भावबोध यथार्थ वृत्तांतों के साथ-साथ चहलकदमी करते हुए जिए जा रहे जीवन की खरी पड़ताल करते हैं। मौजूदा दौर के दबावों एवं सवालों के प्रति दिनोंदिन डगमगाते मूल्यों को चीन्हते हुए कथाकार शीला रोहेकर की प्रगतिशील सोच की आँच से तपा कथ्य साम्प्रदायिकता जैसे मार्मिक मुद्दे को पुरजोर तरीके से उठाता है। उपन्यास 'ताबीज' में हिंदू-मुस्लिम समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक अंतःक्रियाओं से उपजी जटिलताओं एवं विरूपताओं की गहराई से पड़ताल की गई है। इतिहास की समकालीनता रेखांकित करता उपन्यास अपने संवेदनशील मुहावरे में दोनों धाराओं के घात-प्रतिघात, अंतर्विरोधों एव समीकरणों को विश्वसनीय ढंग से पुष्ट करता है।

इतिहास की समकालीनता में प्रवेश करता उपन्यास राजनीति की विद्रूपता, यथास्थितिवाद से मुठभेड़ और चाकू की धार पर चलने को मजबूर स्त्री की बेबसी को साहसिकता से उघाड़ता है। हिंदू स्त्री रेवा का मुस्लिम से विकसित प्रेम-संबंध फिर विवाह किस कदर दोनों समुदायों के बीच खलबली मचाते हुए भीषण यातनाप्रद शिविर में तब्दील हो जाता है। क्रमशः दोनों समाज के बीच असहज होते पारिवारिक तानेबाने को निर्ममता से तहस-नहस कर डालती है। संबंधों के दंगल से शुरू दास्ताँ धीरे-धीरे एक बड़े विध्वंस का रूपक

18, हाइडिल अधिकारी आवास, 3 प्राग नारायन मार्ग, लखनऊ-226 001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहते हुए समूचे परिवेश की हलाहल कथा में रूपांतरित होती जाती है।

अहमदाबाद, अयोध्या और लखनऊ की पृष्ठभूमि पर बहलकदमी करता उपन्यास ऐतिहासिक धरातल पर दोनों सम्प्रदायों की भिन्न-भिन्न आर्थिक-सांस्कृतिक विषमताओं के बीच साँस लेती व्यवस्था के विद्रूप को साहस से उघाड़ने में सक्षम है। कथाकार ने सधे हाथों से आतंकित जीवन स्थितियों की ओढ़ी हुई विसंगतियों का पर्दाफाश किया है। हिंदू माँ एवं मुस्लिम पिता के बेटे को किस कदर बदहाल होते जीवन के हलाहल को पीने की विवशताओं के बीच जीने की मजबूरियाँ ढोनी पड़ती हैं। साम्प्रदायिक दंगों में असमय कालकवलित हो चुके पिता के न रहने पर माँ की दूसरी शादी से उपजा तनाव उस अबोध-मासूम बच्चे की स्वाभाविक जीवनप्रक्रिया को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। सौतेले पिता द्वारा निरंतर प्रताड़ित होते बच्चे की जटिल होती मानसिकता से जुड़े प्रसंग वाकई दहलाने वाले हैं। हालाँकि दस साल के बच्चे और माँ के बीच का संवाद खासा लम्बा उबाऊ, बौद्धिक और गझिन बन पड़ा है। यूँ तो दस साल के बच्चे ऐसे सवाल नहीं करते और यदि करते भी हैं तो माँ ऐसे दार्शनिक जवाब नहीं देती—'जब किसी विशेष समय के मूल्य, विचार और चिन्ताएँ दूसरे ऐसे ही या उससे मिलते-जुलते समय में सामाजिक यानी समाज की दृष्टि से और उसी तरह राजनीतिक या वैचारिक तौर पर बिल्कुल अप्रासंगिक तथा विपरीत होकर पुराने मूल्यों को हास्यास्पद ठहराती है तो ऐसी स्थिति को उलटफेर कहते हैं।'

इसी तरह विभिन्न पात्रों द्वारा बोले गये संवाद लम्बे-गझिन दार्शनिकता से ओतप्रोत हैं, फिर चाहे वो पति-पत्नी के बीच चलने वाला वार्तालाप हो, चाहे माँ-बेटे के बीच का संवाद, लेकिन उनके बीच चलने वाली बातचीत सहज स्वाभाविक न लगकर किताबी उपाख्यान या अनावश्यक उबाऊ भाषणबाजी का आभास देने लगती है। माँ द्वारा बेटे को समझाये जाने वाले धर्मविषयक प्रसंग किसी व्याख्यान कक्ष में चलने वाले सेमिनार का अहसास कराते हैं—'धर्म का मूल उद्देश्य एक है किन्तु धर्मों की उत्पत्ति विविध समय, संजोग, वातावरण, भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों पर आधारित है इसलिए धर्मों की विविधता कहीं संस्कारों की विविधता है।'

राजनीति एवं गुंडागर्दी के घालमेल को लेकर तमाम सुनी-सुनाई बातें महज अखबारी रपट-भर लगती हैं, जिन्हें हम आए-दिन विश्वविद्यालयी लड़कों के बीच सुनते-पढ़ते, जानते-बूझते या महसूस करते हैं। ऐसे वर्णनों से कथ्य का सहज प्रवाह बाधित होने लगता है। नायिका रेवा कभी अपनी अतीत गाँठों तो कभी वर्तमान के स्वैर काल्पनिक मनोराज्य में विचरण करती रहती है, लेकिन रेवा के अंदरूनी संसार में झूलते सूत्रात्मक वाक्य लेखिका की उपस्थिति का मूर्त अहसास कराने लगते हैं—'दुख निराशाओं का मानी ढूँढ़ता है, जीवन को आगे बढ़ाता है, रास्ता दिखाता है। प्रयत्न सत्य है। कार्य सत्य है। वहाँ मुक्ति का एहसास है। भटकाव जीवन को गहराई देते हैं यदि विवेकशीलता से काम लो तो।'

इसी तरह साम्प्रदायिक दंगों को लेकर की गई टिप्पणी वाकई दंगों की मानसिकता का रहस्योद्घाटन करती है—"दंगा होता नहीं बेटे, दंगा थोप दिया जाता है। दंगा दहशत नहीं भरता, सबकुछ खाली करता चला जाता है दंगा। रात, रात नहीं रही थी और दिन तो बदल ही गए थे। घर तो क्या पेड़ तक चुपा गए थे। न रास्तों पर लोग थे, न आकाश में पाखी। उमस, दमघोंटू उमस थी और दिलों में बेतहाशा डर। पता नहीं क्या हो ! पत्ता न फूल, चाँद न सूरज, हवा न पानी, सब चुप स्तब्ध बने निस्तब्ध खड़े थे। सब खड़कना भूल गए थे। सब देख रहे थे दंगा।" (पृ. 117)

दंगे की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और ऐतिहासिक ब्यौरों के साथ-साथ समकालीन दौर में आए-दिन उभरते दंगों का यह सामाजिक व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मार्मिक प्रभाव छोड़ता है। रेवा पटेल से रेवा सिद्दीकी तदुपरांत पुनः वही रेवा के बनने बिगड़ने की दास्ताँ बाँचता उपन्यास का घटनाक्रम वास्तविक, गहरा और प्रभावपूर्ण बन पड़ा है। बदलते मध्यवर्गीय मूल्यों के भीतर दरकती संवेदनाओं के चित्र बड़े निरपेक्ष ढंग से खींचे गए हैं जिसमें एक तरफ है बाहरी दुनिया के संघर्ष, राजनीतिक उठापटक व सामाजिक हलचलें तो दूसरी तरफ है व्यक्ति के अंतःसंघर्ष यानी व्यक्तित्व की अंदरूनी तलहटी तक पहुँचने की अचूक कथादृष्टि जिसके जरिये रचनाकार वर्गीय पृष्ठभूमि से सम्बद्ध सशक्त, जुझारू व विश्वसनीय पात्रों का प्रतिसंसार गढ़ता है जोकि स्थूल यथार्थ को भेदकर पात्रों की जीवटता से जुड़े सूक्ष्म संसार के प्रसंगों को अविस्मरणीय सौन्दर्यबोध से भर देते हैं। रेवा जैसा जुझारू किरदार किंचित आदर्शवाद से मोहाविष्ट होने के बावजूद स्त्री की दुर्धर्ष चेतनाशक्ति को जगाते हुए अदम्य जिजीविषा को निरंतर संवर्धित करता रहता है।

लेखिका अपनी वैचारिक परिपक्वता के सधे हाथों से कथ्य को महत्त्वपूर्ण मोड़ देते हुए सदी के आसन्न खतरों व साम्प्रदायिक तनावों से मुठभेड़ करते हुए प्रतिरोध की तल्ख आवाज उठाती है। अलग-अलग हालातों में जूझते-जीने की जद्दोजहद करते पात्रों की मजबूरी, पस्ती, पराजय और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनोंदिन क्षरित होती जीवनी शक्ति का बखूबी अहसास करता पाठक कभी आक्रामक, कभी शान्त तो कभी मानसिक अवसाद से घिर जाता है। महेश जैसे पात्रों की शालीनता-भद्रता के पीछे छिपी शातिर चालों को बेनकाब करती कथाकार का मूक प्रतिरोध रेवा के भीतर दार्शनिक किस्म की गुत्थियों में उलझकर रह जाता है। अंतिम मोड़ तक आते-आते बाबरी मस्जिद विध्वंस में कार सेवा करते निरपराधी बेटे की बेवजह मौत कथ्य की इंटेंसिटी को उजागर करती है। आतंकित करती जीवन स्थितियों में मरते-खपते निरपराधों की दिल दहलाने वाली त्रासदी बदहाल अवाम की दुखती नंगी हकीकत को खोल देती है। गहरी-गाढ़ी होती संवेदना से लैस कथ्य की ईमानदारी व दिनोंदिन तल्ख होती घटनाएँ पाठक के भीतर असहायता का बोध तारी करती है। अंत में नायिका रेवा की हत्या पाठक के भीतर दूर-दूर तक कहीं कोई आशा, उम्मीद या सम्भावना का कोई कतरा नहीं फूट जाता जहाँ से वे अपनी क्षरित होती जीवनी शक्ति को फिर से जिंदा कर सकें। भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, राजनीति व अपराध के घालमेल जैसी बातें जरूर उठाई गई हैं, लेकिन लेखकीय तेवरों में क्रांतिकारिता नहीं बल्कि स्थूल यथार्थ ही उद्घाटित हो पाता है।

बेशक रचे गए यथार्थ षड्यंत्रों व भद्रोचित व्यवहार के पीछे छिपी काइयाँपन की परतें खुरची गई हैं, लेकिन पाठक तो दो संस्कृतियों-संप्रदायों की टकराहट के बीच पिसते आम जन के दुख-दर्दों के साथ खड़ा होना चाहता है। मगर अफसोस ! कि कहीं कोई सुकून की साँस मयस्सर नहीं हो पाती बल्कि वहाँ तो संबंधों का फिर वहीं दंगल शुरू होने लगता है।

कथ्यानुरूप कदमताल करती गंभीर भाषा, प्रामाणिक घटनाएँ, अपने-अपने हालातों से जूझते मध्यवर्गीय पात्रों की विश्वसनीय भंगिमाएँ और द्वन्द्वात्मकता कथानक के भीतर से मौजूदा दौर के सवाल उठाती है। मार्मिक स्थलों पर जड़ता की जगह जीवंतता और ठोस यथार्थ से भिड़ते पात्रों की जटिल अंतःक्रिया की चीरफाड़ व्यवस्था से जुड़ी खामियों को निर्ममता से उघाड़ती है। आजादी पूर्व के इतिहास से शुरू तथा समकालीन जीवन से जोड़ती हुई ताबीज जैसे रूपक को अर्थवत्ता से भर देती है। प्रस्तुत उपन्यास 'ताबीज' आज के समय की सचाई को उजागर करता हुआ समुदायों की इकाइयों के बनने-बिगड़ने का जीवंत दस्तावेज बनकर युगीन हकीकत को उजागर करने में पूर्णतः सक्षम है—इसमें कोई संदेह नहीं।

कुल मिलाकर, इस उपन्यास में राजनीतिक व सामाजिक सरोकार आज के जिंदा सवालों से जूझने की ताकत देते हुए समकालीन दौर की आवाज बनकर देर तक हमारे भीतर यात्रा करते रहते हैं। सूत्रात्मक वाक्य-संरचना अंतर्वस्तु के साथ मिलकर सलीके से बिम्बों का प्रतिसंसार सृजित करने में सक्षम है। यदा-कदा सारगर्भित उत्कृष्ट शब्द सौष्ठव रचनात्मक स्तर पर गंभीर बात को प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त तो करता है, लेकिन कहीं न कहीं गझिनता अखरने लगती है। मगर इससे संप्रेषणीयता बाधित नहीं होती, यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

सुपरिचित कथाकार मधु काँकरिया का उपन्यास 'पत्ताखोर' नशेबाज युवक की हताशा, कुंठा एवं भटकाव के दलदल में धँसते चले जाने की दास्तान है। नशे की बंद अँधेरी गुफा में भटकते पात्र को लेकर बुनी घटनाएँ नशेबाजों की बारीकी से की गई सूक्ष्म पड़ताल कथ्य को विश्वसनीय आधार देती है। सर्वथा एक नई दुनिया का संधान करती कथाकार ने नशे की जटिल भूलभुलैयों को खोजते हुए नशेबाजों के दुख-दर्द, बेचैनी, छटपटाहट एवं चाहकर भी निजात न पाने की तकलीफों को गहराई से रेखांकित किया है। नशे से जूझते पात्रों की विविध अंतरंग छवियों को आत्मीय संस्पर्श देते हुए कुशलतापूर्वक व कलात्मकता से बुना गया है जिससे उनके जीवन के अंतर्विरोध बखूबी से पकड़े जा सकें। रेशमी धागों की तरह गुँथा कथानक धीरे-धीरे खुलता है और अर्थविस्तार की प्रक्रिया में कोलकाता शहर के झोंपड़पट्टी में रहने को मजबूर निम्नमध्यवर्गीय पात्रों के अमानवीय हालात का जायजा लेता है। नशे की लत, नशेबाजों की विविध भंगिमाओं, विश्वसनीय संवादों एवं घटनाओं का यथार्थपूर्ण आख्यान रचने में लेखिका ने महारत हासिल की है। हालाँकि कई बार ऐसा आभास होता है कि सामाजिक सरोकारों को छूने के बावजूद उपन्यास महज यथास्थितिवाद का संकेत देकर विवरणों में उलझ जाता है। लेकिन संवेदना का आत्मीय संस्पर्श कथ्य एवं प्रस्तुति को प्रभावी बना देता है। मध्यमवर्गीय एकल परिवारों में रोजमर्रा के तनावों एवं दो पीढ़ियों के द्वन्द्व से मुठभेड़ करती लेखिका पात्रों के मानसिक व संवेदनात्मक उठापटक को जीवंत भाषा के जरिए उकेरती है—''उसे फफकते देख उसकी आँखों में तरलता उभरी जिसे भरपूर सोखने की चेष्टा की उसने। प्यार के इस पक्ष के बारे में तो उसने सोचा भी न था। एकाएक उसे लगा, वह समुद्र में अकेला खड़ा है...और चारों तरफ तूफान ही तूफान है।''

कामकाजी माँ-बाप के इकलौते पुत्र के अकेलेपन, उदासी एवं घर में घंटों अकेले पड़े रहने की वजह से उपेक्षित बचपन के विविध 'शेड्स' कथ्य को संवेदना की नयी आँच से भर देते हैं। मध्यवर्गीय परिवारों के अंतर्विरोधों, बेबसी एवं माँ-बाप व बच्चों के बीच दिनोंदिन पनपते 'गैप' को कुशल चरित्र निर्वहन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जरिए यथार्थता के रंग में भर दिया है। जनप्रतिबद्ध सघन च के सहारे कथाकार झोंपड़पट्टियों एवं सड़कों पर रहने को जबूर लोगों के संघर्ष के साथ भागीदारी करते हुए उनके जिए ा रहे जीवन की विसंगतियों का खाका खींचती हैं, लेकिन वाल उठता है कि नशे की समस्या से निजात पाने का क्या ही एकमात्र रास्ता बचा है ? पात्र को संवेदना के विविध रंगों ा संस्पर्श कराती रचनाकार अंत तक आते-आते समाजसुधार आदर्शवाद की भुलभुलैया में इतना अटक जाती हैं कि पात्र पनी 5 साल पुरानी इंतजाररत प्रेमिका को पाने या देखने हेतु रा भी उत्सुकता नहीं दर्शाता ? जब कि सच्चे प्रेम में डूबे दो थी मिल-जुलकर झोंपड़पट्टी में विकास की मुहिम बखूबी ड़ सकते थे। यहाँ अति आदर्शवाद के चलते चरित्रों का संगत तरीके से निर्वहन नहीं हो पाता।

नशे की दुनिया, नशे के सुस्थापित तंत्र, अफीम प्रसंग, टॉक्सिफिकेशन केंद्रों के मनोरोगियों की केस हिस्ट्री एवं राग्राम रिहैबिलिटेशन सेंटर की गतिविधियों का प्रामाणिक र्णन कथावृत्त को विस्तृत फलक मुहैया कराता है। नशेबाजों ी जटिल और दुर्बोध दुनिया का अंतरंग साक्षात्कार कराती खिका साहित्य में सर्वथा नये क्षेत्र का संधान करने में ामयाब हुई हैं। उपन्यास में सधी सूत्रात्मक भाषा पठनीयता ो संवर्धित करती हुई अचूक असर छोड़ती है—'संबंधों को इस प्रकार थोक में नहीं वरन हर दिन अर्जित करना पड़ता है।'...'कच्चे घड़ों के साथ दरिया में नहीं उतरा जाता।'

औपन्यासिक विजन का प्रस्फुटन होता है—नशाखोरों के विविध हाव-भावों को नए-नए रंगों से प्रामाणिक व प्रभावी बनाना। लेकिन आखिरी मोड़ पर आते-आते—अब जाएँ तो जाएँ कहाँ ? जैसी पेचीदा समस्या से रू-ब-रू होते ही सम्भवतः लेखकीय हड़बड़ी के चलते उपन्यास का ताना-बाना ढहने लगता है क्योंकि समाज-सुधार के दुर्गम रास्तों पर चलना कितनों के वश की बात है ? इतनी गंभीर समस्या का यह निदान थोड़ा-सा अव्यावहारिक भी लगता है एवं कथ्य के साथ न्याय नहीं कर पाता। हवाई आदर्शवाद के अनावश्यक ब्यौरों में भटकती मुख्य थीम अति प्रचलित फार्मूले का शिकार होने लगती है। मोहनबागान लेन की बस्ती से जुड़ी समाजसुधार की घटनाएँ कथारस को सुखा डालती हैं। पैना सवाल परेशान करता है कि ऐसा निदान कितने प्रतिशत नशाखोरों के जीवन को कायांतरित कर पाता है ? समाजसुधार का वैसा जज्बा जबरदस्ती तो किसी के भीतर पैदा नहीं कर सकते न ? यों सोचने-लिखने के लिए यह एक सार्थक पहल हो सकती है, लेकिन ऐसे बीहड़ रास्तों पर चलने की दिलचस्पी कितनों के भीतर होगी ? उपन्यास के संदर्भ में खास तौर पर अस्वाभाविक लगता है जहाँ आदित्य जैसा अंतर्मुखी पात्र कैसे इतनी बड़ी मुहिम का मुखिया बन पाएगा ?

बेशक इस भाग में मनुष्यता का क्षरण करने वाले प्रसंग किसी मार्मिक शोक गीत की तरह मन को तिक्तता व अवसाद से भर देते हैं। रिक्शेवालों के सूक्ष्म एवं खौफनाक ब्यौरे विचलित करते हैं तो पुष्पा देवी जैसे पात्रों की भावुकता उम्मीद भी जगाती है। लगता है लेखिका ने नायक को महानायक बनाने की पूरी तैयारी कर ली है, तभी तो नायक द्वारा मनुष्यता, शांति, सत्यम्, शिवम्, सौन्दर्य, मन-चेतना एवं अंतर्रात्मा जैसी आध्यात्मिक बातों के साथ मानवमुक्ति के लिए कुछ सार्थक कर गुजरने का संकल्प...प्रवचननुमा ये बातें सुनने में जितनी अच्छी लगती हैं, करने में हैं उतनी ही श्रमसाध्य, फलतः नशाखोरों के जीवन का कायापलट होना भी उतना ही दुश्वार। कुल मिलाकर, नामुमकिन न होते हुए भी यह निदान गले के नीचे नहीं उतर पाता।

लेखिका शरद सिंह का उपन्यास **'पिछले पन्ने की औरतें'** बेड़िया समाज की स्त्रियों के जीवन की त्रासदी को इकहरे अर्थों में निर्वसन करता है, लेकिन इस किताब को पढ़ते हुए सबसे पहला और जरूरी सवाल तो यही उठता है कि इसे उपन्यास क्यों माना जाए ? किस कोण से इसमें औपन्यासिकता समाविष्ट है ? क्या इतिहास के छुटपुट जाने-सुने प्रसंगों को रिपोर्ताज शैली में निबद्ध कर देने से कृति में औपन्यासिक रचनाधर्मिता का निर्वाह हो सकता है ? अति साधारण ढंग से समाजशास्त्रीय तथ्यों का लेखा-जोखा भर है इस कृति में। विषयवस्तु में कहीं से कोई तारतम्यता, संवेदना, सघन भावबोध या मार्मिकता पाठक को कतई नहीं झिंझोड़ पाती।

हाशिए पर अटकी बेड़ियों की तकलीफें सिर्फ यौनकेन्द्रित, जिसमें एक ही बात को घुमा-फिराकर कई-कई बार लिखा गया है—यानी यौनशोषण बनाम देह-व्यापार को ही कई-कई कोणों से दर्शाने के आग्रह के चलते बेड़िनियों के अनंत शोषण की अनदेखी की गई है। राई नृत्य या सिर ढँकना जैसी प्रथाओं की चर्चा भी एकाधिक बार की गई है जिसमें विवरणों एवं भाषणबाजी की भरमार खटकती है। न ही कहीं कोई घटनाएँ हैं, न ही कोई बँधा-बँधाया कथ्य नजर आता है और सबसे जरूरी है संवेदना जोकि उपन्यास में सिरे से नदारद है। श्यामा, फुलवा, नचनारी को लेकर लिखी बातों में भी इतना दुहराव है कि पठनीयता का सहज प्रवाह बाधित होने लगता है। मर्दवादी विमर्श में रचे-गढ़े आख्यान में बेड़िनी जीवन के रखैल बनाम प्रेमिका या पत्नी के दुश्चक्र में उलझा कथ्य उनके जीवन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जरूरी संघर्ष को आवाज देता हुआ उनके द्वैत, द्वन्द्व, जटिलता एवं जद्दोज़हद को मुखरित नहीं कर पाता। स्त्री-विमर्श से जुड़े प्रसंग महज किताबी लगते हैं, इसी तरह सरकारी योजनाओं का हवाला मात्र सूचनात्मक रूप में वर्णित हुआ है।

पुस्तक में यौनप्रसंगों की अतिशयता द्वारा बेड़िनी समाज की जिंदगी की दुश्वारियों को नहीं समझा जा सकता क्योंकि बेड़िनी स्त्री भी महज उपभोग्य वस्तु के रूप में नहीं बल्कि उनके और भी आयाम होते हैं। आर्थिक-सामाजिक जटिलताओं के साथ-साथ उनके सपने, आकांक्षाएँ, साहसिकता एवं आपसी संबंधों के बनते-बिगड़ते चित्रों को भी यदि संजीदगी से उकेरा जाता तो यह एक मुकम्मल कृति हो सकती थी। पुस्तक में स्त्री को लेकर इतनी सतही, भ्रामक और सुनी-सुनाई बातें जस की तस महज अखबारी रपट की शक्ल में ठूँस दी गई हैं। कितनी अजीब बात है कि स्त्री द्वारा लिखी बेड़िनी गाथा में जबरन परोसी यौनकेन्द्रिकता का इतना प्रचुर प्रयोग, आखिर किसलिए ?

विषयवस्तु में अपेक्षित गहराई एवं व्यापकता के अभाव में यह देहवादी विमर्श कलात्मकता से भी शून्य है। ऐसा क्यों हुआ ? यह सोचने की बात है। बकौल लेखिका—''छिपी रहती है हर औरत के भीतर एक और औरत, लेकिन अक्सर लोग देखते हैं सिर्फ बाहर की औरत।''

अफसोस ! कि स्वयं लेखिका ने भी बेड़िया समाज की स्त्रियों को सिर्फ बाहर से ही देखा है या जाना भर है, गहराई में जाकर उन्हें बूझने की जहमत नहीं उठाई। बेड़िनियों की बुनियादी समस्याओं एवं उनके बहुआयामी शोषण के पन्ने खोले जाते तो वाकई यह कृति महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती। बेड़िनी समाज के भयावह हालात के प्रति लेखकीय आक्रोश या बेचैनी भी कहीं नजर नहीं आती जो पात्रों के अंतर्विरोधों पर व्यंग्यात्मक लहजे में तीखे सवाल खड़े करे। कुल मिलाकर जिंदा रहने की जद्दोजहद ढोते उपेक्षित पात्रों के संघर्षशील पक्षों को संवेदना का आत्मीय संस्पर्श देना अत्यावश्यक है जिससे उनकी जुझारू प्रवृत्ति व जीवटता के साथ साथ जीवनदृष्टि का भी खुलासा हो सके, लेकिन ब्यौरों की अतिशयता एवं कथ्य में इकहरेपन के चलते भाषिक स्तर पर भी सपाटबयानी परिलक्षित होती है जोकि कथ्य की पुनरावृत्ति एवं इतिवृत्तात्मकता के मकड़जाल में उलझकर रह गई है। आ

(समीक्षित पुस्तकें : ताबीज, पत्ताखोर, पिछले पन्ने की औरतें (उपन्यास); लेखिका : शीला रोहेकर, मधु काँकरिया, शरद सिंह; प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, राजकमल प्रकाशन, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो पत्र

नई दिल्ली,
13 मार्च, 1954

मेरे प्रिय कृष्ण,

मुझे संदेह है कि आप इलाहाबाद के हिन्दी कवि निराला की स्थिति से अवगत होंगे। विगत समय में उन्होंने अच्छा लिखा है और अभी भी कभी-कभी अपने उत्कृष्ट क्षणों में अच्छा लिखते हैं। प्रायः उनकी मनोदशा अच्छी नहीं रह पाती है। उनकी पुरानी पुस्तकें लोकप्रिय हैं और कुछ, मैं समझता हूँ, पाठ्य-पुस्तकों में शामिल हैं। परन्तु अपनी मूढ़ता या उन्माद में, उन्होंने उन सभी पुस्तकों को कौड़ी के मोल मात्र 25 या 30 या 50 रुपया प्रति पुस्तक की दर से विभिन्न प्रकाशकों को बेच दिया है। संभवतः सम्पूर्ण कॉपीराइट बेच दिया गया। प्रकाशकों ने पर्याप्त पैसा कमाया है और कमा रहे हैं और इसके लिए उन्हें कुछ नहीं मिलता है और दरअसल वे भूखों मरते हैं। यह प्रकाशक द्वारा लेखक का निर्लज्जतापूर्वक शोषण करने का एक घृणास्पद मामला है। मैं व्यक्तिगत रूप से समझता हूँ कि कठोर कानून में भी व्यवस्था के इस रूप को चुनौती दी जा सकती है।

मैं यह कहने को विवश हूँ कि हमारे अकादमी को कॉपीराइट कानून के संशोधन के बारे में अविलम्ब विचार करना चाहिए। साल-दो साल पहले मेरे द्वारा कुछ प्रयास किए गए थे, मुझे स्मरण है और मैंने हमारे विधि मंत्रालय को लिखा भी था, परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। मेरा विचार है कि आप इसके लिए सामग्री इकट्ठा कर एक नोट तैयार करें।

तत्काल निराला को कुछ आर्थिक मदद की जरूरत है। उन्हें सीधे मदद करना उचित नहीं है, क्योंकि वे इसे तुरंत दूसरों को दे देंगे। वस्तुतः वे अपना वस्त्र, अपनी आखिरी कमीज और हर चीज दे देते हैं। इलाहाबाद में साहित्यिक मंडली के महादेवी वर्मा और कुछ दूसरे वहाँ उनकी देखभाल करने की चेष्टा करते हैं और उन्हें कुछ पैसे भी देते हैं। मैं समझता हूँ कि हम लोगों को 100 रुपया प्रति माह उनके लिए व्यवस्था करनी चाहिए और यह राशि महादेवी वर्मा को भेजी जानी चाहिए।

यह शिक्षा मंत्रालय के कोष से किया जा सकता है क्योंकि यह ऐसे कार्यों के लिए ही है। कृपया आप इसका जिक्र मौलाना साहब से करें और यदि वे सहमत हों, तो उनका मंत्रालय इसे कार्यरूप दे सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आप निराला के सम्बन्ध में विस्तृत ब्यौरा महादेवी वर्मा से प्राप्त कर सकते हैं।

श्री कृष्ण कृपलानी
सचिव, साहित्य अकादमी
35/1, फिरोजशाह रोड
नई दिल्ली।

आपका अ
जवाहरलाल

नई
16 मार्च,

मेरे प्रिय पंडितजी,

हिन्दी कवि निराला के सम्बन्ध में आपके द्वारा लिखे गए 13 मार्च के पत्र को मैंने मौलाना साहब को दिखलाया है। सहमति जतलाई है कि 100 रुपये की राशि प्रतिमाह उनके लिए स्वीकृत की जाएगी और (वह राशि) महादेवी वर्मा को दी जा इस मामले में शिक्षा मंत्रालय को आवश्यक कार्रवाई करने का निर्देश दिया गया है।

जहाँ तक कॉपीराइट कानून के संशोधन का प्रश्न है, मैंने इस विषय में श्री हुमायूँ कबीर से विमर्श किया है। उन्होंने आश्वस्त किया है कि यह मामला पहले से ही शिक्षा मंत्रालय के विचाराधीन है जिसने आवश्यक संशोधनों की बाबत सला के लिए एक समिति का गठन किया है। फाइल, फिलवक्त, गृह मंत्रालय के पास है। फाइल के वापस लौटते ही आपके द्वारा गए बिन्दु पर विशेष विचार करने को कहा जाएगा। इस बीच मैं इससे सम्बन्धित और सामग्री इकट्ठा करने का प्रयास क

आपका अ
क. र. कृ

श्री जवाहरलाल नेहरू,
प्रधानमंत्री
नई दिल्ली

(अंग्रेजी से अनुवाद : सुबोध

(साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित स्वर्णजयंती ग्रंथ 'फाइव डिकेड्स', सं. डी.एस. राव, से साभार

Central Library
Gurukul Kangri University
Hardwar-249404 (U.A.)
131470

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपका अ
जवाहरलाल

नई
16 मार्च,

लाया है।
को दी जा

है। उन्होंने
बाबत सला
पके द्वारा
प्रयास क

आपका अ
क. र. कृ

ाद : सुबोध
से साभार

लाई-सितम्बर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY
Sl. No. Date
Accession No. 14-7-08
Classmark
Cat.
Tag
Filing
Checked

Entered in Database
Signature with Date

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar